उपर्युक्त पदानुसार कवीर का जन्म सवत् १४५५ के ज्येष्ठ मास मे शुक्ल पक्ष की पूर्णमासी सोमवार को हुआ। किन्तु ज्योतिष गणनानुसार संवत् १४५५ में ज्येष्ठ-पूर्णिमा सोमवार को नही पडती, अपितु १४५६ में ज्येष्ठ-पूर्णिमा सोम को ही पड़ती है। अतः 'चौदह सौ पचपन साल गए' का अर्थ सं० १४५५ वीत जाने से लगाया गया है। इसी आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने इनकी जन्मतिथि ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार स० १४५६ वि० निश्चित की थी, किन्तु डॉ० पीताम्वर-दत्त वड़थ्वाल जी ने इनकी जन्मतिथि सं० १४०७ और स० १४४७ के वीच मानी है। उनका तर्क है कि नामदेव की प्रसिद्धि कवीर के समय मे पर्याप्त हो गई थी। नामदेव की मृत्यु स० १४०७ मे मानी जाती है, अतः कवीर का जन्म स० १४०७ के पश्चात् ही हुआ होगा। डॉ० वड़थ्वाल जी कवीर के गुरु रामानन्द की मृत्युतिथि सं० १४६७ मानकर यह निश्चित करते है कि रामानन्द की मृत्यु के समय कवीर की आयु लगभग १८-२० वर्ष अवश्य रही होगी, क्योकि इससे पूर्व दीक्षा लेने वाली वात समझ मे नही आती। इस भाँति वे संवत् १४०७ और सवत् १४४७ के मध्य ही कवीर का जन्म मानते हैं। डॉ० हटर के अनुसार इनकी जन्मतिथि १४३७ वि० स० व वेस्टकाट के अनुसार स० १४९७ है किन्तु डॉ० त्रिगुणायत, डॉ० सरनामसिंह प्रभृति विद्वान् इनकी जन्मतिथि सवत् १४५५ ही मानते है। यही तिथि अव अधिक मान्य है।

जन्म-स्थान

कवीर के जन्म की तिथि पर जिस भाँति अनेक मत और विचारधाराएँ हैं, उसी प्रकार कवीर के जन्म-स्थान के विषय मे भी प्रमुख रूप से तीन मत हैं। प्रथम यह कि वे काशी में उत्पन्न हुए थे। द्वितीय मत के पोपक मानते है कि वे मगहर मे प्रकट हुए थे। तीसरे मत के कुछ लोग उन्हे आजमगढ़ जिले मे स्थित वेलहरा गाँव का निवासी मानते हैं।

काशी को कवीर का जन्मस्थान मानने वाले विद्वान् अपने समर्थन मे कवीर की इन पक्तियो को उद्धृत करते है—

"काशी में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चिताये।"

× × ×

"तू व्राह्मन मै कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोर गियाना।"

× × ×

"सगल जनमु सिवपुरी गंवाइया, मरनी वार मगहर उठि धाइया।"

× × ×

पहले दरसन कासी पायो, पुनि मगहर वसे आई।"

× × ×

"वहृत वरस तप कीया कासी, मरनु भइया मगहर को वासी।"

ग्रन्तःसाक्ष्य के अतिरिक्त किंवदन्तियो और सम्प्रदाय के अन्य उल्लेखो द्वारा भी काशी ही कवीर का जन्मस्थान ठहरता है। उनके शिष्य धर्मदास आदि ने भी उन्हे काशी वासी ही वताया है। डॉ० श्यामसुन्दर दास जी तथा प० सीताराम चतुर्वेदी जी का भी यही मत है।

डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० त्रिगुणायत आदि ने उनका जन्म-स्थान मगहर को माना है। मगहर को जन्म-स्थान वताने वाले कवीर की एक पक्ति, जो काशी की पुष्टि करने वाले अपने पक्ष-समर्थन मे देते हैं, का पाठ इस प्रकार देते है—

"पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी वसे आई।"

इस पंक्ति में 'दरसन' शव्द को लेकर भी विद्वानो मे मतभेद है। काशी के पोषक इस दरसन का अर्थ प्रभु-दर्शन करते है जवकि 'मगहर' को जन्मस्थान मानने वाले 'दरसन' का अर्थ जन्म धारण करना वताते है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत मगहर को जन्म-स्थान वताने के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते है—

१. मगहर मे मुसलमानों की वस्ती वहुत अधिक है, वे सभी अधिकतर जुलाहे है। कोई आश्चर्य नही कि कवीर इन्ही जुलाहो के घर उत्पन्न हुए हो।

२. कवीरदास जी ने अपनी रचनाओ मे मगहर की कई वार चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह है कि मगहर से उनका घनिष्ठ सम्वन्ध था। उन्होने उसे सदैव काशी के समकक्ष ही पवित्र और उत्तम माना है। इतनी अधिक श्रद्धा-भावना केवल जन्म-स्थान के प्रति ही हो सकती है।

३. कवीरदास जी अपनी मृत्यु का समय समीप आने पर मगहर चले गये थे। उन्होने काशी मे रहना उचित नही समझा। यह मानव-स्वभाव हे कि वह जहाँ उत्पन्न होता है, वही मरना चाहता है।

४. कवीरदास जी ने स्पष्ट लिखा है कि सवसे प्रथम उन्होने मगहर को देखा था, उसके वाद वे काशी मे वस गये थे। इस उक्ति मे खीचातानी कर दूसरा अर्थ लगाना हठधर्मी भर होगी।

५. कवीरदास जी ने लिखा है कि—

'तोरे भरोसे मगहर वसिओ मेरे तन की तपन बुझाई'।

इस पक्ति से स्पष्ट है कि अपनी जन्मभूमि मे पहुँचकर इस प्रकार की शान्ति का अनुभव करना स्वाभाविक भी है।

एक वात और है, आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया मे लिखा है कि विजली खा नें वस्ती जिले के पूर्व मे आमी नदी के दाहिने तट पर सम्वत् १५०७ मे रोजा वनवाया था। सिकन्दर लोदी ओर कवीर के मिलन की घटना के आधार पर निश्चित किया जा चुका है कि उस समय कवीर जीवित थे। मेरा अनुमान है कि विजली खा कवीर का भक्त था। उसने कबीर के जीवन-काल मे कवीर के जन्म-स्थान मे कोई स्मारक वनवाया होगा। आगे चलकर फिदई खां ने उनकी मृत्यु के वाद उसे रोजे

का रूप दिया होगा।''[1]

त्रिगुणायत जी के ये समस्त तर्क सर्वमान्य नही। डॉ० सरनामसिंह जी ने प्रथम तर्क का उत्तर देते हुए कहा है—

यह ठीक है कि मगहर मे जुलाहो की सख्या अधिक है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि १ उक्त स्थान का 'मगहर' नाम कबीर का समकालीन है, २ वहाँ कबीर के जन्म के पहले से ही जुलाहे रहे हैं; ३. कबीर का जन्म किसी जुलाहे के ही घर मे हुआ था, और ४ वह इसी स्थान का जुलाहा था? हो सकता है कि यह मगहर कोई नयी बस्ती हो और कबीर के बाद जुलाहे लोग यहाँ आ बसे हो और उन्होने अपने स्थान को महत्व देने के लिए कबीर से सम्बन्धित 'मगहर' के पीछे मगहर नाम रख लिया हो।''[2]

दूसरे तर्क के उत्तर मे सरनामसिंह जी का कथन है—

''यहाँ यह मानने का कोई कारण नही दीख पडता कि यह मगहर जिसका कबीरदास ने बार-बार नाम लिया है, काशी के समीप का ही मगहर है और यह भी कोई पुष्ट तर्क नही है कि मनुष्य जन्मस्थान के प्रति ही अधिक श्रद्धा-भावना रखता है। यदि ऐसा हो तो अनेक लोग अपने जन्मस्थान को छोड़कर श्रद्धावश काशी, मथुरा, द्वारिका आदि तीर्थस्थानो मे न जायें। ..... मैं समझता हू कबीरदास ने अपनी रचनाओ में मगहर की चर्चा इसलिए नही की कि वह उनका जन्म-स्थान था, वरन् इसलिए कि वे मगहर पर थोपे हुए निर्मूल कलक को अन्धविश्वास के सिर मढना चाहते थे। इससे इस निष्कर्ष पर पहुचना अनुचित नही कि कबीर द्वारा की गई मगहर की चर्चा मे श्रद्धा-भावना की सन्नद्धता न होकर रूढि एव अन्धविश्वास की उन्मूलनकारिणी प्रवृत्ति की सतर्कता मात्र है।''[3]

तीसरे तर्क के प्रत्युत्तर मे डॉ० सरनामसिंह जी का कहना है—

कबीर जैसे निर्मोह जीवनमुक्त के सम्बन्ध मे यह कहना उचित नही कि वे अपने अन्त काल मे भी जन्मस्थान के ममत्व का सवरण न कर सके और यह कहना भी अनुचित है कि कबीरदास जी मानव-स्वभाव के अनुकल ही मृत्युकाल के समीप अपने जन्मस्थान मगहर को चले गये थे। अतएव यह कहना ही उचित दीख पड़ता है कि वे सत्य के अनुसन्धान से प्राप्त अपने निजी विश्वास के अनुकूल ही मगहर गये थे। वे इस अन्धविश्वास का खण्डन करना चाहते थे कि मगहर मरने वाले को गधे की योनि या नरक की प्राप्ति होती है।''

चौथे तर्क के प्रत्युत्तर मे डॉ० सिंह का कथन है—

अनेक प्रतिलिपियो मे यह पक्ति भी तो मिलती है—''पहले दरसन कासी पाये, पुनि मगहर बसे आई।' अत इस समस्या के हल के निमित्त हठधर्मी नह

---

१ ''कबीर की विचारधारा''—पृष्ठ २६—३०
२. ''कबीर : एक विवेचन''—पृष्ठ ३१
३. वही—पृष्ठ ३२

चल सकती। दोनो पंक्तियो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे शोध की आवश्यकता है।"

पाँचवे तर्क का उत्तर देते हुए डॉ० सिह ने उस पक्ति का अर्थ ही दूसरा लिया है जो वास्तव मे अभिप्राय के अधिक निकट है। छठे तर्क का उत्तर देते हुए डॉ० सिह ने कहा है—

डॉ० साहव (त्रिगुणायत जी) का अनुमान हे कि यह स्मारक कवीर के जन्म स्थान में ही वनवाया गया होगा। उनके मत से कवीर का जन्म-स्थान है काशी का समीपवर्ती मगहर। फिर यहाँ उस स्मारक का प्रश्न ही नही उठता जो वस्ती जिले मे आमी नदी के तट पर वनाया गया था।"

तीसरे स्थान आजमगढ़ जिले का वेलहरा का एकमात्र पुष्ट प्रमाण 'वनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' ही है। इस गाँव मे एक तालाव भी, जिसके साथ कवीर-जन्म की कथा जुडी है, वताया जाता हे, किन्तु फिर भी अधिक पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे अब इस स्थान को कवीर का जन्म-ग्राम कोई नही मानता।

चाहे कवीर का जन्म-स्थान काशी या उसका समीपस्थ मगहर अथवा अन्य कोई स्थान रहा हो, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि कवीर के जीवन का अधिकाश समय शिवपुरी (काशी) मे ही व्यतीत हुआ। वही उन्हे सत्सग की वे सुविधाएं प्राप्त हुई जिनका वर्णन उन्होने अनेक स्थानो पर किया है, एव अपने जीवन के अवसान काल में वे मगहर मे आ वसे थे। मगहर के आने का उद्देश्य और कुछ नही था, अपितु समाज मे उसी सामान्य अन्धविश्वास को जड से उखाडना था कि मगहर मे शरीर छोडने से नरक की प्राप्ति होती है। मगहर मे ही सवत् १५७५ वि० मे कवीर का गोलोकवास हुआ था।

जाति

कवीर का जन्म चाहे जिस जाति मे हुआ हो किन्तु यह तो सर्वविदित एव पूर्ण निश्चित है कि वह जुलाहा कर्म से सम्वन्वित थी। जाति विपयक मतभेद का मुख्य विषय यह है कि कवीर हिन्दू जुलाहे, जिन्हें 'कोरी' या 'कोली' कहा जाता है, थे अथवा मुसलमान जुलाहे? अन्त साक्ष्य के आधार पर किसी निश्चित मत पर पहुंचना वड़ा कठिन है, क्योकि कही कवीर ने अपने को कोली वताया है तो कही जुलाहा। यथा—

"हरि को नाम अभै पद दाता, कहै कवीरा कोरी॥

× × ×

"मेरे राम की अभै पद नगरी, कहै कवीर जुलाहा।"

× × ×

'पूरव जन्म हम ब्राह्मण होते ओछे करम तपहीना।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीना।"

डॉ० श्यामसुन्दर दास, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति सभी विद्वान् यह मानते है कि कवीर की जाति मूल रूप से हिन्दू ही थी, चाहे उनका

पालन-पोषण नीरू-नीमा नामक मुसलमान जुलाहा दम्पत्ति ही ने किया हो। स्वर्गीय डॉ० श्यामसुन्दर दास जी कबीर के जन्म के साथ जुडी विधवा ब्राह्मणी की कथा को लक्ष्य करते कहते हैं—

"कबीर का विधवा ब्राह्मण-कन्या का पुत्र होना असम्भव नही किन्तु स्वामी रामानन्द जी के आशीर्वाद की वात ब्राह्मण कन्या का कलक मिटाने के उद्देश्य से पीछे से जोड़ी गयी जान पडती है, जैसे कि अन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियो के सम्वन्ध मे जोडी गई है। मुसलमान घर मे पालित होने पर भी कवीर का हिन्दू विचारो मे सरावोर होना उनके शरीर मे प्रवाहित होने वाले ब्राह्मण अथवा कम से कम हिन्दू-रक्त की ओर सकेत करता है।"

इसी भाँति डॉ० रामकुमार वर्मा कहते हैं—

कवीर के पिता ऐसी जुलाहा जाति के होगे जो मुसलमान होते हुए भी योगियो के संस्कारो से सम्पन्न थे तथा दशनामी सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के कारण गोसाईं कहलाते थे। इन गोसाइयो पर नाथ पन्थ का पर्याप्त प्रभाव था।"

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का कथन है—

"कवीरदास के विषय मे प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के वाद फूल वच रहे थे जिनमे से आधो को हिन्दुओ ने जलाया और आधो को मुसलमानो ने गाड दिया। कई पण्डितो ने इस वात को करामाती किंवदन्ती कहकर उड़ा दिया है। पर मेरा अनुमान है कि सचमुच ही कवीरदास को (त्रिपुरा जिले के वर्तमान योगियो की भाति) समाधि भी दी गई होगी और उनका अग्नि-संस्कार भी किया गया होगा। यदि यह अनुमान सत्य है तो दृढ़ता के साथ ही कहा जा सकता है कि कवीरदास जिस जुलाहा जाति मे पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले के योगी जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति के मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी।"

जहाँ तक गुरु का सम्वन्ध है मुसलमान लोग उन्हे शेख तकी का शिष्य और कवीर के हिन्दू शिष्य उन्हे रामानन्द का शिष्य वताते हैं, किन्तु पुष्ट प्रमाणो से अव तो यह पूर्ण प्रमाणित हो चुका है कि कवीर के गुरु रामानन्द ही थे। उन्ही से कवीर को प्रेम और भक्ति तथा राम नाम के अमरदान मिले है जिनसे कवीर-काव्य भरा पड़ा है। दूसरे, उन्होने जहाँ कही भी रामानन्द का उल्लेख किया है उस वर्णन मे गुरु के लिए अभीष्ट श्रद्धा है जवकि शेख तकी का नाम तो एकाध स्थान पर ही लिया है और वह भी इस रूप मे कि स्वय गुरु रूप मे शेख तकी को कोई वात समझा रहे हो। ईश्वर से भी गुरुतर गुरु को मानने वाले कवीर से ऐसी आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने गुरु का नाम इस भाँति लेते जिस भाँति उन्होने शेख तकी का उल्लेख किया है। दूसरी ओर जहाँ कही भी रामानन्द जी का प्रसग आया हैं, कवीर उतने ही विनम्र श्रद्धावनत शिष्य वन गये है जितना उनके शिष्य होने के लिये वाछनीय है।

विवाह

कवीर का विवाह लोई अथवा वनिया नाम की स्त्री के साथ हुआ। कुछ

विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया है कि कबीर के दो विवाह हुए थे—प्रथम लोई से और दूसरा धनिया से। इन विद्वानो का कथन है कि द्वितीय विवाह करने का कारण पहली पत्नी लोई के साथ ठीक प्रकार से नही पटना है। कबीर के एक पुत्र एक पुत्री—कमाल और कमाली—होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। स्वय कबीर ने इस बात की पुष्टि इस प्रकार की है—

"बूड़ा वंश कबीर का, उपज्यो पूत कमाल।
हरि की सुमिरन छाँड़ि कै, घर ले आया माल॥"

शिक्षा

"मसि कागद छुओ नही कलम गह्यो नही हाथ" की घोषणा करने वाले, महात्मा कबीर ने कभी किसी पाठशाला की चहारदीवारियो मे बैठकर शिक्षा प्राप्त नही की किन्तु फिर भी उनका ज्ञान किसी शिक्षित से कम नही। वास्तव मे पुस्तकीय ज्ञान की तो उन्होने मिट्टी पीटी है, वे तो—

"पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
एकै अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥

के उद्घोषक थे। पोथी को बहाकर बावन आखर मध्य से 'रमै मर्म' मे ही रुचि को रमा देने से ज्ञान के उच्चतम सोपान को उन्होने आत्मसात् कर लिया।

इस भाँति हम देखते है कि कबीर का जीवन और व्यक्तित्व अनेक विषमताओं मे पड़कर अचल शिखर के समान हो गया था, जिस पर प्रचण्ड से प्रचण्ड झंझावात कुछ भी प्रभाव नही छोडते, अपितु उससे टकराकर स्वयं अपनी शक्ति को क्षीण कर धूलि मे मिल जाते है।

: २

कबीरकालीन परिस्थितियां

महापुरुष समय की आवश्यकताओ से उत्पन्न होते है—यह कथन चाहे किसी महापुरुष के विषय मे पूर्ण उतरता हो या नही, किन्तु कबीर के विषय मे तो अक्षरश. सत्य है। परिस्थितियो ने कबीर के व्यक्तित्व को इतना प्रखर और प्रचण्ड बना दिया था कि उसमे समाज के बाह्याचार, व्यर्थाडम्बर, ढकोसले ढह गये। उन्होने भारतीय लोक मानस का नेतृत्व ऐसे समय मे किया जब उसको ऐसे ही कर्णधार की आवश्यकता थी जो विविध धर्म-साधनाओ, विरोधी भावनाओ का केन्द्र-बिन्दु, समन्वय स्थल बन उसका पथ प्रशस्त कर सके। वास्तव मे कबीर स्वत प्रसूत ऐसे वन्य-कुसुम हैं जो वन की निश्छलता और अकृत्रिमता लेकर भी वन मे उत्पन्न नही होता, अपितु किसी ऐसे स्थल पर उत्पन्न होता है जहा दुर्गन्धमय वनस्पति का वातावरण है, किन्तु इस कुसुम के विकास से उसका सौरभ समस्त दुर्गन्धमय वातावरण को सुरभित कर देता है। वे समाज की विषम परिस्थितियो के पक मे उत्पन्न ऐसे पंकज है जो 'पद्मपत्र-मिवाम्भसि' के आदर्श द्वारा जिस सरोवर मे उत्पन्न होता है उसे भी निर्मल कर देता है।

कबीरकालीन विविध परिस्थितियो के विहगावलोकन से इस कथन की सत्यता प्रमाणित होगी।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

दास-वश की दासता से पिसता चला आता हमारा देश तुगलक वश की बुद्धिमत्तापूर्ण मूर्ख योजनाओ के दुष्परिणाम भोग रहा था। मुहम्मद तुगलक, जो इतिहास का सर्वाधिक बुद्धिमान् मूर्ख बादशाह था, अपनी राजधानी-परिवर्तन, विश्व-विजय की महत्त्वाकाक्षा, ताम्रमुद्रा-प्रचलन जैसी योजनाओ से प्रजा पर कष्ट के पहाड तोड रहा था। देश मे बढ़ते हुए अकाल, महामारी नृशस नर-सहार आदि प्रजा मे घोर निराशा और मानसिक ग्लानि के बीज वपन कर रहे थे। तुगलक वश के शासन मे देश की जनता ने देखा कि फीरोज तुगलक जैसे कट्टर मुसलमान, सकीर्ण-हृदय शासक का शासन, जो अपनी नृशसता के लिए इतना कुख्यात है कि एक ब्राह्मण को केवल यह कहने पर कि हमारा धर्म भी इस्लाम के समान श्रेष्ठ है, अग्नि की लपटो मे झोक स्वाहा कर दिया था। सर्वप्रथम फीरोज शाह तुगलक ने ही

ब्राह्मणो पर 'पोल' कर जैसा धार्मिक कर लगाया था। इन्ही विकराल परिस्थितियो मे भारतीय जनता जब अपनी सासो को गिन रही थी, तैमूर का बर्बर आक्रमण हुआ। इस युद्ध ने अपनी भीषण नर-हत्या द्वारा रक्त की ऐसी नदियाँ बहाई कि मानवता रो उठी। स्त्री, पुरुष, बच्चे तैमूर के सैनिको की सगीनो के लक्ष्य बन गए। भ्रष्टाचार, बलात्कार आदि अमानुषिक कृत्यो से भारतीय जनता का—विशेषतः हिन्दू जनता की रही सही प्रतिष्ठा शक्ति—सर्वस्व धूलि-धूसरित हो गया। देश मे सर्वत्र अशान्ति, आतक, निर्धनता और विपन्नता के रोगटे खडे कर देने वाले दृश्य उपस्थित हुए।

इस युद्ध के बाद दिल्ली पर जो तत्कालीन भारत का भाग्य बिन्दु था, लोदी वश की सत्ता स्थापित हुई। बहलोल लोदी ने अपने अल्पकालीन शासन मे देश की एकता को सुरक्षित करने का प्रयास किया था, किन्तु वह शीघ्र की काल कवलित हो गया। बहलोल लोदी के पश्चात् सिकन्दर लोदी उसकी परम्परा को सुरक्षित न रख सका और अपनी धर्मान्धता के कारण इसने हिन्दुओ पर अगणित अत्याचार किए। इतिहासकारो का तो यहा तक कहना है कि इस्लाम को ग्रहण करने के ही लिए उसने एक-एक दिन मे १५०० हिन्दुओ का वध किया था। इस्लाम-प्रचार की धुन मे व्यस्त इस क्रूर शासक ने हिन्दुओ के समस्त धार्मिक कृत्यो पर रोक लगाकर मन्दिरो को सरायो आदि में परिवर्तित कर दिया था।

ऐसी विकट राजनैतिक स्थिति मे भारतीय हिन्दू जनता को ऐसे कर्णधार की आवश्यकता थी जो उन्हे डूबते को तिनके का सहारा देकर भी बचा ले। विपन्न हिन्दू जनता के लिए कबीर एक ऐसे पोत के समान आए जिसने उन्हे जीवनाधार दिया।

कबीरकालीन राजनैतिक प्रभावो का आकलन करते हुए डॉ० गो० त्रिगुणायत जी निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत करते है—

१. "धर्म सुधार की भावना जागृत हुई। उसी के फलस्वरूप गोरखनाथ जी ने नाथ पथ चलाया। दक्षिण मे लिंगायत और सिद्धग आदि पन्थो का भी उदय इसी धर्म सुधार-भावना के कारण हुआ था। इन सबका लक्ष्य हिन्दू धर्म और इस्लाम मे सामञ्जस्य स्थापित करना था। कबीर की विचारधारा भी ऐसा ही लक्ष्य लेकर चली थी।

२ पर्दा प्रथा समाज मे दृढ होती गई। कुछ तो मुसलमानो की देखादेखी और कुछ इस भावना से कि मुसलमान स्त्रियो को देखकर तथा मोहित होकर बलात्कार न कर बैठे, हिन्दुओ मे भी पर्दा प्रथा का प्रचार बढ गया। (मुसलमानो के अनुकरण की अपेक्षा पर्दा प्रथा अपनाने मे आत्म-सुरक्षा की ही भावना अधिक थी। इस भावना से प्रेरित होकर स्त्रियों ने अपने मुख-सौन्दर्य को विकृत तक किया था।)

३ हिन्दू समाज मे निरुत्साह और निराशा फैल गई। इसके फलस्वरूप ध

ी ओर उसकी अभिरुचि बढने लगी। धर्म की सगुणोपासना मे असमर्थ होने के कारण निर्गुणोपासना की ओर झुका। (किन्तु निर्गुणोपासना की ओर झुकने में मुख्य कारण सगुणोपासना का अवसर न प्राप्त होना इतना नही, जितना जनता का सगुणोपासना से विश्वास उठ जाना है।)

४. हिन्दू लोग राजनीति से उदासीन हो चले। उनका जीवन दारिद्र्य और नैराशा मे ही बीतने लगा। इसी ऐकान्तिकता और निवृत्त्यात्मकता से प्रेरित हो उन्होने निर्गुण ब्रह्म की उपासना प्रारम्भ की।"[१]

कबीर के साहित्य मे ये सब भावनाएँ इस रूप मे प्रस्फुटित हुई हैं कि जनता अपना मनोनुकूल सम्बल पा गई। इसी से कबीर-काव्य लोकमानस के इतना सन्निकट है कि उससे पूर्व का काव्य चाहे कितना ही लोक-मंगल की भावना को लेकर चला हो किन्तु वह जनप्रिय न हो सका। वस्तुतः कबीर साहित्य प्रथम आवश्यकता को पूर्ण करता है, शिव की भावना को प्रश्रय देता है, तदनन्तर काव्य के अन्य प्रयोजनो को पूर्ण करता है। वह साहित्य 'शिव' की ही भावना से प्रसूत है।

सामाजिक स्थिति

तात्कालिक राजनीतिक परिस्थिति से ही हम भली भाँति यह अनुमान लगा सकते हैं कि यहां की सामाजिक दशा अच्छी न रही थी। युद्ध के पश्चात् किसी देश की सामाजिक स्थिति ठीक भी कैसे रह सकती थी ? हिन्दू समाज तो विजित जाति होने के कारण घोर मानसिक हीनता ग्रथि से ग्रसित था। फलस्वरूप उसमें घोर नैराशा बढ रही थी। यवनो के बढ़ते अत्याचारो को देख धर्मप्राण हिन्दू-जनता कराह रही थी। साथ ही वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था के बन्धन जटिल से जटिलतर होते जा रहे थे। हिन्दू-धर्म अपनी वर्ण-व्यवस्था के बन्धनो को कठोर कर अपने चतुर्दिक् रक्षात्मक व्यूह बनाता जा रहा था, एक प्रकार से वह निःशेष हिन्दुओ की पवित्रता के लिए, उन्हे हिन्दू रखने के लिए और अधिक कठोर नियमो की सीमा में आबद्ध हो रहा था। इस व्यवस्था से हानि-लाभ दोनो हुए। लाभ तो इस रूप में कि यह व्यवस्था हिन्दुओ के बचे धर्म की रक्षा मे प्राणपण से प्रस्तुत थी और हानि इस रूप मे कि यह व्यवस्था रक्षा तो अत्यन्त अल्प हिन्दुओ की कर पाई और हिन्दू-समाज से उसका एक बहुत बड़ा निम्नवर्गीय समुदाय पृथक् हो गया। इन निम्नवर्गीय समुदाय को हिन्दुओ की कठोर व्यवस्था द्वारा प्रतारणा, लाछन और तिरस्कार मिला था, किन्तु अब उनके सम्मुख इस्लाम का ही उन्मुक्त द्वार था, जहा छोटे-बड़े का भेदभाव नही था। अब हिन्दू समाज को ऐसे मत की आवश्यकता थी जो 'जाति-पाति माने नही कोई, हरि को भजे सो हरि का होई' की भावना को प्रश्रय दे। विभिन्न गुह्य साधनाएं और मत इसके लिए प्रस्तुत थे। यही कारण है कि सहजयानी, वज्रयानी सिद्ध लगभग सभी निम्न वर्ग के थे और स्वयं कबीर आदि के भी शिष्य निम्न-जातीय हैं। हिन्दू संस्कृति और भाषा-साहित्य सभी ह्रासोन्मुख हो रहे थे, क्योकि शिक्षा का अभाव होता जा रहा था।

१. "कबीर की विचारधारा"—पृष्ठ ७१-७२

दूसरी ओर मुसलमान-समाज यद्यपि बहुत सी सुविधाएँ प्राप्त कर रहा था तो भी वह अवनति के गर्त्त मे जा रहा था। इसका कारण धन-वैभव पाकर विलासिता मे पडे रहना और आचरणहीनता ही थी। छोटे-छोटे मुसलमान ताल्लुकेदार तक सुन्दरियो की सेना से घिरे रहते थे। इतिहासकारो का कथन है कि यवन जाति इस समय अपना पुरुषत्व खो आचरण भ्रष्ट हो गई थी और उनका वह बाहुबल नि:शेष हो गया था जिसके आधार पर उन्होने भारत पर प्रभुसत्ता स्थापित की थी।

इन दोनो जातियो के सम्बन्ध मे जब हम विचार करते हैं तो ज्ञात होगा कि राज्य की नीति और शासको की क्रूरता द्वारा दोनो जातियो के बीच भेद की एक खाई गहरी बनती जा रही थी। यह सौभाग्य की बात है कि कबीर के समय में आकर दोनो जातियो मे एक वर्ग ऐसा हो गया था जो दोनो जातियो को एक देखना चाहता था। वास्तव मे कबीर एक ऐसी युग-सन्धि के काल मे पैदा हुए थे जिसमे हिन्दू मुसलमान जातियो के उच्च वर्गों मे एक दूसरे के प्रति चाहे जितनी असहिष्णुता क्यों न रही हो, लेकिन निम्न वर्ग और जातियों मे परस्पर एक दूसरे के निकट आने की और मिल-जुलकर रहने की भावना बलवती होती जा रही थी और युग की आवश्यकता यह थी कि कोई सर्वसाधारण के अनियन्त्रित विक्षोभ और विद्रोह को एक सरल और सीधा मार्ग दिखा सके। कबीर ने निर्गुण प्रेमभक्ति का मार्ग लोगो को दिखाया और उन्होने प्रेम को ही साध्य और साधन दोनो माना।[1]

इन सामाजिक परिस्थितियो के फलस्वरूप जो भावनाएं स्वाभाविक रूप से कबीर-काव्य मे आईं, उनमे समाज की कुरीतियो और वाह्याडम्बरो के प्रति विरोध एवं दोनों जातियो मे एकत्व भावना उत्पन्न करना आदि प्रमुख है।

धार्मिक स्थिति

कबीरकालीन धार्मिक स्थिति के परिशीलन से स्पष्ट होगा कि उस समय समाज में नाना धार्मिक साधनाए प्रचलित थी। इन समस्त मतो और साधनाओ को विद्वान दो वर्गो मे रखते हैं—एक वे जो उच्च वर्ग में मान्य और प्रिय थी, दूसरी वे जिनमे निम्नवर्गीय समाज रुचि लेता था। डॉ० सरनामसिंह शर्मा जी ने इसे ही वैदिक धारा और वेद-विरोधी-धारा के नाम से पुकारा है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि वेद-विरोधी साधनाओ के द्वार समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए उन्मुक्त थे जबकि वैदिक धारा के अतर्गत आने वाली साधनाएं उच्च वर्गों को ही प्रश्रय देती थी। इन दोनो कोटियो की साधनाओ और सम्प्रदायो मे वैष्णव सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय, शक्ति सम्प्रदाय, बौद्ध और जैन सम्प्रदाय विशेष प्रसिद्ध थे। इतना ही नही इन सम्प्रदायो के भी उपभाग थे जैसे वैष्णव सम्प्रदाय मे शंकर, रामानुज, माधवाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि के सम्प्रदाय और शैवो मे वीरशैव सम्प्रदाय।

इस समय हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय मे इतने बाह्याचार, व्यर्थ के कर्मकांड होते थे जिनसे जनता एक प्रकार से ऊब गई थी, किन्तु फिर भी हिन्दू

१. डॉ० शिवदान सिंह चौहान

कहलाने के लिए उसे उन आचरणों का निष्ठापूर्वक पालन करना होता था। पाखड का इस प्रकार वोलवाला था कि धर्म की व्यापक भावनाए और उदात्त अर्थ जप, माला, छापा, तिलक एव पत्थर पूजा तक ही सीमित रह गया। गेरुए वस्त्रों की महत्ता रह गई थी, साधु की नही। सवर्ण हिन्दू अवर्णो पर इतना अत्याचार करते थे कि उनके लिए जीवन निर्वाह दूभर हो गया था। उनकी छाया तक मे घृणा की सीमा इतनी वढ गई थी कि शूद्र की छाया पडने पर भी स्नान की व्यवस्था धर्म के ठेकेदारो ने कर रखी थी।

ऐसी स्थिति मे अवर्ण हिन्दुओ के सम्मुख एक ही मार्ग था—ऐसे धर्म का पल्ला पकडना जो उनको समादृत कर उचित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान कर सके। इसका एकमात्र समाधान प्रस्तुत करता था इस्लाम। यद्यपि भारत मे भी नाथ पंथ आदि जितने भी वेद-विरोधी सम्प्रदाय थे सब जाति-पाति के बन्धन नही मानते थे, किन्तु जनता इतनी इनकी ओर आकृष्ट नही हो रही थी जितनी इस्लाम की ओर। इसका प्रमुख कारण यह था कि जैन और बौद्ध सम्प्रदाय अपने वैभव को दिखा लुप्तप्राय हो गये थे, यदि शेप रहे थे तो बौद्ध धर्म से उद्भूत नाथ पथ, सहजयान सम्प्रदाय आदि जिनमे साधना की गुह्यता इतनी वढती जा रही थी कि वे सर्व साधारण की पहुच से परे थे। अतः भारत भूमि मे इस समय विदेशी धर्म—सूफी मत और इस्लाम—ही शेष रह गये थे जिनकी ओर तथाकथित हिन्दू धर्म के ठेकेदारो मे तिरस्कृत निम्न वर्ग आकृष्ट हुए। किन्तु हम देखते हैं कि इन विपम परिस्थितियो मे भी हिन्दू धर्म ने अपनी अदभुत शक्ति का परिचय दिया। यह हिन्दू धर्म की अपरिमेय शक्ति का ही परिणाम है कि इस्लाम ग्रहण करने पर वैभव प्राप्ति के प्रलोभन के होने पर भी अधिकाश जनता सवर्ण हिन्दुओ से पिसकर भी हिन्दू बनी रही। फिर भी इस तथ्य को अस्वीकृत नही किया जा सकता कि यदि हिन्दू-धर्म ने अपने इस अंग को, जो दलित वर्ग के नाम से पुकारा जा सकता है, इतना उपेक्षित और तिरस्कृत न किया होता और मुसलमानो ने तलवार के वल पर इस्लाम का प्रचार न किया होता तो कदाचित् भारतीय जनता का एकाध प्रतिशत भाग भी कठिनाई से ही मुसलमान बन पाता।

इस समय इस्लाम धर्म मे भी बाह्याचारो और अधविश्वासो का महत्व वढ़ता जा रहा था। कुरान, रोजा, नमाज सम्बन्धी विविध आचरणो मे ही धर्म केन्द्रित हो रहा था और तथाकथित इस्लाम के पाक-प्रचारक शासनकर्त्ता कादम्ब और कामिनी के विलास मे फसे हुए थे।

कबीर ने दोनो धर्मो के अभावो को बड़े निकट से परखा था। उन्हे अपने जन्म के कारण कुछ ऐसी सुविधाए प्राप्त थी जो मध्यकाल के किसी अन्य साधक, सुधारक अथवा कवि को प्राप्त नही थी। "सयोग से वे ऐसे युग-सन्धि के समय उत्पन्न हुए थे, जिसे हम विविध धर्म साधनाओ और मनोभावनाओ का चौराहा कह सकते है। उन्हे सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के

सस्कार पडने के रास्ते है, वे प्राय सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी असल मे मुसलमान नही थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नही थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नही थे।......कबीरदास ऐसे ही मिलन विन्दु पर खडे थे, जहा से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहा एक और ज्ञान निकल जाता है और दूसरी ओर अशिक्षा, जहा एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना, उसी प्रशन्त चौराहे पर वे खडे थे। वे दोनो ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा मे गए मार्गो के दोष-गुण उन्हे स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।"[1]

यही कारण है कि कवीर ने समस्त साधनाओ के दोप-गुणो को इतनी वारीकी से परखा था कि समाज की आखे खुल गईं और एक नवीन प्रेमाभक्ति का मार्ग उनके सम्मुख कवीर के द्वारा आया।

साहित्यिक परिस्थिति

साहित्य के विकास के लिए राष्ट्र की सस्कृति का विकास परमावश्यक है। ऊपर देखा जा चुका है कि कवीर के समय भारत का सास्कृतिक ह्रास हो रहा था। कवीर के समय तक आते-आते हिन्दी अपभ्र श की गोद से निकल कर चलना ही सीख रही थी। अव तक उसमे दो ही प्रकार का साहित्य प्राप्त होता है या तो आश्रयदाताओ की प्रशसा मे लिखा गया साहित्य अथवा अपने विविध धर्म-सिद्धान्तो का व्याख्यात सहजयान, वज्रयान आदि का साहित्य। वज्रयानी अथवा सहजयानी साहित्य मे हमे सतमत की वहुत सी वाते अपने प्रारम्भिक रूप मे मिल जायेगी। इस पूर्ववर्ती साहित्य मे प्रतिक्रियात्मक भावना, जाति-पाँति विरोध, खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति, मिथ्याचरण विरोध, मूर्तिपूजा और वहुदेवोपासना का विरोध, रहस्यवादी प्रवृत्ति, हठयोगी साधना-वर्णन आदि वाते ऐसी प्राप्त होती है जो आगे चलकर सन्त-मत मे प्रचलित हुईं। साहित्यिक परिस्थितियो के देखते समय विस्तार में जाने की आवश्यकता इसलिए नही कि कवीर-काव्य का प्रमुख प्रयोजन 'विशुद्ध साहित्य' के समान कलात्मक नही, अपितु लोकमगल है। यह दूसरी बात है कि इस लोकमंगल भावना से प्रसूत साहित्य मे काव्य की उच्च से उच्चतम वस्तु, रस का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि कवीर जिन परिस्थितियो मे उत्पन्न हुए, वे अत्यन्त विषम थी। इन्ही विषम परिस्थितियो ने उन्हे मध्ययुग का युग प्रवर्तक सत और महाकवि वना दिया। अपनी परिस्थितियो का अध्ययन-मनन कर कवीर ने जो कुछ भी कहा है उसमे तत्कालीन समस्त समस्याओ का समाधान प्राप्त होता है।

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, "हिन्दी साहित्य" पृ० १२०-२१

: ३

कबीर पर पड़ने वाले आध्यात्मिक प्रभाव

किसी भी कवि पर अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओ, विचारो एवं सिद्धान्तो का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। कबीर पर भी उस समय तक प्रचलित नाना धर्म-साधनाओं, विचारो एव प्रतिष्ठित धर्मग्रथो का प्रभाव पड़ा है, किन्तु कबीर पर यह प्रभाव सीधे नही पडा है, क्योकि उन्होने तो पुस्तकीय ज्ञान सीखा ही नही था। वे वहुश्रुत थे, उन पर विविध धर्म-सम्प्रदायो और दर्शन ग्रथो का प्रभाव साधु-सगति से आया है। यही कारण है कि कही-कही कबीर ने हिन्दू पौराणिक आख्यानो का उपयोग यथावत् नही किया है।

कुछ विद्वान् कबीर आदि सन्तो पर इस्लाम का अत्यधिक प्रभाव मानते थे, किन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानो की नवीन शोधो के प्रकाश मे देखने से यह मान्यता निर्मूल दृष्टिगत होती है। आचार्यप्रवर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का कथन है—"उपस्थापन पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलकार, छन्द, पद आदि मे ये सन्त (कबीर आदि) शत-प्रतिशत भारतीय परम्परा मे पडते है।" कबीर की एकेश्वर भावना, निराकार उपासना, समान व्यवहार, खण्डन-मण्डन प्रवृत्ति सबमे मुसलमानी गन्ध पाने वाली मान्यताए अब निर्मूल सिद्ध हो चुकी हैं।

कबीर पर पडने वाले अध्यात्मिक प्रभावो पर दृष्टिपात करने से हम निष्कर्ष निकाल सकते है कि कबीर भारतीय अथवा विदेशी परम्परा मे किसके अधिक निकट है—

वैदिक साहित्य का प्रभाव

वास्तव में वैदिक धर्मग्रंथो का इतना विशाल और समृद्ध भण्डार है कि भारतीय सांस्कृतिक जीवन की प्रत्येक गतिविधि पर उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। भारतभूमि में कोई भी ऐसा धर्म अथवा सम्प्रदाय नही जिस पर वैदिक चिन्तन का कुछ न कुछ प्रभाव न हो। वैदिक विचारधारा के विरोध मे उत्पन्न धर्म-सम्प्रदाय भी इस प्रभाव से न बच सके।

वैदिक साहित्य को संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एव उपनिषद् के रूप मे विभक्त किया गया है। "सहिताओ मे अधिकतर वैदिक देवताओ की स्तुतियाँ सगृहीत है। ब्राह्मणो मे कर्म-काण्ड का वर्णन मिलता है। आरण्यको मे विविध उपासनाओं की चर्चा है। उपनिषदो मे ज्ञान-काण्ड का विवेचन है। भारत मे सबसे अधिक उपनिषदो

की चर्चा होती रही है। ये उपनिषद् संख्या मे बहुत अधिक थे। कहते है कि ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०२, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ९ शाखाएं और प्रशाखाएं थी। इन सभी शाखाओ से सम्बन्धित उपनिषद् भी रहे होगे। केवल मुण्डकोपनिषद् मे १०८ उपनिषदों के नाम दिये है।"[1]

१. ब्रह्म का स्वरूप—समस्त उपनिषद् साहित्य की रचना ब्राह्मण साहित्य की कर्मकाण्डी प्रवृत्ति के विरोध मे हुई है। बहुदेववाद व कर्मकाण्ड की धज्जियाँ इसी साहित्य ने उड़ायी थी। कबीर के समय भी बहुदेवोपासना एवं ब्राह्मणो द्वारा नियन्त्रित हिन्दू धर्म की कर्मकाण्डी प्रवृत्ति का बोलबाला था। अतः उन्हे अपनी आवश्यकतानुसार साहित्य यदि प्राप्त था तो वह उपनिषद् साहित्य ही। उपनिषदो मे प्रस्थापित अद्वैत भावना का कबीर पर अत्यधिक प्रभाव है। कुछ लोग कबीर की एकेश्वर भावना और निराकार उपासना को इस्लाम से प्रभावित मानते है, किन्तु यह भ्रामक है। हमे केवल एक शब्द के आधार पर कबीर की भावना को मुस्लिम प्रभावापन्न नही मानना चाहिए। वास्तव मे एकत्व भावना वैदिक अद्वैतवाद की आधार भूमि है। अद्वैत के सिद्धान्त वाक्य 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' और एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' द्वारा भी यही सिद्ध है कि वह एक ब्रह्म ही सत्य है, अन्य कुछ नही। इस्लाम का खुदा एक होते हुए भी सातवें आसमान पर तख्त के ऊपर बैठने वाला दो हाथ पैर का दाढ़ी वाला सर्वशक्तिमान् है, जबकि कबीर का ब्रह्म उपनिषदो के ब्रह्म के समान इन्द्रियातीत, अगम्य, अगोचर, अनिर्वचनीय तत्वरूप है, श्रुति-ग्रथो के परिशीलन से स्पष्ट ही जान पडता है कि वहाँ ब्रह्म की मान्यता दो स्वरूपो मे है। एक निर्गुण, निर्विशेष, निराकार और निरुपाधि एवं दूसरा इन सब बातो से मुक्त अर्थात् सगुण, सविशेष, साकार और सोपाधि। साधारणतः यह बात बडी अटपटी सी लगती है कि वह ब्रह्म एक साथ ही इस भाँति द्विस्वरूपी कैसे है? इसके प्रत्युत्तर मे वेदान्तवादी कहते हैं कि ब्रह्म अपने आप मे तो निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निरुपाधि है, परन्तु अविद्या या गलतफहमी के कारण जिसे हम माया भी कह सकते हैं, हम उसमे उपाधियो या सीमाओ का आरोप करते हैं। यह गलतफहमी अथवा भ्रम हमारा ही है। इसलिए उपनिषद् बारम्बार स्थान-स्थान पर ब्रह्म को इस प्रकार बताती हैं—

"वह मोटा भी नही, पतला भी नही, छोटा भी नही, बड़ा भी नही, लोहित भी नही, स्नेह भी नही, छायायुक्त भी नही, अन्धकार भी नही, वायु भी नही, आकाश भी नही,।"

—'बृहदारण्यकोपनिषद्

"वह शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित, गन्ध रहित है॥"

—कठोपनिषद्

इस प्रकार के वर्णन हमे कबीर की ब्रह्म-सम्बन्धी वाणियो मे प्रचुरता से प्राप्त होते है। यथा—

---

१. "कबीर की विचारधारा"

"संतो धोखा कासूं कहिये ।
गुण मैं निरगुण निरगुण मै गुण है,
बाट छाड़ि क्यूं बहिये ॥
अजरा, अमर, कथै सब कोई, अलख न कथणा जाई ।
नाति सरूप वरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई ।
प्यंड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई ।
प्यड ब्रह्मण्ड छाडि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई ॥"

× × × ×

"भारी कहो तो बहु डरौं, हलका कहौं तो झूठा ।
मै का जानूं राम कूं, नैनूं कबहुँ न दीठा ॥"

कबीर का आराध्य उपनिषदो के ब्रह्म के समान ही अजीब-गरीब है जो बिना ही रूपाकार के क्रियाशील है, बिना पग चलता है, बिना मुख खाता है ।

२. मनःसाधना—कबीर पर वैदिक उपनिषद् साहित्य का दूसरा प्रभाव मन-साधना का है । इन उपनिषद् ग्रंथो मे मन की चचलता पर नियन्त्रण रखने के लिये बहुत आग्रह है । मन की चचलता ही विरागी को रागी सन्यासी को गृहस्थ बना देती है । कबीर ने भी मन साधना पर बडा जोर दिया है—

"काया कसूं कमाण ज्यूं, पंचतत्त करि बाण ।
मारौं तो मन मृग को नही तो मिथ्या जाण ॥"

× × ×

"मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक ।
जो मन पर असवार हैं, ते साधू कोई एक ॥"

× × ×

"कबिरा मन ही गयन्द है, आंकुस दै दै राखि ।
विष की बेलि परिहरो, अमृत के फल चाखि ॥"

३. नाम स्मरण—कबीर मे इष्ट के नाम-स्मरण का जो अत्याधिक आग्रह है वह भी श्रुतिग्रथो का प्रभाव है । इस ससार-सागर से तरने के लिए 'नामस्मरण' को कबीर ने बोहित तुल्य माना है । यथा—

"सो धन मेरे हरि का नांउ, गांठि न बांधौं बेचि न खाऊं ।
नांउ मेरे खेती नांउ मेरे बाकी, भगति करो मै सरनि तुम्हारी ॥
नांउ मेरे सेवा नांउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जानौं दूजा ॥
नाउँ मेरे बांधव नाउँ मेरे भाई, अंत विरियां नाउँ सहाई ॥
नाउँ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कबीर जैसे रंक मिठाई ॥

वैष्णव प्रभाव

वैष्णवो के प्रेम प्रधान भक्ति तत्व ने कबीर को बहुत प्रभावित किया है । प्रेम भक्ति की प्राप्ति कबीर को वैष्णवो के प्रसिद्ध आचार्य रामानन्द से हुई है । इस

अनन्य भक्ति की प्राप्ति से कबीर-साहित्य को एक नूतनता प्राप्त होती है। यह नूतनता अत्यन्त विलक्षण है जो कबीर को सिद्धो और नाथो की परम्परा से सर्वथा पृथक् कर देती है।

१. अनन्यभाव—भक्ति ऐसा तत्त्व है जिसे पाकर कबीर स्वयं धन्य हुए, इसी से उन्होने अपने साहित्य को भी धन्य कर दिया। कबीर की भक्ति की अडिगता और अनन्यता, जो देखते ही बनती है, वैष्णव प्रभाव ही है। यथा—

"कबीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाई।
नैनु रमइया रमि रहा, दूजा कहां समाई।"

इसी अनन्यता का परिचय कबीर ने आत्मा को 'सती' का रूपक देकर किया है—

"जे सुन्दरि साईं भजै, तजै आन की आस।
ताहि न कबहूँ परिहरै, पलक न छाड़ै पास।"

इतना ही नही, उस ब्रह्म के प्रति इतनी श्रद्धा है कि वे उसका कुत्ता बनने मे भी नही हिचकते—

"कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउँ।।"

इष्ट की इस भावना पर तुलसी के—

"राम सौं बडो है कौन, मोसों कौन छोटो"

की शत-शत भावनाएं न्योछावर की जा सकती है। कबीर पर यह सब विशुद्ध वैष्णव प्रभाव है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने इस मान्यता का कि कबीर की प्रेम-भावना पर सूफी प्रभाव है, खण्डन कर यह प्रस्थापना की है कि कबीर की प्रेम की पीर वैष्णव-भावना से प्रभावित है। द्विवेदी जी का कथन है—

"निर्गुण राम का उपासक होने के कारण उन्हे वैष्णव न मानना उस महात्मा के साथ अन्याय करना है। वास्तव मे वे स्वभाव और विचार दोनों से वैष्णव थे।"

२. सदाचार—कबीर-काव्य मे शील, क्षमा, दया, उदारता, संतोष, धैर्य, दीनता और सत्यता आदि का उपदेश भी वैष्णवो के 'सदाचार महत्व' से प्रभावित है। यथा—

"बड़ा भया तो का भया, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर।"

× × ×

"ऊंचे कुल का जनमिया, करनी ऊंच न होय।
स्वर्ण कलश मदिरा भरा, साधु निन्दै सोय।।"

३. जाति-पाति का भेद—कबीर से पूर्व जाति-पाति के विभेद को दूर करने का प्रयास वैष्णवाचार्य रामानुज ने किया था। अत. जाति-पाँति के बन्धनो को न मानना भी कबीर की विचारधारा पर वैष्णव प्रभाव है। यह निरसन्देह सत्य है कि रामानुज तो केवल भक्ति-क्षेत्र मे ही सामाजिक समानता ला सके, किन्तु कबीर ने प्रत्येक क्षेत्र मे जाति-पाँति के विभेद को दूर किया। उन्होने सवर्ण हिन्दू और मुस्लिम दोनो के बीच की खाई को पाटा और—

"जाति-पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजै सौ हरि का होई" की पुकार लगाई।

४. जनभाषा का प्रयोग—सर्वप्रथम रामानन्द ने धर्म के सिद्धान्तो को जन-भाषा मे उद्घाटित किया, अन्यथा अब तक समस्त धर्म-सिद्धान्त की व्याख्या का एकमात्र वाहन सस्कृति थी जो अब जन-भाषा नही थी। कबीर पर भी यह प्रभाव ही है कि उन्होने तथा अन्य परवर्ती सन्तो ने अपने विचारो का माध्यम लोक-भाषा को ही बनाया। कबीर ने कहा था—

"संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर।"

वैसे कहा जा सकता है कि—'मसि कागद तक न स्पर्श करने वाला सत सस्कृत मे कैसे रचना करता ? किन्तु हमारा विचार है कि सत्य के इस अदभुत अन्वेषी के लिए सस्कृत मे भी काव्य रचना करना असम्भव न था।

५ माया तत्व—कबीर पर एक अन्य वैष्णव प्रभाव माया-तत्व है। जिस प्रकार वैष्णवो ने प्रभु-भक्ति मे माया को बाधक माना है उसी प्रकार कबीर ने भी माया को साधना मे 'दुर्गम घाटी दोय' मे से एक माना है। वैष्णवो मे प्रचलित विष्णु के सहस्र नामो मे से भी कबीर ने कुछ अपनाया है। कबीर-काव्य मे राम हरि, गोविन्द, मुकुन्द, मुरारी, विष्णु, मधुसूदन आदि नामो का प्रयोग हुआ है, जिनमे 'राम' तो सर्वप्रमुख और कबीर-काव्य का केन्द्र बिन्दु है ही।

६. भावात्मक स्थान—इतना ही नही, कबीर ने वैष्णवो के कुछ भावात्मक कल्पित स्थानों को भी अपनी वाणी मे स्थान दिया है। यथा—

"अमरपुर ले चलु हो सजना।"

× × ×

"अमरपुरी की करी गलियां अड़बड़ है चढ़ना।"

कबीर ने इन्द्रपुरी, विष्णुलोक आदि इन समस्त स्थानो के नाम को यद्यपि शून्य के अर्थ मे ही ग्रहण किया, किन्तु इससे वैष्णव प्रभाव सहज ही में परिलक्षित किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर पूर्ण वैष्णव थे जिसकी घोषणा वे स्वयं भी करते हैं—

'मेरे संगी दोइ जना, एक वैष्णव एक राम।'

बौद्धों के महायान का प्रभाव

बौद्धो की महायान शाखा का भी प्रभाव कबीर पर पड़ा है। जीवन की

क्षण-भगुरता, मध्यम मार्ग, शरीर कष्ट का विरोध आदि बाते कबीर मे महायान के प्रभाव मे ही आई। क्षणिकवाद का उदाहरण देखिए—

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यो तारा परभात।"

शरीरकष्ट का विरोध जैसा महायान मे है, वैसा कबीर मे भी कही-कही मिलता है। यद्यपि योगसाधना मे कुण्डलिनी साधना, त्राटक के फाटक खोलना, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना का समन्वय इन सब बातो मे काया-कष्ट है ही किन्तु फिर भी

"भूखे भगति न कीजै, अपनी माला लीजै"

जैसी विरल उक्तियाँ तो मिल ही जाती हैं।

सिद्धों और नाथपन्थी योगियो का प्रभाव

कबीर पर बौद्ध-मत के अन्तिम दिनो मे प्रचलित वज्रयान और सहजयान शाखाओ के सिद्धो का भी बहुत प्रभाव पडा। सिद्धो की ही सुसस्कृत परम्परा नाथो की है।

१ योग-साधना—डॉ० रामकुमार वर्मा जी का कथन है—

"सिद्ध साहित्य, नाथ पथ और सतमत एक ही विचारधारा की तीन परिस्थितियाँ है।"

इन दोनो का अत्यधिक प्रभाव कबीर पर पडा है। कबीर ने जिस योगसाधना, षट्चक्र, इडा, पिंगला, सुषुम्णा आदि का वर्णन साधना का रूप बताया है वह सिद्धो और नाथों द्वारा अनुमोदित है। यह दूसरी बात है कि कबीर तक आते-आते साधना के कुछ पारिभाषिक शब्द दूसरे रूप मे ग्रहण किये गए। कबीर के निम्नस्थ पद द्वारा हम देख सकते है कि कबीर ने योगसाधना को वही रूप दिया है जो सिद्धों और नाथो ने दिया है—

'हिंडोलना तहां झूलैं आतम राम।
प्रेम भगति हिंडोलना, सब सतनि कौ विश्राम॥
चंद सूर दोइ खंभवा, बंकनालि की डोर।
झूलैं पंच पियारिया, तहां झूलै जिय मोर॥
द्वादस गम के अतरा, तहां अमृत का ग्रास।
जिनि यहु अमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुनि कौ नेहरौ, गगन मण्डल सिरमौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हम झूलैं हिंडोल॥
अरध-उरध की गंगा जमुना, मूल कवल कौ घाट।
षट्-चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट॥
नाद व्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार।
कहै कबीर गुण गाइले, गुरगंमि उतरौ पार॥

इस पद मे सिद्धो और नाथो मे यदि कोई वस्तु भिन्न है तो वह है प्रेमाभक्ति जिस पर वैष्णव प्रभावान्तर्गत विचार किया जा चुका है।

२. गुरु-महत्ता—गुरुमहत्ता भी कबीर को सिद्धो और योगियो से प्राप्त हुई। इन्होंने साधना में गुरु को वैसा ही महत्व दिया जैसा सिद्धों और योगियों ने। साधक जब साधनावस्था की जटिलता मे निराश होता है तो मार्ग-दर्शन के लिए गुरु के पास ही जाता है। सिद्धो ने कहा है—

'लुइ भणई गुरु पुच्छेउ जाण।"

किन्तु कबीर ने केवल गुरु को पूछा ही नही, अपितु गुरु के बिना साधना को ही अपूर्ण माना, गुरु को ब्रह्म से भी उच्च स्थान प्रदान किया—

"गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय।"

× × ×

"गुरु पारस को अंतरो, जानत हैं सब संत।
वह लोहा कञ्चन करे, ये कर लेइ महंत॥

३. बाह्याडम्बरो का विरोध—कबीर ने बाह्याडम्बर, जाति-पाँति आदि का जो खण्डन अपनी करारी उक्तियो मे किया, वह सिद्धो और नाथों की ही देन है। अपनी तार्किक शैली मे समाज के बाह्याचारो पर जो कटु-प्रहार कबीर ने किये है, इनका सूत्रपात सिद्धो और योगियो के ही समय हो चुका था। सिद्धो ने कहा—

"आवणगमण णां तंन विपंण्यो,
तो वि णिणज्ज भणइ हऊं पंडिओ।"

कबीर ने कहा था—

"जो तू बाह्मन बाह्मनी जाया,
आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।"

इसी प्रभाव से उन्होने मुल्ला की बाँग और हिन्दुओ की पीतल पिटत पर तिलमिला देने वाली उक्तियाँ कही है, चुटकियाँ ले-लेकर व्यग्य कसे है। इन्ही उक्तियो के माध्यम से उन्होने धर्म के मूलतत्व को पहचान ढोग के ढोल की पोल खोल दी—

"मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या साहिब तेरा बहिरा है?
चिउंटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहिब सुनता है।
पडित होय के आसन मारे, लम्बी माला जपता है॥"

६. रहस्यवाद—विद्वानो का विचार है कि कबीर के रहस्यवाद, उलटबासी और प्रतीकों का भी मूल यही है। कही-कही तो कबीर ने इनकी उलटबांसी, रूपक आदि को साक्षी रूप मे उद्धृत कर दिया है—

"बलद बियाअल गविया बांझे।"

× × ×

"बरसै कम्बल भीगै पानी।"

× × ×

"नाव विच नदिया डूबी जाय।"

ये सब उलटवासियाँ सिद्धो और कबीर मे समान रूप से प्राप्त है।

५. भाषा—इस प्रकार भाषा के क्षेत्र मे भी इन परम्पराओं ने कबीर काव्य को प्रभावित किया। इन उलटवासियो में विभावना, विरोधाभास आदि अलंकार भी समान रूप से व्यवहृत है—

"ऐसा अद्भुत मेरे गुर कथ्या, मै रह्या उमेषै।
मूसा हसती सों लड़ै, कोई बिरला पेषै॥
मूसा पैठा वांबि मै, लार सापणि धाई।
उलटि मूसै सापणि गिली, यहु अचिरज भाई॥
चींटी परबत ऊषण्या, लै राख्यौ चौड़े।
मुरगा मिनकी यूं लड़ै झल पांणी दौड़ै॥
सुरही चूषै बछ तलि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणी भया, सारदूलहि मारै॥
भील लुक्या बन बीझ मै, ससा सर मारै।
कहै कबीर ताहि गुर करों, जो या पदहि विचारै॥"

६. साधनामूलक पारिभाषिक शब्द—इसके साथ सिद्धो और योगियो से कबीर ने साधनामूलक पारिभाषिक शब्दो को यथावत् ग्रहण कर लिया है। षट्चक्र, अनाहदनाद निरजन, इगला, पिंगला, सुषम्ना, वज्रा, गगा, यमुना योगिनी, कैलाश सूर्य, चन्द्र, गौमासभक्षण, वारुणीपान, सोमरस आदि शब्द कबीर ने यही से ग्रहण किये है। यथा—

'अवधू गगन मण्डल घर कीजे।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंकनालि रस पीजै।
मूल बांधि सर गगन समाना, सुषमन यो तन लागी।
काम-क्रोध दोऊ भया पलीता, तहां जोगिणी जागी॥"

हा! कुछ पारिभाषिक शब्दो का अर्थ कबीर-काव्य मे आकर परिवर्तित हो गया है, जैसे 'सहज'—

"सहज-सहज सबहीं कहैं, सहज न चीन्हे कोय।
जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोय॥

७. पुस्तकीय ज्ञान का परिहास—कबीर ने जो स्थान-स्थान पर पुस्तकीय ज्ञान की खिल्ली उडाई है, उसका कारण भी योगियो का प्रभाव है। गोरखनाथ ने "गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह" मे पुस्तकीय ज्ञान वाले व्यक्ति को 'भारवाही गर्दभ' कहा है। कबीर ने अनेक स्थानो पर पुस्तकीय ज्ञान की खिल्ली उडाई है—

"पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
एकै आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥"
× × ×
"कबीर पढ़िवा दूरि करि, पोथी देय वहाय।
बावन आखर सोध कर, ररैं ममैं चित लाय॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्ध और नाथ-सम्प्रदाय ने पर्याप्त मात्रा मे कबीर को प्रभावित किया है। हम कह सकते है कि कबीर ने सिद्धो और नाथो की परम्परा को सुसंस्कृत कर उसका विकास किया। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का भी कथन है।

"महात्मा कबीर तो नाम छोड और सब दृष्टियो से एक हिन्दू कवि ही थे जो उत्तर भारत के मध्ययुगीन हिन्दू धर्मोपदेशको और ग्रन्थकारो तथा गोरखनाथ की सीधी परम्परा के एक महान् संत और भक्त थे।"

कबीर पर सिद्धो और नाथो के इस अत्यधिक प्रभाव के दो कारण विशेष हैं। प्रथम तो यह कि कबीर का जन्म ऐसी जुलहा जाति मे हुआ था जो कुछ समय पूर्व ही मुसलमान हुई थी, पहले मे वह जाति नाथो की शिष्य परम्परा मे थी। अत. स्वभावत. उसके अपने प्राचीन नाथपंथी संस्कार अवशिष्ट रह गये थे। द्वितीय कारण यह कि रामानन्द के समस्त शिष्यो ने जिनमे कबीर भी हैं, नाथो के वडे-वड़े अखाडो को अपने अधीन करके उनके अनुयायियो को अपना शिष्य बनाया था—उन लोगों के सम्पर्क से इनमे भी कुछ न कुछ नाथपंथी संस्कार अवश्य आ गये।

सूफियों का प्रभाव

कबीर के समय मे भारत मे इस्लाम का अत्यधिक सुसंस्कृत संस्करण सूफी धर्म के रूप में आ गया था। कुछ विद्वानो का मत है कि सूफी साधना का किंचित् मात्र भी प्रभाव कबीर-काव्य पर नही पड़ा है। किन्तु कबीर जैसे सारग्राही महात्मा ने अवश्य ही सूफी-धर्म की अच्छी बातो को ग्रहण किया होगा—यह अनुमान सहज है। सूफी-धर्म का प्रभाव इसलिए भी कबीर पर पडा है क्योकि वह भारतीय धर्म-साधना से पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित था। गार्डड महोदय का मत है कि सूफी मत में "तीन-चौथाई बौद्धमत का प्रसाद है, तो एक-चौथाई यहूदियो का।" श्री जे० सी० आर्चर का भी कथन है।

"Greek, Persian & the Buddhist waters have joined the streem of the mystic curernt in Islam"

अर्थात्—ग्रीक, फारसी, और बौद्धमत की धाराओ ने मिलकर इस्लाम के रहस्यवादी प्रवाह को जन्म दिया।

१. **प्रेम-पीर**—कबीर की प्रेम-पीर को बहुत से विद्वान् वैष्णव देन मानते है, किन्तु वास्तव मे देखा जाय तो कबीर मे प्रेम-पीर की तीव्र और तीखी व्यंजना सूफी प्रभाव से ही है, यद्यपि कबीर को इस प्रेम की पीर मे सूफियो की भाँति पल-पल मे इल्हाम नही होता। डॉ० सरनामसिंह शर्मा जी का मत है—

"जो लोग यह कहते है कि कबीर ने सूफी प्रेम-साधना से कुछ नही लिया वे हाथी को देखकर भी उसके अस्तित्व का निषेध करते है। ऐसी बात नही है कि कबीर ने परमात्मा के केवल प्रिय (पति) रूप को ही अगीकार किया था, अपितु माता-पिता, गुरु, स्वामी, आदि अनेक रूपो मे उसको उन्होने चित्रित किया है। सूफी सम्प्रदाय मे इन सब रूपो को स्वीकार करने की स्वतन्त्रता नही है। सूफियो के लिए परमात्मा 'माशूक' है, जीवात्मा 'आशिक' है और कबीर के दाम्पत्य सम्बन्ध मे हरि, 'पीव' है और वे उनकी 'बहुरिया' है। पीव और बहुरिया के पीछे भारतीय दाम्पत्य जीवन की जो व्यजना है, उसमे सूफी मान्यता का भी पुट है। यह ठीक है कि कबीर और हरि—जीव और परमात्मा—मे जो पत्नी और पति का सबन्ध है, वह भारतीय भक्ति-परम्परा के अनुरूप है, किन्तु आश्रय और आलम्बन से सम्बन्धित आरोप भी ष्ट है। इस आरोप के लिए भारतीय भक्ति मे कोई स्थान नही है। कृष्ण-भक्ति मे व्रज-गोपियो का कृष्ण से पत्नी-पति सम्बन्ध आरोप के लिए कोई स्थान नही देता। इसीलिए नारदीय-भक्ति सूत्र मे भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि "सा तु परमप्रेमरूपा यथा व्रजगोपिकानाम्" किन्तु सूफी प्रे । साधना का सारा महल ही इस आरोप के / ; खडा है।"

२. ब्रह्म की सौन्दर्य भावना—प्रेम की पीर पर सूफियो के प्रभाव के अतिरिक्त कबीर के ब्रह्म की सौन्दर्यभावना भी सूफीमत से प्रभावित है। यथा—

"पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनन्त।
ससा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत॥"

× × ×

"लाली मेरे लाल की जित देखू तित लाल।
लाली देखन मै गई मै भी हो गई लाल॥"

किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कबीर पर सूफी मत का जो कुछ भी प्रभाव पडा है, वह इसलिए कि यह मत भारतीय परम्परानुकूल है। अतः कबीर पर सूफियो की उन्ही बातो का प्रभाव पड सका है जो अद्वैत से मेल खाती है।

इस भाँति हम देखते है कि कबीर ने समस्त सारपूर्ण धार्मिक साधनाओ से कुछ न कुछ तत्व ग्रहण कर अपनी भक्ति का भव्य भवन स्थापित किया था। वस्तुत. आचार्यप्रवर क्षितिमोहन सेन जी के ये शब्द अक्षरश सत्य है—

"कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकाक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नही चाहती, इसलिए वह ग्रहणशील है, वर्जनशील नही है, इसीलिए उन्होने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओ को जोर से पकड रखा है।"

वस्तुतः कबीर ने मधुमक्खी के समान अपने समय मे विद्यमान समस्त धर्म-साधनाओ और निजी के योग से अपनी भक्ति का ऐसा छत्ता तैयार किया है जिसका मधु अमृतोपम है, जिसका पान कर भारतीय जन-मानस कृत-कृत्य हो उठा है। यह मधु अक्षुण्ण है, युगो से भारतीय इसकी मधुरिमा का रसास्वादन कर रहे है।

१. "कबीर की विचारधारा"—पृ० १७१।

: ४ :

कबीर की भक्ति-पद्धति

कबीर की भक्ति ने भारतीय जन-मानस को उस समय अवलम्बन प्रदान किया था जब वह सिद्धो और योगियो की गुह्यसाधना से ऊब रही थी। कबीरकालीन परिस्थितियो मे धार्मिक अवस्था का अवलोकन करते समय हम देख चुके है कि उस समय प्रचलित नाना धर्म-साधनाए किस प्रकार जनता को भूलभुलैया मे डाल रही थी। इस महान् सन्त ने अपनी प्रेमाभक्ति का ऐसा सबल और दृढ अवलम्ब धर्म-प्राण जनता को प्रदान किया कि वह राम-रस में भाव-विह्वल हो डूब उठी। यद्यपि कबीर से पूर्व रामानन्द ने भी भक्ति की ऐसी ही भावपूर्ण धारा बहाई थी, किन्तु उसका प्रसार सीमित क्षेत्र तक ही रहा। रामानन्द को

'भक्ति द्राविण ऊपजी, लाये रामानन्द।'

का श्रेय तो अवश्य प्राप्त है, किन्तु उसका व्यापक प्रसार और प्रचार कबीर के द्वारा ही हुआ। उसे 'सप्त द्वीप नवखण्ड' मे कबीर ने ही प्रकट किया था।

भक्ति का स्वरूप—

कबीर की भक्ति पर वैष्णव-विचारधारा का आशिक प्रभाव पडा है। कबीर पर पडने वाले आध्यात्मिक प्रभावो मे इसका विश्लेषण किया जा चुका है। कबीर की भक्ति के विवेचन से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि हम यह देखे कि भारतीय भक्ति का स्वरूप किस प्रकार वर्णित है। आचार्यो ने इनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। रामानुजाचार्य जी ने 'ब्रह्मसूत्र' का भाष्य प्रस्तुत करते हुए भक्ति की व्याख्या मे कहा है—

ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते।"

परमात्मा के निरन्तर स्मरण को ही भक्ति कहते है।

व्यास ने इसकी व्याख्या मे कहा है कि प्रणिधान वह भक्ति है जिसके द्वारा परमेश्वर उस योगी पर कृपा दृष्टि करते है तथा उसकी इच्छाओ की पूर्ति निमित्त उसे वरदान देते है—

"प्राभिधानाद् भक्तिविशेषादार्वजित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रण... ।

—पातञ्जल दर्शन, प्रथम अध्याय, व्यासभाष्य।

पतञ्जलि के इसी 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्र की व्याख्या में भोज ने जो भक्ति का स्वरूप समझाया है, वह वल्लभ के पुष्टि-समर्पण के अत्यन्त निकट है। उनका कथन है कि प्रणिधान वह भक्ति है जिसमें इन्द्रिय-भोगादिक सम्पूर्ण फलाकाक्षाओं का त्याग करके सब कर्म उस परम गुरु परमात्मा को समर्पित कर दिए जाते है—

"प्रणिधान तत्र भक्ति-विशेषो विशिष्टमुपासन सर्वक्रियाणामपि।
विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् गुरावर्पयति॥"

—पातञ्जल दर्शन, प्रथम अध्याय, भोजवृत्ति।

भक्ति की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या भक्तराज प्रह्लाद ने की है। उनका कथन है कि जैसी तीव्रासक्ति अविवेकी पुरुष को इन्द्रिय-विषयों में होती है, उसी प्रकार आसक्ति आपका (प्रभु का) स्मरण करते समय मेरे हृदय से निकल न जाए—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥"

—विष्णुपुराण, १, २०, १९।

नारद भक्ति सूत्रान्तर्गत भक्ति की महिमा बताते हुए कहा है—

"सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।"

वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति प्रेमरूप है एव साथ ही—

"अमृतस्वरूपा च।"

वह अमृत-स्वरूप भी है। उसका स्वरूप-विश्लेषण नारद ने इस प्रकार किया है—

"तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।"

पराशर, ने उसको विधि-वहित कर्मों में सीमित करते हुए भी अनुरागपूर्ण माना है—

"पूजादिष्वनुरागः।"

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र में उसे परा कोटि की मानते हुए ईश्वर के प्रति परम अनुरागरूपा माना है—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे।"

भक्ति के भेद

नारद ने भक्ति के दो रूप माने है—

१. प्रेमरूपा। २. गौणी।

प्रेमरूपा भक्ति के उन्होंने दो भेद किये है। प्रथम 'कामरूपा'—जिसमें एक ही भाव की प्रधानता रहती है जैसी गोपियों की कृष्ण में। द्वितीय 'सम्बन्धरूपा' जिसमें दास्य, सख्य, वात्सल्य, आत्मनिवेदनादि भाव आते है। कबीर की भक्ति में यद्यपि प्रधानता 'कामरूपा' की ही है, किन्तु सम्बन्धरूपा के भी उदाहरण प्राप्त हो जाते है—

"कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउं ।
गले राम की जेवड़ी, जित खेंचै तित जाउं ॥"

—दास्यासक्ति ।

× × ×

"मोरे घर आये राम भरतार ।
तन रति कर मै मन रति करिहौं, पांचों तत्व बराती ।
रामदेव मोहे व्याहन आये, मै जोवन मदमाती ॥"

—कांतासक्ति ।

× × ×

"हरि जननी मै बालक तोरा ।
काहिन न अवगुन बकसहु मोरा ।"

—वात्सल्यासक्ति ।

इसी भाँति अन्य आसक्तियों के भी उदाहरण कबीर मे प्राप्त होते हैं ।

प्रेमरूपा भक्ति को तीन वर्गों मे रखा गया है—

१ गौण—जो सासारिकता के समीप है ।

२. मुख्य—प्रेम-प्रमुख पर जगत् के प्रति उदासीन नही ।

३. अनन्य—स्पृहारहित, ज्ञान, कर्म आदि से ऊपर आराध्य मे लीन रहना ।

कबीर की भक्ति इस वर्ग विभाग मे 'अनन्या' कोटि में आती है, क्योकि वहाँ 'सब तज, हरि भज' की ही भावना है ।

गौणी के भी नारद ने तीन भेद किये है—सात्विकी, राजसी एव तामसी । कबीर की भक्ति सात्विकी कोटि मे आती है ।

चैतन्य सम्प्रदाय मे भी भक्ति का लगभग इसी प्रकार का विभाजन किया गया है । उसे इस प्रकार से निर्दिष्ट किया जा सकता है
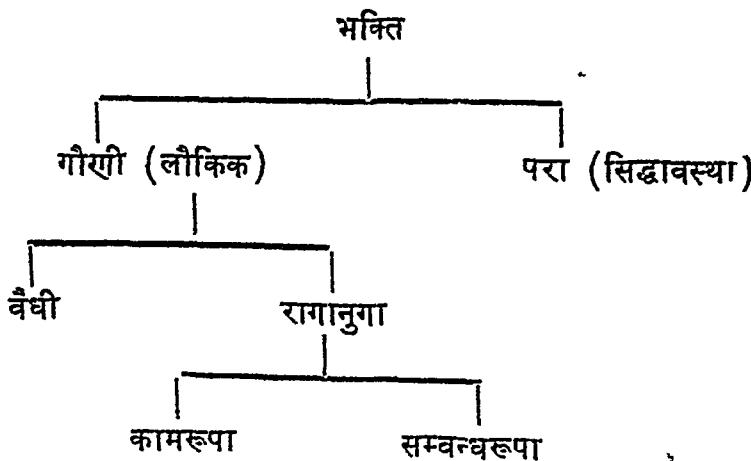
इस विभाजन मे कबीर की भक्ति 'परा'—सिद्धावस्था के अन्तर्गत आती है।

१. निर्गुण ब्रह्म—कबीर ने अपनी भक्ति मे जिस आराध्य का वर्णन किया है वह उपनिषदो की अद्वैती भावना के प्रभाव मे प्रभावित है। कबीर की ब्रह्मभावना यद्यपि अधिकाशत अद्वैती है, किन्तु कही-कही अद्वैत से भिन्न है। इसका कारण यह है कि कबीर किसी सिद्धान्त के अनुयायी या प्रस्थापक नही। उन्होने ब्रह्म का जो कुछ भी वर्णन किया है वह अनुभव के आधार पर किया है। कबीर प्रथम साधक है, और बाद मे कवि। अत भक्ति-साधना मे जिस-जिस रूप मे ये ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार करते जाते है उसी-उसी रूप मे उसे बताते है। वे कविता के माध्यम मे 'निज ब्रह्म-विचार'—'आतम साधन' को व्यक्त करते है। यही कारण है कि कबीर के ब्रह्म का स्वरूप हमारे सम्मुख कभी किसी रूप मे तो कभी किसी रूप मे आता है। ब्रह्म के स्वरूप-परिवर्तन का वास्तविक कारण यही है कि वह किसी भी दार्शनिकवाद के मानदण्ड से परे है, तार्किक विवाद से ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दो मे—

"वह ऐसा गुलाब है जो किसी बाग मे नही लगाया जा सकता, केवल उसकी सुगन्ध ही पाई जा सकती है। वह ऐसी सरिता है कि हम उसे किसी प्रशस्त वन मे नही देख सकते, वरन् उसे कलकल नाद करते हुए ही सुन सकते है।"

अनुभूति के विविध स्तरो के द्वारा ही वह कही अद्वैत है और कही द्वैताद्वैत, कही विशिष्टाद्वैत, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अधिकाशत कबीर ने अद्वैती भावनानुकूल उस ब्रह्म का वर्णन किया है। जब कबीर कहते है—

"कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै वन माहिं।
ऐसे घट घट राम है, दुनियां देखे नाहिं॥"

× × ×

"मृगा पास कस्तूरी बास, आज न खोजै खोजै घास।"

तो वे ईश्वर की अद्वैत सत्ता को स्वीकार करते है। वास्तव मे उनका प्रभु रोम-प्रतिरोम और सृष्टि के कण-कण मे परिव्याप्त है। वह हृदयस्थ होते हुए भी दूर दिखाई देता है, किन्तु जब वह प्रियतम पास मे ही है तो उसे सदेश भेजने की क्या आवश्यकता है? इसीलिए कबीर कहते है—

"प्रियतम को पतिया लिखूं, जो कहीं होय विदेस।
तन में, मन मे, नैन में, ताकौ कहा संदेस॥"

वास्तव मे प्रियतम के इस प्रकार के सदेश-प्रेषण को तो वे दिखावा मात्र, कृत्रिम प्रेम का परिचायक मानते है, क्योकि जहा देखो वही उस ईश्वर-प्रिय की सत्ता विद्यमान है—

"कागद लिखै सो कागदी, कि व्यवहारी जीव।
आतम दृष्टि कहा लिखै, जित देखै तित पीव॥"

कबीर ने उस ब्रह्म की स्थिति सर्वत्र उसी भाँति मानी है जिस प्रकार अद्वैत भावना के पोषक प्रतिबिम्बवाद मे। हमारा कहने का यह तात्पर्य कदापि नही कि कबीर ने अद्वैती भावना का अनुगमन कर प्रतिबिम्बवाद को भी अपने काव्य मे प्रयुक्त किया, वे तो उस ईश्वर की सर्वव्यापकता को अनुभव करते थे। इसीलिए उन्होने कहा था।

"ज्युं जल मे प्रतिबिम्ब, त्यूं सकल रामहि जानीजै।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति का आलम्बन अद्वैती भावनानुकूल है। निम्नस्थ प्रसिद्ध साखी तो उन्हे एकदम अद्वैती सिद्ध कर देती है—

"जल मै कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी॥"

अद्वैतवादी भावना के साथ यह पूर्ण स्पष्ट है कि उनका ब्रह्म निर्गुण, निराकार है—

"जाके मुंह माथा नहीं, नाही रूप कुरूप।
पुहुप बास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप॥"

किन्तु जब वे इस ब्रह्म को समस्त ससार को बनाने वाला, बिगाड़ने वाला मानते है तो निर्गुण का अस्तित्व प्रश्नसूचक चिह्न के साथ रखना पड़ता है।

"सात समुद्र की मसी करूं, लेखनी सब बनराइ।
सब धरती कागद करूं प्रभु गुण लिखा न जाइ॥"

जिस ईश्वर के गुणो का इतना विस्तार है, यह निरुपाधि, निर्विषय, निर्गुण कैसे रहा? इतना ही नही, कही-कही तो यह निरुपाधि ब्रह्म सोपाधि, सविशेष, सगुण एव साकार तथा वैष्णवों के समान अवतारी हुआ जान पडता है। यथा—

"पंडिता मन रंजिता, भगति हेति ल्यौ लाइ रे।
प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे।
दाम छै पणि काम नाही, ग्यान छै पणि धंध रे।
श्रवण छै पणि सुरति नाहीं नैन छै पणि अंध रे।
जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग।
कहै कबीर हरि भगति बांछूं, जगत गुर गोब्यंद रे॥"

भला निर्गुण-निराकार की नाभि से ब्रह्मा और चरणो से गंगा निकलने की क्या सगति? वास्तव में ऐसे कथन कबीर ने भक्ति की झोक मे ही कहे है और इन स्थलो पर उन्हे सूर-तुलसी आदि भक्तो की कोटि से अलग नही किया जा सकता। वास्तव मे उनके निराकार ब्रह्म का अर्थ निर्विषय कदापि नही, इसीलिए कबीर के न चाहते हुए भी उसमे गुणो का आरोप स्वत हो गया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने भी स्वीकार किया है—

"कबीरदास के निर्गुण ब्रह्म मे गुण का अर्थ सत्व, रज, आदि गुण है, इसलिए निर्गुण ब्रह्म का अर्थ वे निराकार निस्सीम आदि समझते है, निर्विषय नही।"

२. साकार ब्रह्म—कबीर की निर्गुण-भक्ति मे 'साकार' ब्रह्म के जो तत्व आ गये है उनके विषय मे यही कहा जा सकता है कि वे कोरे तीव्र भक्ति-भाव के ही द्योतक नही, अपितु जन-मन मे 'साकार' स्वरूप की जो उपासना प्रचलित थी उसका पूर्ण विरोध करते हुए भी कबीर स्वय कही-कही उसके प्रभाव से बच नही पाये है। वास्तव मे लोक-प्रचलित परम्परा का पूर्ण बहिष्कार सम्भव भी नही है।

शुक्ल जी ने कबीर मे केवल शुष्क ज्ञान ही माना है इसीलिए उन्होने सन्तो का पृथक् वर्ग कर उसे 'ज्ञानमार्गी' नाम दिया है. किन्तु वास्तविकता इस मान्यता से कोसों दूर है। कबीर की भक्ति मे, और विशेष रूप से उस स्थल पर जहा उनकी आत्मा अपने प्रिय से विरहिणी रूप मे आत्म-निवेदन करती है, भावो की सरसतम विधि प्राप्त होती है। यथा—

"फाड़ि पुटोला धज करो, कामड़िली पहिराऊँ।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराऊँ॥

वास्तव में रामानन्द के द्वारा उन्हे राम की ऐसी मधुरा भक्ति प्राप्त हुई जिसकी सरसता निस्सदेह विस्मय की वस्तु है। इन्ही को पाकर कबीर 'वीर' हो गये—सबसे अलग, सबसे ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे सरस, सबसे तेज़।[1]

३. मुक्ति—कबीर ने भक्ति को मुक्ति का एकमात्र साधन माना है, स्थान-स्थान पर भक्ति की महत्ता उन्होने प्रतिपादित की है—

"भक्ति नसैनी मुक्ति की।"

× × ×

"क्या जप क्या तप क्या संजम क्या व्रत और क्या अस्नान।
जब लगि जुगत न जानिये, भाव भक्ति भगवान॥"

मुक्ति के साथ-साथ ससार के दु ख-शमन का भी साधन प्रभु-भक्ति ही है—

"भाव भगति बिसवास बिन, कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल॥"

४. सती और शूर—कबीर के भगवत्-प्रेम के आदर्श दो ही है—'सती' और 'शूर'। सती के आदर्श को चुनने मे एक तो प्रेम की अनन्यता प्रकट होती है, दूसरे भक्त भगवान् के अधिक निकट आ जाता है। वास्तव मे 'सती' भाव का आचरण करने पर भक्त तो अपने गुरुतर कर्त्तव्य से मुक्त हो जाता है और उत्तरदायित्व प्रभु पर आ जाता है—

"उस सम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज।
पतिव्रता नांगी रहै, तो उस ही पुरुष की लाज॥"

शूर वीर का आदर्श इसलिए अपनाया गया है कि वास्तव में साधना-मार्ग मे जीवन की कठिनता, साहस और लक्ष्य के लिए दत्तचित्त होने की आवश्यकता शूर के

1. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

ही समान है जिस भाँति शूरवीर युद्ध-क्षेत्र में लोहे की करारी मार के सम्मुख भी तिलभर भी नहीं मुड़ता और प्राणोत्सर्ग कर अपने कर्त्तव्य की रक्षा करता है, वही स्थिति सच्चे भक्त के लिए आवश्यक है। शूरवीर और सच्चे भक्त की एकमात्र कसौटी यही है—

"सूरा तबही परखिये, लड़ै धणी के हेत।
पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़ै, तऊं न छांडै खेत॥"

संसार जिस मृत्यु से भय खाता है शूर और भक्त उसी का अभिनन्दन हँसते-हँसते अपने लक्ष के लिए कर लेते हैं—

"जिस मरनैं थैं जग डरैं, सो मेरे आनन्द।
कब मरहूँ कब देखहूँ, पूरन परमानन्द॥"

५ अनन्य भाव—ये दोनों आदर्श ही कबीर की भक्ति की अनन्यता में सहायता पहुचाते हैं। कबीर ने भी अपने आराध्य के लिए अपना सर्वस्व 'मार्जार शिशु-न्यायवत्' कर दिया है। सर्वस्व समर्पण के साथ-साथ अपने अस्तित्व को साध्य में लीन करने की उत्कृष्ट भावना कबीर में परिलक्षित होती है। यही कारण है कि वे ईश्वर के गुलाम बनने में भी नहीं हिचकते—

"मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं।
तन मन धन मेरा राम जी कै तांई।"

इससे भी आगे बढ़कर वे अपने को मानव छोड़ते ही नहीं, ईश्वर-सामीप्य और सर्वदा एकमेक रहने की कामना ही उनसे यह कहलाती है—

"कबीर कूता राम का, कुतिया मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवडी, जित खैंचें तित जाऊँ॥"

इस पद पर झूमकर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है—

"निरीह सारल्य का यह चरम दृष्टान्त है, आत्मसमर्पण की यह हद है। इतने पर भी मन को प्रतीति नहीं होती कि यह प्रेम रस पर्याप्त है। क्या जाने उस प्रियतम को कौन सा ढंग पसन्द हो, कौन सी वेशभूषा रुचिकर हो। हाय उस अजब मस्ताने प्रिय का समागम कैसा होता होगा?

६. विरह—विरह भी कबीर की भक्ति-पद्धति का प्रमुख अंग है। प्रियतम के विषय में वे कहते हैं—

"मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन मैं ढंग।
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसी रहसी रंग॥"

ऐसे अद्भुत प्रियतम को जब आत्मा नहीं पाती तो उसके वियोग में खूब तड़पती है। कबीर-काव्य की यह तड़पन मीन से कम नहीं। जब से गुरु ने उस परमात्मा का ज्ञान कराया तब ही से भक्त उसके लिये आकुल-व्याकुल है—

"गूंगा हुआ बावला, बहरा हुआ कान।
पाऊं थैं पंगुल भया, सतगुरु मारा बान॥"

इस प्रिय के वियोग मे प्रियतमा का हृदय अहर्निश छटपटाता रहता है—

"तलफै बिन बालम मोर जिवा।
दिन नहीं चैन, रात नहीं निंदिया, तलफ तलफ कै भोर किया ॥"

कबीर की भक्तात्मा ने इस विरह का जो वर्णन किया है, वह इतना स्वाभाविक और मार्मिक है कि लगता है कि कबीर का कबीरत्व, पौरुषत्व यहाँ समाप्त हो गया है, और उनकी आत्मा ने स्त्री रूप मे प्रियतम के लिए ये शब्द कहे है। प्रिय से सदेश पाने के लिए आत्मा इस भाँति छटपटाती है मानो यदि उसे अभीष्ट प्राप्ति न हुई तो न जाने क्या होगा।—

"विरहनि ऊभी पथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कह पीव का कबर मिलैंगे आइ॥"

वह केवल मात्र भेट की इच्छुक है। भक्तात्मा का प्रभु-दर्शन के अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन ही नही। इसलिए वह यह न पूछकर कि प्रिय कुशल है अथवा नही, मुझे भी याद करते है या नही—केवल यही कहती है—

'एक सबद कह पीव का, कबर मिलैंगे आइ।'

जो यह भी ध्वनित करती है कि और काम को तो छोड पथिक, पहले यही बता कि वे कब आयेंगे। किन्तु शीघ्र ही भक्त इस कल्पना-जगत् से नीचे उतर इस वास्तविकता पर आता है—

"आइ न सकौं तुझ पैं, सकूं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ ॥"

इस दूरी के व्यवधान को दूर करना तो भक्त की सामर्थ्य से बाहर है, किन्तु प्रिय से मिलना फिर भी चाहता है। इसीलिए कहता है—

"यहु तन जारौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउं।
लेखणि करूं करंक की, लिखि राम पठाउं ॥"

किन्तु बेचारा भक्त इस विरहाग्नि मे भी कहाँ तक जले, जब उसका दुख सहन शक्ति की सीमा से बाहर हो उठता है, जब भक्त का हृदय प्रिय वियोग मे टूक-टूक हुआ जाता है तब विवश हो उसे ईश्वर को आक्रोश-पूर्ण यह ताना देना पडता है—

"कै बिरहणि कूं मीच दे, कै आपा दिखालाय।
आठ पहर का दाझणा, मो पै सहा न जाय ॥"

वास्तव मे यह प्रेम का चरमोत्कर्ष है जो प्रभु-प्रियतम के अभाव में भी आत्मा-परमात्मा, भक्त-भगवान् के अटूट प्रेम की उद्घोषणा कर रहा है। उनकी इस प्रेम भावना का विवेचन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है—

"इस प्रेम मे मादकता नही है पर मस्ती है। कर्कशता नही है, पर कठोरता है। असंयम नही है पर स्वाधीनता है। अन्धानुकरण नही है, पर विश्वास है, उजड्डता

नही है पर अवखडता है। इसकी प्रचडता गरमता का परिणाम है, उग्रता विश्वास का फल है, तीव्रता आत्मानुभूति का विवर्त है।"

७. निष्काम भाव—यदि कबीर को प्रभु की प्राप्ति भी हो जाय तो उससे कोई कामना सिद्धि की बात नही सोचते। उनकी तो एकमात्र कामना है—

"नैनन की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारिकै, पिय कूं लेऊं रिझाय॥"

या दूसरी कामना है—

"नैना अंतरि आव तूं, ज्यू हौं नैन झपेउं।
ना मै देखूं और कूं, ना तुम देखन देउं॥"

भक्ति मे कामना के तो कबीर घोर विरोधी थे, तभी तो उन्होंने कहा था—

"जब लगि भगति सकामता तब लगि निष्फल सेव।"

इसलिए अन्त समय तक उस प्रभु की भक्ति करने, नाम जपने का उपदेश उन्होने दिया था—

"कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै वाति।
तेल घट्या वाती बुझी, सोवैंगा दिन राति॥"

कबीर की इस भक्ति मे ज्ञान—पुस्तकीय ज्ञान—का कोई महत्व नही क्योंकि उनका विश्वास है कि ईश्वर मे अटूट लय ही मुक्ति के लियें पर्याप्त है, ज्ञान तो संसार की गुत्थी मे उलझा देता है। भक्त के लिए इतना ही ज्ञान पर्याप्त है कि वह विषय-वासनाओ से मुक्त हो ईश्वर-भजन करे—

"पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
एकै आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥"

इसी भाति—

"कबीर पढ़िवा दूर कर, पोथी देय बहाय।
बावन आखर सोध कर, रमै ममैं चित लाय॥"

८. साधन—कबीर ने भक्ति के द्वार प्रत्येक के लिए खोलकर सबको उसका अधिकारी बताया। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आदि में किसी भी भाँति का भेदभाव नही, क्योकि सबकी रचना उन्ही पाँच तत्वो से हुई है, सबका स्रष्टा पिता परमात्मा एक ही है—

"जाँति पाँति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥"

इस भक्ति के द्वार खुले हुए तो सबके लिए है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति भक्ति की प्राप्ति नही कर सकता, इसका कारण साधना-भक्ति का मार्ग 'खाँडे की धार पर चलना' ही है। साधना की इस विषमता का वर्णन कबीर ने स्थान-स्थान पर किया है—

"गुरु भक्ति अति कठिन है, ज्यों खाँडे की धार।
बिना सांच पहुँचे नहीं, महाकठिन व्यौहार ॥"

इस भक्ति-साधना के लिए तो साधक को जीवन न्यौछावर करने के लिए शीश उतारकर हथेली पर रखना पडता है—

"बागड़ देस लूवन का घर है तहां जिनि जाई दाहन का डर है।
सब जगु देखौं कोई न धीरा, परस धूरि सिरि कहत अबीरा।
न तहां सरवर न तहां पाणी, न तहां सतगुर साधू वाणी।
न तहां कोकिल न तहां सूवा, ऊंचै चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा।
देस मालवा गहर गंभीर, डग-डग रोटी पग-पग नीर।
कहै 'कबीर' घर ही मनमाना, गूंगे का गुड़ गूंगे जाना।"

भक्तिमार्ग मे आनेवाली जिन बाधाओ का वर्णन कबीर ने किया है उनमे 'कनक' और 'कामिनी' प्रमुख है। इन्हे तो कबीर 'दुर्गम घाटी दोय' बताते है। इनके अतिरिक्त कुल, कुसग, लोभ, मान, कपट, आशा और तृष्णा आदि। वस्तुत. यह सब मन द्वारा ही प्रस्तुत होते है क्योंकि यह सब मायाजाल मन सृष्टि के अतिरिक्त कुछ नही। इसलिए कबीर ने मन.साधना पर बडा बल दिया है—

"काया कसूं कमाण ज्यूं, पचतत्त करि बाण।
मारौं तो मन मृग को, नही तो मिथ्या जाण ॥"

कबीर ने अपनी भक्ति के ३ प्रमुख सहायक साधन बताये है—

१. मानव शरीर।

२. गुरु।

३. सत्संग।

८४ लक्ष योनियो मे मानव शरीर ही एकमात्र ऐसा है जिसमे प्रभु-भक्ति का अवसर है। यदि इसे भी विपयानन्द मे गवा दिया तो फिर पाश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नही लगता—

"कबीरा हरि की भक्ति करु, तजि विषया रस चौज।
बार-बार न पाइं है, मानुस जन्म की मौज ॥"

भक्ति-मार्ग पर तो एकमात्र मार्ग-दर्शक गुरु ही है। गुरु के बिना तो भक्ति सम्भव नही—

"सतगुरु की महिमा अनत, अनत किया उपगार।
लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखावन हार ॥"

साधु-संगति की महिमा अपार है। भक्ति का तो वह आवश्यक अग है। इसे कबीर ने स्वर्ग से भी अधिक महत्व प्रदान किया है—

"राम-बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधु-संग में, सो बैकुंठ न होय ॥"

इस प्रकार हम देखते है कि कबीर की भक्ति पीयूप-सलिला भागीरथी के समान पावन है जिसके पुनीत कूलो पर न जाने कितनो के भटकते मन-कुरगो को विश्रान्ति मिली है।

: ५ :

कबीर-काव्य की रस-गागरी

कविता कबीर का लक्ष्य नही था, अपितु साधन था । वे अपने विचारो को नैसर्गिक अभिव्यक्ति दिया करते थे जिससे वे जनग्राह्य हो सके । उन्होने अपने मन मे उदित होने वाले भावो को वाणी का विषय बनाया जिसे उनके शिष्यो ने कागज पर अकित कर दिया । आज हम उसी आत्मानुभूत वाणी को काव्य की सर्वोत्तम निधि मानते है—

"यह जनि जानो गीत है, यह निज ब्रह्म विचार,
केवल कहि समझाइया, आतम साधन रे ।"

मध्य-युग के इस महान फक्कड सत को कभी यह आवश्यकता ही प्रतीत नही हुई कि वे अपनी विचारावली को पहले साज-सवार ले, तब अभिव्यक्ति दे । उन्हे तो केवल अपनी बात दूसरो तक पहुचानी थी और जितने प्रभावशाली रूप मे उन्हे अपनी इस लक्ष्य-पूर्ति मे सहायता मिली है, वस्तुत 'मसि कागद' से अपरिचित व्यक्ति के लिए वह आश्चर्य की वस्तु है । कबीर-काव्य की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि उसकी प्रेषणीयता है । इस सम्प्रेषणीयता के लिए उन्होने शब्दो को तोला-सवारा नहीं, अपितु ढपली पर जो शब्द जिस रूप मे निकल गया' ठीक था ।

१ **स्वतः स्फुटित**—कबीर-काव्य का सौन्दर्य उस वन्य-सरिता के समान है जिसका मार्ग पहले से बनाया हुआ नही होता अपितु वह तो गिरिराज की गोद से निकल कल-कल छल-छल करती जिधर उचित समझती है, वह चलती है और उसका वही मार्ग सर्वाधिक मनोरम एव उपयुक्त होता है। किसी बधी बंधाई लीक पर चलना इस सरिता के लिए असम्भव और स्वभावविरुद्ध होता है । मनुष्य इस नाना रूपात्मक सृष्टि मे विविध क्रियाए-प्रतिक्रियाए देखता है । इस निरीक्षण से उसके मन पर जो प्रभाव पडते है, जो अनुभव उसे होता है उसे सर्वसुलभ बनाने के लिए जो अभिव्यक्ति दी जाती है वह काव्य है । दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि नाना रूपात्मक सृष्टि के विविध अनुभवो को जब कवि-आत्मा व्यक्ति की सीमा से निकालकर समष्टि तक पहुचाना चाहती है तभी काव्य की सृष्टि होती है । कबीर का काव्य भी इसी प्रकृत भावना का सहज परिणाम है, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कबीर-

काव्य की सर्वाधिक विशिष्टता और अनूठापन उसकी सहजता और स्वाभाविकता मे है। अपने चतुर्दिक् वातावरण में आत्मा की प्रकृत पुकार से उद्भत यह काव्य इसी प्रकार से फूटा है जैसे पर्वत के हृदय से अनजाने ही रसस्रोत निर्झर फूट पडते है। कबीर का काव्य भी आत्मा की अन्त प्रेरणा से फूटा है, किसी वाहरी दवाव से नही।

कवीर की कवित्व-प्रेरणा किसी स्थल विशेष पर नही, अपितु सृष्टि के कण-कण मे विद्यमान थी। वाह्य जगत् ने कवीर-काव्य को मुख्यत दो धाराए प्रदान की जो वास्तव मे समस्त कवीर साहित्य की परिधि मे परिव्याप्त है। प्रथम समाज की कुरितियो और आडम्वरो पर तीव्र प्रहार द्वारा सत्य तत्व का उद्घाटन एवं द्वितीय वही जिसकी खोज मे सृष्टि का कण-कण आकुल-व्याकुल है—

"महानील इस परम व्योम में, अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान॥"

यहाँ यह तात्पर्य कदापि नही कि कवीर की रहस्य-भावना, परम तत्व के लिए व्याकुल प्रकृति प्रसूत है, अपितु हमारा मन्तव्य यही है कि सृष्टि के अन्य तत्वो की भाँति कबीर की आत्मा भी प्रियतम के वियोग मे विरहिणी तुल्य आत्म-क्रन्दन के साथ छटपटायी है। वे 'कुरग' की वन-बन भटकने पर भी अभीष्ट प्राप्ति की निष्फलता से परिचत हो उसे स्वय की ही परिधि मे खोजते है। खण्डन-मण्डन द्वारा सत्य-तत्वोद्घाटन एव प्रिय की खोज—यही दो भावनाए कवीर-काव्य के इस छोर से लेकर उस छोर तक फैली दिखाई देती हे।

२ रहस्यवादी भाव—कवीर के रहस्यवादी पदो मे तो काव्य की उच्चत्तम निधि प्राप्त होती है। विरहिणी के विकल प्राणो की पुकार, उसकी अन्तर-व्यथा की मर्मभेदी हूक, भावनाओ का वह आवेश-प्रवेश सव-कुछ वडा मनोहारी बन पडा है—

"नैननि की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकनु की चिक डारिकै, पिय को लेऊं रिझाय॥"

प्राणाधिक प्रियतम के लिए इससे सुन्दर आवास दूसरा हो ही नही सकता, आधुनिक शीवातानुकूल भवन भी इस व्यवस्था के आगे तुच्छ है। यहाँ प्रिय की प्रतीक्षा करते-करते विरहिण का भावना जितनी मार्मिक हो गई है उसकी अभिव्यक्ति के लिच कल्पना उतनी ही जधिक सजीली। अपनी असह्य वेदना का वर्णन करते हुए कवीर ने लिखा है—

"आंखडिया झाई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभडिया छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि॥"

क्या "निसदिन वरसत नैन हमारे, सदा रहत पावस ऋतु हम पर जवतै स्याम सिधारे।"मे वेदना की इतनी तीव्रानुभूति है? यहाँ तो प्रतीक्षा की अवधि आँखो मे झाई पडने एव जीभ मे छाले पडने से अनन्त दिखाई देती है। साथ ही इस साखी से यह भी ध्वनित है कि आँखो को कोई कार्य था तो प्रिय का पथ निहारना और जिह्वा को कोइ कार्य था तो प्रिय का नाम रटना। प्रिय पर तन, मन, धन, सर्वस्व

अर्पण करने की और प्रीति की एकतानता की इससे सुन्दर अभिव्यक्ति नही हो सकती। प्रेमदीवानी मीरा मे जो प्रेम की कसक, प्रेम-पीर से आहत जायसी मे जो प्रेम का चीत्कार है वह सब कबीर की व्यथा, तल्लीनता, बेचैनी, कसक, पीडा के सामने तुच्छ जान पडता है। उनमे ऐसी व्यग्रता कहाँ—

"विरहनि ऊभी पंथ सिर, पंथी बूझै धाय।
एक सबद कह पीव का, कबर मिलेंगे आय॥"

इस विरहिणी की व्यथा का उपचारक कोई नही—

"कबिरा बैद बुलाइया, पकरि कै देखी बाँहि।
बैद न बेदन जानई, करक कलेजे माँहि॥"

क्या मीरा मे उसकी अनुकृति होने पर भी ऐसी 'करक' है ? महादेवी चाहे शत-सहस्र बार प्राणो मे पीड़ा को पाले, किन्तु इस रामदीवाने की तुलना नही कर सकी। प्रिय-दर्शन के लिए व्याकुल कबीर की आत्मा जो-जो उपक्रम करने को प्रस्तुत है, वे भी दर्शनीय है—

"फाड़ि पुटौला धज करों, कहौं तो कामणियां पहराउं।
जिहि-जिहि भेषा हरि मिलैं, सोई सोई भेष धराउं॥"

यहाँ समाज के मिथ्याचारो पर निश्शंक होकर करारी चोट करने वाले सन्त का अखक्ड और फक्कड व्यक्तित्व नारी से भी अधिक कोमलता धारण कर प्रिय की प्रेम भावना पर सर्वस्व न्योछावर करने को आतुर है। उनका विरह-काव्य हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ विरही कवियो—सूर, मीरा, घनानन्द, 'प्रसाद' आदि—की कोटि मे निस्सकोच भाव से रखा जा सकता है।

३. मिलन चित्र—अपने आध्यात्मिक मिलन के जो चित्र कबीर ने प्रस्तुत किए हैं, वे भी अनुपम हैं। ब्रह्म-दर्शन के अनुभव को अभिव्यक्ति नही दी जा सकती, क्योकि वह अपरूप साधना मे एकाध क्षण के लिए अपनी ऐसी अलौकिक छटा दिखाता है कि साधक उसके स्वरूप का वर्णन नही कर सकता। तभी तो ईश्वर को अनिर्वचनीय और 'गूँग केरी शर्करा' के स्वाद के समान माना गया है। ऋषियो ने भी उसे 'मूकास्वादनवत् कहकर' छोड दिया, किन्तु कबीर विविध प्रतीको द्वारा उसी अवर्णनीय तत्व की सत्ता को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करते है—

"एक कहूँ तो है नही, दो कहूँ तो गारी।
है जैसा तैसा रहे, कहै कबीर बिचारी॥"

× × ×

"हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराई।
बूंद समानी समुद्र में, सो कत हेरी जाई॥"

क्या आज का प्रयोगवादी कवि अवचेतन मन के उलझे भावखण्डो को व्यक्त करने मे इतना सफल हो पाया है ?

प्रिय के साक्षात्कार-पूर्व की मन स्थिति का भी अद्भुत वर्णन कबीर ने प्रथम समागम से भयभीत नायिका के समान किया है—

"रैनि गई मति दिन भी जाइ, भंवर उड़े बग बैठे आइ।
कांचै करवै रहै न पानी, हंस उड़या काया कुमिलानी।
थरहर थरहर कांपै जीव, नां जानूं का करिहै पीव।
कौवा उड़ावत मेरी बहियां पिरानी,
कहै कबीर मेरी कथा सिरानी ॥"

रेखांकित अश की प्रथम पक्ति मे जहा शरीर के सात्विक अनुभावो की संयुक्त अभिव्यक्ति द्वारा मनोभाव की अभिव्यक्ति हुई है, वहा दूसरी पक्ति मे स्त्री-सुलभ शकुन-विश्वास द्वारा प्रियागम की मंगल आशा भी प्राप्त होती है। कही-कही 'वासकसज्जा' के हृदय की आतुरता के दर्शन भी कबीर मे प्राप्त होते है—

"वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिवौ अंग लगाइ ॥
हौं जानूं जे हिलमिल खेलूं, तन मन प्रान समाइ।
या कांमना करो परिपूरन, समरथ हौं राम राइ ॥
मांहि उदासी माधो चाहै, चितवत रैनि बिहाइ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊं तब खाइ।
यहु अरदास दास की सुनियै, तन की तपन बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जे सांईं, मिलि करि मंगल गाइ ॥"

अशरीरी आध्यात्मिक प्रियतम के लिए ऐसी मनोरम कल्पनाए काव्य की उच्चतम निधि है।

४. **काव्य-गुण**—कबीर के काव्य मे ओज, माधुर्य, प्रसाद तीनो गुणो की सुन्दर समन्विति प्राप्त होती है। अपनी डाट-फटकार मे कबीर ने इतनी ओजपूर्ण तिलमिला देने वाली उक्तियाँ कही है कि जिसके लिए वे उक्तिया कही गई है वह वह तिलमिला उठता है और साथ ही कबीर द्वारा निर्दिष्ट पथ पर आगे-आगे हो लेता है—

"अरे इन दोऊ राह न पाई।"

× × ×

"मीयां तुम्हसौ बोल्या बणि नहिं आवै।"

× × ×

"हिंदू तुरक कहां ते आये किन रूह राह चलाई।
दिल महि सोच विचार भवादे भिस्त दोजक किन पाई ॥"

माधुर्य गुण के आध्यात्मिक मिलन प्रसगो से प्राप्त होते है—

"मोरे घर आये राजा राम भरतार।
तन रति करि मै मन रति करिहौं, पांचो तत्त बराती।
राम देव मोहि ब्याहन आये, मै जोबन मदमाती॥

'प्रसाद' गुण से तो समस्त कबीर-काव्य ओत-प्रोत है। इसी प्रसाद गुण के कारण आज वह जन-मानस पर अपना अधिकार किये हुए है। यथा—

"कबीर कहता जात हूँ, सुनता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा, नहिं तर भला न होइ॥"

बात को कितने सीधे-सादे ढंग से कबीर ने यहाँ रखा है। प्रसाद गुण के अपवाद कबीर के कुछ साधनात्मक रूपक प्रतीक और उलटवासियाँ है। उनके विषय मे यही कहा जा सकता है कि यह भाषा आज के समाज की पहुँच से भी दूर है। जिस समय कबीर ने इस काव्य की रचना की थी उस समय समस्त योगपरक पारिभाषिक शब्द जिनसे आज हम अपरिचित है जनता को ज्ञात थे। सिद्धो, नाथो आदि ने अपने प्रचार से योगसाधना को साधको के लिए तो सुलभ बनाया था ही, साथ ही सामान्य जनता भी उसकी शब्दावली आदि से अपरिचित नही थी। उस समाज मे चमत्कार रूप से (जिसका माध्यम उलटबांसी थी) बात को कहने का अत्यधिक प्रचार हो चला था। कबीर ने भी उस परम तत्त्व का वर्णन कुछ स्थानो पर इन्ही रूपको और प्रतीको द्वारा किया था, किन्तु ये समस्त स्थल अपवाद स्वरूप है अन्यथा सर्वत्र कबीर-काव्य मे प्रसाद गुण विद्यमान है।

५. ज्ञान, भावना और कल्पना—इन तीनो गुणो के साथ ही कबीर-काव्य मे ज्ञान, भावना और कल्पना तीनो तत्वो का सुन्दर सम्मिश्रण प्राप्त होता है। कबीर के रहस्यवादी पदो मे ज्ञान की उच्च से उच्च वस्तु और निगूढ तत्व विद्यमान है। अद्वैतवाद के आधार पर खडे उनके भक्ति-भवन मे ज्ञान ही ज्ञान भरा पडा है। ससार, माया, आदि के सम्बन्ध मे ऐसी सत्याश्रित बाते प्राप्त होती है कि व्यक्ति की आखे खुलती चली जाती है। यथा—

"जल मे कुंभ कुंभ मे जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, इह तथ कथ्यौ ग्यानी॥"

इसी भाँति—

"लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मै गई, मै भी हो गई लाल॥"

उनकी रहस्य-भावना की मधुरता पर प्रकाश डालते हुए भावनाओ की उत्कृष्टता के उदाहरण प्रस्तुत किए जा चुके है। कल्पना तत्व भी कबीर के रूपको, प्रतीको आदि मे प्रकट हुआ है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर की कल्पना अत्यन्त उच्च कोटि की है—

"त्रिसनां नै लोभ लहरि, काम क्रोध नीरा।
मद मच्छर कछ मछ हरषि सोक तीरा।

"कामनी अरु कनक भंवर बोये बहु बीरा।
जन कबीर नवका हरि खेवट गुरु कीरा॥"

ज्ञान, भावना एव कल्पना के सम्मिश्रण से उनका काव्य प्रत्येक कोटि के पाठक की मानसिक परितुष्टि कर उसकी तृषा को शान्त करता है।

महाकवि मिल्टन ने किसी श्रेष्ठ काव्य के जो तीन गुण—१ सादगी २ असलियत ३ जोश निर्धारित किये है वे हमे कबीर-काव्य मे प्राप्त होते है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का कथन है।

"...... बहुधा अच्छी कविता मे भी इनमे से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता मे केवल जोश रहता है, सादगी और असलीयत नही।"

किन्तु हम देखते है कि आचार्य द्विवेदी जी के इस कथन का अपवाद कबीर-साहित्य है। सादगी, असलियत, जोश—कबीर मे इन तीनो गुणो की प्रस्थापना के विरोध मे कोई तर्क नही रखा जा सकता। सादगी का निम्नलिखित उदाहरण तो दर्शनीय है—

"आऊंगा न जाऊंगा, मरूंगा न जीऊंगा।
गुरु के सबद मे मै, रमि रमि रहूँगा॥"

इन तीनो गुणो ने ही कबीर-काव्य को अद्भुत सम्प्रेषणीयता प्रदान कर दी है।

६ **कवि समय**—कविता करना यद्यपि कबीर का लक्ष नही था, किन्तु काव्य की समृद्ध परम्पराओ का दाय उनको मिला था। अपनी एक वार्ता में डॉ० गुलाबराय जी ने उदाहरण द्वारा इस बात को भलीभाँति समझाया है। वे एक सिद्ध कवि की भाँति काव्य की परम्पराओ, कवि-समयो आदि से परिचित थे। साहित्य की परम्परागत भाव-सम्पत्ति का दाय उनको प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हुआ था, तभी तो उनमे सूर, तुलसी आदि महाकवियो के साथ भाव-साम्य के दर्शन होते है। हस के नीर-क्षीर विवेक की बात को कबीर और तुलसी ने समान से अपनाया है—

"हंसा बक एक रंग लखि चरै एक ही ताल।
छीर नीर वे जानिए बक उघरै तेहि काल।"

तुलसीदास जी ने भी इस कवि-समय का उपयोग करते हुए लिखा है:

"चरन चोंच लोचन रंगौ चलौ मराली चाल।
क्षीर नीर विवरन समय बक उघरत तेहि काल॥"

चातक के प्रेम की अनन्यता के भी कबीर और तुलसी दोनो एक ही परम्परा के उत्तराधिकारी प्रतीत होते है। कबीरदास जी ने कहा है—

"चातक सुतहिं पढ़ावही आन नीर मत लेह।
मम कुल यही सुभाव है, स्वाति बूंद चित देह॥"

तुलसीदास जी अपनी कल्पना के विस्तार से चातक का प्रेतलोक मे भी स्वाति जल से प्रेम दिखाते है, सुनिए—

"चातक सुतहि देत सिख वार ही वार ।
तात न तर्पन कीजिए बिना वारिचर वार ।।"

सेमर का फूल ससार की निस्सारता का प्रतीक माना गया है। इस कवि-प्रशस्ति का कबीर और सूर दोनो ने बडी मार्मिकता से उपयोग किया है। कबीरदास जी कहते है :

"सेमर सुवना सेइया दुई ढेढ़ी की आस ।
ढेढ़ी फूटी चटांक दे सुवना चला निरास ।।"

कबीरदास जी इस उदाहरण की व्यजना पाठक पर छोड़ देते हैं; किन्तु सूरदास जी उस व्यंजना को स्पष्ट करके गाते है—

"रे मन छाड़ विषय को रचिवो ।
तू कत सुवा होत सेमर कौ अन्तहि कपट न वधिवौ ।।"

वे एक जगह और भी कहते हे

"रसमय जानि सुवा सेमर कौं चोंच छालि पछतायौ ।'

रात को चकवे-चकई के रैन-वियोग का वर्णन हमारे कवियों को बहुत प्रिय है। इस कवि-समय को अन्योक्ति के रूप मे कबीर और सूर ने समान रूप से अपनाया है—"चल चकई वा सर विषै जहाँ न रैन वियोग ।' तुलसी के साथ तो बहुत सी बातो मे कबीर का भाव-साम्य है। जनता की भेड़ियाधसान वृत्ति का दोनों ने ही उल्लेख किया है। कबीर कहते हैं —'ऐसी गत ससार की ज्यो गाडर की ठार' इसी से मिलता-जुलता तुलसीदास जी का पद है—"तुलसी भेड़ी की धसान जड़ जनता ससान ।' भय बिनु 'होय न प्रीति' का भाव दोनो मे समान है।

७ संस्कृत विचार-परम्परा—कबीर ने सस्कृत विचार-परम्परा को बहुत कुछ अपनाया है—'भृ ग ज्यों कीट को पलटि भृ ग कियो' मे वेदान्तियो के 'कटु-भृंग न्याय' की झलक है और 'है साधु ससार मे कमला जल माही' मे 'पद्मपत्रमिवाम्भसि' की छाया है। 'सब वन चन्दन नाँहि, सूरो का दल नाहि' मे उलट-फेर दिखाई पड़ता है। ऐसी ही उलट-पलट नीचे के दोहे मे हैं :

"वृच्छ कबहूँ नहि फल भखै नदी न संचै नीर ।
परमारथ के कारने, साधुन धरा शरीर ।।"

इसका सस्कृत का बिम्ब रूप देखिए—

"पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः, स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः ।
नादन्ति शस्यं खलु वारिवाहा; परोपकाराय सतां विभूतयः ।।"
'असित गिरि-समं स्यात् कज्जलं सिन्धु पात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।

लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्व-कालम्,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ।"

महिम्नस्तोत्र की इस उक्ति को सूर और तुलसी द्वारा अपनाये जाने पर कबीर ने इस प्रकार अपनाया था। सुनिये—

"सब धरती कागद करूं, लेखनि सब बनराय।
सात समुद की मसि करूं, गुरु गुण लिखा न जाय ॥"[1]

इन उदाहरणो के अतिरिक्त तुलसी के 'धूए के धरोहर देखि तू न भूलि रे' जैसा ही—

"यहु संसार इसौ रे प्राणी, जैसे धूंवरि मेह ॥"

इसी भाति 'नलनी के सवटा' का दृष्टात तो सूर, तुलसी, कबीर तीनों मे प्राप्त होता है। भक्तराज प्रह्लाद द्वारा की गई भक्ति की व्याख्या का भाव-साम्य भी कबीर मे प्राप्त होता है—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥"

कबीर ने इसे यो कहा है—

"ज्यूं कामी कौं काम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपगारी, हरि सूं कहै सुनाई रे।"

८ भाषा—जब कबीर-काव्य की भाषा पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि ये जनभाषा के प्रथम निर्भय कवि थे। कबीर की भाषा में अनेक भाषाओ और बोलियों का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। उनकी भाषा पर सर्वाधिक प्रभाव भोजपुरी, पजाबी व राजस्थानी का है। इसीलिए आलोचको ने इनकी भाषा को सधुक्कड़ी नाम दिया है। डॉ० रामकुमार वर्मा प्रभृति विद्वानो ने इसकी अकृत्रिमता के ही कारण यह कहा है—

"भाषा बहुत अपरिष्कृत है उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नही है।"

किन्तु इस प्रकार की भ्रामक बातें कहना कबीर-काव्य की आत्मा को दबोच देना है। वास्तविकता इन कथनो से बहुत दूर है। कबीर की भाषा की अकृत्रिमता मे ही उसका सहज-सौन्दर्य है। उनकी भाषा मे विभिन्न भाषाओं के रूपो के सम्मिश्रण का प्रथम कारण तो यह है कि उस समय लोक-भाषाओ के रूप बन रहे थे, अतः निर्माण काल की इस प्रारम्भिक अवस्था मे एक दूसरी भाषा से इतना अधिक अन्तर नही था कि कोई भाषा दूसरे प्रदेश वाले को समझ न आए। डॉ० सरनामसिंह शर्मा जी का कथन है—

"उस समय के रवैये को देखकर यही कहा जा सकता है कि अपभ्रंश ने अपना दायित्व लोक-भाषाओ को सौप दिया था जिनमे से किसी मे भी अपने शुद्ध

१. 'कबीर एक विश्लेषण'—आकाशवाणी, दिल्ली पृ० ३३-३४।

रूप और स्वतन्त्र व्यक्तित्व की झलक नही मिलती। जिस प्रकार गुजराती और राजस्थानी मे उस समय बहुत साम्य था, उसी प्रकार राजस्थानी, ब्रजभाषा या गुजराती मे भी बहुत साम्य था। यद्यपि लोकभाषाओ की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी किन्तु उनके बीच मे कोई विभाजक रेखा खीचना सभव नही था। इस साम्य के कारण एक स्थान भाषी दूसरे स्थानों की भाषा सरलता से बोल सकता था।"

कबीर की भाषा मे इस साधुपन का दूसरा कारण कबीर की पर्यटनशील प्रवृत्ति है। वे जहाँ-जहाँ गये वहा की भाषा के शब्द स्वभावत उनकी भाषा मे आ गये क्योकि उन्हे तो अपनी बात वहा के लोगो की भाषा मे या उस भाषा के सर्वाधिक निकट रूप के माध्यम द्वारा समझानी थी। तीसरा कारण यह है कि कबीर के शिष्य जो उनके लिपिकार भी थे, विभिन्न प्रदेशो के निवासी थे। उन्होंने अपनी भाषा के अनुकूल शब्दो को रूप दे दिया। यद्यपि सद्गुरु की पवित्र वाणी मे जान-बूझकर उन्होंने हेर-फेर नही किया किन्तु अल्पशिक्षित शिष्य अपनी भाषा के प्रभाव से कबीर वाणी को मुक्त न रख सके।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी आपकी भाषा को सधुक्कड़ी न मानकर सिद्धो और नाथो की सध्या भाषा की परम्परा मे बताते है। किन्तु इसका प्रत्युत्तर देते हुए डॉ० सरनामसिह शर्मा जी ने उचित ही कहा है—

"कबीर की भाषा को सध्या भाषा से सम्बन्धित कदापि नही किया जा सकता क्योकि सध्या भाषा के प्रवर्तको का जो लक्ष्य था उससे कबीर का लक्ष्य सर्वथा भिन्न था। जबकि पहले लोग भोली जनता को भ्राति मे डालना चाहते थे, कबीर उसे शाति के पथ पर ले जाना चाहते थे। सिद्धो की भाषा गुमराह करने वाली थी।"

इस भाँति हम देखते है कि कबीर ने अपनी काव्य-भाषा को चाहे जो रूप दिया हो वह उस समय की जनता के लिए सर्वग्राह्य थी। सर्वाधिक प्रमुख बात यह है कि भाषा मे कबीर का व्यक्तित्व इतना प्रखर और सुन्दर रूप मे अभिव्यक्त हुआ है कि वह कबीर-काव्य को सर्वथा विलक्षण ओज और काति प्रदान करता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने आपके काव्य का उचित ही मूल्याकन करते हुए लिखा है—

"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप मे प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप मे भाषा से कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे नही तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमे मानो ऐसी हिम्मत ही नही है कि इस लापरवाह फक्कड की किसी फरमाइश को नाही कर सके। और अकथ कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा मे है वैसी बहुत कम लेखको मे पायी जाती है।"

इस प्रकार हम देखते है कि यद्यपि कबीर का लक्ष्य कविता नही था, किन्तु फिर भी उनके काव्य मे उच्चतम कविता के गुण प्राप्त होते है, रस उनके काव्य की रस-गगरी से छलका पडता है।

: ६ :

कबीर के प्रतीक और उलटबांसियां

यद्यपि कविता करना कबीर का लक्ष्य नही था, किन्तु उनकी वाणी मे काव्य की उच्चतम भूमि प्राप्त होती है। मस्ती की मौज मे ऊंचा उठकर कबीर ने अपने आत्मपरक अध्यात्म चिन्तन से जिस अलौकिक, अगम्य, निराकार, ज्योति-स्वरूप ब्रह्म के दर्शन किये है, उसे वे सामान्य भाषा मे व्यक्त करने मे असमर्थ है। वहाँ वाणी मूक और शैली अपनी मर्मध्वनिक छवियाँ खो बैठती है; 'गूंगे केरी शर्करा' का वर्णन करे तो कैसे करें? किन्तु कबीर ब्रह्मानन्द रस के आनन्द की अपनी परिधि मे समेटकर नही रख सकते, उनकी वाणी अटपटे प्रतीको, रूपको और उलटवासियो का आश्रय ले उस परम सत्य को अभिव्यक्त करती है।

प्रतीक-योजना

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने प्रतीक पद्धति का इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"आध्यात्मिक विचारो की अभिव्यक्ति मे वैदिक ऋषियो ने भी इसका आश्रय लिया था। बृहदारण्यकोपनिषद् मे ब्रह्म-वर्णन सूर्य, चन्द्र आदि के प्रतीको से किया गया है। वेदो मे वर्णित कुछ विद्वान् सोमरस को निष्कलक जानकर प्रतीक मानते है। भारत मे प्रतीक पद्धति के विकास को सूफी की प्रतीक पद्धति से प्रेरणा मिली है।"

किन्तु कबीर के प्रतीक सूफी परम्परा से प्रभावित नही, वे तो वैष्णवो के आधार पर लिये गये है। यद्यपि सूफियो मे भी दाम्पत्य प्रेम-प्रतीक का पर्याप्त वर्णन हुआ है, किन्तु कबीर मे प्रयुक्त दाम्पत्य भावना ईश्वर को पति रूप मे मानने पर शुद्ध वैष्णवी है। एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है—

"Vashnawism is to worship God domestically"

कबीर ने अपनी भक्ति के दाम्पत्य प्रतीक के साथ-साथ वात्सल्यात्मक प्रतीको का भी आश्रय लिया है। यह भावना भी शुद्ध वैष्णवी है। कबीर ने दाम्पत्य भावना के प्रतीको द्वारा अपने प्रेम को बडी सुन्दर अभिव्यक्ति दी है। यथा—

"मेरे घर आये राजा राम भरतार।
तन रति कर मै मन रति करिहौं पांचों तत्त बराती।
रामदेव मोहे ब्याहन आये, मै जोवन मदमाती ॥"

इस आध्यात्मिक विवाह के पश्चात् दाम्पत्य प्रतीक के ही माध्यम से महा-मिलन के सुख का वर्णन किया गया है—

"कियो सिंगार मिलन की ताईं, हरि न मिले जगजीवन गुसाईं।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।
धनि पिय एकै संग बसेरा, सेज एक पै मिलन दुहेरा।
धन्न सेहागिन जो पिय भावै,र कहि कबीर फिरि जन मन पावै॥"

महामिलन के अनुपम सुख को ही नही, अपितु विरह की विदग्ध-वेदना को भी दाम्पत्य प्रतीक के ही माध्यम से कबीर ने व्यक्त किया है—

"विरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाई।
एक सबद कर पीव का, कबरै मिलैंगे आई॥"

इस आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को कबीर ने पुत्र-पिता के प्रतीक द्वारा भी व्यक्त किया है—

"पिता हमारो बहु गुसाई"

किन्तु पिता-पुत्र प्रतीक कबीर द्वारा इतना प्रयुक्त नही हुआ जितना माता-पुत्र प्रतीक। यह स्वाभाविक भी है। बालक का माता से जितना तादात्म्य होता है; माता से जो अपरिमित स्नेह उसे प्राप्त होता है वह पिता से नही—

"हरि जननी मैं बालक तोरा, काहे न औगुण बकसहु मोरा॥"
सुत अपराध करैं दिन केते, जननी के चित रहैं न तेते।
कर गहि केस करे जो घाता, तऊ न हेत उतारैं माता।
कहै कबीर एक बुद्धि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी॥"

दास्य-भावना की अभिव्यक्ति के लिए कबीर भावाकुल हो कुत्ते तक के प्रतीक पर उतर आते हैं—

"कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउं॥"

त्रिगुणायत जी ने कबीर के प्रतीको का विभाजन निम्नस्थ चार वर्गों मे किया है, इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत उनके प्रतीको का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है—

१. साकेतिक प्रतीक। २. पारिभाषिक प्रतीक। ३. संख्यामूलक प्रतीक। ४. रूपात्मक प्रतीक।

सांकेतिक प्रतीक

इन प्रतीको मे कबीर ने सकेत द्वारा साधना—हठयोगी साधना के विभिन्न सोपानो का वर्णन किया है। सिद्धो और नाथो की परम्परा से प्राप्त इन प्रतीको की कबीर-काव्य मे प्रचुरता है।

"आकासे मुखि औंधा कुवां, पाताले पनिहारि।
ताका पाणि को हसा पीवैं, बिरला आदि विचारि॥"

किन्तु इन प्रतीको में, जैसा कि कहा जा चुका है, कोई मौलिकता नही है।

पारिभाषिक प्रतीक

वस्तुतः पारिभाषिक और साकेतिक प्रतीको में कोई विशिष्ट अन्तर नही, क्योकि सांकेतिक प्रतीक और पारिभाषिक प्रतीक दोनो ही साधनामूलक स्थान और क्रियाओं का बोध कराते है। अतः इनका वर्णन कबीर ने नाथों आदि के अनुकरण पर यथावत् किया है। अतः साकेतिक प्रतीक और पारिभाषिक प्रतीक दोनो को एक वर्ग 'साधनापरक प्रतीक' में अन्तर्भूत किया जा सकता है। कबीर ने जिन पारिभाषिक प्रतीको का वर्णन किया है उनमे सूर्य चन्द्र, गंगा, यमुना, कुण्डलिनी आदि प्रमुख है—

"मन लागा उनमन्न सों, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चन्द बिहूँणां चांदिणां, तहां अलख निरन्जन राइ॥"

× × ×

"गगन गरजि अमृत चवै कन्दली कवल प्रकास।
तहां कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास॥"

संख्यामूलक प्रतीक

सख्यामूलक प्रतीको द्वारा भी कबीर ने साधनात्मक स्थितियो आदि का वर्णन किया है—

"नौ पौरी पर दसवं दुवारा, तापर ज्ञान जोति उजियारा।"

× × ×

"चौसठ दीया जोय के चौदह चन्दा मांहि।
तेहि घर किसका चानड़ो, जेहि घर गोविंद नाहिं॥"

रूपात्मक प्रतीक

कबीर ने अपनी रूपक योजना मे भी प्रतीक प्रयुक्त किये है। यथा—

"काहे री नलिनी तू कुमिलानी। तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल उत्पत्ति जल में वास। जल में नलिनी तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपर आगे। तोर हेत कहु कासनि लागी।
कहैं कबीर जे उदिक समान। ते नहीं मूए हमारे जान॥"

इस प्रकार हम देखते है कि कबीर ने अपने प्रतीको द्वारा रहस्यमयी अनुभूति, साधना की गोप्यतम बातो को सरल रूप में हमारे सम्मुख रखा है। यद्यपि आज ये प्रतीक हमे कुछ दुरूह भी प्रतीत होते है, किन्तु उस समय ये सर्वसाधारण में प्रचलित थे।

उलटबांसियां

कबीर की उलटबासियो पर विचार करने से पूर्व उसके अर्थ और परम्परा पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। 'उलटबांसी शब्द का अर्थ सामान्यतः उलटा

अर्थ लिया जाता है, किन्तु यह अर्थ और परिभाषा कुछ भ्रम मे डाल देने वाली है। इसके दो अर्थ लगाये जा सकते है प्रथम तो "जैसा कि अर्थ वास्तव मे प्रकट है उसमे उल्टा लगाया जाय", दूसरे "जो प्रतिपाद्य का वास्तविक अर्थ है, उसमे उल्टा समझा जाय।" श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने इस शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया है। एक स्थान पर उन्होंने इस शब्द मे 'उल्टा' और 'अश' शब्द की सन्धि मानी है। एक अन्य प्रकार से दूसरी व्याख्या करते हुए वे कहते है—"उलटवासी शब्द के इस अर्थ का समर्थन उसे 'उलटा' एवं 'वास' शब्दो द्वारा निर्मित मानकर भी किया जा सकता है, जिस दिशा मे उसका ठीक-ठीक शब्दार्थ वैसी रचना के अनुसार होगा जिसका वाँस (पार्श्वभाग अथवा अग) उल्टा या विपरीत ढग का पाया जाये।'

किन्तु चतुर्वेदी से अधिक सन्तोषजनक परिभाषा और अर्थ के स्पष्टीकरण का प्रयत्न डॉ० सरनामसिंह जी के द्वारा हुआ है। उनका कथन है—"मेरी समझ मे इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हो सकती है—एक तो 'उलटवासी' सयुक्त शब्द से और दूसरी 'उलटवा' से सम्बन्धित। पहले शब्द 'उलटवा' का अर्थ उलटी हुई है और 'सी' का अर्थ समान है, अतएव 'उलटवाँसी' का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रतीत होने वाली उक्ति'। उलटवाँसियो मे उलटी बाते कही गई है, इसलिए यह अर्थ उचित भी प्रतीत होता है। गोरखनाथ का 'उलटी चर्चा' और कबीर का 'उलटा वेद' आदिक प्रयोग भी इस अर्थ का समर्थन करते है।"

"दूसरी व्युत्पत्ति कुछ विशेष ध्यान देने योग्य है और वह है 'उलटवास' शब्द से। 'परमपद' या आध्यात्मिक-लोक मे रहने वाला निवासस्थान वास्तव मे 'उलटवाँस' है। इससे सम्बन्धित वाणी 'उलटवाँसी' वाणी कहला सकती है। आध्यात्मिक अनुभूतियाँ लोक-विपरीन अनुभूतियाँ होती है और उन अनुभूतियो को व्यक्त करने वाली वाणी लोकदृष्टि से उलटी प्रतीत होती है, वास्तव मे वह उलटी होती है। इस शब्द मे 'वाँ' के ऊपर जो सानुनासिकता दिखाई पडती है वह अकारण है।"

वस्तुत शर्मा जी ने जो दोनो परिभाषाए या व्याख्याए दी है वे अत्यन्त सगत है। वीर-काव्य लोक-काव्य के अधिक निकट अथवा दूसरे शब्दो मे यह कहे कि वह सुसस्कृत लोक साहित्य है। डॉ० साहब की व्याख्याए भी लोक-काव्य-प्रवृत्ति के अनुरूप ही है।

यदि उलटवाँसी परम्परा पर दृक्पात करे तो विद्वानो ने वेदो मे भी उलटवाँसी शैली की अवस्थिति मानी है। ऋग्वेद से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए विद्वानो ने मुख्यतया निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये है—

"अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत,"

("बिना पैरो वाली पैरो वाली से पहले आ जाती है, मित्रावरुण इस रहस्य को नही जानते।" ऋग्वेद १-१-१५२—३)

"चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति"

(इस बैल के चार सींग, तीन चरण, दो सिर और सात हाथ है, यह तीन प्रकार से बधा हुआ उच्च शब्द करता है। ऋग्वेद ३-४-५८—३)

"इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरान्त यन्नद्यस्तस्थुरापः"

(हे मनुष्यो ! यह वपु निर्वचन है क्योकि इसमे जल स्थिर है और नदियाँ बहती है। —ऋग्वेद ४-५--४-७-५)

वेदो से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए डॉ० त्रिगुणायत जी ने निम्नस्थ उदाहरण प्रस्तुत किया है—

क इमं वो नृण्य अचिकेत, वत्सो मातृर्जनयति सुधाभि ।"

—ऋग्वेद १-१-७-५ मत्र ६५

अथर्ववेद आदि में भी इसी प्रकार के उदाहरण खोजे गये है।

वेदो के पश्चात् उपनिषदो द्वारा इस शैली का और भी अधिक विकास हुआ। उपनिषदो ने, ब्रह्म के विलक्षण स्वरूप कथन मे उसे विरुद्धधर्मी बताया है। बृहदारण्यकोपनिषद्, ईशोपनिषद्, कठोपनिषद् आदि मे ऐसे उदाहरण पर्याप्त है।

उपनिषदो से विचित्र कथन की यह प्रणाली सिद्धो, नाथो आदि मे आई। सिद्धो और नाथो ने अपनी साधना की विचित्रता और गुह्यता प्रकट करने के लिए ऐसी उक्तियो का खूब प्रयोग किया। वास्तव में सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय बौद्ध-धर्म की विकृतावस्था से विकसित हुए थे और बौद्ध-धर्म के ग्रथो भी उलटवाँसी शैली के प्रयोग प्राप्त होते है। अत इसी धर्म से निकलने वाले सिद्धो मे स्वाभाविक रूप से ये विचित्र उक्तियाँ आ गई है। कबीर ने कही-कही तो सिद्धो और नाथो की उक्तियो को यथावत् रख दिया है। यथा—

"बैल बियाअल, गविया बाँझै ।"

× × ×

"बरसे कम्बल भीगै पानी ।"

× × ×

"नाव बिच नदिया डूबी जाय ।"

ये उक्तियाँ कबीर और सिद्धो आदि मे समान रूप से प्राप्त होती है। कदाचित् इसका कारण इन उक्तियो का साधारण जनता मे अत्यधिक प्रचलन था। आज भी ग्राम्य समाज मे (ग्राम्य से यहाँ असभ्य समाज का तात्पर्य किंचित् भी नही है) "गप्प सुनो भई गप्प, नाव बिच नदिया डूबी जाय" जैसी उक्तियाँ सुनने को मिल जाती है। कुछ लोकोक्तियो मे भी इन उलटबाँसियो की छाया शेप रह गई है। यथा—

"जो बैल ब्याहै नाय तो, बूढो ना होय ।"

कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर के समय तक इस प्रकार की उक्तियो का पर्याप्त प्रचलन हो गया था, किन्तु आश्चर्य की बात है कि इतने प्राचीन समय से प्रयुक्त इस विचित्र, उलटी शैली का नाम कबीर से पूर्व कही भी प्राप्त नही होता। डॉ० सरनामसिंह जी का कथन है—

"इस शब्द को हम कबीर से पहले का नही मान सकते। यह कबीर से पहले का नही हो सकता क्योकि पहले का होने पर कबीर की वाणी मे कही न कही इसका उपयोग होता अथवा अन्यत्र यह शब्द मिलता। जब शब्द का प्रयोग कबीर वाणी मे नही मिलता तो अवश्य ही इसका जन्म कबीर के बाद मे हुआ है और वह भी किसी ऐसे व्यक्ति की वाणी मे जिसने इसका अभिप्राय समझा हो। बहुत सम्भव है कि यह शब्द बहुत प्राचीन न हो क्योकि बाद के सतो मे भी इसका प्रयोग मिलता है।"

हम डॉ० सरनामसिंह जी के इस मत से सहमत नही कि 'कबीर की उलटबाँसियाँ सिद्धो की परम्परा की उलटबाँसियाँ नही है।" क्योकि ऊपर उदाहरण देकर दिखाया जा चुका है कि कुछ उक्तियाँ सिद्धो और कबीर मे यथावत् मिलती है। दूसरें हठयोगी साधना को सिद्धो और नाथो की परम्परा से लेने वाले कबीर पर उनकी उलटबाँसी शैली का प्रभाव अवश्य ही पडा होगा।

विद्वानो ने कबीर की उलटबाँसियो के प्रायः ३ वर्ग किये है—

१. अलकारप्रधान, २. अद्भुतप्रधान, ३. प्रतीकप्रधान।

अलंकारप्रधान

जसा कि पहले कहा जा चुका है, इन उलटबाँसियो मे अधिकागतः विरोधी बातें ही रहती है। अत. इनमे प्रयुक्त अलकार भी विरोधमूलक है जो किसी न किसी रूप मे आश्चर्य की सृष्टि करते है। इन अलकारो मे विरोधाभास, असभव, विभावना, असंगति, विषम आदि का प्राधान्य रहता है। विरोधाभास का उदाहरण देखिए—

"अवधू ऐसा ग्यान विचार।
भेरै चढ़े सु अघधर डूबै, निराधार भये पार।
ऊघट चले सु नगरि पहूँचे, बाट चले ते छूटे।
एक जेवड़ी सब लपटानें के बांधे के छूटे।
मन्दिर पैसि चहूँदिस भीगे, बाहर रहे तो सूका।
सीर भारे ते सदा सुखारे, अनभारे ते दूषा।
बिन नैन न के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यह जग देख्या धंधा।

उपर्युक्त पद के उत्तरार्द्ध मे "बिन नैनन······· अधा" मे विभावना का उदाहरण भी प्राप्व हो जाता है। किन्तु कही-कही सम्पूर्ण पद मे ही विभावना की स्थिति रहती है। ब्रह्म निरूपण करते हुए वे कहते है—

"बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नहीं छाड़ै, दह दिसिहि फिरि आवै।

बिनही तालाँ ताल बजावै, बिन मंदल पट ताला।
बिनही सबद अनाहद बाजै, तहां निरतत हैं गोपाला ।।"

विषम अलंकार—

"तालि चुगै बन तीतर लउवा, पनवति चरै सौरा मछा।
बन की हिरनी कूवै बियानी, ससा फिरै अकासा ।।
ऊंट मारि में चारै लावा, हस्ती तरंडवा देई।
बबूर की डरियाँ वनसी लैहूँ,, सीयरा भूंकि भूंकि षाई ।।"

अद्भुतप्रधान उलटबांसी

अद्भुतप्रधान उलटबासियो मे अद्भुत रस की ही विशेष प्रतिष्ठा कवि के कथन मे हुई है। यद्यपि अलकार और प्रतीको की भी स्थिति ऐसे कथनो मे स्वाभाविक रूप से रही है, किन्तु प्रमुखता अद्भुत रस की ही रहती है—

"डाल गह्या थै मूल न सूझै, मूल गह्या फल पावा।
बंबई उलटि शर मों लावी, धरणि महारस खावा।
बैठि गुफा में सब जग देख्या, बाहर कछू न सूझै।
उलटै धनकि पारधी मार्यो, यहु अचरज कोई बूझै।

× × ×

अंबर बरसै धरती भीजै, यह जाणै सब कोई।
धरती बरसै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई ।।"

प्रतीकप्रधान उलटबांसी

प्रतीकात्मक उलटबासियो मे कबीर ने साधना के निगूढ रहस्यो को प्राय: रूपक आदि के द्वारा कहा है। इन रूपकों मे किसी स्थान पर रूपक प्रधान है और कही रूपक प्रधान न होकर प्रतीक प्रधान। निम्नस्थ उदाहरण मे रूपक प्रधान है—

"तरवर एक अनन्त मूरति, सुरताँ लेहु पिछाणीं।
साखा पेड़ फूल फल नाही, ताकी अमत वाणी।
पुहुप बास एक भवरा राता, बारा लै उर धरिया ।।
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया ।।
सहज समाधि बिरष यहु सींच्या, धरती जल हर सोख्या।
कहै कबीर तास मै चेला, जिनि यहु तरवर पेख्या ।।"

अब एक उदाहरण से हम यह स्पष्ट करेंगे कि कबीर की उक्तियों मे कहो-कहो प्रतीक ही प्रधान है, ऐसे स्थानो पर रूपक-योजना गौण हो जाती है। यथा—

"है कोई जगत गुर ग्यानी, उलटि बेद बूझै।
पाणी मे अगनि जरै, अंधरे कौं सूझै ।।

एकनि दादुर खाये पंच भवंगा।
गाइ नाहर खायौ, हरनि खायौ चीता।
कागिल गर फंदिया, बटेरै बाज जीता॥
मूसै मंजार खायौ, स्यालि खायौ स्वाना।
आदि को आदेश करत, कहै कबीर ग्याना॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीरदास जी के प्रतीक और उलटवासियो मे प्रेम के अद्भुत रहस्य और ज्ञान का अपरिमित कोष भरा पडा है।

: ७ :

कबीर का रहस्यवाद

मानव मे जबसे ज्ञान—बुद्धि—नामक तत्व की स्थिति हुई तभी से उसकी चिन्तन-प्रक्रिया मे सृष्टि के उद्गम और अपने मूल के सम्बन्ध मे जिज्ञासा रही है। उसने जब इस सृष्टि नियन्ता के स्वरूप की गुत्थी को ज्ञान का आश्रय लेकर सुलझाने का प्रयास किया तब यह दर्शन का विषय बन गया, किन्तु जब इसे कवि ने समझने का प्रयास कर अपने अनुभवो को वाणी की विशेष पद्धति मे अभिव्यक्त किया तब इसे 'रहस्यवाद' कहा गया। संसार का लगभग प्रत्येक श्रेष्ठ कवि किसी न किसी अश मे रहस्यवादी होता है क्योकि जन-मानव की भावनाए कवि के द्वारा अभिव्यक्ति पाती है। अमेरिकन प्रो० प्रॉट (Prof. Prar) का कथन उचित ही है—

"Every poet has at least a touch of mysticism"

रहस्यवाद की परिभाषा

विद्वानो ने रहस्यवाद की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। आचार्यप्रवर रामचन्द्र शुक्ल जी का कथन है—

"ज्ञान के क्षेत्र मे जिसे अद्वैतवाद कहते है, भावना के क्षेत्र मे वही रहस्यवाद कहलाता है।"

किन्तु डॉ० सरनामसिंह शर्मा जी का मत इससे भिन्न है। शुक्ल जी के कथन की आलोचना करते हुए उन्होने कहा है—

"यह कहना कुछ विशेष समीचीन नही दीख पडता कि 'जो ज्ञान के क्षेत्र मे अद्वैतवाद कहलाता है, वही भावना के क्षेत्र मे 'रहस्यवाद' कहलाता है।क्योकि भावना के अतिरिक्त रहस्यवाद का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के एक विशेष रूप से भी तो है जिसमे शब्द का अपना अर्थ और अपना सकेत होता है।"

आप रहस्यवाद की अपनी परिभाषा देते हुए कहते है—

"विशेष अनुभूति की प्रतीकाश्रित अभिव्यक्ति साहित्य मे 'रहस्यवाद' नाम पाती है। रहस्यवाद कोई दार्शनिकवाद न होकर वस्तुत साहित्यिकवाद है जिसका लक्षण है प्रेमाश्रयी अद्वैतानुभूति एव प्रतीकाश्रयी साकेतिक अभिव्यक्ति।"

डॉ० रामकुमार वर्मा जी के अनुसार—

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है, और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ता जाता है कि दोनों मे कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। जीवात्मा की सारी शक्तियाँ इसी शक्ति के अनन्त वैभव और प्रभाव से ओत-प्रोत हो जाती है। जीवन मे केवल उसी दिव्य शक्ति का तेज अन्तर्निहित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को इस प्रकार से भूल सा जाती है। एक भावना, एक वासना हृदय मे प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और यह भावना सदैव जीवन के अंग-प्रत्यंगों मे प्रकाशित होती रहती है। वही दिव्य सयोग है।"

यहाँ हम डॉ० वर्मा की अन्य सब बातो से तो सहमत है किन्तु रेखाकित बात से नही, क्योकि यदि आत्मा अपने पृथक् अस्तित्व को भूल जाय तो वहाँ रहस्यवाद का प्रश्न ही नही उठता। आत्मा परमात्मा का अंग होते हुए भी उससे पृथक् है और यह पार्थक्य बोध ही उसे प्राप्त करने का या रहस्यात्मक अनुभूति का मूल है। मैं 'अज्ञेय' जी के इस कथन से पूर्ण सहमत हूं—

"द्वैतत्व की सत्ता न हो तो प्रेम क्या जीता रहेगा ?"

हाँ ! यह अवश्य मानना होगा कि आत्मा और परमात्मा का यह द्वैतत्व क्षणिक है और रहस्यवाद की चरम परिणति, चरम उपलब्धि, अन्तिम सोपान मिलन ही है। अत जीवात्मा रहस्यवाद के अन्तिम सोपान पर ही पहुच अपने अस्तित्व को भूलती है, वहाँ पार्थक्य नही रहता। यहाँ 'अहम्' और 'इदम्' की सीमाओ का क्रमश. लोप होता है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी जी का कथन है—

"रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानत उसमे लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर सकेत करता है, जो विश्वाभक्त सत्ता की प्रत्यक्ष, गम्भीर एव तीव्रानुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है। इस अनुभूति का वास्तविक आधार अन्तर्हृदय हुआ करता है जो वैयक्तिक चेतना का मूल स्रोत है और इसमे 'अहम्' एव 'इदम्' की भावना का क्रमश. लोप हो जाता है।"

जयशकर प्रसाद के अनुसार—

"काव्य मे आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्य-वाद है।"

एक लेखक का कथन है—

"रहस्यवाद वैराग्य मिश्रित अनुराग है, वैराग्य सृष्टि से और अनुराग ब्रह्म से।"

किन्तु यह परिभाषा भक्ति और रहस्यवाद के अन्तर का स्पष्टीकरण नही करती। डॉ० त्रिगुणायत जी ने ज्ञान, भक्ति और रहस्यवाद का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है—

"बुद्धि के सहारे आध्यात्मिक सत्य का निरूपण करना ज्ञान है। भावना और प्रेम के सहारे ब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप की उपासना भक्ति है। रहस्यवाद इन दोनो से भिन्न है। जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी

अनुभूतियो को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रो मे सजाकर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है।"

वस्तुतः रहस्यवाद साहित्यकार की ईश्वरविषयक प्रेममय अनुभूतियों की ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका निरूपण साधारण भाषा की क्षमता से परे है। अत. उस अभिव्यजना को स्वभावत ही प्रतीकात्मकता का आश्रय लेना पडता है। 'गूंगे केरी सर्करा' का वर्णन तो प्रतीको के इगितो मे ही हो सकता है।

रहस्यवाद का विकास

भारतीय परम्परा में रहस्यवाद की सर्वप्रथम झलक यद्यपि कुछ लोग वेदों में मानते है, किन्तु वैदिकमन्त्रो एवं प्रार्थनाओ मे विशुद्ध रहस्यवाद जैसी वस्तु नही मिलती। वहां तो देवताओ से अपने कल्याण की प्रार्थना और विनय ही प्रमुख है। हा, कही-कही ईश्वर से पिता आदि के सम्बन्ध भी जोड़े गये है, किन्तु फिर भी आत्मा का परमात्मा से वह उत्कट प्रेम व्यजित नही होता जो रहस्यवाद की प्रमुख प्रवृत्ति है। वेद-मन्त्रों में स्थापित सम्बन्धो में रक्षा और कल्याण की भावना का ही प्राधान्य है। उपनिषदो मे आकर अद्वैतवाद के प्रतिपादन से रहस्यवादी परम्परा का प्रारम्भ होता है, किन्तु वहां भावनात्मक माधुर्य के दर्शन न होकर दर्शन की शुष्क ज्ञानात्मक गुत्थी ही अधिकाशत. सुलझायी गयी है। कही-कही उनमें विशुद्ध रहस्यवादी प्रवृत्ति के अनुकूल भावोन्मेष भी है। सर्वप्रथम गीता के दशम अध्याय मे भावात्मक प्रणाली पर सर्ववाद का निरूपण हुआ है, जो रहस्यवाद का ही एक अश है—

"महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥
एतां विभूतिं योग च मम यो वेत्ति तत्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥"

तदनन्तर सिद्धो और योगियो की वाणी मे भी रहस्य भावना के दर्शन होते हैं, किन्तु वहा भावना से प्रमुख साधना है। सूफियो और (सन्तों मे) कबीर के द्वारा ही सर्वप्रथम रहस्यवाद को प्रेम की मधुर भावना प्राप्त होती है। भक्ति युग के पश्चात् रहस्यवाद के दर्शन आधुनिक युग मे छायावादी कवियो में ही होते है। किन्तु छायावादी काल की रहस्यवादी कविता पूर्व-युगो की रहस्यवादी रचनाओ से कुछ भिन्न है। यहाँ कल्पना का आधिक्य है जबकि मध्य

कालीन रहस्यवाद मे साधनात्मक अनुभूति का। उन मध्यकालीन रहस्यवादी कवियो की साधना प्रेम-साधना और यौगिक साधना—दोनो ही प्रकार की है।

कबीर का रहस्यवाद

कबीर के रहस्यवाद मे अद्वैती और सूफीमत की गगा-जमुनी धारा प्रवाहित है, यद्यपि उसमे प्रमुख अद्वैती गगा-धारा ही है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी जैसे विद्वान् उस पर किंचित् भी सूफी प्रभाव नही मानते, किन्तु जैसा कि कबीर पड़ने वाले प्रभावो पर विचार करते समय देखा जा चुका है, प्रेम पीर की व्यजना मे सूफियो का प्रभाव कबीर पर अवश्य परिलक्षित होता है। कबीर मे कही भी तर्क-जाल आश्रित ब्रह्म का वर्णन नही—इसका कारण यही है कि कबीर ने अपनी अनुभूति को ही वाणी का रूपाकार दिया था। अनुभवैकगम्यता के कारण उसमे विचित्रता आना स्वाभाविक था। इसलिए वह ब्रह्म इन्द्रियातीत अगम्य होते हुए भी गम्य है। वह प्रेम से प्राप्य है। उन्होने उस परमात्मा के विरह मे बड़ी सुन्दर-सुन्दर मनोभावनाओ की अभिव्यक्ति की है। उनकी आत्मा ने प्रियतमा के समान ही प्रिय के लिए प्रतीक्षा की है—

> "बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
> जिव तरसै तुझ मिलन कूं, मनि नहीं विश्राम॥"

कबीर की विरह-वेदना इतनी बढ गई है कि वह अवर्णनीय हो गई है। अत. उसे तो केवल दो ही जान सकते हैं, एक तो वह जिसके वियोग मे यह व्यथा भोगनी पड़ रही है और दूसरा वह (आत्मा) जो इस व्यथा को सह रहा है—

> "चोट सताँणी विरह की, सब तन जर-जर होइ।
> मारणहारा जांणि है, कै जिहिं लागी सोइ॥"

अपने शरीर को, जो विरह-व्यथा से जर्जर है, विरहिणी (आत्मा) प्रिय (परमात्मा) के लिए न जाने कौन-कौन से कष्ट देने के लिए तत्पर है। वह अपने समस्त शरीर को दीपक कर अपने प्राणो की वर्तिका बना और शरीर का रक्त ही उसमे तेल के रूप मे डाल प्रियतम का मुख देखने के लिए आतुर है—

> "इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूं जीव।
> लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव॥"

इस प्रेमी की मन स्थिति बड़ी विचित्र है क्योकि यह मूर्ख संसार तो उसे पागल समझता है। यदि प्रिय-वियोग मे अहर्निश रोते-रोते उसके नेत्र लाल हो गये हैं तो लोग उसे आख दुखने की बीमारी से अधिक कुछ नही समझते—

> "आंषणियां प्रेम कसाइयां लोक जाणै दुखणियां।
> साईं अपने कारणैं, रोइ रोइ रातणियां॥"

किन्तु विरहिणी रोवे भी कहाँ तक, आखिर उसकी भी तो शक्ति की सीमा है, अत. यदि वह मौन अथवा प्रसन्न रहे तो प्रियतम समझेंगे कि अब तो इसकी वृत्ति

ससार मे उलझ गई और यह व्यभिचारिणी हो गई। अत ऐसी स्थिति मे मन ही मन घुन के समान पिसने के अतिरिक्त चारा ही क्या है ?

"जो रोऊ तौ बल घटे, हँसो तो राम रिसाइ।
मन ही मांहि बिसूरणां, ज्यूं घुण काठहि खाइ।"

विरहणी यह भी जानती है कि हस-हसकर कोई भी प्रिय को नही पा सका, जो कोई भी पाता है रोकर ही—

"हंसि हंसि कन्त न पाइया, जिन पाइया तिनि रोइ।
जे हांसे ही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागिनि कोइ॥"

यदि कोई प्रिय के लिए सदेश-प्रेषण का प्रश्न उठाता है तो विरहिणी कितना सुन्दर उत्तर देती है—

"प्रियतम कूं पतियां लिखूं, जो कही होय विदेस।
तन में, मन में, नैन में, ताको कहा सदेस॥"

और फिर विरहिणी प्रिय-दर्शन के लिए प्रत्येक सम्भव-असम्भव कार्य करने को प्रस्तुत है। ससार की कोई भी बाधा उसके सम्मुख खडी नही रह सकती। दूसरे शब्दो मे, वहाँ तो प्रिय के अतिरिक्त प्रेमी को कुछ सूझता ही नही, अतः ससार-सत्ता उसके लिए नष्ट हो जाती है। इसलिए वह कहती है—

"फाड़ि पुटोला धज करौं, कामड़िली पहिराउ।
जिहि जिहि भेषाँ हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउ।"

प्रिय-मिलन की इस आकुलता और प्रेम की चरम परिणति से विरहिणी को प्रिय-दर्शन से पूर्व उसको पाते ही विरहिणी की विचित्र मनःस्थिति होती है। उसका भी कबीर ने वर्णन किया है—

"थरहर थरहर कंपे जीव, ना जानूं का करिहै पीव।
कौवा उड़ावत मेरी बहियाँ पिरानी, कहै कबीर मेरी कथा सिरानी॥"

आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार—मिलन—के चित्र भी कबीर ने बडी रमणीयता से प्रस्तुत किए है—

"कबीर तेज अनंत का, मानो ऊगी सूरज सेणि।
पति सग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि॥"

वास्तव मे उस प्रिय का तेज इतना अलौकिक ज्योतिष्मान् है कि उसका वर्णन असम्भव है। साक्षात्कार की उस अनुभूति को यदि कवि वर्णन कर दे तो फिर तो एक प्रकार से सब ही उस आनन्द को प्राप्त कर ले। महामिलन की अनुभूति का वर्णन करने का जब कवि प्रयास करता है तो जिह्वा लड़खडा जाती है और वह उस सुख की केवल सीमाएं, परिधियां ही छू पाता है—

"पारब्रह्म के तेज का, कैसे है उनमान।
कहिबे कूं सीमा नहीं, देख्या ही परवान॥"

और अब आत्मा-परमात्मा, अग-अगी, अग्नि-स्फुलिंग की द्वैतभावना का अन्त हो गया। 'अहम्' ने 'इदम्' मे पर्यवसान पा लिया—

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक दीख्या मांहि॥"

और अब तो सर्ववाद की स्थिति आ गई है। प्रेयसी जिधर भी दृग्पात करती है, उधर ही परमात्मा है—

"तू तू करता तू भया मुझ में रही न हूं।
वारी फेरी बलि गई जित देखों तित तूं॥"

अपने चतुर्दिक् प्रियतम की ही सत्ता पाकर भी आत्मा को सन्तोष कहाँ, उसे मिलन से तृप्ति नही। अत वह प्रिय पर पूर्ण एव सदैव अधिकार चाहती है इसलिए कहते हैं—

"अब तोहि जान न देहूं राम पियारे।
ज्यूं भावे त्यूं होउ हमारे॥"

"बहुत दिनन के बिछुरे प्रियतम पाये, भाग बड़े घर बैठे आये।
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
इत मन मन्दिर रहौ नित चोखे, कहै कबीर परहु मत धोखे॥"

इस भाति कबीर अपनी उस अभिलाषा को, जिसमे उनको अतिरिक्त प्रिय को और कोई न देख सके, पूर्ण करते हैं—

"नैननि अन्तर आव तू, त्यूं ही नैन झपेऊं।
ना मैं देखूं और कूं, ना तुझ देखन देऊं।"

वस्तुत. यह प्रेममूलक रहस्यवाद कबीर-काव्य की सर्वोत्तम सृष्टि है।

कबीर मे दूसरे प्रकार रहस्यवाद वहाँ प्राप्त होता है, जहाँ वे उस प्रिय को विविध हठयोगी साधनाओ से प्राप्त करने का उपक्रम करते हैं। यहाँ भावना की मधुरता नही, अपितु साधना की जटिलता है—

"अष्ट दल कवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ रे।
रहूं मैं बीच समाधियां, तहां काल न पासै आइ रे।
अष्ट कंवल दल भीतरा, तहां श्रीरंग केलि कराइ रे।
सतगुरु मिलै तो पाइये, नहिं तो जन्म अकारथ जाइ रे।
कदली कुसुम दल भीतरां, तहां दस आंगुल का बीच रे।
तहां दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मीच रे।
बंक नालि के अन्तरै, पचिछम दिसा की बाट।
नीझर झरै रस पीजिए, तहां भंवर गुफा के घाट रे।
× × × ×
तहां कबीरा रमि रह्या, सहज समाधि सोइ रे॥"

इस प्रकार के साधनात्मक रहस्यवादी स्थल कबीर काव्य में विरल नही है। इनमें कबीर ने हठयोग का वर्णन अधिकाशतः सिद्धो और योगियो की परम्परा मे किया है।

तृतीय प्रकार का रहस्यवाद कबीर में पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से प्राप्त होता है। ये पारिभाषिक शब्द भी प्रायः वही है जो हठयोग साधना मे मान्य हैं। यथा—

"इला प्यंगुला भाठी कीन्ही, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी।
मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजा कछु न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई।
पंच जने सो संग कर लीन्हें, चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी।
सहज सुनि में जिनि रस चाख्या, सतगुर थें सुधि पाई।
दास कबीर इहि रस माता, कबहूँ उछकि न जाई॥"

इस साधनात्मक पारिभाषिक शब्दो से युक्त रहस्यवाद का प्रेममूलक रहस्यवाद के समान ही मिलनावस्था तक पूर्ण विकास प्राप्त होता है। मिलन का वर्णन भी कबीर ने साधनात्मक प्रतीको द्वारा ही किया है—

"सुरति समाणीं निरत मै, अजपा मांहे जाप।
लोक समाणां अलेख मै, यूं आपा माहै आप॥

× × ×

"मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं।
मुक्ताहल मुगता चुगै, अब उडि अनत न जाहिं॥"

एक अन्य प्रकार का रहस्यवाद जो केवल अभिव्यक्ति-जनित है, कबीर मे और प्राप्त होता है। यह भी सिद्धो, योगियो की सध्या भाषा के अनुकरण पर उलटबांसियो मे लिखा गया है। इसमे आज के समाज के लिए तो दुरूहता ही है चाहे कबीर के समय अभिव्यक्ति की यह शैली कितनी भी लोकग्राह्य क्यो न रही हो। एक उदाहरण देखिए—

"ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या, मै रह्या उभेषै।
मूसा हसती सौं लड़ै, कोई बिरला पेषै॥
मूसा पैठा बांबि मैं, लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापणि गिली यहु अचरज भाई॥"

उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि कबीर के चारो प्रकार के रहस्यवाद मे सर्वश्रेष्ठ प्रेममूलक कोटि का ही रहस्यवाद है। शेष तीन रूपो मे तो परम्परा का आग्रह है जबकि उस प्रेमात्मक रहस्यवाद मे कबीर की मौलिक उद्भावनाएं मन मोह लेती है। चाहे कुछ भी हो, कबीर हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि ठहरते हैं,

एकस्वर मे सबने यह स्वीकार किया है। अमेरिकन महिला अण्डरहिल ने उन्हें "भारतीय रहस्यवाद के इतिहास मे सर्वाधिक रोचक व्यक्ति" उचित ही माना है—

"The most interesting personality of the history of Indian Mysticism"

कबीर और जायसी का रहस्यवाद

कबीर और जायसी मे रहस्यवाद के क्षेत्र मे पर्याप्त साम्य है। इसका प्रमुख कारण सूफीमत की आधारशिला अद्वैतवाद का होना है जो कबीर के रहस्यवाद का भी मूलाधार है। अद्वैत से प्रभावित दार्शनिक प्रवृत्ति दोनो कवियो के रहस्यवाद मे मिलती है। कबीर ने कहा है—

"जल मे कुम्भ, कुम्भ मे जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी॥"

इसी भाति जायसी ने भी कहा है—

"धरती सरग मिले हुत दोउ, केहि निनाद केई दीन विछोहू।"

कबीर के समान जायसी का भी पूर्ण विश्वास है कि वियुक्त प्रिय और प्रेमी का मिलन अवश्य होगा—

"बूंद समुद्र जैस होइ मेरा, हिराई, अस मिलै न हेरा॥"

कबीर ने जिस प्रकार प्रतिबिम्बवाद के माध्यम से उसे देखा है—

"ज्यूं जल मे प्रतिबिम्ब त्यूं सकल रामहि जानिजै।"

उसी भाँति जायसी ने भी प्रतिबिम्ब के माध्यम से उस खुदा का 'नूर' देखा है —

"गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै।
सुरुज दिपै अकास, मुहम्मद सब में देखिए।"

जिस प्रकार सर्ववाद की सत्ता कबीर ने स्वीकार कर कहा था—

"लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मै भी हो गई लाल॥"

उसी प्रकार जायसी ने पिण्ड, ब्रह्माण्ड और उसके कण-कण मे उसी परम सत्ता को ही देखा है—

"सातों दीप नव खण्ड, आठौं दिसा जो आहिं।
जो ब्रह्मंड सो पिंड है, हेरत अंत न जाहिं॥"

दोनो कवियो मे समान से प्रेम की मधुरता एव विरह की कातरता प्राप्त होती है। यह दूसरी बात है कि एक प्रेम-पीर का आधार अधिकांशत: वैष्णव भावना है तो दूसरे की भी अधिकाशत सूफीमत; जिसमे प्रेम-पीर मे कही-कही मास आदि के वर्णन से वीभत्सता भी आ गई है, चाहे ये सूक्ष्म अन्तर अभिव्यक्ति शैलियो मे जाकर हो गये हो, किन्तु फिर भी प्रेम की मधुरता और विरह की आर्तता दोनो

कवियों मे समान है। कबीर की विरह-भावना का पर्याप्त वर्णन उसके रहस्यवाद पर विचार करते हुए किया जा चुका है, जायसी का उदाहरण देखिये—

"प्रीति बेलि संग विरह अपारा, विरह पतार जरे तेहि झारा॥"

साधनात्मक रहस्यवाद के रूप दोनो कवियो मे प्राप्त होते है। यदि, कबीर ने षटचक्र, नौ द्वार, पच चोर, इडा, पिंगला, सुषम्णा, कुण्डलिनी, सहस्रार आदि के वर्णन किये है तो जायसी ने भी नफस, रूह, कल्व, अम्ल, साधक की चार अवस्थाएं—'शरीअत, तरीअत, मारफत, आदि के वर्णन किये हैं—

"कही सरीअत चिस्ती पीरू। उधिरत असरफ औ जहांगीरू।
राह 'हकीकती' परै न चूकी। पैठि 'मारफत' मार बुड़की॥"

जिस प्रकार कबीर ने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रतीको, रूपको और उलटबाँसी आदि के माध्यम से की है, उसी भाँति जायसी ने भी अपने रहस्यवादी भावों को अन्योक्ति और समासोक्ति के माध्यम से प्रकट किया है।

जायसी के रहस्यवाद के चार रूप प्राप्त होते है—आध्यात्मिक, योगमूलक, प्रेममूलक एव प्रकृतिमूलक। कबीर मे प्रथम तीन रूप तो प्रचुरता से प्राप्त हैं, किन्तु प्रकृतिमूलक रहस्यवाद के उदाहरण विरल हैं—

"काहे री नलिनी तू कुम्हलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी,
जल उपजी जल ही सो नेहा, रटत पियास पियास॥"

वैषम्य

यह साम्य होते भी दोनो कवियो के रहस्यवादी रूप मे कुछ न कुछ अन्तर अवश्य है। सर्वप्रथम अन्तर दोनो की उपास्य भावना का है। कबीर मे अद्वैत के व्यष्टिमूलक स्वरूप की प्रधानता है—

"तेरा साईं तुझ में ज्यूं, पुहुपन में वास।"

× × ×

"मृगा पास कस्तूरी वास, आप न खोजै घास।"

दूसरी ओर जायसी का इष्ट अत्यन्त व्यापक सृष्टि मे ही अधिक रमा है, वहाँ सर्ववाद की प्रधानता है—

"गा अंधियार रैनि मसि छूटी, भा भिनसार किरन रवि फूटी।"

× × ×

"रबि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।"

कबीर के रहस्यवाद का प्राणतत्व अद्वैत ही है, जबकि जायसी के रहस्यवाद का सर्वस्व सूफी प्रेम विरह-भावना। प्रेम-भावना कबीर मे भी है, किन्तु वह विशुद्ध वैष्णवी है जबकि यह सूफी—

"सुनि धनि प्रेम सुरा के पिये, जियन मरन डर रहे नहीं हिये॥"

कबीर ने अद्वैत के 'अहं ब्रह्मास्मि' को अपने प्रिय-साक्षात्कार का माध्यम बनाया था जबकि जायसी का मुख्याधार है "सर्वं खलु इद ब्रह्म"। कबीर ने तो

रहस्यवादी साधना मे सृष्टि—प्रकृति और माया—को बाधक माना है जबकि जायसी ने समस्त सृष्टि, प्रकृति भी जिसका एक अग है, मे खुदा का नूर प्रतिविम्ब देखा है। साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत एक ने हठयोगी साधना का आश्रय लिया है तो दूसरे ने सूफी-साधना का। सूफी-साधना और भारतीय परम्परा के प्रभाव भेद से ही एक परमात्मा को पत्नि और आत्मा को पति मानता है तो दूसरा आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति।

अभिव्यक्ति के माध्यम पर विचार कर देखे तो कबीर ने सर्वत्र अपना भावनाओ की अभिव्यक्ति मुक्तक रूप मे प्रतीक, रूपक, उलटवाँसी आदि के द्वारा की है जबकि जायसी ने अधिकाशत ही कथा के द्वारा अपने विचारों को अन्योक्ति और समासोक्ति प्रणाली मे प्रकट किया है।

दोनो के रहस्यवाद मे कौन श्रेष्ठ है इस विषय मे विभिन्न विचारको के भिन्न-भिन्न विचार हैं—

"कबीर का रहस्यवाद प्रायः शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नही।"
—चन्द्रबली पाण्डेय

"कबीर आदि सन्तो का रहस्यवाद ज्ञानजन्य है। अत वह उतना काव्योपयोगी नही जितना जायसी आदि सूफियो का।"
—डॉ० श्यामसुन्दरदास

"कविता की दृष्टि से कबीर का रहस्यवाद सरल न होने के कारण उतना उत्कृष्ट नही है जितना सूफियो का।"
—श्यामसुन्दरदास

'एक का रहस्यवाद भारतीय भक्तिमार्ग, श्रुतिग्रन्थ, सिद्धमत और नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण आध्यात्मिक, एकान्तिक, व्यष्टिमूलक, सजीव और वर्णनात्मक है। दूसरे का सूफी साधना और भावना से अनुप्राणित होने से अत्यन्त सरस, सकेतात्मक और समष्टिमूलक है। वह प्रेमाख्यान के सहारे अभिव्यक्त होने के कारण मधुर और नाटकीय भी है।"
—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत

वास्तव मे सूर्य और चन्द्र की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना अधिक युक्तिसगत नही, क्योकि दोनो का अपना महत्व है। हाँ, कबीर के रहस्यवाद को केवल आध्यात्मिक, ऐकान्तिक, व्यष्टिमूलक, सजीव और वर्णनात्मक मानना अनुचित है। उसमे अभिव्यक्ति प्रेम अत्यन्त सरस, मार्मिक और उच्चकोटि का है।

: ८ :

सुधारक कबीर

[महापुरुष अपने समय की देन होते है। महात्मा कबीर मध्यकाल के तिमिराच्छन वातावरण मे अपना ज्ञानदीप लेकर अवतरित होते है जिससे भूली-भटकी जनता उचित पथ और सम्बल पाती है। कबीर का समय, जैसाकि कबीरकालीन परिस्थितियो मे देखा जा चुका है, ऐसे विधर्मी शासको का युग है जिनकी तलवार की लपलपायी जिह्वा सदैव हिन्दुओं के रक्त की प्यासी रहती थी। वह भारतीय सस्कृति जिसके प्रारम्भ से ही न जाने कितने आक्रमणो को अपना बनाकर वहाँ की मिट्टी को उनके लिए जननी जन्मभूमि की पावनता मे परिवर्तित कर दिया था। इस्लाम के प्रचारक इन क्रूर आक्रमणकारियो को आत्मसात न कर सकी।]इसलिए तात्कालिक समाज मे आचार-विचार, सस्कृति, भाषा धर्म आदि को लेकर खाई बढ़ती जा रही थी। साथ ही विधर्मियो के इस आघात को सहन करने के लिए हिन्दू-धर्म के तथाकथित ठेकेदार बाह्याचार की कर्मकाडी प्रवृत्तियो द्वारा अपने धर्म की व्यवस्था को कठोर से कठोतर बनाते जा रहे थे। इससे जहाँ एक ओर दूसरे धर्म की से हिन्दुओ की रक्षा हुई दूसरी ओर हिन्दू समाज का एक वर्ग—निम्न वर्ग उसके पृथक् सा होता जा रहा था। ब्राह्मण वर्ग ने प्रत्येक क्षेत्र में सामन्ती व्यवस्था सी बना दी थी। उनका समाज के धर्म, कर्म एव जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप पर अधिकार सा था। यद्यपि समाज मे समानता स्थापित करने के प्रयत्न कबीर से पूर्व रामानन्द आदि के द्वारा भी किये गये, किन्तु वे उतने सफल न हो पाये। सर्वप्रथम कबीर ने इन बाह्याचारो और ब्राह्मणवादी प्रवृत्ति के जड़ोन्मूलन का बीडा उठाया।

सुधारक

[यद्यपि सुधार करना या नेतागीरी की प्रवृति फक्कड़ मस्तमौला सन्त कबीर मे नही थी, किन्तु वे समाज के कूडा-कर्कट या कुरूप को निकाल फेकना चाहते थे। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण वे स्वतः सुधारक बन जाते हैं। दूसरे शब्दों मे कह सकते है कि सुधारक न बनना चाहते हुए भी राम-दीवाने कबीर को सुधारक का पद प्राप्त हो ही जाता है। वास्तव मे वे तो मानव के दु:ख के उत्पीड़ित हो उसकी सहायता के लिए चले। जनता के दु:ख-दर्द और उसकी वेदना से फूटकर ही उनके

काव्य की सरस्वती वही थी।[1] मिथ्याडम्बरो के प्रति प्रतिक्रिया कबीर का जन्मजात गुण थी। वे वही कहते थे जिसे उनकी आत्मा सत्य तत्व की कसौटी पर परख कर उचित समझे। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही कि वे हठवादी थे। वास्तव मे 'सहज सत्य को सहज ढग के वर्णन करने मे कबीर अपना प्रतिद्वन्दी नही जानते।'[2] समाज की अप्रिय रीति को देखकर उस पर उन्होने इतने तीखे प्रहार किये है कि ढोग और ढपोलशंखो की धज्जियाँ उड गई। इसलिए कबीर की वाणी मे इतना तीव्र, तीखा, तिक्त और अभीप्ट-सिद्धि करने वाला अचूक व्यग्य है कि व्यग्य के क्षेत्र मे उनकी तुलना हिन्दी का कोई भी लेखक नही कर सकता। उनका व्यग्य तर्काश्रित नही अपितु विशुद्ध बौद्धिकता पर आधारित है। तर्काश्रयी हठवादियों को तो उन्होने मूर्ख, मोटी बुद्धि वाला बताया है—

"कहै कबीर तरक जिनि साधै, तिनकी मति है मोटी।"

उनके इन तीव्र प्रहारो मे विद्रोह मात्र अथवा हीनता-ग्रथि नही। उन्होने जो व्यग्य किये हैं वे स्वय शुद्ध होकर। इसी कारण उनकी कटुतम उक्तियो मे भी वैमनस्य, द्वेप की गध नही और न उनकी गर्वोक्तियो मे आत्मश्लाघा है। वह संत, आत्मान्वेषी महात्मा दूसरे को मिट्टी बताने से पूर्व स्वय कचन बना था। इसलिए उनकी गर्वोक्तियों मे भी आत्मश्लाधा नही, अपितु अपने चरित्र-बल का दृढ विश्वास है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने आपके व्यग्यो को सिद्धो और योगियो के व्यग्यो से पृथक् करते हुए लिखा है—

"कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगो की आक्रमणात्मक उक्तियो मे एक प्रकार की हीनभावना की ग्रन्थि या 'इनफीरियारिटी कम्प्लेक्स' पायी जाती है। वे मानो लोमडी के खट्टे अगूरो की प्रतिध्वनि है, मानो चिलम न पा सकने वालों के आक्रोश है। उनमे तर्क है पर लापरवाही नही है, आक्रोश है पर मस्ती नही है, तीव्रता है पर मृदुता नही है। कबीरदास के आक्रमणो मे भी एक रस है, एक जीवन है, क्योंकि वे आक्रान्त के वैभव से परिचित नही थे और अपने को समस्त आक्रमण-योग्य दुर्गुणो से मुक्त समझते थे। इस तरह जहाँ उन्हे लापरवाही का कवच मिला था वहाँ अखण्ड आत्मविश्वास का कृपाण भी।"

इसीलिये कबीर स्थान-स्थान पर बडे निस्सकोचपूर्वक यह कह जाते है—

"सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यो धर दीनी चदरिया।"

'सुर नर मुनि' सबको अपनी चारित्रिक श्रेष्ठता की उद्घोषणा से पीछे छोड़ जाने वाला यह आत्मविश्वास धन्य है।

समाज-क्षेत्र मे फैलने वाले मिथ्याचारो की कबीर ने धज्जिया उड़ा दी। इस तीव्रालोचना मे उन्होने हिन्दू-मुसलमान किसीको न बक्शा। उनके समय मे कबीर-

१ श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त—'आकाशवाणी वार्ता'
२. श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

दास के अतिरिक्त समस्त समाज कुपथगामी हो रहा था—

"एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा।
एक न भूला दास कबीरा, जाके राम अधारा।।"

ब्राह्मणो ने जन्म के आधार पर ही, चाहे आचरण कितना ही निम्न क्यो न हो, अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित कर रखी थी। एक बिन्दु से निर्मित पचतत्त्वयुक्त मानवशरीर, सबका निर्माता एक ही ब्रह्मा रूपी कुम्भकार, सबकी जन्मदात्रियाँ एक सी, तो फिर जन्म के आधार पर यह भेद कैसा? इसीलिए उन्होने ब्राह्मण को ललकारा—

"जो तू बाम्हन बाम्हनी जाया।
आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।।"

ब्राह्मणो की छुआछूत आदि के व्यर्थ नियमो को भी कबीर ने उखाड़ फेकने मे कसर नही उठा रखी—

"कहु पांडे सुचि कवन ठांव,
जिहि घर भोजन बैठि खाऊं।।
माता जूठी पिता पुनि जूठा, जूठे फल चित लागे।
जूठा आंवन जूठा जाना, चेतहु क्यूं न अभागे।
अन्न जूठा पानी पुनि जूठा, जूठे बैठि पकाया।
जूठी कड़छी अन परोस्या, जूठे जूठा खाया।
चौका जूठा गोबर जूठा, जूठी का ढीकारा।
कहै कबीर तेई जन सूचे, जे हरि भगति तजहिं विकारा।।"

इस भाँति उन्होने पडितो की "तौ कन्नौजिये, तेरह चूल्हे' वाली प्रवृत्ति पर तीव्राघात किया। छुआछात के कबीर कट्टर विरोधी थे। ब्राह्मण शूद्रो की छाया तक से घृणा करते थे। कबीर ने उस वर्ग को जो पूर्णरूपेण इन पडितो के प्रपच से पिस रहा था, मुक्त किया। एक स्थान पर उन्होने पडितो के प्रपच से खुलकर पूछा है कि उनमे शूद्रो से कौन सी श्रेष्ठता है—

"काहे को कीजै पांडे छोति विचारा।
छोतहि ते उपना संसारा।
हमारै कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।
तुम्ह कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद।
छोति छोति करत तुम्हही जाए।
तो ग्रभवास काहे को आए।।"

इस प्रकार उन्होंने ब्राह्मणो की सामन्ती प्रवृत्ति का समूलोन्मूलन कर दिया। इसीलिए प्रसिद्ध विद्वान् एम० कँवर का कथन है—

"Kabır came to deny Brahamanical authority and all Hiucu deities nnd ritual."[1]

ब्राह्मण और शूद्र की ही नही इन्होने मुसलमानों और हिन्दुओ के बीच वैमनस्य, भेदभाव की खाई को भी पाटने का वड़ा स्तुत्य प्रयास किया। दोनो धर्मावलम्वी एक-दूसरे के मत की छीछालेदारी करने मे लगे रहते थे और स्वय अपनी ओर करके नही देखते थे। कवीर ने इन्ही कुप्रवृत्तियो की ओर इगित कर दोनो जातियो मे सुहृदयता स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होने किसी एक जाति विशेप का पक्ष नही लिया अपितु दोनो के दोषो को निस्संकोच कह दिया है। यथा—

"ना जाने तेरा साहिव कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहिव तेरा वहिरा है?
चिउटी के पग नेवर वाजे, सो भी साहव सुनता है।
पंडित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता है।
अन्दर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहव लखता है॥"

दोनो मतो के दोष प्रकट करने मे कवीर ने पूर्ण निष्पक्षता से काम लिया है। यदि उन्होने हिन्दुओ की पत्थर पूजा की खिल्ली उडाई है—

"हम भी पाहन पूजते, होते बन के रोज।
सतगुरु की किरपा भयी, डार्‌या सिर थैं बोझ॥"

× × ×

"पत्थर पूजे हरि मिलै तो मै पूजूं पहाड़।"

तो दूसरी ओर मुसलमानो की अजान आदि पर भी व्यग्य किया है।

"कंकड़ पत्थर जोड़ के मसजिद लई बनाय।
तापर मुल्ला बांग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय॥"

जातीय विभेद को दूर करने के अतिरिक्त कवीर ने समाज की आचरण-भ्रष्टता को दूर किया। तत्कालीन समाज के लिए यह वहुत वड़ा उपकार था। "कवीर की वाणी ने समाज-क्षेत्र मे एक और वहुत वड़ा कार्य किया था। वह है सात्विकता और आचरण-प्रवणता का प्रचार। कवीर के युग मे वासना अपना भयंकर रूप धारण करती जा रही थी। कवीर को उसका डटकर सामना करना पड़ा था। उसके लिए उन्हे स्त्रियो की निदा करनी पडी। ब्रह्मचर्य का उपदेश देना पड़ा। ······उन्होने समाज मे सात्विक वृत्तियो के प्रचार के लिए वडा तप किया था।"[2] स्त्री-निंदा करते हुए उनका मुख्य उद्देश्य साधक और समाज के सामान्य व्यक्तियो को चरित्र-भ्रष्टता से वचाना था, इसीलिए उन्होने कहा था—

---

१. "The Hindu Religion"—पृष्ठ ३१४
२ 'कवीर की विचार धारा' पृ० ३३६।

"कामणि काली नागणी, तीन्यूं लोक मंझारि।
रामसनेही ऊबरे, विषई खाये झारि॥"

इतना ही नही, कबीर अपने समय मे प्रचलित व्यभिचार, परस्त्रीगमन से अपरिचित नही थे। इसलिए जहाँ उन्होने सामान्य रूप से नारी-निन्दा की है वहाँ पर-नारीगमन पर भी विरोध प्रकट किया है—

"पर नारी राता फिरै, चोरी विढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहे, अंति समूला जांहि॥"

मन को भी नियन्त्रित रखने के लिए कबीर ने बहुत बल दिया है। कबीर जानते थे कि समस्त इन्द्रियो का संचालक, पापकारण, विषयजन्य आकर्षणो मे रमने वाला मन ही है, इसलिए यदि इसे वश मे कर लिया जाय तो सब ठीक हो जाय—

"कबीर मारूं मन कूं, टूक टूक ह्वै जाइ।
विष की झारी बोइ करि, लुणत महा पछिताइ॥"

इसी प्रकार उन्होने आचरण-सम्बन्धी अन्य बातो पर बहुत बल दिया है।

दर्शन और धर्म के क्षेत्र मे भी कबीर ने बडा कार्य किया। जैसाकि बताया जा चुका है कबीर के समय मे जनता नाना धर्म-साधनाओ की बाह्याडम्बरता के पंकिल गर्त मे डूबी जा रही थी। इन विभिन्न धर्म-साधनाओ का परिचय स्वय कबीर ने भी दिया है—

"अरु भूले षट दरसन भाई। पाखंड भेष रहे लपटाई॥
जैन बोध और साकत सैना। चारवाक चतुरंग विहूना॥
जैन जीव की सुधि न जाने। पाती तोरी देहुरै आने॥"

कबीरदास ने मधुमक्षिका के समान समस्त साधनाओ, समस्त धर्म का सार लेकर जनता को धर्म का ऐसा रूप दिखाया जो सर्वग्राह्य एव सर्वसुखकारी था। धर्म के इस सर्वजन-सुलभ स्वरूप को प्रस्तुत करने मे कबीर को पूर्व प्रस्थापित धार्मिक विचारधाराओ के आडम्बरो का खण्डन करना पडा था। इस धार्मिक दोष-दर्शन में कबीर पूर्ण निष्पक्ष रहे। उन्होने हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मों के ठेकेदारो को बुरी तरह फटकारा है—

"जो रे खुदाय मसीत बसतु है, अवर मुलुक किह केरा।
हिंदू मूरति नाम निवासी, दुहमति तत्तु न हेरा।"

इसी भाँति यद्यपि वैष्णवो से कबीर का बहुत लगाव है, क्योकि उन्ही के राम रसायन से वे आनन्दमत्त है, किन्तु उनके दोष-दर्शन मे भी उन्होने पैर पीछे नहीं हटाया है—

"वैस्नो भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक।
छापा तिलक बनाइ कर, दग्ध्या लोक अनेक॥"

पूजा, तीर्थ, व्रतादि का भी उन्होने खूब खुलकर विरोध किया है—

"पूजा, सेवा, नेम, व्रत, गुड़ियन का सा खेल ।
जब लग पिउ परसै नहीं, तब लग संसय मेल ॥"

योगियो आदि की हठयोगी साधना मे भी कबीर ने सुधार कर कुछ शब्दो की अर्थ-भ्रांति को दूर कर साधको को नवीन मार्ग प्रशस्त किया था—

"सहज-सहज सब ही कहैं, सहज न चीन्हैं कोय ।
जो कबीर विषया तजै, सहज कहीजै सोय ।"

इस भाँति हम देखते है कि कबीर ने समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे भ्रष्टाचार को दूर कर व्यवस्था स्थापित की थी । त्रिगुणायत जी ने उचित ही लिखा है—

उन्होने देश मे, धर्म मे, समाज मे, दर्शन मे, साधना मे, सभी क्षेत्रो मे क्रान्ति की जो धारा बहाई थी, उससे निश्चय ही उन क्षेत्रो के कालुष्य वह गये थे ।"

वास्तव मे कबीर ने मध्यकाल मे अपने इन अमृतोपम वचनो से अज्ञानाधकार मे भटकती जनता का बड़ा उपकार किया । इस कलि-मल-हरन पावन वचनावली से वह मनुष्य भी कुछ प्रकाश रेखाएँ प्राप्त कर सकता है जो आज की इस वैज्ञानिक सभ्यता मे विपन्न है ।

: ९ :

कबीर का दर्शन

कबीर का लक्ष्य जिस प्रकार कविता करना नही था, उसी भाँति दर्शन की गुत्थी को सुलझाना भी उन्हें अभीष्ट नही था, किन्तु भक्ति मे प्रेम की विविध भाव-व्यजनाओ के साथ-साथ कबीर की ब्रह्म, जीव, जगत्, माया आदि से सम्बन्धित विचारधारा भी सम्मुख आई है। इन विचारो के आधार पर ही हम उनकी विभिन्न धारणाओ का पता लगा सकते है।

यद्यपि कविता एवं दर्शन दोनों पृथक्-पृथक् क्षेत्र है किन्तु फिर भी हम देखते है कि कवि भी दार्शनिक होता है; यह दूसरी बात है कि वह इस रूप मे नही जिस रूप मे दर्शन का विद्वान्। इस सम्बन्ध मे महादेवी जी के शब्द द्रष्टव्य है—

"कवि मे दार्शनिक को खोजना बहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्बन्ध है वे दोनो एक-दूसरे के अधिक निकट है अवश्य, पर साधन और प्रयोग की दृष्टि से उनका एक होना सहज नही। बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज आरम्भ करके उसे सूक्ष्म बिन्दु तक पहुचाकर दार्शनिक सन्तुष्ट हो जाता है। उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुंचने के लिए वही बौद्धिक दशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत् का सारा वैभव परखकर सत्य का मूल आकने का उसे अवकाश नहीं, भाव की गहराई मे डूबकर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नही। वह तो चिन्तन-जगत् का अधिकारी है। बुद्धि अन्तर का बोध कराकर एकता का निर्देश करती है और हृदय एकता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर सकेत करता है। परिणामत: चिन्तन की विभिन्न रेखाओ का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। साख्य जिस रेखा पर बढकर सत्य की प्राप्ति करता है वह वेदान्त को अंगीकृत न होगी और वेदान्त जिस क्रम से चलकर सत्य तक पहुचता है उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।"

"काव्य मे बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है, इसीलिए उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क-प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुचने वाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को, चेतना अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार

करता है। अत. कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है।"[1]

रामरसायन से उन्मत्त कबीर जीवन—सासारिक जीवन—से विरक्त हो स्थितप्रज्ञ या जीवनमुक्त की दशा मे आ गये थे। इमी अनोखे प्रेम जगत्, भावलोक से, जो उनका वास्तविक जीवन रह गया था, कबीर ने जो आस्थाएँ, विचार प्रकट किये है उनसे हमे उनकी विचारधारा, चिन्तन-परिणामो का ज्ञान होता है।

ब्रह्म

कबीर का ब्रह्म उपनिषदो के अद्वैत से ही अधिक प्रभावित है। कबीर की ब्रह्म-भावना आदि से अन्त तक अद्वैतपरक है, किन्तु उस अद्वैत की प्राप्ति का प्रारम्भ या प्रयत्न जब कबीर करते हैं, प्रिय परमात्मा से वियुक्त हृदय की मनोभावनाओ की जिस समय अभिव्यक्ति करते है, उस समय वे द्वैत भावना से प्रस्थान करते हैं, किन्तु यह द्वैत भ्रमवश है, यही अज्ञान है। इस द्वैत भावना से कबीर की अद्वैती भावना पर कोई प्रभाव नही पडता। वे सर्वत्र उसका निरूपण उपनिषदो के समान अद्वैती भावना से उत्प्रेरित होकर ही करते है—

"कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढै वन माँहि।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखे नाँहि।"

जिस भाँति ब्रह्म को कबीर ने हृदयस्थ मानकर पत्रिका आदि लिखने का विरोध किया है, उसी प्रकार प्रतिबिम्बवाद के आश्रय पर उसे सर्वत्र भी माना है—

"ज्यूं जल मे प्रतिबिम्ब, त्यूं सकल रामहि जानिजै।"

अद्वैतियो के ही समान कबीर का विश्वास है कि ब्रह्म से ही समस्त सृष्टि का निर्माण होता है और उसीके द्वारा उसका स्वरूप नष्ट हो जाता है—

"पानी ही ते हिम भया, हिम ही गया विलाय।
कबीरा जो था सो भया, अब कुछ कही न जाय॥"

सृष्टि-निर्माता होने के साथ-साथ यह ब्रह्म पूर्ण निराकार, रूपविहीन, निर्लिप्त है, समस्त सृष्टि के अणु-प्रति-अणु मे व्याप्त होकर भी प्रत्येक घट मे भी वास करता है—

"शरीर सरोवर भीतर, आछै कमल अनूप।
परम ज्योति पुरुसोत्तम, जाके रेख न रूप॥"

उसे शरीर स्थित ज्योतिस्वरूप निराकार मानकर भी कबीर ने अद्वैती-भावनानुरूप अखण्ड, एकरस माना है—

"आदि मध्य औ अन्त लौं अविहड़ सदा अभंग।
कबीर उस कर्त्ता की सेवक तजै न संग॥"

समस्त सृष्टिव्यापी होने के साथ-साथ उस ब्रह्म की महिमा अपार है।

---

१. महादेवी वर्मा—'दीपशिखा' पृ० २०-२१

वह इतना सामर्थ्यवान् है कि विना इन्द्रियों के, विना स्वरूप के भी समस्त कार्य कर रहा है—

"विन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नहीं छाड़ै, दस दिसिहीं फिरि आवै॥
बिनहीं तालां ताल बजावै, बिन मंदल पर ताला।
बिनहीं सवद अनाहद बाजै, तहां निरतत है गोपाला॥"

वास्तव मे इसकी शक्ति का वर्णन करना सम्भव ही नही, वह तो अनुभव की ही वस्तु है—

"पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उन्मान।
कहिबे कू शोभा नही, देखा ही परवान॥"

कवीर ने इस ब्रह्म को राम, हरि, मुरारि, गोपाल, विष्णु आदि नामो का सम्वोधन देकर भी निर्गुण-निराकार माना है। वैष्णवो के अवतारी नाम देकर भी वे ब्रह्म को उनके समान अवतारधारी नही मानते—

"ना जसरथ घरि औतरी आवा, ना लंका का राव सतावा।
देवै कूखि न औतरि आवा, नां जसवै लै गोद खिलावा।
ना वो ग्वालन के संग फिरिया, गोवरधन लै न कर धरिया।
वावन होइ नही वलि छलिया, धरनी वेद ले न उधरिया।
गंडक सालिगराम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला।
वद्री वैस्य ध्यान नहीं लावा, परसराम ह्वै खत्री न सतावा।
द्वारामती शरीर न छोड़ा, जगननाथ लै प्यंड न गाड़ा॥"

किन्तु कुछ स्थानो पर यह वात समझ मे नही आती कि 'अवतारी परि-कल्पना' को इस प्रकार मिथ्या सिद्ध करने वाला स्वय उसका विश्वासी कैसे वन वैठता है। कही-कहीं तो उनकी उक्तियाँ सगुण भक्त कवियो के समान ही प्राप्त होती है। उन स्थलों पर प्रेमातिरेक ने कबीर को सगुण भक्तो की भावभूमि पर ही पहुचा दिया है—

"माधो मै ऐसा अपराधी, तेरी भगति होत नहीं साधी।
कारनि कवन आइ जग जनम्यां, जनमि कवन सचु पाया।
भौ जल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ी न लाया।
तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत वछल भौ हारी।
कहै कवीर धीर मति राखहु, सासति करौ हमारी॥"

× × ×

"जो जाचौं तो केवल राम, आन देव सूं नाहीं काम।
जाकै सूरिज कोटि करै परकास, कोटि महादेव गिरि कविलास।
ब्रह्मा कोटि वेद ऊचरै, दुर्गा कोटि जाकै मरदन करै।
कोटि चन्द्रमा गहैं विराम, सुर तेतीसूं जीमैं पाक॥

नौग्रह कोटि ठाढ़े दरबार, धरमराइ पौली प्रतिहार ॥
कोटि कुबेर जाकै भरै भंडार, लक्ष्मी कोटि करै सिंगार ॥
कोटि समुद्र जाकै पणिहारा, रोमावली अठारह भारा ।
असंखि कोटि जाकै जभावली, रावण सेन्या जाथै चलीं ॥"

उपर्युक्त समस्त बातो से तो उसकी साकारता, सगुणता सिद्ध होती ही है, किन्तु बिल्कुल अन्त मे 'रावण सेन्या जाथै चली' के सम्मुख कबीर की यह बात समझ मे नही आती कि वह अवतारी दशरथ-सुत नही । दशरथ-सुत राम ने ही तो रावण-सेना का सहार किया था । अत' यह मानना पडेगा कि ब्रह्म को निर्गुण मानकर भी कबीर उसके सगुण स्वरूप से अछूते नही रहे हैं, इसकी यत्किंचित् स्वीकृति उनके निम्न कथन मे भी प्राप्त होती है—

"संतो धोखा का सो कहिये ।
गुण में निगुण निर्गुण मे गुण है, बाट छाडि क्या बहिए ॥"

अत. हम कह सकते है कि कबीर का ब्रह्म अधिकाशत अद्वैतीस्वरूप का निर्गुण, निराकार, निरुपाधि हे, किन्तु कही-कही उसमे सगुण भावनाओ के लिए भी स्थान है । इसका कारण कबीर की प्रेमाभक्ति और उपनिषदो का ब्रह्म को विरुद्ध धर्माश्रयी चित्रित करना है जिसका प्रभाव इन पर पडा है ।

माया

कबीर ने माया का वर्णन अद्वैतियो के ही समान मिथ्या मानकर किया है । कबीर की माया धर्म और स्वभाव से साख्यवादियो की प्रकृति से बहुत मिलती-जुलती है । साख्यानुरूप ही कबीर ने इसे ब्रह्म से सम्बद्ध और त्रिगुणात्मक प्रकृतियुक्त माना है—

"राजस तामस सातिग तीन्यूं ये सब तेरी माया ।"

माया ने समस्त ससार को अपने वश मे कर चरित्रभ्रष्ट कर रखा है । इसीलिए कबीर ने इसे व्यभिचारिणी तक कह डाला है—

"तू माया रघुनाथ की, खेलड़ चढ़ी अहेड़ै ।
चतुर चिकारे चुणि-चुणि मारे, कोइ न छोड्या नेड़ै ॥
मुनियर पीर डिगंबर मारे, जतन करता जोगी ।
जंगत महि के जंगम मारे, तूं रे फिरै बलिवंती ॥
वेद पढ़न्ता ब्राह्मण मारा, सेवा करता स्वामी ।
अरथ करता मिसर पछाड्या, तू रे फिरै मैमंती ॥"
×   ×   ×
दास कबीर राम कै सरनै, ज्यूं लागी त्यूं तोरी ॥

केवल प्रभु के दास ही इससे मुक्त हैं, अन्यथा और सब तो इसके वन्धन मे आबद्ध है । यदि कोई माया से बचकर रहता है तो भी यह उसे अपने फदे मे फसा

लेती है—इससे त्राण का एकमात्र उपाय प्रभु-भक्ति है। इसी भक्ति के सम्बल से कबीर ने इसे विजित किया है—

"कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठी हाटि।
सब जग तो फंधे पड्या, गया कबीरा काटि॥"

इससे त्राण का एक और भी उपाय कबीर ने बताया है, वह यह कि एक बार यदि भक्त इसके मिथ्यात्व को हृदय मे समझ ले और इसे मिथ्या मान इससे दूर रहने का उपाय करे तो फिर यह दासी की नाई चारो ओर लगी-लगी फिरती है—

"कबीर माया मोहनी, मांगी मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डोलै साथि।"

इसी विकर्षण से आकर्षण वाली बात को कबीर ने दूसरे प्रकार से कहा है—

"जो काटों तो डहडही सींचो तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का, कुछ गुण कहा न जाय॥"

इसी सिद्धान्त को अपनाकर सन्त लोग, हंसात्माएँ माया को दासी बनाकर रखती है, जिसका वर्णन कबीर ने इन शब्दों में किया है—

"माया दासी संत की, ऊंची देइ असीस।
विलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस॥"

संसार

कबीर ने अद्वैतियो के ही समान 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त को अपनाकर ससार का वर्णन किया है। वे सर्वत्र संसार की सत्ता मिथ्या मानते है और अद्वैतियो के ही समान उसके मिथ्या भाव को प्रकट करने के लिए सेवल फूल, आकाश-नीलिमा, धुआँ-धौरहर आदि के उपमान प्रयुक्त करते हैं।

"दिन दहूं चहूं कै कारणैं, जैसे सेंवल फूले।
झूठी सूं प्रीति लगाइ करि, साचैं कूं भूले॥"

× × ×

"दिनां चारि के सुरंग फूल, तिनहि देखि कहा रह्यौ है भूल।
या बनासपनि मै लागैगी आगि, तब तू जैहौ कहां भागि॥"

ईश्वर स्मरण के विना यह मिथ्या संसार, जिसकी क्षणिक स्थिति है, और भी अधिक दुखदायी है क्योकि सर्वदा कच्चे धागे में लटकी तलवार की भांति काल सिर पर खड़ा रहता है—

"रामां बिनां संसारधंध कुहेरा,
सिरि प्रगटया जंम का फेरा।"

इस ससार का नाश सर्वथा निश्चित है, इसकी उत्पत्ति और प्रलय मे कुछ समय नहीं लगता, वह भी पूर्ण अनिश्चित है—

"नर जाणें अमर मेरी काया, घर घर बात दुपहरी छाया ॥
मारग छांड़ि कुमारग जोवै, आपण मरै और कूं रोवै ॥
कछु एक किया कछु एक करणां, मुगध न चेतै निहचै मरणा ॥
ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा, उपजत विनसत लगै न वारा ॥"

कवीर का विश्वास है कि इस दुःख-सुखमय ससार से तब तक छुटकारा नही हो सकता, जब तक हमारा मन निष्कलुष न हो—

"जब लग मनहिं विकारा, तब लागि नही छूटै संसारा।
जब मन निर्मल करि जाना, तव निर्मल माँहि समाना ॥"

कबीर का विश्वास है कि इस ससार मे जो जीवन मिला है वह हमारे पिछले कुछ पुण्यो का फल है, अन्यथा ८४ लाख योनियो मे से किसी भी एक मे हो सकते थे। इसलिए मनुष्य जन्म पा सत्कर्मो का व्यापार करना यहाँ अत्यन्त आवश्यक है—

"चोखौ बनज व्योपार करीजै,
आइनै दिसावरि रे राम जपि लाहौ लीजै ॥

अब कबीर तो इस व्यापार को करने मे पूर्ण दक्ष हो गये है और उन्होने सत्कर्मो की पूँजी सचित कर ली है, इसीलिए काल रूपी दलाल का भी उन्हे भय नही रहा—

"रे जम नांहि नवै व्यौपारी, जे भरै जगाति तुम्हारी ।
वसुधा छाड़ि वनिज हम कीन्हो, लाद्यौ हरि को नाऊं।
राम नाम की गूंनि भराऊं, हरि कै टांडै जाऊं ॥"

इसी भाँति 'चदरिया झीनी बीनी' मे कबीर ने यही अभिव्यक्त किया है कि इस संसार मे प्राप्त मानव जीवन को निष्कलक रख सत्कर्मो का वनिज करना चाहिए ।

जीवात्मा और शरीर

जहा तक आत्मा का सम्बन्ध है, कबीर ने सदैव उसे परमात्मा का अश माना है। जिस प्रकार अद्वैतवादियो ने उपनिषदो का आधार लेकर ब्रह्म और आत्मा की एकता को प्रस्थापित किया, उसी भाँति कबीर ने भी अश-अशी भाव की अवस्थिति सर्वत्र मानी है। अपने रहस्यवाद मे सर्वत्र उन्होने आत्मा और परमात्मा का ऐक्य प्रस्थापित किया है—

"प्रीतम कूं पतियां लिखूं, जौ कहीं होय विदेस ।
तन में मन में नैन में, ताको कहा संदेस ॥"

इसी अद्वैतता के आधार पर ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए आत्मा विकल है। यह विरह—वियुक्तावस्था—क्षणिक है, इसी भाव को वे इस प्रकार व्यक्त करते है—

"सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहीं जाना ।
ज्यूं जल मैं पैसि न निकसै, कहै कबीर मन माना ॥"

आत्मा और परमात्मा का यह पृथक्त्व माया के कारण है, माया का आवरण हटते ही आत्मा और परमात्मा पुनः एक हैं। यह उसी भाँति ज॰ प्रकार जल मे

तैरते हुए कुम्भ मे भी लहर वाला जल है, किन्तु दोनों एक जैसे होते हुए भी अलग-अलग हैं। दोनों का मिलन तभी सम्भव है, जब कुम्भ (शरीर—माया—) की सत्ता समाप्त हो जाय—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी॥"

इसीलिए जब आत्मा परमात्मा की खोज मे चली तो उसे सर्वत्र परमात्मा दृष्टिगत हुआ—

"लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मै गयी, मै भी हो गयी लाल॥"

इस प्रकार अन्तत. आत्मा और परमात्मा एक ही है।

जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, कबीर का भाव है कि जो कुछ समस्त विम्व-ब्रह्माण्ड— मे है, उस सबकी सत्ता शरीर मे हैं, शरीर भी ब्रह्माण्ड का ही लघु सस्करण है—

"ब्रह्मण्डे सो प्यण्डे जानि।"

किन्तु इस शरीर की स्थिति बड़ी क्षणिक है—

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात।"

अन्यत्र भी उसकी क्षणिकता का प्रतिपादन बडे सुन्दर एवं नवीन उपमानो द्वारा कवि ने किया है। शरीर के लिए सर्वाधिक सुन्दर उपमा अजलि के जल से दी है। अजलि मे रोका हुआ जल प्रतिपल रिसता रहता है, साथ ही किसी भी समय अजलि खुल जाने पर उसका अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है—

"तन धन जौवन अंजुली कौ पानी, जात न लागै बार।"

× × × ×

"जल अंजुरी जीवन जैसा, ताका है किसा भरोसा॥"

साथ ही कबीर का यह भी विश्वास है कि शरीर-पूर्ति के लिए नाना पाप-कर्म करने से कोई लाभ नही, क्योकि यह मिथ्या है। दूसरे हम जिनके लिए पाप-बोझ ढोते है, मृत्यु हो जाने पर, पच तत्वमय शरीर की सत्ता समाप्त हो जाने पर, किसी का भी राग इससे नही रह जाता है—

"मुठी एक मठिया मुठि एक कठिया, संगि काहू कै न जाइ।
देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लगी सग माइ।
मड़हट लूं सब लोग कुटुम्बी, हंस अकेला जाइ॥"

इस ससार मे शरीर का नाश—मृत्यु—उतनी ही निश्चित है जितना स्वय निश्चित शब्द—

"जो ऊग्या सो आथवै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ॥"

आपको इस मृत्यु से बचाने वाला कोई नही। जो आज दूसरो की श्मशान-यात्रा कर शोकाकुल हो रहे हैं, वे भी निश्चित रूप से इसी भाँति श्मशान के दर्शन करेंगे—

"सोवणहारे भी मुए, मुए जलांवणहार।
हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार॥"

इस शरीर को धारण करने मे बारम्बार मातृगर्भ मे रह अमित वेदना सहनी पड़ती है, इसका एक ही उपाय है, मोक्ष। यह मोक्ष या मुक्ति व्यक्ति को अपने सत्-कार्यों एवं अनन्य तथा दृढ़, ईश्वर-भक्ति से प्राप्त होती है। मुक्ति-प्राप्त पर भक्त भगवान्, अंश-अंशी, आत्मा-परमात्मा एक हो जाते है, दोनो मे कोई भेद नही रह जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर के दार्शनिक विचार वेदान्ती है। दर्शन-क्षेत्र मे निश्चित रूप से उन पर शुद्ध भारतीय प्रभाव है।

: १० :

कबीर की अलंकार-योजना

मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है। वह अपने विचारो और सौन्दर्य का अमित कोश विकीर्ण हुआ देखना चाहता है और स्वयं भी दूसरो को सौन्दर्य प्रदान करने का उत्कट इच्छुक है। उसकी इसी इच्छा के फलस्वरूप अलकारो का जन्म हुआ है। जिस प्रकार वह अपने शरीर को सुशोभित बनाने के लिए अंगद आदि आभूषणो का प्रयोग करता है, उसी प्रकार अपनी वाणी को अलंकृत करने के लिए उपमा आदि अलंकारो का आश्रय लेता है। काव्यालकारो के ग्रहण से वाणी में भावोत्पादन की शक्ति आती है।

अलंकारों का महत्व

अलंकारो का काव्य मे क्या स्थान है, इस प्रश्न के उत्तर में संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों के दो दल है। एक दल की मान्यता है कि अलकार काव्य का अनिवार्य अग है। जिस प्रकार बनिता का सुन्दर मुख भी अलंकार-विहीन होकर शोभा-शून्य बन जाता है, उसी प्रकार कोई काव्य चाहे जितनी उत्कृष्ट श्रेणी का हो, यदि उसमें अलकारो का समुन्नित प्रयोग नही है, अर्थात् वह अलंकारो से अलंकृत नही है तो उसकी उत्कृष्टता का कोई मूल्य नही, वल्कि अलंकारो से विहीन होकर कोई काव्य उत्कृष्ट हो ही नही सकता। इसलिए आचार्य जयदेव ने यह घोषणा की है कि काव्य को अलंकार विहीन मानना, अग्नि को उष्णता-रहित मानने की धृष्टता के समान है, अर्थात् जिस प्रकार उष्णता-रहित अग्नि की कल्पना नही की जा सकती, उसी प्रकार अलंकार से विहीन होकर किसी काव्य का अस्तित्व सम्भव ही नही है—

"अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृतिः।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥"

यही कारण है कि अग्निपुराणकार ने भी काव्य मे अलंकारो की अनिवार्य स्थिति मानते हुए वताया है कि अर्थालंकार आदि से रहित होकर सरस्वती भी विधवा वन जाती है—

"अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती।"

काव्य मे अलकार की अनिवार्य स्थिति मानने वाले आचार्य अलकारवादी आचार्य कहे जाते हैं। इनमे भामह, दण्डी, अग्निपुराणकार और जयदेव आदि के

नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। हिन्दी मे आचार्य केशव भी इसी परम्परा मे आते हैं जो लगभग भामह की शब्दावली मे ही अलंकारो का महत्व स्वीकार करते हैं।

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न विराजई, कविता बनिता मित्त।"

इसके विपरीत आचार्यों का दूसरा दल है जो अलकारो को काव्य मे अनिवार्य नही मानता। इन आचार्यो का मत यह है कि जिस प्रकार स्वाभाविक सौन्दर्य के लिए आभूषणो की अपेक्षा नही, उसी प्रकार काव्य की उत्कृष्टता के लिए काव्यालकार अनिवार्य नही। हा, जिस प्रकार स्वभाविक सौन्दर्य आभूषणो के उचित प्रयोग से और अधिक चमकने लगता है, उसी प्रकार यदि काव्य मे अलकारो का उचित प्रयोग किया जाय तो इससे काव्य की रमणीयता और अधिक वढ जाती है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने कहा है कि निरलकार स्थिति मे भी काव्य का काव्यत्व होता है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावलंकृतिः पुनः क्वापि।"

आचार्य विश्वनाथ ने इसी मत की व्याख्या-सी करते हुए कहा है कि अगद आदि के समान शोभा के अतिशयता और रस आदि के उपकारक शब्दार्थ के अस्थिर धर्मो को अलकार कहते हैं—

"शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥"

हिन्दी और संस्कृत के अधिकाश आचार्यो ने इसी मत को स्वीकार किया है; अर्थात् वे अलंकारो को काव्य के अस्थिर धर्म मानते हैं। आचार्य कुलपति मिश्र आचार्य मम्मट की ही उपर्युक्त शब्दावली मे कहते है—

"रसहि बढ़ावे रोम जहँ, कबहुक अंग निवास।
अनुप्रास उपमादि है, अलंकार सुप्रकास ॥"

उपर्युक्त विवेचन का सार यही है कि अलकारो का प्रयोग काव्य की रमणीयता एवं भावोत्कर्षता के लिए ही किया जाना चाहिए। केवल अलकारो के मोह मे पडकर काव्य के काव्यत्व को विकृत कर देना उचित नही है। अलकारो की सफलता एव महत्ता इसीमे है कि वे काव्य की रस प्रेषणीयता मे सहायक हो। यह सिद्धांत रस की प्रमुखता स्वीकार करके ही स्थापित किया गया है, अत इस मत के समर्थक आचार्यों को रसवादी आचार्य कहा जाता है।

अलंकारों का वर्गीकरण

सस्कृत-काव्यशास्त्र मे अलकारो का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। किन्तु प्रवानत. अलंकारो के तीन वर्गो मे विभाजित करने वाले मत को ही स्वीकार किया गया—शब्दालकार, अर्थालकार और मिश्रित अलंकार। इस वर्गीकरण का आधार आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित अन्वय-व्यतिरेक का सिद्धांत है। अर्थात् जिसके रहने पर जो रहे वह अन्वय और जिसके न रहने पर जो न रहे, वह व्यतिरेक कहलाता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि शब्दालकार में

अलकारत्व शब्द पर आधृत रहता है। यदि वह शब्द हटा दिया जावे और उसके स्थान पर उसका कोई समानार्थी शब्द रख दिया जावे तो अलकारत्व नही रहेगा। यथा—

"कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
या खाये बौराय नर, वा पाये बौराय॥"

यह बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है। इसमे 'कनक कनक' के प्रयोग मे यमक अलंकार है, क्योकि प्रथम 'कनक' का अर्थ धतूरा है और द्वितीय 'कनक' का अर्थ सोना है। यदि यहा पर 'कनक' शब्द के स्थान पर धतूरा शब्द अथवा इसका कोई समानार्थी शब्द अथवा सोना या इसका कोई पर्यायवाची शब्द रख दिया जाये तो यमक शब्दालंकार नही रहेगा।

अर्थालकार मे अलकार अर्थ पर आधृत होता है, अत. यदि किसी शब्द को हटाकर उसके स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द भी रख दिया जाये तो अलकारत्व को कोई क्षति नही पहुचती, वह ज्यो का त्यो बना रहता है। यथा—

"कबीर औगुण नां गहैं, गुण ही कौं ले बीनि।
घट घट मृदु के मधुप ज्यूं, पर आत्म ले चीन्हि॥"

इस दोहे मे कबीर ने बताया है कि जैसे मधुमक्खी विविध सुमनो के रस ग्रहण करती है, वैसे ही इसे दूसरो से गुण ग्रहण कर लेना चाहिए। यहां उपमा अर्थालंकार है। यदि 'मधुर' शब्द के स्थान पर इसका कोई पर्यायवाची शब्द रख दिया जाये, तो भी उपमा अलकार बना रहेगा।

मिश्रित अलकार-वर्ग के अन्तर्गत वे अलकार आते है, जो दो या उससे अधिक एक स्थान पर प्रयुक्त हुए हो। इन अलंकारो की तीन स्थितियाँ होती हैं—

१. जब दोनो (या अधिक) शब्दालकार हो।
२. जब दोनो (या अधिक) अर्थालकार हो।
३. जब दोनों (या अधिक) शब्दालकार और अर्थालंकार हों

इस बात को उदाहरणो द्वारा और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। यथा—

"चलिय च नि पथ पूत करि, हरें-हरें धरि पाय।
चाहे मत हा चल चलत, जहँ-तहँ जीव-निकाय॥"

इस दोहे मे छेकानुप्रास, वीप्सा और लाटानुप्रास शब्दालंकारो की स्थिति स्पष्ट दिखाई दे रही है। और—

"योगिन के अभिमान नहिं, नहिं सतीन के दीठ।
द्रव्य उदारन के नहिं, नहिं बीरन के पीठ॥"

यहां पदार्थावृत्ति दीपक और पर्यायोक्ति स्पष्टतया भासित हो रहे हैं, अतः यह अर्थालकार-संसृष्टि है। और—

"कटत करम प्राकृत भरम, दुरित द्वंद्व दुख-दान।
मिटत जनम-जस-जनित भय, हरि-चरनन के ध्यान॥"

यहां हेतु अर्थालकार और वृत्यनुप्रास शब्दालकार की संसृष्टि है।

कबीर अलंकार-योजना

कबीर ने कभी किसी पाठशाला मे शिक्षा ग्रहण नही की, बल्कि उन्हे अपने जीवन मे कभी मसि और कागद तक को छूने का अवसर प्राप्त नही हुआ। अतः लौकिक दृष्टि से अशिक्षित कबीर से यह आशा नही की जा सकती कि उन्होंने किसी काव्यशास्त्र मे सिद्धहस्त कवि की भाति अपने काव्य मे अलकारो की योजना की है। इसलिए कबीर की अलकार-योजना से तात्पर्य है कबीर-काव्य मे मिलने वाले अलंकारो का विवेचन। अलकार वाणी के स्वभाविक धर्म है, अत जब वाणी का आवेग निर्बन्ध होकर उच्छ्लित होता है तो यह निश्चय ही अलकारमय होता है। कबीर-काव्य के विषय मे तो यह कथन शत-प्रति-शत असदिग्ध है।

कबीर की वाणी को सर्वत्र आवेग और प्रभाव की आवश्यकता पडी है, अत. उनके काव्य मे अलकारो की भरमार है। कबीर-काव्य मे अर्थालंकार, शब्दालकार और मिश्रित अलकार तीनो प्रकार के अलकारो का ही प्रचुरता से प्रयोग मिलता है। यहाँ पर कुछ उादहरण प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा।

शब्दालंकार

कबीर-काव्य मे ढूढे से सभी शब्दालंकार प्राप्त किये जा सकते हैं। यहाँ पर हम केवल अनुप्रास और यमक का उदाहरण ही प्रस्तुत कर रहे है।

१. अनुप्रास—जहां वर्णों की समता होती है, वहाँ अनुप्रास शब्दालकार होता है। इसके ४ भेद है—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास और अन्त्यानुप्रास। जहाँ एक अक्षर वा अनेक अक्षरो की, स्वर-सयुक्त वा अक्षरमात्र की समता हो (दो बार कथन हो), वहाँ छेकानुप्रास अलकार होता है। जिसमे वृत्तियो के नियमित वर्णानुसार एक वा अनेक अक्षरो का स्वर-संयुक्त वा केवल अक्षर का अधिक बार तादृश्य हो (तीन वा अधिक बार कथन हो), वह वृत्यनुप्रसार कहलाता है। जहाँ वाक्य शब्द और अर्थ मे भेद न हो और आवृत्ति हो, किन्तु अन्वय करने से तात्पर्य में भिन्नता हो जाय, वहाँ लाटानुप्रास होता है। जहाँ अन्त के अक्षरो या स्वरो मे समानता होती है, वहाँ अन्त्यानुप्रास होता है।

कबीर-काव्य से अनुप्रास वा उदाहरण प्रस्तुत है—

"सतगुर सवाँन को सगा, सोधी सईं न दाति।
हरि जी सवाँन को हितू, हरिजन सईं न जाति॥"

यहाँ पर 'स' वर्ग की आवृत्ति होने कारण अनुप्रास अलकार है। यह वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत आता है।

अन्त्यानुप्रास तो सर्वत्र ही मिलता है। यथा—

"सतगुर के सदकै करूं, दिल अपणीं का साछ।
कलिजुग हम स्यूं लड़ि पड्या, मुहकम मेरा बाछ॥"

यहाँ 'साछ' और 'बाछ' में अन्त्यानुप्रास है।

२. यमक—जहाँ किसी शब्द या वाक्य (जिनके स्वर एव व्यजन समान हो। की आवृत्ति हो और अर्थ भिन्न-भिन्न हो, वहाँ यमक शब्दालकार होता है। इस आवृत्ति की तीन स्थितियाँ होती है—

१. जब आवृत्त शब्द सार्थक हो।
२. जब आवृत्त शब्द निरर्थक हो।
३. जब आवृत्त शब्द मे एक सार्थक और दूसरा निरर्थक हो।

यह आवृत्ति पदो मे होती है, अत· पदो में आवृत्ति होने से यमक के असंख्य भेद होते है। आचार्य दण्डी ने इसके उदाहरणार्थ ३२५ भेदो का उल्लेख किया है।

कबीर-काव्य मे यमक के अनेक भेदो के उदाहरण मिल जाते हैं। यथा—

"सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार॥"

यहाँ तीसरे और चौथे पद मे 'अनत' शब्द की आवृत्ति है। पहले 'अनत' का अर्थ है अपार और दूसरे 'अनत' का अर्थ है ब्रह्म। अत. यह तृतीय-चतुर्थपादगत यमक है। दोनो आवृत्त शब्द सार्थक है। और —

"तींन बिहूणां देहुरा, देह बिहूणां देव।
कबीर तहाँ बिलम्बिया करे अलष की सेव॥"

यहाँ प्रथम पद मे देहुरा के 'देहु' और द्वितीय पद के 'देह' शब्द मे आवृत्ति है। इस आवृत्ति का पहला शब्द निरर्थक और दूसरा सार्थक है। यह प्रथम-द्वितीय पादगत यमक है। और—

"नलनी सायर घर किया, दौं लागी बहुतेणि।
जल ही माहैं जलि मुई, पूरब जनम लिषेणि॥"

यहाँ तृतीय पाद मे 'जल' और 'जलि' में आवृत्ति है। दोनों शब्द सार्थक है। यह तृतीयपादगत यमक है।

अर्थालंकार

शब्दालकारो की अपेक्षा कबीर-काव्य में अर्थालंकारो का प्रयोग अधिकता से हुआ है। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योकि कबीर का ध्येय भापा का चमत्कार प्रदर्शन न था, वरन् प्रभावशाली भापा के द्वारा अपने विचारो की अभिव्यक्ति थी। कबीर-काव्य मे प्राय· सभी अर्थालकारो के उदाहरण प्रस्तुत है।

१ रूपक—जहाँ उपमान और उपमेय में अभेद आरोप हो, वहाँ रूपक अलकार होता है। इसके मुख्य दो भेद हैं—सांगरूपक और निरंग रूपक। इन्हे ही क्रमश. सावयव और निरवयव रूपक भी कहते हैं। सांगरूपक मे उपमेय मे उपमान का अंगो-सहित आरोप होता है और निरंग रूपक मे उपमान के अंग वाच्य नही होते। कबीर ने साग रूपक का बहुत अधिक प्रयोग किया है। यथा—

"यह तन काचा कुंभ है, लियां फिरै था साथि।
ढवका लागा फूटि गया, कछू न आया हाथि॥"

यहाँ पर तन उपमेय है और कुंभ उपमान है। उपमेय पर उपमान के अंगों सहित वर्णन होने के कारण यहा साग रूपक है। कबीर-काव्य मे सांग रूपक का प्रयोग अन्य अर्थालकारो की अपेक्षा अधिकता से हुआ है। इसी प्रकार—

"दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आंवौं हट्ट॥"

यहा पर भी साग रूपक अर्थालंकार है। और—

"जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया बेंसा लाइ।
रामचरन नीकां गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ॥"

यहाँ पर जग उपमेय पर हटवाडा उपमान का, स्वाद उपमेय पर ठग उपमान का, माया उपमेय पर वेसा उपमान का अभेद आरोप तो है, किन्तु उपमान के अंग वाच्य नही है। अत. यहाँ पर निरग रूपक अर्थालकार है। तथा—

"कबीर माया पापड़ीं, लालैं लाया लोग।
पूरी किनहूं न भोगई, इनका इहै बिजोग।"

यहाँ पर भी निरग रूपक है।

२ उपमा—जहाँ उपमेय-उपमान मे भिन्नता रहते हुए भी समान अर्थ बतलाया जाय, वहाँ उपमा अलकार होता है। इसके मूलतः दो भेद होते हैं—पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। जिसमे उपमेय, उपमान, साधारण धर्म एवं उपमा-वाचक शब्द में चारो अग वाच्य हो, वह पूर्णोपमा होती है और जिसमे उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और उपमा-वाचक शब्द इन चारो में से एक, दो, वा तीन का लोप हो अर्थात् ये अवाच्य हो, वह लुप्तोपमा होती है।

कबीर-काव्य मे उपमा अलकार का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। यथा—

"मन कै मतै न चालिए, छाँडि जीव की बाँणि।
ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि॥"

यहाँ पर मन की सूत से समता की गई है। और—

"कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खांड।
सतगुर की कृपा भई, नहीं तौ करती भाँड॥"

यहाँ पर मया उपमेय है, खाड उपमान है, मीठी साधारण धर्म है और जैसी वाचक शब्द है। उपमा के चारो अंगो के वाच्य होने के कारण यहाँ पूर्णोपमा है। तथा—

"बाड़ि चढंती बेलि ज्यूं, उलझी आसा फंध।
टूटै मणि छूटै नहीं, भई ज बाचा बंध॥"

यहाँ पर भी पूर्णोपमा है।

३. उत्प्रेक्षा—जहाँ उपमान से भिन्न जानते हुए भी प्रतिभा-बल से उपमेय मे उपमान की संभावना की जाये, वहाँ उत्प्रेक्षा अलकार होता है। इसके मुख्य तीन भेद होते है—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा। जिसमे किसी उपमेय वस्तु मे किसी उपमान वस्तु की सभावना की जाये उसे वस्तूत्प्रेक्षा अथवा स्वरूपोत्प्रेक्षा कहते है। हेतूत्प्रेक्षा मे अहेतु को हेतु मानकर सभावना की जाती है। फलोत्प्रेक्षा मे अफल को फल मानकर सभावना की जाती है। कवीर-काव्य से फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण प्रस्तुत है—

"जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुण भूलि।
ते विधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि धूलि॥"

इस दोहे मे बताया गया है कि इस ससार मे आकर जिस व्यक्ति ने प्रभु-भक्ति से उदासीनता दिखलाकर उसके गुणो को भुला दिया, उन्हे ही भगवान् ने बगुले का जन्म दिया है और वे अपनी उदासीनता की लज्जा के कारण नीचे की ओर मुँह किए हुए है। यहाँ अफल मे फल की सभावना होने के कारण फलोत्प्रेक्षा है।

४. असंगति—जहाँ कारण कार्य का या केवल कार्य का संगति के बिना, अर्थात् स्वाभाविक सम्बन्ध के विपरीत किसी रमणीय उलट-फेर से वर्णन हो, वहाँ असगति अलकार होता है। यथा—

"कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ॥"

यहाँ पर कवि ने अपने ऊपर प्रेम के बादल का बरसने का वर्णन किया है। यह बादल बरसता तो कवि पर है, किन्तु उससे भीगती आत्मा है और हरियाली से सम्पन्न होता है वन-प्रदेश। यहाँ पर कार्य-कारण मे असगति है। अतः असंगति अलंकार है। और—

"हरि-सर जे जन बेधिया, सत्गुण सौं गणि नाँहि।
लागी चोट सरीर मैं, करक कलेजे माँहि॥"

यहाँ भी कारण-कार्य मे असगति होने से असगति अलकार है, क्योकि सर की चोट लगी तो शरीर में है, किन्तु करक कलेजे मे हो रही है।

५ विरोधाभास—जहाँ दो वस्तुओ मे विरोध का आभास हो पर वास्तव मे विरोध न हो, वहाँ विरोधाभास अलकार होता है। यथा—

"कबीर गुण की बादली, तीतरबानी छांहि।
बाहिर रहे ते ऊबरे, भीगे मंदिर माहि॥"

यहाँ पर यह वर्णन किया गया है कि जो लोग बाहर थे वे तो वर्षा में भीगे नही, और जो मन्दिरों के अन्दर थे, वे भीग गये। यह वर्णन विरोधी-सा लगता है, पर वास्तव मे विरोध है नही, क्योंकि कबीर का मन्तव्य यह है कि जो माया के बंधन

से बाहर थे, उन पर तो उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ, किन्तु जो माया के बंधन में थे, उन पर सांसारिक आकर्षणों का प्रभाव पड़ा। और—

"भगति दुहेली राम की, जैसी अगनि की चाल।
डाकि पड़े ते ऊबरे, दाधे कौतिगहार॥"

इस दोहे में बताया गया है कि राम की भक्ति अग्नि की लपट के समान है, जो इसमें कूद पड़े वे तो बच गये और जो केवल कौतूहलवश बाहर खड़े रह गये, वे भस्म हो गये। इस वर्णन में वस्तुतः विरोध नहीं है, बल्कि विरोध का आभास होता है, इसलिए यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

६. विभावना—जहाँ कारण और कार्य के सम्बन्ध का विचित्रतापूर्वक वर्णन हो, वहाँ विभावना अलंकार होता है। यथा—

"कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
साहिब सेवा माँहि है, बेपरवांही दास॥"

यहाँ देह के बिना ही कौतुक और रवि तथा शशि के बिना ही प्रकाश का वर्णन है, जो विचित्र-सा लगता है। अतः विभावना अलंकार है। और—

"जिहि घटि जांण बिनाण है, तिहिं घटि आवहणां घणा।
बिन षंडै संग्राम है, नित उठि मन सौं झूमणां॥"

यहाँ भी तलवार के बिना युद्ध होने के वर्णन के कारण विभावना अलंकार है।

७ दृष्टान्त—जहाँ उपमेय-उपमान-वाक्यों का और इनके साधारण धर्मों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो, अर्थात् उपमेय वाक्य को उपमान वाक्य से दृष्टांत दिया जाये, वहाँ दृष्टांत अलंकार होता है। यथा—

"आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।
पांणी माहें घर करें, ते भी मरैं पियास॥"

यहाँ पर प्रथम पंक्ति उपमेय-वाक्य है और द्वितीय पंक्ति उपमान वाक्य। प्रथम पंक्ति का भाव द्वितीय पंक्ति में प्रतिबिम्बित है, अतः दृष्टांत अलंकार है।

८. निदर्शना—जहाँ उपमेय-उपमान-वाक्यों के अर्थों में भिन्नता होते हुए भी एक में दूसरे का इस प्रकार से आरोप किया जाये कि उनमें समानता जान पड़े, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है। यथा—

"कबीर मन बिकरै पड्या, गया स्वाद कै साथि।
गलका खाया बरजता, अब क्यूं आवै हाथि॥"

यहाँ पर विकार-ग्रस्त मन को गले में पड़े हुए भोजन (ग्रास) के समान बताया गया है। जिस प्रकार ग्रास बाहर नहीं निकलता, उसी प्रकार विकारों में पड़ा हुआ मन भी नहीं छूटता। विकार-ग्रस्त मन और ग्रास में यद्यपि भिन्नता है, किन्तु इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि दोनों में समानता दिखाई देती है। अतः यहाँ निदर्शना अलंकार है। और—

"करता था तौ क्यू रह्या, अब करि क्यू पछिताय।
बोबै पेड़ बंबूल का, अंब कहाँ तैं खाय॥"

यहाँ भी कुकरनी और बबूल के वृक्ष मे समानता का वर्णन किया गया है। अतः निदर्शना अलकार है।

९. काव्यलिंग—जहाँ समर्थन के योग्य कथितार्थ का ज्ञापक कारण के द्वारा समर्थन किया जाये, वहाँ काव्यलिंग अलकार होता है। यथा—

"कबीर माया पापड़ी, लालै लाया लोग।
पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग॥"

यहाँ पर संसार की माया को वेश्या के समान बताया गया है। जिस प्रकार वेश्या पर किसी एक का पूर्ण आधिपत्य नही होता, उसी प्रकार इस माया पर भी किसी का पूर्ण अधिकार नही है और इसीलिए इसका कोई पूर्णतया भोग नही कर सका है। यहाँ सासारिक माया का वेश्या के द्वारा समर्थन किया गया है, अत काव्यलिंग अलकार है।

१०. अतिशयोक्ति—जहाँ प्रस्तुत फी अत्यत प्रशसा के लिए अतिशय अर्थात् लोक-सीमा का उल्लघन करके कोई बात कही गई हो, वहाँ अतिशयोक्ति अलकार होता है। इसके सात भेद है—रूपकातिशयोक्ति भेदकातिशयोक्ति, सम्वन्धातिशयोक्ति, असम्बन्धातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति और अत्यंतातिशयोक्ति। जिसमे उपमेय के बिना केवल उपमान का उपमेय से अभेद बतलाया जाये, अर्थात् उपमान के कथन द्वारा ही उपमेय का बोध कराया जाये, वहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है। जिसमें वास्तविक अभिन्न उपमेय को भिन्न कहा जाये, वहाँ भेदकातिशयोक्ति अलंकार होता है। जहाँ असम्बन्ध में सम्वन्ध की अर्थात् अयोग्य मे योग्यता बतलाई जाये, वहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार होता है और इसके विपरीत जहाँ सम्वन्ध में असम्बन्ध का वर्णन किया जाये, वहाँ असम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार होता है। जिसमे कारण और कार्य का पौर्वापर्य क्रम के बिना एक ही साथ हो जाना कहा जाये, वहाँ अक्रमातिशयोक्ति अलंकार होता है। जिसमे कारण के ज्ञान अर्थात् देखने-सुनने मात्र से ही तत्क्षण कार्य होने का वर्णन हो, वहाँ चपलातिशयोक्ति अलकार होता है। जहाँ कारण के घटित होने से पूर्व ही कार्य हो जाये, वहाँ अत्यंतातिशयोक्ति अलकार होता है।

कबीर-काव्य मे से हम केवल रूपकातिशयोक्ति और भेदकातिशयोवित का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे है।

"बुगली नीर बटालिया, सायर चढ्या कलंक।
और पँखेरू पी गये, हंस न बोवै चंच॥"

यहाँ पर रूपकातिशयोक्ति अलकार है। और—

"कबीर किया कछू न होत हैं, अनकीया सब होइ।
जे किया कछु होत है, तौ करता औरै कोइ॥"

यहाँ पर भेदकातिशयोवित अलंकार है।

११ तद्गुण—जहाँ किसी वस्तु का अपना गुण त्याग कर अन्य समीपस्थ वस्तु का गुण ग्रहण किये जाने का वर्णन हो, वहाँ तद्गुण अलंकार होता है। यथा—

"कबीर चंदन का बिड़ा, बैठ्या आक पलास।
आप सरीखे कर लिए, जे होते उन पास॥"

यहाँ पर आक और पलास मे चन्दन के गुण आ जाने का वर्णन है। अत तद्गुण अलंकार है।

१२. अर्थान्तरन्यास—जहाँ प्रस्तुत अर्थ का अप्रस्तुत अर्थान्तर (अन्यार्थ) के न्यास (स्थापन) से समर्थन किया जाये, वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है। यथा—

"संत न छाड़ै सन्तई, जे कोटिक मिलै असन्त।
चंदन भुजंगा वैठिया, तउ सीतलता न तजन्त।"

यहाँ सन्तो का साधुत्व न छोडने का अर्थ प्रस्तुत है, जिसका समर्थन सर्प के रहते हुए भी चन्दन का शीतलता न छोड़ने मे किया गया है। अत. यहाँ अर्थान्तर-न्यास अलकार है।

मिश्रित अलंकार

कबीर-काव्य मे मिश्रित अलकारों के प्रयोग के भी उदाहरण प्रचुरता से मिल जाते है। हम यहाँ पर केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

"अबधू ग्यांन लहरि धुनि मांडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता, इहि विधि त्रिष्णां षांडी ॥टेक॥
वन कै ससै समंद घर कीया, मंछा बसै पहाड़ी।
सुइ पीवै ब्राँह्मण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी॥
षाड बुणै कोली मैं बैठी, मैं खूंटा मै गाड़ी।
तांणै वाणै पड़ी अनंबासी, सूत कहै बुणि गाढी॥
कहै कबीर सुनहु रे सन्तौ, अगम ग्यान पद मांही।
गुरु प्रसाद सूई कै नांकै, हस्ती आवै जाँही॥"

इस पद मे विभावना, रूपक, अन्योक्ति, अनुप्रास आदि अलकारो का सम्मिश्रण है।

निष्कर्ष

इस विवेचन के उपरात यह कहा जा सकता है कि यद्यपि किसी काव्यशास्त्रीय पडित की भाँति अपने काव्य मे अलकारो की योजना करना कबीर का ध्येय नही था, तथापि उनके काव्य मे स्वाभाविक रूप से जो योजना हो गई है, वह अत्यत सफल एवं प्रभावोत्पादक हैं। कबीर के अलकार भावो को सशक्त करते है, उन्हे प्रभावशाली बनाते हैं। भावो की हत्या इन्होने कही भी नही की। वास्तव मे जब आवेग मे आकर भावधारा फूटती है, तब उसमे ऐसे अलंकार स्वत. आ जाते है, जैसे कबीर के काव्य मे प्राप्त होते हैं।

: ११ :

कबीर की भाषा

भाषा भावों को प्रकट करने का साधन है। यदि भाव साध्य है तो भाषा साधन है। साध्य की उपयुक्तता तभी सभव है, जब साधन भी उसके अनुरूप हो। इसी प्रकार भावो की गरिमा तभी प्रकट हो सकती है, जब उस गरिमा को वहन करने की पूर्ण शक्ति भाषा मे हो। अन्यथा भाव चाहे जितने उदात्त हो, यदि उनके अनुरूप भाषा का प्रयोग नही है तो भावो के औदात्य को अत्यधिक क्षति पहुचती है, वरन् यह कहना भी अनुचित न होगा कि वह औदात्य नष्टप्राय हो जाता है। इसीलिए भावो के अनुरूप ही भाषा-प्रयोग नितात अनिवार्य है।

कबीर की भाषा के विषय मे विद्वानो मे बहुत अधिक मतभेद है। इन विद्वानो मे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० सरनामसिंह आदि के मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की भाषा को भावानुरूपिणी माना है जो भाषा का सर्वोत्तम गुण होता है। इनका मत है—

'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होने जिस रूप मे प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप मे भाषा से कहलवा लिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे नही तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमे मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड की किसी फरमाइश को नाही कर सके और अकथ कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा मे है, वैसी बहुत कम लेखको मे पाई जाती है।'

इसके विपरीत, डॉ० रामकुमार वर्मा को कबीर की भाषा मे कोई विशेषता नही दिखाई देती—

'कबीर की भाषा बहुत अपरिष्कृत है, उसमे कोई विशेष सौन्दर्य नही है।'

डॉ० सरनामसिंह का मत है—

'उस समय के रवैये को देखकर यही कहा जा सकता है कि अपभ्रंश ने अपना दायित्व लोक-भाषाओ को सौप दिया था जिनमे से किसी मे भी अपने शुद्ध रूप और स्वतन्त्र व्यक्तित्व की झलक नही मिलती। जिस प्रकार गुजराती और राजस्थानी मे

उस समय बहुत साम्य था, उसी प्रकार राजस्थानी, ब्रजभाषा या गुजराती मे भी बहुत साम्य था। यद्यपि लोक-भावनाओ की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी, किन्तु उनके बीच मे कोई विभाजक रेखा खीचना सभव नही था। इस साम्य के कारण एक भाषा भाषी दूसरे स्थानो की भाषा सरलता से बोल सकता था।'

इसीलिए इन्होने कबीर की भाषा को 'राह दिखाने वाली' माना है—

'कबीर की भाषा को सध्या भाषा से सम्बन्धित कदापि नहीं किया जा सकता, क्योकि सध्या-भाषा के प्रवर्तको का जो लक्ष्य था, उससे कबीर का लक्ष्य सर्वथा भिन्न था। जबकि पहले लोग भोली जनता को भ्राति मे डालना चाहते थे, कबीर उसे शांति के पथ पर ले जाना चाहते थे। सिद्धों की भाषा गुमराह करने वाली थी और कबीर की भाषा राह दिखाने वाली थी।'

उपर्युक्त मतो मे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० सरनामसिंह कबीर की भाषा को सक्षम मानते है और डॉ० रामकुमार वर्मा अक्षम। अतः देखना यह है कि इन मतो मे कौन-सा मत ठीक है, अर्थात् कबीर की भाषा भाषा-गुणो से सम्पन्न है अथवा विहीन। कबीर की भाषा का सम्यक् अध्ययन करने के लिए इस अध्ययन को निम्नलिखित शीर्षको मे विभाजित किया जा सकता है—

१. भाव और भाषा, २. भाषा का स्वरूप।

भाव और भाषा

कबीर के काव्य के भावपक्ष अथवा वर्ण्य विषय के दो रूप है—रहस्यवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति और सामाजिक आडम्बरो का विरोध।

रहस्यवाद भारतीय दर्शन की प्रमुखतम विशेषता है। रहस्यवाद का जितना सूक्ष्म और व्यापक विश्लेषण भारत मे हुआ है, उतना अन्य किसी देश मे नही हुआ। कबीर के रहस्यवाद के निम्नलिखित तत्व हैं—

१. ब्रह्म का स्वरूप, २. आत्मा का स्वरूप, ३. माया का स्वरूप, ४. संसार का स्वरूप, ५ जीवन का स्वरूप।

१. ब्रह्म का स्वरूप—यद्यपि भारतीय दर्शन में ब्रह्म के स्वरूप का अत्यन्त गभीरता एव व्यापकता से विश्लेषण किया गया है, किन्तु दर्शनकारो को, अन्त में अपने विश्लेषण से पूर्ण परितोष प्राप्त नही हो सका। इसीलिए उसके स्वरूप का बहुमुखी विश्लेषण करने के पश्चात् भी उसे 'नेति नेति' कहना पड़ा। कबीर मे अपने विश्लेषण के प्रति ऐसा गहन अविश्वास कही भी प्रकट नही होता, बल्कि दार्शनिक शब्दावली की गूढताओ को छोडकर उन्होंने बहुत ही सीधे-साधे और सुबोध शब्दो मे ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण कर दिया है। ब्रह्म के निराकारत्व की अभिव्यक्ति कबीर इन शब्दो मे करते है—

"जाके मुँह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप।
पहुप बास थैं पतला, ऐसा तत अनूप॥"

वह ब्रह्म ऐसा अनूप तत्व है जिसके न मुंह है, न माथा है और न कोई जिसका रूप है। जो पुष्प-गंधि से भी पतला है। यह निरूपण अत्यत सुबोध है। इसी प्रकार ब्रह्म की सर्वव्यापकता और एकत्व का वर्णन कबीर इन शब्दो मे करते है—

"रहै निराला मांड थैं, सकल मांड ता मांहि।
कबीर सेवै तास कूं, दूजा कोई नांहि॥"

अर्थात् समस्त ससार उस प्रभु मे समाया हुआ है तो भी वह सासारिक माया-मोह से सर्वथा निर्लेप रहता है। कबीर ऐसे ही अनुपम प्रभ की भक्ति करता है, वे ही उसके एकमात्र आश्रय है।

२. आत्मा का स्वरूप—भारतीय दर्शनो मे आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण दो दृष्टियो से किया गया है—द्वैतवादी दृष्टिकोण से और अद्वैतवादी दृष्टिकोण से। द्वैतवादी दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा और परमात्मा दो भिन्न-भिन्न सत्ताएं है और अद्वैतवादी दृष्टिकोण से आत्मा और परमात्मा अभिन्न है, केवल काया के आवरण के कारण ही ये भिन्न भासित होते है। जब यह काया का आवरण नष्ट हो जाता है तो आत्मा फिर अपने उसी स्वरूप मे जा मिलती है जिसका वह एक अश है। इस वाद के अनुसार आत्मा और परमात्मा मे अशाशी सम्बन्ध है। कबीर अद्वैतवादी है, अतः आत्मा का विवेचन उन्होने इन शब्दो मे किया है—

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है,
बाहिर भीतरि पानी।
फूट्यौ कुम्भ जल जलंहि समाना,
यह तत कथ्यौ गियानी॥"

इन पंक्तियो मे कबीर ने बताया है कि जिस प्रकार जल से परिपूर्ण घडा पानी के भीतर रहता है, वैसी ही स्थिति काया के आवरण से बद्ध आत्मा की भी है और जिस प्रकार घडे के फूट जाने पर घड़े की सीमाओ से आबद्ध पानी फिर बाहर के पानी (सागर) मे मिलकर एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार काया का आवरण हट जाने पर आत्मा पुन. परम ब्रह्म मे लीन होकर तादात्म्य हो जाती है। दर्शनशास्त्र के इतने गूढ़ सिद्धांत की इतनी सरल अभिव्यक्ति कबीर की भाषा की वस्तुतः विलक्षण विशेषता है।

३. माया का स्वरूप—आत्मा और परमात्मा के बीच व्यवधान डालने वाले जो तत्व है, उन्हे माया कहते है। इसीलिए दर्शन में ब्रह्म को सत्य और माया को मिथ्या बताया गया है। कबीर ने माया के मिथ्यात्व की अनेक प्रकार से व्यजना की है। यथा—

"कबीर माया पापणी, हरि सूं करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम॥"

माया के मिथ्यात्व और बाधकत्व को अत्यत सबल शब्दो मे व्यक्त किया गया है। 'हरि सू करै हराम' शब्दो मे जो प्रभावोत्पादक व्यजना है, वह 'हरि से विमुख

करने में कदापि नही है। इसी प्रकार माया की अनतता इन शब्दो मे प्रकट की है—

"माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया शरीर।
आसा त्रिष्णां नां मुई, यौं कहि गया कबीर॥"

इस प्रकार कबीर ने माया के विविध रूपो का अत्यंत सरल भापा मे अत्यत प्रभावशाली रीति से वर्णन किया है।

४ संसार का स्वरूप—ससार नश्वर है, क्षणभगुर है, इस वात को सभी दर्शकों ने स्वीकार किया है। कबीर ने अनेक स्थलो पर समार की नश्वरता का वर्णन किया है। यथा—

"साती सबद जहाँ बाजते, होत छतीसों राग।
ते मंदिर खाली पड़े, बैसण लागे काग।"

इस दोहे मे ससार की नश्वरता का जो वर्णन है, वह एकदम मर्मस्पर्शी है और इसे जनसाधारण वहुत अच्छी तरप समझ सकता है, क्योकि उन्ही की भापा में यह वात वताई गई है। 'बैसण लागे काग' तो इस दोहे के भाव का चरम विन्दु ही समझना चाहिए और—

"यहु ऐसा संसार है, जो सेंभर का फूल।
दिन दस के ब्यौहार में, झूठे रंग न भूल॥"

सेभर के फूल का ज्ञान सभी साधारण जनो को होता है, विशेपतः जो ग्रामीण वातावरण मे प्रकृति की गोद मे रहते है। ये ही लोग कबीर के श्रोता थे। अत. सेंभर के फूल द्वारा कबीर आसानी से सभी श्रोताओ के दिलो पर ससार की निस्सारता अकित कर देते है।

५. जीवन का स्वरूप—ससार की भाँति दार्शनिको ने जीवन को भी निस्सार और क्षणभगुर माना है। कबीर ने जीवन की निस्सारता और क्षणभगुरता का वर्णन उन्ही वस्तुओ के माध्यम से किया है जो सर्व साधारण से ग्राह्य हैं। यथा—

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जाति।
देखत ही छिप जायेगा, ज्यौं तारा प्रभाति॥"

पानी के बुलबुले और तारे सभी व्यक्तियों को ज्ञात है। इन्ही दो प्रतीको के द्वारा कबीर ने जीवन की नश्वरता एव क्षणभगुरता अत्यन्त प्रभावक रीति से एवं सुवोध ढग से व्यक्त की है। इसी प्रकार माली और कलियो के द्वारा यह वर्णन भी सुवोध और प्रभावोत्पादक है—

"माली आवत देखि करि, कलियन करी पुकार।
फूले फूले चुन लिये, कालिह हमारी बार॥"

उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि कबीर की भाषा मे रहस्यवादी मतो को भी अत्यन्त सुवोध और प्रभावशाली रीति से व्यक्त करने की क्षमता है। यह क्षमता उसी कवि के काव्य मे हो सकती है जिसे भावो और शब्द-प्रयोगों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो। अतः यह कहने मे हमे तनिक भी संकोच नही है कि कबीर-काव्य

मे भाव और भाषा का अद्भुत सम्मिश्रण है; अर्थात् कबीर की भाषा सर्वत्र भावो को पूर्णतया व्यक्त करने मे सफल रही है।

जिस प्रकार कबीर रहस्यवादी मतो को सुबोध और प्रभावशाली रीति से व्यक्त करने मे सफल हुए है, उसी प्रकार समाज के आडम्बरो का विरोध करने में भी सफल रहे हैं। यथा—

"कर में तो माला फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुवा तो चहुदिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाँहि॥"

इसी प्रकार का एक और उदाहरण प्रस्तुत है—

"कांकर पाथर जोरि कै, मसजिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरी भयो खुदाय॥"

भाषा का स्वरूप

भाषा केवल शब्दो का ही समूह नही है, वरन् इसमे प्रभाव उत्पन्न करने वाली दूसरी और भी अनेक शक्तियाँ हैं, जैसे—शब्द, अलंकार, छंद, गुण मुहावरे आदि। फलतः कबीर के भाषा के स्वरूप के अध्ययन को निम्नलिखित शीर्षको मे विभाजित किया जा सकता है—

१. शब्द-प्रयोग २ अलकार-योजना ३. छद-योजना ४. भाष के गुण ५ मुहावरे और लोकोक्तियाँ ६. कवि-समय

१. शब्द-प्रयोग—यद्यपि भाषा शब्दो से बनती है, किन्तु शब्द की वास्तविक महत्ता उसके अर्थ पर निर्भर है, अतः किसी कवि का शब्द-प्रयोग जितना अच्छा होगा, उसकी भाषा मे उतनी ही अधिक अभिव्यजना-शक्ति होगी, और उतना ही अधिक प्रभाव होगा।

शब्द चार प्रकार के होते है—तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी। सस्कृत के शब्दो को, हिन्दी मे ज्यों का त्यों जिनका प्रयोग किया जाता है, तत्सम शब्द कहते है, जैसे अग्नि, दुग्ध आदि। तद्भव शब्द उन्हें कहते हैं जिनका रूप बिगड जाता के, जैसे आग, दूध आदि। बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों को देशज कहते है, जैसे माटी, रूंदना आदि। हिन्दी-साहित्य में भारतीय भाषाओं को छोड़कर अन्य सब भाषाए फारसी, अरबी आदि—विदेशी मानी गई हैं।

कबीर-काव्य मे तत्सम शब्दो का प्रयोग बहुलता से मिलता है, यद्यपि कबीर का इन शब्दो के प्रयोग की ओर विशेष आग्रह नही था, क्योंकि वे साहित्य के कवि नही, जनसाधारण के कवि थे। तत्सम शब्दों से युक्त कबीर-काव्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत है :

१. सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार॥

२. गगन गरजि अमृत चवै, कदली कवल प्रकास ।
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास ॥

इन दोनो मे महिमा अनत्त, लोचन, गगन, अमृत, कदली, निज शब्द तत्सम है ।

तद्भव शब्दों का प्रयोग कवीर-काव्य मे अपेक्षाकृत अधिक हुआ है । इसका कारण एक तो यह है कि कवीर स्वयं उन व्यक्तियो मे से है जिन्हे कभी भी मसि और कागद छूने का अवसर नही मिला । दूसरा कारण यह है कि कवीर का श्रोता साधारण वर्ग का था । अत. स्वभाविक रूप से भी और लक्ष्य की दृष्टि से भी कवीर-काव्य मे तद्भव शब्दो के प्रयोग की अधिकता होना स्वभाविक ही है । यथा—

१ नांव न जांणौं गाँव का, मारगि लागा जांउं ।
कालिह जु काटां भाजिसी, पहिली क्यूं न खड़ांउं ॥

२ कबीर यहु जग अंधला, जैसी अंधी गाइ ।
बछा था सो मरि गया, ऊभी चाम चटाइ ॥

इन दोनो मे पाव, गाव, मारगि, अधला, गाइ, वधा, चाम शब्द तदभव है ।
कही-कही कबीर ने शब्दो को इतना विकृत कर दिया है कि उनके मूल रूप तक पहुंचना असान नहीं रह जाता । जैसे बेसास, इसका मूल रूप विश्वास है ।

३. देशज—कबीर की भाषा मे देशज शब्दो का भी प्रयोग भी बहुलता से मिलता है । इसके दो कारण है : पहला कारण है कबीर का पर्यटनशील स्वभाव और दूसरा है साधारण जनता को उपदेश देना । अतः उन्हे देशज शब्दों का ग्रहण पर्याप्त संख्या मे करना पड़ा है । यथा—

"माटी कहै कुम्हार सूँ, तू क्यौ रूँदै मोय ।
इक दिन ऐसा आयगा, मै रूँदूँगी तोय ।"

इस दोहे मे माटी, सूँ, रूँदै, मोय, आपण, तोय देशज शब्द है । इस प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त कबीर-काव्य में भारत के अन्य प्रान्तों के विशेषतः राजस्थान और पंजाव के शब्द भी मिलते है । यथा—

"चोट सतांणी बिरह की, सब तन जर जर होय ।
मारणहारा जानि है, कै जिहि लागी सोय ॥"

इस दोहे में कबीर की वाणी पर पजावीपन की छाप स्पष्ट है । कही-कहीं उन्होने पंजावी मुहावरों का भी प्रयोग किया है । यथा—

"मन लागा उनमन सों, उनमन मनहि बिलग्ग ।
लूण बिलग्गा पाणियाँ, पाणी लूण बिलग्ग ॥"

४. विदेशी—कबीर-काव्य मे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के कारण फारसी और अरबी शब्दो का प्रयोग भी काफी हुआ है। कही-कही तो पूरी की पूरी शब्दावली फारसी और अरबी के शब्दों से बनी हुई है यथा—

"खालिक हरि कही दरहाल।
पंजर जसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल॥
भिस्त हुस्को दोजगां, दुंदर दराज दिवाल।
पहनायें परदा ईत आतस, जहर जंगया जाल॥"

इन विभिन्न प्रकार के शब्द-प्रयोगो से कबीर की भाषा को चाहे 'खिचड़ी भाषा' कह लिया जाये, किन्तु इसकी अभिव्यंजना-शक्ति को इन शब्द-प्रयोगो से बहुत शक्ति मिली है, इसमे बिल्कुल सन्देह नही है।

२. अलंकार योजना—संस्कृत मे 'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गई है—अलंकरोतीति अलकार, और अलंक्रियतेऽनेनेति अलंकारः अर्थात् जो अलंकृत करे अथवा जिससे अलकृत किया जाये, उसे अलंकार कहते हैं। काव्य में अलंकार का स्थान निर्धारित करने मे इन व्युत्पत्तियों में चाहे जो अन्तर हो, किन्तु अलंकार का कर्म अलंकृत करना है, यह दोनों ही व्यूत्पत्तियाँ स्वीकार करती हैं। काव्य में अलंकारो का प्रयोग केवल अलकृत करने के लिए ही नही किया जाता, वरन् भावों को और अधिक सुस्पष्ट और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए भी किया जाता है।

अलंकारो को मुख्यतया तीन वर्गो में विभाजित किया गया है—

शब्दालंकार, अर्थालंकार और मिश्रित अलंकार। जहाँ अलंकारत्व शब्द पर निर्भर रहता है, वहाँ शब्दालंकार और जहाँ अर्थ पर निर्भर रहता है, वहाँ अर्थालंकार होता है। जहाँ वह शब्द और अर्थ दोनो पर आधारित रहता है; अर्थात् जहाँ एक ही स्थान पर शब्दालंकार और अर्थालंकारों का प्रयोग होता है, और वहाँ उन दोनों की स्थितियाँ स्पष्ट होती है, वहाँ मिश्रित अलंकार होता है।

कबीर-काव्य मे तीनो प्रकार के ही अलंकारों के प्रयोग मिलते है। यथा—

"सतगुर सवाँन को सगा, सोधी सईं न दाति।
हरि जी सवाँन को हितू, हरिजन सईं न जाति॥"

इस दोहे में अनुप्रास और यमक शब्दालंकारो का प्रयोग है। और—

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जाति।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभाति॥"

इस दोहे मे उपमा और दृष्टात अर्थालकारो का प्रयोग है।

इस प्रकार कबीर-काव्य मे असख्य उदाहरण उद्धृत किये जा सकते है। वस्तुत. कबीर ने अलकारो का प्रयोग जान-बूझकर नही किया है। वे तो उनकी वाणी के आवेग मे स्वत. ही उस प्रकार बिखर गये है जिस प्रकार सागर-तरगो की थिरकनो से रत्न राशि बिखर जाती है। इसीलिए कबीर के अलकार सर्वत्र उनकी अभिव्यजना को सबल, सुस्पष्ट और प्रभावोत्पादक बना देने वाले है।

३. छद—कबीर ने दोहा छद का प्रयोग अधिकाशत. किया है और इस छद के प्रयोग मे वे इतने सफल हुए है कि जो बात, गागर मे सागर भरने की, बिहारी के विषय मे कही जाती है, वही यदि कबीर के विषय मे कही जाये तो अनुचित न होगा। कबीर का एक-एक दोहा अपने मे भाव-सागर को समाहित किये हुए है। यथा—

"चदन की कुटकी भली, ना बबूर की अबराउँ।
बैस्नो की छपरी भली, नां सापत का बड़गांउँ॥"

इस दोहे मे अनेक भावो का सम्मिश्रण है।

दोहा छद के अतिरिक्त कबीर ने अपने पदों मे गौड़ी, रामकली, आसावरी, कदारौ, कास, टोडी, भैस, बिलावल, ललित, बसत, कल्याण, मारग, मलार और धनाश्री आदि रागो का प्रयोग भी सफलतापूर्वक किया है।

४. भाषा के गुण—भाषा के तीन गुण माने गये है—माधुर्य, ओज और प्रसाद। कबीर की भाषा मे ओज-गुण की अपेक्षाकृत कमी है, किन्तु माधुर्य और प्रसाद का बाहुल्य मिलता है।

जिन रचनाओं मे कबीर ने उपदेशात्मक प्रवृत्ति को प्रधानता दी है, या जिनमे सुधारात्मक पक्ष प्रधान है, उनमे प्रसाद गुण की अधिकता है। प्रसाद-गुण सम्पन्न रचनाएँ अत्यन्त सुबोध, स्पष्ट और प्रभावोत्पादक है यथा—

"यह तन काचा कुम्भ है, लिया फिरै था साथि।
ढबका लागि फूट गया, कछू न आया हाथि॥"

यहाँ पर सागरूपक अलकार है। इसमे कच्चे घड़े और शरीर मे अभेद आरोप का आरोपण किया गया है। यहाँ प्रसाद गुण है।

कबीर के रहस्यवादी, सयोग और वियोग के वर्णनो मे मुख्यतया माधुर्य गुण का प्रयोग पाया जाता है। यथा—

"बहुत दिनन की जोवती, बाट तिहारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन को, मनि नाही विश्राम॥"

यहाँ पर माधुर्य गुण है।

५. मुहावरे और लोकोक्तियाँ—मुहावरे और लोकोक्तियो के प्रयोग से भाषा मे अपूर्व शक्ति आती है, इसलिए कोई भी कवि मुहावरे और लोकोक्तियो के प्रयोग

से बच नही सकता। कबीर ने भी यथावसर मुहावरे और लोकोक्तियों का समुचित प्रयोग किया है। यथा—

"पाँव कुल्हाडी मारिया, मूरख अपने हाथ।"

यहाँ पर अपने ही हाथ से अपने पैर पर कुल्हाडी मारने का मुहावरा प्रभावोत्पादक रीति से प्रयुक्त हुआ है। और—

"आछे दिन पाछे गये, हरि सै किया न हेत।
अब पछताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत॥"

इसमे द्वितीय पक्ति मे प्रयुक्त लोकोक्ति तो वहुत ही प्रसिद्ध है।

६ कवि-समय—कबीर की भाषा मे एक सिद्धहस्त कवि की भाँति काव्य-परम्पराओ के साथ-साथ कवि-समयो का भी उचित प्रयोग मिलता है। हस के नीर-क्षीर-विवेक की बात काव्य-परम्परा से प्रसिद्ध है। कबीर ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

"हंसा बकि एक रंग लखि, चरै एक ही ताल।
छीर नीर वे जानिए, बक उघरै तेहि काल॥"

चातक का घन के प्रति अनन्य भाव भी कवि-परम्परा से ही प्रसिद्ध है। कबीर ने इस परम्परा का उल्लेख इन शब्दो मे किया है—

"चातक सुतहि पढ़ावही, आन नीर मत लेह।
मम कुल यही स्वभाव है, स्वांति बूंद चित देह॥"

कबीर की भाषा पर संस्कृत-विचार-परम्परा का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। सस्कृत के इस श्लोक का—

"पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः,
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
नादन्ति शस्यं खलु वारिवाहाः,
परोपकाराय सतां विभूतयः॥"

भाव कबीर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"बृच्छ कबहूँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर॥"

और इस श्लोक का—

"असित गिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥"

भाव इस प्रकार प्रकट किया गया है--

"सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराइ।
सात समुंद की मसि करूँ, गुरु गुण लिखा न जाइ॥"

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की भाषा में वे सभी गुण मिलते हैं जो एक सबल और समृद्ध भाषा के लिए अपेक्षित हैं। अतः केवल इस आधार पर कि कबीर अशिक्षित थे, उनकी भाषा की अवहेलना करना, उसे असंस्कृत और अपरिष्कृत तथा खिचड़ी बताना उचित नहीं है। वस्तुतः कबीर की भाषा किसी भी समर्थ और महाकवि की भाषा का मुकाबला कर सकती है। इसलिए यह कहना कि 'कबीर वाणी के डिक्टेटर थे' अनुचित नहीं है।

साखी भाग
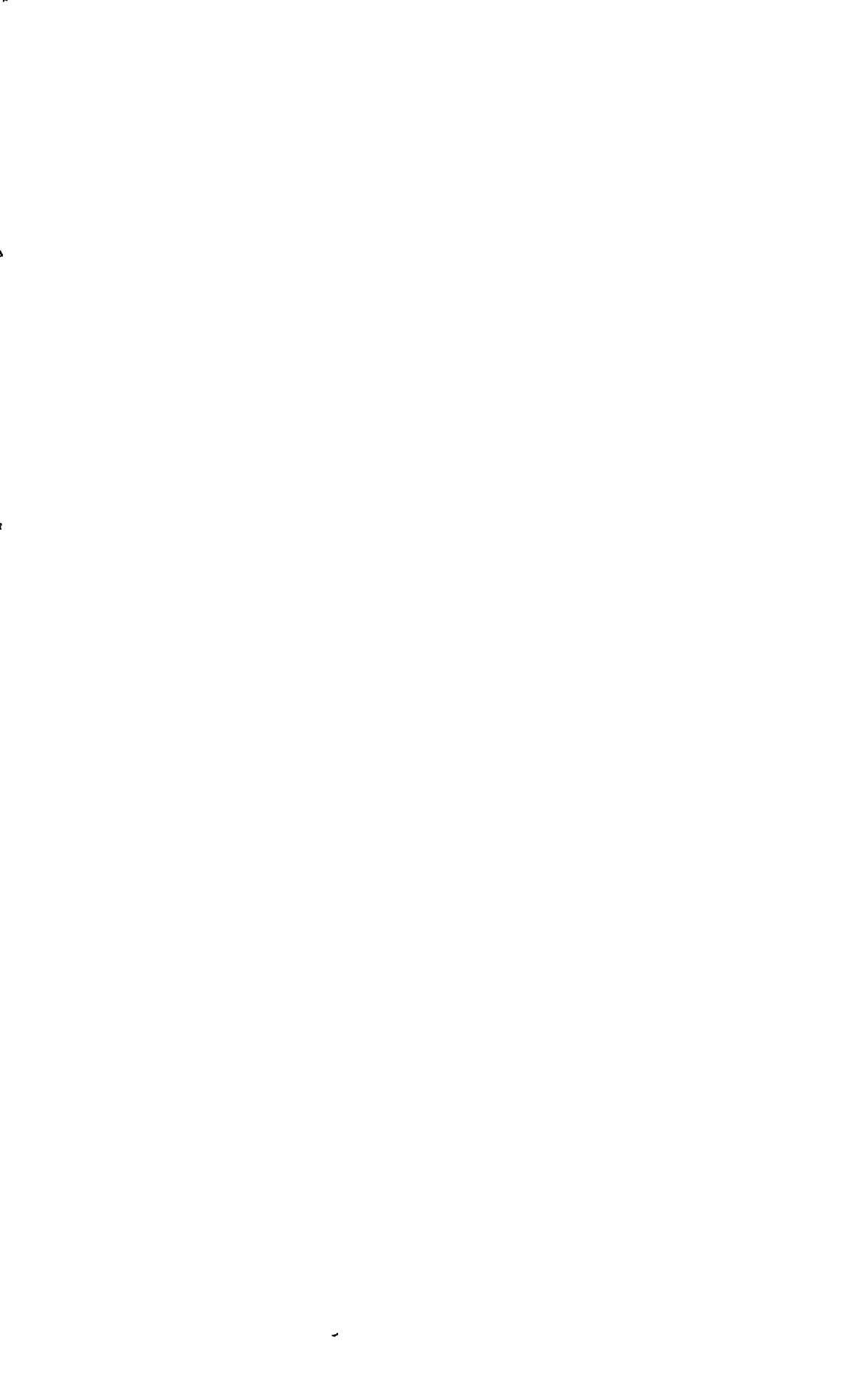
१. गुरुदेव कौ अंग

अंग-परिचय—भारतीय सन्त-परम्परा मे और विशेषत: निर्गुण सन्तो की परम्परा मे गुरु को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। इस अग मे कबीर ने भी गुरु की महत्ता का वर्णन किया है। उन्होने बताया है कि इस ससार मे गुरु के समान कोई हितैषी और अपना सगा नही है, इसलिए मैं अपना तन-मन और सर्वस्व गुरु के प्रति समर्पण करता हूं जो क्षणभर मे ही अपनी कृपा से मनुष्य को देवता बनाने मे समर्थ है। गुरु की महिमा अनत है और और इसे वही समझ सकता है जिसके ज्ञान-चक्षु खुल गये हो। गुरु की कृपा जिस व्यक्ति पर होती है, कलियुग का प्रभाव भी उसका कुछ नही बिगड सकता, अर्थात् उस पर पापो और दुष्कर्मो का कोई प्रभाव नही हो सकता। गुरु ही अपने शिष्य के अन्तर की ज्योति को प्रज्वलित करने में समर्थ है, वही सच्चा शूरवीर है गुरु का उपदेश कानो मे पडते ही शिष्य समस्त प्रकार के सासारिक बन्धनो से मुक्त हो जाता है। ऐसा गुरु भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होता है। किन्तु दुर्भाग्यवशात् जिस व्यक्ति को विद्वान् गुरु प्राप्त नही होता, उस शिष्य की कभी मुक्ति नही हो सकती, बल्कि वह तो अपने साथ अपने शिष्य को भी लेकर डूब जाता है। गुरु की वाणी ही उस सशय को नष्ट करने में समर्थ है, जो समस्त ससार को अपने कठोर पाश मे आबद्ध किये हुए है। किन्तु केवल गुरु का मिलना ही मुक्ति के लिए पर्याप्त नही है, बल्कि शिष्य के शुद्ध अन्त करण की भी उतनी ही आवश्यकता है, क्योकि यदि शिष्य के हृदय में किसी प्रकार का विकार है, तो गुरु की कृपा से उसे कोई विशेष लाभ नही होगा। अपनी इसी महत्ता के कारण गुरु का स्थान भगवान् के स्थान के समान है, अर्थात् गुरु और गोविन्द दोनो एक ही है। जिन लोगों को गुरु की प्राप्ति नही होती, तो चाहे जितनी तप और साधना करे किन्तु उनका कोई फल नही होता। सर्व प्रकार से समर्थ गुरु से ही परिचय हो जाने पर समस्त सासारिक और मानसिक दुख नष्ट हो जाते है और आत्मा निर्मल होकर होकर प्रभु-भक्ति मे तल्लीन हो जाती है। अत: गुरु की महिमा अनत और अवर्णनीय है।

सतगुर सवाँन को सगा, सोधी सईं न दाति।
हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सईं न जाति ॥१॥

शब्दार्थ—सवाँन = समान, सोधी = तत्वशोधक अर्थात साधु। सईं = समान। दाति = दाता। हरिजन = प्रभु-भक्त।

(इस संसार मे) सद्गुरु के समान अपना कोई निकट सम्वन्धी नही है। तत्वशोधन वा प्रभु की खोज करनेवाले साधु के समान कोई दाता नही क्योंकि वह अपना समस्त ज्ञानार्णव शिष्य मे उडेल देता है। दयालु प्रभु तुल्य अपना कोई हितैषी नही है और प्रभुभक्तो के समान कोई जाति नही है। अर्थात् प्रभु-भक्त सब मनुष्यो मे श्रेष्ठ है।

विशेष—अनन्वयोपमा, अनुप्रास एवं यमक अलकार।

बलिहारी गुरु आपणं, द्यौं हाड़ी कै बार।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी वार ॥२॥

शब्दार्थ—आपणैं=अपने, हाडी=शरीर (अस्थिचर्ममय)।

मै शरीर को अपने गुरु के ऊपर वार न्यौछावर करूं, मै उनकी वलि वलि जाता हू, जिन्होने अत्यन्त अल्प समय मे मुझे मनुष्य से देवता वना दिया अर्थात् मेरी मानवीय दुर्वलताओ को नष्ट कर मुझे दिव्यगुण युक्त कर दिया।

विशेष – कवीर के समान अन्य भक्तिकालीन कवियो ने भी गुरुमहिमा पर वल दिया है, तुलना कीजिये—

"वन्दौ गुरु पद कज, कृपासिधु नररूप हरि।
महामोह तम पु ज, जासु वचन रविकर निकर ॥"—तुलसी

सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार ॥३॥

शब्दार्थ—अनंत=अनन्त। लोचन अनंत=ज्ञान चक्षु, प्रज्ञा-चक्षु। अनंत=ब्रह्म।

सद्गुरु की महिमा अपरम्पार है, उन्होने मेरे साथ महान् उपकार किया है। उन्होने मेरे (चर्मचक्षुओ के स्थान पर) ज्ञान-चक्षु खोल दिये, दिव्य-दृष्टि प्रदान कर दी जिसके द्वारा उस अनन्त ब्रह्म के दर्शन हो गये।

विशेष—१ यमक अलकार।
२ तुलना कीजिए।—
"श्री गुरु पद नख मणिगण जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥"
—'रामचरित मानस'

राम नाम कै पटंतरै, देबे को कुछ नांहि।
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन मांहि ॥४॥

शब्दार्थ—पटतरै=बदले मे। सतोपिए=सतुष्ट करूँ। हौस=प्रवल अभिलापा।

गुरु ने राम-नाम का जो अमूल्य मन्त्र दिया है उसके वदले मे देने के लिये मेरे पास कुछ नही है, क्योंकि उस राम-नाम के सम्मुख समस्त वस्तुएँ

तुच्छ और हेय हैं, फिर भला मैं क्या देकर गुरुदेव को सन्तुष्ट करूं—यही प्रवल अभिलाषा मेरे मन मे हुमककर रह जाती है।

सतगुर के सदकै करूं, दिल अपणीं का साछ।
कलियुग हम स्यूं लड़ि पड़्या, मुहकम मेरा बाछ ॥५॥

शब्दार्थ—साछ=साक्षी। बाल=रक्षक।

मैं सद्‌गुरु पर प्राणपण से न्यौछावर हूं एव अपने हृदय को साक्षी करके कहता हूं कि कलिकाल अर्थात् विविध मायामोह के प्रपच मुझसे जूझ रहे है, पापो का और मन का सघर्ष चल रहा है, किन्तु शक्तिसम्पन्न गुरुवर मेरे रक्षक है, अत पाप-पुंज मुझे परास्त नही कर सकते।

विशेष—महाकवि विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' नाटक मे गुरु का महत्व वर्णन इस प्रकार किया है—

"इह विरचयन् साध्वी शिष्य क्रिया न निवार्यते।
त्यजति तु यदा मार्ग मोहात्तदा गुरुरङ्कुश ॥"

(जव तक शिष्य ठीक काम करता है उसे उस काम से नही हटाया जाता जव वह अज्ञान-वश मार्ग को छोड देता है तभी गुरु उसके लिए अकुश-समान हो जाता है, अर्थात् उसे सन्मार्ग मे प्रवृत्त करता है।)

सतगुरु लई कमाँण करि, बांहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या सरीर ॥६॥

शब्दार्थ—कमाण=धनुष। वाहण लागा=वरसाने लगा।

सद्‌गुरु ने हाथ मे धनुष धारण कर लिया एव तीरो की वर्षा करने लगे अर्थात् अध्यवसायपूर्वक, प्रयत्नपूर्वक शिष्य को उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। इन उपदेश वाणो मे एक वाण इस प्रकार प्रेमपूर्वक चलाया जिसने अतर को वेधकर हृदय में घर कर लिया। हृदय तक वाण को पहुचने के लिये मध्य के समस्त अन्धावरण वेधने पडे है, इसीलिए वह हृदय मे जाकर रह गया। यह वाण था प्रेम का।

सतगुर सॉचा सूरिवाँ, सवद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिल गया, पड़्या कलेजे छेक ॥७॥

शब्दार्थ—सूरिवाँ=सूरमा, वीर। वाह्या=मारा। मैं=अहकार, आत्मज्ञान।

सद्‌गुरु सच्चे शूरवीर है। जिस प्रकार रणभूमि मे सूर अपने विरोधी-पक्ष को वाण-वर्षा से परास्त कर देता है, उसी प्रकार उस सद्‌गुरु रूपी शूर ने 'शब्द' (उपदेश) का एक वाण चलाया। उनके लगते ही मेरा मै अर्थात् अह नष्ट हो गया अथवा उसके लगते ही मेरा आत्म-ज्ञान से साक्षात्कार हो गया। उस वाण के लगते ही हृदय मे प्रेम की टेक का छिद्र हो गया। तात्पर्य यह है कि यह प्रेम उस सद्‌गुरु के उपदेश रूपी वाण का ही परिणाम है।

विशेष—सागरूपक अलकार।

सतगुर मार्या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि ।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि ॥८॥

शब्दार्थ—मार्या=मारा । भरि=पूर्ण शक्ति से । दवा=दावाग्नि ।

सद्गुरु ने साधक के ऊपर यह उपदेश-बाण पूर्ण शक्ति से खीचकर एव मूठ को लक्ष्योन्मुख करके सीधी कर मारा जिससे दावाग्नि सी फूट पडी । समस्त वासना, माया आदि जल-जल कर क्षार होने लगे एव साधक शरीर के वस्त्र, माया आदि आवरण, उतार कर फेकने लगा अर्थात् उसका वस्तुस्थिति से साक्षाकार हो गया ।

विशेष—उपमा एव सागरूपक अलकार ।

हँसै न बोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि ।
कहै कबीर भीतरि भिद्या, सतगुर कै हथियारि ॥९॥

शब्दार्थ—उनमनी=योग की उत्पन्न दशा । मेल्ह्या=वृत्तियाँ । भिद्या=घेर दिया ।

योग की उन्मन दशा का वर्णन करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि मन की चचल वृत्तियो को समाप्त कर सद्गुरु के उस उपदेश के (प्रेम के) बाण ने हृदय को वेध दिया । परिणामस्वरूप शिष्य न हसता है और न बोलता है अर्थात् सासारिक हास-विलास तथा राग विराग से असम्पृक्त हो गया है ।

गूंगा हूवा बावला, बहरा हुआ कान ।
पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुर मार्या बाण ॥१०॥

शब्दार्थ—पाऊँ थैं=पैरो से । पगुल=पगु, लगडा ।

सद्गुरु के उपदेश-बाण के लगते ही शिष्य गूगा, पागल कानो से बहरा और पैरो से लगडा हो गया । भाव यह है कि शिष्य वाणी का दुरुपयोग व्यर्थ के वाद-विवाद मे नही करता एवं उसके कान भी प्रेम-भक्ति चर्चा के अतिरिक्त अन्य विपयो के लिए बहरे है एव सासारिक प्रयत्न से विरत होने के कारण लगडा हो गया । इस विशेष स्थिति के कारण ही उसे पागल बताया गया है ।

पीछै लागा जाइ था, लोक वेद के साथि ।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥११॥

शब्दार्थ—दीपक=ज्ञान की ज्योति ।

मैं (शिष्य) लोक एव वेदविहित मार्ग का अधानुकरण करता जा रहा था, किन्तु आगे पथ मे गुरुदेव मिल गये और उन्होने ज्ञान का दीपक मेरे हाथ मे दे दया जिसमे मैं अपना पथ स्वय खोजकर लक्ष्य (ब्रह्म-प्राप्ति) तक पहुच सकू ।

विशेष—सागरूपक एव रूपकातिशयोक्ति अलकार ।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट ।
पूरा किया बिसाहूणां, बहुरि न आँवौं हट्ट ॥१२॥

शब्दार्थ--अघट्ट=कभी घटने न वाली। बिसाहुणा=क्रय विक्रय। हट्ट=बाजार।

सद्गुरु ने प्रेमरूपी तेल से परिपूर्ण एव सर्वदा रहने वाली ज्ञानवर्तिका से युक्त दीपक मुझे प्रदान किया। इसके प्रकाश मे संसाररूपी बाजार मे मैंने कर्मों का समस्त क्रय-विक्रय उपयुक्त रीति से कर लिया। अब मैं पुनः इस बाजार मे नही आऊँगा। अर्थात् इस ज्ञान-ज्योति के द्वारा मै जीवनमुक्त हो जाऊँगा।

विशेष - १. अलंकार--सागरूपक एव रूपकातिशयोक्ति।

२ कबीर के पुनर्जन्म एव आवागमन मे विश्वास का परिचय प्राप्त होता है।

ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ।
जब गोबिन्द कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ ॥१३॥

शब्दार्थ—जिनि=नही। बीसरि=छोडना।

गुरुदेव से भेट होने पर हृदय मे ज्ञान का प्रकाश हो गया। ऐसे ज्ञान स्वरूप गुरु से विमुख नही होना चाहिये। यह प्रभु कृपा का ही फल है कि गुरुवर मुझे मिल गये।

विशेष—सद्गुरु की प्राप्ति के लिए कबीर भगवत्कृपा को आवश्य मानते है।

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटै लूंण।
जाति पांति कुल सब मिटे, नांव धरौगे कूंण ॥१४॥

शब्दार्थ—गुर=गुरु। गरवा=गौरवमय। लूण=नमक। नांव=नाम। कूण=कौन-सा।

कबीर कहते है कि मुझे गौरवमय गुरुदेव के दर्शन हुए, उन्होने अपने ज्ञानस्वरूप में मुझे इसी प्रकार एक कर लिया, अपने मे मिला लिया, जैसे आटे मे नमक मिल जाता है। अर्थात् गुरुदेव से इस प्रकार एक हो जाने पर मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व न रह गया और मेरे स्वतन्त्र व्यक्तित्व के बोधक जाति-पाँति, कुल आदि सब नष्ट हो गये, अब तुम (ससार) मुझे गुरु से पृथक् मानने के लिए किस नाम से पुकारोगे ? भाव यह है कि अब मेरा गुरु के ज्ञानस्वरूप के साथ ऐक्य स्थापित हो गया है।

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पड़न्त ॥१५॥

शब्दार्थ—अधला=अधा, मूर्ख। खरा=पूर्णरूप से। निरध=अध, मूर्ख। कूप=कूआ।

यहाँ कबीरदास जी गुरु की योग्यता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि जिस शिष्य का गुरु भी अन्धा है, अज्ञानी है एव शिष्य भी पूर्ण रूपेण अन्धा, मूढ है, वे दोनों लक्ष्य तक नही पहुच सकेगे। अन्धा अन्धे को, अज्ञानी अज्ञानी को

बिना देखे ही ठेल-ठालकर मार्ग पर बढायेगा तो परिणाम यह होगा कि दोनो ही पतन के कुएँ मे गिर पडेंगे ।

विशेष—यहा शब्दो की अभिव्यजना शक्ति दर्शनीय है ।

ना गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या दाव ।
दून्यूं बूडे धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव ॥१६॥

शब्दार्थ—सिष=शिष्य । बूडे=डूब गये । पाथर=पत्थर, अज्ञान ।

न तो ज्ञानी सद्गुरु ही मिला और न शिष्य वास्तविक परिभाषा मे शिष्य अर्थात् ज्ञानाभिलाषी ही था । दोनो ज्ञान के नाम पर लालच का दाँव खेलते रहे, एक-दूसरे को धोखे मे डालने का प्रयास करते रहे और इस प्रकार दोनो मझधार मे ही डूब गये, तट—लक्ष्य—तक नही पहुच पाये, जैसे कोई पत्थर की नाव का आश्रय लेकर सागर तरने का प्रयास करे तो बीच ही मे डूब जाय ।

विशेष—उपमा अलकार ।

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा मांहि ।
तिंहि घरि किसकौ चानिणौ, जिहि घरि गोविंद नांहि ॥१७॥

शब्दार्थ—जोइ करि=जलाकर, प्रकाशित करके । चानिणौ=चहेता, अभीप्सित ।

यदि कोई अपने हृदय-मन्दिर मे चौसठ कलाओ की ज्योति प्रकाशित कर ले और चन्द्रमा की चौदह कलाओ के समान प्रकाशपूर्ण चौदह विद्याओ का उज्वल प्रकाश विकीर्ण कर ले अर्थात् पूर्ण ज्ञानी हो जाय, किन्तु यदि वह मन्दिर प्रभु भक्ति के अभाव मे अन्धकारपूर्ण है तो वह किसी का अभीप्सित नही हो सकता । भाव यह है कि जीवन की सार्थकता भगवत्प्राप्ति मे है ।

विशेष—१. कबीर यहाँ ज्ञान और भक्ति के सम्बन्ध के पोषक है, और भक्ति को ज्ञान के ऊपर मानते है ।

२. चन्द्रमा की चौदह कलाए कहने से कबीर पर इस्लामी सस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है ।

निस अंधियारी कारणें, चौरासी लख चंद !
अगि आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद ॥१८॥

शब्दार्थ—निसि=निशि, रात, अज्ञान । ऊदै किया=उदित किया, प्राप्त किया । मद=मूर्ख ।

अपनी अज्ञान की अन्धतमसा के कारण तुझे चौरासी लाख योनियो मे भटक कर उनकी यातना सहनी पड़ी और तब बडे कष्ट से मानव योनि मे आया, मूर्ख फिर भी तेरी आँखे नही खुलती, तू फिर भी कुमार्ग की ओर ही बढ़ रहा है ।

विशेष—कबीर पर वैष्णव प्रभाव देखा जा सकता है ।

भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हांणि ।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जांणि ॥१६॥

शब्दार्थ—नही तर=अन्यथा । पूरी जाणि=सर्वस्व समझकर ।

साधक कहता है कि अच्छा ही हुआ कि गुरुदेव मिल गये, अन्यथा बडी भारी हानि होती । जिस प्रकार शलभ दीप-शिखा को सर्वस्व जान उस पर जल मरता है उसी प्रकार मै भी सासारिक माया के आकर्षणो को सर्वस्व समझकर पतगे कीडे के समान जलकर नष्ट हो जाता ।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवै पड़त ।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत ॥२०॥

शब्दार्थ—भ्रमि-भ्रमि=मडरा-मडरा कर । इवै=उसी पर ।

माया रूपी दीपक है और मानव पतगा हे जो मडरा-मडराकर, आकर्षित होकर, उसी दीपशिखा पर गिरकर विनष्ट होता है । और कबीर कहते है कि इस माया-दीप के आकर्षण से कोई एकाध बिरले ही गुरु से ज्ञान प्राप्त कर बच पाते है ।

सतगुर बपुरा क्या करै, जे सिषही मांहै चूक ।
भावै त्यूं प्रमोधि ले, ज्यूं बंसि बजाई फूक ॥२१॥

शब्दार्थ—बतुरा=वेकार । चूक=कमी ।

यदि शिष्य मे ही त्रुटि है तो वेचारा ज्ञानी गुरु भी क्या कर सकता है । चाहे उसे किसी प्रकार से भी समझा दो किन्तु सब थो ही क्षण मे बाहर निकल जाता है। जैसे वशी मे फूक क्षण भर रह कर बाहर निकल जाती है और वह बासुरी फिर काष्ठ अर्थात् निर्जीव (शिष्य पक्ष मे मूढ) रह जाती है ।

विशेष—दृष्टान्त अलकार ।

ससै खाया सकल जुग, संसा किनहूं न खद्ध ।
जैं बेधे गुर अष्षिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध ॥२२॥

शब्दार्थ—ससै=सशय, भ्रम । अष्षिरा=अक्षर ज्ञान ।

माया के भ्रम ने समस्त जगत को विनष्ट किया है किन्तु इस भ्रम को कोई नही नष्ट कर पाया । गुरु-ज्ञान की वाणी से प्रभावित जो लोग थे उन्होने इस माया-भ्रम को चुन-चुनकर नष्ट कर दिया ।

चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुर दीन्हाँ धीर ।
निरभ होइ निसंक भजि, केवल कहै कबीर ॥२३॥

शब्दार्थ—चेतनि=ज्ञान । निरभै होइ=निर्भय होकर ।

कबीर कहते है कि सद्‌गुरु ने ज्ञान की चौकी पर बैठकर शिष्य को प्रबोध देकर धैर्य प्रदान कर कहा कि तुम निर्मल चित्त हो, सासारिक त्रासो से भयरहित होकर केवल ईश्वर का ही भजन करो ।

सतगुर मिल्या त का भया, जे मन पाड़ी भोल ।
पासि विनंठा कप्पड़ा, क्या करै विचारी चोल ॥२४॥

शब्दार्थ —पाडी=पडी हुई है । भोल=भूल, भ्रम । विनठा=नष्ट हो गया । चोल=मजीठ ।

जिन लोगो के चित्त भ्रम युक्त है उन्हे यदि सद्गुरु मिल भी गये तो क्या लाभ होगा ? वे ज्ञान प्राप्त नही कर सकते । यदि वस्त्र को रगने से पूर्व पुट देने मे ही वह नष्ट हो जाय तो सुन्दर रग देने मे समर्थ मजीठ विचारा क्या कर सकता है, फटे हुए वस्त्र को किस प्रकार सुन्दर रग दे । त्रुटिपूर्ण शिष्य के साथ यही अवस्था गुरु की है ।

बूड़े थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चमंकि ।
भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि ॥२५॥

शब्दार्थ—परि=पर, परन्तु । भेरा=वेडा । जरजरा=जीर्ण-शीर्ण । फरकि=तुरन्त, तत्क्षण ।

हम तो इस भवसागर मे डूबने को ही थे कि गुरु-कृपा की एक लहर ने हमें पार लगा दिया । उस गुरु कृपा के द्वारा ही हमने देखा कि जिस वेदशास्त्र आदि के वेडे से हम ससार-सागर पार करना चाहते थे, वह तो जीर्ण-शीर्ण है, अतः हम उससे तत्क्षण कूद पडे और प्रभु-भक्ति का सम्वल ग्रहण किया । भाव यह है कि केवल गुरु-कृपा से ही भवसागर पार किया जा सकता है ।

गुर गोविंद तौ एक हैं, दूजा यहु आकार ।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार ॥२६॥

शब्दार्थ—सरल है ।

गुरु और गोविन्द (ब्रह्म) तो एक ही हैं, उनमे कोई अन्तर नही है । यह अपना मायाजनित शरीर ही इस भासित द्वैत का कारण है । यदि हम इस अहत्व, 'अय निज परो वा' की भावना को समाप्त कर जीवन्मुक्त हो जायें तो प्रभु—ब्रह्म—की प्राप्ति हो सकती है ।

विशेष—तुलना कीजिए—

"सोऽह त्व हो जाय तभी वह सोऽह है ।
सोऽहं का त्वं मे लय ही लक्ष्य परम है ॥"

कबीर सतगुर नाँ मिल्या, रही अधूरी सीष ।
स्वाँग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगै भीष ॥२७॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीरदास जी कहते है कि यदि शिष्य को सद्गुरु की प्राप्ति नही होती तो उसकी शिक्षा अपूर्ण रह जाती है । तपस्वी वेश धारण करके द्वार-द्वार पर भिक्षा मागने वाले सद्गुरु नही हो सकते ।

सतगुर सांचा सूरिवां, तातै लोहिं लुहार ।
कसणी दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार ॥२८॥

शब्दार्थ—तात=तप्त । लोहिं=लोहा । लुहार=लोहे का कार्य करने वाला ।

सद्गुरु सच्चा शूरवीर है जो शिष्य को अपने प्रयत्नो से उसी प्रकार योग्य बना देता है जिस प्रकार लुहार तप्त लोहे को पीट-पीट कर सुघड और सुडौल आकार देता है । कबीर कहते है कि सद्गुरु शिष्य को परीक्षा की अग्नि में तपा-तपा कर स्वर्णकार की भांति उसे इस योग्य बना देते है कि वह शुद्ध कंचन की कसौटी पर खरा उतर कर ब्रह्म (तत्व) को प्राप्त कर ले ।

थापणि पाई थिति भई, सतगुर दीन्ही धीर ।
कबीर हीरा बणजिया, मानसरोवर तीर ॥२९॥

शब्दार्थ—थापणि=शिष्य रूप मे अपनी स्थापना । बणजिया=वाणिज्य, व्यापार ।

सद्गुरु से शिष्य रूप मे स्वीकृति पाकर, उनका शिष्यत्व ग्रहण कर, मेरा चंचल मन स्थिर हो गया और उन्होने मुझे धैर्य प्रदान किया । इस मन की एकाग्रता से मै मनरूपी सरोवर पर (हसो की भॉति) मुक्ता चुग रहा हू ।

विशेष—मन.साधना की महत्ता प्रवट की गई है ।

निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर सास धीर ।
निपजी मै साझी घणां, बाटै नही कबीर ॥३०॥

शब्दार्थ—निहचल निधि=ब्रह्म । तत=आत्मा । घण=बहुत से ।

सद्गुरु के साहस और धैर्य ने आत्मा को ब्रह्म से मिला दिया । इस महामिलन से जो सुख उत्पन्न हुआ उसका भागीदार बनने के लिए बहुत से व्यक्ति व्याकुल हैं, किन्तु कबीर उसे बाँटने के लिए प्रस्तुत नही, क्योकि वह परमतत्व का आनन्द दूसरे के द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता । अत. उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए स्वय की आत्मा का ब्रह्म से साक्षात्कार आवश्यक है ।

चौपड़ि मांड़ी चौहटै, अरध उरध बाजार ।
कहै कबीरा राम जन, खेलौ संत विचार ॥३१॥

शब्दार्थ—चौपडि=चौपडि का खेल । माँडी=बिछी है ।

शरीर के चौराहे पर चौपड बिछी है । उसके नीचे एवऊ पर दोनो ओर चक्रों का बाजार लगा हुआ है (योगियो ने शरीर के अतरगत षट्चक्रो की स्थिति मानी है जो मूलाधार से प्रारम्भ होकर शीर्ष मे ब्रह्मरन्ध्र तक विछे हुए है । इन षट्चक्रो का भेदन करके ही कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र मे पहुचती है जहा अमृत निस्सृत होता है) । कबीरदास जी कहते है कि प्रभु-भक्त—सन्त गण इस खेल को विचारपूर्वक खेलते है अर्थात् योगसाधना मे प्रवृत्त होते है ।

पासा पकड्या प्रेम का, सारी किया शरीर ।
सतगुर दाव बताइया, खेलै दास कबीर ॥३२॥

शब्दार्थ—सरल है ।

प्रेम के पासे से शरीर रूपी चौपड़ पर भक्त कबीर ने खेल प्रारम्भ कर दिया है और सद्गुरु दाव बताते जा रहे हैं । भाव यह है कि साधक ने प्रेम का आश्रय लेकर गुरु के निर्देशन मे योगसाधना प्रारम्भ कर दी है ।

सतगुर हम सू रीझि करि, एक कह्या प्रसंग ।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग ॥३३॥

शब्दार्थ—रीझिकर=प्रसन्न होकर ।

सद्गुरु ने हमसे प्रसन्न होकर प्रभु-भक्ति की ऐसी मनोरम चर्चा छेड़ी कि प्रेम का बादल बरस गया जिससे शरीर का अग-प्रत्यग उस प्रेम-जल से सिक्त हो गया ।

कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरष्या आइ ।
अंतरि भीगी आतमां, हरी भई बनराइ ॥३४॥

शब्दार्थ—वनराय=वन-प्रदेश ।

प्रभु-प्रेम का बादल बरसा जिससे अन्तरात्मा उस प्रभु-प्रेम जल से भीग गई और उसी के आनन्द मे शरीर रूपी वन-प्रदेश मे भी हरियाली, उत्फुल्लता छा गई ।

विशेष—असगति अलकार ।

पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि ।
निर्मल किन्हीं आतमां, तार्थं सदा हजूरि ॥३५॥

शब्दार्थ—परचा=परिचय । मेल्या दूरि=दूर कर दिये । तातैं=इसी कारण से ।

सर्वसमर्थ पूर्ण गुरु से मेरा परिचय हो गया, उन्होने समस्त दुःख दूर कर दिये । उन दुःखो के अभाव मे आत्मा निर्मल होकर सर्वदा प्रभु-भक्ति मे संलग्न रहती है ।

★

२. सुमिरण कौ अंग

अंग-परिचय—निर्गुण सन्तो की भक्ति-पद्धति मे आराध्य के नाम के स्मरण को बहुत महत्त्व दिया गया है । प्रस्तुत अग मे कबीर ने नाम-स्मरण की महिमा बताते हुए कहा है कि केवल नाम-स्मरण ही एक ऐसा आधार है, जिसके द्वारा मनुष्य मुक्ति लाभ कर सकता है । सारे वेदो और शास्त्रो का सार भी यही है । राम का नाम ही ससार मे सबसे श्रेष्ठ और सबसे ग्राह्य वस्तु है । ससार अनेक प्रकार के दुःखो से भरा हुआ है, राम का स्मरण ही इसका एकमात्र उपचार है, अर्थात् राम का स्मरण सार-तत्व है, इसके अतिरिक्त और सब बाते सकटपूर्ण और जी के जजाल हैं । इसीलिए

मनुष्य को राम के नाम का ही चिन्तन करना चाहिए। इसको छोडकर अन्य बातो का चिन्तन मनुष्य को सासारिक दलदल मे फँसा देता है, जहाँ पर मृत्यु आसानी से उसे कठोर पाश मे आबद्ध कर लेती है। यदि पाँचो इन्द्रियो और छठे मन अर्थात् इन्द्रियो और मन से राम का स्मरण किया जाये तो फिर राम को प्राप्त कर लेना अत्यन्त सुलभ हो जाता है।

नाम-स्मरण मे ही वह जादू है जो व्यक्ति के अह का जड से नाश कर देता है। जब मनुष्य का अह नष्ट हो जाता है तो फिर उसे प्रभु के सान्निध्य मे कठिनाई नही आती, अर्थात् वह तुरत उसके रूप मे मिलकर तदाकार हो जाता है। फिर उसे सर्वत्र भगवान् का साक्षात्कार होने लगता है, वह चारो ओर अपने लाल की ही लाली देखता तथा अलौकिक आनद प्राप्त करता है। इसीलिए कबीर ने मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहा है कि हे मनुष्य! जब तक तू जीवित है, तबतक मनोयोगपूर्वक राम के नाम का स्मरण करता रह। यदि तू इस अज्ञानावस्था मे पडकर राम के नाम को विस्मृत कर देगा तो अन्त समय तुझे पछताना पड़ेगा। अत इस अज्ञानावस्था मे पड़े रहना ठीक नही है क्योकि जब तक मन मे अज्ञान का वास है, तब तक उसमे प्रभु की प्रीति उत्पन्न नही हो सकती और जिस हृदय मे प्रभु-प्रीति का आविर्भाव नही हुआ, जिस मनुष्य ने अपनी जिह्वा से कभी राम का स्मरण नही किया, उसका इस संसार मे आना एकदम बेकार है। वह तो उस अतिथि की भाँति है जो किसी शून्य गृह मे आता है और फिर निराश होकर लौट जाता है।

भगवान् अत्यत दयालु है। वे अपने भक्तो के असख्य पापो को उसी क्षण नष्ट कर देते है, जब वे उसकी शरण मे आ जाते है। हरि के विविध रूप है। जो उसको जिस दृष्टि से देखता है, उसे उसी प्रकार का उसका रूप दिखाई देता है और उसी से वह लाभान्वित होता है। जो मनुष्य राम को छोडकर अन्य सासारिक बधनो मे बँध जाता है, उसकी स्थिति वेश्या-पुत्र के समान होती है, जो किसी को भी अपना बाप कहने का अधिकारी नही होता। इसीलिए व्यक्ति स्वयं भी राम का स्मरण करे और दूसरो को भी उसके लिए प्रेरित करे। यदि मनुष्य अपने मन को इसी प्रकार नाम-स्मरण मे रमा ले, जिस प्रकार उसका मन माया के आकर्षणों मे लीन रहता है, तो वह सूर्य-मडल को भेदकर तुरत ब्रह्मलोक मे निवास करने का अधिकारी बन जाता है। वास्तव मे, हरि का नाम-स्मरण उस पानी भरे घड़े के समान है जो सासारिक आकर्षणो मे जलते हुए मन की अग्नि को बुझाकर उसे शाश्वत शाति प्रदान करता है।

कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा, नहिं तर भला न ह होइ ॥१॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास जी कहते है कि मै यह निरन्तर प्रस्थापित करता आ रहा हू कि राम-नाम जपने मे ही कल्याण होगा अन्यथा आचरण मे कल्याण सिद्ध नही होगा,

इस बात को सुनते तो सब है, किन्तु आचरण सब नही करते ।

कबीर कहै मै कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस ।
राम नांव ततसार है, सब काहू उपदेस ॥२॥

शब्दार्थ—कथि गया=कह गया । महेस=शिव । नांव=नाम । ततसार=तत्व का सार ।

कबीरदास जी कहते है कि मै यह कह चुका हू कि राम नाम (भगवान् नाम) ही समस्त तत्वो का सार है, यही सबका उपदेश है। इसी तथ्य का कथन ब्रह्मा एवं शिव ने किया है।

विशेष—कबीर देवतावाद के विरोधी हैं, किन्तु यहाँ वे देवो की दुहाई देकर अपना सिद्धात पोषण करते हैं। इसका तात्पर्य यह नही कि कबीर देवतावाद का समर्थन कर रहे हैं, वे तो केवल अपनी मान्यता को परम्परानुमोदित सिद्ध करके उसकी सत्यता का प्रस्थापन मात्र करना चाहते है।

तत तिलक तिहूँ लोक मै, राम नांव निज सार ।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है।

सार-तत्व राम-नाम तीनो लोको मे सर्वश्रेष्ठ है। उसीको दास कबीर ने अपने मस्तक पर धारण किया है अर्थात् उसे शिरसा स्वीकार किया है। भाव यह है कि कबीर चन्दनादि का तिलक धारण करना नही चाहते, अपितु राम नाम ही उनके लिए तिलक है, सर्वोपरि तत्व है।

भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुक्ख अपार ।
मनसा वाचा कर्मनां, कबीर सुमिरण सार ॥४॥

शब्दार्थ—मनसा=मन से । वाचा=वाणी से । कर्मना=कर्म से ।

प्रभु भक्ति और भजन जो कुछ भी है वह उनका नाम स्मरण ही है, इसके लिए जो अन्य साधन बताये गये है वे अमित दुःखो से परिपूर्ण है। कबीर कहते हैं कि मन, वाणी और कर्म से सर्वात्मना प्रभु नाम स्मरण ही सर्वश्रेष्ठ है।

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल ।
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौं काल ॥५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि एकमात्र प्रभु नाम स्मरण ही समस्त तत्वो का सार है और इसके अतिरिक्त हरि भक्ति के अन्य सासारिक साधन जाल हैं जिनमे से निकलने का प्रयत्न करने पर मनुष्य और फँस जाता है। मैंने सासारिक साधनो का आदि और अवसान अथवा अथ से इति तक अवलोकन करके देख लिया, वे काल स्वरूप विनाश-कारक है।

अलंकार—रूपक।

च्यंता तौ हरि नाँव की, और न चिंता दास।
जे कुछ चितवै राम बिन, सोइ काल की हास ॥६॥

शब्दार्थ—च्यंता=चिन्ता। नाँव=नाम। चितवै=चिन्तन करना।

भक्त को यदि कुछ चिन्ता रहती है तो केवल हरिनाम स्मरण की, अन्य कोई चिन्ता नही। राम नाम के अतिरिक्त व्यक्ति जो कुछ चिन्तन करता है वह मृत्यु के फन्दे के समान है, अर्थात् उसके नाश का कारण है।

पंच संगी पिव पिव करैं, छठा जु सुमिरे मंन।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतंन ॥७॥

शब्दार्थ—पच सगी=पाँचो इन्द्रियाँ। सूति=साधनावस्था।

कबीरदास की पाँचो ज्ञानेन्द्रियो एव छठे मन ने प्रभु के प्रिय नाम की रट (चातक के समान, क्योकि 'पीव' शब्द है) लगा रखी है और ऐसी स्थिति मे कबीर अपनी समाधि अवस्था मे पहुच गये है, जहाँ उन्हे राम के अतिरिक्त और कोई नही सूझता। अतः वे कहते है कि मैंने राम रूपी रत्न प्राप्त कर लिया है।

विशेष—द्वितीय चरण का अर्थ यह भी हो सकता कि कबीर तो शुक्ति (सूति) हो गया, एव 'पीव, पीव' की रटन से स्वाति नक्षत्र में वर्षा (प्रभु प्रेम) होने के कारण उस शुक्ति मे प्रेम-जल पडकर राम रूपी रत्न बन गया है। यह कवि-समय है कि स्वाति नक्षत्र की बूँद शुक्ति मे पडने पर मोती बन जाती है।

मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि राम-नाम का स्मरण करते-करते मेरा मन स्वय ही राम मे ही रम गया है और इससे भी आगे अब वह स्वय राममय हो गया है, जब स्वय मन ही राममय हो गया तो सीस किसे नवाया जाय, अर्थात् भक्त और भगवान् ही नाम स्मरण से एक हो गये है।

विशेष—यह भक्ति की चरम उपलब्धि है जब भक्त और भववान् एकाकार हो जाते है। यही शकर के अद्वैत की अह ब्रह्मास्मि की भावना आ जाती है।

तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥९॥

शब्दार्थ—हू=अह-भावना।

हे प्रभु मैं तेरा नाम स्मरण करते-करते तेरे स्वरूप मे ही विलीन हो गया, मुझमे किंचित् भी अहंत्व शेष नही रह गया; अर्थात् मुझे अपने पृथक् अस्तित्व का ज्ञान ही न रहा। अब मै प्रभु तेरे ऊपर बार-बार बलिहारी जाता हू क्योकि जिधर देखता हूं, उधर तू ही दृष्टिगत होता है।

विशेष—१ 'सर्व खल्विद ब्रह्म' की भावना से साम्य है।

२ अन्यत्र भी कबीर ने कहा है—

"लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल ॥"

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति ॥१०॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! जब तक तेरे शरीर रूपी दीपक मे जीवन रूपी वर्तिका है तब तक तू सासारिक भ्रमो एव चिन्ताओ से मुक्त होकर राम नाम का स्मरण कर। व्यर्थ आलस्य—सुषुप्ति—मे अपना जीवन मत गवा, क्योकि जब श्वास रूपी तेल समाप्त हो जाने पर जीवन-वर्तिका बुझ जायेगी तब अहर्निश चिरनिद्रा (मृत्यु) मे ही सोवेगा, अर्थात् प्रभु भक्ति के लिए ही तुझे यह जीवन मिला है।

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाका संग तै बीछुड्या, ताही के संग लागि ॥११॥

शब्दार्थ—सूता=सोता हुआ, अज्ञानावस्था मे पडा हुआ।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य तू सोता हुआ क्या कर रहा है, अज्ञान मे क्यो पडा हुआ है, ज्ञान की चेतना प्राप्त कर अपनी वास्तविक स्थिति को क्यो नही देखता। तू जिस अगी का अग है उसी का साक्षात्कार कर अपनी प्रकृत अवस्था को प्राप्त कर।

विशेष—आत्मा परमात्मा का अश है, अद्वैतवाद के समान कबीर की भी यही मान्यता है।

कबीर सूता क्या करे, जागि न जपै मुरारि।
एक दिनां भी सोवणां, लंबे पांव पसारि ॥१२॥

शब्दार्थ—सूता=सोता हुआ, अज्ञान-लिप्त।

कबीरदास जी कहते है कि हे मनुष्य तू अज्ञान-निद्रा मे पडा क्या कर रहा हैं, जागकर—ज्ञानयुक्त होकर, प्रभु का भजन क्यो नही करता। यह विश्राम तो फिर भी हो सकता है, क्योकि अन्तत. एक न एक दिन अवश्य ही चिरनिद्रा मे लीन होना है। अर्थात् मृत्यु को प्राप्त करना है।

कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख।
जाका वासा गोर मैं, सो क्यूं सोवै सुक्ख ॥१३॥

शब्दार्थ—गोर=मृत्यु।

कबीर कहते हैं—हे मनुष्य तू अज्ञानावस्था मे पड़ा हुआ क्या कर रहा है, अपने उद्धार का प्रयत्न क्यो नही करता? जिससे जागने पर (दूसरा जन्म लेने पर) तुझे अपने दुःखो के लिए रोना न पड़े। भला जिसका मृत्यु के मुख मे सर्वथा निवास रहता है उस मनुष्य को सुख की निद्रा कैसे आ सकती है—अत तू प्रभु-भजन कर, ज्ञान सम्पन्न हो अपना जन्म सुधार ले।

कबीर सूता क्या करै, गुण गोबिन्द के गाइ।
तेरे सिर परि जम खडा, खरच कदे का खाइ ॥१४॥

शब्दार्थ—जम=यम, मृत्यु।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य तू अज्ञानावस्था मे क्यो पडा हुआ है, प्रभु के गुणों का गान कर। यह थोडी सी ही तेरी आयु है फिर यह कार्य नही होने का क्योकि यमराज तेरे सिर पर किसी श्रेष्ठी साहूकार के समान खडा हुआ तकादा कर रहा है।

कबीर सूता क्या करै, सूताँ होइ अकाज।
ब्रह्मा का आसण खिस्या, सुणत काल की गाज ॥१५॥

शब्दार्थ—अकाज=हानि। खिस्या=खिसक गया। काल=मृत्यु। गाज=गरज।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य तू सोता हुआ, अज्ञानावस्था मे क्या कर रहा है? इस अज्ञान से तो तेरी हानि ही हो रही है, क्योकि आयु अल्प है और कालचक्र किसी को भी नही छोडता, उसकी गति के भय से ब्रह्मा का आसन भी खिसक गया है—मनुष्यो की तो बात ही क्या।

विशेष—'पन्त' ने भी कालचक्र का ऐसा ही भयानक वर्णन किया है।

केसौ कहि कहि कूकिये, नां सोइयै असरार।
रात दिवस कै कूकणैं, (मत) कबहूँ लगै पुकार ॥१६॥

शब्दार्थ—केसौ=केशव, राम। असरार=असार, अज्ञान।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य तू अहर्निश प्रभु का नाम ही लिया कर एव अज्ञान मे लिप्त होकर चैतन्य हीन मत हो। रातदिवस की इस नाम-स्मृति की ध्वनि न जाने कब प्रभु के कान मे पड जाय और वे तुझ पर कृपा करे।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम ॥१७॥

शब्दार्थ—घटि=हृदय। फुनि=पुन। रसना=जिह्वा। षये=नष्ट हो गये। वेकाम=व्यर्थ।

जिनके हृदय में न तो प्रेम ही है और न प्रेमानन्द और न जिनकी वाणी राम नाम का उच्चारण करती है, वे मनुष्य इस ससार मे आकर व्यर्थ ही नष्ट हो गये। उन्होने अपने जीवनोद्देश्य को पूर्ण नही किया।

कबीर प्रेम न चषिया, चषि न लीया साव।
सूनें घर का पाहुणां, ज्यूं आया त्यूं जाव ॥१८॥

शब्दार्थ—साव=स्वाद। पाहुणा—अतिथि।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य तैंने प्रेम—भक्ति—का अनुभव किया ही नही और उसके अनुभव से वचित होने पर तू उसका आनन्द भी नहीं उठा सका। इस

प्रकार तूने अपना जीवन व्यर्थ ही इस प्रकार नष्ट कर दिया जिस प्रकार सूने गृह मे अतिथि अनादृत ही लौट जाता है—उसे कुछ प्राप्त नही होता है ।

विशेष—जगत् की शून्य गृह से उपमा देकर कवीर उसको मिथ्या ही बताते है । यह विचार शकर के 'जगन्मिथ्या आकाश-नैल्यवत्' से पर्याप्त साम्य रखता है ।

पहली बुरी कमाइ करि, बांधी विष की पोट ।
कोटि करम फिल पलक मै, (जब) आया हरि की ओट ॥१६॥

शब्दार्थ—फिल=समाप्त, नष्ट । ओट=शरण ।

मनुष्य तूने अपने पूर्वजन्म मे सचित कुकर्मो की विप की पोटली बाँध रखी थी, अर्थात् अतिशय पाप एकत्रित कर रखे थे, किन्तु वे करोडो पातक प्रभु की शरण मे आते ही पल भर मे समाप्त हो गये ।

कोटि क्रम मेलै पलक मै, जे रंचक आवै नाउ ।
अनेक जुग जे पुन्नि करै, नहीं राम विन ठाउ ॥२०॥

शब्दार्थ—क्रम=कर्म, कुकर्म । मेलै=नष्ट करना । रचक=थोडा-सा भी ।

यदि तनिक भी प्रभु का नाम स्मरण किया जाय तो मनुष्य के करोडो कुकर्म—पाप—क्षण भर मे विनष्ट हो जाते है । यदि कोई अनेक युगो से पुण्य करके विना राम नाम के अपना उद्धार चाहे तो असम्भव है क्योकि नाम के आश्रय विना शान्ति कही भी नही मिलती ।

जिहि हरि जैसा जांणियां, तिन कूं तैसा लाभ ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लग धसै न आभ ॥२१॥

शब्दार्थ—भाजई=नष्ट होना । आभ=पानी ।

जिन्होने प्रभु को जिस रूप मे जाना है, उन्हे वैसे ही प्राप्ति होती है । केवल मात्र ओस चाटने से तृषित की तृषा शान्त नही होगी, उसका शमन तो जल मे पैठकर ही सम्भव है । भाव यह है कि हरिभक्ति के अन्य साधन ओस सदृश हैं जिसमे जल के कुछ ही कण है । मनुष्य को पूर्ण परितृप्ति हरिशरण के अगाध जल के आश्रय से ही प्राप्त हो सकती है ।

राम पियारा छाँड़ि करि, करै आन का जाप ।
वेस्वां केरा पूत ज्यूं, कहै कौन सूं बाप ॥२२॥

शब्दार्थ—वेस्वाँ केरा=वेश्या का । पूत=पुत्र ।

जो मनुष्य परम प्रिय राम के अतिरिक्त अन्य अनेक देवताओ का भजन करता है उसकी स्थिति वेश्यापुत्र के समान है जो किसी एक को अपना पिता (पालक) नही कह सकता ।

विशेष—यहाँ कवीर ने दिखाया है कि आत्मा का सनातन सम्वन्ध केवलमात्र ब्रह्म से ही है, उसे अन्य देवताओ की पूजा मे प्रवृत्त करना व्यभिचार है । इस प्रकार वे वहुदेववाद के विरोधी है ।

कबीर आपण राम कहि, औरां राम कहाइ।
जिहि मुखि राम न ऊचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ ॥२३॥

शब्दार्थ—औरा=औरों से, दूसरो से। ऊचरे=उच्चारण करना।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य तू स्वयं भी राम नाम का उच्चारण कर और अन्यो से भी राम नाम कहलाने का प्रयत्न कर। यदि उनमे से कुछ तेरे निर्देश करने पर भी राम नाम का उच्चारण न करे तो उनसे पुन. पुनः 'राम' कहलाने का आग्रह कर। इससे वह राम नाम स्मरण मे प्रवृत्त हो सकेगा।

विशेष—तुलना कीजिए—

"करत करत अभ्यास तै जडमति होत सुजान।"

जैसै माया मन रमै, यूं जे राम रमाइ।
(तौ) तारा-मंडल छाँड़ि करि, जहाँ केसो तहाँ जाइ ॥२४॥

शब्दार्थ—केसो=केशव, राम।

जिस भाव से मन माया के विविध आकर्षणो मे आसक्त होता है उसी उत्कटता और तीव्रता के साथ वह प्रभु में रम जाये तो साधक तारामण्डल—इस भौतिक सृष्टि—के परे जहा राम का निवास है वही पहुच जाये अर्थात् ब्रह्म मे लीन हो जाये।

विशेष—मन की भगवदासक्ति के लिए तुलसी ने भी कबीर से मिलती-जुलती उपमा दी है—

"कामिही नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरतर प्रिय लागहु मोहि राम॥"

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम है लूटि।
पीछै ही पछिताहुगे, यहु तन जैहे छूटि ॥२५॥

शब्दार्थ—सरल है।

राम नाम (जैसे सुकृत) की लूट हो रही है, यथाशक्ति जितनी प्राप्त कर सकते हो कर लो, क्योकि यह राम-नाम का स्मरण इसी मानव जन्म मे सम्भव है। नही तो फिर शरीर छूट जाने पर पश्चात्ताप ही शेष रह जायेगा कि काश! हम भी राम नाम जप पाते।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भंडार।
काल कंठ तै गहैगा, रूंधै दसूं दुवार ॥२६॥

शब्दार्थ—काल=मृत्यु। रूँधे=रूँधना। दसू दुबार=दसो इन्द्रियाँ, शरीर।

हे मनुष्य! यदि तू राम नाम रूपी बहुमूल्य रत्न को लूटना चाहता है तो लूट ले, अन्यथा फिर यह अवसर प्राप्त नही होगा। फिर तो मृत्यु कण्ठ पकड़ कर तेरे दसो द्वारो को बन्द कर तुझे चेतनाविहीन, जीवनरहित कर देगी।

विशेष—शरीर के दस द्वार है। दो आँख, दो नासिका विवर, दो कर्ण, एक मुख, एक ब्रह्मरन्ध्र, गुदामार्ग और मूत्र मार्ग।

लंबा मारग दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार।
कहौ संतो क्यूं पाइये, दुर्लभ हरि-दीदार ॥२७॥

शब्दार्थ—मार=डाकू, काम वासना। दीदार= दर्शन।

कबीर कहते है कि हे संत जनो! हरि दर्शन अत्यत कठिन है क्योंकि उनका निवासस्थान वहुत दूर है, साधना का पथ भी बड़ा जटिल है जिसमें काम आदि डाकुओ के वहुत से भय हैं।

विशेष—'दूरि घर' से ब्रह्म की अगम्यता एवं आगोचरता, 'विकट पथ' मे साधना की कठिन स्थली एव 'बहु मार' से सासारिक भयो की ओर इगित है।

गुण गायें गुण नाम कटैं, रटैं न राम वियोग।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै द्रुलभ जोग ॥२८॥

शब्दार्थ—गुणनाम=सासारिक बधन। अह निसि=दिन-रात। द्रुलभ=दुर्लभ।

प्रभु की गुणावली का गान करने से यह संसार-बंधन समाप्त हो जाता है—इस वात को सुन कर तू प्रभु-वियोग में राम नाम क्यो नही रटता। यदि तू दिन-रात प्रभु की नाम-चर्चा नही करेगा तो उनके दर्शनों का अप्राप्य सयोग कैसे प्राप्त कर सकेगा?

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरि-नाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरूं त नाहीं ठाम ॥२९॥

शब्दार्थ—खरी=भारी। त=तो। ठाम=स्थान।

कबीर कहते है कि हरिनाम स्मरण अर्थात् भक्ति-साधना मे कठिनाइयाँ भारी हैं। यह नट की उसी कुशलता के समान है जो मृत्यु की सूली पर चढ़कर अपने आंगिक कौशल दिखाता है। यदि वह वहा से गिर जाये तो उसके बचने का कोई उपाय नही। इसी प्रकार भक्ति-साधना से पथभ्रष्ट भक्त का भी कोई रक्षक नही, क्योकि उसके लोक एवं परलोक दोनो ही नष्ट हो जाते हैं।

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरे, छीलर देखि अनंत ॥३०॥

शब्दार्थ—जिनि=मत। छीलर=छिछला, उथला।

कबीर कहते है कि जिह्वा का सहयोग प्राप्त कर राम नाम का स्मरण कर भक्ति के अन्य साधन रूपी पोखरो को देखकर लोभवश हरि-रूपी सागर को विस्मृत मत करो।

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ ॥३१॥

शब्दार्थ—रिझाई लै=प्रसन्न कर ले। नग=रत्न। संधे=जोड़कर।

कबीर कहते हैं कि तू अपने मुख से राम के अमृतमय गुणो का गान कर उन्हे प्रसन्न कर ले और इसी प्रकार उनसे अपना मन मिला जिस प्रकार फूटे नग को नग से जोड़ पर मिलाकर दोनो को एक कर दिया जाता है।

विशेष—अश-अगी भाव का प्रतिपादन है ।

कबीर चित चमकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ ।
हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, बेगे लेहु बुझाइ ॥३२॥

शब्दार्थ—लाइ=अग्नि ।

कबीर कहते है कि हृदयरूपी चकमक पत्थर के कारण चारो ओर माया के आकर्षणो की अग्नि लग गई है । इस अग्नि को बुझाने के लिये हरि स्मरण-रूपी घट हमारे साथ विद्यमान है, अत इससे इस वासना की अग्नि को शीघ्र बुझा डालो । भाव यह है कि ससार जाल से मुक्ति का एकमात्र उपाय हरि-स्मरण ही है ।

२. बिरह कौ अंग

अंग-परिचय—प्रेम की परिपूर्णता एव परिपक्वता के लिए विरह आवश्यक माना गया है । विरह के द्वारा ही आत्मा परमात्मा की ओर और भी दृढता के साथ उन्मुख होती है । इसीलिए प्रत्येक शाखा के भक्ति-काव्य मे, चाहे वह सगुण का उपासक हो चहे निर्गुण का, विरह का विधान किया गया है । प्रस्तुत अग मे कबीर ने भी परमात्मा के अभाव मे और उसके दर्शन करने की तीव्र उत्कठा मे आत्मा के विरह का वर्णन किया है । कबीर कहते है कि उनकी आत्मा क्रौच पक्षी की भाँति प्रियतम से मिलने के लिए चीत्कार कर रही है । क्रौच पक्षी का विरह तो केवल कुछ ही समय का होता है, क्योकि प्रातःकाल होते ही वे दोनो फिर परस्पर मिल जाते है, किन्तु परमात्मा का विरह तो अनत है । जो जन राम से बिछुड जाते है, वे उन्हे कभी भी प्राप्त नही कर पाते । विरह की इसी अनतता के कारण आत्मा इतनी दु:खी हो जाती है कि उसे न तो दिन को सुख मिलता है और न रात को, बल्कि स्वप्न मे भी उसे सुख की प्राप्ति नही होती ।

विरहिणी आत्मा अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने के लिए बहुत ही आतुर है । वह रात-दिन उसके पथ पर खड़ी हुई उसकी प्रतीक्षा करती रहती है और प्रत्येक पथिक से उनके आने का समाचार पूछती रहती है । बिना प्रियतम के मिले उसे पलभर के लिए भी चैन नही मिलता । विरह के कारण वह इतनी दुर्बल हो गई है कि यदि राम के दर्शन की इच्छा से वह ऊपर उठती भी है तो उससे खडा नही रहा जाता और शारीरिक दुर्बलता के आधिक्य के कारण उठते ही फिर गिर पडती है । उसकी अवस्था मृतप्राय हो गई है और मरने के पश्चात् यदि प्रभु की प्राप्ति होगी तो उससे कोई लाभ नही होगा, क्योकि लोहे के टुकडो के समाप्त होने के पश्चात् यदि पारस पत्थर की प्राप्ति हो तो उसका कोई उपयोग नही हो सकता ।

विरह का दु:ख बडा ही अनोखा एव विलक्षण है, क्योकि इसमे न तो विरहिणी ही प्रियतम तक जा पाती है और न प्रियतम ही उससे मिलने आता है । इस प्रकार विरहिणी का मन विरह की तीव्र ज्वाला मे जल-जल कर भस्म होता

रहता है। इस अवस्था में विरहिणी के पास केवल एक ही उपाय रह जाता है कि वह अपने शरीर को विरहाग्नि में जला कर भस्म कर दे और अपने धुएं को स्वर्ग तक पहुंचा दे। हो सकता है, उस धुएं को देखकर ही दयालु प्रियतम के मन में कुछ करुणा का उद्रेक हो।

विरह की यह पीडा बड़ी ही अद्भुत होती है। इसका चाहे जो उपचार किया जाये, किन्तु उसकी वेदना कम नहीं होती। उसकी वेदना का अनुभव केवल दो ही व्यक्ति कर सकते हैं—एक तो वह जिसे वेदना हो रही है और दूसरा वह जिसने वेदना दी है। यह विरह उस सर्प के समान है जिसके विष को किसी प्रकार का भी मंत्र नहीं उतार सकता। वस्तुस्थिति तो यह है कि राम का वियोगी जीवित ही नहीं रह सकता और यदि रह भी जाये तो वह पागल हो जाता है। इस विरह सर्प के दर्शन का धीरता से सहन करना चाहिए, क्योंकि यदि मन में अधैर्य का भाव आ गया तो प्रेम को क्षति पहुचेगी और फिर प्रियतम का मिलन असम्भव हो जाएगा। वस्तुत: प्रेम-क्षेत्र के अनुभव को कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है।

इतना पीडा दायक होने पर भी इस विरह को बुरा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जिस हृदय मे विरह का संचार नहीं होता, वह तो श्मशान के समान शून्य और भयानक है। अतः कबीर अपने विरह की तीव्रता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रियतम का पथ देखते-देखते मेरे नेत्र की ज्योति मद हो गई है, उनका नाम रटते-रटते जीभ मे छाले पड गये हैं। मैं इस शरीर का दीपक बनाकर और उनमे प्राणों की बाती डाल कर जला रही हू, क्योंकि न जाने मेरी दयनीय अवस्था देखकर प्रियतम को कुछ दया आ जाये और वह आकर मुझे दर्शन दे दें। मेरे नेत्रों से निरन्तर पानी का झरना बहता रहता है और मैं अहर्निश पपीहे की भाँति प्रियतम का नाम रटती रहती हू। प्रेम की कसौटी पर रक्खी जाने के कारण मेरी आँखे लाल हो गई है, जिनके कारण ससार के लोग इन्हे दुखिया समझते हैं, किन्तु आँखो की लाली या आँसू देखकर सच्चे प्रेम की पहिचान नहीं की जा सकती, क्योंकि आँसू तो दुर्जन और सज्जन दोनो की आँखो से समान रूप से निकलते हैं। सच्चा प्रेमी और सच्चा विरही तो वही व्यक्ति माना जाता सकता है जिनकी आँखों से आँसुओं के स्थान पर रक्त निकले।

विरह से ही प्रियतम की प्राप्ति हो सकती है, अत जो प्रियतम को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हे हसना छोड कर रोने से ही हेत लगाना चाहिए, किन्तु यह अवस्था भी वडी कठिन है, क्योकि रोने से वल घटता है और हसने से प्रियतम अप्रसन्न होता है। अत विरही न तो रो सकता है है और न हस सकता है, वल्कि वह अपने अन्दर ही अन्दर इस प्रकार क्षीण होता रहता है, जिस प्रकार लकड़ी को घुन लग जाता है। हंसी तो प्रेम मे सर्वथा वर्जनीय है, क्योंकि जिसने भी अपना प्रियतम प्राप्त किया है, वह रो-रोकर ही किया है। यदि हंसी मे ही प्रियतम की प्राप्ति होने लगे तो फिर इस ससार मे विरही अथवा विरहिणी कोई भी नहीं रहे।

विरह-वेदना इतनी कष्टप्रद होती है कि इसमे विरहिणी की केवल दो ही अभिलाषाए रह जाती है—या तो विरहिणी मर जाये अथवा उसे उसका प्रियतम मिल जाये। चाहे जो हो विरहिणी हर प्रकार से अपने प्रियतम को प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो जाती है, चाहे उसके नेत्र प्रियतम का मार्ग देखते-देखते ज्योति विहीन हो जाये, चाहे विरह की आग मे जल-जलकर उसका शरीर भस्म हो जाये। अतः प्रियतम से मिलने का और प्रेम को परिपक्व करने का केवल एक ही मार्ग है—प्रियतम के विरह मे अहर्निश जलते रहना।

रात्यू रूंनी बिरहनी, ज्यूं बंचौ कूं कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज ॥१॥

शब्दार्थ—रात्यू=रात भर। अतर=हृदय। पुज=समूह।

परम तत्व की विरहिणी आत्मा रात्रि भर इस प्रकार रोती रही जिस प्रकार वियुक्त क्रौंच पक्षी करुण चीत्कार करता रहता है। कबीर जी कहते है कि विरह समूह के प्रकट होने से हृदय वियोग-ज्वाला मे दग्ध हो रहा है।

अंबर कुंजां कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनि थैं गोबिंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥२॥

शब्दार्थ—अबर=आकाश। हवाल=रक्षक।

आकाश ने क्रौंच एव कुररि पक्षियो की विरहानुभूति पर करुणार्द्र हो बरस कर समस्त ताल जल से अपूर्ण कर दिये—इन विरहिणयो की पुकार तो बादल ने सुन भी ली किन्तु जो प्रभु से वियुक्त है उनका रक्षक तो (प्रभु के अतिरिक्त) और कोई नही है।

चकवी बिछुटी रैंणि की, आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है।

रात्रि की विछुडी हुई चकवी अपने चकवे से प्रभात के आगमन पर मिल जाती है, किन्तु जो राम से वियुक्त है वे तो दिन या रात कभी भी उनसे नही मिल पाते।

विशेष—१ एक प्रकार से कबीर के इस वियोग का उद्दीपन विभाव-वर्णन है जिसमे विरहिणी आत्मा को एक वियुक्तयुग्म का मिलन देखकर अपना मिलना खटकता है।

२. यह विश्वास है कि चकवा और चकवी दिन छिपते ही अलग-अलग हो कर एक-दूसरे के विरह मे तडपते है और प्रभात मे मिल जाते है।

बासुरि सुख, नाँ रैंणि सुख, नाँ सुख सुपिनै माँहि।
कबीर बिछुट्या राम सूं, नाँ सुख धूप न छाँह ॥४॥

शब्दार्थ—बासुरि=दिन।

कबीर जी कहते है कि रामवियोगी को न दिन मे और न रात मे सुख है और न स्वप्न मे—उसे प्रिय की वियोग-व्यथा ही व्यथित किये रहती है। धूप या

छाह—कही भी उसे सुख प्राप्त नही होता ।

विशेष—कवीर ने उपर्युक्त उपमान जीवन से लिये है, इसी आधार पर इस दोहे के निर्माण की ऋतु ग्रीष्म जान पडती है। ग्रीष्म मे छांह मे व्यक्ति को चैन मिलता है और धूप मे व्याकुलता वढती है किन्तु रामवियोगी को धूप-छांह दोनों मे ही विकलता रहती है।

विरहनि ऊभी पथ सिरि, पंथी बूझै धाइ ।
एक सवद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ ॥५॥

शब्दार्थ—ऊभी=खडी हुई। पथसिरि=मार्ग के किनारे। कबर=कब।

विरहिणी मार्ग मे प्रिय की प्रतीक्षा मे खडी आते-जाते पथिक से जिस प्रकार उत्कण्ठा सहित प्रिय आगमन का समाचार पूछती है उसी प्रकार साधक की ब्रह्म वियुक्त आत्मा गुरु से प्रिय (ब्रह्म की) चर्चा सुनती हुई यह जानना चाहती है कि प्रभु से कव भेट होगी।

वहुत दिनन की जोवती, वाट तुम्हारी राम ।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं, मनि नाहीं विश्राम ॥६॥

शब्दार्थ—सरल है।

हे राम! मै (विरहिणी आत्मा) तुम्हारी प्रतीक्षा वहुत समय से कर रही हू। मेरे प्राण तुम्हारे दर्शन के लिये तृषित है और मन विना दर्शन व्याकुल है।

विशेष—तुलना कीजिए—

"प्रिय आता क्यू इसपार नही, शशि के दर्पण मे देख देख,
मैंने सुलझाये तिमिर केश युग युग से करती आती मै हू,
क्या अभिनव श्रृंगार नही, प्रिय आता क्यू इस पार नही।'

बिरहिन ऊठै भी, पड़े दरसन कारनि राम ।
मूवां पीछै देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥७॥

शब्दार्थ—मूवा=मरने पर। सो-दरसन=सुदर्शन।

हे राम! यदि आपके दर्शनो की उत्सुकता में विरहिणी उठती भी है तो क्षीणकाय होने के कारण गिर-गिर पडती है, अर्थात् आपके विरह मे वह अत्यन्त कृशकाय हो गई है। उससे मरणोपरान्त यदि आपने रोग निवारक सुदर्शन चूर्ण अपना अपना सौन्दर्यमय स्वरूप दर्शन दिया तो वह किस प्रयोजन का?

विशेष—"का वर्षा जव सुखाने" से तुलना कीजिए।

मूवां पीछै जिनि मिलै, कहै कवीरा राम ।
पांथर घाटा लोह सव, (तव) पारस कौणें काम ॥८॥

शब्दार्थ—मूँवा=मृत्यु। जिनि=यदि।

कवीर जी कहते हैं कि हे प्रभु! यदि आपका दर्शन मृत्यु के पश्चात् हुआ तो वह किस प्रयोजन का? वह तो उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार कोई पारस

पत्थर की प्राप्ति के लिए लोहे को प्रत्येक पत्थर से घिस कर समाप्त कर दे और तब उसे पारस पत्थर की प्राप्ति हो ।

अंदेसड़ो न भाजिसी, संदेसौ कहियां ।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयां ॥६॥

शब्दार्थ—अंदेसडा = आशका, अदेशा । भाजिसी = नष्ट होता है ।

विरहिणी आत्मा किसी दूत से कहती है कि मेरी प्रिय मिलन मे असफलता की आशका नष्ट नही होती । अतः तुम प्रभु से कहना कि या तो वे स्वय भागकर शीघ्र मेरे पास आ जाये, अथवा फिर मुझे ही उनके पास आना पडेगा ।

आइ न सकौ तुझ पैं, सकूं न तुझै बुलाइ ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ ॥१०॥

शब्दार्थ—जियरा = जीव, प्राण । लेहुगे = लोगे ।

कबीर की वियोगिनी आत्मा कहती है कि मै तेरे पास भी नही आ सकती क्योकि मैं इतनी समर्थ नही हूँ । (भाव यह है कि मै अभी माया मे सलिप्त हूँ) और तुझे अपने पास नही बुला सकती क्योकि मैं अभी सर्वात्म-समर्पण नही कर सकी जो तुझे आकृष्ट कर मेरे पास तक ले आये । अत यही दिखाई देता है कि तुम हमारे प्राणो को इसी प्रकार विरह मे तपाते-तपाते समाप्त कर दोगे ।

यहु तन जालौं मसि करूं, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि ॥११॥

शब्दार्थ मसि = क्षार, राख । सरग्गि = स्वर्ग । मति = संभव है । अग्नि = आग । विरह = दुःख ।

विरह की इस असहनीय अवस्था मे यह इच्छा होती है कि मै अपना यह शरीर भस्म कर क्षार कर दू, जिससे मेरी अस्थियो का जो धुआँ आकाश मे फैलेगा, तो सभव है, वे दयानिधि राम दयार्द्र होकर अपनी कृपा-दृष्टि के वारि से उस अग्नि को बुझावे ।

यहु तन जालौ मसि करौ, लिखौ राम का नाउँ ।
लेखणि करूं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥१२॥

शब्दार्थ—करक = अस्थि, पजर । पठाऊँ—भेजूँ ।

विरहिणी कहती है कि यह इच्छा होती है कि इस शरीर को जलाकर स्याही बना लूँ और अस्थियो की लेखनी, इससे राम का नाम लिखू और लिख-लिखकर अपने प्रभु राम को भेजूँ, कदाचित् इस कृत्य से प्रसन्न होकर वे दर्शन दें ।

कबीर पीर पिरावनीं, पजर पीड़ न जाइ ।
एक ज पीड़ परीति की, रहीं कलेजा छाइ ॥१३॥

शब्दार्थ—पीर = वेदना । पिरावनी = कसकपूर्ण । पजर = शरीर । परीति = प्रीति, प्रेम ।

कबीर कहते है कि पीडा बडी वेदनापूर्ण होती है, शरीर की पीडा ही इतनी

कसकमय होती है कि उपचार करने पर भी नही जाती, फिर प्रेम की जो पीड़ा है वह तो सर्वथा ही उपचार से बाहर है, वही असह्य पीडा मेरे हृदय मे समा गई है।

चोट सतांणीं बिरह की, सब तन जर जर होइ।
मारणहारा जांणिहै, कै जिहि लागी सोइ ॥१४॥

शब्दार्थ—सताणी=व्यथित करती है। जर-जर=जीर्ण, कृश।

विरह की चोट बडी व्यथित करती है, इसकी वेदना से शरीर कृशकाय हो जाता है। इस पीडा का अनुभव केवल दो को ही होता है—एक तो उसको जो इसे भोग रहा है तथा दूसरे उसको जो इस पीड़ा को प्रदान करता है।

कर कमाण सर सांधि करि, खैंचि जु मार्या मांहि।
भीतरि भिद्या सुमार ह्वै, जीवै कि जीवै नांहि ॥१५॥

शब्दार्थ—सांधि करि=साधकर। सुमार=गहरी चोट।

भगवान् रूपी प्रियतम ने हाथ में धनुष धारण कर खीच कर ऐसा प्रेमबाण चलाया है कि वह हृदय के आरपार हो गया। हृदय प्रेममय ही हो गया। उसके प्रेम-तीर की यह चोट इतनी गहरी लगी है कि जीवन जन्म और मरण के मध्य भूल रहा है, अर्थात् प्रभु प्रेम उसे अपनी ओर खीचता है और सांसारिक आकर्षण अपनी ओर।

जबहूँ मार्या खैंचि करि, तब मैं पाई जांणि।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छांणि ॥१६॥

शब्दार्थ—जांणि=जान, ज्ञान। मरम्म=मर्मान्तिक। छांणि=बीधना।

जब गुरुवर ने पूर्ण शक्ति के साथ खीच कर उपदेश द्वारा प्रेम रूपी बाण चलाया तभी मुझे ज्ञात हुआ कि इस प्रेम-बाण की मर्मान्तिक चोट मेरे हृदय के पार हो गई। भाव यह है कि प्रेम से तन-मन बिंध गया।

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊँ नहीं ॥१७॥

शब्दार्थ—सरि=बाण। सच=सुख, शान्ति।

हे गुरुदेव जिस प्रेम बाण से आपने मुझ पर चोट की वह मेरे मन मे बस गया है। वह बाण स्वर—वाणी का अर्थात् प्रेमोपदेश का था। उसी (वाणी के) बाण को मेरे आज भी मार, क्योकि उसके विना मुझे शान्ति नही।

विशेष—कैसा विरोधाभास है जो बाण शरीर को बीधता है, वही प्रिय लग रहा है, यह कबीर जैसे प्रेमी के लिए ही सभव है।

बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम बियोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होइ ॥१८॥

शब्दार्थ—भुवगम=साप। बौरा=पागल।

विरह रूपी सर्प शरीर की बांबी मे धुसा बैठा है, उसे कोई भी मत्र (साधक) बाहर निकालने मे समर्थ नही हो सकता। प्रभ का वियोगी तो जीवित ही नही रह

सकता, वह जीवन-मुक्त हो जाता है और यदि जीवित रहता है तो सांसारिक कर्तव्यो आदि से पूर्ण असम्पृक्त हो जाता है जिसे लोग पागल कहने लगते है।

विशेष—१. प्रथम चरण मे सर्प को पकडने की क्रिया से विरह की तुलना है, वाबी मे से सर्प को मन्त्र बल से निकाल कर वशीकृत किया जाता है।

२ रूपक अलकार।

बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजे घाव।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूं भावै त्यूं खाव ॥१९॥

शब्दार्थ—पैसि कर=पैठ कर, प्रवेश कर। अग न मोडही=विचलित नही होते।

विरह रूपी सर्प ने शरीर में प्रवेश कर हृदय मे घाव कर लिया है, किन्तु इस वेदना से साधुजन विचलित नही होते। जैसे उसकी इच्छा होती है, उस रूप मे उसे अपने को खाने देते है। भाव यह है कि साधक विरह की कठोर यातनाओ से पथ-विचलित नही होते।

सब रँग तंतर बाबतन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त ॥२०॥

शब्दार्थ—रग=रग, शिराएँ। तंतर=पशु चर्म निर्मित ताँत जो तन्त्री में प्रयुक्त होती है। बाब=इकतारे के समान तन्त्री जिसे जोगी बजाते फिरा करते है।

शरीर रूपी तन्त्री पर शिराओ रूपी ताँतों को विरह नित्य बजाता है। विरह वेदना से शिरोपशिरायें झकृत रहती है। इससे निस्सृत सगीत को कोई तीसरा नही सुन सकता। या तो उसे प्रियतम ही सुन सकते है और या मेरा हृदय ही। प्रेम-क्षेत्र के अनुभव ऐसे है जिन्हे भुक्त-भोगी ही जान सकते है।

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ॥२१॥

शब्दार्थ—बुरहा=बुरा। जिनि=मत। सुलितान=राजा। मसान=श्मशान।

हे मनुष्यो! विरह को बुरा मत बताओ, वह तो राजा के समान सर्वोपरि है—संयोग से भी ऊपर है। जिस हृदय में विरह का संचार नही होता वह सर्वदा श्मशान की भांति शून्य है, निर्जीव है।

विशेष—कबीर के समान अन्य कवियो ने भी विरह की महत्ता प्रदर्शित की है—

"न विना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते"

× × ×

"वेदना में ही तप कर प्राण'
दमक दिखलाते स्वर्ग हुलास।"—पन्त'

× × ×

"ऊधौ विरहो प्रेम करै'

अंषड़ियां झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़ियां छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥२२॥

शब्दार्थ—अषड़िया=नेत्र । झाई=मन्द ।

प्रिय-आगमन का मार्ग तकते तकते मेरी नेत्र-ज्योति मन्द पड गई है एव राम को पुकारते-पुकारते मेरी जीभ मे छाले पड गये है । प्रियतम ! मैं कब से तुम्हारी बाट जोह रही हूँ ।

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यू जीव ।
लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ॥२३॥

शब्दार्थ—दीवा=दीपक । मेल्यू=डालू । जीव=प्राण । लोही=रक्त ।

मैं अपने शरीर रूपी दीपक मे प्राणो की वर्तिका डाल कर और उसका लोहू-रूपी तैल स्नेह से अभिषिंचन कर न जाने कब से प्रिय आगमन का मार्ग देख रही हूँ न जाने कब उनका मुख निहार सकूँगी ।

नैनां नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम ।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम ॥२४॥

शब्दार्थ—नैना=नेत्रो से । नीझर=निर्झर । जाम=याम, प्रहर (दिन के)

मेरे नेत्रों से अहर्निश अश्रु-प्रवाह रहट की भाँति अवान्तर गति से चलता रहता है और मैं सर्वदा पपीहे की भाँति प्रिय-नाम रटती रहती हूं । हे प्रियतम राम ! तुम कब मिलोगे ?

अंषड़्यां प्रेम कसाइयाँ, लोग जांणे दुखड़ियां ।
साईं अपणे कारणै, रोइ रोइ रतड़ियां ॥२५॥

शब्दार्थ—प्रेम कसाइयां=प्रेम की कसौटी पर कसी गई । साई=स्वामी, प्रिय ।

मेरी आँखें प्रेम की कसौटी पर लाल हो गई है । वे प्रिय-वियोग मे निरन्तर रोने के कारण लाल हो गई है और ससार यह अनुमान लगा रहा है कि ये दुखनी आ गई है ।

सोई आंसू सजणां, सोई लोक विड़ांहि ।
जे लोइण लोहीं चुवै, तौ जाणौं हेत हियांहि ॥२६॥

शब्दार्थ—सोई=वे ही । सजणां=सज्जनो के । लोक बिडांहि=लोक-बाह्य अर्थात् दुर्जनो के । लोइण=नेत्र । लोही=रक्त । चुवै=गिरता है ।

केवल मात्र अश्रु देखकर सच्चे प्रेम की पहचान नही की जा सकती, क्योकि आंसू तो सज्जन और दुर्जन दोनो के समान रूप से गिरते हैं, किन्तु जिन नेत्रों से रक्त के आसू गिरे, वही सच्चे प्रेम की अवस्थिति जानो ।

विशेष—कबीर का प्रेमादर्श बडा महान् है जिसमे "शीश उतारै भुई धरै,

तब पैठ घर माहि" का सिद्धान्त सर्वत्र प्राप्त होता है। वहा त्याग और समर्पण ही सब कुछ है।

कबीर हसणाँ दूरि करि, कति रोवण सौ चित्त।
बिन रोयां क्यूँ पाइए, प्रेम पियारा मित्त ॥२७॥

शब्दार्थ--मित्त=मित्र, प्रियतम।

कबीर कहते है कि हे मित्र! हँसना छोड दे, अर्थात् सुखमय जीवन को त्याग दे एव रुदन अर्थात् प्रिय-वियोग की वेदना को ही अपना। बिना विरह की अनुभूति के प्रेम-पात्र को तू कैसे प्राप्त कर सकेगा?

जौ रोऊँ तौ बल घटै, हँसौ तौ राम रिसाइ।
मनही मांहि बिसूरणां, ज्यूं घुंण काठहि खाइ ॥२८॥

शब्दार्थ—विसूरणा=क्रदन। घुण=घुन। काठहि=काष्ठ को।

यदि मैं विरह मे रोता हू तो मेरी शक्ति क्षीण होती है, हसता हू तो राम को प्रिय नही है, क्योकि बिना मिलन उल्लास क्यो और कैसे? अब मेरी आत्मा मन ही मन क्रदन कर मुझे वैसे ही क्षीण करती रहती है जैसे घुन भीतर ही भीतर काष्ठ को काट कर खोखला बना देता है। भाव यह है कि विरह भीतर ही भीतर सालता रहता है।

हँसि हँसि कंत न पाइए, जिन पाया तिन रोइ।
जे हांसेंही हरि मिलै, तौं नहीं दुहागनि कोइ ॥२९॥

शब्दार्थ—दुहागनि=दुर्भागिनी।

हस-हस कर, सासारिक आनन्द उडाते हुए, किसी ने प्रभु को नही पाया है। जिसने भी उनकी प्राप्ति की है उसने उनके विरह की मर्मानुभूति की है। जो इस प्रकार भोगविलास द्वारा ब्रह्म, स्वामी, की सुहागिन बन जाये, तो कोई अभागिन रहे ही नही।

हाँसी खेलौं हरि मिलै, तौ कौण सहै षरसान।
काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान ॥३०॥

शब्दार्थ—षरसान=तलवार।

यदि प्रभु सुख-वैभव की विविध क्रीडाओ मे प्राप्त हो जाये तो तलवार की धार के समान तीक्ष्ण विरह-वेदना का अनुभव करने के लिए कौन प्रस्तुत होगा। जो काम, क्रोध एव तृष्णा का परित्याग कर देगा उसे ही भगवंत्-प्राप्ति हो सकती है।

विशेष—तुलना कीजिये—

अति तीक्ष्ण प्रेम कौ पथ महा, तलवार की धार पै धावनौ है।"

पूत पियारो पिता कौ, गौहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ ॥३१॥

शब्दार्थ—पूत=पुत्र। गौहनि=साथ। आपण=अपनापन।

आत्मा रूपी पुत्र प्रभु रूपी पिता के प्रेम के कारण उसके साथ के लिए दौड पडा, किन्तु वह पिता लोभ की मिठाई पुत्र के हाथ मे देकर स्वय को छिपा गया।

भाव यह है कि आत्मा तो स्वाभाविक प्रेम के कारण परमात्मा से मिलना चाहती है किन्तु प्रभु लोभ का व्यवधान डालकर छिप जाने है—साधक की दृष्टि से ओझल हो जाते है।

विशेष—पिता के साथ जब बाहर जाने के लिए पुत्र बहुत मचलता है तो पिता उसे पैसे या अन्य कोई लोभ की वस्तु दे देता है, बच्चा उस वस्तु मे अटक जाता है और पिता उससे अलग चला जाता है। कबीर ने यही रूपक प्रस्तुत किया है।

डारी खांड़ पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ ॥३२॥

शब्दार्थ—अतरि=हृदय मे। रोस=क्रोध।

किन्तु इस लोभ की मिठाई की सारहीनता जब आत्मा रूपी पुत्र ने देखी तो उसने उसे उठा कर फेक दिया, लोभ का परित्याग कर दिया, और उसे अपने कृत्य पर आक्रोश हुआ कि यह तूने क्या किया? इस तुच्छ मिठाई के कारण पिता को छोड़ दिया। इस वियोग मे वह पुत्र (आत्मा) वेदना का अनुभव कर रोने लगा और रोना-रोता अपने प्रिय पिता (प्रभु) तक जा पहुचा।

नैनां अंतरि आचरूं, निस दिन निरषौं तोहि।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोंहि ॥३३॥

शब्दार्थ—नैना अतरि=आँखो मे। आचरूँ=आँजकर, लगाकर।

हे प्रभु! न जाने वह दिवस कब आयेगा जब मैं आपको नेत्रो के भीतर काजल के समान आजकर अहर्निश आपका दर्शन लाभ प्राप्त करूंगी। न जाने प्रभु आप कब दर्शन देकर मेरे लिए इस सौभाग्यशाली दिवस को बुलाओगे।

भाव यह है कि मुझे किस दिन यह सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा।

कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
बिरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ ॥३४॥

शब्दार्थ—निस=रात। जियरा=प्राण। तलपै=तडपना।

कबीर कहते है कि विरहिणी आत्मा दूसरी आत्मा को सम्बोधित कर कहती है कि हे सखि प्रिय की प्रतीक्षा मे समस्त दिवस बीत गया और रात्रि भी यूं ही रीती बीती जा रही है। विरहिणी को प्रिय की प्राप्ति नही होती इससे उसका हृदय वेदना में तडपता है।

कै बिरहणि कुं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां, मोपै सह्या न जाइ ॥३५॥

शब्दार्थ—मीच=मृत्यु। दाझणां=दग्ध होना।

हे प्रभु विरहिणी की या तो जीवन लीला ही समाप्त कर दो या अपना स्वरूप-दर्शन दो। अब दिन-रात यह वेदना मुझ से सहन नही हो पाती।

बिरहणि थी तौ क्यूं रही, जली न पीव की नालि।
रहु रहु मुगध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूं मारि ॥३६॥

शब्दार्थ—नालि=साथ। रहु-रहु=बस-बस। मुगधा=मुग्धा। गहेलडी =देरी करने वाली।

यदि तू वास्तविक अर्थों मे वियोगिनी थी तो जीवित क्यो रह गयी ? प्रिय के साथ चिता मे ही क्यो न भस्म हो गई ? अपनी लज्जा के कारण प्रिय-मिलन में असफलता प्राप्त करा देने वाली मुग्धा ? तू अधिक बात मत वना बस कर, क्यो व्यर्थ प्रेम को भी लज्जित करती है।

हौं बिरह की लाकड़ी, समझि समझि धू धाऊँ।
छूटि पड़ौं या बिरह तैं, जे सारी ही जलि जाऊँ ॥३७॥

शब्दार्थ—समझि-समझि=सुलग-सुलग।

मैं विरह की उस लकडी के समान हू जो शनै-शनैः सुलग-सुलग कर जल रही है। इससे तो अच्छा है कि प्रिय दर्शन दे दे और मैं इस विरह से मुक्त हो सकूं अथवा मैं जलकर सर्वथा क्षार हो जाऊ। यह विरहावस्था असहनीय है।

कबीर तन मन लौं जल्या, बिरह अगनि सूं लागि।
मृतक पीड़ न जांणई, जांणौंगी यहु आगि ॥३८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है, विरह-अग्नि से मेरा शरीर और हृदय इस प्रकार भस्म हो गये कि वे चैतन्य रहित है। जिस प्रकार मृतक पीडा से सर्वथा असम्पृक्त रहता है उसी प्रकार विरहिणी भी। यदि कुछ वेदना की जलन का अनुभव और ज्ञान होगा तो इस विरहाग्नि को ही होगा।

बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जल हरि जाऊँ।
मो देख्यां जल हरि जलै, संतौ कहाँ बुझाऊँ ॥३९॥

शब्दार्थ—सरल है।

मैं विरहाग्नि मे जली जा रही हू। इस असह्य अवस्था के शमन के लिए यदि मैं गुरु रूपी तालाव के पास जाती हू तो मुझको उस प्रेमाग्नि मे जलता देखकर गुरु भी और अधिक उस आग से जलने लगे। सतजन, मैं इस विचित्र स्थिति का क्या वर्णन करू।

भाव यह है कि शिष्य का यह अपार प्रेम देखकर गुरु में भी प्रेम उद्दीप्त हो उठता है।

परबति परबति मैं फिर्या, नैन गँवाये रोइ।
सो बूटी पाँऊं नही, जातैं जीवनि होइ ॥४०॥

शब्दार्थ—परबति=पर्वत। बूटी=औषधि।

मैंने पर्वत-पर्वत छान डाला और नेत्र प्रिय वियोग मे रोते-रोते नष्ट कर

बैठा, किन्तु मैं कही भी वह सजीवनी बूटी अर्थात् ब्रह्म—स्वामी, नही प्राप्त कर सका जिससे जीवन सफल हो सके ।

विशेष—कबीर के ध्यान मे इस समय लक्षण-शक्ति प्रसग अवश्य घूम रहा होगा ।

> **फाड़ि पुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउं ।**
> **जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोई भेष कराउ ॥४१॥**

शब्दार्थ—पुटोला=रेशमी वस्त्र । धज=टूक-टूक, धज्जियां । कामलणी=कम्बल ।

यदि प्रिय को मेरा यह सौन्दर्यपूर्ण वेश रुचिकर नही तो अपने रेशमी वस्त्रो को फाडकर धज्जियाँ कर साधुओ के समान कम्बल धारण कर लू । जिस-जिस वेश (आचरण) के द्वारा प्रभु-मिलन की सम्भावना है, मैं वही वेश धारण कर सकती हूं ।

> **नैन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ैं तुज्झ ।**
> **ना तूं मिलै नाँ मैं सुखी, ऐसी बेदन मुज्झ ॥४२॥**

शब्दार्थ—लोडैं=प्रतीक्षा मे देखना । सुखी=प्रसन्न ।

मेरे नेत्र क्षण-क्षण मे तेरी प्रतीक्षा मे वाट जोहते-जोहते नष्ट हो गये। मुझे ऐसी वेदना है कि तेरे मिलन विना आनन्द नही ।

> **भेला पाया स्रम सौं, भौसागर के माहि ।**
> **जे छांड़ौं तौ डूबिहौं; गहौं त डसिये बांह ॥४३॥**

शब्दार्थ—भेला=वेडा । भौसागर=भवसागर ।

इस भवसागर के मध्य डूबते हुए को तरने के लिए बडे परिश्रम से प्रेम का बेड़ा मिला है किन्तु इस पर विरह रूपी सर्प बैठा हुआ है । जो इसे छोडता हूं तो डूबने का भय है और यदि इसका आश्रय लेता हू तो आशका है कि यह विरह-भुजंगममुझे डस न ले ।

भाव यह है कि संसार से मुक्त होने के लिए प्रेम एकमात्र साधन है, किन्तु इसके साथ विरह अवश्य भोगनापडता है ।

> **रणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि ।**
> **देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि ॥४४॥**

शब्दार्थ—सषम=चक्रवाक । झूरि=विसूर, विसूर कर । धाहडी=उच्च-स्वर में ।

चक्रवाक पक्ष में—हे चक्रवाक ! रात्रि ने तेरे प्रिय को तुझसे वियुक्त कर दिया है, अब तू विलख-विलख कर उच्च वाणी मे मन्दिर-मन्दिर अथवा घर-घर पर उसके लिए पुकार लगा रहा है, किन्तु उससे मिलन सूर्य ही करायेगा ।

मनुष्य पक्ष में—अज्ञान रात्रि में तुझसे प्रभु वियुक्त हो गये हैं । अब तू चक्रवाक की भाति मन्दिर-मन्दिर मे उसके लिए पुकार लगा रहा है, किन्तु उसकी

प्राप्ति ज्ञान-सूर्य उदय होने पर ही होगी।

विशेष—अन्योक्ति से पुष्ट सागरूपक अलकार।

सुखिया सब संसार है, खायै, अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥४५॥

शब्द—सरल है।

कबीर कहते है कि समस्त ससार सुखी है जो भोग-विलास का जीवन व्यतीत कर अज्ञान रात्रि मे सोता है। दुखी तो केवल एक कबीर है जो ज्ञान-प्राप्ति के लिए जग भी रहा है और प्रभु-मिलन के लिए रो भी रहा है।

☆

४. ग्यान बिरह कौ अंग

अंग-परिचय—निर्गुण सन्तो मे ज्ञान की महत्ता को स्वीकार किया गया है। उनकी मान्यता है कि जब तक जीव अज्ञान के अधकार मे पड़ा रहेगा, तब तक वह प्रभु से सक्षात्कार नही कर सकता। इसलिए इस अग मे कबीर ने ज्ञान और विरह के समन्वय का वर्णन किया है। वे कहते है कि मैंने जीवात्मा रूपी दीपक मे ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित करके उसमे स्नेह का तेल डाल लिया है। इस प्रकार की ज्योति ही विषय-वासनाओ के पतगो को जलाने मे समर्थ होती है, अर्थात् मन के विकार सभी दूर हो सकते है, जब ज्ञान और विरह का समुचित समन्वय हो। मनुष्य की मृत्यु के लिए हिंसात्मक शस्त्रों की आवश्यकता नही है, क्योकि इस प्रकार की मृत्यु से व्यक्ति को कुछ भी प्राप्त नही होता। यदि वह प्रेमास्त्रों से मरता है तो निसदेह उसे भगवत की प्राप्ति हो जाती है। यह प्रेम की आग बड़ी विलक्षण होती है, क्योकि इससे धुआँ नही निकलता, किन्तु यह अन्दर ही अन्दर हृदय को जलाती रहती है। इसकी वेदना को वही व्यक्ति जान सकता है, जो इस आग मे पल रहा हो, केवल दूसरो के कहने से इसका वास्तविक ज्ञान नही हो सकता।

योगाग्नि के प्रज्वलित होने पर शरीर की झोली जलकर क्षार हो जाती है, खोपड़ी का खप्पर टूट-टूट कर टुकडे-टुकडे हो जाता है और जब काया का बन्धन हो जाता है, तब ब्रह्म की प्राप्ति हो जाना बहुत ही आसान होता है। यही अग्नि माया जन्य विषय विकारो को नष्ट करने मे समर्थ होती है और जब विषय-वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब मन मे अनेक प्रकार के उदात्त पावन वैराग्य, विवेक, करुणा आदि आविर्भूत हो जाते है। यही अग्नि तभी प्रज्वलित होती है, जब शिष्य पर गुरु की कृपा होती है। इस आग मे जलकर ही मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त करके उसके साथ तदाकार हो जाता है; अर्थात् वह जीवनमुक्त हो जाता है।

दीपक पावक आंणिया, तेल भी आंण्या संग।
तीन्यूं मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ै पतग ॥१॥

शब्दार्थ—दीपक=जीवात्मा। पावक=ज्ञान ज्योति। तेल=स्नेह।

आण्या=डालकर। जाड्या=जलाया, प्रदीप्त किया। पतंग=विषय वासना के उपादान रूपी पतगे।

जीवात्मा रूपी दीपक मे ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित कर तथा उसमे स्नेह (तेल) डालकर प्रदीप्त किया। इस प्रकार जब तीनो आत्मा, ज्ञान एवं स्नेह मिलकर एकत्रित हो प्रदीप्त हुए तब उसकी अग्नि शिखा मे विषय वासना रूपी पतंगे गिर-गिरकर नष्ट होने लगे।

मार्या है जे मरैगा, बिन-सर थोथी भालि।
पड़्या पुकारै ब्रिछ तरि, आज मरै कै कालिह ॥२॥

शब्दार्थ—बिन सर=बिना फलक के। थोथी=खाली। वृछ=वृक्ष, ससार-वृक्ष।

जो मारा गया है वह तो बिना फलक के छूछे भाले से ही मर सकता है। भाव यह है कि मरण के लिए हिंसापूर्ण शस्त्रो की आवश्यकता नही, अपितु जीवन्मुक्त होने के लिए प्रेम का बाण ही पर्याप्त है। उस बाण के लगते ही वह वेदनाकुल होकर ससार—वृक्ष के नीचे पडा कराह रहा है, पीडा का अनुभव कर इस प्रतीक्षा मे है कि वह आज जीवन्मुक्त होगा या कल। अथवा यह ससार वृक्ष के नीचे पडा व्याकुल है आज या कल मे ही अर्थात् शीघ्र ही उसे प्रिय की प्राप्ति जायेगी।

हिरदा भीतरि दौं बलै, धूवां न प्रगट होइ।
जाकै लागी सौ लखै, कै जिहि लाई सोइ ॥३॥

शब्दार्थ—हिरदा=हृदय। दौ=अग्नि। बलै=जले। लाई=लगाकर।

हृदय के भीतर प्रेम की दावाग्नि धधक रही है किन्तु उसका धुआँ प्रकट नही होता, वह तो भीतर ही भीतर जलती रहती है। इस अग्नि का अनुभव तो दो ही कर सकते हैं, या तो वह जिसके हृदय मे यह अग्नि धधकती है और या फिर वह जो इस अग्नि को लगाने वाला है। शेष संसार इस अग्नि का धुँआँ अर्थात् कुछ भी चिह्न नही देख पाता।

झल ऊठी झोली जली, खूपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥४॥

शब्दार्थ—झल=अग्नि। झोली=शरीर। खपरा=खोपड़ी। विभूति=राख, क्षार।

योगाग्नि प्रज्वलित होने पर शरीर की झोली तो जलकर भस्म हो गई और खोपड़ी रूपी खप्पर टूट-फूट गया। योगी की आत्मा तो परम तत्व से मिल गई, उसके समाधि स्थान पर तो केवल शरीर की राख ही अवशिष्ट रह पाई।

भाव यह है कि आत्मा के महामिलन मे योगी को वेशादि बाह्य उपकरणो की आवश्यकता नही होती।

अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उतर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥५॥

शब्दार्थ—कदू=पंक, पाप। उत्तर दषिरा के पडिता=उत्तर दक्षिण के पडित अर्थात बहुत सारे विद्वान्।

माया रूपी जाल मे ज्ञानाग्नि लग जाने से विषय-वासना का पंक जल कर समाप्त हो गया। इस अद्भुत कृत्य को देख (कि पानी मे आग कैसे लग गई) उत्तर से लेकर दक्षिण तक के ज्ञानी विचार-विचार कर रह गये, किन्तु यह रहस्य उनकी समझ मे न आया।

दौ लागी साइर जल्या, पंषी बैठे आइ।
दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाय ॥६॥

शब्दार्थ—दो=अग्नि, ज्ञानाग्नि। साइर=सागर। पालवै=पल्लवित होता।

ज्ञानाग्नि के लगने से वासना का सागर भस्म हो गया और नवीन सृष्टि मे (ज्ञानयुक्त होने पर) वैराग्य, विवेक, करुणा आदि गुणो के पक्षी आकर चहचहाने लगे। इस दग्ध वासना-शरीर को मै पुन· पल्लवित्त नही होने दूँगा क्योकि सद्गुरु ने ज्ञान-अग्नि लगा दी है।

गुर दाधा चेला जल्या, बिरहा लागी आगि।
तिणका बपुड़ा ऊबर्या, गलि पूरे कै लागि ॥७॥

शब्दार्थ—दाधा=दग्ध किया। बपुडा=वेचारा। गलि=(गैल) साथ। पूर=पूर्ण ब्रह्म।

गुरु ने प्रेमाग्नि को प्रज्वलित किया, उसमे चेला जल गया, अर्थात् प्रभु-प्रेम मे मग्न हो गया, किन्तु इसकी विरहानुभूति से वह तभी मुक्त हुआ जब तृण तुल्य स्वतन्त्र अस्तित्वहीन आत्मा पूर्ण ब्रह्म मे लीन हो गई।

भाव यह है कि प्रभु मिलन से ही मुक्ति हो सकती है।

अहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारे रोइ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ ॥८॥

शब्दार्थ—अहेडी - आखेटक—गुरु। लाइया=लगा दी। मृग=जीव—मनुष्य। क्रीला=क्रीडा। दाझत=जलता है। बन=विषय-वासना से पूर्ण माया का ससार।

सदगुरु रूपी आखेटक ने माया के विषय-वासनायुक्त बन मे ज्ञान की अग्नि लगा दी। जीव रूपी मृग यह पुकार कर रो उठे कि जिस बन मे हमने क्रीड़ाये कर सुख भोग प्राप्त किया वही जल रहा है।

विशेष—मृगों को पकडने या मारने के लिए आखेटक सम्पूर्ण वन मे आग लगा देते है। वन मे आग लगती देख मृग सम्मुख आ जाते है और आखेटक उन्हे अपने बाणो का लक्ष्य बना लेता है। यही रूपक कबीर ने यहाँ प्रयुक्त किया है।

पाणी मांहै प्रजली, भई अप्रबल आगि।
बहती सलिता रह गई, मंछ रहे जल त्यागि ॥९॥

शब्दार्थ—पानी=विषय वासना या माया। अप्रबल=अत्यन्त तीव्र। मछ=मच्छ, जीव। जल=संसार।

विषय-वासना रूपी जल मे ज्ञान की आग लगकर तीव्र वेग से फैल गई। ज्ञान ने सम्पूर्ण माया बन्धन को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। माया की सरिता का प्रवाह रुक जाने से जीवो ने जल—ससार—का परित्याग कर दिया, अर्थात् वे जीवनमुक्त हो गये।

समंद्र लागी आगि, नदियां जलि कोयला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई ॥१०॥१२२॥

शब्दार्थ—समदर=ससार सागर। नदियाँ=विषय वासनाएं। कोयला=शुष्क, क्षार से तात्पर्य है। मछी=मछली, मनुष्य। रूपा=ब्रह्म।

ससार समुद्र मे ज्ञान की अग्नि लग गई जिससे विषय-वासना और सासारिक आकर्षणो की सरितायें जल कर कोयले के समान शुष्क हो गई, किन्तु कितनी ही मछलिया रूपी आत्माए इस विनाश चक्र मे न पडी। वे तो अपनी साधना द्वारा ब्रह्म-लीन हो गई (रूपा चढि गई) अत हे कबीर! तू इस स्थिति को देख कर जाग और साधना द्वारा तू भी ब्रह्म को प्राप्त कर।

★

५. परचा कौ अंग

अंग परिचय—परचा का शुद्ध रूप है परिचय। प्रस्तुत अग मे कबीर ने आत्मा और परमात्मा के महामिलन का परिचय देते हुए ब्रह्म के स्वरूप का परिचय दिया है। उन्होने बताया है कि परमात्मा अनत तेज से युक्त है। वह तेज ऐसा प्रतीत होता है मानो असख्य सूर्यो की सेना ही एक स्थान पर एकत्र हो गई हो। उस तेज का वर्णन करना अत्यन्त कठिन है, कोई उसकी महत्ता का अनुमान भी नही लगा सकता। ब्रह्म अगम्य और अगोचर है और जहाँ पर उसका महातेज विदीर्ण होता है, वह स्थान भी अगम्य है। ऐसे तेजस्वी ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करना शब्दो के सीमित साधन की शक्ति से बाहर है।

कबीर ने फिर बताया है कि वह ब्रह्म कमल के समान है—ऐसा कमल जो बिना पानी के ही फूलता-फलता है और मेरा मन—आत्मा भौरे के समान है। जिस प्रकार भ्रमर का कमल के प्रति अनत अनुराग होता है, उसी प्रकार मेरी आत्मा भी गुरु के अनुराग मे तल्लीन है। मेरे हृदय मे कमल खिल रहा है जिसमे ब्रह्म का निवास है। जहाँ सागर सीप एव स्वाति नक्षत्र की बूद से मोती उत्पन्न नही होता, ऐसे शून्य शिखर पर प्रभु के दर्शनानन्द रूपी मोती की प्राप्ति होती है। ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग योग-पथ है जिसका ज्ञान गुरु की कृपा से ही होता है। जिन लोगो पर गुरु की कृपा नही होती, वे मार्गभ्रष्ट हो जाते है और जिन लोगो पर गुरु की कृपा होती है, वे सत्पथ पर चलकर मुक्ति प्राप्ति कर लेते है। सासारिक बन्धन ब्रह्म-प्राप्ति मे

बाधक है। जब आत्मा इन बन्धनो को छोड कर निस्सीम प्रदेश मे प्रवेश कर लेती है, तभी उसे शून्य प्रदेश मे अमृत के समान ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। जब आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है तो हृदय के सारे अज्ञानो का समूह एकदम तिरोहित हो जाता है। अतः कबीर कहते है कि मेरा चित्त सासारिक विषयो से उदासीन होकर उन्मत अवस्था को प्राप्त हो गया है। पहले जो मन माया के चक्कर मे आकर इधर-उधर भटकता रहता था, वह अब सर्वथा निश्चल और शात होकर ब्रह्म से इसी प्रकार मिल गया है जिस प्रकार नमक पानी मे मिलकर तदाकार हो जाता है। वस्तुत आत्मा परमात्मा से मिली भी तो नही है, वल्कि उसी का एक रूप है। जिस प्रकार बर्फ की उत्पत्ति पानी से होती है और फिर वह पिघल कर पुन. पानी बन जाता है, इसी प्रकार आत्मा परमात्मा का ही रूप है जो कुछ दिनो तक काया का आवरण पहने रहने के कारण भिन्न-रूप मे भासित होता रहता है, किन्तु जब यह आवरण हट जाता है तो फिर अपने उसी महारूप मे मिलकर तदाकार हो जाता है। सासारिक आकर्षण आत्मा और परमात्मा के मिलन मे सबसे बडी बाधा होते हैं। जिस प्रकार दलाल क्रय-विक्रय करके दूसरे भोले लोगो को अपने चगुल मे फंसाता रहता है, उसी प्रकार ये आकर्षण भी आत्मा को कर्मो के बधन मे बाँधते रहते है। जब तक कर्मो का बधन है तब तक ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव है। और ये बंधन गुरु की कृपा से ही नष्ट होते है। कबीर कहते है किसी भाग्य से मुझ पर गुरु की कृपा हुई और पक्षी-रूपिणी मेरी आत्मा शून्य प्रदेश रूपी गगन मे उड गई। वन्य प्रदेश मे पहुंच कर इस पक्षी ने बिना चोच के ही सहस्रदल से स्रवित अमृत का पान किया। यह पान इतना मधुर था कि इसके सामने ससार के सारे आनन्द निस्सार और तुच्छ दिखाई देने लगे। कहने का भाव यह है कि आत्मा को परमात्मा तक पहुचने के लिए मूलाधार, स्वाधिष्ठान, पाणिपूरक, अनाहद, विशुद्ध और आज्ञाचक्र इन छ. चक्रो का भेदन करना होता है और जब इडा पिंगला से मिल जाती है अब पिंगला मूलाधार से अपना कोई सम्बन्ध नही रखती, अर्थात् मूलाधार चक्र का भेदन कर देती है, तभी प्रभु की प्राप्ति होती है, क्योकि तब कुडलिनी के लिए ब्रह्म नाडी का मार्ग खुल जायेगा और वह ब्रह्मरध्र मे पहुच जायेगी, जहा पर शिव का—परम शक्ति का—निवास है और जहाँ पर अलौकिक आनन्द की सर्वदा वर्षा होती रहती है।

इस नाना रूपात्मक संसार मे मनुष्य जन्म लेकर प्रायः इसके ही आकर्षणो मे फँस कर ब्रह्म को भूल जाता है और फिर नाना प्रकार के कष्टो की असभ्य वेदना सहता रहता है। कुछ विरले लोग ही ऐसे होते है जो इन आकर्षणो से वियुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है और अन्त मे अपने प्रयत्न मे सफल भी हो जाते है। जब मनुष्य को ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है तो उसकी सारी वेदनाएँ शान्त हो जाती है और परम ब्रह्म से तदाकार होते ही उसके सारे पाप इस प्रकार नष्ट हो जाते है जिस प्रकार गगा मे मिल जाने पर गदा नाला भी पवित्र और पावन हो जाता है। यह ससार और इसके आकर्षण मे सब नश्वर और क्षणभंगुर हैं।

पृथ्वी, आकाश, वायु, जल और अग्नि इन पाँच तत्वों से बनी हुई सृष्टि भी नश्वर है। अनश्वर तो केवल ब्रह्म और उसके दास हैं, क्योंकि जब यह माया के बन्धनों से परिपूर्ण संसार नहीं था, यहाँ पर क्रय-विक्रय का व्यापार नहीं चलता था, तब भी यहाँ पर प्रभु के दास थे जो सर्वथा उसके प्रेम के अलौकिक आनंद में डूबे रहते थे।

ब्रह्म को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भक्त पर माया का जादू नहीं चलता। तब उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं और वह ब्रह्म को छोडकर और किसी पदार्थ की ओर उन्मुख ही नहीं होता। किन्तु ब्रह्म तभी प्राप्त हो सकता है, जब मनुष्य का मन सच्चे रूप में शुद्ध और निर्मल हो। आडम्बरों का स्वाँग भरने से ब्रह्म के दर्शन नहीं हो सकते। ब्रह्म का मिलन जिस स्वाद को प्रदान करता है, वह विलक्षण और अलौकिक है। वाणी से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसके स्वाद को तो वही व्यक्ति जान सकता है, जिसने उस स्वाद का आस्वादन किया हो। उस स्वाद को चखकर हृदय अमित आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है, अन्त:करण का सारा अज्ञान तिरोहित हो जाता है और आत्मा प्रभु से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। इस तदात्म्य को प्राप्त करके ही मनुष्य पूर्णता को प्राप्त होता है और जीवन का परम लक्ष्य भी यही है। इस लक्ष्य को प्राप्त करके मनुष्य फिर अपने अस्तित्व को विस्मृत कर देता है, उसका अहं नष्ट हो जाता है और सब प्रकार का अज्ञान मिट जाता है। इन अवस्थाओं को प्राप्त करके मनुष्य के हृदय का मान सरोवर भक्ति-जल से सम्पूर्ण हो जाता है जिसमें हंस रूपी आत्माएँ मुक्ति रूपी मोतियों को चुनते रहते हैं, अनहदनाद रूपी बादल गरज-गरज कर अमृत की वर्षा करते हैं, मेरुदण्ड रूपी कदली के ऊपर सहस्रदल विकसित हो जाता है।

कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि।
पति सँगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ॥१॥

शब्दार्थ—अनन्त=परमात्मा। सेणि=श्रेणी अथवा सेना। पति=स्वामी, ब्रह्म। जागी—ज्ञान प्राप्त। सुन्दरी=पत्नी अर्थात् आत्मा। दीठा=दृष्टिगत हुआ।

कबीर कहते है कि उस परमात्मा के सौन्दर्य का तेज ऐसा भासमान है मानो अनेक सूर्यों की श्रेणी अथवा सेना उदित हुई हो। पति अर्थात् स्वामी (क्योंकि आत्मा 'राम की बहुरिया' है) ब्रह्म के साथ (अज्ञानरात्रि से) जाग कर उसने यह सौन्दर्यमय आश्चर्यपूर्ण दृश्य देखा।

विशेष—अज्ञानरात्रि से केवल आत्मा ही जागती और तब प्रिय—परमात्मा—का सयोग पा वह आनन्दमय दृश्यावलोकन करती है।

कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
साहिब सेवा मांहि हैं, बेपरवांही दास ॥२॥

शब्दार्थ—कौतिग=कौतुक, आश्चर्य। उजास=उजाला, प्रकाश।

जिस स्वामी—ब्रह्म—का सौन्दर्य देखा गया वह अशरीरी था, निराकार के सौन्दर्य का ही वह दर्शन था। यह उसी के समान था जैसे कोई सूर्य और चन्द्र न

देखकर केवल मात्र उनके प्रकाश का दर्शन करे। (सत्य तो यह है कि) प्रभु जन-सेवा से ही प्राप्य है, उसमे भक्त भी निश्चिन्त हो जाता है।

विशेष—(१) "साहिब सेवा माहि"—से तात्पर्य जन-सेवा इसलिए है कि जन-सेवा ही वस्तुत. नारायण सेवा है, मनुष्य उसी का तो अश है। अंश की सेवा अशी की ही सेवा है। कबीर का यह दृष्टिकोण अत्यन्त सामाजिक और लोकमगल की भावना से ओत-प्रोत है।

(२) विभावना अलकार।

> पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
> कहिबे कूँ सोभा नही, देख्या ही परवान ॥३॥

शब्दार्थ—उनमान=अनुमान। परवान=प्रमाण।

उस प्रभु के तेजयुक्त सौन्दर्य को वाणी द्वारा नही कहा जा सकता, कहने मे उस अनुपम रस की शोभा ही नही। उस सौन्दर्य का अनुमान भी कोई नही लगा सकता, वह तो एकमात्र दर्शन का ही विषय है।

> अगम अगोचर गमि नही, तहाँ जगमगै जोति।
> जहाँ कबीरा बंदिगी, (तहां) पाप पुन्य नही छोति ॥४॥

शब्दार्थ—अगम=अगम्य। अगोचर=जो दिखाई न दे। गमि नही=जिस तक गति (पहुच) नही है। छोति=छूत-छात, भेद-भाव।

वह परम तत्व अगम्य और अगोचर है (साधारण व्यक्तियो के लिए, साधना से तो उसकी प्राप्ति हो ही जाती है)। इसलिए जहाँ उस परमात्मा की ज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती है वह स्थान भी अगम्य और अगोचर है। कबीर जिस ब्रह्म के सम्मुख शिरसा श्रद्धावनत है, वह पाप-पुण्य और छूआछात सबकी परिधि से परे है अर्थात् सब उसका भजन कर सकते है।

> हदे छाडि बेहदि गया, हुवा निरतर वास।
> कवल ज फूल्या फूल बिन, को निरषै निज दास ॥५॥

शब्दार्थ- हदे=सीमा, सम्बन्ध। निरषै=देखना।

जब मैं ससार मे अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर निस्सीम की साधना में प्रवृत हुआ, तो मैं उसकी सीमा मे ही निरन्तर रहने लगा अर्थात् आत्मा और परमात्मा का मिलन हो गया। वहाँ पहुँच कर मैने देखा कि एक कमल बिना मृणाल के भी वहाँ प्रफुल्ल विकास पा रहा है (ससार माया से असम्पृक्त ईश्वर का सौन्दर्य मृणाल के कमल का विकास है, जीवात्मा के सन्दर्भ मे भी यह अर्थ लगाया जा सकता है कि इस ससार मे माया-जनित आकर्षणो मे ही वह आनद पाता था, किन्तु निस्सीम की सीमा मे पहुचकर बिना इस माया से जुडे भी वह आनन्द पा रहा है)। इसको प्रभु भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई नही देख सकता।

विशेष—"फूल्या फूल बिन" मे फूल से तात्पर्य उस कमल मृणाल से ही है, जिसके द्वारा वह अपना जीवन रस ग्रहण करता है। यदि 'फूल' का अर्थ 'फल' ही

लगाया जाय तो कमल के खिलने की बात की कोई तुक नहीं बैठती।

कबीर मन मधकर भया, रह्या निरंतर वास।
कवल ज फूल्या जलह बिन, को देखै निज दास ॥६॥

शब्दार्थ—जलह=जल।

कबीर कहते है कि मैंने ऐसा कमल (परमात्मा) देखा है जो बिना जल (माया) के भी विकसित हो रहा है (आनन्द उठा रहा है)। ऐसा अनुपम केवल वही है, अन्य कोई नही। मेरा मन उस कमल का प्रेमी भ्रमर हो गया एवं उसके सम्पुट मे ही निरन्तर निवास करने लगा अर्थात् उसी मे लीन हो गया।

अंतरि कवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहाँ होइ।
मन भवरा तहाँ लुबधिया, जांणंगा जन कोइ ॥७॥

शब्दार्थ—अतरि=हृदय। लुबधिया=लुब्धक, लोभी। जन=भक्त।

मेरे हृदय के भीतर कमल खिल रहा है अथवा मेरे शरीर के भीतर कमल विकसित हो रहा है। जिसमे ब्रह्म का निवास है। मेरा मन रूपी भ्रमर उस कमल रस के पान करने के लिए लालायित हो गया है, इस रहस्य को विरले भक्त ही जान सकते है (इसका साक्षात्कार कुछ विरलो को ही होता है)।

विशेष—योग पथ मे शीश मे सहस्रदल कमल की स्थिति मानी गई है। योगपथियो की मान्यता है कि यही ब्रह्म का निवास है जहाँ से निरन्तर अमृत स्रवित होता है। इस कमल की स्थिति हृदय मे भी मानकर सन्तो ने वर्णन किया है। 'अन्तर' का अर्थ हृदय लिया जाय अथवा 'शरीर के भीतर' प्रत्येक दशा मे कबीर का तात्पर्य सहस्रदल-कमल से ही है।

सायर नाहीं सीप बिन, स्वांति बूंद भी नांहि।
कबीर मोती नीपजे, सुन्नि सिषर गढ मांहि ॥८॥

शब्दार्थ—सायर=सागर। नीपजे=उत्पन्न होना। सुन्नि=शून्य।

कबीरदास कहते हैं जहाँ सागर, सीप एव स्वाति नक्षत्र की बूँद—मोती की उत्पत्ति का एक भी उपादान नही है, ऐसे शून्य शिखर (सहस्रदल कमल के पास ही या उसके भीतर शून्य की स्थिति) पर प्रभु के दर्शनानन्द के मोती उत्पन्न होते हैं।

घट मांहै औघट लह्या, औघट मांहैं घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट ॥९॥

शब्दार्थ—घट=हृदय। औघट=अटपटा, विचित्र। ओघट=अविहित, निषिद्ध पन्थ। घाट=किनारा, तट। परचा=मिलन। बाट=मार्ग।

कबीरदास कहते है कि सद्गुरु ने जो मार्ग दिखाया उसी के द्वारा अपने हृदय मे उस ब्रह्म के दर्शन हो गये। गुरु द्वारा प्रशस्त यह पन्थ योग-पन्थ ही है। इसी के द्वारा जिसे (मूर्ख लोगो द्वारा) कुमार्ग (दुर्गम साधना) कहा जाता है मैंने अपना लक्ष्य (घाट) प्राप्त कर लिया।

सूर समांणां चंद मैं, दहूँ किया घर एक ।
मनका च्यंता तब भया, कछू पूरबला लेख ॥१०॥

शब्दार्थ—सूर=पिगला नाडी । चन्द=इडा नाडी । घर एक=सुपुम्ना । च्यता=इच्छित । पूरवला लेख=पूर्व जन्म के सत्कृत्य ।

साधक कबीर कहते है कि पिगला नाडी इडा मे समा गई और दोनो ने सुषुम्णा नाडी को ही अपना घर-मार्ग बना लिया । इन दोनो के एकत्रित होकर सुषुम्ना वास से ही कुण्डलिनी ऊपर ब्रह्माण्ड—सहस्रदल—की ओर उन्मुख हुई और सहस्रदल तक पहुच कर अमृत का पान करने लगी । यह मेरा मन चाहा हुआ, जो किसी पूर्वजन्म के सुकृत्यो का ही फल है ।

विशेष—योग पन्थ की मान्यतानुसार मेरुदण्ड के बायी ओर इड़ा, दाहिनी ओर पिंगला और मध्य मे सुषुम्णा नाडी होती है । सुषुम्णा नाडी के मध्य मे वज्रा, वज्रा के मध्य मे चित्रिणी और चित्रिणी के मध्य मे ब्रह्म नाडी होती है । इसी ब्रह्म नाडी से होकर कुण्डलिनी सहस्रदल कमल तक पहुचती है, किन्तु यह तभी सम्भव है जब इडा और पिंगला एक होकर सुपुम्ना मे प्रवेश करे । यह कबीर का 'च्यंता' है ।

हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान ।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ॥११॥

शब्दार्थ—हद=सीमा, माया जनित भ्रमयुक्त ससार । बेहद=सीमाहीन । सुन्नि अस्नान=सहस्र दल कमल मे अमृत प्राप्ति । महल=अन्त पुर, शून्य या ब्रह्मरन्ध्र ।

कबीर कहते है कि जब मैं इस मायाजनित भ्रममय ससीम ससार का परित्याग कर निस्सीम ब्रह्म की साधना में प्रवृत्त हुआ तो मैं शून्य प्रदेश मे झरते अमृत से नहा गया, पूर्णतया उस ब्रह्म-रस से सराबोर हो गया । बडे-बडे मुनिगण जिस शून्य प्रदेश के निवास के लिए तरसते है, उसका मार्ग नही पा सकते, वहाँ मेरा स्थायी वास हो गया है । अर्थात् जो ब्रह्म मुनियो को दुर्लभ है, उसे मैंने प्राप्त कर लिया है ।

देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का खेल ।
जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख ॥१२॥

शब्दार्थ—दोसत=दोस्त, मित्र, परिचित ।

हे सासारिक मनुष्यो ! कबीर के कुकर्मो एव पूर्वजन्म के सचित पुण्यो का फल तो देखो कि जिस शून्य महल का मार्ग मुनिगण भी नही पाते वहाँ पहुच कर कबीर ने निराकार (ब्रह्म) से मित्रता स्थापित कर ली है, उसी मे लय हो गया है (क्योकि मित्रता का लक्षण है 'दो-प्राण एक तन') ।

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत ।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥१३॥

शब्दार्थ—पिंजर=पिंजडा, अस्थि पिंजडा अर्थात् शरीर जो पांच तत्वो का पिंजडा है । खूटा=समाप्त हुआ ।

हृदय मे प्रेम के प्रकाशित होने पर आत्मा और परमात्मा का जो प्रिय और प्रेमी का सनातन सम्बन्ध है, वह जाग उठा। इस प्रेम भावना के जगने से अज्ञानवश जो भ्रम थे वे नष्ट हो गये, एव प्रिय—ब्रह्म—मिलन का अमित सुख प्राप्त हुआ।

प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुख कसतूरी महमहीं, वाणी फूटी वास ॥१४॥

शब्दार्थ—प्यंजर=शरीर। उजास=प्रकाश। वास=सुगंधि।

इस शरीर मे प्रभु प्रेम के उदित होने पर हृदय उस प्रेम-ज्योति से द्योतित हो उठा एव साधक का मुख प्रेम की सुगन्ध से परिपूर्ण हो गया जिससे उससे निस्सृत वाणी भी प्रभु-प्रेम की सुगन्ध से सुगन्धित थी।

मन लागा उन मन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चद विहूँणां चांदिणां, तहां अलख निरंजन राइ ॥१५॥

शब्दार्थ—उन मन्न=उन्मना, योग की एक अवस्था जिसमे साधक ससार से विरक्त होकर अन्तर्मुखी वृत्ति वाला हो जाता है। गगन=ब्रह्माड, शून्य। अलख निरजन=निराकार ब्रह्म।

मायाजनित आकर्पणो से विरक्त मन उन्मनी अवस्था मे प्रवृत्त होकर शून्य मे जा पहुचा एव वहाँ निराकार ब्रह्म के दर्शन किए। उस निराकार का सौन्दर्य अद्भुत कान्ति विकीर्ण कर रहा था। वह ऐसा ही था जैसे चन्द्रमा के विना मानो चन्द्र-ज्योत्स्ना छिटक रही हो। भाव यह है कि अशरीरी का भी अनुपम सौन्दर्य था।

मन लागा उन मन सौं, उन मन मनहि विलग।
लूंण विलगा पाणियां, पांणीं लूंण विलग ॥१६॥

शब्दार्थ—विलग=पृथक्, भिन्न। लूण=नमक। विलगा=लय हो गया, मिल गया।

साधक कहता है कि मेरा चित्त सासारिक विपयो से असम्पृक्त होकर उन्मनावस्था मे प्रवृत्त हो गया है एव यह मन की उन्मनावस्था पहले से सर्वथा भिन्न है,पहले तो मन माया के आकर्पणो मे भटकता था अव वह उनसे सर्वथा उपराम हो ब्रह्म प्राप्ति मे प्रवृत हो गया एव ब्रह्म से वह इस प्रकार एकाकार हो गया जिस प्रकार नमक मे पानी या पानी मे नमक लय हो जाते है।

पांणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ ॥१७॥

शब्दार्थ—पाणि=पानी, परम तत्व ब्रह्म। हिम=वर्फ, तत्व से निर्मित पदार्थ या वस्तु अर्थात् जीव।

कवीरदास जी आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पानी से ही वर्फ वनती है एव नष्ट होकर वह पुन. पानी के रूप मे परिवर्तित हो जाती है उसी प्रकार जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है और मृत्यु को प्राप्त

होने पर पुन: उसी परमात्मा मे लय हो जाता है। इस प्रकार तत्व या आत्मा अत: अपना प्रकृत स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

विशेष—निम्नस्थ पद मे भी कबीर ने यही भावना व्यक्त की है—

"जल मे कुम्भ कुम्भ मे जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी॥"

भली भई जु भै पड्या, गई दसा सब भूलि।
पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि॥१८॥

शब्दार्थ—भली भई=अच्छा हुआ। भै=भय। ढुलि=ढुलक कर।

यह बडा अच्छा हुआ कि सद्गुरु की कृपा ने मृत्यु भय से अवगत करा मुझे सासारिक—माया जनित—आकर्षणो से सर्वथा विमुख कर दिया (और मै साधना मार्ग पर अग्रसर हुआ) जिससे हिम गलकर पानी के यथार्थ रूप मे आ निस्सीम ब्रह्म की सीमा मे जा कर मिल गया, अर्थात् आत्मा ब्रह्म मे लय हो गई।

चौहटै च्यंतामंणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि।
मीरां मुझसूं मिहर करि, इबै मिलौ न काहू साथि॥१९॥

शब्दार्थ—चौहटै=चौराहे, तात्पर्य ससार के बाजार से है। हाडी=माया, दलाल। मीरा=धार्मिक आचार्य, यहाँ गुरु से तात्पर्य है। मिहर=कृपा।

ससार रूपी बाजार के चौराहे पर जीवात्मा रूपी चिन्तामणि विक्रय के लिए रखी गई (विक्रय और क्रय कर्मो का है) माया रूपी दलाल ने तभी उस पर हाथ रखना आरम्भ कर दिया अर्थात् मायाजनित आकर्षणो मे उलझाना प्रारम्भ कर दिया। हे गुरुवर! अब आप मुझ पर कृपा कर इस माया भ्रम से निकालिए, अब मैं फिर कभी इन प्रपचो मे न पडूगा।

पंषि उड़ानी गगन कूं, प्यंड रह्या परदेस।
पांणी पीया चंच बिन, भूलि गया यहु देस॥२०॥

शब्दार्थ—पषि=पक्षी, आत्मा। प्यड=पिण्ड, शरीर। परदेश=ससार, क्योकि आत्मा तो उस अलौकिक लोक का वासी है। पांणि=सहस्रदल कमल से निस्सृत अमृत। चच=चोच।

पक्षी-रूपिणी आत्मा शून्य प्रदेश रूपी गगन को उड गई एव साधक का शरीर इसी लोक मे रह गया। शून्य प्रदेश में पहुच कर इस पक्षी ने बिना चोच (साधन, इन्द्रियाँ) के सहस्रदल कमल से स्रवित अमृत का पान किया। इस अमृतपान के आनन्द के सम्मुख तुच्छ सासारिक आनन्द विस्मृत हो गये।

पंषि उडानीं गगन कूं, उड़ी चढीं असमान।
जिहि सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान॥२१॥

शब्दार्थ—पंषि=कुण्डलिनी, (मूलाधार चक्र के नीचे जहाँ मेरुदण्ड का अन्तिम भाग है वही एक त्रिकोणाकृति अग्निचक्र है। इसी अग्निचक्र मे स्वयम्भू लिंग से साढे तीन हाथ की लम्बाई की लिपटी हुई एक सर्पाकार शक्ति रहती है उसी को कुण्डलिनी कहते है। साधक प्राणायाम द्वारा उसे जागृत करता है। कुण्डलिनी जागृत

भीतर स्थित ब्रह्म नाडी द्वारा षट्चक्रो मे होते हुए सहस्रार में
ही पक्षी का 'गगन-उडन' कहा गया है। कुण्डलिनी का सहस्रार
की चरमावस्था है।) गगन=शून्य। आसमान=ब्रह्माण्ड, सहस्रदल
उससे ऊपर माना गया है। मण्डल=गगन अर्थात् शून्य एव मूलाधार
चक्र के बीच का स्थान जिसमे षट्चक्रो की स्थिति है।

कुण्डलिनी रूपिणी पक्षी (ब्रह्म नाडी मे प्रविष्ट हो) शून्य में पहुच गई। एवं उससे भी आगे बढ कर वह ब्रह्माण्ड मे (जहा प्रभु का निवास है) जा पहुची। जिस उपदेश से प्रभावित हो षट्चक्रो का भेदन किया जाता है वह उपदेश सद्गुरु ने मुझे प्रदान किया है।

विशेष—षट्चक्रो का भेदन ही मण्डल भेदन है। षट्चक्र ये हैं—

१. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपूरक ४. अनाहत ५. विशुद्ध, ६. आज्ञाचक्र।

सुरति समांणी निरति मै, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभ दुवार ॥२२॥

शब्दार्थ—सुरत=प्रभु-प्रेम, इडा। निरति=ससार से वैराग्य अर्थात् प्रभु का ध्यान, पिगला। स्यभद्वार=शम्भु का द्वार, शिव का स्थान, ब्रह्मरन्ध्र।

साधारण अर्थ—साधक की समाधि मे प्रभु के प्रेम का वास हो जाने पर अर्थात् समाधिस्थ अवस्था मे प्रभु का ही ध्यान करने से प्रभु की प्राप्ति सम्भव है। जब प्रभुभक्ति का साधना से सम्बन्ध हो जाता है तो शम्भु (प्रभु) के दर्शन हो जाते हैं।

साधनापरक अर्थ—जब इडा पिगला से मिल जाती है और पिंगला मूलाधार से अपना कोई सम्बन्ध नही रखती; अर्थात् मूलाधार चक्र का भेदन कर देती है तब ही प्रभु-प्राप्ति सम्भव है, क्योकि कुण्डलिनी के लिए ब्रह्म नाडी का मार्ग खुल जायेगा और वह ब्रह्मरन्ध्र मे पहुच जायेगी जहाँ शिव—परमशक्ति—का वास है। इड़ा पिंगला के इस मिलन से ही ब्रह्म प्राप्ति हो गई।

सुरति समांणी निरति मै, अजपा मांहैं जाप।
लेख समांणा अलेख मै, यूं आपा मांहैं आप ॥२३॥

शब्दार्थ—अजपा=मौन ध्यान। जाप=प्रभु नाम स्मरण। लेख=साकार ब्रह्म। अलेख= निराकार ब्रह्म। आपा=प्रभु, ब्रह्म, परमात्मा। आप=अपनत्व, आत्मा से तात्पर्य है।

इडा पिगला मे मिल गई जिससे नाम स्मरण की ध्वनि शान्त हो मौन ध्यान में परिणित हो गई। इस स्थिति मे आकर साकार निराकार मे समा गया, अर्थात् केवल निराकार ब्रह्म का ही ध्यान रहा इस प्रकार परमात्मा से आत्मा का मिलन हो गया।

आया था संसार मै, देषण कौं बहु रूप।
कहै कबीरा संत हौ, पड़ि गयां नजरि अनूप ॥२४॥

शब्दार्थ—सरल है।

इस नानारूपात्मक जगत मे विविध सांसारिक उपादानो को देखने के लिए ही मेरा जन्म हुआ था, किन्तु कबीरदास जी कहते है कि मुझे इस ससार मे आकर ब्रह्म के दर्शन हो गये।

अंक भरे भरि भेटिया, मन मै नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलै, जब लग दोइ सरीर ॥२५॥

शब्दार्थ—अक=गोद, आलिंगन। जब लग=जब तक।

मैं प्रिय से प्रेमविभोर हो कस-कस कर आलिंगनबद्ध हुआ, फिर भी मन मे धैर्य नही। वह एक प्राण दो तन चाहता, मन तो परमात्मा मे एकाकार होना चाहता है, किन्तु कबीरदास जी कहते है कि जब दो शरीर हैं तब तक एककार कैसे हो सकते है यह द्वैत ही आत्मा और परमात्मा के मिलन मे बाधक है।

सचु पाया सुख ऊपनां, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजैं गये, जब साईं मिल्या हजूरि ॥२६॥

शब्दार्थ—सचु पाया=शान्ति प्राप्त हुई। सुख ऊपना=सुख उत्पन्न हुआ। दिल=हृदय। दरिया पूरि=प्रेम से आपूर्ण उसी प्रकार जैसे नदी जल से।

कबीरदास कहते हैं कि दयालु प्रभु के मिलते ही हृदय की वेदना शान्त हुई एवं सुख उत्पन्न हुआ। हृदय उसी प्रकार प्रेम से परिपूर्ण हो गया जिस प्रकार नदी जल से। नदी का जल अपने साथ नाले आदि के गन्दे जल को भी बहाकर स्वच्छ कर देता है, उसी प्रकार इस प्रेम-जल मे या प्रेम-सरिता मे मेरे समस्त पाप बह गये।

धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा।
तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर बिचारा ॥२७॥

शब्दार्थ—तोया=जल। तारा=अग्नि पुज से तात्पर्य है।

कबीरदास कहते है कि इस ससार मे सब नश्वर है, अनश्वर तो केवल प्रभु और प्रभु-भक्त है। यदि पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि पचभूतो से निर्मित यह सृष्टि विनष्ट हो जाय तो भी प्रभु और प्रभु-भक्तो की स्थिति रहेगी क्योकि उनकी महिमा अमर है।

जा दिन कृतमनां हुतां, होता हट न पट।
हुता कबीरा राम जन, जिनि देखै औघट घट ॥२८॥

शब्दार्थ—कृतम=कृत्रिम। हट=हाट। पट=वस्त्र, किन्तु यहा तात्पर्य क्रय-विक्रय या सासारिक क्रिया-व्यापार से है। औघट=ब्रह्म। घट=हृदय।

जब यह माया बन्धनो से परिपूर्ण मिथ्या (कृत्रिम) संसार नही था, तब न तो यहाँ बाजार था और न क्रय-विक्रय व्यापार, तात्पर्य सासारिक क्रिया व्यापार (जहाँ व्यक्ति 'ज्यो-ज्यो सुरझ्यौ चहत है, त्यौ-त्यौ उरझ्यौ जात') से है। तब भी यहाँ प्रभु भक्त थे जो हृदय मे उस ब्रह्म के दर्शन करते है।

भीतर स्थित ब्रह्म नाडी द्वारा षटचक्रों मे होते हुए सहस्रार में ही पंखी का 'गगन-उडन' कहा गया है। कुण्डलिनी का सहस्रार की चरमावस्था है।) गगन=शून्य। आसमान=ब्रह्माण्ड, सहस्रदल उससे ऊपर माना गया है। मण्डल=गगन अर्थात् शून्य एवं मूलाधार चक्र के वीच का स्थान जिसमें षट्चक्रो की स्थिति है।

कुण्डलिनी रूपिणी पक्षी (ब्रह्म नाडी मे प्रविष्ट हो) शून्य मे पहुंच गई। एव उससे भी आगे वढ कर वह ब्रह्माण्ड मे (जहां प्रभु का निवास है) जा पहुंची। जिस उपदेश से प्रभावित हो षट्चक्रो का भेदन किया जाता है वह उपदेश सद्गुरु ने मुझे प्रदान किया है।

विशेष—षट्चक्रो का भेदन ही मण्डल भेदन है। षट्चक्र ये हैं—

१. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपूरक ४. अनाहत ५ विशद्ध, ६ आज्ञाचक्र।

सुरति समांणी निरति मै, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तव खुले स्यंभ दुवार ॥२२॥

शब्दार्थ—सुरत=प्रभु-प्रेम, इडा। निरति=ससार से वैराग्य अर्थात् प्रभु का ध्यान, पिंगला। स्यंभद्वार=शम्भु का द्वार, शिव का स्थान, ब्रह्मरन्ध्र।

साधारण अर्थ—साधक की समाधि मे प्रभु के प्रेम का वास हो जाने पर अर्थात् समाविस्थ अवस्था मे प्रभु का ही ध्यान करने से प्रभु की प्राप्ति सम्भव है। जव प्रभुभक्ति का साधना से सम्बन्ध हो जाता है तो शम्भु (प्रभु) के दर्शन हो जाते है।

साधनापरक अर्थ—जव इड़ा पिंगला से मिल जाती है और पिंगला मूलाधार से अपना कोई सम्बन्ध नही रखती; अर्थात् मूलाधार चक्र का भेदन कर देती है तब ही प्रभु-प्राप्ति सम्भव है, क्योकि कुण्डलिनी के लिए ब्रह्म नाडी का मार्ग खुल जायेगा और वह ब्रह्मरन्ध्र मे पहुच जायेगी जहाँ शिव—परमशक्ति—का वास है। इड़ा पिंगला के इस मिलन से ही ब्रह्म प्राप्ति हो गई।

सुरति समांणी निरति मै, अजपा माँहैं जाप।
लेख समांणा अलेख मैं, यूं आपा माँहैं आप ॥२३॥

शब्दार्थ—अजपा=मौन ध्यान। जाप=प्रभु नाम स्मरण। लेख=साकार ब्रह्म। अलेख= निराकार ब्रह्म। आपा=प्रभु, ब्रह्म, परमात्मा। आप=अपनत्व आत्मा से तात्पर्य है।

इडा पिंगला मे मिल गई जिससे नाम स्मरण की ध्वनि शान्त हो मौन ध्यान में परिणित हो गई। इस स्थिति मे आकर साकार निराकार मे समा गया, अर्थात् केवल निराकार ब्रह्म का ही ध्यान रहा इस प्रकार परमात्मा से आत्मा का मिलन हो गया।

आया था संसार मै, देषण कौं बहु रूप।
कहै कवीरा संत हौ, पड़ि गयां नजरि अनूप ॥२४॥

शब्दार्थ—सरल है।

इस नानारूपात्मक जगत मे विविध सासारिक उपादानो को देखने के लिए ही मेरा जन्म हुआ था, किन्तु कवीरदास जी कहते है कि मुझे इस ससार मे आकर ब्रह्म के दर्शन हो गये।

अंक भरे भरि भेंटिया, मन मै नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलैं, जब लग दोइ सरीर ॥२५॥

शब्दार्थ—अक=गोद, आलिंगन। जब लग=जब तक।

मैं प्रिय से प्रेमविभोर हो कस-कस कर आलिंगनवद्ध हुआ, फिर भी मन मे धैर्य नही। वह एक प्राण दो तन चाहता, मन तो परमात्मा मे एकाकार होना चाहता है, किन्तु कवीरदास जी कहते है कि जब दो शरीर हे तब तक एककार कैसे हो सकते हैं? यह द्वैत ही आत्मा और परमात्मा के मिलन मे वाधक है।

सचु पाया सुख ऊपना, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजैं गये, जब साईं मिल्या हजूरि ॥२६॥

शब्दार्थ—सचु पाया=शान्ति प्राप्त हुई। सुख ऊपना=सुख उत्पन्न हुआ। दिल=हृदय। दरिया पूरि=प्रेम से आपूर्ण उसी प्रकार जैसे नदी जल से।

कवीरदास कहते है कि दयालु प्रभु के मिलते ही हृदय की वेदना शान्त हुई एव सुख उत्पन्न हुआ। हृदय उसी प्रकार प्रेम से परिपूर्ण हो गया जिस प्रकार नदी जल से। नदी का जल अपने साथ नाले आदि के गन्दे जल को भी वहाकर स्वच्छ कर देता है, उसी प्रकार इस प्रेम-जल मे या प्रेम-सरिता मे मेरे समस्त पाप वह गये।

धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा।
तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर विचारा ॥२७॥

शब्दार्थ—तोया=जल। तारा=अग्नि पुज से तात्पर्य है।

कवीरदास कहते है कि इस ससार मे सब नश्वर है, अनश्वर तो केवल प्रभु और प्रभु-भक्त है। यदि पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि पचभूतो से निर्मित यह सृष्टि विनष्ट हो जाय तो भी प्रभु और प्रभु-भक्तो की स्थिति रहेगी क्योकि उनकी महिमा अमर है।

जा दिन कृतमनां हुतां, होता हट न पट।
हुता कबीरा राम जन, जिनि देखै औघट घट ॥२८॥

शब्दार्थ—कृतम=कृत्रिम। हट=हाट। पट=वस्त्र, किन्तु यहा तात्पर्य क्रय-विक्रय या सासारिक क्रिया-व्यापार से है। औघट=ब्रह्म। घट=हृदय।

जब यह माया वन्धनो से परिपूर्ण मिथ्या (कृत्रिम) ससार नहीं था, तब न तो यहाँ वाजार था और न क्रय-विक्रय व्यापार, तात्पर्य सासारिक क्रिया व्यापार (जहाँ व्यक्ति 'ज्यो-ज्यो सुरझ्यौ चहत है, त्यौ-त्यौ उरझ्यौ जात') से है। तव भी यहाँ प्रभु भक्त थे जो हृदय मे उस ब्रह्म के दर्शन करते है।

विशेष—(१) शकर के अद्वैत के समान ससार को 'मिथ्या' (कृत्रिम) कहा है।

(२) 'हट न पट'— कबीर ने क्रिया व्यापार के लिए केवल पट-वस्त्र के विक्रय को ही चना, उन जैसे 'मसि कागद' न छूने वाले सत के लिए यह स्वाभाविक था कि अपने जुलाहे के व्यवसाय से वे शब्दावली और प्रतीक ग्रहण करते।

थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ ॥२९॥

शब्दार्थ—थिति=योग की स्थिति, ध्यावस्था। थिर=स्थिर, शान्त। अनिन कथा—अनन्य कथा, प्रेम-कथा,। तनि=तन, शरीर। आचरी=आचरण किया।

सदगुरु की सहायता से मन योगावस्था मे ध्यानावस्थित हो गया जिससे चित्त शान्त हो गया। इस शरीर ने प्रेम कथा अर्थात् प्रेम साधना का आचरण किया, जिससे हृदय मे त्रिभुवन पति परमात्मा के दर्शन किये।

हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अतरि प्रगट्या आप ॥३०॥

शब्दार्थ—हरि संगीत=प्रभु मिलन। मोह की ताप=व्यर्थ के मोहजनित आकर्पणो की दौड। सुखनिध्य=सुखनिधि। आप=स्वय तत्त्व अर्थात् ब्रह्म।

प्रभु-मिलन से मेरा चित्त शान्त हो गया एव संसार के मायामोह के विविध आकर्षणो की दौड समाप्त हो गई। उस ब्रह्म के हृदय में प्रकट होने से मैं रात-दिन आनन्द निधि का सुख प्राप्त करता हू।

तन भीतरि मन मानियां, बाहरि कहा न जाइ।
ज्वाला तैं फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ ॥३१॥

शब्दार्थ—बलती=बलवान, प्रबल। लाइ=आग, विष-वासनाओ की तीव्र उत्कठा।

हृदयस्थ मन प्रभु का दास हो गया है किन्तु प्रत्यक्ष रूप से उसकी अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। जलती हुई तृष्णा की ज्वाला प्रभु-भक्ति के जल मे परिर्वातित हो गई और प्रचड वासना-अग्नि समाप्त हो गई।

तत पाया तन बीसर्या, जब मन धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनान ॥३२॥

शब्दार्थ—बीसर्यो=विसर गया, सुधि जाती रही। तपनि=दु.ख। सुनि=शून्य, ब्रह्म-जल।

जब मन प्रभु-भक्ति मे सलग्न हुआ तभी साधक को ब्रह्म की प्राप्ति हुई एव उसे शरीर की सुधि जाती रही क्योकि वृत्तियॉं अन्तर्मुखी हो गई। साधना के द्वारा शून्य से स्रावत अमृत मे स्नान करने से समरत दु.ख नष्ट हो गये और अपार शान्ति प्राप्त हुई।

जिनि पाया तिनि सू गह्या, रसनां लागी स्वादि ।
रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या बादि ॥३३॥

शब्दार्थ—रसना = जीभ । ढंढोल्या = ढिंढोरा पीटना, बादि = व्यर्थ ।

कबीरदास जी ढोंगी साधुओं को जो व्यर्थ ही, अलख लख, की पुकार लगाते हैं, लक्ष्य करके कहते हैं कि जो उस ब्रह्म की प्राप्ति कर लेते है, वे फिर उसे छोडते नही वल्कि प्रेममय प्रभु से वे एकाकार हो जाते हैं। उस अलौकिक मिलन का स्वाद ही एसा मधुर है कि जिह्वा उस रस को छोड़ना नही चाहती। यह जगत व्यर्थ ही उसकी प्राप्ति के आनन्द का वर्णन करता है, उस अनुपम रत्न को तो प्राप्त करके ही जाना जा सकता है।

भाव यह है कि ब्रह्म-प्राप्ति का आनन्द वाणी का विषय नही, उसको तो पाकर ही जाना जा सकता है।

कबीर दिल स्यावति भया, पाया फल सम्रथ्थ ।
सायर मांहि ढढोलता, हीरै पड़ि गया हथ्थ ॥३४॥

शब्दार्थ—स्यावति = परिपूर्ण । सम्रथ्थ = समृद्ध, अनुपम । सायर = सागर । ढढोलता = ढूंढ़ते हुए ।

कबीरदास कहते हैं कि उस अनुपम फल-ब्रह्म को पाकर हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया। वह अद्भुत रत्न इस भवसागर के मध्य की अन्य वस्तुओ की खोज में भटकते हुए हाथ पड गया।

विशेष—कबीर मानते हैं कि ब्रह्म की प्राप्ति इसी जगत के बीच सम्भव हैं।

जब मै था तब हरि नहीं, अब हरि है मै नांहि ।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि ॥३५॥

शब्दार्थ—सरल हैं।

कबीर कहते है कि जब मुझमे अहं का दर्प था तब प्रभु का निवास मुझमे नही था किन्तु अब अह के नष्ट हो जाने पर वहाँ प्रभु ही प्रभु है, 'मैं' नही। जब मैंने ज्ञान दीपक लेकर अपने अन्त करण को देखा तो मेरे हृदय का समस्त अन्धकार दूर हो गया।

विशेष—तुलना कीजिए—

"आप यहा होते है गोया जब दूसरा नही होता।"

जा कारणि मै ढूंढता, सनमुख मिलिया आइ ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ ॥३६॥

शब्दार्थ—जा कारणि = जिस कारण को अर्थात् ब्रह्म को । धन = स्त्री, आत्मा । पिव = प्रियतम, ब्रह्म । पाइ = पैर चरण ।

जिस ब्रह्म की खोज मे मैं सर्वत्र भटक रहा था, वह सम्मुख आ गया किन्तु मैं उससे तदाकार न हो सका। पाप मे मलिन जीवात्मा रूपी पत्नी प्रिय-ब्रह्म के उज्ज्वल स्वरूप से कैसे आत्म-साक्षात्कार करती? इसी सकोच के कारण वह

(आत्मा) पति (ब्रह्म) के चरण भी न छू सकी।

जा कारणि मै जाइ था, सोई पाई ठौर।
सोई फिरि आपण भया, जासूं कहता और ॥३७॥

शब्दार्थ – सरल है।

जिस ब्रह्म की खोज मे मै अन्यत्र जा रहा था। उसे अपने ही स्थान पर पा गया अर्थात् हृदय मे ही पा गया। फिर वही परमात्मा जिसे मैं अपने मे भिन्न कोई और स्वरूप समझे हुए था, वही मुझे अपना लगने लगा क्योकि आत्मा और परमात्मा दोनो एकाकार हो गये।

कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस धणी, नैनूं रहा समाइ ॥३८॥

शब्दार्थ—पुंज=समूह। धणी=समृद्ध, मुक्त। नैन=आँखो मे।

कबीर कहते हैं कि मैने उस ब्रह्म को दत्तचित्त होकर देखा है, उस की सौंदर्य महिमा का वर्णन नही किया जा सकता। वह अमित प्रकाशवान् एव पारस के समान है। जो अन्य को भी अपने प्रभाव से कचन बना देता है। ऐसा अद्भुत ब्रह्म मेरे नेत्रो मे समाया हुआ है।

मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहि।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उडि अनत न जाहि ॥३९॥

शब्दार्थ—मानसरोवर=(१) मानसरोवर, (२) हृदय जीव हंसा=(१) हंस, (२) मूत्र। मुकता=मोती। अनत=अत्यन्त।

हृदय का मानसरोवर भक्ति जल से आपूर्ण है जिसमे हंस—आत्माए अर्थात् प्रेमीजन अथवा साधु क्रीडाए कर मुक्ति चुगती हैं। इसमे उन्हे बड़ा आनन्द आ रहा है, इसीलिए वे उड़कर विमुख होकर अन्य साधनाओ को नही अपना सकती (क्योकि) 'कै हसा मोती चुगै, कै भूखे मर जाँय')।

गगन गरजि अमृत चवै, कदली कवल प्रकास।
तहां कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास ॥४०॥

शब्दार्थ—सरल है।

शून्य रूपी आकाश मे अनहदनाद-रूपी बादल गरज कर अमृत की वर्षा करते है एव मेरुदण्ड रूपी कदली के ऊपर (सहस्रदल) कमल विकसित हो रहा है। ऐसे स्थान पर या तो कबीर ही पहुचा है या कोई प्रभु के अनन्य भक्त

भाव यह है कि साधना बडी दुर्गम है जिसे पार कर विरले ही ब्रह्म से साक्षात्कार कर पाते है।

विशेष—'गगन गरजि' से तात्पर्य अनहदनाद से है। कुण्डलिनी जब सहस्र-दल कमल मे जाकर टकराती है तो एक घट-ध्वनि के समान नाद होता है, जो 'अनहदनान' कहलाता है। इसे ही 'गगन गरिज' कहा गया है।

नींव बिहूँणां देहुरा, देह बिहूँणां देव।
कबीर तहां बिलंबिया, करे अलष की सेव ॥४१॥

शब्दार्थ—देहुरा=देवालय, मन्दिर। देह बिहूणां=शरीर रहित निराकार। अलष=ब्रह्म।

जहा बिना आधार के ब्रह्म का मन्दिर है एव ब्रह्म भी निराकार है, ऐसे शून्य मे कबीर की वृत्ति रम गई है। अब वह निरन्तर उस अखल ब्रह्म की सेवा कर रहा है।

देवल मांहै देहुरी, तिल जेहै बिसतार।
मांहैं पाती मांहि जल, मांहै पूजणहार ॥४२॥

शब्दार्थ—देवल=मन्दिर। तिल जेहै=तिल के समान।

शून्य के मन्दिर में जो ब्रह्मरन्ध्र रूपी देव प्रतिमा है, उसका विस्तार एक तिल के बराबर है। इसकी अर्चना के लिए वाह्य उपादानो की आवश्यकता नही; शरीर के भीतर ही अर्चना के लिए जल, सुमन आदि है और वही मन रूपी पुजारी है।

कबीर कवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर।
निस अंधियारी मिटि गई, बागे अनहद नूर ॥४३॥

शब्दार्थ—कंवल=सहस्रदल कमल। प्रकासिया=विकसित हुआ। ऊग्या=उदित हुआ। सूर=सूर्य—ज्ञान का। निसि अधियारी=अन्धकार पूर्ण रात्रि। बागे=बाजे। अनहद=ब्रह्मरन्ध्र से कुण्डलिनी के विस्फोट समय और बाद का आनन्ददायी शब्द जिसमें रोम-रोम से ब्रह्म की सत्ता का आभास होता है।

कबीर कहते है कि ज्ञान के निर्मल सूर्योदय से सहस्रदल कमल विकसित हो गया। इससे जीवात्मा की अज्ञान की अधकारपूर्ण रात्रि नष्ट हो गई, एव ब्रह्म-प्राप्ति पर अनहद का तूर्यनाद होने लगा।

अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
आवगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान ॥४४॥

शब्दार्थ—नीझर=निर्झर। आवगति=अमृत।

प्रेम सहित प्रभु मे ध्यान लगाने से अगम्य ब्रह्म हृदय मे प्रकट होता है। इस ब्रह्म ज्ञान के उत्पन्न होने पर अनहद नाद के साथ ब्रह्मरन्ध्र से अमृत स्रवित होने लगता है (जिसका पान कर साधक अमर हो जाता है)।

आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।
ताका पांणीं को हंसा पीवैं, बिरला आदि बिचारि ॥४५॥

शब्दार्थ—आकासे=शून्य मे। मुखि औंधा कुवा=सहस्रदल कमल या ब्रह्मरन्ध्र पाताले=मूलाधार चक्र मे।

शून्य में सहस्रदल कमल अधोमुख कुए के समान स्थित है एव कुण्डलिनी पाताल अर्थात् मूलाधार मे स्थित है (साधना से षट्चक्रो का भेदन करते हुए कुण्डलिनी

को आकाश मे पहुंचाकर उससे स्रवित अमृत का पान ही योगी का लक्ष्य है)। इस सहस्रदल कमलरूपी अधोमुख कुएं के जल (अमृत) को कोई प्रवुद्ध आत्मा से ही सकती है। मै सब मनुष्यो को देखकर ही ऐसा कहता हू कि कोई बिरला ही इसका पान कर सकता है (अर्थात् प्रवुद्ध आत्माए बहुत कम है)।

सिव सकती दिसि कौण जुजोवै, पछिम दिसा उठै धूरि।
जल मै स्यघ जु घर करै, मछली चढै खजूरि ॥४६॥

शब्दार्थ - सिव=शिव। सकती=शक्ति। दिशि=दिशा। कौण=कौन। स्यघ=सिंघ, मन। मछली=कुण्डलिनी।

हे नमाज पढने वाले मुल्लाजी! इधर पश्चिम दिशा मे तो धूल उड़ती है अर्थात् कुछ भी प्राप्त नही होता। उधर कोई नही देखता जहा शून्य मे शिव और शक्ति के दर्शन होते है। प्रेम भक्ति के जल मे यदि मन निवास करे और कुण्डलिनी रूपी मछली ब्रह्मनाड़ी के माध्यम से सहस्रदल कमल रूप खजूर (ऊँचाई के लिए कहा) पर चढे तभी उनके दर्शन हो सकते है।

अमृत बरिसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारखू, अनभै उतर्या पार ॥४७॥

शब्दार्थ—निपजै=उत्पन्न होना। पारखू=पारखी। अनभै=निर्भीक होकर।

उस प्रभु-मिलन सुख का वर्णन करते हुए ही कबीर कहते है कि वहाँ अमृत निर्झर निरन्तर प्रवाहित होता एव ज्ञान के मुक्ता वहा उत्पन्न होते हैं तथा अनहदनाद होता रहता है। कबीर जुलाहा भी उस प्रभु रूपी हीरे का पारखी हो गया है। और इस संसार सागर से निर्भीक होकर पार हो गया है, अर्थात् उसने मोक्ष प्राप्त कर ली है।

ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ीं पौलि।
दरसन भया दलाल का, सूल भई सुख सौड़ि ॥४८॥ १७०॥

शब्दार्थ—ममिता=माया-मोह। पौलि=पोल, रहस्य। दयाल=दयालु, परमात्मा। सूल=पथ कटक। सौडि=लिहाफ।

जब प्रेम ने मुझे प्रभु-प्राप्ति का मार्ग दिया तो भला सासारिक माया-मोह क्या अहित कर सकते है? प्रभु के दर्शन होने से पाप शूलो का बोझ (जिसको मैं ढोता था) वैसे ही सुखपूर्ण हो गया जैसे लिहाफ जडो मे बोझ होने पर भी सुखदायी लगता है।

भाव यह है कि प्रभु-मिलन से पाप भी पुण्य बन गये।

★

६. रस कौ अंग

अंग-परिचय—इस अग मे कबीर ने ब्रह्मानन्द के स्वरूप का तथा तज्जन्य प्रभाव का वर्णन किया है। कबीर का कहना है कि जो इस रस का पान कर लेता है उसके सारे सासारिक क्लेश और दुख दूर हो जाते है और वह आवागमन तथा जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है। यह रस पीने मे बहुत ही मधुर होता है, किन्तु इसका पीना अत्यंत कठिन कार्य है, क्योकि यह सहज ही नही मिल जाता, इसके लिए पान करने वाले को अपना सर्वस्व त्याग देना पडता है। इसे पीने का अधिकारी वही मनुष्य हो सकता है जो अपना सिर उतार कर साधना की वेदी पर चढा दे।

इस रस का प्रभाव भी अपार होता है। जिसने इसे पी लिया, फिर उसका नशा कभी नही उतरता। वह भक्त अहर्निश नशे मे मस्त होकर मदोन्मत्त हाथी की भाँति विचरण करता रहता है। इस नशे के कारण भक्त को फिर न तो सासारिक भय ही रहते है और न सासारिक आकर्षणो के प्रति अनुराग। वह आशा-निराशा, सुख-दुख, अपना-पराया आदि भावो से भी मुक्त हो जाता है और हृदय की सकीर्णता भी समाप्त हो जाती है। इसे पान करने से पूर्व जिस हृदय रूपी सरोवर मे प्रभु-प्रेम का जल इतना थोडा था कि उसमे मन रूपी घडा डूबता ही नही था, वहा अथाह जल हो जाता है।

जो इस रस का आस्वादन कर लेता है, फिर उसे और कोई रस अच्छा नही लगता। इस रस की एक बूद भी मनुष्य को मिल जाये तो उसका जीवन अमर हो जाता है और वह कर्मों की कालिमा से छूटकर स्वर्ग के समान निष्कलक और तेजस्वी बन जाता है।

कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥१॥

शब्दार्थ—थाकि=थकान, क्लेश से तात्पर्य है। पाका=पक्का। कलस=(कलश) घडा।

कबीर कहते है कि मैने प्रभुभक्ति के रस को इतना पान किया है कि सासारिक क्लेश आदि समाप्त हो गये है। कुम्भकार का पकाया हुआ घड़ा जिस प्रकार पुन. चाक पर नही चढाया जाता उसी प्रकार प्रभुभक्ति मे पगे हुए जन पुन इन ससारा-चक्र मे नही पडते। वे आवागमन से मुक्त हो जाते है।

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, माँगै सीस कलाल ॥२॥

शब्दार्थ—रसाइन=रसायन। रसाल=मधुर। कलाल=मदिरा विक्रेता अर्थात् सद्गुरु।

प्रभु-भक्ति का प्रेम रस पीने मे बडा मधुर है (और वह मधुर से मधुरतर होता जाता है)। कबीर कहते है कि इसका पान करना बडा कठिन कार्य है, क्योकि गुरु रूपी कलाल साधना के लिए सर्वस्व त्याग चाहता है।

विशेष—कबीर के प्रेम का सिद्धान्त ही ऐसा है जिसमे साधक को सर्वस्व त्याग, शीश-समर्पण की बार-बार चेतावनी है—

"यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारै भुई धरै, तब पैठें घर माँहि॥"

कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपै सोई पिवै, नहीं तौ पिया न जाइ॥३॥

शब्दार्थ—भाठी=भट्टी, जिससे मदिरा खीची जाती है। बहुतक=बहुत से।

कबीर कहते है कि मदिरा विक्रेता गुरुरूपी कलाल के यहा भट्टी पर बहुत से मदिरा (प्रेमरस, प्रभुभक्ति) का पान करने के लिये आ बैठे हैं, किन्तु इन मदिरा पान की इच्छा वालो (साधको) मे वही पान कर सकता है जो अपना शीश साधना की वेदी पर चढा दे।

भाव यह है कि प्रभु-प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग करना पडता है, प्रत्येक सम्भव कष्ट के लिये तैयार रहना पडता है।

विशेष—सागरूपक अलकार।

हरि रस पीया जांणिये, जे कबहू न जाइ खुमार।
मैमंता घूंमत रहै, नांही तन की सार॥४॥

शब्दार्थ—खुमार=नशा। मैमता=मस्त। सार=सुधि।

ब्रह्मानन्द की मदिरा का पान उसी ने किया समझो जिसका नशा कभी नही उतरता। यह रग ही ऐसा है जिस पर दूसरा रग नही चढ़ता (सूरदास प्रभु कारी कामरी चढै न दूजौ रग)। वह तो मदमस्त हाथी के समान इधर-उधर घूमता है। (जिसे केवल प्रभु से प्रयोजन है) तथा उसे अपने शरीर की सुधि नही रहती।

विशेष—प्रभु-भक्ति का रस अलौकिक है एव शरीर पार्थिव, उसको पाकर भला पार्थिव का ध्यान कैसे रह सकता है, इसीलिए कहा है "नाही तन की सार।"

मैमता तिण ना चरै, सालै चिता सनेह।
बारि जु बाध्या प्रेम कै डारि रह्या सिरि खेह॥५॥

शब्दार्थ—मैमता=मदमस्त हाथी। तिण=तृण।

मदमस्त हाथी तृण ग्रहण नही करता, उसे तो प्रेम की चिता धधक कर व्यथित करती रहती है। यदि उसे प्रेम के द्वार पर बाँध दिया जाय तो अपने शीश पर धूल डालता रहता है, अर्थात् अपने अह को महत्वहीन या अस्तित्वहीन बनाना चाहता है।

विशेष—हाथी स्नान के उपरान्त अपने शरीर पर सूँड से धूल डालकर क्रीड़ा करता है। कबीर ने इसी से यह अर्थ लिया कि वह अपने शीश पर धूल डालकर अह, अभिमान को नष्ट कर रहा है। भाव यह है कि प्रेम-साधना मे प्रवृत्त होने पर अभिमान या अह शेष नही रहता।

मैनंता अविगत रता, अकलप आसा जीति।
राम अमलि माता रहै, जीवत मुकति अतीति ॥६॥

शब्दार्थ—अकलप=निर्भय, संकल्प-विकल्प रहित। अमलि=नशा, प्रभाव। माता रहै=मदोन्मत्त रहना।

प्रभु-भक्त रस मे मदमत्त साधक ब्रह्म की प्राप्ति मे लीन रहता है एवं वह निर्भय भाव से, सकल्प रहित हो, सासारिक आशाओ (आकर्षणों) को जीत लेता है। यदि उस पर प्रभु-भक्ति का यह रस (प्रभाव) चढा ही रहे तो वह अवश्य ही जीवन्मुक्त हो जाता है।

विशेष—जीवन्मुक्त साधक के लक्षण भगवान् कृष्ण ने गीता मे बताते हुए इसी सकल्प-विकल्प रहित मनःस्थिति पर वडा बल दिया है।

जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि न्हाइ।
देवल बूड़ा कलस सू, पंषि तिसाई जाइ ॥७॥

शब्दार्थ—सर=सरोवर, मन=हृदय। मैंगल=मदमत्त हाथी, भक्त। देवल=मन्दिर, ससार। कलस सू=चोटी रूप मे स्थित कलश तक।

जिस हृदय रूपी सरोवर मे प्रभु-प्रेम-जल—इतना थोड़ा और उथला था कि मन रूपी घट भी नही डूबता था अर्थात् मन भी वहाँ आनन्द नही पाता था वही अब प्रभु-भक्ति जल के बढ जाने से प्रभु-प्रेम का मदमस्त साधक वहाँ मलमल कर स्नान करता है, अर्थात् उस जल मे स्नान करने से उज्ज्वल से उज्ज्वल होता जाता है। अब तो वहाँ अथाह जल है जिसमे देवालय भी चोटी तक डूब गया है अर्थात् ससार अपने समस्त मायामय आकर्षणो सहित साधक की दृष्टि से तिरोहित हो गया है, किन्तु आत्मा रूपी पक्षी अब भी प्रभु-प्रेम जल की ओर अधिक प्राप्ति के लिए तृषित है।

सबै रसांइण मै किया, हरि सा और न कोइ
तिल इक घट मै संचरै, तौ सब तन कंचन होइ ॥८॥१६८॥

शब्दार्थ—रसांइण=रसायन या रसास्वादन। कचन=सोना।

कबीर कहते है कि मैंने जितने भी रस (आनन्द) है सबका रसास्वादन कर लिया किन्तु प्रभु-प्रेमरस के समान और कोई मधुर रस नही। यदि इस प्रभु-भक्ति रस का तिल—लेश-मात्र भी हृदय-घट मे सञ्चरित हो जाय तो समस्त शरीर स्वर्ण—अमर—बन जाय। अथवा सम्पूर्ण शरीर पापमुक्त हो कचन के समान शुद्ध हो जाय।

★

७. लांबि कौ अंग

अंग-परिचय—इस अग में आत्मा और परमात्मा के मध्य आये हुए व्यवधान की ओर सकेत करते हुए बताया गया है कि जीवन की प्यास तभी बुझ सकती है जब हरि-दर्शन का आनन्द प्राप्त हो जाये, अन्यथा चाहे कोई जितना ज्ञान प्राप्त कर ले, चाहे जितनी भक्ति प्राप्त कर ले, यह तृष्णा ज्यों की त्यो बनी रहती है। हरि-दर्शन

का एकमात्र उपाय यही है कि हरि के प्रति इतना उत्कट अनुराग किया जाये कि व्यक्ति स्वय को और अपनी सीमाओ को पूर्णतया विस्मृत कर दे। इस साधना-सोपान पर पहुँच कर ही वह उस परमतत्व मे इस प्रकार मिल गया है जिस प्रकार कि पानी की एक बूद सागर मे मिलकर अपने अस्तित्व को ही भुलाकर तदाकार हो जाती है।

क्या कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर।
तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर ॥१॥

शब्दार्थ—कया=काया, शरीर।

शरीर रूपी कमडल मे मैंने ज्ञान का उज्ज्वल एव भक्ति का पवित्र जल भर लिया एव बडी लगन से जीवन के सुन्दरतम् समय मे इसका पान किया, किन्तु फिर भी इस शरीर की तृषा शान्त नही हुई।

मन उलट्या दरिया मिल्या, लागा मलि मलि न्हांन।
थाहत थाह न आवई, तूं पूरा रहिमांन ॥२॥

शब्दार्थ— दरिया=सरिता। रहिमान=दयालु।

मन ससार से विमुख हुआ तो उसे प्रभु-भक्ति की सरिता कलकल कलरव करती मिल गई जिसमे भक्त मल-मलकर निमज्जन करने लगा। हे प्रभु! आप अत्यन्त दयालु हैं, प्रयत्न करने पर भी आपकी वास्तविक थाह नही मिलती है।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समद मैं, कत हेरी जाइ ॥३॥

शब्दार्थ—हेरत-हेरत=देखते-देखते। हिराइ=खो जाना। समद=समुद्र। हेरी=पता लगाना।

आत्मा कहती है कि हे सखि! प्रभु को खोजने-खोजते मैं स्वयं प्रभु मे खो गई हू। जो बूद समुद्र मे जाकर मिल जाती है उसको देखना असम्भव है, उसी प्रकार परमात्मा रूपी ससार मे आत्मा रूपी बूद का पता नही लगाया जा सकता।

भाव यह है कि प्रभु मिलनोपरान्त साधक को अपने पृथक् अस्तित्व की प्रतीति नही रह जाती।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाना बूंद मैं, सो कत हेर्या जाइ ॥४॥१७२॥

कबीर कहते है कि प्रभु को खोजते-खोजते आत्मा थक गई। समुद्र बूद मे समा गया है अर्थात् ईश्वर हृदय मे बस गया है, उसे अब किस भाँति देखा जा सकता है?

★

८. जर्णा कौ अंग

अंग-परिचय—ईश्वर मन और वाणी से अगम्य तथा अगोचर है। उसके स्वरूप का किसी प्रकार भी वर्णन नही किया जा सकता, इसीलिए दर्शन-शास्त्र उसके विविध रूपो का सूक्ष्म विश्लेषण करने के पश्चात् उसे 'नेति-नेति' कहने पर विवश

हो जाते है। प्रस्तुत अग मे कबीर की भी यही विवशता दृष्टिगोचर होती है। वे कहते है कि यदि मैं ब्रह्म को भारी कहूं तो भय है कि लोग उसे साकार ही न मान ले और यदि हलका कहू तो यह असत्य कथन होगा, क्योकि ब्रह्म हलका तो है नहीं। अत. जिस ब्रह्म को कभी आंखो से देखा ही नही, उसके स्वरूप का ठीक वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है ? और यदि मैं यह कहूं कि मैंने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है और उसी के आधार पर मै उसके स्वरूप का निरूपण कर रहा हूं तो कोई भी व्यक्ति इस वात पर विश्वास नही कर सकता। इसलिए इस विषय मे तो यही कहा जा सकता है कि वह जैसा है, वैसा ही है।

इसीलिए यही उचित जान पड़ता है कि ब्रह्म के स्वरूप का वास्तविक निरूपण करने का प्रयत्न ही न किया जाये, क्योकि अन्ततोगत्वा यह प्रयत्न निष्फल ही सिद्ध होगा। ठीक तो यही है कि इस रहस्य को रहस्य ही वना रहने दिया जाय और व्यक्ति अपनी ससीम सीमाओ मे ही उसकी आराधना करे। इसी में उसका हित है और इसी से वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

भारी कहौ त बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ।
मैं का जांणौं राम कूं, नैनूं कबहुँ न दीठ ॥१॥

शब्दार्थ—दीठ=देखना।

यदि मैं उस ब्रह्म को भारी कहता हूं तो भय है कि कही लोग उसे साकार न मान ले, वह तो निराकार है। यदि निराकार होने के कारण उसे हलका कह दू तो यह मिथ्या है, वह अपने अमित गुणो के कारण हलका नही है। सत्य बात तो यह है कि भला मैं उस ब्रह्म को क्या जानू, नेत्रो ने कभी उसके दर्शन ही नही किये।

भाव यह है कि ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन नही किया जा सकता।

विशेष—सब प्रकार से प्रभु का स्वरूप निरूपण करने मे असमर्थ कबीर उसे 'नेति-नेति' कहने को ही बाध्य होते है।

दीठा है तौ कस कहूँ, कह्यां न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहो, तूं हरिषि हरषि गुण गाइ ॥२॥

शब्दार्थ—पतियाइ=विश्वास करना।

यदि मैंने प्रभु के दर्शन किये भी है तो अभिव्यक्ति कैसे करू, क्योंकि वह तो मूकास्वादनवत् है। यदि उस दर्शन से प्राप्त ब्रह्म का वर्णन करू तो कौन विश्वास करेगा, क्योकि वह अत्यन्त अद्भुत है। इसलिए उनके स्वरूप-परिचय का प्रयत्न व्यर्थ है। वे जैसे भी हैं वैसे ही रहे। हे मन ! तू प्रसन्न हो-होकर, उल्लास सहित, उनका गुणगान करता रह।

ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अदभुत राखि लुकाइ।
बेद कुरानौं गमि नहीं, कह्या न को पतियाइ ॥३॥

शब्दार्थ—जिनि=मत। लुकाइ=छिपाकर। गमि=पहुँच।

हे साधक या मन ! तू ऐसे (पूर्वोक्त) वर्णित अद्भुत ब्रह्म के वर्णन का व्यर्थ प्रयास क्यो करता है । तू उस अद्भुत को रहस्य ही बना रहने दे । उस तक तो वेद एवं पुराणादि शास्त्रो की भी पहुच नही है । वह उनकी सीमा से भी परे है । फिर तेरे कहे का तो विश्वास ही कौन करेगा ?

करता की गति अगम है, तूं चलि अपणै उनमान ।
धीरैं धीरैं पाव दे, पहुँचैगे परवान ॥४॥

शब्दार्थ—करता=कर्त्ता, ब्रह्म । उनमान=मार्ग । परवान=लक्ष्य, ब्रह्म-प्राप्ति ।

ब्रह्म की गति अगम्य है, वह निस्सीम ही जो ठहरा किन्तु ओ ससीम साधक ! तू अपनी सीमाओ को ध्यान मे रखता हुआ धैर्यपूर्वक साधना मे प्रवृत्त हो। यह निश्चित है कि इस विधि से हम अपने लक्ष्य—ब्रह्म को अवश्य ही प्राप्त करेंगे ।

पहुँचैगे तब कहैंगे, अमड़ैंगे उस ठांइ ।
अजहूँ बेरा समंद मैं, बोलि विगूचैं कांइ ॥५॥१७७॥

शब्दार्थ—अमडेगे=उमडेगे, रहेगे । विगूचैं=नष्ट करें ।

कवीरदास कहते है कि उस प्रभु के विषय मे अभी क्या कहा जा सकता है, जब हम उस तक पहुँच जायेगे तो वहाँ भरपूर आनन्द प्राप्त करेंगे और तभी उसके विषय मे कुछ कहा जा सकता है । अभी तो अपनी नौका बीच समुद्र मे है (साधना-मार्ग मे है), तट (ब्रह्म) अभी बहुत दूर है फिर व्यर्थ के प्रलाप मे हम समय क्यो नष्ट करे ?

भाव यह है कि दत्तचित होकर साधना के द्वारा जब ब्रह्म को प्राप्त कर लिया जाता है, तभी उसके स्वरूप का वर्णन करना सम्भव है ।

९. हैरान कौ अंग

अंग-परिचय - ब्रह्म अगम्य और अगोचर है । उसके न तो स्वरूप का यथातथ्य वर्णन किया जा सकता है और न उसे सहज मे प्राप्त ही किया जा सकता है । इसीलिए यदि पडितो से उसके स्वरूप और प्राप्ति के विषय मे कुछ कहा जाये तो वे विश्वास नही करते । जब उसे अगाध और एक कहा जाता है तो सभी को यह सुनकर भारी आश्चर्य होता है । वह ब्रह्म सभी मनुष्यो के हृदयो मे बसा हुआ है, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि फिर भी कोई उसे ठीक प्रकार से जान नही पाता । इससे अधिक हैरानी का विषय और क्या हो सकता है ?

पंडित सेती कहि रहे, कह्यां न मानैं कोइ ।
ओ अगाध एका कहै, भारी अचिरज होइ ॥१॥

शब्दार्थ—सेती=से ।

मैं पण्डितो से उस ब्रह्म के अद्भुत स्वरूप का वर्णन करता हू तो ये उसका

विश्वास ही नही करते । जब मैं उस ब्रह्म को अथाह एव एकतत्व अर्थात् परम तत्व कहता हू तो इन्हे अत्यन्त आश्चर्य होता है ।

बसे अपंडी पंड में, ता गति लषै न कोइ ।
कहै कबीरा संत हौ, बड़ा अचंभा मोहि ॥२॥१७६॥

शब्दार्थ—अपडी=निराकार । पड=शरीर ।

मनुष्य के शरीर—हृदय—मे ही वह निराकार ब्रह्म निवास करता है, किन्तु फिर भी कोई उसका दर्शन नही कर पाता । कबीर कहते है कि सन्तजनो ! मुझे इस बात पर बडा आश्चर्य है कि साधना से लोग उसे प्राप्त क्यो नही करते ?

★

१०. लै कौ अंग

अंग-परिचय—इस अग मे ब्रह्म-प्राप्ति के कतिपय साधनो का उल्लेख किया गया है । ब्रह्म-लोक सहज गम्य नही है । वह तो उस वन के समान है जहा न तो सिंह का प्रवेश है, न कोई पक्षी उडकर वहाँ जा सकता है, न वहाँ पर दिन होता है और न रात । उस अगम्य ब्रह्मलोक तक पहुँचने का साधन यही है कि साधक सुषुम्णा रूपी ढेकुली से सहस्रदल कमल रूपी कूप का पानी निकालकर उसका पान करे; अर्थात् सुषुम्णा को जागृत करके अपनी वृत्तियो को सहस्रदल कमल पर स्थापित कर दे । यदि कोई तीर्थ आदि का भ्रमण करके उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा तो उसका यह प्रयत्न निस्सार ही रहेगा क्योकि समस्त तीर्थ इस शरीर मे ही विद्यमान है । गंगा और यमुना रूपी इडा और पिंगला भी इसी मे अवस्थित है । सहज एवं शून्य के घाट भी इसी मे है । अत जब तक यौगिक साधनाओ द्वारा शरीर रूपी तीर्थराज मे स्नान नही किया जायेगा, तब तक ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव ही है ।

जिहि वन सीह न संचरै, पंषि उड़े नहीं जाइ ।
रैनि दिवस का गमि नहीं, तहां कबीर रह्या ल्यौ लाइ ॥१॥

शब्दार्थ—सीह=सिंह । लै=लय, लगन । रैनि दिवस=सूर्य चन्द्र ।

जिस वन मे सिंह का भी प्रवेश नही है, जहाँ पक्षी भी उड़कर नही जा सकता, जहाँ सूर्य और चन्द्र की पहुच नही है, ब्रह्म के ऐसे अगम्य स्थल पर कबीर ने अपनी लगन लगा ली है ।

भाव यह है कि अगम्य प्रभु की प्राप्ति के लिए दत्तचित्त होकर साधना मे प्रवृत्त होना वाछनीय है ।

सुरति ढीकुली लेज ल्यौ, मन नित ढोलन हार ।
कँवल कुवाँ मै प्रेम रस, पीवै बारंबार ॥२॥

शब्दार्थ—ढीकुली=सिंचाई करने के लिए कुए से पानी निकालने का एक उपकरण । लेज=रस्सी, इस ढेकुली मे रस्सी भी काम आती है, साधनापक्ष मे लगन ही रस्सी है । ल्यौ=लगन । ढोलनहार=डोल, पानी निकालने का एक पात्र । कँवल कुवाँ=कमल कुआँ, सहस्रदल कमल का कुआँ ।

सहस्रदल कमल रूपी कुएँ मे प्रेम का अमृत-रस भरा हुआ है। साधक सुरति—प्रेम-सुषुम्णा—की ढेकुली और लगन की रस्सी से मन के डोल अथवा बाल्टी मे इस रस को भर कर वारम्वार पान करता है।

विशेष—सागरूपक अलकार।

गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट।
तहाँ कबीरै मठ रच्या, मुंनि जन जोवै वाट ॥३॥१८२॥

शब्दार्थ—गग=इडा। जमुन=यमुना, पिंगला। सहज = सहज समाधि। सुनि=शून्य।

कबीर कहते है कि प्रभु-प्राप्ति के लिए तीर्थ यात्रा की क्या आवश्यकता है समस्त तीर्थ शरीर मे ही विद्यमान है। गगा और यमुना इडा और पिंगला नाडी के रूप मे शरीर (उर) के भीतर ही अवस्थित है जिनके सहज एव शून्य जैसे घाट है। ऐसे ही पर कबीर की आत्मा ने मठ, अपना निवास स्थान बना लिया है, बड़े-बड़े मुनिजन इस स्थान पर अपना निवास बनाने की प्रतीक्षा करते ही रह गये।

विशेष—सद्गुरु के बताये हुए रहस्य से निज लक्ष्य मे ध्यान लगाने को सहज ध्यान या सहज समाधि कहते है। इस समाधि मे किसी प्रकार के वाह्याडम्बर (आसन, मुद्रा आदि) की आवश्यकता नही पडती है, इसीलिए इसे सहज-समाधि कहते हैं।

११. निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग

अंग-परिचय—कबीर ने आत्मा को नारी के रूप में चित्रित किया है और परमात्मा को पति के रूप मे। प्रस्तुत अग मे आत्मा उस पतिव्रता नारी के समान चित्रित की गई है जो निष्काम भाव से अपने पति से मिलने के लिए अत्यन्त आतुर है और उसके दर्शन-प्राप्ति के लिए विविध उपायो मे सलग्न है।

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री केवल अपने पति को छोड़कर और किसी अन्य पुरुष की ओर देखती भी नही, इसी प्रकार कबीर की आत्मा परमात्मा को सम्बोधित करते हुए कहती है कि हे अनत गुणवान प्रियतम! मेरी प्रीति केवल तुमसे है। यदि मैं और किसी से हँसूगी तथा बोलूँगी तो इससे मेरा पातिव्रत धर्म कलकित हो जायेगा। उस आत्मा का अपने प्रियतम के प्रति इतना अनन्य भाव है कि वह चाहती है कि उसका प्रियतम जब उसकी आँखो मे आ जायेगा तो वह अपनी आँखो को मूँद लेगी ताकि न तो उसका प्रियतम फिर अन्यत्र जा सके और न कोई उसे देख सके। आत्मा का स्वत कोई रूप नही होता। वह तो परमात्मा का ही एक अश होती है, इसीलिए कबीर ने कहा है कि मेरा मुझ पर कुछ नही है। मुझ पर जो कुछ भी है, वह सब प्रियतम का है। अत मुझे उसी का उस पर सर्वस्व न्यौछावर कर देना चाहिए। वह आत्मा रूपी निष्कामी पतिव्रता नारी अपने प्रियतम के प्रति इतना

अधिक उत्कट अनुराग रखती है कि अपनी आँखो मे काजल भी नही लगाती, क्योकि जिन आँखों मे उसका प्रियतम बसा हुआ है, वहाँ न तो काजल लगाना उपयुक्त ही है और न एक स्थान पर दो वस्तुएँ ठहर सकती है, इसलिए वह अपनी माँगो मे केवल सिंदूर ही भरती है। जिस प्रकार समुद्र मे स्थित सीप केवल स्वाति नक्षत्र की बूद के लिए ही तरसती रहती है और अहर्निश उसी का स्मरण करती रहती है, उसी प्रकार वह पतिव्रता भी सर्वथा अपने पति की स्मृति मे ही रत रहती है। ससार के अन्य आकर्षणो तथा विपयो से उसका कोई लगाव नही होता।

प्रियतम जहाँ भी मिल जाये, वही स्वर्ग बन जाता है। कबीर का आत्मा भी इसीलिए कहती है कि मुझे मुक्ति का कोई लोभ नही है। यदि नरक मे भी उसे मेरे प्रियतम का दर्शन हो जाये तो मै नरक की यातनाएँ सहन करने के लिए भी हर्ष तैयार हू। ब्रह्म-ज्ञान सबसे बडा और उत्तम ज्ञान है। जिसने उस ब्रह्म को जान लिया है, फिर उसके लिए कुछ भी जानने के लिए शेप नही रह जाता और यदि उसका ज्ञान नही हुआ है तो ससार के सारे ज्ञान व्यर्थ है। जव तक भक्ति मे निष्काम भाव बना रहता है, तभी तक भक्ति श्रेष्ठ और उत्तम है और उसी के द्वारा प्रियतम की प्राप्ति हो सकती है। यदि भक्ति सकाम है तो परमात्मा नही मिल सकता क्योंकि वह तो निष्काम है और निष्काम सकाम को किस प्रकार मिल सकता है ? आशा वही सफल है जो राम के प्रति हो। इसके अतिरिक्त और किसी बात की आशा करना तो व्यर्थ है, क्योकि अन्त मे उसका परिणाम दुखप्रद ही होगा। जो मनुष्य भगवान् को छोड़कर और किसी वस्तु की आशा करते है उनकी स्थिति उस मनुष्य के समान दयनीय है जो पानी में रहकर भी प्यासा मरता है। इसलिए यदि मनुष्य का केवल एक ब्रह्म से ही मन लगा रहेगा तो उसका निर्वाह हो जायेगा और यदि वह परमात्मा और संसार दोनो से एक साथ अनुरक्त होना चाहेगा तो उसकी स्थिति अवश्य डावाडोल बन जायेगी। केवल भगवान् का आश्रय ही, इस कलियुग मे भी, मनुष्य को सब प्रकार की चिन्ताओ से मुक्त कर सकता है। अतः आत्मा को उसी अनन्य भाव से स्वयं को भगवान् के हाथों मे सौप देना चाहिए जिस प्रकार कुत्ता अपने स्वामी के प्रति अपना सर्वस्व निछावर कर देता है और वह जिस ओर भी उसकी रस्सी खीचता है, वह उसी ओर विना किसी हिचक के चलता रहता है। जिस मनुष्य के मन मे प्रभु-प्रेम का दृढ विश्वास नही है, उसे परमात्मा की कभी प्राप्ति नही हो सकती, अतः हमे उसके प्रति दृढ़ विश्वास और उसके स्वागत के लिए हर मूल्य पर तैयार रहना चाहिए।

कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत।
जे हँसि बोलौं और सौं, तौं नील रंगाऊँ दंत ॥१॥

शब्दार्थ—प्रीतड़ी = प्रेम। गुणियाले = गुणवान्। नील रगाऊ दत = (मुहावरा) अपने को कलकित करू।

हे अनन्त गुणवान् प्रियतम (ब्रह्म) कबीर का प्रेम तो केवल आपसे है।

जो मैं अन्य किसी से हसू-बोलू; अर्थात् अन्य किसी से प्रेम करू तो स्वय को कलकित करू ।

नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउँ ।
नां हौं देखौं और कूं, नां तुझ देखन देउँ ॥२॥

शब्दार्थ—अंतरि=अन्दर । झपेऊं =मूँद लेना ।

प्रियतम ! तुम मेरे नेत्रो मे आकर बस जाओ, जैसे ही आप आओगे मैं एक दम नेत्र मूद लूगी । तब मैं तेरे अतिरिक्त अन्य किसी को न देखूगी और न अन्य की दृष्टि तुझ पर पडने दूगी ।

विशेष—प्रिय के प्रति ऐसी अनन्यता दुर्लभ है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने 'श्रद्धा और भक्ति' निवन्ध मे लिखा है कि भक्त यह चाहता है कि मैं जिसे प्रेम करू उसी इष्ट या आराध्य को सव प्रेम करे, भक्ति के विस्तार का यही स्वस्थ लक्षण है । उन्होने प्रेमी की मन स्थिति बताते हुए लिखा हैं कि वह यह चाहता है कि मैं जिसे प्रेम करता हू उसे अन्य कोई प्रेम न करे, इससे प्रेम की अधिकाधिक प्रतीति होती है । कवीर ने अपने अगाध प्रेम को इसी गोपन भाव के द्वारा व्यक्त किया है, जहा वह प्रिय को नेत्रो के मन्दिर मे छिपा कर रखना चाहता है ।

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तौर ।
तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै है मोर ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है ।

हे प्रभु ! मुझ मे मेरा अपना तो कुछ भी नही है जो कुछ भी अस्थिचर्म का शरीर और यह जीवन है वह आपके द्वारा दिया हुआ है । यदि मैं अपने इस जीवन और शरीर को तेरी साधना मे समर्पित कर दू तो मेरा क्या जायेगा, जिसकी वह वस्तु है उसी के निमित्त तो दूगा, फिर मेरा इसमे क्या वडप्पन ?

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ ।
नैनूं रमाइया रमि रह्या, दूजा कहां समाइ ॥४॥

शब्दार्थ—स्यदूर=सिंदूर । नैनू =नेत्रो मे ।

कवीरदास जी कहते हैं कि सौभाग्यवती पतिव्रता अपनी माग मे सिंदूर ही भरती है, उसमे कालिख नही भरी जा सकती । जहा एक वस्तु का उपयुक्त स्थान है वहा दूसरी वस्तु नही आ सकती । मेरे नेत्रो मे तो (सर्वत्र रमण करने वाला) राम वसा हुआ है फिर भला इसमे किसी अन्य (सासारिक आकर्षण) के लिए स्थान कैसे हो सकता है ?

विशेष—तुलना कीजिये—

"भरी सराय रहीम लखि आप पथिक फिरि जाय ।"

कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास ।
समदहि तिणका वरि गिणै, स्वांति बूंद की आस ॥५॥

शब्दार्थ—समंद=समुद्र। समदहि=(समुद्रहिं) समुद्र को। तिणका=तृण-तुल्य।

कबीरदास जी कहते है कि नक्षत्र की बूंद की आशा मे सीप प्यास ही प्यास रटती रहती है। उस बूद के सम्मुख वह सम्पूर्ण सागर-जल को तृण-तुल्य समझती है।

भाव यह है कि जिसका जिससे प्रेम होता है, उसके लिए उससे बढ़कर और कोई पदार्थ नही होता।

विशेष—अन्योक्ति अलकार है।

कबीर सुख कौं जाइ था, आगै आया दुख।
जाहि सुख घरि आपणै, हम जाणौं अरु दुख ॥६॥

शब्दार्थ—जाहि सुख घरि आपण=हे सुख तू मुझ से विदा ले।

कबीर कहते है कि मैं ससार-सुख की प्राप्ति के लिए जा रहा था, अर्थात् ऐहिक सुख लालसा मे भटक रहा था, तभी मेरा साक्षात्कार प्रभुवियोगजन्य दु.ख से हो गया, अर्थात् आत्मा ब्रह्म के वियोग मे मिलनाकुल हो गई। अब इस विरह में ही मुझे इतना अपार आनन्द प्राप्त होता है कि मेरे लिए ससार-सुख निरर्थक एव त्याज्य ही है, इसलिए ओ ससार-सुख ! तू मुझ से विदा हो जा।

दो जग तौ हम अंगियां, यहु डर नाहीं मुझ्झ।
भिस्त न मेरे चाहिए, बाझ पियारे तुझ्झ ॥७॥

शब्दार्थ—दोजग=दोजख, नरक। अगिया=अंगीकार करना, स्वीकार करना। भिस्त=बहिश्त, स्वर्ग। बाझ=रहित, अतिरिक्त।

कबीर कहते है कि मै यदि नरक-यातना में पड़ू और मुझे वहा प्रभु-दर्शन हो तो मुझे कोई आपत्ति नही; अतः मै नरक से भयभीत नही हू। किन्तु हे प्रभु ! आपके अभाव में मुझे स्वर्ग-सुख भी त्याज्य है।

विशेष—प्रिय अभाव मे वसन्त भी दुःखदाई है और उसके ससर्ग से पतझड़ भी ऋतुराज प्रिय के साथ मरुभूमि भी कलित कानन है और कानन भी प्रिय अभाव मे झाड़-झखाड़। प्रेमी मन की इस स्थिति का वर्णन अन्य कवियों ने भी किया है। यथा—

"कहा करौ वैकुंठ लै कल्पवृक्ष की छांह।
अहमद ढाक सुहावने जह प्रियतम गल बाह॥" —'अहमद'

जे वो एक जांणियां, तौ जांण्या सब जांण।
जे ओ एक न जांणियाँ, तो सबहीं जांण अजांण ॥८॥

शब्दार्थ— जाण=ज्ञान।

यदि किसी ने उस एक परब्रह्म को जान लिया तो समझिये कि उसे ससार का समस्त ज्ञान हृदयगम हो गया है और यदि किसी ने केवल उस ब्रह्म को न जानकर सब कुछ जान लिया है तो उसका समस्त सचित ज्ञान अज्ञान ही है।

भाव यह है कि सच्चा ज्ञान ब्रह्मज्ञान है।

विशेष—सभगपद यमक अलकार।

कबीर एक न जांणियां, तो बहु जांण्यां क्या होइ।
एक तै सब होत है, सब तै एक न होइ ॥९॥

शब्दार्थ—एक=ब्रह्म। बहु=ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञान।

कबीर कहते है कि यदि किसी ने एक परब्रह्म प्रभु को न जानकर ससार के विविध ज्ञान प्राप्त कर लिये है तो उनसे क्या लाभ ? क्योकि सबका मूल जो ब्रह्म है उसको बिना जाने उससे उत्पन्न उपादानो का ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है ? उस एक ब्रह्म से ही सबकी उत्पत्ति होती है। यदि समस्त ससार की वस्तुए मिलकर भी उस एक ब्रह्म को उत्पन्न करने का प्रयास करे तो असम्भव है।

जब लग भगति सकांमता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूं मिलै, निहकांमी निज देव ॥१०॥

शब्दार्थ—सकामता=कामनामय। निर्फल=निष्फल, फल रहित। सेव=ईश्वर-सेवा। निहकामी=निष्कामी।

जब तक भक्ति कामनामय है तब तक प्रभु की समस्त सेवा व्यर्थ है, उसके द्वारा ब्रह्म दर्शन नही हो सकता। कबीरदास जी कहते है कि कामनायुक्त भक्ति से वे निष्कामी परमात्मा—स्वामी—किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं ? अर्थात् निष्काम सेवा से ही निष्कामी ब्रह्म की प्राप्ति सभव है।

विशेष—(१) 'गीता' मे भी भगवान् कृष्ण ने इसी कामना रहित भक्ति का प्रतिपादन किया है—

"यामिमा पुष्पिता वाच प्रबदन्त्यविपश्चित।
वेदवादरता. पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मान स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुला भोगैश्वर्यगति प्रति ॥ अ० २।४२-४३ ॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि ॥" — अ० २।४६।

(२) साधक या भक्त के सम्मुख यह बड़ी कठिनाई है कि उसका मन भक्ति मे कामना रहित नही हो पाता। इस मन स्थिति का सुन्दर उद्घाटन श्री जयशकर-प्रसाद जी ने अपनी एक कविता मे इस प्रकार किया है—

"जब करता हू कभी प्रार्थना, कर संकलित विचार।
तभी कामना के नूपुर की, हो जाती झनकार॥" —'झरना'

फिर भी अभ्यास से भक्त कामनाविरत हो सकता है—इसी का प्रतिपादन कबीर ने किया है।

आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।
प्रांणी माहै घर करै, ते भी मरै पियास ॥११॥

शब्दार्थ—पाणी=पानी, जल ।

मनुष्य को केवल एक प्रभु प्राप्ति की ही इच्छा करनी चाहिए, क्योकि समस्त आशाएं उसी से पूर्ण होती है । अन्य सांसारिक कामनाए अन्त मे निराशा में ही परिणत होती है क्योकि वे मृगतृष्णा की भांति मनुष्य को भटकाती है और उनका फल कुछ नही होता । जो मनुष्य इस एक रामप्राप्ति के अतिरिक्त अन्य सासारिक इच्छाएं रखते है वे तो ऐसे ही है जो जल मे रह कर भी प्यासे मरते हैं ।

भाव यह है कि उन्हे उन सासारिक आशाओ के प्राप्त होने पर भी शान्ति प्राप्त नही होती ।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार ।

जे मन लागै एक सूं, तौ निरबाल्या जाइ ।
तूरा दुइ मुखि बाजणा, न्याइ तमाचे खाइ ॥१२॥

शब्दार्थ—निरबाल्या=निर्वाह हो जायेगा, मुक्ति हो जायेगी । तूरा= तुरही । न्याइ=न्याय, समान । बाजणा=वजाने से ।

यदि मनुष्य का मन एक परब्रह्म ही पर आसक्त हो जाय तो निर्वाह हो जायेगा और यदि प्रभु और ससार अर्थात् माया-आकर्षण दोनो से प्रेम किया तो जीव को दु खो के थपेडे उसी प्रकार सहन करने पडेगे जिस प्रकार तुरही को दो मुखों से वजने के कारण हाथ के प्रहार सहन करने पडते है ।

कबीर कलिजुग आइ करि, कीये बहुतज मीत ।
जिन दिल बंधी एक सूं, ते सुखु सोवै न चींत ॥१३॥

शब्दार्थ—बहुतज=बहुत से । नचीत=निश्चिन्त ।

कबीर कहते है कि मनुष्य इस कलि ससार मे आकर विविध आकर्षणो के प्रपचो मे पडता है, किन्तु जिसने अपना चित्त उस परब्रह्म की भक्ति मे लगा दिया वह निश्चिन्त होकर सुख-निद्रा मे सोता है, उसे सासारिक बन्धनो से मुक्ति मिल जाती है ।

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नांउं ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं ॥१४॥

शब्दार्थ—कूता=कुत्ता । जेवड़ी=रस्सी । जित=जिधर । तित=उधर ।

कबीर कहते है कि मैं राम (ब्रह्म) का कुत्ता हू और मेरा नाम मोती (मुक्त) है । मेरे गले में राम-नाम की रस्सी वधी हुई है; अर्थात् मैं उसी के द्वारा संचालित होता हू । कुत्ते को उसका स्वामी जिधर चाहता है खीच ले जाता है उसी भांति मेरे स्वामी राम मुझे जिधर घुमाते है, घूम जाता हूं ।

विशेष—(१) इष्ट देव की महानता एव अपनी क्षुद्रता का जितना अधिक ज्ञान होगा, भक्ति की प्रतीति और आनन्द भी उतना ही अधिक होगा । जिस प्रकार तुलसी ने "तुम सो खरौ है कौन, मोसो कौन खोटो" लिखकर अपनी अनन्य भक्ति का परिचय दिया है, उसी भांति अपितु उससे भी आगे बढकर कबीर ने अपनें को

राम का कुत्ता तक बना दिया, दीनता का इससे बढकर उदाहरण मिलना अन्यत्र दुर्लभ है। दूसरे कबीर राम का कुत्ता बनकर यह भी दिखाना चाहते हैं कि कुत्ते की जो स्वामी-भक्ति है वही मेरी है, जो दुतकारने पर भी पास से पास आना चाहता है।

(२) अलकार—रूपक।

तो तो करै त बाहुड़ौं, दुरि दुरि करै तो जाउँ।
ज्यूं हरि राखै त्यूं रहौं, जो देवै सो खाउँ ॥१५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कुत्ते के रूपक द्वारा ही अपनी भक्ति भावना का परिचय देते हुए कहते है कि यदि वह स्वामी-ब्रह्म अपने कुत्ते (मुझ, दास) को 'तो—तो' कर के पुचकारते हैं तो प्रभु के और भी अधिक निकट आ जाता हू और यदि स्वामी दुत्कार दें तो दूर चला जाता हू, जिस प्रकार भी प्रभु रखना चाहेगे वैसे ही मैं (आत्मा) रह लूंगा एव वह जो कुछ भी प्रदान कर देते है उसे खाकर अपना जीवन-यापन कर लूँगा।

मन प्रतीति न प्रेम रस, नाँ इस तन मैं ढंग।
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसें रहसी रंग ॥१६॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि मन को प्रभु-प्रेम पर दृढ विश्वास नही है तथा न यह शरीर उन उपकरणो से परिचित है जो प्रिय मिलन के लिए उपयुक्त हैं। फिर भला मैं उस प्रियतम से साक्षात्कार के समय कैसे रंग-रेलिया करूंगी?

भाव यह है कि मैं प्रभु-मिलन के आचार-व्यवहार तक से परिचित नही हू।

उस संम्रथ का दास हौं, कदे न होइ सकाज।
पतिव्रता नाँगी रहै, तो उसही पुरिस कौं लाज ॥१७॥

शब्दार्थ—सम्रथ=सामर्थ्यवान्, ब्रह्म। कदे=कभी भी। अकाज=हानि, अमगल।

कबीर कहते है कि मैं सामर्थ्यवान् प्रभु का भक्त हू, जिससे कभी अमगल नही होगा। यदि पतिव्रता नारी (आत्मा) नग्न-तन रहे तो यह परब्रह्म परमेश्वर की लज्जा का प्रश्न है क्योंकि कोई कहेगा कि यह अमुक व्यक्ति (भगवान्) की ही वधू है जो इस प्रकार नग्न है। अतः लज्जा उस प्रभु को ही होनी चाहिए कि उसका भक्त शीलादि गुणो से हीन है, नग्न से यहां यही तात्पर्य है।

घरि परमेसुर पांहुणां, सुणौं सनेही दास।
षट रस भोजन भगति करि, ज्यूं कदे न छाड़ै पास ॥१८॥२००॥

शब्दार्थ—घरि=घर। परमेसुर=परमेश्वर। पाहुणाँ=अतिथि।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-प्रेमी भक्तो, सुनो! इस हृदय रूपी घर मे प्रभु रूपी अतिथि पधारे है। जिस प्रकार अतिथि की अभ्यर्थना विविध भोगादि से की जाती

है, उसी प्रकार भक्ति रूपी षट्रस व्यजन प्रभु को परोस कर उनसे प्रेम करना चाहिए जिससे वे कभी भी हमारा साथ न छोड दे ।

विशेष—(१) रूपक अलकार ।

(२) "षटरसभोजन भगति करि"—मे भक्ति को षट्रस व्यजन बताकर कबीर बताना चाहते है कि मनुष्य को सर्वात्मना इन्द्रियो की रुचि प्रभु प्रेम मे ही लगा देनी चाहिए । पाचो इन्द्रियो एव छठे मन को ईश्वर समर्पित करने को ही षट्रस व्यजन कहा है, भोजन के भी छ ही रस माने गये है, मधुर, लवण, अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त ।

१२. चितावणी कौ अंग

अंग-परिचय—ससार नश्वर और क्षणभगुर है । इसके आकर्षणो मे पडकर ही मनुष्य परमात्मा को विस्मृत कर देता है । अत प्रस्तुत अग मे ससार की नश्वरता और क्षणभगुरता का वर्णन करते हुए कबीर ने मनुष्य को चेतावनी दी है कि वह इस ससार के विपयो मे न पडकर भगवान् का स्मरण करता रहे ।

ससार की नश्वरता और क्षणभगुरता का वर्णन करते हुए कबीर कहते है कि यहाँ पर जो व्यक्ति आता है, वह केवल कुछ ही दिनों का मेहमान होता है और शीघ्र ही पुन मृत्यु को प्राप्त हो जाता है । चाहे किसी व्यक्ति के पास कितने ही ऐश्वर्य से परिपूर्ण साधन हो, किन्तु यदि उसके मन मे भगवान् की भक्ति नही है तो वे सब ऐश्वर्य व्यर्थ है, क्योकि जिन महलो मे कभी सातो स्वरो के साथ छत्तीसों राग गाये जाते थे, अर्थात् अत्यन्त आमोद-प्रमोद हुआ करते थे, वे महल अब खाली पडे हुए है और उन पर बैठकर कौवे बोल रहे है । इस संसार मे जिसने भी जन्म लिया है, वही मृत्यु को प्राप्त हुआ है । मृत्यु मनुष्यो मे कोई भेद-भाव नही रखती । उसके लिए चाहे कोई राजा हो या रक हो, अवसर आने पर सभी को अपना ग्रास बनाती है । इस शरीर में जो दस इन्द्रियाँ है, वे चोरो के समान है। जिस प्रकार चोर चुपके-चुपके सारा धन चुराकर ले जाते है, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ भी अनजाने मनुष्य के सारे सात्विक भावो को नष्ट करती रहती है । इन चोरो से मुक्ति मनुष्य को तभी मिल सकती है, जब वह ईश्वर के नाम-स्मरण मे तल्लीन हो जाये ।

संसार की भाँति यह शरीर भी नश्वर और क्षणभंगुर है । इसके सौन्दर्य पर भी मनुष्य को कभी भी गर्व नही करना चाहिए क्योंकि यह तो उस टेसू के फूल के समान है जो चार दिन फूलकर फिर ठूठ बन जाता है । इसी प्रकार इस शरीर का सौन्दर्य भी क्षणभगुर है । जिस प्रकार साँप शीघ्र ही अपनी केंचुली छोड देता है, उसी पकार शीघ्र ही शरीर का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है । अत इस अस्थि और चर्म से युक्त शरीर पर भूलकर भी गर्व नही करना चाहिए, क्योकि जो मस्तक कभी ताजो मे सुशोभित होते है, उन्हे भी एक दिन जगल मे सूने स्थान पर गड्ढे मे पड़े

हुए देखा गया है। जब मनुष्य मर जाता है तो उसका सारा शरीर जलकर भस्म हो जाता है और उसके सौन्दर्य के स्थान पर केवल मुट्ठी भर राख रह जाती है। जब शरीर एक बार नष्ट हो जाता है तो वह फिर दोबारा नहीं आता। उसकी स्थिति उस मदिर जैसी होती है जो ढह कर धूलि-धूसरित हो जाता है और उसके स्थान पर लम्बी-लम्बी घासें उग आती हैं। वस्तुत यह शरीर तो लाख के उस मदिर के समान है जो हीरे-मोतियो से तो जडा हुआ है, किन्तु जिसकी आयु बहुत ही कम है, जो आग की एक चिनगारी से ही राख बन जाता है।

इस ससार मे रहने वाले मनुष्य भी मूर्ख और धोखेबाज होते हैं। वे राम का नाम तो स्मरण करते नही हैं, और दूसरे लोगो को ठगने मे ही लगे रहते हैं। अत मनुष्य यहाँ पर बडी-बडी इच्छाएँ लेकर आता है, किन्तु वह कर कुछ भी नही पाता। हरि की भक्ति के बिना यह जीवन धिक्कारने के योग्य है, क्योकि जिन लोगो ने हरि को विस्मृत कर दिया, उनकी गर्दन बगुले की भाँति सदैव लज्जा से नीचे झुकी रहती है।

अतः कबीरदास मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि हे मनुष्य! तू संसार के विषय-वासनाओं को छोड़कर हरि की भक्ति मे लग जा, क्योंकि यह मनुष्य शरीर फिर तुझे दोबारा आसानी से नही मिल सकता। इस शरीर के दो ही उद्देश्य हैं—भगवान् की भक्ति और साधुओ की सेवा। यदि कोई व्यक्ति चाहे कि वह सांसारिक पदार्थों मे लिप्त रहकर भी भक्ति करता रहे, तो यह समझना उसकी मूर्खता है क्योकि जिस प्रकार एक ही स्तम्भ से दो हाथी नही बाँधे जा सकते, उसी प्रकार एक ही मन से प्रभु और ससार के प्रति अनुराग नही किया जा सकता। इन माया के आकर्षणो में पडकर तो मनुष्य की स्थिति उस मनुष्य के समान हो जाती है जो अपने ही हाथो अपने पैरो पर कुल्हाडी मारता है। यह संसार विषम कष्टो एवं दुःखों से परिपूर्ण है, यह एक विकट बंधन है जिसमे मनुष्य जाने-अनजाने अपने को बन्दी बनाए रखता है। इन दुःखो से और इन बन्धनो से छूटने का एकमात्र उपाय है भगवान् की भक्ति करना। केवल राम-नाम की ओट लेकर ही मनुष्य इन दुःखों से तथा बंधनो से बच सकता है। इसके अतिरिक्त उसके लिए और कोई उपाय बचने का नहीं है।

इस संसार के सम्बन्ध भी झूठे और स्वार्थपूर्ण हैं। यहाँ माता-पिता आदि के जो सम्बन्ध है वे सब स्वार्थ से भरे हुए है और शीघ्र ही नष्ट होने वाले हैं। अतः कबीर ससार, जीवन, शरीर और सासारिक सम्बन्धो की नश्वरता और क्षणभंगुरता का मार्मिक वर्णन करते हुए ममुष्य को चेतावनी देते हैं कि वह इन बन्धनो मे न पड़ कर भगवान् की भक्ति और साधुओं की संगति करे तभी उसका कल्याण होगा।

कबीर नौबति आपणी, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर पटन ए गली, बहुरि न देखै आइ ॥१॥

शब्दार्थ—नौबति=नगाड़े की ध्वनि, राजा-महाराजाओं एव धनाढ्य व्यक्तियो के द्वार पर प्रातः सायं या अवसर विशेष पर इसे बजाया जाता था। पुराने महलो या किलों में प्रवेश द्वार के पश्चात् ही नौबतखाना मिलता है। पुर=नगर। पटन=बाजार। वहुरि=फिर।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! इस क्षणभंगुर संसार मे अपने ऐश्वर्य और वैभव का प्रदर्शन कुछ दिनों के लिए कर सकते हो। फिर जब काल अपना पंजा पसार कर मृत्यु के मुख में सुला देगा तब न तो इस नगर, न इस बाजार और न इन गलियों अर्थात् संसार के पुन' दर्शन हो सकेंगे।

भाव यह है कि जब इस संसार के माया-आकर्षण नश्वर है तो मनुष्य अनश्वर प्रभु का ध्यान क्यो नही करता है ?

जिनकैं नौबति बाजती, मैंगल बंधते बारि।
एकै हरि के नाँव बिन, गए जन्म सब हारि ॥२॥

शब्दार्थ—मैंगल=मस्त हाथी। बारि=द्वार। नाँव=नाम।

जो ऐसे ऐश्वर्यशाली थे कि उनके द्वार पर नौबत बजा करती थी एवं मस्त हाथी झूमते थे वे भी एक प्रभु के नाम के अभाव मे अपने जीवन को व्यर्थ खो बैठे।

ढोल दमामा दुड़बड़ी, सहनाई संगि भेरि।
औसर चल्या बजाइ करि, है कोइ राखै फेरि ॥३॥

शब्दार्थ—दमामा=नगाडा। दुडबड़ी=डुगडगी। भेरी=एक वाद्य विशेष जो मुह से बजाया जाता है।

प्रत्येक मनुष्य ढोल, नगाडे, डुगडुगी एव शहनाई के साथ भेरी बजाता हुआ अर्थात् अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार भोग भोगता हुआ काल के आ जाने पर मृत्यु को प्राप्त हो गया। उनका एश्वर्य और वैभव मृत्यु को न रोक सका। संसार मे ऐसी कोई शक्ति नही जो वैभवशाली मनुष्यो तक को काल के गाल से वचा सकती।

सातौं सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैसण लागे लाग ॥४॥

शब्दार्थ—सातो सबद=सप्त स्वर, इनके अतिरिक्त और कोई स्वर नही होता। यहाँ कबीर का तात्पर्य सातो वाद्य से भी हो सकता है, सप्त वाद्य है—झाझ, मृदग, शख, शहनाई, बीन, बासुरी, ढोल। बैसण=(बैठण) बैठना।

जहाँ सप्त स्वरो के गान अथवा सप्त वाद्य वैभव एव ऐश्वर्य का उद्‌घोष करते थे, अर्थात् वैभव का प्रत्येक उपकरण जहाँ उपस्थित था और जहाँ घर-घर आनन्दोलास छाया रहता था, वे ही स्थान अब जन-शून्य हो गए और उन पर कौवे बैठने लगे।

विशेष—सुमित्रानन्दन 'पन्त' जी की 'परिवर्तन' कविता मे भी यही भाव व्यक्त है—

"यही तो है असार ससार, सृजन, मिंचन, ससार।

आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार, रत्न दीपावली, मन्त्रोच्चार।
उलुको के कल नग्न विहार, झिल्लियों की झनकार॥"

कबीर थोड़ा जीवणां, माड़े बहुत मँडाण।
सबही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलितान॥५॥

शब्दार्थ—माडे बहुत मँडाल=आनन्दोल्लास के विविध आयोजन किये। ऊभा=साज-सज्जा। मेल्हि गया=नष्ट हो गया।

कबीर कहते है कि मनुष्य जीवन को क्षणिक जानते हुए भी अपने आनन्दोल्लास के अनेक उपकरण जुटाता है, साज-सम्भाल खडे करता है, किन्तु कठोर काल के द्वारा यह सब क्षणभर मे नष्ट कर दिया जाता है। एव धनिक, राजा, भिखारी सब सम्भाल करते ही करते ससार से चले जाते हैं।

विशेष—(१) कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

"चलने का मनसूवा नाही, देता गहरी नीव।"

(२) तुलसी ने अपनी विनयपत्रिका मे भी यही भाव इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"डासति ही गई वीत निसा सब, कवहु न नाथ नीद भरि सोयो।"

इक दिन ऐसा होइगा, सब सूं पड़ै बिछोह।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ॥६॥

शब्दार्थ—विछोह=अलग होना। किन=क्यो नही।

कबीर कहते हैं कि एक दिन ऐसा आयेगा जब काल संसार के समस्त सम्बन्ध विछिन्न कर देगा। इसलिए हे राजा, राणा, छत्रपति अर्थात् सब मनुष्यो! तुम पहले से ही सावधान क्यो नही हो जाते?

भाव यह है कि तुम उस अनश्वर प्रभु की भक्ति करो।

कबीर पटण कारिवां, पंच चोर दस द्वार।
जम रांणौं गढ भेलिसी, सुमिरि लै करतार॥७

शब्दार्थ—पटण=नगर, यहाँ शरीर से तात्पर्य है। कारिवाँ=कारवाँ, सार्थवाह। पंच चोर=काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह। दस द्वार=शरीर से आत्मा के निकलने के दस छिद्र ही दस द्वार माने गये हैं—दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका-विवर, एक मुख, एक मल द्वार, एक मूत्रछिद्र, एक ब्रह्मरन्ध्र। जमराणौ=यमराज। गढ़=किला, दुर्ग अर्थात् शरीर। भेलिसी=नष्ट करेगा।

कबीर कहते हैं कि यह शरीर का कारवाँ आत्मारूपी धन को लेकर (इस ससार मे) चल रहा है। जिस प्रकार कारवाँ को लूटने के लिए चोर-लुटेरे लगे रहते हैं, उसी भाँति काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह ये पाँच चोर इसे अपहृत करने के चक्कर मे हैं। यदि कारवाँ स्वय भी सुरक्षित न हो तो स्थिति और भी चिन्तनीय हो जाती है। इस शरीर मे भी दस द्वार है, न जाने कब कहां से आत्मा रूपी धन निकल जाय। कारवाँ जिस दुर्ग मे अपनी सुरक्षा के लिए ठहरता है यदि वह ही नष्ट हो जाये तो

कारवाँ का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, इसी भाति जब यमराज आकर मृत्यु के द्वारा इस शरीर रूपी दुर्ग को नष्ट कर देंगे, तो सब कुछ समाप्त हो जाएगा। इस लिए हे मनुष्य उस स्वामी—ब्रह्म—का भजन कर ले (जिससे तेरा धन—आत्मा सुरक्षित रह सके)।

विशेष—(१) सागरूपक अलकार है।

(२) प्रथम चरण मे शरीर को सार्थवाह (कारवाँ) बनाया गया है तो तृतीय चरण मे शरीर को दुर्ग भी बना दिया है, अतः रूपक में एक ही शरीर पर कारवा और किले के दो आरोपण असंगत लगते हैं; किन्तु कबीर इसके लिए क्षम्य है क्योकि वे तो अपनी बात को कहना भर चाहते है, और प्रस्तुत सत्य को उदघाटित करने का इससे सुन्दर ढग दूसरा नही हो सकता था।

कबीर कहा गरबियौ, इस जीवन की आस।
टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास ॥८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि इस क्षणिक जीवन पर अपनी समस्त आशाये पल्लवित कर गर्व करना व्यर्थ है। यह जीवन तो पलाश वृक्ष की भाँति कुछ दिन अपनी आभा बिखराता है, फिर वह पलाश-विटप ठूठ (पत्र विहीन—कुसुमो की तो बात ही क्या ?) हो जाता है। यही स्थिति जीवन की है। कुछ दिन ससार मे रहने के पश्चात् यह अस्थि-चर्ममय शरीर क्षार हो जाता है।

विशेष—कबीर ने अन्यत्र भी जीवन की क्षणभगुरता के विषय मे ऐसा ही भाव व्यक्त किया है, यथा—

"कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।
नाँ जोणौ कहा मारिसी, कै घरि कै परदेश ॥"

कबीर कहा गरबियौ, देहा देखि सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नही, ज्यूं कांचली भुवंग ॥९॥

शब्दार्थ—देहा=देह, शरीर को। सुरग=सुन्दर रग की। भुवंग=(भुजग) सर्प।

कबीरदास जी कहते है कि शरीर के सौन्दर्य को देखकर गर्व करना अनुचित है। यह तो एक बार कुछ क्षणिक समय के लिए प्राप्त होता है। आत्मा के द्वारा शरीर छोड़ दिए जाने पर उसी भाँति पुनः धारण नही किया जाता जिस प्रकार सर्प केचुली का एक बार परित्याग कर उसे पुनः धारण नही कर सकता।

कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास।
कालिह पर्यु भ्वै लेटणां, ऊपरि जामै घास ॥१०॥

शब्दार्थ—अवास=घर। भ्वै=भू, पृथ्वी।

कबीर कहते है कि हे मानव! तू अपने वैभव और ऐश्वर्यसूचक ऊँचे-ऊँचे महल और अट्टालिकाओ को देखकर व्यर्थ गर्व करता है। तू नही जानता कि शीघ्र

ही मृत्यु को प्राप्त होकर तुझे कब्र मे लेटना पडेगा, अर्थात् मिट्टी मे मिल जाना पड़ेगा और उस पर (वह) घास खडी हो जायेगी (जिसे तू आज पैरो से कुचलता है)।

कबीर कहा गरबियौ, चांम पलेटे हड्ड।
हैवर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देवा खड्ड ॥११॥

शब्दार्थ—चॉम=चर्म। पलेटे=लपेटे हुए। हड्ड=अस्थियाँ। हैवर=(हय-वर) श्रेष्ठ घोडा। देवा=दिये जायेंगे, डाले जाएगे। खड=खड्डा, गड्ढा, कब्र से तात्पर्य है।

कबीर कहते है कि इस अस्थिचर्ममय शरीर का गर्व करना व्यर्थ है। जिनका वैभव इतना महान था कि वे श्रेष्ठ घोडों पर बैठे छत्र धारण कर चलते थे उनको एक दिन मृत्यु होने पर कब्र मे जाना पडा, अपना अस्तित्व मिट्टी मे मिला देना पडा।

वशेष—दृष्टान्त अलकार।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।
नाँ जांणौं कहाँ मारिसी, कै घरि कै परदेस ॥१२॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस क्षणभगुर जीवन पर क्या गर्व किया जाये, क्योकि मृत्यु सर्वदा ही इसके साथ लगी रहती है। न जाने कब कहाँ देश या विदेश मे वह जीवन की समाप्ति कर दे।

यहु ऐसा संसार है, जैसा सेंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि ॥१३॥

शब्दार्थ– सैवल=सेवल, एक कुसुम विशेष। झूठै रगि=झूठा आकर्षण।

यह ससार ऐसा ही सुन्दर है जैसे सेंवल कुसुम वाहर से तो वड़ा सौन्दर्यशाली होता है, किन्तु भीतर उसमे कुछ तत्व वही होता (तोता उसमे चोच मारता है कुछ प्राप्ति की आशा से किन्नु अन्तत. उसे निराश होना पड़ता है)। इस संसार के क्षणिक समय मे इन माया के आकर्षणो मे मनुष्य को अपनी वास्तविक स्थिति—कि यह संसार आत्मा के लिए परदेश है—विस्मृत नही करनी चाहिए।

विशेष—उपमा अलकार।

जांमण मरण विचारि करि, कूड़े कांम निवारि।
जिनि पंथूं तुझ चालणां, सोई पंथ सँवारि ॥१४॥

शब्द र्थ—जांमण=जन्म। कूड़े काम=वुरे काम। निवारि=निवारण करना। चालणा=चलना है। सवारि=सँभाल ले, अपना ले।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य! तू जन्म-मरण, आवागमन की व्यथा को ध्यान मे रखकर वासना-प्रेरित कुकर्मो का परित्याग कर दे। जिस मार्ग (प्रभु प्राप्ति का मार्ग) पर तुझे अन्तत. चलना है, तू उसे अभी से अपना ले।

बिन रखवाले बाहिरा, चिड़ियें खाया खेत।
आधा प्रधा ऊबरै, चेति सकै तौ चेति ॥१५॥

शब्दार्थ—रखवाले=रक्षक, गुरु। चिडियै=वासना या माया के पक्षी। आधा प्रधा=थोडा-बहुत।

हे मनुष्य! सदगुरु रूपी रक्षक के अभाव में तेरे प्रभु भक्ति के खेत को कुछ तो चोर(काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह ये पांच चोर) उड़ा ले गये और कुछ माया या वासना की सुन्दर चिडियो ने खा लिया। अब वह थोडी-बहुत बची है, यदि मंगल चाहता है तो अब भी सावधान हो प्रभु-भक्ति मे प्रवृत्त हो।

विशेष—अन्योक्ति अलकार।

हाड़ जलै ज्यूं लाकड़ी, केस जलै ज्यूं घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास ॥१६॥

शब्दार्थ—सरल है।

मृत्यु हो जाने पर इस शरीर का कोई उपयोग नही। मृतक की हड्डियाँ लकडी के समान एवं सुन्दर केश-राशि घास तुल्य जल जाती है। इस समस्त शरीर को जलता देखकर कबीर इस निष्कर्ष पर पहुचा कि जीवन में कुछ नही है, अतः वह इससे विरक्त (प्रभु भक्ति मे प्रवृत्त हो) गया है।

कबीर मंदिर ढहि पड़्या, सैंट भई सैबार।
कोइ चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी बार ॥१७॥

शब्दार्थ—सैंट=एक घास जो प्राय कब्र पर उग आती है। सैवार=सिवार, पानी की एक घास। चेजारा=चिनने वाला, राज।

कबीरदास जी कहते हैं कि इस शरीर रूपी मन्दिर का निर्माता इसे बना कर फिर नही मिला, जीवन भर उसकी प्रतीक्षा की। यहाँ तक कि यह शरीर रूपी मन्दिर नष्ट भी हो गया, और उस पर सैंट और सिवार उग आयी।

विशेष—कबीर ने यहाँ जल और थल दोनों की घास का उल्लेख इसलिए किया है कि यदि शव का दाह संस्कार कर अस्थि विसर्जन जल मे किया गया तो उस पर सिवार नामक घास उग आती है और यदि शव को कब्र मे दफना दिया गया तो कब्र पर सैंट नामक घास उग आती है।

कबीर देवल ढहि पड़्या, ईंट भई सैवार।
करि चिजारा सों प्रीतिड़ी, ज्यूं ढहै न दूजी बार ॥१८॥

शब्दार्थ—प्रीति ड़ी=प्रेम।

कबीर कहते है कि यह शरीर रूपी देवालय नष्ट हो गया और उसकी अस्थि रूपी ईंटो पर काई भी जम गई। (जल में अस्थि-विसर्जन के कारण) उसका कोई अस्तित्व न रहा। किन्तु फिर उसका पुनर्निर्माण(पुनर्जन्म) होगा। अतः हे मनुष्य! तू उसके निर्माता प्रभु से प्रेम कर जिससे मन्दिर को दूसरी बार ढहना न पडे; अर्थात् फिर जन्म न लेना पड़े।

कबीर मंदिर लाष का, जड़िया हीरें लालि।
दिवस चारि का पोषणां, विनस जाइगा काल्हि ॥१९॥

शब्दार्थ—लाष=लाक्षा, लाख। विनस=नष्ट हो जयेगा।

कवीरदास जी कहते है कि यह शरीर रूपी मन्दिर लाक्षा से निर्मित है तथा इसकी शोभा भी क्षणिक है, यह शीघ्र ही (पाण्डवो के लिए वने) लाक्षागृह के समान जल कर नष्ट हो जाएगा।

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बाँधी एह।
दिवस चारि का पेषणां, अंति षेह की षेह ॥२०॥

शब्दार्थ—सकेलि=सकेर कर, एकत्रित कर। पुडी=पुडिया। षेंह=धूल।

कवीर कहते है कि यह शरीर कुछ नही, मिट्टी को सकेर कर, एकत्रित कर, वनाई गई पुडिया है। इसकी स्थिति क्षणिक है (फिर तो पुडिया फट ही जाती है)। फिर यह शरीर रूपी पुडिया नष्ट हो जने पर धूल मे ही मिल जायेगी।

विशेष—(१) अलकार—रूपक।

(२) तुलना कीजिए—

"शरीर कुछ नही पाँच का मेल है, मिट्टी का खेल है।"

कबीर जे धंधै तौ धूलि, विन धंधै धूलै नहीं।
तें नर विनठे मूलि, जिनि धंधै में ध्याया नहीं ॥२१॥

शब्दार्थ— धधे=कर्म। धूलि=धुलना, स्वच्छ होना। विनठे मूलि=जड से ही नष्ट हो गये।

कवीर जी कहते है कि जो मनुष्य ससार में कर्म करता है उसका मन स्वच्छ हो जाता है, उज्वल हो जाता है। जो मनुष्य कर्म नही करते उनका चित्त स्वच्छ-निर्मल रहता है, किन्तु कर्म करते हुए भी ब्रह्म-प्राप्ति-मार्ग मे प्रवृत्त हुआ जा सकता है, कर्म करते हुए जिस व्यक्ति ने ब्रह्म का ध्यान नही किया उसका तो जड़ से ही विनाश हो गया।

विशेष—इससे सिद्ध होता है कि कबीर के अनुसार प्रभु-प्राप्ति ससार मे रहकर ही सम्भव है।

कबीर सुपनैं रैंनि कैं, ऊघड़ि आये नैन।
जीव पड़्या वहु लूटि मैं, जागैं तौ लैंण न दैंण ॥२२॥

शब्दार्थ—सरल है।

कवीर यहाँ स्वप्न का उदाहरण देकर व्यक्ति की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते है कि जिस प्रकार स्वप्नावथा मे कोई अत्यधिक धन देखकर लूट-मार मे लग जाये, किन्तु जागने पर उसे कुछ भी प्राप्त न हो, उसी प्रकार व्यक्ति माया-भ्रम मे पड़ा हुआ आदान-प्रदान मे लगा हुआ है, किन्तु (गुरु कृपा से) अज्ञान दूर हो जांने पर वह माया-व्यापार से विरक्त हो जाता है।

विशेष—रूपक अलकार।

कबीर सुपनै रैनि कै, पारस जीय मै छेक ।
जे सोऊं तौ दोइ जणां, जागूं तौ एक ॥२३॥

शब्दार्थ—पारस=पारस स्वरूप परमात्मा जो आत्मा को भी अपने परस तत्व मे समाहित कर परमात्मा ही बना देता है । छेक=भेद ।

कबीर कहते है कि अज्ञानरात्रि मे जीव सुप्तावस्था में पडा माया के आकर्षणो के स्वप्नो मे तल्लीन है । इसी अज्ञान की सुप्तावस्था के कारण ब्रह्म और जीव मे इतनी दूरी हो गयी कि उनका पृथक् अस्तित्व परिलक्षित होता है। यदि मैं इसी अज्ञानावस्था मे पडा सोता रहता हूं तो यह द्वैत भावना बनी रहती है और यदि जागकर, ज्ञानयुक्त होकर, वास्तविक स्थिति को देखता हू तो ज्ञान होता है कि ब्रह्म और जीव एक ही हैं ।

कबीर इस संसार में, घणैं मनिष मतिहीण ।
राम नाम जांणै नहीं, आए टापा दीन ॥२४॥

शब्दार्थ—घणैं=अत्यधिक । टापा=झाँसा देना, धोखा देना ।

कबीर कहते है कि इस ससार मे मनुष्य बहुत बडी सख्या मे मूर्ख है । वे राम-नाम का महत्व तो जानते नही, प्रभु-प्राप्ति के अन्य बहुत से व्यर्थ उपाय बताकर ससार को धोखा देना चाहते है ।

कहा कीयौ हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ ।
इत के भए न उत के, चाले मूल गँवाइ ॥२५॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि हमने ससार मे आकर कौनसा अच्छा कार्य किया ? अब अपने उस स्वामी से, जिसने हमे इस लोक मे भेजा है, क्या जाकर कहेगे ? हमने न तो ऐसे कर्म किये जिनसे यहाँ लोक मे जीवन सुधरता (जीवन भर व्यर्थ मृग-जल की भाति माया-आकर्षणो के पीछे दौडते रहे) और न ऐसे सत्कर्म किये कि परलोक का मार्ग ही सुधरता । प्रभु ने जो यह आत्मा हमे निर्मल और स्वच्छ पवित्र रूप मे प्रदान की थी उसकी पवित्रता, स्वच्छता और निर्मलता सब कुछ यहाँ नष्ट कर जा रहे है ।

आया अणआया भया, जे बहुरता संसार ।
पड़्या भुलांवां गाफिला, गये कुबुधी हारि ॥२६॥

शब्दार्थ—अण आया=न आने के समान । बहुरता=विविध आकर्षणो मे आसक्त । गाफिला=वेहोश, असावधान ।

कवीर कहते है कि जो व्यक्ति इस ससार मे विविध माया-आकर्षणो मे पड़ा हुआ है, आसक्त है, उसका जन्म वृथा ही है, इस ससार मे न आने के बराबर ही है । वे इन ससार-आकर्षणो के भ्रम मे पडे हुए है । इस दुर्बुद्धि के कारण ही वे अपने जीवन के दाव को हार जाते है ।

कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीमण संसार ।
धूंवाँ केरा धौलहर, जात न मार्ग बार ॥२७॥

शब्दार्थ—ध्रिग=धिक्कार । धौलहर=महल । जात=नष्ट होते ।

कबीर कहते है कि प्रभुभक्ति के बिना संसार मे जीवन धारण करना धिक्कार है । मनुष्य को प्रभुभक्ति करनी ही चाहिए क्योकि जीवन का अस्तित्व धुए के महल सदृश क्षणिक है ।

विशेष—(१) उपमा अलकार ।

(२) 'धुवाँ केरा धौलहर' उपमा शंकरी वेदान्तियो के समान कबीर ने दी है, तुलसी आदि ने भी इस उपमा का प्रयोग किया है ।

जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुण भूलि ।
ते विधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि झूलि ॥२८॥

शब्दार्थ—सरल है ।

जिन मनुष्यो ने इस ससार मे आकर प्रभुभक्ति का कर्तव्य पूर्ण नही किया और उनके गुणो को विस्मृत कर बैठे उन्ही को ब्रह्म ने बगले का जन्म दिया जो अपन मुख (लज्जावश) नीचे किए खड़े रहते है ।

विशेष—फलोत्प्रेक्षा अलकार ।

माटी मलणि कुंभार की, घणीं सहै सिरि लात ।
इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अब की घात ॥२९॥

शब्दार्थ—सरल है

हे मनुष्य ! तेरी दशा कुम्भकार की उस मिट्टी के समान है जो गूथे जाने पर बार-बार लातो के आघात सहती है । तूने भी अनेक जन्मो मे आवागमन और ससार यातना भोगी है । यदि तू इस जन्म मे सावधान नही हुआ और ऐसे सुकृत्य न किये जो तुझे इस ससार चक्र से मुक्त कर आवागमन से छुड़ा दें तो समझ ले कि अवसर चक गया और तुझे फिर वही यातनाए भोगनी पड़ेंगी ।

इहि औसरि चेत्या नहीं, पसु ज्यूं पाली देह ।
राम नाम जाण्या नहीं, अति पड़ी मुख षेह ॥३०॥

शब्दार्थ—षेह=धूल ।

हे मनुष्य ! यदि तू इस जन्म मे भी सावधान नही हुआ एव पशु के समान केवल अपना शरीर ही पालता रहा, अर्थात् आहार, निद्रा, मथुन आदि पाशविक प्रवृत्तियों मे ही लगा रहा है और प्रभुभक्ति नही कर सका तो अन्त मे तुझे नष्ट हो मिट्टी मे मिल जाना पड़ेगा ।

विशेष—उपमा अलकार ।

राम नाम जाण्यौं नहीं, लागी मोटी षोड़ि ।
काया हाँडी काठ की, ना ऊं चढ़ै बहोड़ि ॥३१॥

शब्दार्थ— मोटी=बहुत बडा । षड़ि=दोष । वहोड़ि=वहोरि, पुन., दूसरी बार ।

हे मनुष्य ! तूने राम नाम अर्थात् प्रभुभक्ति को न जानकर बड़ा भारी पाप किया । अब तुझे इसका (प्रभुभक्ति का) अवसर नही मिलेगा क्योकि जिस प्रकार काठ की हाडी दूसरी बार नही चढती उसी भाति मनुष्य जीवन भी पुनः प्राप्त नही होता ।

विशेष—१. कबीर ने यहा यह कहा है कि मनुष्य जीवन बारम्बार नही मिलता और ऊपर वे आवागमन या बार-बार जन्म लेने की यातना से छूटने की बात कह चुके हैं, किन्तु दोनो कथनो मे कोई विरोध नही है । वे यह कहना चाहते हैं कि आत्मा विविध योनियो की यातनाए जन्म-मरण के चक्र मे पडकर भोगती रहती है, बड़े सुकृत्यो से उसे यह मनुष्य जन्म प्राप्त होता है, यदि इसे भी बिना प्रभुभक्ति के व्यर्थ ही गवा दिया तो फिर वही विविध योनियो मे भटकने का चक्र प्रारम्भ हो जाता है, जहा प्रभुभक्ति के लिए स्थान नही ।

२. उदाहरण अलकार ।

राम नाम जाण्यां नही, बात बिनंठी मूल ।
परत इहां ही हारिया, परति पड़ी मुखि धूलि ॥३२॥

शब्दार्थ—बिनठी=विनष्ट ।

हे मनुष्य ! तूने प्रभु-भक्ति का महत्व न जानकर बिलकुल ही, अर्थात् जड़ से ही, बात बिगाड दी । व्यर्थ के सासारिक धन्धो मे तूने अपनी शक्ति नष्ट कर दी और अत मे मृत्यु को प्राप्त हो (कब्र मे जाकर) मुख मे धूल ही पड़ेगी ।

विशेष—कबीर यह कहना चाहते है कि मनुष्य को अपनी शक्ति संसार के व्यर्थ कार्यों मे नष्ट न कर प्रभुभक्ति मे ध्यान लगाना चाहिए ।

राम नाम जाण्यां नहीं, पाल्यो कटक कुटुंब ।
धंधा ही में मरि गया, बाहर हुई न बंब ॥३३॥

शब्दार्थ—कटक=असख्य । धन्धा=सासारिक कार्य । बम्ब=एक वाद्य विशेष जिसे एक बहुत बडा ढोल कहा जा सकता है ।

हे मनुष्य ! तूने प्रभु-भक्ति नही की । सेना के समान संख्यातीत कुटुम्ब के पालन ही मे जूझता रहा इसीलिए ससार कर्मों मे उलझते हुए समस्त जीवन बीत गया, मृत्यु आ पहुची; किन्तु तेरा अह फिर भी न गया ।

मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार ।
तरवर थैं फल झड़ि पड़्या, बहुरि न लागै डार ॥३४॥

शब्दार्थ—मनिषा=मानव का । थैं=(तैं) से । वहुरि=फिर से ।

कबीनदास कहते है कि यह मानव जन्म वड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, और यह शरीर बारम्बार प्राप्त नही होता । जिस प्रकार एक बार वृक्ष से फल झड जाने पर वह शाखा पर दूसरी बार नही लगाया जा सकता, उसी भाति इस मानव

जन्म मे शरीर के एक बार नष्ट हो जाने पर यह पुन प्राप्त नहीं हो सकता (अत मानव ! प्रभु-भक्ति कर)।

कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया रस चोज।
बार बार नहीं पाइए, मनिषा जन्म की मौज ॥३५॥

शब्दार्थ—रस चोज=आन्दोल्लास। मौज=आनन्द।

कबीरदास कहते हैं कि मानव जन्म-प्राप्ति का सौभाग्य बारम्बार प्राप्त नहीं होता, अत. हे मनुष्य विषय-वासना युक्त मायापूर्ण क्षणिक आनन्द और सुखों का परित्याग कर प्रभु की भक्ति मे प्रवृत्त हो (वही वास्तविक आनन्द है जिसके सम्मुख सासारिक आनन्द फीके और तुच्छ हैं)।

कबीर यहु तन जात है, सकै तौ ठाहर लाइ।
कै सेवा करि साध की, कै गुण गोविंद के गाइ ॥३६॥

शब्दार्थ—ठाहर लाई=ठिकाने से लगा, सम्भाल ले।

कबीरदास जी कहते है कि हे मनुष्य ! यह मानव-जन्म व्यर्थ ही नष्ट हुआ जा रहा है। अब भी समय है, यदि इसे सम्भाल सकता है तो सम्भाल कर उचित पथ पर प्रवृत्त हो जा। या तो तू साधुओ की सेवा कर अथवा फिर प्रभु का गुणगान कर इन दोनो से ही तेरा अज्ञान दूर होगा और तेरी मुक्ति सम्भव है।

विशेष—समस्त मध्यकालीन भक्त कवियो ने प्रभु-भक्ति के लिए साधु-सगति को आवश्यक माना, क्योकि अन्तत वह भी प्रभु-प्रेम उपजाती है,

यथा—

"बिनु सत्सग विवेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥"

कबीर यहु तन जात है, सकै तौ लेहु बहोड़ि।
नागे हाथूं ते गये, जिनकै लाख करोड़ि ॥३७॥

शब्दार्थ—बहोडि=वापिस। नागे=खाली।

कबीरदास कहते हैं कि हे मनुष्य ! यह मानव जन्म यों ही (प्रभु-भक्ति बिना) बीता जा रहा है, अब भी यदि चाहते हो तो इसे पुन. अपने सुकृत्यो से प्राप्त करने का प्रयत्न कर लो। ऐसे कार्य करो और प्रभु-भक्ति करो जिससे यह जन्म पुन. प्राप्त हो सके। व्यर्थ ससार मे माया के पीछे बावले बने क्यो फिरते हो ? जिनकी लाखो और करोडो की सम्पत्ति थी वे भी यहा से खाली हाथ ही गये।

भाव यह है कि ससार के समस्त आकर्षण कार्य है।

विशेष—दृष्टात अलकार।

यहु तन काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिसि खाइ।
एक राम के नाँव बिन, जदि तदि प्रलै जाइ ॥३८॥

शब्दार्थ—जदि तदि=जब तब।

यह शरीर कच्चे घट के सदृश है जो चारो ओर से कुम्भकार की थपकी की चोट खाता है। यह शरीर भी सासारिक यातनाओ के आघात सह रहा है। एक राम नाम के अभाव में ही पुनः ससार में जन्म लेकर वासना अग्नि मे दहता है, यदि राम नाम का सम्बल ले तो इस आवागमन से मुक्त हो जाय।

विशेष—रूपक अलकार।

यह तन काचा कुंभ है, लियां फिरै था साथि।
ढबका लागा फूटि गया, कछू न आया हाथि ॥३६॥

शब्दार्थ—ढबका=धक्का, ठसक, हल्की सी चोट।

यह शरीर उस कच्चे घडे के समान कोमल और अनिश्चित-भविष्य है जिसे साथ लिए फिरते है और तनिक सी चोट लगने पर घडा फूट जाता है,उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और हाथ मे कुछ शेप नही रह जाता।

विशेष=रूपक अलंकार।

कॉची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि।
राम कबीरै रुचि भई, याही ओषदि साधि ॥४०॥

शब्दार्थ—काची=केचुली, शरीर। जिन=मत। बियाधि=व्याधि।

हे मनुष्य! तू अपनी इस शरीर रूपी केंचुली को वासना के पंक से काली मत कर। काल रूपी व्याध तुझे दिन-प्रतिदिन अपना लक्ष्य बनाता बढा आ रहा है। कबीर ने तो अपनी रुचि प्रभु-भक्ति मे लगा दी है, यही सासारिक तापो की एकमात्र औषधि है।

कबीर अपनें जीवतं, ए दोइ बातं धोइ।
लोभ बड़ाई कारणैं, अछता मूल न खोइ ॥४१॥

शब्दार्थ—जीवते=मन से।

कबीरदास कहते हैं कि मनुष्य तू अपने मन से दो बातो को निकाल दे; एक तो लोभ और दूसरी अपनी प्रशसा से उत्पन्न दर्प। इन दोनो के ही कारण तू व्यर्थ ससार मे भटक कर अपने अमूल्य धन—प्रभु-भक्ति—को खो रहा है।

खंभा ऐक गइंद दोइ, क्यूं करि बंधिसि बारि।
मानि करै तौ पीव नहीं, पीव तौ मानि निवारि ॥४२॥

शब्दार्थ—गइद=(गयन्द) हाथी। बारि=द्वार।

कबीरदास कहते हैं कि हे मानव! तेरे पास एक ही हृदय रूपी स्तम्भ हैं, उससे दो हाथी—प्रभु-भक्ति और अह—नहीं बाधे जा सकते। यदि तू अपने अहं की रक्षा करना, हृदय मे उसे स्थान देना चाहता है तो प्रभु-प्राप्ति असम्भव है, यदि तू केवल मात्र प्रभु को चाहता है तो अपने अह का परित्याग कर दे।

दीन गँवाया दुनी सौं, दुनी न चाली साथि।
पाँइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणै हाथि ॥४३॥

शब्दार्थ—दीन=धर्म। दुनी=दुनिया, ससार के आकर्षण।

ससार मे माया-आकर्षणो मे लिप्त रह कर जीव प्रभु को भूल गया, किन्तु जिस ससार के पीछे उसने अपना धर्म नष्ट कर दिया वह मरने पर उसके साथ नही गया। इस प्रकार जीवात्मा ने स्वय अपनी उन्नति का मार्ग अवरुद्ध कर लिया।

यहु तन तौ सब बन भया, करंम भए कुहाड़ि।
आप आप कूं काटि हैं, कहै कबीर बिचारि ॥४४॥

शब्दार्थ—कुहाडि=कुल्हाडा।

यह शरीर वन के समान है जिसके नाश के लिये कर्मों की कुल्हाडी प्रस्तुत है। कर्मो की कुल्हाडी अपने ही शरीर को काट रही है, अर्थात् कुकर्मफल भोगने से व्यक्ति का जीवन नष्ट हुआ जा रहा है।

विशेष—उपमा अलकार।

कुल खोयां कुल ऊबरैं, कुल राख्यां कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ ॥४५॥

शब्दार्थ—कुल=वैभवपूर्ण प्रलोभन। कुल=सारतत्व-प्रभु। निकुल=कुल रहित होकर, सासारिक प्रलोभनो से विरक्त होकर। कुल=समस्त आनन्दोपकरण।

सांसारिक वैभव के समस्त आकर्षणो को त्यागकर ही उस सारतत्व ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। यदि जीव मायाजन्य आकर्षणो मे ही उलझा रहा तो प्रभु-प्राप्ति सम्भव नही। हे जीव! तू इन वैभवपूर्ण प्रलोभनो से विरक्त होकर ब्रह्म से मिल क्योकि वह समस्त आनन्दोल्लास का केन्द्र है, समग्र ससार उसी मे समाया हुआ है।

विशेष—यमक अलकार।

दुनिया के धोखै मुवा, चलै जु कुल की काणि।
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धर्या मसांणि ॥४६॥

शब्दार्थ—काणि=गौरव। लाजसी=लज्जा करता है। मसाणि=श्मशान।

जो मनुष्य कुल गौरव के पीछे सासारिक माया-मोह मे उलझा रहा वह व्यर्थ ससार के धोखे मे आकर जीवन गँवा बैठा। मृत्यु के कारण जब शरीर को श्मशान की गर्हित भूमि मे ले जाकर पटक दिया गया, तब किसका कुल लज्जित हुआ? अर्थात् किसी का भी नही।

विशेष—महात्मा कबीर यह कहना चाहते हैं कि जीव ने प्रभु-भक्ति, साधु-सेवा—ऐसे सुकृत्य क्यो न किये जिससे उसका नाश न होता।

दुनियाँ भाँडा दुख का, भरी मुहांमुह भूष।
अदयाँ अलह राम की, कुरहै ऊँणीं कूष ॥४७॥

शब्दार्थ—भाँडा=वर्तन। मुहांमुह=लबालब। भूष=भूख, अभाव से तात्पर्य। अदया=अकृपा। अलह=अल्लाह, श्रेष्ठ। कूष=भण्डार।

यह ससार कुछ नही, केवल दु.खो का स्थान मात्र (पात्र) है जो अभावो से पूर्णरूपेण भरा हुआ है। श्रेष्ठ राम की अकृपा से, अर्थात् परब्रह्म राम की कृपा बिना

यहाँ जो बड़े-बड़े कोषागार है वे भी खाली रहते है।

भाव यह है कि सब कुछ राम कृपा से ही प्राप्य है।

विशेष—रूपक अलकार।

जिहि जेवड़ी जग बंधिया, तूं जिनि बंधै कबीर।
ह्वैसी आटा लूण ज्यूं, सोना सँवा सरीर ॥४८॥

शब्दार्थ—जेवडी=रस्सी, माया बंधन। लूंण=लोथ (नमक नही)

जिस माया बधन मे समस्त ससार वधा हुआ है, हे कबीर! तू उस माया रज्जु मे न वध। अन्यथा तेरा यह कंचन सदृश शुद्ध शरीर आटे की लोथ के समान मुक्के—ससार यातना के प्रबल आघात—सहेगा और बारम्बार गूथा और रूधा जायगा।

भाव यह है कि माया के बधन मे पड़ने से तेरी मुक्ति नही होगी और आवागमन के चक्र मे पड़कर ससार यातनाये सहेगा।

कहत सुनत जग जात है, बिषै न सूझै काल।
कबीर प्यालै प्रेम कै, भरि भरि पिवै रसाल ॥४९॥

शब्दार्थ—विषै=विषय।

ससार के समस्त मनुष्य मुक्ति आदि के लिए उपदेश देते हुए भी विषय-वासना के मार्ग पर चले जा रहे हैं। उन्हे विषय-वासना जनित आनन्द में अपनी मृत्यु—नाश दृष्टिगत नही होता। कबीर (साधुजन से तात्पर्य है) प्रभु-प्रेम रस के प्यालो को भर-भर कर पी रहा है जिसमें उसे अमित आनन्द प्राप्त हो रहा है।

कबीर हद के जीव सूं, हित करि मुखां न बोलि।
जे लागे बेहद सूं, तिन सूं अंतर खोलि ॥५०॥

शब्दार्थ—हद के जीव सूँ=सासारिक मनुष्य से—जो पूर्णरूपेण संसार में सलिप्त है। हितकरि=प्रेम से। बेहद=निस्सीम प्रभु।

कबीर जी कहते है कि हे मनुष्य! जो मनुष्य ससार की विषय-वासना मे सलिप्त है, उनसे प्रेम भाव से वार्तालाप नही करना चाहिये। दूसरी ओर जो निस्सीम प्रभु-प्राप्ति के मार्ग मे प्रवृत्त है उनसे अपने हृदय की समस्त बात बता दो अर्थात् पूर्ण प्रेम उन्ही से रखो।

कबीर केवल राम की, तूं जिनि छाड़ै ओट।
घण अहरणि बिचि लोह ज्यूं, घणी सहैं सिर चोट ॥५१॥

शब्दार्थ—ओट=आश्रय। घण=भारी हथौड़ा। अहरणि=लोहे की एक पीठिका सी जिस पर रखकर गरम-गरम लोहे पर चोट मारकर उसे वाछित रूप दिया जाता है। इसे निहाई कहते है।

कबीर जी कहते है कि हे जीवात्मा! तू राम का आश्रय मत छोड़। प्रभु के आश्रय के बिना तू ससार मे पड़ी उसी प्रकार दुःखो की चोट खाती रहेगी जिस भाँति निहाई पर रखे हुए लोहे पर भारी हथौडे की निरन्तर चोटें पडती हैं।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार ।

कबीर केवल राम कहि, सुध, गरीबीं झाल्हि ।
कूड़ बड़ाई बूडसी, भारी पड़सी काल्हि ॥५२॥

शब्दार्थ—झाल्हि = झेल ले । कूड = व्यर्थ के, मिथ्या ।

कबीर जी कहते है कि हे मनुष्य ! तू केवल राम नाम का स्मरण कर अपनी इस निर्धनता में ही प्रसन्न रह । यह जो मिथ्या सांसारिक वैभव है जो भव-सागर मे डुबाने वाला है, पतन के गर्त्त मे पहुचाता है यदि इसी को सत्य समझकर तूने प्रभु-भक्ति की उपेक्षा की तो फिर तुझे बहुत दु:ख उठाने पड़ेंगे ।

काया मंजन क्या करैं, कपड़ धोइम धोइ ।
उजल हूवा न छूटिए, सुख नी दड़ीं न सोइ ॥५३॥

शब्दार्थ—मंजन = रगड-रगड कर स्नान । छूटिए = मुक्त होना ।

हे मनुष्य ! शरीर को वारम्बार नहलाकर और कपडो को खूब धो-धोकर ही तू समझता है कि तू पवित्र हो गया; किन्तु पूर्ण पवित्रता के लिए अन्तर की स्वच्छता भी आवश्यक है । इस वाह्य आवरण के ही उज्ज्वल होने से मुक्ति सम्भव नही, अतः शरीर और वस्त्रो को ही स्वच्छ रख कर सुख की नीद मत सो, मन की शुद्धि में प्रवृत्त हो ।

उजल कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खांहि ।
एकै हरि का नांव बिन, बांधे जमपुरि जांहि ॥५४॥

शब्दार्थ—सरल है ।

चाहे कोई कितना ही उज्ज्वल परिधान धारण कर, पान सुपारी खाकर साज-सज्जा करे, इससे मुक्ति सम्भव नही । एक प्रभु के नाम-स्मरण के अभाव में मनुष्य यमपुरी की यातना को भोगते हैं ।

तेरा संगी को नहीं, सब स्वारथ बँधी लोइ ।
मनि परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ ॥५५॥

शब्दार्थ—बंधी = बंधे हुए । लोइ = लोग ।

हे जीवात्मा ! सब सांसारिक सम्बन्धी स्वार्थ के कारण तुझसे सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं, तेरा वास्तविक साथी-मित्र, सम्बन्धी—इनमें कोई नहीं । जब तक मन मे प्रभु-प्रेम उत्पन्न नही होता तब तक जीव को अपनी मुक्ति का विश्वास नही होता ।

मांइ बिड़ाणी बाप बिड़, हम भीं मझि बिड़ांह ।
दरिया केरी नाव ज्यूं, संजोगे मिलियांह ॥५६॥

शब्दार्थ—विडाणी = विनष्ट होने वाली । वाप विड = पिता भी नष्ट होने वाला ।

कबीरदास कहते है कि मनुष्य ! तू ससार के माया-मोह मे मत पड़; क्योंकि यह मिथ्या है । यहा माता, पिता, आदि के जो सम्बन्ध है वे सब नष्ट होने वाले है

और हम भी इस भव-सागर के मध्य ही नष्ट-हो-जायेगे। हम सब एक जगह एकत्रित हुए हैं यह तो उसी प्रकार का आकस्मिक सयोग है जैसे नदी के बीच तैरती नौका मे कोई कही से कोई कही से आकर कुछ क्षण के लिए मिल जाता है और (जीवन) धारा के समाप्त होते ही सब अलग-अलग हो जाते है।

अलंकार—उपमा।

इत प्रघर उत घर, बणजण आये हाट।
करम किराणां बेंचि करि, उठि ज लागे बाट ॥५७॥

शब्दार्थ—प्रघर=पर घर, परदेश। बणजण=व्यापार।

जीवात्मा कहती है कि यह ससार तो हमारे लिए परदेश है, हमारा वास्तविक घर तो ब्रह्म के पास ही है। इस संसार (परदेश) में तो हम उसी प्रकार कर्म का व्यापार करने आये है जैसे कोई सौदागर दूसरे देश मे अपना सामान बेच कर लौट जाता है। इसलिए इस कर्म के क्रय-विक्रय व्यापार को शीघ्र समाप्त कर अपने घर के मार्ग मे प्रवृत्त क्यो नही होते।

नाँन्हां काती चित्त दे, महंगे मोलि बिकाइ।
गाहक ताजा राम है, और न नेड़ा आइ ॥५८॥

शब्दार्थ—नान्हां काती=बारीक सूत कातने वाली, सुन्दर कर्म ही बारीक सूत है।

हे जीवात्मा! तू नन्हा, बारीक, सुन्दर सूत कात, अर्थात् शुभ कर्म कर; क्योंकि वह अच्छे दामो मे विकता है। शुभ कर्मो का फल अच्छा मिलता है। इस शुभ कर्म रूपी सुन्दर मूत के एकमात्र ग्राहक राजा राम ही हैं अन्य कोई इस शुभ-कर्म-राशि को विकृत करने के लिए पास भी नही आ सकता।

डागल उपरि दौड़णां, सुख नीदड़ी न सोइ।
पुनै पाये द्यौंहड़े, ओछी ठौर न कोइ ॥५९॥

शब्दार्थ—डागल=ऊबड़-खाबड भूमि, साधना की विकट वनस्थली। द्यौहडे=देवालय, पचभूतो से निर्मित मानव शरीर से तात्पर्य है।

हे मनुष्य! तुझको साधना की विकट वनस्थली पर दौड़ना है जो सुगम नही है, इसलिए तू सुख-निद्रा मे अचेत मत रह, सावधान होकर प्रभु भक्ति मे प्रवृत्त हो। सुकृत्तों के बदले मे तुझे यह देवालय के समान सुन्दर शरीर (जीवन से तात्पर्य है) प्राप्त हुआ है। प्रभु-भक्ति विना इसे व्यर्थ नष्ट मत होने दे।

मै मै बड़ी बलाइ है, सकै तौ निकसी भाजि।
कब लग राखौं हे सखी, रूई पलेटी आगि ॥६०॥

शब्दार्थ—मैं मैं=अह। वलाई=वला, आफत, यहाँ पाप या बीमारी के अर्थ मे प्रयोग किया है।

अह, एक वहुत बड़ा रोग है जो मनुष्य को नाश की ओर ले जाता है। इसे दूर किया जा सकता है, अत शीघ्रातिशीघ्र इसका परित्याग कर दो अन्यथा

यह नाश करके रहेगा। रुई मे लिपटी हुई अग्नि कुछ समय ही तक शान्त रह सकती है, अन्तत तो वह लपटो मे परिवर्तित होकर सर्वस्व भस्मसात् कर देगी। इसी प्रकार यह अह अधिक समय तक अपने विषाक्त प्रभाव को नही रोक सकता।

विशेष—उपमा अलंकार।

मै मै मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास।
मेरी पग का पैषड़ा, मेरी गल की पास ॥६१॥

शब्दार्थ—विनास=विनाश। पैपडा=बंधन। पास=पाश, फाँसी का फद।

हे मनुष्य! मैं-मैं अर्थात् अह का दर्प क्यो प्रदर्शित करता है। यह अहं तो विनाश का मूल कारण है। यही अह पैरो मे पडे हुए बंधन और गले मे पडे हुए फासी के फन्द के समान है जो मृत्यु प्रदान करते हैं।

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार।
हलके हलके तिरि गये, बूड़े तिनि सिर भार ॥६२॥२६२॥

शब्दार्थ—कूडे=रद्दी, वेकार। हलके-हलके=शुद्ध आत्मा वाले। बूड़े=डूब गये।

कबीर कहते है कि यह जीवन नौका बड़ी जर्जर है और इसका मल्लाह (जिनसे यह चालित है) भी वेकार है। ऐसी अवस्था मे इस संसार सागर से वे ही पार पा सके जो पाप का बोझ न होने के कारण शुद्ध आत्मा थे और जिनकी आत्मा पाप बोझ से लदी थी वे डूब गये।

विशेष—कबीर की यह तुलना बड़ी समीचीन है, क्योकि पानी मे हल्की वस्तु तैर जाती है और भारी डूब जाती है।

१३. मन कौ अंग

अंग-परिचय—मन की दृढ़ता पर ही साधना की सफलता आधारित होती है। मन अत्यत चंचल होता है, इसलिए इसको वश मे किये बिना किसी भी प्रकार की साधना मे सफलता मिलनी कठिन है। अतः प्रस्तुत अग मे कबीर ने मन की चंचलता का अनेक प्रकार से वर्णन करते हुए बताया है कि मन बहुत चचल होता है, इसलिए मनुष्य को कभी भी इसके वश मे नही होना चाहिए। मन ही प्रभु-भक्ति मे सबसे प्रबल बाधक होता है। साथ ही यह बहुत आडम्बरी भी होता है। देखने मे तो ऐसा लगता है जैसे यह प्रभु की भक्ति कर रहा हो, किन्तु वास्तव मे यह माया-जनित आकर्षणो की ओर दौड रहा होता है। जो व्यक्ति अपने मन को नही मारता, अर्थात् इस पर नियन्त्रण नही करता, उसे वाद मे अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते है और अपने कर्मों पर पछताना पड़ता है। प्रभु-प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग यही है कि पहले मन को वश मे कर लिया जाये क्योकि मन सत्य और असत्य का विवेक रखते हुए भी असत्य मार्ग पर चला करता है और यह बड़े दु.ख की बात

है क्योकि यदि हाथ मे जलते हुए दीपक को लिये हुए कोई व्यक्ति कुँए मे गिर जाये तो इससे अधिक दु ख की बात और क्या हो सकती है ?

चचलता के अतिरिक्त द्विविधा भी मन का एक कर्म है। जब तक मन मे द्विविधा बनी रहती है, तब तक कोई कार्य सिद्ध नही हो सकता। हृदय के भीतर आत्मा का दर्पण होते हुए भी उसमे ब्रह्म दिखाई नही देता। इस द्विविधा को समाप्त करने का एक ही मार्ग है और वह यह है वि इसका पूर्ण प्रेम प्रभु के प्रति समर्पित कर दिया जाये। इसी प्रेम के कारण मन सासारिक विषयो से उदासीन हो जाता है और यही उदासीनता प्रभु-भक्ति का कारण बनती है। यदि मन चचल न हो तो यह सहज ही मनुष्य को परम पद पर पहुचा देता है, और यही इस चराचर का कर्ता, नियामक तथा ब्रह्म बन सकता है। मन पानी से भी पतला, धुएँ से भी अधिक फीका और पवन की गति से भी तेज चलने वाला होता है। यदि मनुष्य इसको अपने वश मे नही करता तो यह मनुष्य को अपने वश मे करके उसे सासारिक विषय-विकारो के गहरे कूप मे इस प्रकार डाल देता है कि उसका फिर उस कूप से निकलना मुश्किल होता है। अत आवश्यकता इस बात की है कि मस्त हाथी के समान झूमने वाले इस मन को सयम का अकुश लगा-लगाकर अपने वश मे किया जाये, पाँचो तत्त्वो के बाण चढाकर तथा शरीर-रूपी धनुप कसकर मन रूपी मृग का वध किया जाये।

मन कै मतै न चालिये; छाँडि जीव की बांणि।
ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि ॥१॥

शब्दार्थ—मतै=मत के अनुसार, इच्छानुसार। वाणि=बान, आदत, टेव। ताकू=तकुआ, चरखे मे सूत कातने की लौहशलाका। अपूठा=कच्चा।

कबीरदास जी कहते है कि हे जीव ! तू मन की इच्छानुसार न चल मन का अनुगामी मत बन, क्योकि वह तो सर्वदा विषय-वासना मे सलिप्त रहता है। मन की इस माया मे ही लिप्त रहने की यह आदत छुडा दे। जिस प्रकार तकुए पर चढे कच्चे सूत को खीच कर उसके केन्द्र स्थल या लक्ष्य पिंदिया पर ही चढा दिया जाता है, उसी प्रकार प्रभु भक्ति मे अपरिपक्व इस मन को ब्रह्म मे लगा दो।

विशेष—उपमा अलकार।

चिंता चिति निबारिये, फिरि बूझिये न कोइ।
इंद्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ ॥२॥

शब्दार्थ—चिन्ता=सासारिक चिन्ताएं। सहजि=आसानी से।

सासारिक चिन्ताओ को मन से निकाल कर तथा इन्द्रियों का विविध विषया मे जो प्रसार है उसे समाप्न कर देने से ही प्रभु-भक्ति का मार्ग खुल जायगा। तव किसी से ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय पूछने की आवश्यकता नही, वह स्वय ही, अनायास ही प्राप्त हो जायेगा।

आसा का ईंधण करूं, मनसा करूं विभूति।
जोगी फेरी फिल करौं, यौं विननां वै सूति ॥३॥

शब्दार्थ—ईंधरण=जलाने का सामान—लकडी आदि।

सांसारिक आशाओ का ईंधन कर मन को जलाकर क्षार मे परिवर्तित कर दूं; अर्थात् मन को कामना रहित कर दू। फिर ससार से विरक्त हो योगी के समान प्रभु की खोज मे चक्कर काटता रहू। इस प्रकार इस कर्म सूत को कात कर ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है।

कबीर सेरी सांकडी, चचल मनवा चोर।
गुण गावै लैलीन होइ, कछू एक मन मैं और ॥४॥

शब्दार्थ—सेरी=मार्ग। साकडी=साकरी, कम चौडी। लैलीन=तल्लीन।

कबीर कहते है कि प्रभु प्राप्ति का मार्ग वडा सकीर्ण है और यह मन, जो साधना का मूलाधार है, चचल और चोर के समान लोभी वृत्ति का है। यह कपटी मन प्रत्यक्ष मे तो लगता है कि प्रेममग्न होकर प्रभु का गुणगान कर रहा है, किन्तु इसके भीतर माया-जनित आकर्षणो को प्राप्त करने की इच्छाए घर किए हुए है।

कबीर मारूं मन कूं, टूक टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी वोइ करि, लुणत कहा पछिताइ ॥५॥

शब्दार्थ—क्यारी=फसल से तात्पर्य है। लुणत=काट कर।

कवीर कहते है कि इस चचलवृत्ति मन को इतना मारूगा कि यह टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। पहले तो इसने विषय-वासना के विप की फसल वो दी। अव उसे काटने मे पछताता है। अपने कुकर्मो का फल तो भोगना ही पडेगा।

इस मन कौ विसमल करौं, दीठा करौं अदीठ।
जे सिर राखौं आपड़ां, तौ पर सिरिज अंगीठ ॥६॥

शब्दार्थ—विसमिल=अधमरा, सासारिक विषयो की चेतना से रहित। दीठ करौं अदीठ=उस अदृश्य, निराकार ब्रह्म का दर्शन करू।

कबीर कहते हैं कि इस मन को अधमरा कर, सासारिक विषयो से उपराम कर मैं उस निराकर परमात्मा के दर्शन करूँगा। यदि मैंने साधना मे अपना शीश समपर्ण नही किया तो इस सिर पर (नरक-यातना) अगीठी की आग पटकी जाये।

विशेष—१. सभगपद यमक अलकार।

२ कबीर ने सर्वत्र साधना मे शीश समपर्ण अर्थात् सर्वस्व समपर्ण का महत्व-प्रतिपादन किया है, यथा—

'यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहि।
सीस उतारै भुई धरै, तव पैठे घर माँहि ॥"

मन जांणै सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे की कुसलात, कर दीपक कूँवै पडै ॥७॥

शब्दार्थ—जाणत=जानना। कूवै=कुएँ मे।

मन सदसद् विवेक को रखते हुए भी अवगुण, पाप कर्म, करता है। जानते हुए भी बुराई या पाप करना अत्यन्त शोचनीय है। यदि कोई पथ प्रशस्थ करने वाला दीपक हाथ मे लेकर चलने पर भी कूएँ मे गिर पडे तो इससे भी अधिक दु ख की क्या बात होगी ?

हिरदा भीतरि आरसी, मुख देषणां न जाइ।
मुख तौ तौपरि देखिए, जे मन की दुविधा जाइ ॥८॥

शब्दार्थ—आरसी=दर्पण।

हृदय के भीतर ही आत्मा का दर्पण है, किन्तु उसमे ब्रह्म का मुख दिखाई नही देता। दर्पण मे मुख तो तभी मिखाई दे सकता है, जब दर्पण स्थिर हो, किन्तु चचल मन उस आत्मा के निर्मल शीशे को स्थिर नही रहने देता, इसीलिए ब्रह्म का मुख उस आत्मा के दर्पण मे दृष्टिगत नही होता। यदि मन सासारिक विषयो मे अपने चाचल्य का परित्याग कर दे तो ब्रह्म का दर्शन सम्भव है।

मन दीयाँ मन पाइए, मन विन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ ॥९॥

शब्दार्थ—मन=मन। मन पाइये=प्रभु कृपा प्राप्ति। मन बिन=संसार मे मन विना अर्थात् ससार से उपराम। अनल=अग्नि, निरजन ज्योति। अकांसा= शून्य प्रदेश।

प्रभु को अपने मन का प्रेम देकर ही उनकी कृपा प्राप्त की जा सकती है। ससार से उपराम हुए व्यक्ति का चित्त ही प्रभु-भक्ति मे प्रवृत्त होता है। संसार से उपराम मन (जिसे योगसाधना मे उन्मनी अवस्था कहते हैं) उस सृष्टि के समान है जिसके आकाश मे अग्नि अर्थात् निरजन ज्योति के दर्शन होते हैं।

विशेष—१ यमक अलकार।

२. नाथपन्थियो के अनुसार शून्य या ब्रह्माण्ड मे शिव और शक्ति की अवस्थिति है जिनसे अनन्त प्रकाश-प्रदायनी ज्योति विकीर्ण होती रहती है, इसे ये 'निरजन ज्योति' कहते है। 'अनल अकासाँ जोइ' से कबीर का मन्तव्य इसी निरंजन ज्योति से है।

मन गोरख मन गोबिंदौ, मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ ॥१०॥

शब्दार्थ—गोरख=नाथ-पन्थ के नौ नाथो मे प्रमुख एक नाथ एव तान्त्रिक गोरखनाथ। गोबिन्दी=प्रभु से तात्पर्य है। औघड़=एक प्रकार के साधु।

व्यक्ति का मन स्वय ही गोरखनाथ अर्थात् महान् सन्त, गोविन्द एव औघड साधु है। भाव यह है कि वही इन पदो पर पहुचाने वाला है। यदि मन को प्रयत्न-पूर्वक वश मे रखा जाये तो यही इस चराचर का कर्त्ता, नियामक, ब्रह्म बन सकता है।

एक ज दोसत हम किया, जिस गलि लाल कबाइ।
सब जग धोबी धोइ मरैं; तौ भी रंग न जाय ॥११॥

शब्दार्थ—दोरात=मित्र। गलि=कण्ठ मे। कवाई=कपडा, वस्त्र।

कवीर कहते हैं कि हमने मन को ऐसा मित्र बना लिया है कि जिसके गले मे प्रभु-प्रेम से परिपूर्ण लाल वस्त्र सुशोभित है। इस प्रेम-पूर्ण वस्त्र का रग इतना गाढा है कि यदि समस्त ससार के धोवी इसे धोने के प्रयत्न मे अपना जीवन समाप्त कर दे तो भी उसका प्रेम रग दूर नही हो सकता।

विशेष—'जिस गलि लाल कबाइ' मे वस्त्र का रग लाल इसलिए बताया कि यह लाल रग प्रेम-सूचक है।

पांणीं हीं तै पातला, धूंवां ही तै झीण।
पवनां वेगि उतावला, सो दोसत कबीरैं कीन्ह ॥१२॥

शब्दार्थ—पाणी=जल। पातला=पतला। पवना=वायु। उतावला=तीव्र।

कवीर कहते है कि जो मन पानी से भी पतला, धूएँ से भी अधिक झीना, पवन की गति से भी तीव्र है उसे मैंने अपना मित्र बना लिया है। भाव यह है कि अब मन उनके कहने मे है, वश मे है।

कबीर तुरी पलांणियां, चाबक लीया हाथि।
दिवस थकां साईं मिलौं, पीछैं पड़िहै राति ॥१३॥

शब्दार्थ—तुरी=घोडा। राति=रात्रि, मृत्यु की अचेतनावस्था।

कवीर कहते है कि मैंने मन रूपी घोडे को अपने वश मे कर, आगामी आशकाओ के लिये सयम का कोडा हाथ मे ले लिया है। अब मैं चाहता हूं कि जीवन-रूपी दिवस के अवसान से पूर्व ही परमात्मा के दर्शन कर लू, अन्यथा फिर मृत्यु रूपी रात्रि आकर मुझे अचेतावस्था मे डाल देगी।

मनवा तौ अधर बस्या, बहुतक झींणां होइ।
आलोकत सचु पाइया, कबहूँ न न्यारा सोइ ॥१४॥

शब्दार्थ—अधर=निराधार। सचु=सत्य, ब्रह्म।

यह अत्यन्त झीना मन ससार से विलग होकर रह रहा है। ज्ञान के प्रकाश से उसे सत्य स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति हो गई है, अब यह उनसे कभी विलग नही हो सकता।

मन न मार्‌या मन करि, सके न पंच प्रहारि।
सील साच सरधा नहीं, इन्द्री अजहु उघारि ॥१५॥

शब्दार्थ—मन करि=सकल्प सहित। पच=काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह।

हे मानव! तूने सकल्पपूर्वक मन को नही मारा, इसी कारण तू काम, क्रोध, मद लोभ, मोह को नष्ट नहीं कर सका। इस मन के अध पतन से ही तेरे अन्दर शील, सत्य और श्रद्धा आदि के सद्‌गुणो का लोप हो गया है। इन्द्रियो पर अब भी

अधिकार कर ले, विषय-प्रसार मे इसे प्रवृत्त मत होने दे—तभी कल्याण हो सकता है।

विशेष—अनुप्रास अलकार।

कबीर मन विकरै पड्या, गया स्वाद कै साथि।
गलका खाया बरजता, अब क्यूं आवै हाथि ॥१६॥

शब्दार्थ—विकरै=विकारो मे। वरजता=वर्जित करता।

कबीर कहते है कि मन सासारिक विषय-वासनाओ के विकारो मे पड गया है। वह तो इन्द्रिय-जनित आनन्दोल्लास मे ही लग गया है। भला अब उसे कैसे वश मे किया जा सकता है। जो खाद्य वस्तु गले तक पहुँच चुकी है उसके लिए मना करने क्या लाभ ? वह तो पेट मे ही पहुचती है, उसका रोकना सामर्थ्य से बाहर है। इसी प्रकार जो मन विषय-वासना के अग्राह्य रसो का पान कर चुका है, अब उसे कैसे वर्जित किया जा सकता है ?

भाव यह है कि मन को विषय-वासनाओ मे पहले ही न पडने देना चाहिये।

विशेष—निदर्शना अलकार।

कबीर मन गाफिल भया, सुमरिण लागै नांहि।
घणी सहैगा सासनां, जम की दरगह मांहि ॥१७॥

शब्दार्थ—गाफिल=अचेत। घणी=अत्यधिक। सासना=वेदनाएँ, यातनाएं।

कबीर कहते हैं कि मन सासारिक विषयोपभोगो के रस मे अकेत हो गया है, इसीलिए वह प्रभु नाम-स्मरण मे नही लगता। उसे अपने इन पापकर्मो का भोग उस समय भोगना पडेगा जब यमलोक मे जाकर उसे यातनाए सहनी पडेगी।

कोटि कर्म पल मै करै, यहु मन बिषिया स्वादि।
सतगुर सबद न मानई, जनम गँवाया बादि ॥१८॥

शब्दार्थ—सबद=शब्द, यहाँ उपदेश से तात्पर्य है। बादि=व्यर्थ।

कबीर कहते है कि यह मन इन्द्रियो के विषय रस से प्रेरित होकर पल भर में करोड़ो दुष्कृत्य करता है और प्रभु भक्ति मे प्रवृत्त करने वाले सद्गुरु के उपदेश-वचनों का भी यह पालन नही करता। अत इसने अपना जीवन व्यर्थ मे नप्ट कर डाला है।

मैमंता मन मारि रे, घटहीं मांहै घेरि।
जबही चालै पीठि दे' अंकुस दे दे फेरि ॥१९॥

शब्दार्थ—मैमता=मदमस्त हाथी। घढही पाहैं=हृदय के अन्तर से।

हे साधक ! इस मन रूपी मदमस्त हाथी को हृदय के भीतर ही घेरकर मार दे। जब भी यह किंचित् भी साधना-विमुख हो तो बारम्बार सयम का अंकुश लगाकर इसे उचित पथ पर ले आ।

विशेष—अनुप्रास अलकार।

मैंमंता मन मारि रे, नांन्हा करि करि पीसि ।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीसि ॥२०॥

शब्दार्थ—सीसि=शीश, शून्य प्रदेश, ब्रह्माण्ड । सुन्दरी=आत्मा ।

हे साधक । मन रूपी मदमस्त हाथी को मार-मार कर, सयम से वश मे कर ले तथा अपने कर्मों के आटे को बारीक अर्थात् सुन्दर पीस । इस उपाय के द्वारा ही ब्रह्माण्ड मे परमात्मा के दर्शन हो सकते है जिससे आत्मा प्रसन्न होकर सुख-लाभ करेगी ।

कागद केरो नांव री, पांणी केरी गंग ।
कहै कबीर कैसैं तिरूं, पंच कुसंगी संग ॥२१॥

शब्दार्थ—गग=सरिता से तात्पर्य है, 'गगा' नदी विशेष नही । पच=पाँचो इन्द्रियाँ ।

यह ससार रूपी मरिता माया जाल से परिपूर्ण है, जिसके भीतर इस जीर्ण शरीर की नौका के द्वारा कैसे तरा जा सकता है ? फिर घात मे पाच चोर—काम, क्रोध, मद, लोह, मोह—लगे हुए है । कबीर कहते है कि इस कठिन परिस्थिति मे मैं कैसे ससार-सरिता को पार करू ?

विशेष—उपमा अलकार ।

कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता कालिह ।
डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया निवांणां चालि ॥२२॥

शब्दार्थ—डूगरि=टीला । निवाणा चालि=निम्नगामी होकर ।

कबीर कहते है कि मेरा जो निर्मल मन कल था वह न जाने अब कहा चला गया है । जिस भाँति टीले पर हुई वर्षा का जल क्षणभर उस पर रुककर निम्न-गामी हो चलता है, उसी प्रकार इस मन पर पडे गुरु के वचनो का प्रभाव केवल क्षणभर के लिए हुआ, फिर वह पतनोन्मुख हो चला ।

विशेष—दृष्टान्त अलकार ।

मृतक कूं धी जौं नही, मेरा मन बी है ।
बाजै बाव विकार की, भी मूवा जीवै ॥२३॥

शब्दार्थ—वाव=तन्त्री । विकार=सासारिक विषय । मूवा=मृतक ।

साधक ने अपना मन सयम द्वारा सासारिक विपयो से मृतक तुल्य उपराम कर लिया है, उसे निर्लेप अवस्था मे यह भी पता नही कि मेरा मन भी है । भाव यह है कि वह अपने मन के अस्तित्व के विषय मे भी शकालु हो जाता है । किन्तु यदि सासारिक विषयो से उपराम इस चित्त के पास रास रंग की तनिक भी आहट पहुच जाय तो वह पुनः जीवित हो जाता है, फिर पूर्ववत् पाप कर्म करने लगता है ।

काटी कूटी मछली, छीकैं धरी चहोड़ि ।
कोई एक अखिर मन वस्या, दह मैं पड़ी बहोड़ि ॥२४॥

शब्दार्थ—मछली=मन । छीकैं=ब्रह्मरन्ध्र । चहोडि=सहेज कर । दह=तालाव, ससार पक ।

साधक ने मन रूपी मछली को काट-कूटकर (संयमित कर) ब्रह्मरन्ध्र या शून्य रूपी छीके मे सम्भाल कर रख दिया था, किन्तु ससार की वासनाओ का एक अक्षर भी कान मे पडते ही वह मन रूपी मछली छीके पर से गिरकर पुनः ससार रूपी तालाब के पक मे आ पडी।

विशेष—नाथपन्थी साधना मे कुछ नाथो के अनुसार मस्तिष्क मे ब्रह्मरन्ध्र की स्थिति है और उससे भी ऊपर शीश मे अक्षर लोक या सर्वोच्च धाम की। ब्रह्म-रन्ध्र मे पहुचे मनुष्य का मन तो साधना-भ्रष्ट होकर पुन ससार अग्नि मे गिर सकता है, किन्तु सर्वोच्च लोक अक्षर-लोक मे पहुच साधक साधना भ्रष्ट नही हो सकता। यहां कबीर यही कहना चाहते है।

कबीर मन पंषी भया, बहुतक चढ़्या अकास।
उहां हीं तै गिरि पड़्या, मन माया के पास ॥२५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि मेरा मन-पक्षी होकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग, शून्य प्रदेश मे, वहुत दूर तक चढ चुका था। फिर उसी उच्च स्थान (ब्रह्मरन्ध्र) के पास से जो गिरा तो माया के पास ही आकर रम गया। साधनापरक अर्थ वैसा ही है जैसा कि उपर्युक्त 'साखी' मे दर्शाया गया है।

भगति दुवारा संकड़ा, राई दसवै भाइ।
मन तो मैंगल ह्वै रह्यो, क्यूं करि सकै समाइ ॥२६॥

शब्दार्थ—दुवारा=द्वार। सकडा=सकीर्ण। भाइ=भाग, अश। मैगल=मस्त हाथी।

कबीर कहते है कि भक्ति का द्वार अत्यन्त सकीर्ण है। वह राई के दश-माश के बराबर है (राई स्वय ही बहुत छोटी होती है, उसके भी दशम भाग के बराबर)। मेरा मन मदमस्त हाथी के समान चचल है, फिर भला उसमे कैसे प्रवेश कर सकता है?

विशेष—'भगति दुवारा सकडा' मे प्रतीत होता है कि 'भगति' से कबीर का तात्पर्य ब्रह्म से है क्योकि योग-साधना मे यह मान्यता है कि ब्रह्मरन्ध्र मे एक बहुत सूक्ष्म राई बराबर बिन्दु होता है, इसी बिन्दु से अमृत का स्रवण माना जाता है। वैसे 'भगति' का अर्थ भक्ति लेने से भी अर्थ हो जाता है।

करता था तौ क्यूं रह्या, अब करि क्यूं पछताय।
बोवै पेड़ बंबूल का, अब कहां तै खाय ॥२७॥

शब्दार्थ—अब=आम।

हे मनुष्य! जिस समय तूने ये कुकर्म किये थे उस समय तुझे यह ध्यान क्यों नही हुआ कि मुझे ऐसे कर्म नही करने चाहिए। अब उन कर्मों के फलस्वरूप दुःख उठाने पर क्यो पछताता है? तूने अपने कुकर्मो से बबूल वृक्ष वोये थे तो उनका फल शूल ही प्राप्त हो सकते है, मधुर रसाल (आम, सुख) कहा से खा सकता है?

विशेष—निदर्शना अलकार।

काया देवल मन धजा, विषै लहरि फहराइ।
मन चाल्यां देवल चलै, ताका सरस जाइ ॥२८॥

शब्दार्थ—देवल=देवालय, मन्दिर। धजा=ध्वजा।

इस शरीर रूपी मन्दिर पर मन की ध्वजा फहरा रही है जो विषयरूपी वायु के सस्पर्श से लहराती है, चालित होती है। जिसका शरीर मन के अनुसार विषयो मे प्रवृत्त होने लगे उसका सर्वनाश ही समझिए।

भाव यह है कि जिस प्रकार मन्दिर के ऊपर सर्वोच्च सत्ता ध्वजा की होती है, उसी भाँति शरीर पर मन का अधिकार है। यह मन विषय वासनाओं से शरीर को लगाकर सर्वस्व नाश कर देता है।

विशेष—रूपक अलकार।

मनह मनोरथ छांड़ि दे, तेरा किया न होइ।
पांणी मै घीव नीकसे, तौ रूखा खाइ न कोइ ॥२९॥

शब्दार्थ—मनोर्थ=मनोरथ, महत्वाकाक्षाएँ। घीव=घी।

हे मन! तू अपनी महत्वाकाक्षाएँ छोड दे, क्योकि जो कुछ तू चाहता है वह सब सम्भव नही। यदि पानी से घी निकलने लग जाय, तो फिर रूसी रोटियाँ कोई न खाये। सब घी का ही सेवन करे।

विशष—"पाणी मे घीव नीकसे" के समान तुलसी ने भी "वारि विलोयो" की उपमा दी है।

काया कसूं कमांण ज्यूं, पंचतत्त करि बांण।
मारौं तौ मन मृग कौं, नहीं तौ मिथ्या जांण ॥३०॥२९२॥

शब्दार्थ—पचतत्त=पचतत्व, 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा।'

मैं पाँचो तत्व के बाण चढ़ाकर इस शरीर रूपी धनुष को कस लूंगा। फिर इसके द्वारा यदि मैं मन रूपी चचल मृग का वध कर दू तब तो ठीक है अन्यथा मेरे (समस्त) उपदेश को मिथ्या समझना।

विशेष—उपमा अलंकार।

१४. सूषिम मारग कौ अंग

अंग-परिचय—ब्रह्म का प्राप्त करना आसान नही है। उसके लिए जो साधना की जाती है, वह भी सूक्ष्म और कठिन होती है। प्रस्तुत अंग मे कबीर ने साधना की सूक्ष्मता का वर्णन किया है। इस साधना का मार्ग अत्यन्त अगम्य है, जिसे प्राप्त कर लेना हर व्यक्ति का कार्य नही है। जो इसको प्राप्त कर लेते है, वे व्यक्ति आवागमन के बधन से छूटकर ब्रह्मलोक मे अपार आनद का भोग करते है। जो व्यक्ति सासारिक प्रलोभनो मे फँसे हुए होते हैं, वे तो यह भी नही जानते कि इस मार्ग का स्वरूप क्या

है ? साधक अत्यन्त प्रयत्न और साधना के साथ इस मार्ग मे चलता है, किन्तु उसे हर समय यही आशका बनी रहती है कि न जाने कब उसका मन भटक जाये और वह अपने मार्ग से च्युत हो जाये। यह मार्ग ज्ञान से गम्य है। जो व्यक्ति बिना ज्ञान का आलबन लिए हुए इस मार्ग के छोर तक पहुच जाना चाहते है, वे वस्तुत मूर्ख है और वे केवल सासारिक यत्र मे फँसने के और कुछ भी प्राप्त नही कर पाते। प्रभु तक जाने का यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। विरले ही इसे पार कर पाते है। जब साधक अपनी समस्त इन्द्रियो को वश मे करके इस मार्ग पर चलता है तो भले ही यह मार्ग अत्यन्त कठिन सही, भले ही इस तक चीटी, राई, पवन और मन की गति न सही, किन्तु साधक इसे पार करके ब्रह्मलोक तक पहुच ही जाता है। इस मार्ग मे ठीक प्रकार से चलने के लिए गुरु का उपदेश आवश्यक है।

कौंण देस कहाँ आइया, कहु क्यूं जांण्यां जाइ।
उहु मार्ग पावै नही, भूलि पड़े इस मांहि ॥१॥

शब्दार्थ—उहु मार्ग=वह मार्ग, ब्रह्म-प्राप्ति का पथ।

आत्मा मूल रूप से शून्य प्रदेश की निवासी है, किन्तु वह यहाँ ससार मे आ गयी है, इसी को लक्ष्य कर कबीर कहते है कि न जाने किस देश का निवासी यहाँ (संसार मे) आ गया है, भला फिर तत्व को किस प्रकार जाना जा सकता है ? इस आत्मा को साधना का उपयुक्त मार्ग तो मिल नही पा रहा है। अतः यह पथ-विभ्रष्ट हो इस संसार मे भटक रही है।

उतीथैं कोइ न आवई, जाकूं बूझौं धाइ।
इतथैं सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ ॥२॥

शब्दार्थ—उतीथैं=उधर से। इतथैं=इधर से।

कबीर कहते है कि साधना का मार्ग अत्यन्त अगम है, किसी से भी इसका पता नही चल पाता क्योकि जो इसे पार कर लेते है वे तो इधर मृत्यु-लोक मे लौटते नही, शून्य-स्वर्ग मे रमे रहते है, फिर भला मैं किससे दौडकर वहाँ का समाचार पूछूँ। मार्ग के ज्ञान के बिना ही सब इधर से व्यर्थ के सम्भार लाद-लाद कर साधना पथ मे चले जाते है।

सबकूं बूझत मै फिरौं, रहण कहै नहीं कोइ।
प्रीति न जोड़ी राम सूं, रहण कहां थैं होइ ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है।

मैं सबसे यह पूछता फिरता हू कि साधना मे व्यवहार कैसा है, किन्तु कोई भी उस व्यवहार की स्थिति को नही बता पाता। इन सासारिक मनुष्यो ने प्रभु से प्रेम तो कभी किया नही फिर भला ये कैसे इस ससार मे रह सकते है, शान्ति प्राप्त कर सकते है।

चलौं चलौं सबको कहै, मोहि अँदेसा और।
साहिब सूं पर्चा नहीं, ए जांहिगें किस ठौर ॥४॥

शब्दार्थ—अंदेसा=शका । साहिव=ब्रह्म । पर्चा=परिचय ।

कबीर कहते है कि समस्त साधक उस अगम्य मार्ग की ओर जाने का संकल्प करते है किन्तु मुझे इनकी सफलता मे आशका है । किसी का भी प्रभु से तो परिचय है नही, पता नही न जाने किस स्थल पर जाकर ये रुकेंगे अर्थात् व्यर्थ इधर-उधर भटकते रहेगे ।

जाइबे कौ जागा नहीं, रहिबे कौ नही ठौर ।
कहै कबीरा संत हौ, अविगति की गति ग्रोर ॥५॥

शब्दार्थ—जागा नही=ज्ञान नेत्र नही खोले ।

कबीर कहते है कि प्रभु के पास जाने के लिए तो मैंने अपने ज्ञान नेत्र, विवेक नेत्र, खोले ही नही और इस ससार के विषय-वासना पक मे रहने के लिए स्थान नही हैं । कबीर कहते है कि हे साधुजनो ! ब्रह्म उससे भिन्न है अथवा ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग उससे भिन्न है जो सामान्य रूप से ससार ने समझ रखा है ।

भाव यह है कि साधना-मार्ग मे वाह्याडम्बरो की आवश्यकता नही ।

कबीर मारिग कठिन है, कोई न सकई जाय ।
गए ते बहुड़े नहीं, कुशल कहै को आइ ॥६॥

शब्दार्थ—बहुड़े=लौटे ।

कबीरदास जी कहते है कि प्रभु तक जाने का मार्ग अत्यन्त कठिन है । कोई वहाँ पहुंच नही सकता, और जो वहाँ पहुच जाते है, वे वहाँ से लौटते नही, अतः उस पथ का विवरण कौन दे ? इसालिये साधना मार्ग की अगम्यता अगम्यता ही बनी हुई है ।

विशेष—मलिक मुहम्मद जायसी ने भी 'पद्मावत' के 'पद्मावती-नागमती-विलाप खण्ड' में दिल्ली का वर्णन करते हुए प्रभु-प्राप्ति के मार्ग के विषय मे ऐसा ही कहा है—

"सो दिल्ली अस निवुहर देसू । कोई न बहुरा कहै सन्देसू ॥
जो गवनै सो तहाँ का होई । जो आवै किछु जान न सोई ॥"

जन कबीर का सिषर घर, बाट सलैली सैल ।
पाव न टिकै पपीलका, लोगनि लादे बैल ॥७॥

शब्दार्थ—जन=दास, भक्त । सिषर=शून्य शिखर, ब्रह्मरन्ध्र । सलैली सैल=कीचड़ आदि से दुर्गम पर्वतीय मार्ग ।

भक्त कबीर का वास्तविक घर तो शून्य शिखर पर स्थित ब्रह्मरन्ध्र है, जहाँ तक पहुचने का मार्ग बडा ही दुर्गम, वाधाओ के पंक से भरा हुआ है । वहाँ तो चीटी (जीवनमुक्त साधको) के भी पैर नही रुक सकते और यहाँ से लोग पाप कर्मो के बोझ से बैल के समान लद कर साधना-पथ पर चलने को उद्यत है ।

विशेष—योग-साधना मे साधक सुपुम्णा नाड़ी के मध्य मे स्थित ब्रह्मनाडी के द्वारा कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी कर शून्य शिखर पर पहुचने का प्रयास करता है,

इसे 'पिपीलका गति' कहते है, जो इस गति को साधता है उसे कबीर ने यहाँ चीटी' बताया है।

जहां न चीटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराइ।
मन पवन का गमि नही, तहां पहूँचे जाइ ॥८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि जिस शून्य स्थल पर चीटी चढ नही सकती एव राई भी वहाँ नही ठहर सकती, सर्वगामी और तीव्रगामी पवन तथा मन की भी जहाँ गति नही है, वहाँ मै पहुँच चुका हू।

कबीर मारग अगम है, सब मुनिजन बैठे थाकि।
तहां कबीरा चलि गया, गहि सतगुर की साषि ॥९॥

शब्दार्थ—साषि=सीख, उपदेश।

कबीर कहते है कि ब्रह्म-प्राप्ति का जो मार्ग पूर्ण अगम्य है, जिसकी दुर्गमता से मुनिजन भी थककर बैठ गये, वहाँ कबीर सद्गुरु के उपदेश को ग्रहण करके पहुच गया है।

सुर नर थाके मुनि जनां, जहां न कोइ जाइ।
मोटे भाग कबीर के, तहां रहे घर छाइ ॥१०॥३०२॥

शब्दार्थ—मोटे भाग=बडे भाग्य।

जिस प्रभु के पास तक पहुँचने मे देवता, मुनिगण और मनुष्य असफल हो बैठ रहे, जहाँ कोई भी न जा सका, वहाँ कबीर का स्थायी वास हो गया है—यह उसके लिए बहुत बडे भाग्य की बात है।

१५. सूषिम जनम कौ अग

अंग-परिचय—साधना का मार्ग अत्यन्त कठिन है। जीवात्मा सहजावस्था के इस सूक्ष्म मार्ग का रहस्य सहज ही नही जान पाती। इसका रहस्य जान लेने के लिए पहले उसे वह अज्ञान दूर कर देना पडता है, जिसके कारण वह ससार को ही सब-कुछ समझ बैठा है। जब जीव इस मार्ग के रहस्य को समझ कर इस पर चल देता है तो उसे सफलता मिल जाती है और वह ब्रह्मलोक मे पहुँच जाता है। फिर वह जन्म-मृत्यु के चक्कर मे नही पडता, बल्कि वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

कबीर सूषिम सुरति का, जीव न जांणै जाल।
कहै कबीरा दूरि करि, आतम अदिष्टि काल ॥१॥

शब्दार्थ—सूषिम=सूक्ष्म। जाल=रहस्य।

कबीर कहते है कि जीवात्मा सहजावस्था के सूक्ष्म मार्ग का रहस्य नही जानती। अत हे जीव! अपनी [illegible] यह अज्ञान दूर कर जिसके कारण तू इस ससार को ही सत्य समझ बैठा है [illegible] उस मार्ग का ज्ञान हो सकता है।

विशेष—यहाँ 'सुरति' का तात्पर्य 'सहजावस्था' से ही है, नाड़ी विशेष से नही। कबीर के समय तक बहुत से साधनापरक शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो चुके थे, अत उन्होने कही किसी शब्द को किसी अर्थ मे तो कहीं दूसरे अर्थ मे प्रयुक्त किया है।

प्राँण पंड कौ तजि चलै, मूवा कहै सब कोइ।
जीव छतां जांमै मरै, सूषिम लखै न कोइ ॥२॥३०४॥

शब्दार्थ—पड=पिंड, शरीर। मूवा=मर गया। छता=जीवित रहते हुए भी। सूषिम—सूक्ष्म, ब्रह्म।

प्राण जब शरीर का परित्याग कर देते है तो उसे मृतक कहते है। जीवात्मा जीवित रहते हुए भी अनेक बार जन्म-मरण मे पडती है, अर्थात् साधक जीवित रहते हुए भी ससार से निर्लेप रहकर जीवनमुक्त हो जाता है। ब्रह्म को कोई नही देख पाता।

विशेष—अन्तिम चरम मे ब्रह्म को अप्राप्य बताकर कबीर कोई विरोधाभास उपस्थित नही कर रहे है, अपितु केवल ब्रह्म-प्राप्ति की कठिनता प्रदर्शित करना चहाते है।

१६. माया कौ अंग

अंग-परिचय—आत्मा और परमात्मा के मिलने मे सब से बडी बाधा माया होती है। यह नाना रूप धारण करके मनुष्य को ठगती रहती हे और उसे ब्रह्म-प्राप्ति से दूर करती रहती है। प्रस्तुत अंग मे कबीर ने माया के विविध रूपो का वर्णन किया है और मनुष्य को चेतावनी दी है कि वह इन रूपो के चक्कर मे न आये।

कबीर ने माया के विविध रूपो का वर्णन करते हुए बताया है कि यह माया पापिनी सासारिक आकर्षणो का फदा अपने हाथ मे लिए हुए है और प्रयत्न करके पर मनुष्य को इसमे फसा लेती है। जिस प्रकार वेश्या का पूर्ण उपभोग कोई भी व्यक्ति नही कर पाता, उसी प्रकार माया का पूर्ण उपभोग भी कोई व्यक्ति नही कर सकता, क्योकि इसका कार्य तो मनुष्य को सासारिक बधनो मे फँसा देना ही है। इस प्रकार यह मनुष्य को प्रभु-भक्ति से विमुख कर देती है और उस पर अपना गहरा और कुप्रभाव डालती है कि उसे कभी भी राम का नाम लेने की सुधि नही आती। जो लोग माया के वशीभूत होकर भी प्रभु-भक्ति करना चाहते है, वे वास्तव मे ढोगी हैं, क्योकि ऊपर से तो वे हरि-भक्त दिखाई पडते है, किन्तु उनके हृदयो मे माया जन्य अनेक प्रकार के विकार भरे हुए होते है। इस माया के विषय चक्कर से वही व्यक्ति बच पाता है, जिस पर गुरु की कृपा होती है और उसी व्यक्ति की यह दासता स्वीकार करती है, अर्थात् उसके वश मे रहती है। माया सन्तो की दासी होती है

और खडी-खडी उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करती रहती है। किन्तु वे इसकी ओर तनिक भी ध्यान नही देते, बल्कि इसे लातो से और छडियो से मारते रहते है।

माया अमर है और इसके साथी आशा, तृष्णा आदि भी ऊपर है। इसीलिए शरीर के नष्ट हो जाने पर भी माया, आशा और तृष्णा नष्ट नही होती। तृष्णा के कारण ही लोग धन का सचय करते-करते मर जाते है और उसका उपभोग नही कर पाते। वे यह भी नही समझ पाते कि धन का प्रयोजन उपयोगी करना है, इसका सचय करना नही है। क्योकि धन तो सासारिक वस्तु है जो यही रही जाती है, कोई भी आज तक इसे अपने साथ नही ले गया है।

माया की भाँति तृष्णा भी मनुष्य के मन को विविध प्रकार से भटकाती रहती है। यह उस व्यभिचारिणी स्त्री के समान है जो मनुष्य को सहज ही पथ-भ्रष्ट कर देती है। तृष्णा कभी नष्ट नही होती, बल्कि अहर्निश बढती ही जाती है। सभी कभी इसके चक्कर मे फँस जाते है और हरि से विमुख होकर दम्भी और अहकारी बन जाते है। दम्भ और अहकार भी मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाले है। यदि किसी मनुष्य ने माया का तो परित्याग कर दिया, किन्तु दम्भ और अहकार से वह विमुक्त नही हुआ तो उसके लिए माया का परित्याग भी व्यर्थ है, क्योंकि दम्भ और अहकार के भाव उसे पतन की ओर ले जाने मे सफल हो ही जायेगे। वास्तविकता तो यह है कि दम्भ और अहकार माया के ही अन्य रूप है, क्योकि दम्भ के कारण ही मनुष्य राम को तुच्छ समझ कर तथा स्वय को ससार का स्वामी समझ कर ससार की माया मे लिप्त हो जाता है, अर्थात् वह माया के पाश मे बंध जाता है।

अन्त मे, कबीर मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते है कि माया अनेक रूप धारिणी है। वह नारद आदि महर्षियो को भी जाल मे फसा लेती है, इसलिए मनुष्य को इसमे सदैव सतर्क और सावधान रहना चाहिए।

जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया बेसां लाइ।
रामचरन नीकाँ गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ ॥१॥

शब्दार्थ— हटवाडा=हाट, बाजार। वेसा=वेश्या।

कबीरदास कहते है कि ससार एक बाजार है जिसमे इन्द्रियो के स्वाद रूपी अनेक विषय-वासनाओ के ठग एव माया रूपी वेश्या जीव को ठगने का, अपने जाल मे फसाने का उपक्रम करते है। हे मानव! यदि तुम निष्ठा-पूर्वक प्रभु-आश्रय ग्रहण करोगे, प्रभु भक्ति मे प्रवृत्त होगे, तो तुम्हारा कल्याण हो सकता है, तब ये ठग और माया रूपी वेश्या तुम्हारे जीवन-धन को ठगने मे असमर्थ होगे।

अलकार—रूपक।

कबीर माया पापणी, फध ले बैठी हाटि।
सब जग तौ फंधै पड़्या, गया कबीरा काटि ॥२॥

शब्दार्थ—पापणी=पापिनी, व्यभिचार, पाप आदि कर्मो मे प्रवृत्त होने वाली माया से तात्पर्य है। फद=जाल, पाश। फधै=पाश मे। काटि=तोडना।

कबीर कहते है कि माया पापिनी वेश्या है जो इस ससार के वाजार मे अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए पाश लिये हुए है। समस्त ससार इस मायापाश मे आवद्ध किन्तु कबीर (साधुजनो से तात्पर्य है) उसे काट चुका है, अर्थात् प्रभु-भक्ति मे ही हो गया उसकी रुचि है, माया के विपयो मे नही।

विशेष—रूपक अलकार।

कबीर माया पापड़ीं, लालै लाया लोग।
पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग ॥३॥

शब्दार्थ—लालै लाया=अपने आकर्षण पाने की लालसा जगाना। **इहै**=यही।

कवीरदास कहते हैं कि माया पापिनी वेश्या है जो अपने आकर्षण के द्वारा जीव मे विषय-वासनाओ की लालसा जगाती है। जिस प्रकार वेश्या पर (स्वकीया के समान) किसी का अधिकार नही होता, और न वह किसी एक की होकर रह पाती है, इसलिए उसका कोई पूर्ण उपभोग नही कर पाता उसी भाँति माया के विविध आकर्षणो पर एक व्यक्ति-विशेष का पूर्ण अधिकार नही होता, यदि होता भी है तो कुछ समय के लिए। माया के विविध विषयो की अप्राप्ति मे ही ससार दु.ख (वियोग) भोगता है।

विशेष—रूपक एव काव्यलिंग अलंकार।

कवीर माया पापणीं, हरि सूं करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम ॥४॥

शब्दार्थ—हराम=विमुख से तात्पर्य है। कड़ियाली=कड़ी=शृंखला।

कबीरदास जी कहते हैं कि यह माया ऐसी पापिन है कि जीव को प्रभुविमुख कर देती है। यह जीव के मुख से कड़वी वचनावली का निरन्तर उच्चारण कराकर राम-नाम कहने का अवसर नही देती।

भाव यह है कि माया प्रभु-भक्ति मे वाधक है।

जाणौं हरि कौं भजौं, मो मनि मोटी आस।
हरि बिचि घालै अंतरा, माया बड़ी बिसास ॥५॥

शब्दार्थ—मोटी आस=विषय-वासनाओ की तृष्णा। घालै=डालना। बिसास=विश्वासघातिनी।

प्रत्यक्षत: ऐसा लगता है कि मैं (ढोगी साधक) प्रभु-भक्ति मे तल्लीन हू, किन्तु मेरे मन मे माया ने विपय-वासनाओ की अदम्य तृष्णा वसा रखी है। यह माया बड़ी विश्वासघातिनी है जो इन विपय-वासनाओ के द्वारा प्रभु और जीव के बीच अन्तर डाल देती है।

विशेष—कबीर ने माया को विश्वासघातिनी इसलिए बताया है कि वह अपने जनक-प्रभु से जीव को विमुख करती है।

कबीर माया मोहनी, मोहे जांण सुजांण।
भागां ही छूटै नहीं, भरि भरि मारै बांण ॥६॥

शब्दार्थ—जाण=ज्ञानी। सुजाण=सुजान, चतुर।

कबीर कहते है कि माया ऐसी आकर्षक है कि सामान्य मनुष्यो की तो बात ही क्या, बडे-बडे ज्ञानी एव चतुर भी इसके आकर्षण मे सम्मोहित हो गये है। यदि कोई जजाल से भागकर विमुक्त होना चाहे तो असम्भव है क्योकि यह तान-तान कर मोहक बाणो की वर्षा कर व्यक्ति को अपने जाल मे फसा लेता है।

कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खाँड।
सतगुर की कृपा भई, नहीं तो करती भाँड ॥७॥

शब्दार्थ—भाड=एक जाति विशेष जिसका सामाजिक स्थान अत्यन्त निकृष्ट है। यहाँ नष्ट होने से तात्पर्य है।

कबीर कहते है कि माया बडी सम्मोहक एव खाड के समान मीठी है। सद्गुरु ने कृपा कर मुझे इसके जाल से विमुक्त कर दिया, अन्यथा यह तो मुझे नष्ट करके ही छोडती।

विशेष—उपमा अलकार।

कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या घांणि।
कोई एक जन ऊबरै, जिन तोड़ी कुल की कांणि ॥८॥

शब्दार्थ—घाल्या=अपने चक्र मे लपेट लिया। घाणि=घानी, तेली जिस गहरे से पात्र मे सरसो आदि डालकर तेल निकालता है उसे घानी कहते है, यह काठ की बनी होती है। कुल की काणि=कुल मर्यादा अर्थात् लोक-परम्परा।

कबीर कहते है कि माया बडी सम्मोहक है जिसने अपनी घानी मे समस्त ससार को डाल रखा है। कोई एकाध व्यक्ति ही, जिसने ससार की स्वाभाविक परम्परा का परित्याग किया हो, इसके जाल से बच पाते है।

विशेष—१. रूपक अलकार।

२. 'जिन तोडी कुल की काणि' पर ध्यानपूर्वक दृष्टिपात करने से पुष्टि-मार्गीय वल्लभ मत से इसका अद्भुत साम्य मिलता है, वहा भी प्रभु-प्राप्ति के लिए 'कुलकाणि' परित्याग अत्यावश्यक है। यद्यपि यहा यह कहने का तात्पर्य कदापि नही कि दोनो स्थानो पर यह मान्यता एक-दूसरे के प्रभाव से आयी है, किन्तु यहा यह दिखाने का प्रयोजन यही है कि सन्तो और वल्लभ मे निराकर और साकार इष्ट का अन्तर होते हुए भी साम्य है। 'अष्टछाप' के प्रत्येक कवि—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्द दास आदि—ने 'कुलकानि' त्याग का वर्णन किया है। भारतेन्दु हरिश्च आदि मे भी इस लोकमर्यादा-परित्याग का वर्णन मिलता है।

कबीर माया मोहनी, माँगी मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डोलै साथि ॥९॥

शब्दार्थ—मनह=मन से।

कबीर कहते हैं कि यह मोहिनी माया माँगने पर, प्रयत्न करते पर, प्राप्त नही होती, क्योकि मायाजन्य आकर्षणो का कितना ही भोग क्यो न किया जाय फिर भी इन्द्रिया अतृप्त रहती है। किन्तु जब इसे मिथ्या, भ्रम-मात्र जानकर मन को इसके आकर्षण से पृथक् कर दिया जाय तो यह पीछे-पीछे फिरती है।

भाव यह है कि माया का परित्याग करने मे ही अधिक आनन्द एव मगल है।

माया दासी सन्त की, ऊंभी देइ असीस।
विलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस ॥१०॥

शब्दार्थ—ऊभी=खडी-खड़ी, आज्ञामानने वाली से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि माया सन्तो की दासी है जो खडी-खडी ही उनकी आज्ञा का पालन करती है। वे इसका उपयोग प्रभु को भजते हुए करते है और इस पर भी इसे मुंह नही लगाते, लातो और छड़ियो की मार से इसकी खबर लेते है।

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया शरीर।
आसा त्रिष्णां नाँ मुई, यौं कहि गया कबीर ॥११॥

शब्दार्थ—मुई=मरी, नष्ट हुई।

कबीर कहते हैं कि आवागमन के चक्र मे पडकर शरीर बारम्बार नष्ट हुआ, किन्तु किसी भी जन्म मे माया का आकर्षण एव मन की विषयो के पीछे दौड़ समाप्त न हुई। न कभी सासारिक कामनाओ एव तृष्णा का अन्त हुआ।

आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ।
सोइ मूवे धन संचते, सो ऊबरे जे खाइ ॥१२॥

शब्दार्थ—आसा=तृष्णा।

ससार का समस्त वैभव आदि समाप्त हो जाता है, किन्तु यह तृष्णा फिर भी जीवित रहती है। मनुष्य आवागमन के चक्र मे पड़-पड कर बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किन्तु फिर भी सांसारिक तृष्णा का अन्त नही होता। जिन्होने इस तृष्णा से प्रचालित हो धन का सचय किया, वे ही इस संसार मे नष्ट हुए अथवा आवागमन के चक्र मे पड़े। जिन व्यक्तियो ने धन का खूब उपयोग किया वे मुक्त हो गये।

विशेष—कबीर यहा धन सचय का विरोध इसीलिए करते है कि धन के पीछे व्यक्ति बावला बना फिरता है, न जाने क्या-क्या दुष्कृत्य करने को प्रस्तुत हो जाता है, और तृष्णा अधिकाधिक बढती जाती है। वैसे धन के सम्बन्ध मे उनकी मान्यता यही है कि—

"खाये खरचे जो जुरे, तो जोरिये करोरि।"

कबीर सो धन संचिये, जो आगैं कूं होइ।
सीस चढ़ांयें पोटली, ले जात न देख्या कोइ ॥१३॥

शब्दार्थ—सरल है।

ससार की स्थिति यह है कि मनुष्य अपनी सामान्य, आवश्यक आवश्यकताओं, जिनके अभाव मे उसके जीवन का पूर्ण विकास सम्भव नही, को काटकर धन-संचय कर अभावो के संसार मे जीवन व्यतीत करता है। इसी को लक्ष्य कर कबीर कहते है कि धन संचय उसी स्थिति मे उपादेय है जबकि आगामी समय की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वह पर्याप्त हो। व्यर्थ पेट काटकर धन-एकत्रित कर उसे सर्वदा अपने साथ लगाये तो फिर सकते हो, किन्तु मृत्यूपरान्त कोई भी इसे ले जाता नही देखा गया है।

विशेष—इस साखी का एक दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! सासारिक धन-सग्रह मे क्यो लगा हुआ है, ऐसे धन का सचय कर, ऐसे सुकृत्य कर जो परलोक मे भी तेरे काम आ सके—जिनके बल पर तू मुक्त हो जाय। इस सासारिक धन की गठरी को मृत्यु के पश्चात् अपने साथ ले जाता कोई नही देखा, सब यहा का यही रह जाता है।

त्रिया त्रिष्णाँ पापणीं, तासू प्रीति न जोड़ि।
पैंड़ी चढ़ि पाछां पड़ै, लागै मोटी खोड़ि ॥१४॥

शब्दार्थ—त्रिया=स्त्री। पापणी=पापिनी, वेश्या से तात्पर्य। खोड़ि=अपराध, पाप।

तृष्णा एक व्यभिचारिणी स्त्री है जो मन को विविध विषयो मे भटकाती रहती है या विविध विषयो मे मन का गमन कराती रहती है। हे जीव ! तू इससे प्रेम-सम्बन्ध स्थापित मत कर, तू इसके जाल मे मत फस। यह तो पीछे पड़कर जीव को आकर्षित कर लेती है, किन्तु इसके ससर्ग से फिर अनेक पापो का भागी बनना पडता है।

विशेष—सांगरूपक अलकार।

त्रिष्णां सांची नां बुझै, दिन दिन बधती जाइ।
जवासा के रूष ज्यूं, घण मेहाँ कुमिलाइ ॥१५॥

शब्दार्थ—बधती=बढ़ती। रूप=वृक्ष। घण=घना, अधिक।

कबीर कहते है कि इस सांसारिक तृष्णा रूपी लता को पल्लवित करने से नष्ट नही किया जा सकता, उससे तो यह दिन-प्रतिदिन बढती जाती है। इसका नाश तो प्रभु-भक्ति की अजस्र वर्षा से ही सम्भव है, जिस प्रकार जवासा जितनी अधिक वर्षा होती जाती है उतना ही सूखता जाता है।

विशेष—(१) विभावना अलंकार।

(२) आक और जवास ग्रीष्म मे तो हरे रहते है, किन्तु वर्षा प्रारम्भ होते

ही सूखने लगते है। अन्य कवियों ने भी अपनी अनुभूति को आक जवास के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

कबीर चग की को कहै, भौ जलि बूडै दास।
पारब्रह्म पति छाडि करि, करै मानि की आस ॥१६॥

शब्दार्थ—भौ जलि=भव जल, ससार सागर।

कबीर कहते है कि सामान्य सासारिक प्राणियो की कौन कहे, इस ससार-सागर मे भक्त जन भी डूब गये, किन्तु भकत तभी डूवते हैं जब वे पारब्रह्म परमेश्वर, स्वामी को भूल कर सासारिक मान के इच्छुक हो जाते है, उनमें अह आ जाता है।

माया तजी तौ का भया, मानि तजी नहीं जाइ।
मानि बड़े मुनियर मिले, मानि सबनि कौ खाइ ॥१७॥

शब्दार्थ—मुनियर=मुनिवर, श्रेष्ठ मुनिगण। मिले=मिट्टी मे मिले, नष्ट हो गये।

हे साधक! यदि तू माया से असम्पृक्त हो गया तो कोई विशेष महत्व की बात नही। तूने अपने मान, अह, का तो परित्याग नही किया। यही अहं सब नष्ट कर देगा।

रांमहि थोड़ा जांणि करि, दुनियां आगै दीन।
जीवा कौं राजा कहैं, माया के आधीन ॥१८॥

शब्दार्थ—थोरा=हीन।

हे मनुष्य! तूने प्रभु को तुच्छ समझ कर ससार को अधिक महत्व दिया, ससार मे ही उलझा रहा। तू उस जीव को ही वास्तविक राजा, स्वामी समझ बैठा जो मायाधीन होकर वैभवपूर्ण ढग से रहता है।

रज वीरज की कली, तापरि साज्या रूप।
रांम नांम बिन बूड़िहै, कनक कामणीं कूप ॥१९॥

शब्दार्थ—साज्य=बनाया। बूडि है=डूबेगा, नष्ट हो जायेगा।

हे मनुष्य! तू अपने ऊपर क्या गर्व करता है, तू है ही क्या, पुरुष के वीर्य और स्त्री की रज जैसी वस्तुओ ले निर्मित एक कली है जिस पर तूने यह साज-सज्जा का आडम्बर कर रखा है। तू प्रभु-भक्ति बिना स्वर्ण अर्थात् धन और कामिनी रूपी कुएं मे गिरकर नष्ट हो जायेगा।

विशेष—सभग यमक अलकार।

माया तरवर त्रिबिध का, सांखा दुख संतान।
सीतलता सपिनै नहीं, फल फीकौ तनि ताप ॥२०॥

शब्दार्थ—त्रिविध=त्रगुणात्मक, दैहिक, दैविक, भौतिक सन्तापो से युक्त।

कबीरदास जी कहते है कि माया दैहिक, दैविक, भौतिक संतापों से युक्त त्रिगुणात्मक वृक्ष है, दुख और संताप ही इसकी शाखाएं हैं। सामान्य वृक्ष की छाया शीतल एवं फल मधुर होता है, किन्तु इस माया-वृक्ष के आश्रय में शीतलता-

सुख स्वप्न में भी प्राप्त नहीं और इसका फल फीका है, ये सब अर्थात् छाया और फल शरीर को दुख ही प्रदान करते है।

विशेष—सागरूपक अलकार।

कबीर माया डाकणी, सब किसही कौ खाइ।
दांत उपाड़ौ पापणी, जे सन्तौं नेड़ी जाइ ॥२१॥

शब्दार्थ—डाकणी=पिशाचिनी। उपाडौ=उखाड़ू। नेडी=पास।

कबीर कहते है कि यह माया पिशाचिनी है जो ससार के सब ही मनुष्यो को खाती है। यदि यह साधु-जनो के पास भी फटकी तो मै इस पापिनी के दात उखाड दूंगा, इसे नष्ट कर दूगा।

नलनी सायर घर किया, दौं लागी बहुतेणि।
जलही माहैं जलि मुई, पूरब जनम लिखेणि ॥२२॥

शब्दार्थ—सायर=सागर, माया। दौं=अग्नि, विभिन्न यातनाए एवं भवताप।

कवीर कहते हैं कि जिस प्रकार कमलिनी जल मे रहती है, उसी भाति आत्मा ने इस ससार (की माया) को अपना निवास-स्थान वना लिया है, किन्तु वहा वहुत से दुख-एव ससार ताप उसे दग्ध करने लगे। इस प्रकार यह आत्मा इस ससार रूपी जल मे ही रहते हुए जल मरी, नष्ट हो गई। यह आश्चर्यजनक परिणाम उसके पूर्वजन्म के दुष्कृत्यो का ही था।

विशेष—अलकार—यमक, विरोधाभास एव रूपकातिशयोक्ति।

कवीर गुण की वादली, तीतरवानी छांहि।
वाहरि रहे ते ऊवरे, भीगे मन्दिर मॉहि ॥२३॥

शब्दार्थ—गुण=सत, रज, तम—त्रिगुण। तीतरवानी=तीतरवर्णी, तीतर की पखो के समान छितरी-छितरी सी, किन्तु रग तीतर के पखो जैसा नही होता, उसके रग के छितराये होने के ही कारण उसे 'तीतरवानी' कहा जाता है।

कवीर कहते है कि यह त्रिगुणात्मक माया की तीतरवर्णी घटा बिना बरसे, बिना अपने प्रभाव दिखाये नही रहती। जो इस घटा की छाया से वाहर रहे, माया-विमुक्त रहे वे मुक्त हो गये, माया उन पर अपना प्रभाव नही दिखा सकी, किन्तु जो शरीर रूपी आवास के अन्दर रहे अर्थात् माया आकर्षणो मे ही शरीर को लगा दिया वे भीग गये, माया ने उन पर अपना पूरा प्रभाव कर दिखाया।

विशेष—(१) अलकार—रूपक, विरोधाभास।

(२) तीतरवर्णी, वदली के लिए ऐसा कहा जाता है कि यह वर्षा अवश्य करती है, निम्नस्थ लोकोक्ति से इसकी पुष्टि होती है—

"तीतर बानी वादली, विधवा काजर रेख।
यह बरसे वह घर करै, यामे मीन न मेख॥"

कबीर माया मोह की, भई अँधारी लोइ ।
जे सूते ते मुसि लिए, रहे बसत कूं रोइ ॥२४॥

लोई=(लोयन) नेत्र । सूते=सुपुप्त, अज्ञान-निद्रा मे । मुसि=ठग लिये । वसत=वस्तु, सारतत्व, ब्रह्म ।

कबीर कहते है कि इस माया-मोह के अज्ञान-अधकार ने नेत्र वन्द कर दिये है, उससे उचित पथ नही सूझता । जो व्यक्ति इस अज्ञानाधकार की अवस्था में अचेत हो अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाते है, अन्ततः उन्हे सार-तत्व—ब्रह्म—की प्राप्ति के लिए पछताना पडता है कि काश ! हम भी प्रभु को प्राप्त कर पाते ।

संकल ही तै सब लहै, माया इहि संसार ।
ते क्यूं छूटै बापुड़े, बांधे सिरजनहार ॥२५॥

शब्दार्थ—सकल=कुण्डी, जिससे द्वार वन्द होता है, शृंखला । बापुड़े= बेचारे ।

समस्त ससार माया की शृंखलाओ मे वधा हुआ है, वे वेचारे जीव किस प्रकार माया-वधन से विमुक्त हो सकते है जो ससारकर्ता ब्रह्म को भी माया-सक्षिप्त बताते है ।

बाड़ि चढ़ंती वेलि ज्यूं, उलझी आसा फंध ।
तूटै पणि छूटै नही, भई ज बाचा बंध ॥२६॥

शब्दार्थ—बाडि=बाढ़, किसी वेल के चढ़ाने के लिए ग्रामो मे प्रायः काटो की एक वाड सी लगा देते है, यह प्राय. बबूल वृक्ष की शाखाओ को गाड़कर बनायी जाती है । फध=फदा । तूटै=टूट । वाचाबन्ध=वचनवद्ध ।

यह माया इस ससार रूपी बाड़ के ऊपर चढ़ाई गई एक वेल है जो विविध आशाओ, लालसाओ के फन्द मे उलझी हुई है; अर्थात् जीव को आशा, तृष्णा के फन्द मे उलझा लेती है । यदि जीव इससे अपना सम्बन्ध समाप्त कर दे तो भी यह ससार से नही छूट सकती जैसे कोई वचनवद्ध व्यक्ति, हानि होने पर भी, अपने वचनो का परित्याग नही करता ।

विशेष—उपमा रूपक अलकार ।

सब आसण आसा तणां, निर्वात कै को नांहि ।
निबरति कै निबहै नहीं, परर्वात परपंच मांहि ॥२७॥

शब्दार्थ—आसण=स्थिति ! तणा=नीचे । निर्बात=निवृत्ति । परिर्वात प्रवृत्ति ।

ससार के समस्त प्राणियो पर आशा—लालसा—का प्रभुत्व है, कोई भी इस ससार से निवृत्त नही । भला जो व्यक्ति प्रवृत्ति मार्ग के टण्टो मे फसा हुआ है वह निवृत्ति मार्ग का निर्वाह कैसे कर सकता है ?

भाव यह है कि संसार से तटस्थ होकर, प्रवृत्ति मार्ग का परित्याग करके ही निवृत्ति वैराग्य (ईश्वर से राग)—उत्पन्न हो सकती है।

कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिना बंधावणा, तिहिं घरि तिता अँदोह ॥२८॥

शब्दार्थ—बंधावणा=आनन्दोल्लास। तिता=उतना ही। अंदोह=दुख।

कबीर कहते है कि ससार का माया-आकर्षण मिथ्या है, यहा तो सर्वत्र दुख ही दुख है। जहा बहुत अधिक आनन्दोल्लास है, अथवा जहा जितना अधिक आनन्द-मंगल दिखाई देता है, वहा दुख भी उतना ही अधिक है।

माया हमसौं यों कह्या, तू मति दे रे पूठि।
और हमारा हम बलू, गया कबीरा रूठि ॥२९॥

शब्दार्थ—दे रे पूठि=पीठ देना, विमुख होना। हम बलू=अपना बल, आत्मबल।

कबीर कहते है कि माया ने मुझ से यह कहा कि तू मुझ से विमुख मत हो—इसीलिए माया ने विविध आकर्षण प्रस्तुत किये, किन्तु यह मेरा आत्मबल है कि मै माया से अप्रसन्न हो गया, उससे सम्बन्ध विच्छेद कर दिया।

बुगली नीर बटालिया, सायर चढ्या कलंक।
और पखेरू पी गये, हंस न बोवै चंच ॥३०॥

शब्दार्थ—बगली=बगुला, माया से तात्पर्य है। बटालिया=समाप्त कर दिया। सायर=सागर। पखेरू=पक्षी सामान्य, सासारिक जीव। हस=मुक्तात्मा।

माया रूपी बगुली ने आत्मा के जल को समाप्त कर दिया, उसका तेज समाप्त कर दिया। इससे वह शरीर रूपी सागर कलकित हो गया—बहुत से पापो, दोषो का भागी हो गया। अन्य सासारिक जीव तो इस गन्दे जल को पी गये अर्थात् माया मे सलिप्त हो गये, किन्तु जो मुक्तात्मा (हस) है उन्होने इस माया जल को छुआ तक नही।

विशेष—(१) सागरूपक, रूपकातिशयोक्ति।

(२) मुक्तात्माओ की इस ससार मे स्थिति 'पद्मपत्रमिवाम्भसि' तुल्य मानते है।

कबीर माया जिनि मिलै, सौ बरियां दे बांह।
नारद से मुनियर गिले, किसी भरौसौ त्यांह ॥३१॥

गिले=नष्ट कर दिये।

यदि माया अपने शत-शत आकर्षणो से तुझे अपने फन्दे मे फसाना चाहे तो भी तू उसके चक्कर मे मत आ। इस माया का क्या भरोसा कि कहा विनाश के गर्त मे डाल दे। ऋषिश्रेष्ठ नारद तक को भी इसने भ्रष्ट कर दिया।

विशेष—नारद ब्रह्मा के पुत्र कहे जाते है। यह भगवान् के भी बडे भक्त थे। एक समय इनकी तपस्या से डरकर इन्द्र ने उसे भग करने के लि-

कामदेव आदि को भेजा। परन्तु यह नही डिगे। कामदेव को जीतने का इनको बडा अहंकार हो गया। इसकी चर्चा वह सभी स्थानों पर करने लगे, तब महादेव जी ने इनको समझाया कि विष्णु से कभी चर्चा न करना, लेकिन इनसे नहीं रह गया। इन्होने उनसे भी अपनी विजय का गर्व ने वर्णन किया। इसपर भगवान् ने उनकी परीक्षा के लिए उनके लौटने के मार्ग मे एक माया रूपी राजा तथा उनकी कन्या का निर्माण कर उसका स्वयवर निश्चित कर दिया। नारद जी उस कन्या के रूप और गुणो पर मोहित हो गये तथा उससे व्याह करने की अभिलाषा से विष्णु के पास उनका रूप मागने गये। भगवान् ने उनको माया के प्रभाव में आया हुआ जानकर उनका शरीर तो बहुत सुन्दर बनाया किन्तु मुंह बन्दर का बना दिया। इस रहस्य को नारद नही जान सके और अभिमान के साथ स्वयंवर मे आ बैठे। परन्तु उनकी आशा पूरी नही हुई, उस कन्या को स्वय विष्णु एक दूसरा रूप धारण कर व्याह ले गये। स्वयवर मे उपस्थित शिवजी के दो गण उनके रूप को देखकर हंसने लगे। तब उन्होने अपने मुख के प्रतिबिम्ब को जल मे देखा और क्रोध से शिव गणों को तथा भगवान् तक को शाप दे डाला। एक और कथा नारद के विषय में महाभारत में प्रचलित है। वह इस प्रकार है—नारद एक समय राजा सृञ्जय के यहां रहते थे। उन्होने अपनी कन्या को उनकी सेवा करने के लिए नियुक्त किया। परन्तु नारद जी कामवश होकर उसकी ओर आकर्षित हो गये और उससे व्याह कर लिया (—कबीर—बीजक)। यहा कबीर का इगित प्रस्तुत कथाओ की ओर ही है।

माया की झल जग जल्या, कनक कांमिणीं लागि।
कहु धौं किहि विधि राखिये, रुई पलेटी आगि ॥३२॥३४६॥

शब्दार्थ—झल=अग्नि। पलेटी=लपेटी हुई।

स्वर्ण—धन—और कामिनी की माया—अग्नि मे जलकर समस्त जगत् भस्म हो गया, नष्ट हो गया। जिस प्रकार रुई मे लपेटी हुई अग्नि अधिक समय तक अपना प्रभाव दिखाये बिना नही रह सकती, उसी भाँति कनक और कामिनी के ससर्ग मे पड़ा मनुष्य अधिक समय तक नही टिक सकता, उसका विनाश निश्चित है।

विशेष—निदर्शना अलकार।

★

१७. चांणक कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग मे कबीर ने बताया है कि सांसारिक विकारो मे आबद्ध होने के कारण मनुष्य भगवान् से विमुख हो जाता है और अनेक प्रकार की यातनाओं को सहन करता रहता है। भगवान् की भक्ति और सर्वशक्तिमत्ता को भूलकर वह केवल मनुष्य का ही सहारा लेता है, जिसका कोई फल नही निकलता, बल्कि सासारिक दु:ख और भी अधिक प्रबल बनकर उसे कष्ट पहुंचाते रहते है। वह रात-दिन अपने

उदर-पूर्ति के साधनो में ही लगा रहता है और अपना पेट भरने के लिए अच्छे तथा बुरे कर्मों की भी चिन्ता नही करता। जिसके कारण उसका पतन हो जाता है। उस समय उसकी स्थिति उस गडरिये के समान हो जाती है जो भेड़ को लाता तो है ऊन प्राप्त करने के लिए और भेड ऊन न देकर उसकी कपास को भी खाने लगती है।

सासारिक विकारों से दूर रखने के लिए कबीर मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि हे मनुष्य! यह कलियुग बडा पापी है। इसके कुप्रभाव से सन्यासियों का बचना भी मुश्किल हो जाता है, वे भी सासारिक आकर्षणों मे फँसकर अपना कर्त्तव्य भूल जाते हैं। अतः तुझे इस कलियुग से बहुत अधिक सावधान और सतर्क रहने की आवश्यकता है। तुझे न तो वेद-शास्त्रो के चक्कर मे पडना चाहिए और न धार्मिक सम्प्रदाय के बंधनो मे। यदि कोई व्यक्ति चारो वेदो का ज्ञाता भी हो जाये, किन्तु उसके मन मे हरि के प्रति प्रेम नही है, तो उसका सारा ज्ञान बेकार है। इसी प्रकार धार्मिक सम्प्रदाय भी व्यक्ति को पथ-भ्रष्ट करते है, उसे मुक्ति का मार्ग नही दिखाते। क्योकि धार्मिक सम्प्रदाय मे अधिकाशत वे लोग होते है जो आडम्बरी होते है। वे पानी को तो छानकर पीते है, किन्तु अपने विकारग्रस्त मन को शुद्ध नही करते।

कबीर ने धर्म के नाम पर होने वाले आडम्बरो का भी इस अग मे उल्लेख किया है। ज्ञान के दिखावे का खडन करते हुए उन्होने कहा है कि यदि ज्ञान का उपयोग नही किया जाता तो वह व्यर्थ है और ऐसा ज्ञानी व्यक्ति उस तोते के समान है जो दूसरो को तो राम का नाम सुनाता है, किन्तु स्वय राम की भक्ति नही करता। इसी प्रकार उन्होने तीर्थो की भी निंदा की है। तीर्थो के गदे पानी मे स्नान करने से किसी प्रकार भी मुक्ति सभव नही है, यदि मन मे राम का वास नही है। मोह-ममता भी मुक्ति के प्रबल बाधक तत्व है। जो व्यक्ति अपने-पराये के बधन मे बँधे हुए है, वे सासारिक दु:खो में दिन-रात तड़पते रहते हैं। उन्हे मुक्ति की भी प्राप्ति नही हो सकती। अतः यदि मनुष्य मुक्ति प्राप्ति करना चाहता है तो उसे बाहरी आडम्बरो का परित्याग करके सच्चे मन से राम की भक्ति करनी चाहिए।

जीव विलंब्ला जीव सौं, अलष न लखिया जाइ।
गोबिंद मिलै न झल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ ॥१॥

शब्दार्थ—बिलब्या=सहारा लिया, आश्रय लिया। अलष=निराकार ब्रह्म। झल=अग्नि, ससार ताप।

मनुष्य मनुष्य का व्यर्थ सहारा लेता है जिसका कोई फल नही निकलता। कोई भी उस निराकार ब्रह्म की खोज मे तत्पर नही होता, जिसके शान्ति-लाभ की आशा है। जब तक प्रभु-मिलन नही होगा तब तक सासारिक तापो का शमन भी असम्भव है—यह बात वाक्सुकार (कबीर द्वारा) समझा कर कही गई है।

इही उदर कै कारणै, जग जांच्यौ निस जाम।
स्वांमीं-पणौ जु सिर चढ्यो, सर्या न एको काम ॥२॥

शब्दार्थ—स्वामी-पणौ=स्वामित्व, अहंभाव। सर्या=सिद्ध हुआ।

इस पेट के ही कारण मैंने अहर्निश—सर्वदा सांसारिक प्राणियों से भिक्षा माँगी। इस दीनता की स्थिति मे भी मैं अपने को सासारिक वस्तुओं का स्वामी मान वैठा, मुझ मे अहंभाव जागृत हो गया जिसके कारण मेरा पतन हुआ। एक भी कार्य सिद्ध न हो सका, न तो लोक मे सुखी जीवन व्यतीत किया और न परलोक मे सुखी-जीवन प्राप्त हो सकेगा, क्योंकि प्रभु-भक्ति तो की ही नही।

स्वांमीं हूँणां सोहरा, दोद्धा हूँणां दास।
गाडर आंणीं ऊन कूं, वांधी चरै कपास ॥३॥

शब्दार्थ—हूंणा=होना। सोहरा=सहल, आसान। दोद्धा=दुर्लभ, कठिन। दास=भक्त। गाडर=भेड।

मनुष्य स्वय स्वामी होने का दम्भ सरलता से कर सकता है किन्तु भक्त वनना, जिसमे सर्वस्व समर्पण की आवश्यकता है, कठिन है। यदि प्रभु-भक्ति के अन्तर्गत यह भावना वनी रही तो सव व्यर्थ हो जाता है भक्ति ही नही रहती, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी भेड को लाया तो ऊन प्राप्ति के लिए जाय, किन्तु वह वधी हुई ही घर मे रखी कपास भी खा जाय।

विशेष—निदर्शना अलंकार।

२ इस दोहे का यह रूपान्तर भी मिलता है—

'स्वामी होना सहज है, दुर्लभ होना दास।
गाडर लावे ऊन को, लागी चरन कपास ॥'

स्वांमीं हूवा सीतका, पैंका कार पचास।
राम नांम कांठै रह्या, करै सिषां की आस ॥४॥

शब्दार्थ—सीतका=कणभर, थोडी-सी सम्पत्ति। पैंकाकार=पैरवीकार, अनुचर। काठे=कष्ट मे। सिषाँ=शिष्य।

हे मनुष्य ! तू कणभर सम्पत्ति का स्वामी होकर ही दम्भ मे भर गया। इसी दर्प-वैभव के प्रदर्शनार्थ तूने पचासो—वहुत से—सेवक रख रखे हैं। हे धूर्त ! कभी तूने हृदय से राम नाम नही लिया, केवल मुँह से एकाध वार प्रभु का नामोच्चारण किया उसी से अपने को भक्ति का अधिकारी मान यह कामना करता है कि लोग मेरा शिष्यत्व ग्रहण करे ? कैसा मिथ्या दम्भ है तेरा ?

कबीर तष्टा टोकणीं, लीए फिरै सुभाइ।
राम नांम चीन्हैं नहीं, पीतलि ही कै चाइ ॥५॥

शब्दार्थ—तष्टा=तसला। टोकणी=टोकनी—पात्र विशेष। सुभाई=स्वभाव। चाई=चाव, इच्छा।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य तू अपनी स्वाभाविक वृत्तियो—भूख की परितृप्ति के लिए यह तसला और टोकनी आदि पात्र, व्यर्थ के उपादान, उठाये-उठाये फिरता है। इस पीतल की (दोनो पात्र प्राय पीतल के ही होते हैं) को तू ढोये फिरता है, किन्तु राम नाम के वहुमूल्य रत्न को नही पहचानता।

भाव यह है कि सांसारिक तृष्णाओं की प्राप्ति में तो अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहा है, प्रभु भक्ति नही करता।

कलि का स्वांमीं लोभिया, पीतलि धरी षटाइ।
राज दुवारां यौं फिरै, ज्यूं हरिहाई गाइ ॥६॥

शब्दार्थ—लोभिया=लोभी। हरिहाई=हरियाली के लोभ से दूसरे के खेतों मे चुगने वाली गाय, जो हटाने पर भी नही हटती।

कबीर कहते है कि इस कलियुग मे स्वामी और सन्यासी लोभी है। उनकी वाह्य विरक्तता उसी प्रकार अवास्तविक है जैसे पीतल खटाई से चमका देने पर क्षणिक समय के लिए चमकीला हो जाता है। भीतर से उसका हृदय लोभासक्त है। वे लोभ से वशीभूत हो वैभवशाली द्वारो पर इसी प्रकार टूटते है या बार-बार आते है जैसे हरियाली के लोभ मे पडी हुई गाय दूसरे के खेत मे वार-वार हटाने पर भी आ जाती है।

विशेष—उपमा अलकार।

कलि का स्वांमी लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
दैंहि पईसा व्याज कौं, लेखां करतां जाइ ॥७॥

शब्दार्थ—मनसा=इच्छाएँ, अभिलाषाएँ।

कलियुग का सन्यासी बडा लोभी है जिसने अपनी इच्छाओ का अत्यधिक विस्तार कर रखा है। उनकी स्थिति यहाँ तक गिरी हुई है कि रुपया-पैसा व्याज पर देकर पोथियो मे उसके व्याज का लेखा-जोखा करते रहते है, फिर भला सन्यास कैसा ?

कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ।
लालच लोभी मसकरा, तिनकूं आदर होइ ॥८॥

शब्दार्थ—मुनियर=मुनिवर। मसकरा=मसखरा, विदूषक।

कबीर कहते है कि आज कलिकाल मे कैसा बुरा समय आ गया है कि श्रेष्ठ मुनिगण, त्यागी, सन्यासी, मिलते ही नही। आज समाज मे धन के लोभी विविध तृष्णाओ के लालच मे पडे हुए एव अपनी हाव-भाव-क्रीडा से दूसरो को रिझाने वाले साधुओ का ही सम्मान रह गया है।

विशेष—कबीर ने प्रस्तुत साखी के माध्यम से अपने समय के ढोगी साधुओं पर करारा व्यग्य किया है।

चारिउँ बेद पढ़ाइ करि, हरि सूं न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढै खेत ॥९॥

शब्दार्थ—बालि=बाल, गेहू, जौ आदि के ऊपर आने वाली दानो की मजरी।

हे साधु! तू चारो वेद पढकर भी प्रभु से प्रेम न कर सका। इस ससार का सार तत्व प्रभु-भजन, जो किसी खेत मे बाल के समान था, तो कबीर ले गया अब

तत्वदर्शी पौराणिक तो प्रभु रूपी उस अमूल्य वाल के लिए ससार (खेत) मे भटक रहा है।

विशेष—कवीर ने सर्वत्र पुराणपन्थियों की निन्दा की है। तुलना कीजिए—

"पोथी पढ पढ जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
एकै आखर प्रेम का, पढै तौ पण्डित होय॥"

वांह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरु नाहिं।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिऊँ वेदा माहि॥१०॥

शब्दार्थ—सरल है।

कवीर कहते है कि तत्वदर्शी पौराणिक ब्राह्मण चाहे समस्त ससार का गुरु हो, वह साधु का गुरु नही हो सकता, क्योकि उसे प्रेम-दृष्टि प्राप्त है। वह वेचारा ब्राह्मण तो चारो वेदो को भूलभुलैया मे ही भटककर अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहा है।

सापित सण का जेवड़ा, भीगां सूं कठठाइ।
दोइ अंणिर गुरु वाहिरा, वांध्या जमपुरि जाइ॥११॥

शब्दार्थ—सापित=शाक्त। जेवड़ा=रस्सी। कठठाइ=कड़ी होना।

कवीर कहते है कि शाक्त तो सन की रस्सी के समान है जो इस ससार के विषय-भोयो मे लिप्त होकर माया वन्धनो मे अधिकाधिक जकड़ा जाता है। वह प्रभु के नाम और गुरु कृपा के विना यमपुरी को वाध कर ले जाया जाता है।

विशेष—कवीर शाक्तो के कट्टर विरोधी है, इसकी पुष्टि प्रस्तुत साखी से भली-भाँति हो रही है।

पाड़ोसी सू रूसणां, तिल तिल सुख की हांणि।
पंडित भये सरावगी, पाणी पीवें छांणि॥१२॥

शब्दार्थ—पड़ोसी=पडौसी। रूसणां=रूठना। सरावगी=जैन साधु।

कवीर कहते है कि वाह्यचारी साधुओ के ढकोसले तो देखो कि जैन-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने पर जीव-हित के विचार से पानी तक भी छानकर पीते हैं और दूसरी ओर अपने पडौसी तक से लडकर अपना जीवन कटुमय वना लेते है जिससे प्रतिक्षण सुख की समाप्ति होती चली जाती है।

पंडित सेती कहि रह्या, भीतरि भेद्या नाहिं।
औरूं कौं परमोधता, गया मुहरकां माहि॥१३॥

शब्दार्थ—सेती=श्वेती, श्वेत वस्त्रधारी। भेद्या=भेदन करना, प्रविष्ट होना। परमोधता=प्रवोध देते हुए। मुहरका=वध स्थान।

श्वेत वस्त्रधारी पण्डित पोथी-पत्रो के ज्ञान का कथन ही कर रहा है, उस ज्ञान ने उसके अतस्तल मे प्रवेश नही किया जिससे वह स्वय-कथित मार्ग का भी अनुसरण कर सकता। यह ढोगी, वाह्य-ज्ञान से लदा पण्डित दूसरो को तो पाप से वचने का उपदेश देता रहा, किन्तु स्वय घोर पाप करता रहा।

चतुराई सूव पढ़ी, सोई पंजर मांहि।
फिरि प्रमोधै आॅन कौ, आपण समझै नांहि ॥१४॥

शब्दार्थ—पजर=पिजडा। प्रमोधै=उपदेश देना।

कवीर वाह्य थोथे ज्ञान की निस्सारता पर व्यग्य करते कहते है कि हे पडित ! यदि तू पोथियो का ज्ञान वटोर कर उसका कथन करता फिरता है और उस पर आचरण नही करता तो इसमे कौन-सी वडी वात है ? ऐसा ज्ञान तो लौह-पिंजर मे बन्द तोते को भी होता है जो दूसरो को वारम्वार राम नाम सुनाता है, किन्तु स्वय भक्ति का, राम नाम का मर्म नही समझता।

रासि पराई राषतां, खाया घर का खेत।
औरों कों प्रमोधतां, मुख मै पड़िया रेत ॥१५॥

शब्दार्थ—रासि=अन्न की ढेरी।

पौराणिक पण्डित पर, जो दूसरो को उपदेश देता फिरता है और स्वय उपदेशित मार्ग पर नही चलता, व्यग्य करते हुए कबीर कहते है कि उसकी दशा ऐसे कृषक के समान है जो अपना खेत लापरवाही से पशुओ से उजड़वा देता है और फिर दूसरे की अन्न-राशि की रखवाली करके ही कुछ अन्न प्राप्त करना चाहता है। वह दूसरो को ही शिक्षा देता हुआ अपना जीवन नप्ट कर लेता है।

विशेष—उपमा अलकार।

तारा मंडल वैसि करि, चन्द बड़ाई खाइ।
उदै भया जब सूर का, स्यूं तारां छिपि जाइ ॥१६॥

शब्दार्थ—सरल है।

ढोगी अल्पज्ञ पण्डित अज्ञानाधार मे पडे हुए मनुष्यो के सम्मुख ही अपनी ज्ञान-गठरी खोलकर सम्मान प्राप्त करता है किन्तु जब कोई ज्ञानी मनुष्य सम्मुख आ जाता है तो छिप जाता है, उनके सम्मुख यह वोल भी नही सकता। इसकी स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे चन्द्रमा नक्षत्र-मण्डल मे अपनी प्रभा विकीर्ण कर प्रशसा प्राप्त करता है किन्तु जव प्रात काल मे तेजपुज सूर्य—वास्तविक प्रकाश—का उदय होता है तो वह नक्षत्रो सहित छिप जाता है।

विशेष—उपमा अलकार।

देषण के सबको भले, जिसे सीत के कोट।
रवि कै उदै न दीसहीं, बँधै न जल को पोट ॥१७॥

शब्दार्थ—देपण=देखने मे। सीत=शीत, यहाँ वर्फ से तात्पर्य है। उदै=उदित होने पर। दीसही=दृष्टिपात होना। पोट=गठरी।

ये ढोगी, ब्रह्याडम्वरी पण्डित देखने मे तो बडे भले लगते है क्योकि अज्ञानाधकार मे पडे पण्डित के लिए ये वास्तविक ज्ञानी है, किन्तु जब व्यक्ति मे ज्ञान का सूर्य उदय होता है, तब इनका अस्तित्व नही ठहर सकता, तब तो इनकी स्थिति वैसी ही होती है जैसी शीत-ऋतु मे हिम (कुहरे) के वने किले वड़े मनोरम प्रतीत

होते है किन्तु सूर्य के उदित होने पर उनका अस्तित्व नष्ट हो जाता है, बर्फ पिघलकर पानी बन जाती है, किलो की आकृतिया समाप्त हो जाती है।

विशेष—उदाहरण अलकार।

तीरथ करि करि जग मुवा, डूंघै पांणीं न्हाइ।
रांमहि रांम जपंत डां, काल घसीट्यां जाइ ॥१८॥

शब्दार्थ—डूघैं=उथला, गदले से तात्पर्य है। जपत डा=जपता हुआ।

कबीर कहते है कि तीर्थो के गदले पानी मे स्नान करते-करते सम्पूर्ण संसार नष्ट हो गया वाहर मुह से राम-नाम का उच्चारण करते हुए भी उन्हे मृत्यु—नाश घसीट कर ले गया।

भाव यह है कि उपासना के वाह्याडम्बरो मे मुक्ति सम्भव नही, उसके लिए हृदय से प्रभु-भक्ति वाछनीय है।

कासी कांठै घर करैं, पीवैं निर्मल नीर।
मुकति नही हरि नांव बिन, यौं कहै दास कबीर ॥१९॥

शब्दार्थ—काशी काठैं=काशी मे निवास करते हुए।

भक्त कबीर कहते हैं कि चाहे कोई शिवनगरी काशी मे निरन्तर वास करे, उसे अपना घर ही वना ले और कलि-मलहरणी, पाप-नाशिनी गंगा का पवित्र जल पीये तो भी प्रभु-भक्ति के विना उसकी मुक्ति सम्भव नही है।

कबीर इस संसार कौं, समझाऊँ कै बार।
पूंछ ज पकड़ै भेद की, उतर्या चाहै पार ॥२०॥

शब्दार्थ—भेद=द्वैत, यह भावना कि प्रभु और अश जीव पृथक् है, माया का अर्थ भी लिया जा सकता है।

कबीर कहते हैं कि मैं इस अबोध ससार को कितना समझाऊं ? यह तो प्रभु और आत्मा का अन्तर मानकर इस भव-सागर के पार जाना चाहते है, जो असम्भव है। अथवा ससार माया के आश्रय मे रहकर भव-सागर पार करना चाहता है, यह कैसे सम्भव है ?

कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूँ मैं ध्रंम।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखै भ्रंम ॥२१॥

शब्दार्थ—ध्रम=धर्म। क्रम=कर्म। चेत=सावधान होकर, ज्ञानसम्पन्न होकर। भ्रम=भ्रम, माया-भ्रम।

कबीर कहते है कि व्यक्ति व्यर्थ ही फूला-फूला फिरता है, यह गर्व करता है कि मैं धर्माचरण करता हू, किन्तु वह ज्ञानयुक्त हो माया-भ्रम दूर कर यह नही देखता कि वह कितने कोटि कुकर्मो का भार अपने सिर पर ले इस ससार से जाता है।

मो तोर की जेवड़ी, वलि बंध्या संसार।
कांहसिकडूं बासुत कलित, दाझण बारंबार ॥२२॥३६८॥

शब्दार्थ—मोर-तोर=ममत्व-परत्व। कासि=कास, सुई की नोक के समान एक घास विशेष। कडूवा=यह भी एक घातक घास ही होती है, जिसे कन्डुवा या कन्डवा कहते है। दाझरण=जलना।

जिस प्रकार वलि पर चढाया जाने वाला बकरा बन्धन मे वधा पडा रहता है उसी प्रकार ससार ममत्व-परत्व के माया बन्धन मे जकडा पडा है। पुत्र एव स्त्री अर्थात् परिवार रूपी कास एव कन्डुवे के कारण जीवात्मा को बारम्वार आवागमन चक्र मे पड कर ससार तापो मे दग्ध होना पडता है।

विशेष—उपमा अलकार।

१८. करणीं बिना कथणीं कौ अंग

अंग-परिचय—मनुष्य कहता कुछ और है और करता कुछ और है, यही प्रवृत्ति उसके पतन का कारण है और जव तक उसकी वाणी और कर्मो मे समन्वय नही हो जाता, तब तक वह ब्रह्म का साक्षात्कार नही कर सकता, यही वात कवीर ने इस अग मे वताई है। वे कहते है कि यदि व्यक्ति दूसरो को तो अनेक प्रकार के उपदेश देता फिरे और स्वय उन पर आचरण न करे तो उसका उपदेश देना व्यर्थ है और उसका वह ज्ञान भी व्यर्थ है। उसका इस प्रकार का कोरा ज्ञान तो केवल बालू की दीवार समझना चाहिए, जो तनिक से धक्के से धूलि-धूसरित हो जाती है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति जो कुछ कहता है, वही करता है तो वह श्रेष्ठ है और भगवान् सदैव उसके समीप रहते है। जिन व्यक्तियो के कथन और कर्म मे समन्वय नही है, वे श्वान के समान है और अपने ही पापो के कारण मृत्यु का ग्रास बनते हे। इस संसार मे ऐसे भी भक्त दिखाई देते है जो केवल प्रभु-भक्ति के पद गा-गाकर स्वय को प्रभु का भक्त समझ बैठे है और उन्होने परम ब्रह्म के रहस्य को समझा नही है। ऐसे भक्त दिखावे के भक्त है, उनकी वास्तविकता तो कुछ और ही है।

अत कवीर मनुष्य को समझाते है कि यदि वह ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता हे तो उसे अपनी वाणी और कर्म मे समन्वय स्थापित करना चाहिए, अर्थात् वह जो कुछ कहे, उसी पर मनोयोगपूर्वक आचरण करे।

कथणी कथी तौ क्या भया, जे करणो नां ठहराइ।
कालबूत के कोट ज्यूं, देषतही ढहि जाइ ॥१॥

शब्दार्थ—कथणी=कथन, ज्ञानोपदेश से तात्पर्य है। करणी=कर्म। कालबूत=कलाबत्तू, मेहराब के कगूरे वनाने के लिए एक कच्चा आधार, जब असली कगूरा बन जाता है तो इसे हटा देते है, कच्ची मिट्टी का होने के कारण यह वड़ा

नाजुक होता है, छूते ही यह टूट जाता है। इसी नाजुकपन की अभिव्यक्ति कबीर ने "देपतही ढहि जाइ" द्वारा की है।

कबीर कहते है कि जिसने केवल उपदेश ही बघारा और उस उपदेश का स्वय आचरण न किया, वह मनुष्य ज्ञानियो के मध्य अथवा सत्य की कसौटी पर टिक नही पाता। जिस प्रकार कालवूत के बने कगूरे तनिक सी ठसक मे ही ढह जाते है उसी भाँति ये मनुष्य तनिक सी सत्य की परीक्षा पर डावाडोल हो जाते है।

विशेष—उदाहरण अलकार।

जैसी मुख तै नीकसै, तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल मै करै निहाल ॥२॥

शब्दार्थ—नेड़ा=समीप। निहाल=प्रसन्नचित्त, आनन्दित।

हे मनुष्य ! जैसा सुन्दर उपदेश तू दूसरो को देता है यदि स्वयं उसका आचरण करे तो प्रभु सर्वदा तेरे समीप रहे और तुझे क्षणभर मे मुक्त कर प्रसन्न कर देंगे।

जैसी मुष तै नीकसै, तैसी चालै नांहि।
मानिष नहीं ते स्वान गति, बांध्या जमपुर जाँहि ॥३॥

शब्दार्थ—स्वानगति=श्वानगति।

जो दूसरो को सुन्दर उपदेश देते है और स्वय उनका पालन नही करते, वे मनुष्य नही हैं, अपितु श्वान है और वे अपने पापो के कारण बंदी बनकर यमलोक चले जाते है।

पद गोएँ मन हरषियाँ, साषी कह्याँ अनंद।
सो तत नाव न जांणियाँ, गल में पड़िया फंध ॥४॥

शब्दार्थ—तत=तत्व या उसका। फन्ध=फन्दा, मृत्यु का वध।

जो मनुष्य प्रभु-भक्ति के पद गा-गाकर और साखियो मे उपदेश देकर ही अपने को प्रभु-भक्त समझ बैठे, उन्होने उस पूर्ण ब्रह्म के रहस्य को नही समझा। अतः अन्त तक वे काल-पाश मे पडे रहे, मुक्त नही हो सके।

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड।
जांणै बूझै कुछ नहीं, यौंही आँधां रूंड ॥५॥३७३॥

शब्दार्थ—तूंड=हाथी की सूंड, किन्तु यहा व्यग्यार्थ से मुख अर्थ लिया जायगा।

जो मनुष्य राम-नाम को समझे बिना, हृदय के योग से रहित मुंह उठा कर उच्च स्वर से कीर्तन करता है वह रणक्षेत्र मे लडते हुए धड के समान है जिसे कुछ भी दृष्टिगत नही होता—चाहे कोई भी उसकी तलवार से मरे, उसे तो मारने से काम।

★

१९. कथणीं बिना करणीं कौ अंग

अंग-परिचय—इस अग मे कबीर ने बताया है कि वाणी की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है। जो व्यक्ति केवल कहते रहते है, और अपने कथन पर स्वय आचरण नही करते, वे पापी है और जन्मजन्मान्तरो तक आवागमन के चक्कर मे पडे रहते है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति कहते कुछ नही है, बल्कि जो कहना चाहते है, उस पर स्वय आचरण करते है, वे व्यक्ति पाप-मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त कर लेते है। पुस्तको का ज्ञान प्राप्त कर-करके तो सारा ससार मर गया, किन्तु पडित कोई भी नही बना। सच्चा पडित वही है जो वेद-शास्त्रो के अध्ययन को छोडकर राम की महिमा का ज्ञान प्राप्त करता है और स्वय भी उस ज्ञान पर आचरण करता है।

मैं जांन्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िवा थैं भलौ जोग।
रांम नांम सूं प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग ॥१॥

शब्दार्थ—पढ़िबौ=पुस्तको का पठन। थैं=(तैं) से। जोग=योग। भल-भल=भले ही।

कबीर कहते है कि यह मै जानता हू कि शास्त्रादि का पढना बडा अच्छा है, किन्तु उससे भी कही अच्छा योग-साधना करना है (जिसके द्वारा प्रभु मे चित्त लगाया जाता है)। इसलिए हे साधक ! तू प्रभु-भक्ति मे प्रवृत्त हो वही काम्य है, चाहे अन्य मनुष्य तेरी कितनी ही निन्दा क्यो न करे।

कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुसतक देइ बहाइ।
बांवन आषर सोधि करि, ररैं ममैं चित लाइ ॥२॥

शब्दार्थ—आषिर=अक्षर। ररैं='रा' अक्षर। ममैं='म' अक्षर।

कबीर कहते है कि हे साधक ! तू पढ़ना छोडकर इस शास्त्रादि के ढेर को जल मे वहा दे, क्योकि उससे श्रेष्ठ प्रभु-भक्ति है। इसलिए तू इन समस्त ग्रन्थो का सार केवल दो अक्षर 'रा' और 'म' समझ कर प्रभु-भक्ति मे ही अपना हृदय लगा।

कबीर पढ़िवा दूरि करि, आथि पढ्या संसार।
पीड़ न उपजी प्रीति सूं, तौ क्यू करि करै पुकार ॥३॥

शब्दार्थ—आथि=(अस्ति) अन्त। पीड़=पीड़ा।

कबीर कहते है कि हे साधक ! तू शास्त्रादि का पाठ छोड दे, क्योकि इससे मुक्ति सम्भव नही, इसके पाठ के पश्चात् भी ससार का अन्त होता है। यदि हृदय मे प्रभु प्रेम की पीडा उत्पन्न नही हुई तो पोथी पढ-पढकर राम-नामोच्चारण से क्या लाभ ?

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै अषिर पीव का, पढै सु पंडित होइ ॥४॥३७७॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि समस्त ससार धर्मग्रन्थो के ढेर को पढ़ते-पढ़ते ही नष्ट

हो गया किन्तु कोई पूर्ण ज्ञानी न हो सका। यदि कोई प्रभु नाम का केवल एक शब्द 'राम' जान जाय तो उन धर्मग्रन्थों को पढ़े बिना भी वह पूर्ण पण्डित हो जाता है।

२०. कामी नर कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग मे कबीर ने यह बताया है कि जो लोग काम-भावना के वश मे होते हैं, वे मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं और उन्हे किसी प्रकार मुक्ति का लाभ नही हो सकता है। उस काम-भावना का मूल कारण नारी है। नारी तीनों लोको में विषपूर्ण नागिन के समान है जो मनुष्यो को विषय-वासना का विष उगलकर डसती रहती है। यह उस मधुमक्खी के समान है जो पास जाने पर तुरन्त काट लेती है। जो मनुष्य पर-स्त्री मे अनुरक्त रहता है और चोरी के बल पर समृद्ध होना चहता है, वह कुछ दिनो के लिए भले ही फलता-फूलता दिखाई दे, किन्तु अन्ततोगत्वा वह समूल नष्ट हो जाता है। पर नारी के सुन्दर आकर्षण से विरले व्यक्ति ही बच पाते हैं, क्योकि उसका ससर्ग खाड के समान मधुर होता है। किन्तु उसका अन्त अत्यन्त दुखप्रद होता है, इसको कोई नही सोचता। दूसरे की स्त्री से प्रेम करने मे दोष ही दोष है। इसका ससर्ग लहसुन के खाने के समान है, अर्थात् जिस प्रकार लहसुन की दुर्गन्धि नही छिप सकती, इसी प्रकार परस्त्री-गमन का दोष भी नहीं छिपाया जा सकता।

जब तक मन मे विषय-वासनाएं है, तब तक सब नर और नारी नरक के समान दुखदाई है। नारी का प्रेम मनुष्य की उस बुद्धि का हरण कर लेता है जो सत्य और असत्य, पुण्य और पाप मे भेद करती है। नारी का ससर्ग मनुष्य को सब प्रकार के सुखो से वञ्चित कर देता है। न तो उसे आत्मज्ञान ही प्राप्त होता है और न मुक्ति ही। नारी और धन ये दोनो विषाक्त फल के समान है, बल्कि नारी तो धन से भी अधिक विषाक्त है, क्योकि धन का विष तो तभी चढता है जब मनुष्य उसका उपभोग करता है, किन्तु नारी का विष तो उसे देखने मात्र से ही चढ़ जाता है। न जाने कितने लोग नारी के आकर्षण मे फसकर समूल नष्ट हो गये है, फिर भी सासारिक मनुष्य इस बात को नही समझ पाया है कि सारे सासारिक विषयो मे जूठन नारी है, वह नरक का कुण्ड है, जिससे कोई विरला व्यक्ति ही बच सकता है।

कामी मनुष्य कभी भी हरि का स्मरण नही करता, न उसके मन मे किसी प्रकार की लज्जा होती है, उसमे सत्य और असत्य, कर्त्तव्य और चेतावनी देते हुए कहते है कि जब तक मन मे काम-वासना विद्यमान है, तब तक गृहस्थी और सन्यासी मे कोई भेद नही है। अत. यदि मनुष्य उसकी प्राप्ति और मुक्ति लाभ चाहता है तो उसे काम-भावनाओ को समूल नष्ट कर देना चाहिए।

कांमणि काली नागणी, तीन्यूं लोक मझारि।
रांम सनेही ऊबरे, बिषई खाये झारि ॥१॥

शब्दार्थ—कामणि=कामिनि, नारी। नागणी=नागिन। मंझारि=मध्य मे।

नारी तीनो लोको मे—सर्वत्र—नागिन के समान विषपूर्ण है। इसने विषय-वासना मे सिक्त जीवो को तो डस लिया है, केवल प्रभु-भक्त ही इसके प्रभाव से बच सके है।

विशेष—तीन लोक—स्वर्ग, मर्त्य, पाताल।

कांमणि मींनीं षाणि की, जे छेड़ौं तौं खाइ।
जे हरि चरणाँ राचियाँ, तिनके निकटि न जाइ ॥२॥

शब्दार्थ—मीनी=मक्खी। षाणि=खाड, मधुरता के साधर्म्य से मधु अर्थ। राचिया=अनुरक्त।

नारी मधुमक्खी के सदृश है जो इसके पास जाओगे तो यह तुम्हे काट कर खा जायेगी, दूर रहोगे तो तुम्हारे पास भी नही फटक सकती। जो प्रभु-भक्ति मे अनुरक्त है, यह उनके पास नही जाती और उन्हे अपने विषाक्त प्रभाव से प्रभावित नही कर सकती।

विशेष—उपमा अलकार।

पर नारी राता फिरै, चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जांहि ॥३॥

शब्दार्थ—राता=अनुरक्त। बिढता=वृद्धि पाया हुआ, समृद्ध। सरसा=पल्लवित होना। समूला=मूल सहित।

कबीर कहते है कि जो मनुष्य परस्त्री मे अनुरक्ति रखता है एव चोरी के धन-बल पर समृद्ध होता है वह कुछ समय के लिए भले ही फल-फूल ले, अन्त मे समूल नष्ट होना पडता है। क्योकि इन कुकृत्यो से लोक एव परलोक दोनों ही बिगडते है।

पर-नारी पर-सुंदरी, बिरला बंचै कोइ।
खातां मींठी खाँड सी, अंति कालि विष होइ ॥४॥

शब्दार्थ—विरला=कोई।

दूसरे की पत्नी तथा दूसरे की सुन्दर नारी के आकर्षक प्रभाव से कोई विरला ही मुक्त होगा। परस्त्री ससर्ग-सुख खाड के समान मधुर है, किन्तु जिस प्रकार खाड बाद मे पेट को हानि पहुचाती है, इसी प्रकार यह परस्त्री-प्रेम अन्ततः विषदायक सिद्ध होता है।

विशेष—(१) उपमा अलकार। (२) खाँड जब खाते है तो मधुर लगती ही है किन्तु उससे पेट खराब हो जाता है जिससे और रोग उत्पन्न होने की आशंका रहती है।

पर नारी कै राचणैं, औगुण है गुण नाँहि।
षार समंद मै मंछला, केता वहि वहि जांहि ॥५॥

शब्दार्थ—राचरणैं=प्रेम मे। षार=खारी।

दूसरे की स्त्री के प्रेम मे दोष ही दोष हैं, गुण या लाभ कुछ भी नही। वासना के इस आकर्षण-रूपी समुद्र मे न जाने कितनी जीवरूपी मछलियाँ बह जाती हैं।

भाव यह है कि ससार-प्रवाह मे जीव वासना का परित्याग नही कर पाता और परस्त्रीगामी हो जाता है, जबकि इससे हानि ही हानि है।

पर नारी को राचणौं, जिसी ल्हसण की षांनि।
षूणैं बैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि ॥६॥

शब्दार्थ—राचणौ=प्रेम, अनुरक्ति। ल्हसण=लहसुन। षानि=खाना। षूणैं=(कूणे) कोने मे। रषाइए=रखवाली कीजिए।

परस्त्री-प्रेम लहसुन खाने के समान ही है जो किसी प्रकार से भी दूसरो से नही छिप सकता। चाहे आप कोने मे वैठकर, अत्यन्त सतर्कतापूर्वक, यह प्रयत्न करे कि यह प्रकट न हो तो भी वह प्रकट होकर ही रहता है, किसी के रोके नही रुकता।

विशेष—उपमा अलंकार।

नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते रांम के, जे सुमिरैं निहकाम ॥७॥

शब्दार्थ—वासनामय।

कवीर कहते हैं कि जब तक शरीर विषय-वासनाओ मे संलिप्त है तब तक नर-नारी सभी नरक मे पड़े हुए हैं। वास्तविक प्रभु भक्त वे ही हैं जो राम को विषय-वासनाओ की कामना से रहित होकर भजते हैं।

नारी सेती नेह, बुधि विवेक सबहीं हरै।
कांइ गमावै देह, कारिज कोई नां सरै ॥८॥

शब्दार्थ—कांइ=क्यो?

स्त्री का प्रेम बुद्धि और सदसद् विवेक सबका ही हरण कर लेता है। हे जीव! तू इस स्त्री-प्रेम में अपनी शक्तियों का ह्रास क्यों कर रहा है? इससे कोई भी कार्य सफल नही हो सकता।

नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।
वेगि छाड़ि पछिताइगा, ह्वै है मूरति भंग ॥९॥

शब्दार्थ—मूरति=शरीर।

विविध प्रकार के सुस्वादु भोजनो का सुख एवं स्त्री के प्रेम का सुख, हे मनुष्य! तू इन दोनो का परित्याग कर दे अन्यथा जब इन्ही इन्द्रिय-सुखो मे रत रहने पर शरीर नष्ट हो जायेगा तो तू पछतायेगा।

नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति जिन ग्यान मैं, पैंसि न सकई कोइ ॥१०॥

शब्दार्थ—नसावै=नष्ट करती है। पैंसि न सकई कोइ=कोई भी प्रवेश नही कर सकता।

नारी का संसर्ग मनुष्य को तीन सुखो से वचित कर देता है। वे है भक्ति, मुक्ति एवं आत्मज्ञान (ब्रह्मज्ञान)। नारी के ससर्ग मे रहकर इन तीनो की प्राप्ति असम्भव है।

एक कनक अरु कांमनी, विष फल कीएउ पाइ।
देखैं ही थैं विष चढ़ैं, खाँयें सूं मरि जाइ ॥११॥

शब्दार्थ—कनक=सोना, सासारिक वन्धन।

एक तो स्वर्ण अर्थात् धन और दूसरे नारी ये दोनो विषाक्त फलो के समान है। एक को (स्त्री को) देखने से ही विष चढ जाता है और दूसरे (धन) को भोगने से विष चढ़ता है।

एक कनक अरु कांमनीं, दोऊ अगनि की झाल।
देखैं हीं तन प्रजलै, परस्याँ ह्वै पैमाल ॥१२॥

शब्दार्थ—झाल=लपट। पैमाल=नष्ट होना।

स्त्री और स्वर्ण (धन) दोनो ही अग्नि की प्रज्वलित लपटों के समान है। इनको देखने मात्र से शरीर जलने लगता है एव स्पर्श करते ही मनुष्य नष्ट हो जाता है।

कबीर भग की प्रीतड़ी, केते गए गडंत।
केते अजहूँ जाइसी, नरकि हसंत हसंत ॥१३॥

शब्दार्थ—भग=स्त्री-सम्भोग।

कवीर कहते है कि स्त्री-सम्भोग के सुख से विनष्ट होकर न जाने कितने लोग कब्र में गढ गये, नष्ट हो गये, किन्तु फिर भी ससार इससे सावधान नही होता और आज भी कितने ही मनुष्य (अधिकाश) हसते-हसते पतन मार्ग को अपनाते है।

विशेष—वीप्सा अलकार।

जोरू जूठणि जगत की, भले बुरे का बीच।
उत्यम ते अलगे रहैं, निकटि रहैं तें नीच ॥१४॥

शब्दार्थ—जोरू=पत्नी, किन्तु यहा 'नारी' सामान्य जातिवाचक से तात्पर्य है। उत्यम=उत्तम, श्रेष्ठ।

स्त्री समस्त सासारिक विषयों की जूठन है। यही व्यक्ति के भले-बुरे का भेद बताती है। जो इससे दूर रहते हैं वे ही श्रेष्ठ है और जो इसके संसर्ग मे रहते है वे नीच है।

नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै बाग।
कोइ साधू जन ऊबरै, सब जग मूवा लाग ॥१५॥

शब्दार्थ—थभै=थामना, पकड़ना, रोकना। वाग=लगाम।

नारी-संसर्ग नरक के कुण्ड के समान यातनामय एवं घृणास्पद है। कोई विरला मनुष्य ही अपने मन रूपी अश्व की लगाम को उधर जाने से रोक पाता है। ऐसी मन साधना कोई-कोई साधु ही कर पाता है अन्यथा समस्त जगत् उसके सम्पर्क से नष्ट हो मृत्यु को प्राप्त हो रहा है।

विशेष—रूपक अलकार।

सुंदरि थै सूली भली, बिरला बंचै कोइ।
लोह निहाला अगनि मै, जलि वलि कोइला होय ॥१६॥

शब्दार्थ—निहाला=डालना।

कवीर कहते है कि नारी से तो शूली (मृत्यु) अच्छी है। इसके घातक प्रभाव से तो कोई विरला ही वच पाता है। जिस प्रकार लोहे जैसे कठोर पदार्थ को भी अग्नि जलाकर कोयला वना देती है, उसी भाति चाहे कोई कितना ही दृढ़ चरित्र व्यक्ति क्यो न हो नारी सवको भ्रष्ट कर देती है।

विशेष—दृष्टात अलकार।

आधा नर चेतै नही, कटै न संसै सूल।
और गुनह हरि वकससी, कांमी डाल न मूल ॥१७॥

शब्दार्थ—अन्धा=ज्ञानान्ध। ससय=सशय। गुनह=गुनाह, दोष, पाप। डाल न मूल=न तो उसकी शाखा रहती है और न जड़, अर्थात् पूर्ण रूपेण नष्ट हो जाता है।

आज्ञानान्ध व्यक्ति ससार का नाश होता देखकर भी सावधान नही होता, (वह विषय-वासना मे ही फसा रहता है) इसीलिए उसका क्लेश एव दुख विनष्ट नही होता। ससार कहता है कि प्रभु नामस्मरण से सव कुछ क्षमा कर देता है, किन्तु प्रभु सव दोप एवं पाप अवश्य नष्ट कर देते है लेकिन केवल कामी पुरुष को वे नही छोडते। उसका तो वे सर्वस्व नष्ट कर देते है।

भगति बिगाड़ी काँमियां, इंद्री केरै स्वादि।
हीरा खोया हाथ थैं, जनम गँवाया वादि ॥१८॥

शब्दार्थ—काँमियाँ=कामीजनो ने। केरै=के। वादि=व्यर्थ।

कामी पुरुषो ने इन्द्रिय-रसो के स्वाद मे पडकर भक्ति मार्ग का नाश कर दिया, वे भक्ति से विचलित हो गये। उन्होने प्रभु-भक्ति रूपी अमूल्य हीरा अपने हाथ से खो विषय-वासना के फेर मे पडकर अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर दिया।

विशेष—(१) रूपक अलंकार।

(२) कवीर ने मानव-जन्म का एकमात्र उद्देश्य, काम्य, प्रभु-भक्ति को ही माना है।

कामीं अमीं न भावई, बिषई कौं ले सोधि ।
कुबधि न जाई जीव की, भावै स्यंभ रहौ प्रमोधि ॥१६॥

शब्दार्थ—अमी=अमृत । स्यभ=शम्भु, ईश्वर से तात्पर्य है ।

कामी पुरुष को भक्ति रूपी अमृत रुचिकर नही लगता वह तो इन्द्रियो के विषयों की ही खोज में रहता है (या विषयो को ही खोज लेता है) चाहे स्वय प्रभ आकर कामान्ध जीव को समझावें; किन्तु उसकी दुर्मति नही जा सकती ।

विषै बिलंबी आत्माँ, ताका मजकण खाया सेधि ।
ग्यांन अंकुर न ऊगई, भावै निज प्रमोध ॥२०॥

शब्दार्थ—विलम्वी=सलिप्त । कजकण=मज्जा (हड्डी के भीतर एक तत्व) का कण, सारतत्व से तात्पर्य है । प्रमोध=पवोध ।

विषय-संक्षिप्त आत्मा के सारतत्व को विषय-प्रवृत्ति इस प्रकार खा जाती है जैसे अन्नकरण मे से घुन (एक कीड़ा विशेष) उसका सार-सार खा जाता है, फिर यह दाना वोने पर अकुर के रूप मे नही फूटता, उसी प्रकार विपयी पुरुप के खोखले अस्तित्व में ज्ञान का अकुर के रूप नही उपजता—सामान्य गुरु की तो बात ही क्या चाहे स्वयं प्रभु उसे समझावें ।

विशेष—दृष्टात अलकार ।

विषै कर्म की क्वकुली, पहरि हुआ नर नाग ।
सिर फोड़ै सूझै नहीं, को आगिला अभाग ॥२१॥

शब्दार्थ—सिर फोड़ै=भरसक्र प्रयत्न करने पर भी ।

विषय-वासना से परिचालित कर्मो की केंचुली को धारण कर मनुष्य उसी प्रकार अन्धा हो गया है जिस भाँति सर्प केचुली धारण करने पर अन्धा हो जाता है । सिर पटक-पटक कर प्रयत्न करने पर भी स र्प निर्मोक (केचुली) से ढका होने पर अत्म-स्वरूप को नही देख पाता, इसी भाँति विपयान्ध भरसक प्रयत्न करने पर भी आत्मस्वरूप—प्रभु—को नही जान पाता । न जाने यह उसका कौनसा पूर्वकृत अभाग्य है ?

विशेष—दृष्टात अलकार ।

कामीं कदे न हरि भजै, जपै न केसौ जाप ।
रांम कह्यां थै जलि मरै, को पूरिबला पाप ॥२२॥

शब्दार्थ—कदै=कभी । केसौ=केशव, प्रभु ।

कामी पुरुष कभी भी प्रभु का भजन नही करता, वह हरि नाम लेता ही नही है । न जाने यह उसके पूर्वजन्म के कौनसे पापो का फल है कि वह राम कहते ही जल मरता है; अर्थात् जब वह दूसरो से प्रभु-नाम सुनता है तो क्रुद्ध हो जाता है ।

कांमी लज्या नां करै, मन मांहै अहिलाद ।
नींद न मांगै सांथरा, भूष न मांगै स्वाद ॥२३॥

शब्दार्थ—अहिलाद=आल्हाद। साथरा=शय्या। भूष=भूख।

कामी मनुष्य अपने कुकृत्यो पर लज्जित नही होता, अपितु इन्द्रिय रस से तृप्ति हो जाने पर वह मन ही मन आह्लादित होता है। जिस प्रकार निद्राभिभूत व्यक्ति शैया नही चाहता कही भी पडकर सो जाता है, जिस प्रकार भूखा व्यक्ति स्वाद नही देखता जो मिल जाता है खा लेता है उसी भाति कामी सदसद् विवेक का परित्याग किये रहता है।

विशेष—(१) उदाहरणमाला अलकार।

> नारि पराई आपणीं, भुगत्या नरकहिं जाइ।
> आगि आगि सबरौ कहै, तामैं हाथ न बाहि ॥२४॥

शब्दार्थ—भुगत्या=भोग करने पर। बाहि=डाल।

दूसरे की स्त्री का अपनी पत्नी के समान भोग करने से मनुष्य नरकगामी होता है। हे मनुष्य! जिस नारी को समस्त (श्रेष्ठ) संसार ने अग्नि-अग्नि कहकर घातक बताया है, तू उसी अग्नि मे अपना हाथ मत जला।

> कबीर कहता जात हौं, चेतै नहीं गँवार।
> बैरागी गिरही कहा, कामी वार न पार ॥२५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि मै ससार-हित के लिए निरन्तर नारी के अवगुणों की चर्चा करता आ रहा हूं, किन्तु फिर भी मूर्ख लोग सावधान नही होते। क्या बैरागी और क्या गृहस्थ दोनो मे कामीजनो का अभाव नही है।

> ग्यांनी तौ नींडर भया, मांनैं नांहीं शंक।
> इन्द्री केरे बसि पड़्या, भूँचै बिषै निसंक ॥२६॥

शब्दार्थ—शक=शका।

जिसे यत्किचित् ज्ञान है वह तो अपने को ज्ञानी समझकर अपने आचरण के विषय मे पूर्ण निश्शंक हो गया। भला वह ज्ञानी कैसा जो इन्द्रियो के वश में पडकर पूरी तरह से विषयो का भोग कर रहा है।

भाव यह है कि ज्ञान के लिए विषय-वासना-परित्याग आवश्यक है।

> ग्यांनी मूल गँवाइया, आपण भये करता।
> तार्थं संसारी भला, मन मे रहे डरता ॥२७॥४०४॥

शब्दार्थ—सरल है।

ज्ञानी व्यक्ति ने अपने को जगत् का कर्ता समझकर अपनी मूल सम्पत्ति अर्थात् सामान्य बुद्धि भी गवा दी। उससे तो श्रेष्ठ सामान्य सासारिक व्यक्ति है जो मन मे प्रभु से डरता हुआ अपने आचरण के प्रति सचेत रहता है।

☆

२१. सहज कौ अंग

अंग-परिचय—कबीर के आविर्भाव से पूर्व नाथ और सिद्ध सामुदाय काफी लोकप्रिय हो चुके थे। सहज साधक और सहज समाधि इन समुदायो के सर्वाधिक प्रचलित शब्द थे जो कबीर के समय तक आते-आते विकृत हो चुके थे। अर्थात् लोग इन शब्दो का प्रयोग केवल जनता पर प्रभाव डालने के लिए ही करते थे। इनके प्रयोग पक्ष की ओर स्वयं उपदेष्टा भी ध्यान नही देते थे। प्रस्तुत अंग मे कबीर ने बताया है कि सहज साधक कौन है, वे कहते है कि 'सहज' शब्द की रट तो सभी लोग लगाते रहते हैं, किन्तु सहज शब्द का अर्थ कोई नही जानता। जो साधक सहज रूप से सारे विषय-विकारो का त्याग कर देता है, पाँचो इन्द्रियो को अपने वश मे कर लेता है, वही सहज-साधक कहलाता है और ऐसे ही साधक को सहज ही प्रभु का साक्षात्कार हो जाता है।

सहज सहज सबकौ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ ॥१॥

शब्दार्थ—चीन्हैं=जानना।

कबीरदास कहते है कि सब व्यर्थ 'सहज-सहज' की दुहाई देते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि सहज को कोई नही जानता। जिसने अपने स्वभाव से विषय-वासनाओं का परित्याग कर दिया अथवा जिसने सुगमतापूर्वक विषयलालसा का परित्याग कर दिया, उसी को 'सहज-साधक' कहा जा सकता है।

विशेष—पुनरुक्ति अलकार।

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
पाँचू राखै परसती, सहज कहीजै सोइ ॥२॥

शब्दार्थ—पाँचू=पाँचो इन्द्रियो को। परसती=वश मे।

सब व्यक्ति 'सहज' की, 'सहज-साधना' की पुकार लगाते है किन्तु उसे वास्तविक अर्थो मे पहचानता कोई नही। कबीर के दृष्टिकोण जो व्यक्ति पाँचो इन्द्रियो को अपने आधीन, अपने नियन्त्रण मे रखे, उसे ही 'सहज-साधक' कहा जा सकता है।

सहजै सहजै सब गए, सुत बित कांमणि कांम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा राम ॥३॥

शब्दार्थ—सहज-सहजै=शनैः-शनैः। बित=वित्त।

कबीर कहते है कि ससार मे धीरे-धीरे सम्पत्ति, पुत्र पत्नी सब कुछ विनष्ट हो जाता हे। भक्त कबीर (अपनी भक्ति के कारण ही) उस प्रभु से मिलकर एकाकार हो गया।

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ ॥४॥४०८॥

शब्दार्थ—सरल है ।

संसार मे सब सहज-सहज पुकारते है किन्तु वास्तविक 'सहज' (प्रभु) को कोई नही पहचान सका । जिस व्यक्ति को सुगमता से प्रभु मिल जायें वही 'सहज-साधक' है ।

२२. सांच कौ अंग

अंग-परिचय—समस्त ससार विषय-वासनाओ मे पडकर ससार और जीवन की सत्यता को भूलकर असत्य वस्तुओ को ही भ्रमवश सत्य मान बैठा है । इस अंग मे कबीर ने बताया है कि वास्तव मे सत्य क्या है । वे कहते हैं कि कर्मो का योग सत्य और अनिवार्य है । जो व्यक्ति जैसे कार्य करेगा, उसे वैसे ही फल भोगने पडेंगे । जिस प्रकार कोई व्यक्ति यदि किसी साहूकार से उधार लेता है और समय पर उसका धन नही लौटता तो उसकी बडी दुर्दशा होती है, इसी प्रकार जो व्यक्ति इस जीवन मे भगवान् की भक्ति नही करता तो उसे अन्त मे पछताना पडता है। यदि मनुष्य का मन सच्चा है और सत्य भावना से ही उसने सारे कार्य किये है तो भगवान् के समक्ष अपने कार्यों का हिसाब देते समय उसे अत्यन्त आनन्द का अनुभव होगा, चित्रगुप्त के वहीखाते मे उसका हिसाब ठीक और सही निकलेगा । यदि उसने सत्य भावना से प्रेरित होकर कार्य नही किये हैं तो जब उसके कार्यों का हिसाब देखा जायेगा तो उसे बहुत ही लज्जित होना पडेगा, क्योकि तब उसके कुकर्मो का वार-पार नही होगा ।

संसार मे धर्म के नाम पर लोग प्राय. अधर्म और आडम्बर रचते हैं । काजी ढोग रचकर दिन मे पाँच बार नवाज पढ़ता है, किन्तु अपनी जीभ के स्वाद के लिए अनेक निर्दोष जीवो की हत्या भी करता है । एक ओर वन्दिगी और एक ओर जीव हत्या ! अगर यह असत्याचरण का ढोग नही तो और क्या है ? वस्तुत काजी और मुल्ला दोनो ही भ्रम मे हैं । वे प्रसन्न होकर इस समय तो जीव-हत्या कर रहे हैं, किन्तु खुदा के सामने अपने कुकर्मो का हिसाब देते समय उन्हे अपनी गर्दन ही झुकानी पडेगी ।

यदि मन शुद्ध नही है तो हज और काबे की यात्रा भी केवल एक प्रकार का आडम्बर है । आडम्बरो से मनुष्य को कभी सच्ची शान्ति नही मिला करती ।

मुसलमानो की भाँति हिन्दू भी धर्म के नाम पर कम मिथ्याचरण नहा करते । एक ओर तो वे अपने आराध्य की पूजा करते हैं और दूसरी ओर आनन्द-पूर्वक बैठकर माँस तथा मदिरा का सेवन करते है । शाक्त निरीह जीवो को वलिदेवी पर चढाते हैं और फिर प्रसाद-रूप मे उसे ग्रहण करके अपनी जिह्वा की तृप्ति करते हैं । इस प्रकार के ढोग और असत्याचरण मनुष्य को पतन की ओर ही ले जाते हैं ।

अन्त मे कबीर ने बताया है कि इन मिथ्याचरणो को छोडकर सत्याचरण करना ही मुक्ति और ब्रह्म प्राप्ति का एकमात्र साधन है। सत्य तो यह है कि जिन लोगों ने यह जान लिया है कि इस सृष्टि में ब्रह्म ही सब कुछ है, वे कभी भी मिथ्या आचरण नही करते और मोह तथा माया से दूर रहते है।

कबीर पूंजी साह की, तूं जिन खोवै ब्वार ।
खरी बिगूचनि होइगी, लेखा देती बार ।।१।।

शब्दार्थ—साह=साहू, धन देने वाला श्रेष्ठी। ब्वार=बेकार, व्यर्थ। खरी=खडी, उपस्थित। बिगुचनि=आफत। लेखा=हिसाब।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य! तू उस ईश्वर रूपी सेठ का दिया हुआ जीवन-धन व्यर्थ नष्ट मत कर। अन्यथा जिस दिन वह इसके कर्मो का हिसाब लेगा तब बडी आफत खडी हो जायगी।

विशेष—जब कोई व्यक्ति पूंजीपति से पूजी उधार लेता है किन्तु उसका समय पर भुगतान नही कर पाता, क्योकि उसने ठीक प्रकार से धन को व्यय नही किया जिससे मूल लौट आता, तो उसकी बडी दुर्दशा होती है। पूंजीपति की धमकियाँ और न जाने क्या-क्या उसे सुननी पडती है। इसीका रूपक कबीर ने जीवन धन और प्रभु से दिया है।

लेखा देणां सोहरा, जे दिल साँचा होइ।
उस चंगे दीवांन मै, पला न पकड़ै कोइ ।।२।।

शब्दार्थ—लेखा=हिसाब। सोहरा=अच्छा, भला। चगे=श्रेष्ठ। दीवान =दरबार। पला=पल्ला, दामन, वस्त्र का छोर।

यदि तुम्हारा मन सच्चा है और सत्य भावना से प्रेरित होकर ही समस्त कर्म किये है तो प्रभु को कर्मो का हिसाब देने मे आनन्द आयेगा, प्रसन्नता होगी। उस सत्यता के कारण ही प्रभु के उस श्रेष्ठ दरबार मे तुम्हारा कोई दामन नही पकड सकता, कोई तुममें कुछ कमी नही निकाल सकता।

कबीर चित चमंकिया, किया पयाना दूरि।
काइथि कागद काढ़िया, तब दरिगह लेखा पूरि ।।३।।

शब्दार्थ—चमकिया=चमत्कृत हुआ, आनन्दित हुआ। पयाना=प्रयाण। दूरि =अदृश्य लोक को। काइथि=कायस्थ, चित्रगुप्त से तात्पर्य है। दरिगह=दरबार।

कबीर कहते हैं कि जब भरे दरबार मे ईश्वर के लेखा-नियन्त्रक चित्रगुप्त ने मेरे कर्मों का हिसाब निकाला तो वह पूर्ण निकला। मेरी आत्मा इससे प्रसन्न हो गयी एवं उसने दूर देश के लिए प्रयाण किया।

भाव यह है कि कबीर अपने सत्कर्मों के कारण ही जीवनमुक्त हो गया।

काइथि कागद काढ़िया, तब लेखैं वार न पार।
जब लग सांस सरीर में, तब लग रांम सँभार ।।४।।

शब्दार्थ—सरल है।

जब जीवनोपरान्त चित्रगुप्त तेरे कर्मों का हिसाब निकालकर देखेगा तो तेरे कुकर्मों, पापो का कोई वार-पार नही होगा, वे असीम होगे। अत शरीर मे जब तक प्राण हैं, तू राम-नाम जप जिससे समस्त पाप नष्ट हो जाते है।

यहु सब झूठी बंदिगी, बरियां पंच निवाज।
साचै मारै झूठ पढि, काजी करै अकाज ॥५॥

शब्दार्थ—वदिगी=अर्चना, पूजा। वरिया पंच=पाँच वार।

हे काजी! तू दिन मे पाँच-पाँच वार नमाज पढता है, यह पूजा तो निरर्थक है क्योंकि तू सर्वदा सत्य को नष्ट कर झूठी प्रार्थना को महत्व देता है, तू ऐसा निन्दनीय कर्म क्यो करता है? भाव यह है कि काजी! तेरी पूजा-प्रार्थना सत्याश्रित होनी चाहिए, तू नमाज की उन आयतो का पालन करे तभी पूजा सच्ची है।

कबीर काजी स्वादि वसि, ब्रह्म हतै तव दोइ।
चढि मसीति एकै कहै, दरि क्यूं साचा होइ ॥६॥

शब्दार्थ—हतै=मारता है, वध करता है। मसीति=मस्जिद। एक=ब्रह्म एक ही है, खुदा एक ही है। दरि=दरबार, प्रभु का दरबार।

कबीर कहते हैं कि काजी का ढोग तो देखो कि जब वह रसना के स्वादवश हो जीव की हत्या करता है तब सोचता है कि यह जीव (बकरा, गौ आदि) और ब्रह्म दो है, किन्तु मस्जिद मे अजान लगाते समय यही कहता है कि खुदा एक है। भला ईश्वर के दरबार मे यह किस प्रकार सच्चा कहला सकता है?

विशेष—मस्जिद मे अजान लगाते समय "या अल्लाह लिल्लाह...अ अ अ" की जो ध्वनि की जाती है उसका अर्थ यही है कि खुदा एक है जो सर्वव्यापक है।

काली मुलां भ्रंमियां, चल्या दुनीं कै साथि।
दिल थैं दीन विसारिया, करद लई जब हाथि ॥७॥ हाथि

शब्दार्थ—भ्रमिया=भ्रमग्रस्त। दुनी=दुनिया, ससार की स्वाभाविक गति, जो विषय-वासना मे ही पडा हुआ है। दीन=धर्म। विसारिया=विस्मृत कर दिया। करद=कटार।

कबीर कहते है कि यह काजी और मुल्ला दोनो ही माया-भ्रम में, अज्ञान मे पड़े हुए हैं। यह अपने धर्म (कि ईश्वर एक है) की हृदय से पूर्णरूपेण विस्मृति कर देते हैं जब जीव-वध के लिए कटार हाथ मे लेते है।

जोरी करि जिवहै करै, कहते हैं ज हलाल।
जब दफतर देखैगा दई, तब ह्वैगा कौंण हवाल ॥८॥

शब्दार्थ—जोरी करि=वलपूर्वक। जिवहै=वध। दफतर=हिसाव से तात्पर्य। दई=प्रभु। हवाल=रक्षक।

मुसलमानो पर व्यंग्य करते हुए कबीर कहते हैं कि वलपूर्वक जीव का प्राण ले लेते हैं और उसे बडे गौरव से 'हलाल' कहते है, किन्तु इनको सब पता चल

जायेगा, जब ईश्वर इनके कर्मों का हिसाब देखकर कुकर्मों का दण्ड देगा तब कौन रक्षा करेगा ?

विशेष—मुसलमान 'मास' के दो प्रकार बताते है—एक हराम, दूसरा हलाल। 'हराम' उस मास को कहते है जो स्वय मरे हुए जीव का होता है, 'हलाल' का माँस वह होता है जिसमे वह जीव को स्वय अपने हाथ से बलपूर्वक मार देते है, इसी का खाना श्रेष्ठ माना जाता है।

जोरी कीयां जुलम है, माँगै न्याव खुदाइ।
खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुँहि खाइ ॥९॥

शब्दार्थ—खालिक=ईश्वर। दरि=द्वार।

जीव-वध में इस प्रकार बल-प्रयोग करना भारी अपराध है। ईश्वर तो तुमसे सब जीवो के प्रति न्याय-दया चाहता है। जब ईश्वर के द्वार पर यह खूनी खड़ा होगा तो इसके मुख पर ताबड-तोड प्रहार किए जायेंगे, इसे भी वैसी ही यातना दी जायेगी, जैसी यह निरीह जीव को देता है।

सांई सेती चोरियां, चोरां सेती गुझ।
जांणैगा रे जीवड़ा, मार पड़ैगी तुझ ॥१०॥

शब्दार्थ—साई=प्रभु। सेती=से। गुझ=मित्रता। जीवड़ा=जीवात्मा।

प्रभु से तू चोरी करता है और जो काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि विषयों के चोर हैं उनसे तू मित्रता रखता है। तेरे इस विपरीत आचरण के कारण जब तुझे प्रभु दण्ड देंगे तभी तेरी बुद्धि ठिकाने आयेगी।

सेष सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनकौं कहाँ खुदाइ ॥११॥

शब्दार्थ—सेष=शेख। सबूरी=सब्र, सन्तोष। हज=मक्का मदीना की तीर्थ यात्रा को मुसलमान हज कहते है। काबै=काबा, मक्का में एक पत्थर जिसमें मुसलमान बडी श्रद्धा रखते है। स्याबति=पूर्ण, पक्का, सच्चा।

हे शेख! तू सतोष से तो बहुत दूर है फिर भला तुझे हज और काबा दर्शन से शाति कैसे मिल सकती है? जिनका हृदय सच्चा नही है उन्हें ईश्वर कही भी प्राप्त नही हो सकता।

खूब खाँड है खीचड़ी, माँहि पड़ै टुक लूंण।
पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौंण ॥१२॥

शब्दार्थ—खाड=खाड के समान मधुर। टुक=थोडा सा। लूण=नमक।

खिचडी जैसे साधारण भोजन मे थोडा-सा नमक पड़ा हो, वही खांड के समान मधुर भोजन है। पेडा और रोटी खाकर बाद मे मृत्यूपरान्त अपना गला कौन कटावे।

विशेष—पेडा और रोटी खाकर गला कटाने की बात कबीर ने इसलिए कही कि ऐश्वर्यमय जीवन बिताने के लिए अनुचित साधन अपनाकर धनोपार्जन करना

पड़ता है। इस पाप के लिए उसे मृत्यु के पश्चात् दण्ड भोगना पड़ता है। अत उस दण्ड से बचने के लिए सादा जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर बताया है।

पापी पूजा बैसि करि, भषैं मांस मद दोइ।
तिनकी दष्या मुकति नहीं, कोटि नरक फल होइ ॥१३॥

शब्दार्थ—बैसि करि=बैठकर। मद=मदरा या मादक द्रव्य। दष्या=दशा। मुकति=मुक्ति, मोक्ष।

पापी लोग पूजा के नाम पर आनन्दपूर्वक बैठकर मास और मदिरा का सेवन करते है। ऐसे पापियो की मुक्ति सम्भव नही, उन्हे करोडो नरको की यातनायें पड़ती है।

विशेष—कबीर का इगित यहाँ शाक्तो की ओर है जो भैंसे व बकरे आदि की बलि चढाकर मदिरा का सेवन करते है।

सकल वरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहि।
हरि दासनि की भ्रांति करि, केवल, जमपुरि जांहि ॥१४॥

शब्दार्थ—सकति=शक्ति।

शाक्त शक्ति की पूजा बलि देकर करते है और फिर समस्त वर्णों के सदस्य उसे प्रसाद रूप मे ग्रहण कर खाते हैं। लोग व्यर्थ, भ्रमवश, अपने को प्रभु-भक्त समझते हुए नरक मे जाने का मार्ग अपनाते है।

कबीर लज्या लोक की, सुमिरै नांही साच।
जानि बूझि कंचन तजै, काठा पकड़ै काच ॥१५॥

शब्दार्थ—लज्जा=लाज।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य लोकलाजवश कुरीतियो का पालन करता है एव सत्य को विस्मृत कर दता है। इस प्रकार जान-बूझकर वह स्वर्ण रूपी प्रभु-भक्ति का परित्याग कर काच, मिथ्या आचरणो को अपनाता है।

कबीर जिनि जिनि जांणियां, करता केवल सार।
सो प्रांणीं काहै चलै, झूठे जग की लार ॥१६॥

शब्दार्थ—जिनि-जिनि=जिन्होने। करता=कर्ता, ब्रह्म। लार=पक्ति।

कबीर कहते हैं जिन-जिन लोगों ने यह जान लिया कि इस सृष्टि मे ब्रह्म ही सब कुछ है वे मोह मे पडकर इस मिथ्या ससार के अनुकूल आचरण नही करते।

झूठे कौ झूठा मिलै, दूणां बधै सनेह।
झूठे कूं सांचा मिलै, तब ही तूटै नेह ॥१७॥४२५॥

शब्दार्थ—दूणां=दुगुना। बधै=बढता है। तूटै=टूट जाता है। नेह=प्रेम।

यदि मिथ्याचारी को मिथ्याचारी ही मिल जाय तो दोनो में दुगुना प्रेम बढ़ जाता है। किन्तु यदि झूठे शिष्य को सच्चा सद्गुरु मिल जाय तो उसका संसार से प्रेम सम्बन्ध टूट जाता है और माया-मोह दूर हो जाता है।

★

२३. भ्रम विधौंसण कौ अंग

अंग-परिचय—इस ससार के प्राणी अनेक प्रकार के भ्रमो से ग्रस्त है। कबीर ने इस अग मे उनमे से कुछ भ्रमो का वर्णन करते हुए मनुष्यो को चेतावनी दी है कि वे इनसे छुटकारा पा ले, यदि वे अपनी मुक्ति चाहते हैं।

सबसे पहले कबीर ने मूर्ति-पूजा का खडन किया है। वे कहते है कि इस ससार के प्राणी भी कितने मूर्ख है जो पत्थर को भगवान् मानकर उसकी पूजा करते है। उन्होने अपने ढोग से समस्त पृथ्वी पर पत्थरो की मूर्तियो को प्रस्थापित कर दिया है और घोषणा करते हैं कि उन्होने मुक्ति का मार्ग ढूढ निकाला है। यह सब भ्रम है और इससे जीवन्मुक्त न होकर मनुष्य जीवन के बधनो मे और अधिक बँधता जाता है। जो मूर्ति वोल नही सकती, उसे पूजने से किस प्रकार लाभ हो सकता है। मूर्ति की पूजा करने से मन का सन्ताप दूर नही होता, वल्कि.पुजारी इस प्रकार माया के आकर्षणो मे सलग्न रहता है जिस प्रकार काला वस्त्र ओढकर मनुष्य कुकर्म करता रहे और स्वय को धर्माचारी कहलाने का दावा करे।

मूर्ति-पूजा की भाँति तीर्थाटन भी व्यर्थ है। तीर्थ, व्रत आदि बाह्याचार जंगली वेर के समान है जो समस्त ससार पर छाकर उसे अपने प्रभाव से प्रभावित किये हुए है। यह प्रभाव तो उस मिथ्याचार को जन्म देता है जिसका विष सभी लोगो को नष्ट करने वाला है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो तीर्थराज मनुष्य के हृदय में ही विद्यमान है। उसका मन मथुरा, हृदय द्वारकापुरी और समस्त शरीर काशी के समान है। अत यदि मनुष्य मुक्ति प्राप्त करना चाहता तो उसे ये सारे आडम्बर छोड़कर उस भगवान् की सच्चे मन और प्रेम से भक्ति करनी चाहिए जो उसके हृदय में ही रमा हुआ है।

पाहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार।
इही भरोसै जे रहे, ते बूड़े काली धार ॥१॥

शब्दार्थ—पॉहण=पाहन, पत्थर। पूतला=मूर्ति। काली=काल की, मृत्यु की।

कैसा भ्रम है कि ससार पत्थर की मूर्ति को ईश्वर मानकर पूजता है। जा मनुष्य भी इस मूर्ति को प्रभु मानते रहे वे विनाश की काली धारा मे डूब गये।

विशेष उपमा अलकार।

काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट।
पॉहनि बोई पृथमी, पंडित पाड़ी बाट ॥२॥

शब्दार्थ—पृथमी=पृथ्वी। पाडी=निकाली। बाट=राह, मार्ग।

पडितो ने अपने ढोग से समस्त पृथ्वी पर पत्थरो की मूर्तियो को प्रस्थापित कर दिया, इस पर भी वे कहते है कि हमने मुक्ति का मार्ग ढूढ निकाला है। एक पाप

कर यह धोखा देना ऐसा ही है जैसे काजल की कोठरी में काले कर्मो—कुकर्मो—की किवाड़ लगा देना।

विशेष—दृष्टांत अलकार।

पाँहन कु का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आँधा नर आसामुषी, यौंहीं खोवै आव ॥३॥

शब्दार्थ—जाव=जवाव, उत्तर। आंधा=अज्ञानी। आव=पानी, सन्मान।

कबीरदास कहते है कि भला पत्थर को पूजने से क्या लाभ जो जीवनपर्यन्त (चाहे कितनी भी पूजा क्यो न की जाय) कोई उत्तर नही देता। अज्ञानी मनुष्य विभिन्न महत्वाकाक्षाओ के वशीभूत हो पत्थर पूजकर व्यर्थ अपना आत्मसम्मान नष्ट करता है क्योकि वह मनुष्य होकर पत्थर के सम्मुख झुकता है अथवा वह व्यर्थ ही पत्थर पूजने मे जल नष्ट करता है।

हम भी पाँहन पूजते, होते रन के रोझ।
सतगुर की कृपा भई, डारया सिर थैं बोझ ॥४॥

शब्दार्थ—रोझ=खच्चर, गदहे के समान ही भारवाही पशु जो गधे से कुछ वड़ा एव अधिक पुष्ट होता है।

कबीरदास कहते हैं कि जिस भाँति समस्त ससार मूर्ति-पूजा कर रहा है वैसे ही हम करते और रणक्षेत्र मे रसद ढोने वाले खच्चरो के समान ही जीवनभार ढोते हुए होते, किन्तु वह तो सद्गुरु की कृपा हो गई कि उसने (ज्ञानचक्षु प्रदान कर) मूर्तियो का भार सिर से उतार दिया। भाव यह है कि सद्गुरु के उपदेश ने मुझे मूर्तिपूजा के अध-विश्वास से वचा लिया।

जेती देखौं आतमा, तेता सालिगराम।
साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सू कांम ॥५॥

शब्दार्थ—प्रतषि=प्रत्यक्ष।

ससार मे जितने मनुष्य हैं उतनी ही शालिग्राम की मूर्तियाँ (वहुदेवोपासना पर व्यंग्य)। हे मूर्खो! साधु ही साक्षात् देवता है, पत्थर की पूजा न कर उसकी संगति करो।

सेवैं सालिगराम कू, मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सुपनैं नहीं, दिन दिन अधकी लाइ ॥६॥

शब्दार्थ—भ्राति=संशय, दुख, क्लेश। अवकी=अधिक।

शालिग्राम (मूर्ति) पूजा से मन का सन्ताप दूर नही हो सकता। इस पत्थर पूजा से शान्ति तो स्वप्न मे भी प्राप्त नही होती, दिन-प्रतिदिन हृदय का दाह वढ़ता जाता है क्योकि मनोकामना पत्थर-पूजा से पूर्ण नही होती, असफल होने पर वेदना ही हाथ आती है।

सेवैं सालिगराम कूं, माया सेती हेत।
वोढैं काला कापड़ा, नाँव धरावैं सेत ॥७॥

शब्दार्थ—हेत=प्रेम। वोढ़े=ओढें। सेत=श्वेत।

हे मनुष्य! तू प्रभु मूर्ति की तो पूजा करता है एवं माया आकर्षणों में संलिप्त रहता है। तू कुकर्मो का काला वस्त्र ओढ़कर भी धर्माचारी (श्वेत, सेत) कहलाने की कामना करता है?

जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ व्रत बेसास।
सूवै सैंबल सेविया, यौं जग चल्या निरास ॥८॥

शब्दार्थ—थोथरा=थोथा, निस्सार, व्यर्थ। सूवै=सुआ, शुक्र, तोता। सेवल=सेवल एक वृक्ष विशेष जिसका फल बडा आकर्षक होता है, तोता अपनी चोंच मारकर जब उसे फोडता है तो वह खोखला निकलता है, बेचारा तोता निराश हो जाता है।

कबीरदास कहते है कि जप-तप, तीर्थ, व्रत एव विभिन्न देवताओं में विश्वास सब निस्सार दृष्टिगत होता है। इनके ऊपर आश्रित व्यक्ति अत मे उसी प्रकार निराश होता है जैसे तोता सेवल के फल के ऊपर आश्रित रहकर निराश होता है।

विशेष—उपमा अलकार।

तीरथ त सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाइ।
कबीर मूल निकंदिया, कौंण हलाहल खाइ ॥९॥

शब्दार्थ—बेलडी=जगली वेल से तात्पर्य है जो अन्य वनस्पति को आच्छन कर जकड-सा लेती है।

तीर्थ, व्रत आदि वाह्याचार सव जगली बेल के समान है जो समस्त ससार पर छाकर उसे अपने प्रभाव मे किये हुए है। कबीर ने इस मिथ्या बाह्याचार रूपी लता को समूल नष्ट कर दिया, भला उसके विषाक्त फलो को कौन खाता? भाव यह है कि बाह्याचार से उत्पन्न दु:खो को कौन भोगे।

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाँणि।
दसवाँ द्वारा देहुरा, तामै जोति पिछाँणि ॥१०॥

शब्दार्थ—दसवाँ द्वारा=दशम द्वार, ब्रह्मरन्ध्र।

कबीरदास कहते हैं कि व्यर्थ इधर-उधर तीर्थो में भटकने की आवश्यकता नही है। मनुष्य का मन ही मथुरा है हृदय द्वारकापुरी एव समस्त शरीर को ही काशी जानो जिसमे ब्रह्मरन्ध्र ही मन्दिर का द्वार है, वहा अपनी शक्तियाँ केन्द्रित कर निरंजन पुरुष की ज्योति से साक्षात्कार करना ही श्रेय है।

विशेष—१. (अ) मथूरा—भगवान् कृष्ण की जन्म-भूमि, वही उन्होने कंस का सहार किया, हिन्दुओ का तीर्थ स्थल।

(ब) द्वारिका—भगवान् कृष्ण का मथुरा के पश्चात् निवास स्थान। 'कबीर बीजक' मे इसका उल्लेख इस प्रकार है—

द्वारावती—"यहाँ श्री कृष्णचन्द्र जरासध के उत्पातो के कारण मथुरा छोड़ कर जा वसे थे। यही उस समय यादवो की राजधानी थी। पुराणो मे लिखा है

कि कृष्ण के देह-त्याग के पीछे द्वारावती समुद्र मे मग्न हो गई। पोरबन्दर से १५ कोस दक्षिण समुद्र मे इस पुरी का स्थान लोग अब तक बताते हैं। द्वारावती का एक नाम द्वारिका है।

(स) कासी=काशी, हिन्दुओ का प्राचीन तीर्थ स्थल। हठयोगी साधको का विशेष रूप से गढ रहा है।

(२) जोति पिछारिण=हठयोगी साधक मानते है कि ब्रह्म द्वार के भीतर परम पुरुष की ज्योति प्रकाशित होती रहती है, साधक को उसीसे साक्षात्कार करना चाहिए। इसे 'निरजन ज्योति' भी कहा जाता है जिसका अर्थ निरंजन पुरुष की ज्योति है।

(३) रूपक और अनुक्रम अलकर।

कबीर दुनियाँ देहुरं, सीस नवाँवण जाइ।
हिरदा भीतरि हरि बसं तूं ताही सौं ल्यौ लाइ ॥११॥४३६॥

शब्दार्थ—देहुरे=मन्दिर। ल्यौ=ध्यान।

कबीर कहते है कि साधक ससार मन्दिर मे जाकर पूजा करने का व्यर्थ उपक्रम करता है। प्रभु तो हृदय के भीतर निवास करते है तू उसी मे अपनी वृत्तियों को केन्द्रित कर प्रभ-प्राप्ति का प्रयत्न कर।

★

२४. भेष कौ अंग

अग-परिचय—इस अग मे कबीर ने उन लोगो का खण्डन किया है जो वेश तो साधु का बनाये रखते हैं, किन्तु जिनके मन मे विकार भरे रहते है। वे कहते हैं है कि वह मनुष्य ढोगी है, जो हाथ मे माला लेकर तो ब्रह्म का जाप करता रहता है किन्तु जिसका मन सासारिक विषय-विकारो से भरा हुआ होता है। इस प्रकार के आडम्बरपूर्ण जाप से कोई लाभ नही होता। जब तक मन की चंचलता बनी हुई है और वह चारो ओर विषय-भोगो के लिए दौडता फिर रहा है, तब तक माला का जाप करना व्यर्थ है। इस संसार मे ऐसे अनेक मनुष्य दिखाई देते है जो वैसे तो मनसुखी माला धारण किये हुए हैं, किन्तु प्रभु से नाममात्र को भी प्रेम नही करते। वास्तविकता यह है कि सच्ची माला तो मन की है, अर्थात् जब तक मन को वश मे नही किया जाता, तब तक अन्य पूजा और जाप तथा अनेक प्रकार के वेश निरर्थक तथा बेकार है। यदि माला पहनने से प्रभु मिल जाया करता तो सबसे पहले वह अरहट को पिलाता, जो बाल्टियो की माला हर समय धारण किये रहती है।

माला की भाँति केशो का मुडाना भी एक प्रकार का ढोग है। यदि मनुष्य के हृदय मे भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम है, वह सब प्राणियों से निष्कपट और सरल व्यवहार करता है, तो उसे एक न एक दिन भगवान् की प्राप्ति अवश्य हो जायेगी, चाहे वह केश रखे अथवा कटवा डाले। जब तक मन मे विषय और विकार भरे हुए

है, तव तक केशों का रखना अथवा मुडाना व्यर्थ है, क्योकि सच्ची भक्ति केशो को मुडाने अथवा रखने से नही आती, बल्कि मन को विषय-वासनाओ से दूर करने से आती है।

तिलक आदि भी व्यर्थ और आडम्बरपूर्ण हैं। मन अशुद्ध है तो तिलक और छापा लगाने से कोई काम नही चल सकता। बल्कि ऐसा व्यक्ति सांसारिक दुखो से दग्ध होता रहता है।

भ्रम ही समस्त अज्ञान और दुख का कारण है। जब तक मनुष्य का भ्रम दूर नही हो जाता और वह गुरु की कृपा प्राप्त करके भगवान् से परिचय प्राप्त नही कर लेता, तब तक उसे न तो शाति मिलती है और न मुक्ति। जब तक आत्मा का परमात्मा से परिचय नही हो जाता, तब तक साधक के मन मे प्रभु-भक्ति का उल्लास उत्पन्न नही होता और वह काम, क्रोध, मद आदि विकृत भावो से छुटकारा नही पा सकता।

अत आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य बाहरी आडम्बरो को छोडकर सच्चे हृदय से प्रभु की भक्ति करे, तभी उसका कल्याण होगा, मुक्ति मिलेगी।

कर सेती माला जपै, हिरदै बहै डंडूल।
पग तौ पाला मैं गिल्या, भाजण लागी सूल ॥१॥

शब्दार्थ—डडूल – आधी या बवडर। पाला=हिम। गिल्या= गल जाना। सूल=शूल, वेदना।

हे ढोगी! तू हाथ से तो माला फेरता है अर्थात् बाह्य प्रदर्शन द्वारा भक्तात्मा होने का स्वाँग भरता है वैसे तेरे हृदय मे विषय-वासनाओ का बवंडर खड़ा रहता है। अब इस विषय-वासना मे पडे रहकर अपना पैर गला यदि तू यह समझे कि इससे वेदना दूर हो जायेगी तो यह मूर्खता होगी।

कर पकरैं अंगुरी गिनैं, मन धावै चहुँ वोर।
जाहि फिरांयां हरि मिलैं, सो भया काठ की ठोर ॥२॥

शब्दर्थ—गिनैं=गिनना, गणना करना। वोर=ओर। फिराया=वृत्ति दूसरी ओर करने से। काठ की ठोर काष्ठवत् जड जिस पर उपदेश आदि का कुछ प्रभाव ही नही पडता।

हे ढोगी? तू हाथ मे माला लेकर अगुलियो से उसके मनकाओ को गिनता रहता है और तेरा मन अन्यत्र भटकता रहता है। जिस मन को ससार से विमुख कर प्रभु-भक्ति मे लगाने से प्रभु मिलते वह मन तो बाह्याचारो एव विषय-वासनाओ मे पडकर काष्ठवत् जड हो गया है, अब प्रभ-भक्ति किसके द्वारा की जाय।

माला पहरैं मनसुषी, ताथैं कछु न होइ।
मन माला कौं फेरतां, जुग उजियारा सोइ ॥३॥

शब्दार्थ—मनसुषी=एक प्रकार की माला का नाम।

हे साधक ! तू इस (काष्ठ की) माला को व्यर्थ घुमा रहा है, इससे कुछ लाभ नही होने का। यदि तू मन रूप माला को फेर दे, मन को मायाजन्य आकर्षणों एव विषय-वासना से परिपूर्ण ससार से हटाकर प्रभु-भक्ति मे लगा दे, तो इहलोक और परलोक दोनो प्रकाशित हो जायेगे।

विशेष—रूपक अलकार।

माला पहरे मनमुषी, वहुतै फिरैं अचेत।
गाँगी रोलै वहि गया, हरि सूं नांहीं हेत ॥४॥

शब्दार्थ—अचेत=असावधान, अज्ञानी। गागी=गगा के। रोलै=धारा प्रवाह। हेत=प्रेम, भक्ति।

इस ससार मे मनमुखी माला धारण कर घूमने वाले अज्ञानी बहुत से है। जिन्होने प्रभु से प्रेम नही किया वे तो ऐसे ही है जैसे कोई गगा के पास स्नान के लिए आकर उसके प्रवाह मे वह जाय।

कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावै आपणां, कहा फिरावै मोहि ॥५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हे साधक ! यह काष्ठ की जड माला तुझे समझाती है कि मुझे फिराने से क्या लाभ, अपना मन ससार की ओर से फिराकर प्रभु-भक्ति की ओर क्यो नही करता।

भाव यह है कि साधक ! माला फिराना सच्ची साधना नही, संसार से चित्तवृत्ति को हटा प्रभु मे केन्द्रित करना ही सच्ची भक्ति है।

कबीर माला मन की, और संसारी भेष।
माला पहर्यां हरि मिलै, तौ अरहट कै गलि देष ॥६॥

शब्दार्थ—भेप=दिखावा, प्रदर्शन मात्र। अरहट=रहट, पानी निकालने वाला कुए मे लगा हुआ सिंचाई का एक यन्त्र विशेप जिसमे वाल्टियो की माला होती है।

कबीर कहते है कि वास्तविक माला तो मन की ही है जिसे ससार से फिराकर प्रभु-भक्ति मे लगाना है और सब मालाए (मनमुखी, चन्दनादि की) तो सांसारिक, वाह्य, प्रदर्शन मात्र है। यदि माला के धारण करने मे ही प्रभु-प्राप्ति हो जाती हो तो रहट को भी प्रभु-प्राप्ति हो जाती।

माला पहर्यां कुछ नहीं, रुल्य मूवा इहि भारि।
बाहरि ढोल्या हींगलू, भीतरि भरी भँगारि ॥७॥

शब्दार्थ—रुल्य=दबा कर। मूवा=मरना। ढोल्या=ढोने, भार ढोने से तात्पर्य है। हीगलू=भगवा रगे हुए चोले, जिन्हे साधु धारण करते हैं। भंगारि=विषय-वासनाओ की गन्दगी।

माला धारण करने से प्रभु-भक्ति सिद्ध नही होती, व्यर्थ शरीर ही इसके भार से दबकर मरता है। हे साधक ! इस बाह्य वेश-भूषा के आडम्बर से साधु बनने से क्या लाभ, तेरे मन मे तो विषय-विकारो की गन्दगी भरी हुई है।

माला पहर्यां कुछ नहीं, काती मन कै साथि।
जब लग हरि प्रगटै नहीं, तब लग पड़ता हाथि ॥८॥

शब्दार्थ—काती=माया-आकर्षणो की कतरनी, कतर-ब्यौंत।

जब तक मन विषय-वासना के क्षेत्र मे कतरव्यौत करता रहेगा तब तक माला पहनकर प्रभु भक्ति का आडम्बर करने से क्या लाभ। माला की मनकाओ पर तो हाथ तभी तक पडता है जब तक प्रभु दिखाई नही देते, क्योंकि उनके प्रेममय स्वरूप के सम्मुख इन बाह्य-मिथ्याचारो का अस्तित्व कहाँ ?

माला पहर्यां कुछ नही, गांठि हिरदा की खोइ।
हरि चरनूं चित राखिये, तौ अमरापुर होइ ॥९॥

शब्दार्थ—गाठि=माया-जनित, द्वैत-भावना। अमरापुर=अमरपुरी, स्वर्ग, कबीर का तात्पर्य मुक्तात्माओ के लोक से है।

हे साधक ! माला धारण करने से क्या लाभ, तू अपने हृदय के मायाजनित द्वैत को दूर कर दे। यदि तू प्रभुचरणो मे अपना चित्त लगाये रखेगा तो निश्चय ही मुक्तात्माओ के लोक मे पहुच जायगा।

माला पहर्यां कुछ नहीं, भगति न आई हाथि।
माथो मूंछ मुंडाइ करि, चल्या जगत कै साथि ॥१०॥

शब्दार्थ—सरल है।

माला धारण करने से कोई लाभ नही, उससे भक्ति की प्राप्ति भी सम्भव नही। हे साधक ! तू शीश और मूछ मुडवा कर ढोगी ससार के समान साधु होने का स्वाग करता है भला—

"मूड़ मुंडाये हरि मिलै, तो सब कोइ लेय मुडाय।"

सांई सेंती सांच चलि, औरां सूं सुध भाइ ॥
भावै लंबे केस करि, भावै घुरडि मुड़ाइ ॥११॥

शब्दार्थ—साँच चलि=सच्चा आचरण कर। सुध भाई=सुधिपूर्वक, सरल और निष्कपट व्यवहार। भावै=रुचिकर हो।

हे मनुष्य प्रभु के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर एव अन्य सांसारिक प्राणियो से भी सरल और निष्कपट व्यवहार रख, साधु होने के लिए यही पर्याप्त एव वाछनीय है। इतना करने के पश्चात् फिर चाहे तो लम्बे-लम्बे केश धारण कर जटा बनाओ या सिर मुडा कर रहो उससे कोई अन्तर नही पड़ते।

केसों कहा बिगाड़िया, जे मूंडै सौ बार।
मन कौं काहे न मूंडिए, जामै बिषै बिकार ॥१२॥

शब्दार्थ—केसो=वालो ने।

कबीरदास कहते हैं कि भला इन बालो ने क्या अहित किया जो इनको बारम्बार मुंडा देता है। तू अपने मन को विषय विकारो के प्रभाव से हटाकर स्वच्छ क्यो नही करता ? यह मन ही तो विषय वासनाओ का केन्द्र है।

मन मैंवासी मूडि ले, केसौं मूंडे कांय।
जे कुछ किया सुमन किया, केसो कीया नांहि ॥१३॥

शब्दार्थ—मैंवासी=मदमस्त या डाकू।

हे साधु ! तू बारम्बार शीश क्यो मुंडाता है मन रूपी डाकू को क्यो नही मूंडता, स्वच्छ करता। जो कुछ भी पाप कर्म किये है वे मन ने किये हैं, केशों ने नही।

विशेष—रूपक अलकार।

मूंड मुंडावत दिन गए, अजहूँ न मिलिया राम।
रांम नांम कहु क्या करैं, जे मन के औरैं कांम ॥१४॥

शब्दार्थ—दिन गए=आयु का समय व्यतीत हो चला।

शीश मुंडाते-मुंडाते आयु व्यतीत हो गई, किन्तु आज तक प्रभु-दर्शन नही हुए। लोग कहते है कि राम-नाम से भी शान्ति प्राप्त न हुई। भला बताइये कि राम-नाम के जिह्वा से उच्चारण मात्र से क्या हो सकता है, जब कि मन तो अन्य आकर्षणो मे उलझा रहता है।

स्वांग पहरि सोरहा भया, खाया पीया खूंदि।
जिहि सेरी साधू नीकले, सो तौ मेल्ही मूंदि ॥१५॥

शब्दार्थ—स्वाग पहरि=चमक-दमकपूर्ण बाह्य वेश-भूषा। सोरहा=सुन्दर। खूंदि=कूद-कूदकर, आनन्दपूर्वक। सेरी=गली, मार्ग। मेल्ही मूंदि=बन्द कर ली।

हे मनुष्य ! चमक-दमक पूर्ण बाह्य वेश-भूषा धारण कर आनन्दपूर्वक खाने-पीने मे ही मदमस्त बना रहा। हे मूर्ख ! अपने इस व्यवहार से तूने अपने लिए उस मार्ग को बन्द कर लिया जिस पर साधुजन सचरण करते है।

बैसनौं भया तौ का भया, बूझा नही बवेक।
छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ॥१६॥

शब्दार्थ—बैसनो=वैष्णव। बूझा=प्राप्त किया। बवेक=ज्ञान। दगध्या=जल चुका है, दुखित हो चुका है।

छापा-तिलक आदि लगाकर यदि तूने वैष्णव वेष धारण कर लिया तो इससे क्या लाभ ? इस बाह्याडम्बर को धारण कर (हृदय मे प्रभु प्रेम न होने पर) संसार से मुक्त नही हुआ वह सासारिक तापो मे दग्ध होता रहा। भाव यह है कि बाह्याचार, वेषभूषा, प्रधान नही है, वैष्णव का सच्चा गुण प्रभु-भक्ति, आन्तरिक प्रेम ही है।

तन कौं जोगी सब करै, मन कौं बिरला कोइ।
सब बिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होइ ॥१७॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास कहते है कि वाह्याडम्बर से शरीर को तो सब योगी बना सकते है किन्तु मन को ससार से विरक्त कर योगी वनाना बिरलो के लिए ही सम्भव है। जिसका मन योगी होता है उसे सब सिद्धिया स्वयं प्राप्त हो जाती है।

विशेष—मन को ससार से विरक्त कर समस्त सिद्धिया प्राप्त करने की बात कबीरदास जी ने इसलिये कही है कि ससार से तटस्थ, निर्लिप्त मन प्रभु भक्ति मे लगेगा, और प्रभु-भक्ति समस्त सिद्धि की दाता है ही अत भक्ति ही कबीर का प्रमुख सम्बल है।

कबीर यहु तौ एक है, पड़दा दीया भेष।
भरम करम सब दूरि करि, सबही मांहि अलेष ॥१८॥

शब्दार्थ—यहु तौ=आत्मा और परमात्मा। अलेष=देख।

कबीरदास जी कहते हैं कि आत्मा और परमात्मा एक है, माया-आवरण के कारण ही ससार मे जीव और ब्रह्म की सत्ता पृथक् पृथक् प्रतिभासित होती है। द्वैत का मुख्य, एकमात्र कारण माया-आवरण ही है। हे जीवात्मा! तू ससार-संशय एव उससे परिचालित कर्मों का परित्याग कर दे तो तुझे सर्वत्र वह निराकार प्रभु ही दृष्टिगत होगा।

भरम न भागा जीय का, अनंतहि धरिया भेष।
सतगुर परचै बाहिरा, अतरि रह्या अलेष ॥१९॥

शब्दार्थ—भरम=भ्रम, सशय। जीय=हृदय। भेष=शरीर, जो उसने विभिन्न जन्म-जन्मान्तरो मे ग्रहण किये थे।

हे जीवात्मा! तू सख्यातीत योनियो मे भटक रहा है फिर भी तेरा संसार-संशय दूर नही होता। जिसे मनुष्य विभिन्न योनियो मे भटककर न पा सका, उसी अलख ब्रह्म को सद्गुरु ने बाह्य परिचय मात्र से ही पहचान लिया।

जगत जहंदम राचिया, झूठी कुल की लाज।
तन विनसैं कुल बिनसि है, गह्यौ न राम जिहाज ॥२०॥

शब्दार्थ—जहदम=जहन्नुम, नरक, राचिया=सृजा, बनाया है। तन=शरीर, यहाँ जन्म से तात्पर्य है।

ससार मे झूठे कुल-गौरव की प्रतिष्ठा के लिए नरक की सृष्टि हो रही है। इस शरीर, जन्म के नष्ट होते ही समस्त कुल-गौरव नष्ट हो जायेगा। इसीलिए हे मूर्ख! तू ससार-सागर से पार जाने के लिए राम-नाम रूपी नौका का सम्बल क्यों नही पकड़ता?

विशेष—रूपक अलकार।

पष ले बूडीं पृथमीं, झूठी कुल की लार।
अलप बिझायौं भेष मैं, बूडे काली धार ॥२१॥

शब्दार्थ—पप=पक्ष। पृथमी=पृथ्वी, ससार।

समस्त ससार कुल-गौरव की आड मे मिथ्या अहं का प्रदर्शन कर व्यर्थ नष्ट हो गया। वाह्य-वेपभूपा के आडम्बर मे पूर्ण ब्रह्म को विस्मृत कर ढोंगी लोग काल-प्रवाह मे नष्ट हो गये।

चतुराई हरि नां मिलै, ए वातां की वात।
एक निसप्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ ॥२२॥

शब्दार्थ—ए वाता की वात=सौ वातों की वात, मार तत्व, वास्तविकता। निसप्रेही= निस्पृह, निष्काम।

वास्तविक वात यह है कि प्रभु की प्राप्ति चतुराई (ज्ञान) से नही हो सकती। निस्पृह, निष्काम एव निराश्रय भक्त को ही प्रभु अपनाते हैं।

नवसत साजे कांमनीं, तन मन रही सँजोइ।
पीव कै मनि भावै नहीं, पटम कीयें क्या होइ ॥२३॥

शब्दार्थ—नवसत=नौ+सात=सोलह। साजे=शृगार। पटम=शृगार-सज्जा, मडन आदि।

कामिनी यदि सोलह शृगारो से सुशोभित हो तन मन को सुसज्जित करके प्रिय के सम्मुख जाय और तो भी प्रिय को सुन्दर न लगे तो फिर भला ऐसे शृगार मण्डन से क्या लाभ ? भाव यह है कि वाह्य-वेपभूपा का आडम्वर प्रभु को प्रसन्न नही कर सकता उसके लिए तो अमित प्रेम-परिपूर्ण स्वच्छ हृदय की भक्ति की ही आवश्यकता है।

विशेष—सोलह शृगार—(१) शौच (२) उवटन (३) स्नान (४) केश-वन्धन (५) अगराग (६) अञ्जन (७) जावक (महावर) (८) दन्त-रञ्जन (९) ताम्वूल (१०) वसन (११) भूपण (१२) सुगन्ध (१३ पुष्पहार (१४) कुंकुम (१५) भाल तिलक (१६) चिवुक-विन्दु।

जब लग पीव परचा नहीं, कन्यां कँवारी जांणि।
हथ लेवा हौंसै लिया, मुसकाल पड़ी पिछांणि ॥२४॥

शब्दार्थ—परचा=परिचय, साक्षात्कार से तात्पर्य है।

जिस भाति जव तक कुमारिका का प्रियतम से साक्षात्कार नही होता (चाहे विवाह हो जाय) तव तक वह कुआंरी ही कहलाती है, उसी प्रकार जव तक आत्मा का प्रभु से साक्षात्कार नही होता तो वह कुआरी ही कहलाती है चाहे प्रभु-प्राप्ति के (भक्ति) मार्ग पर वह चल पडे। जिस प्रकार वर कन्या का पाणिग्रहण तो वडे उल्लासपूर्वक करता है, किन्तु तदनन्तर जीवन की विषम परिस्थितियां अनेक कठिनाइया उपस्थित कर देती है उसी भाँति आत्मा प्रभु-भक्ति मार्ग पर अग्रसर तो वड़ी प्रसन्नता से हुई, किन्तु वाद मे साधना की विकटता उसे विचलित करती है।

कबीर हरि की भगति का, मन मैं षरा उल्हास ।
मैवासा भाजै नहीं, हूँण मतै निज दास ।।२५।।

शब्दार्थ—षरा=बहुत । उल्हास=उल्लास आनन्द । मैवासा=चोर, अह का दर्प ।

कबीर कहते है कि साधक के मन मे प्रभु-भक्ति का बडा उल्लास है। किन्तु अहदर्प रूप चोर हृदय से नही भागता और वह अपना प्रभाव भक्त पर डालकर उसे पथ-विचलित करना चाहता है ।

मैवासा मोई किया, दुरिजन काढ़े दूरि ।
राज पियारे रांम का, नगर बस्या भरिपूरि ।।२६।।४६२।।

शब्दार्थ—सरल है ।

साधक कहता है कि मैंने अह रूपी चोर को मार दिया है एव काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह रूपी दुर्जनो को दूर कर दिया है । अब मेरे अन्तर-बाह्य मे प्रभु का ही राज्य रहता है, उसी की भक्ति से परिचालित होकर समस्त कार्य होते है ।

२५. कुसंगति कौ अंग

अंग-परिचय—कुसगति साधना मे सबसे बडी बाधक है। जब तक व्यक्ति कुसगति मे रहता है, तब तक उसके मन पर कुसगति का ही प्रभाव बना रहता है और यही प्रभाव मनुष्य को हरि-भक्ति की ओर नही चलने देता । इसीलिए प्रस्तुत अग मे कबीर ने कुसगति के दुर्गु णो का विस्तार से वर्णन करते हुए यह बताया है कि मनुष्य को कुसगति से सदा दूर रहना चाहिए ।

कुसगति का कुप्रभाव बताते हुए कबीर ने कहा है कि स्वाति नक्षत्र की स्वच्छ बूद जब पृथ्वी पर आकर गिरती है तो उसके कुप्रभाव से वह मैली हो जाती है, इसलिए व्यक्ति को कभी भी मूर्ख का सग नही करना चाहिए, क्योकि उससे किसी भी दशा मे कोई लाभ नही हो सकता, जिस प्रकार लोहा पानी मे नही तैर सकता । बल्कि उसका सग भावो को इसी प्रकार विकृत कर देता है जिस प्रकार स्वाति की बूंद सर्प के मुख मे गिर जाने पर विष बन जाती है । केला के पास मे यदि कोई काँटेदार झाडी उग आये तो वह केले के पत्तो को चीर देती है । कुसगति इतनी बुरी होती है कि यदि इसे मृत्यु का नाम दे दिया जाये तो अनुचित न होगा । जिस प्रकार मक्खी गुड़ से चिपक जाने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार व्यक्ति भी कुसगति मे पड़कर नष्ट हो जाता है । अतः साधक को सदैव कुसगति से बचना चाहिए ।

निरमल बूंद अकास की, पड़ि गई भोमि बिकार ।
मूल बिनंठा मांनवी, बिन संगति भठछार ।।१।।

शब्दार्थ—भोमि=भूमि, पृथ्वी । विनठा=विनष्ट । मानवी=मनुष्य । भठछार=भट्टी की राख ।

जिस प्रकार वर्षा की निर्मल बूद आकाश से पृथ्वी पर गिरकर विकृत हो जाती है। (गन्दले पानी के रूप मे वहती है) उसी प्रकार मनुष्य भी सत्सग के अभाव मे समूल नष्ट हो भट्टी की राख के समान व्यर्थ हो जाता है।

विशेष—उदाहरण अलकार ।

मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ ।
कदली सीप भवंग मुषीं, एक बूंद तिहूँ भाइ ॥२॥

शब्दार्थ—मूरिष=मूर्ख । भवंग=भुजग, सर्प । तिहु भाइ=तीन रूप ।

कवीर कहते है कि कभी भी मूर्खों का साथ नही करना चाहिए, जिस प्रकार लोहा जल पर नही तैर सकता उसी भाँति ये जड, अज्ञानी भी सद्विचारो को नही अपना सकते । यह सगति का ही प्रभाव है कि एक स्वाति बूंद विभिन्न सगतियो मे पड़कर विभिन्न रूप धारण करती है, यदि वह केले मे पडती है तो कपूर वनती हैं, सीप मे पडकर मोती वन जाती है और वही सर्प के मुख मे पडकर विष वन जाती है।

विशेष—यही भाव रहीम के इस पक्ति मे है—

'कदली सीप भुजग-मुख स्वाति बूद गुन तीन ।'

हरिजन सेती रूसणाँ, संसारी सूं हेत ।
ते नर कदे न नीपजैं, ज्यूं कालर का खेत ॥३॥

शब्दार्थ—सेती=से । रूसणां=अप्रसन्न होना । हेत=प्रेम । नीपजै= पल्लवित होने के अर्थ मे, समृद्धि से तात्पर्य । कालर=कल्लर, एक प्रकार की अनउपजाऊ कठोर भूमि, जिसे बन्जर भी कहते है ।

जो लोग प्रभु-भक्तो से अप्रसन्न रहते है और ससार-वद्ध लोगो से प्रेम करते है वे उसी प्रकार कभी समृद्ध नही होते जिस प्रकार वन्जर भूमि मे कुछ नही उगता । अथवा ऐसे लोगो मे कभी भी भक्ति का आविर्भाव नही होता जिस प्रकार कल्लर खेत मे कुछ नही उपजता ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

मारी मरूं कुसंग की, केला काँठै बेरि ।
वो हालै वो चीरिये, सापित संग न वेरि ॥४॥

शब्दार्थ—काठै=पास, समीप । वेरि=एक पेड विशेष जिसमे काटे होते है । हालै=हिलना । चीरिये=फाडना । साषित=शाक्त । नवेंर=निवारण ।

आत्मा प्रभु से कहती है कि मै कुसगति से उसी प्रकार दुखी हू जिस प्रकार पास मे खडे वेरी के वृक्ष से केला । वेरी-वृक्ष जव पूर्ण स्वच्छन्दता से हिलता है तो उसके कांटे केले के पत्तो को चीर देते है उसी भाति मैं भी यहाँ शाक्तो की कुसगति मे पडकर मैं दुखित हू, अत इन्हे दूर करो।

मेर नींसांणी मीच की, कुसगति ही काल।
कबीर कहै रे प्राणियां, बांणी ब्रह्म सँभाल ॥५॥

शब्दार्थ—मेर= अह। प्राणिया=प्राणी।

कबीर रहते है कि अहं ही मृत्यु का चिह्न है एव कुसगति तो मृत्यु ही है। इसीलिए हे प्राणी! तू वाणी द्वारा प्रभु भजन कर।

माषी गुड़ मै गडि रही, पंष रही लपटाइ।
ताली पीटै सिरि धुनैं, मीठैं वोई माइ ॥६॥

शब्दार्थ—माषी=मक्खी। ताली पीटै=पख फड़फड़ाती है। वोई=उत्पन्न होने के अर्थ में। माइ=माया।

कबीर कहते हैं कि आत्मा रूपी मक्खी माया रूपी गुण मे चिपक गई है, जिस प्रकार मक्खी के पख भी गुण मे गड जाने पर वह उड़ने मे असमर्थ होती है उसी भाति आत्मा भी माया मे पूर्ण सलिप्त हो भवबन्धन से नही छूट पाती। चाहे मक्खी रूपी आत्मा कितना भी प्रयत्न करे, किन्तु वह उससे नही छूट सकती, माया की मधुरता मे ऐसा ही आकर्षण है, जहा माया होगी वहा कभी न छोड़ने वाला आकर्षण अवश्य होगा।

विशेष—रूपक अलकार।

ऊँचे कुल क्या जनमियां, जे करणीं ऊंच न होइ।
सोवन कलस सुरै भर्या, साधूं निंद्या सोइ ॥७॥४६९॥

शब्दार्थ—सोवन=स्वर्ण। सुरै=मदिरा। निंद्या=निंदा करते है।

ब्राह्मण आदि सवर्ण हिन्दुओ पर व्यग्य करते हुए कबीर कहते है कि यदि व्यक्ति के कर्म उच्च नही हैं तो उच्च कुल मे जन्म होने का क्या गौरव? स्वर्ण कलश भी यदि मदिरा से परिपूर्ण है तो साधुजन तो उसकी निन्दा ही करेंगे।

२६ संगति कौ अग

अंग-परिचय—इस अग मे कबीरदास ने यह वताया है कि मनुष्य जैसी सगति मे वैठता है, उस पर वैसा ही प्रभाव होता है। यदि वह अच्छी सगति मे बैठेगा तो उस पर अच्छा प्रभाव पडेगा और यदि वह बुरी सगति मे बैठेगा तो उस पर बुरा प्रभाव पडेगा। किन्तु यह प्रभाव तभी पडता है, जब मनुष्य का मन उस संगति मे रम जाता है। दूसरो के केवल अनुकरण करने से कोई कार्य नही बन सकता। यदि कोई व्यक्ति चाहता है कि वह दूसरो का अनुकरण करके ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर ले, अथवा भक्ति प्राप्त कर ले तो यह उसका निरा भ्रम है, क्योकि देखादेखी न तो प्रभु का परिचय प्राप्त होता है और न भक्ति का रंग चढ़ता है। अत. यदि मनुष्य प्रभु से प्रेम करना चाहता है तो उसे उसकी ओर मनोयोगपूर्वक आकृष्ट होना पडेगा। यदि वह सच्चे मन से प्रभु-भक्ति मे लगा है

तो ससार की कोई भी बाधा उसे उसके पथ से विचलित नही कर सकती, किन्तु जो व्यक्ति माया मे संलिप्त हैं, उससे प्रेम करना इतना ही कठिन है जितना कठिन पत्थर मे टाकी लगाना अथवा हड्डी तोडकर उसकी परीक्षा करना। अत. मनुष्य को सोच-समझकर ही किसी सगति मे बैठना चाहिए, क्योकि जैसी सगति होगी, उस पर वैसा ही उसका प्रभाव पडेगा।

देखा देखी पाकड़ै, जाइ अपरचै छूटि।
बिरला कोई ठाहरै, सतगुर सॉमी मूठि ॥१॥

शब्दार्थ - पाकडै=ग्रहण करता है। अपरचै=अपरिचय, परिचय के बिना। सामी=सम्मुख। मूठि=मुट्ठी, पूरी शक्ति के साथ बाण प्रहार करने के अर्थ मे।

दूसरे के अनुकरण पर ही प्रभु-भक्ति का मार्ग ग्रहण करना अधिक समय तक नही चल पाता। भक्ति-मार्ग (प्रेम-रहस्य) से पूर्ण परिचय न होने के कारण वह छूट जाता है। सद्‌गुरु के उपदेश रूपी पूर्ण शक्ति से छोड़ गये। बाण के सम्मुख प्रभु-भक्ति मार्ग से अनभिज्ञ साधक ठहर नही पाता।

देखा देखी भगति है, कदे न चढई रंग।
विपति पड़्या यूं छाड़सी, ज्यूं कंचुली भवंग ॥२॥

शब्दार्थ—कदे=कभी भी। भवग=सांप।

देखादेखी, अनुकरण मात्र से ही (हृदय मे प्रेम न होने पर) कभी भी सच्ची भक्ति नही हो सकती। साधना मार्ग मे जब विकट स्थिति आती है तो ऐसे सच्चे साधक भक्ति को क्षणभर मे ऐसे ही त्याग देते है जैसे सर्प केचुली को। भाव यह है कि उनके लिए भक्ति बाहर से लादा हुआ एक निर्मोक मात्र होती है, हृदय के सहज प्रेम से उद्‌भूत नही।

करिए तौ करि जांणिये, सारीषा सूं संग।
लीर लीर लोई थई, तऊ न छाड़ै रंग ॥३॥

शब्दार्थ—सारीषा=अपने समान। लीर-लीर=टुकड़े-टुकड़े। लोई=एक प्रकार का वस्त्र-विशेष। थई=हो गई।

जिससे प्रेम करना है उसे बिलकुल अपने समान ही बना लो जिससे दोनो मिलकर एकमएक हो जाये। लोई को देखो उसने रग को अपने मे ऐसे मिला लिया हे कि चीर-चीर होकर फट जाने पर भी वह अपना रग नही छोड़ती।

विशेष—अनुप्रास अलकार।

यहु मन दीजै तास कौं, सुठि सुवग भल सोइ।
सिर ऊपरि आराम है, तऊ न दूजा होइ ॥४॥

शब्दार्थ—तास कौ=उसको। सेवग=सेवक। आरास=बडई के पास लकडी चीरने का एक औजार, यहां विपत्तियो से तात्पर्य है।

कबीर कहते है कि आप अपना मन अर्थात् प्रेम उसी को प्रदान कीजिये जो प्रभ का सच्चा भक्त हो। वह प्रेम मे इतना दृढ हो गया हो कि चाहे आपत्ति रूपी

आरा उसे चीर ही क्यो न दे, नष्ट ही क्यो न कर दे किन्तु वह अपने पथ से विचलित न हो।

पांहण टांकि न तौलिए, हाडि न कीजै बेह।
माया राता मांनवो, तिन सूं किसा सनेह ॥५॥

शब्दार्थ— पांहण=पत्थर। हाडि=हड्डी। बेह=विदीर्ण करना। राता=अनुरक्त। मानवी=मनुष्य।

जिस प्रकार पत्थर मे टाकी लगाकर तोलना एवं हड्डी को तोडकर परीक्षा लेना कठिन है उसी प्रकार मायासलिप्त व्यक्ति से भी प्रेम करना कठिन है।

भाव यह है कि मायानुरक्त व्यक्ति प्रेम का पात्र नही।

कबीर तासू प्रीति करि, जो निरबाहै ओड़ि।
बनिता बिबधि न राचिये, देषत लागै षोड़ि ॥६॥

शब्दार्थ—निरबाहै=निबाहे। ओडि=अन्त तक। विबधि=समृद्धि व सम्पत्ति के अर्थ मे।

कबीर कहते है कि जिससे जीवन पयन्त प्रेम-निर्वाह हो उसी से प्रेम करना चाहिए (ऐसा एकमात्र पात्र प्रभु ही है) कामिनी और सम्पत्ति मे अनुरक्त नही होना चाहिए, इनके तो दर्शन मात्र से पाप लगता है।

कबीर तन पंषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ।
जो जैली संगति करै, सो तैसे फल खाइ ॥७॥

शब्दार्थ—पषी=पक्षी।

कबीर कहते है कि यह शरीर विषय-वासनाओ की तृप्ति के लिए पक्षी बन गया है, जहां इच्छा होती है वही उड जाता है। यह बुरी सगत का ही परिणाम है, जैसी सगति की है वैसे परिणाम भोगने पडेगे।

काजल केरी कोठड़ी, तैसा यहु संसार।
बलिहारी ता दास की, पै सिर निकसणहार ॥८॥४७७॥

जिस प्रकार काजल की कोठरी मे घसकर कोई वेदाग निष्कलंक नही लौटता वैसा ही यह संसार है जिसमे रहकर विषय-वासनाओं की कालिख थोड़ी बहुत अवश्य लग जाती है। कवीर कहते है कि मैं उस भक्त की बलिहारी जाता हूं जो इससे प्रवेश करके इसके प्रभावो से अछूता ही निकल आता है।

विशेष—उपमा अलकार।

★

२७. असाध कौ अंग

अंग-परिचय—इस अग मे कवीर ने वताया है कि इस ससार मे अनेक ऐसे व्यक्ति है जो वेश तो साधु का धारण किये हुए है, किन्तु मन से असाधु है, अर्थात् उनका मन विपय और विकारो से भरा हुआ है। अत साधन को किसी का उज्ज्वल वेश देखकर ही उस पर विश्वास नही कर लेना चाहिए। ऐसा व्यक्ति उस वगुले के समान होता है जो दिखाई तो ऐसा देता है जैसे वह किसी गहरे ध्यान मे डूवा हुआ हो, किन्तु जव भी कोई मछली उसके पास आती है, वह तुरन्त उसे चट कर जाता है। इसी प्रकार ये वेशधारी साधु जिस व्यक्ति को अपने चगुल मे फँसा लेते हैं, उसे पथ-भ्रस्ट कर देते हैं जिससे वह नाना प्रकार के दुखो और कष्टो को भोगता रहता है। अत किसी भी व्यक्ति की पहले पूरी थाह ले लेनी चाहिए और उसका विश्वास करना चाहिए।

कबीर भेष अतीति का, करतूनि करै अपराध।
बाहरि दीसै साध गति, माहै महा असाध ॥१॥

शब्दार्थ—अतीत=वैरागी।

कवीर कहते हैं कि वेश तो वैरागी के समान धारण किया हुआ है और कर्म पाप-परिपूर्ण है, जो इस प्रकार वाह्यावरण से साधु दृष्टिगत होते है, वे भीतर हृदय मे अनेक कलुषताओ से भरे रहते हैं।

उज्जल देखि न धीजिये, बग ज्यूं मांडै ध्यान।
धोरै बैठि चपेटसी, यूं ले बूड़ै ग्यान ॥२॥

शब्दार्थ—धीजिए=विश्वास कर वैठिए। वग=वक, वगुला। मांडै=मछली। धोरै=पास।

किसी की उज्ज्वल वेश-भूषा देखकर उसके उज्ज्वलमना होने का विश्वास मत कर वैठिए। हो सकता है कि वह मछली की खोज मे एक टाग से चुपचाप खड़े वगुले के समान हो। जिस भाति मछली के पास आन पर वगुला उसको चट कर जाता है उसी भाति वह तुमको अपने पूर्ण सम्पर्क मे लाकर अपने ज्ञान के साथ ही समाप्त न कर दे।

विशेष—सहोक्ति अलकार।

जेता मीठा बोलणां, तेता साध न जांणि।
पहली थाह दिखाइ करि, ऊँडै देसी आंणि ॥३॥५८०॥

शब्दार्थ—थाह=पार पाने योग्य उथला पानी। ऊडै=गहरे पानी मे।

कवीर कहते है कि जितने भी मृदु भाषी हैं उन सवको ही साधु मत समझो। वे लोग ऐसा ही करते है कि पहले उथला जल दिखाकर फिर गहरे पानी मे ले जाकर डुवो देते है।

★

२८. साध कौ अंग

अंग-परिचय—इस अग मे कबीर ने सत्सगति की महिमा का वर्णन किया है। वे कहते है कि साधुओ की सगति कभी भी निष्फल नही जाती और उनकी सगति मे बैठने पर फिर किसी प्रकार के दोष लगने का डर नही रहता, क्योकि चन्दन के वृक्ष को कोई भी नीम के समान कडुआ नही बता सकता। साधु-सगति के विना तीर्थो का भी कोई प्रयोजन नही होता। व्यग्ति चाहे मथुरा जाये, या द्वारिका जाये या जगन्नाथ के दर्शन करे, किन्तु यदि उसकी सगति अच्छी नही है और उसके हृदय मे भगवान् की भक्ति नही है तो उसका तीर्थो पर जाना एकदम बेकार है। जब राम सरीखे माधुओ की सगति मिल जाती है तो मनुष्य के सारे कार्य आप से आप सिद्ध होते चले जाते है। इसीलिए जिस दिन साधु के दर्शन हो जाये, उस दिन को शुभ समझना चाहिए। जिस प्रकार आक और पलास के बीच मे चदन का वृक्ष उग कर उन्हे भी सुगधिपूर्ण बना देता है, उसी प्रकार साधु-सगति बुरे व्यक्ति को भी अच्छा व्यक्ति वना देती है। जो व्यक्ति जान-बूझकर सज्जनो का परित्याग करते है और दुष्टो की सगति प्राप्त करते हैं, ऐसे मनुष्यो के पास भूलकर भी नही रहना चाहिए, क्योकि इनकी सगति सदैव कष्टप्रद और पापो की ओर ले जाने वाली होती है। यह ससार काजल की कोठरी के समान है जिसकी सीमाएँ विषय तथा वासनाओ से घिरी हुई है। इन सीमाओ का लाँघने का, अर्थात् विषय तथा वासनाओ से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय सत्सगति ही है।

कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बांवना, नींब न कहसी कोइ ॥१॥

शब्दार्थ—निरफल=निष्फल। बावना=श्रेष्ठ। नीव=नीम।

कबीर कहते है कि साधु-सगति कभी भी व्यर्थ नही जाती। साधु-सगति से तुम नीम जैसे कडवे से सुशीतल सुगन्धदायी चदन बन जाओगे फिर तुम्हे कोई नीम—कड़वा, बुरा—न कह सकेगा।

विशेष—गोस्वामी तुलसीदास जी भी 'रामचरित मानस' मे सत्सग महिमा का वर्णन इस प्रकार करते है—

"बिनु सत्सग विवेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
सत्सगत मुद मगल· मूला। सोई फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सतसगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई ॥
विधि बस सुजन कुसगत परही। फनि मनि सम निज गुन अनुसरही ॥
बिधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ॥
सो मो सन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे।

कबीर संगति साध की, बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ ॥२॥

शब्दार्थ—दुरमति=दुर्बुद्धि। सुमति=सुबुद्धि।

कबीरदास कहते है कि साधु जनो की सगति शीघ्रातिशीघ्र करो। उससे दुर्बुद्धि का नाश एवं सद्बुद्धि की प्राप्ति होती है।

मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगनाथ।
साध संगति हरिभगति बिन, कछू न आवै हाथ ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि मथुरा द्वारिका जगन्नाथ या अन्य तीर्थस्थल चाहे जहाँ चले जाओ किन्तु साधुसगति और प्रभु-भक्ति के बिना कुछ भी प्राप्ति नही हो सकती।

मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णों एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम ॥४॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास कहते हैं कि मेरे साथी दो ही हैं—एक तो वैष्णव एवं दूसरे प्रभु। प्रभु तो मुक्ति को देने वाले हैं ही, वैष्णव भी प्रभु का नाम स्मरण कर ईश्वर भक्ति मे प्रवृत्त करता है।

कबीर बन बन मै फिरा, कारणि अपणे रांम।
रांम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब कांम ॥५॥

शब्दार्थ—सारे=पूर्ण किये।

कबीर कहते हैं कि अपने प्रभु की खोज मे मैं वन-वन भटकता फिरा। मुझे प्रभु के समान ही प्रभु-भक्त मिल गये, जिन्होने मेरा उद्देश्य सिद्ध कर दिया, मुझे प्रभु से मिला दिया।

कबीर सोई दिन भला, जा दिन संत मिलांहि।
अंक भरे भरि भेंटिया, पाप सरीरौं जांहि ॥६॥

शब्दार्थ—सरीरो=शरीर का।

कबीर कहते हैं कि वही दिवस श्रेष्ठ है, जिस दिन सत-दर्शन हो जाय। उनको प्रेमपूर्वक आलिंगन कर भेंट करने से शरीर के समस्त पाप दूर हो जाते हैं।

विशेष—संगति की महिमा का ऐसा ही वर्णन महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक मे प्राप्त होता है—

"मन्दोऽप्यमन्दतामेति ससर्गेण विपश्चित।
पकच्छिद. फलस्येव निकषेणाविल पय: ॥" (२-७)

"विद्वान् के ससर्ग से मन्दबुद्धि मनुष्य भी बुद्धिमान् हो जाता है। जैसे गन्दा जल मैल को काटने वाली निर्मली के फल के सम्पर्क से शुद्ध हो जाता है।"

कबीर चंदन का बिड़ा, बैठ्या आक पलास।
आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास ॥७॥

शब्दार्थ—बिडा=वृक्ष।

विशेष—(१) अलकार—अन्योक्ति एव तद्गुण ।

(२) कबीर ने आक के साथ पलाश जैसे सुन्दर और सुवासित पुष्प वाले पेड को भी सम्मिलित कर लिया, इसके साथ धतूरा कहा जाता तो सुन्दर था किन्तु कबीर इसके दोषी नही । उन्होने अपने वचनो को दुबारा तो पढा नही न इसकी उन्हे आवश्यकता थी क्योकि उनका एकमात्र प्रयोजन अपने भाव, हृदय मे उमडते हुए सत्य, को बताना था, वह इससे स्पष्ट हो जाता है ।

कबीर खाई कोट की, पाणी पिवै न कोइ ।
जाइ मिलै जब गंग मै, तब सब गंगोदिक होइ ॥८॥

शब्दार्थ—कोट=किला । गगोदिक=गगाजल ।

कबीर कहते हैं कि किले से निकलने वाली गन्दी खाई, नाले का पानी कोई नही पीता है किन्तु जब वही नाला गगाजी मे जाकर मिल जाता है तो पवित्र गगा-जल हो जाता है जिसका सब श्रद्धापूर्वक पान करते हैं ।

विशेष—तुलसी से तुलना कीजिए—

"गगन चढहिं रज पवन-प्रसगा ॥"

जांनि बूझि साचहिं तजै, करै झूठ सूं नेह ।
ताकी संगति राम जी, सुपिनै ही जिनि देहु ॥९॥

शब्दार्थ—जिनि देहु=मत दो ।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! जो जान-बूझकर सज्जनो को परित्याग कर मिथ्याचारियो से सम्बन्ध रखते है उनकी सगति मुझे स्वप्न मे भी मत दो ।

कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तूं बसै ।
नही तर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै ॥१०॥

शब्दार्थ - तास=उससे । हियाली=हृदय । गजन=दुःख ।

कबीर कहते है कि हे प्रभु ! या तू मेरी भेट उनसे करा दे जिनके हृदय मे तेरा निवास है अन्यथा फिर मेरा जीवन ले ले, नित्य-प्रति कुसगति का दुख कौन सहन करता रहे ?

केती लहरि समंद की, कत उपजै कत जाइ ।
बलिहारी ता दास की, उलटी मांहि समाइ ॥११॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते हैं कि इस भवसागर मे कितनी लहरे उठती और गिरती हैं, कितने मनुष्य आवागमन चक्र मे पड जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते है । मै उस भक्त की बलिहारी जाता हू जो जन्म धारण कर प्रभु-भक्ति के माध्यम से ब्रह्म मे लीन हो हो जाता है ।

काजल केरी कोठड़ी, काजल ही का कोट ।
बलिहारी ता दास की, जे रहै रांम की ओट ॥१२॥

शब्दार्थ—सरल है ।

यह ससार काजल की कोठरी के समान है जिसकी सीमाएँ विषय-वासनाओं की कालिमाओं से ही युक्त है। कबीर कहते है कि मै उस प्रभु-भक्त की बलिहारी जाता हू जो ससार मे रहकर भी इसकी वासना-कालिमा से दूर रहता है।

विशेष—उपमा अलकार।

भगति हजारी कपड़ा, तामैं मल न समाइ।
साषित काली काँवली, भावै तहां बिछाइ ॥१३॥४६३॥

शब्दार्थ—हजारी कपडा=वह वस्त्र जिसका मूल्य एक सहस्र रुपये हो, बहुमूल्य से तात्पर्य। साषित=शाक्त, यहा शाक्त सम्प्रदाय या साधना से तात्पर्य।

भक्ति उस बहुमूल्य वस्त्र के समान है जिसमे तनिक सा भी पापरूपी मैल छिप नही सकता। दूसरी ओर शाक्त साधना वाले कम्बल के समान है जिसे चाहो बिछा दो।

भाव यह है कि शाक्त साधना भक्ति-सम्प्रदाय की तुलना मे निकृष्ट है।

२९. साध साषीभूत कौ अंग

अंग-परिचय—वेशधारी साधु तो अनेक मिल जाते हैं, किन्तु सच्चा साधु कोई विरला ही होता है। प्रस्तुत अग मे कबीरदास ने सच्चे साधु के लक्षण बताये है। वे कहते हैं कि सच्चे साधु में किसीके प्रति वैर की भावना नही होती, वह निष्काम भाव से प्रभु की भक्ति मे लीन रहता है, चाहे उसे करोडो असन्त मिल जायँ तो भी वह अपनी साधुता नही छोडता, अर्थात् कुसगति का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ता।

साधु का शरीर क्षीण होता है, क्योकि वह अन्य सासारिक मनुष्यो की भाँति निरंकुश नही होता। वह रात-दिन प्रभु की भक्ति मे लगा रहता है और रात-दिन प्रभु के वियोग मे जल-विहीन मछली की भाँति तड़पता रहता है। वह ज्ञानी होता है, इसलिए उसे अनेक प्रकार की मानसिक अशातियो का सामना करना पड़ता है, उसके हृदय में सदैव प्रभु-विरह की आग जलती रहती है, उसे नित्य अपने मन से द्वन्द्व करना पड़ता है। वह प्रभु-वियोग मे इतना दु खी होता है कि कोई उसके दु.ख को नही जान पाता। कामिनी से विरक्त होना तथा प्रभु के नाम मे अनुरक्त होना ही उसके जीवन का उद्देश्य होता है, क्योकि उसे पता है कि जव तक मन में कामिनी का आकर्षण है, तव तक प्रभु की प्राप्ति असम्भव है। वह अद्वैत भाव से प्रभु की भक्ति करता है, बिना स्वार्थ के ही सवका आदर करता है और उसके मुख पर दिव्य प्रकाश की झलक सदैव झलकती रहती है, क्योकि जिस हृदय के भीतर प्रभु का पदार्पण हो जाता है, उसकी निर्मल ज्योति सदैव भासमान रहती है और छिपाने से कभी भी नहीं छिपती।

ऐसे सच्चे साधु ससार मे विरले ही होते है क्योकि यद्यपि प्रभु की ज्योति सभी के हृदयो में निहित होती है, किन्तु कुछ ही व्यक्ति उस ज्योति की महिमा को समझ पाते है। ऐसे साधुजनो को ही अकस्मात् प्रभु के दर्शन हो जाते हैं।

निरबैरी निह-कांमता, सांई सेती नेह।
बिषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥१॥

शब्दार्थ—निह-कामता=निष्कामत्ता, कामना-विरत होना। विषिया=विषय-वासनाएँ। अग=लक्षण, गुण।

कबीरदास कहते है कि किसी से वैरभाव न रखना, निष्कामना प्रभु-भक्ति, विषयो से पूर रहना यही सन्तो के लक्षण है।

संत न छाड़ै संतई, जे कोटक मिलै असंत।
चँदन भुवंगा बैठिया, तउ सीतलता न तजंत ॥२॥

शब्दार्थ—भुवगा=साँप। तजंत=नही छोडता है।

सन्त करोडो असन्तो के बीच मे रहकर मी अपनी वृत्ति का परित्याग नही कर सकता। चन्दन के वृक्ष पर सर्प लिपटे रहते है तो भी वह अपनी शीतलता नही त्यागता।

विशेष— (१) अर्थान्तरन्यास अलकार।

(२) तुलना कीजिए—

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसग।
चन्दन विष व्यापै नही, लपटै रहत भुजग।

कबीर हरि का भांवता, दूरै थैं दीसंत।
तन षीणां मन उनरनां, जग रूठड़ा फिरंत ॥३॥

शब्दार्थ—भावता=चाहने वाला, भक्त। दीसत=दृष्टिगत होता है। षीणा=वीणा।

कबीरदास कहते है कि प्रभु-भक्त दूर से ही दिखाई दे जाता है। उसका शरीर क्षीण, मन उन्मनी अवस्था मे अर्थात् भीतर ही केन्द्रित एव वह संसार से असम्पृक्त रहता है।

कबीर हरि का भांवता, झीणां पंजर तास।
रैणि न आवै नींदड़ी, अगि न चढ़ई मास ॥४॥

शब्दार्थ—झीणा=क्षीण।

कबीरदास कहते है कि जो प्रभु-भक्त होता है उसका शरीर वडा क्षीण होता है क्योकि वह अन्य सासारिको के समान निरकुश नही होता। प्रभु की भक्ति मे अनुरक्त रहने के कारण उसे रात को नीद नही आती और न वह शरीर से पुष्ट होता है।

अणरता सुख सोवणां, रातै नींद न आइ।
ज्यूं जल टूटै मंछली, यूं बेलत बिहाइ ॥५॥

शब्दार्थ—अणरता=जो अनुरक्त नही है। रातै=जो अनुरक्त हैं। टूटै=समाप्त होने पर। वेलत=तडप-तडप कर।

जो प्रभु में अनुरक्त नही हैं वे सुख की नीद सोते हैं तथा जिनकी वृत्ति प्रभु मे रमी हुई है वे सुख-निद्रा मे सो नही पाते। उनकी अवस्था उस मछली के समान होती है जो जल समाप्त होने पर तड़पती है। वे भी प्रभ-वियोग मे तडपते है।

जिन कुछ जांण्यां नहीं, तिन्ह सुख नींदड़ी विहाइ।
मैंर अवूझी दूझिया, पूरी पडी वलाइ ॥६॥

शब्दार्थ—अवूझी=अज्ञानी। दूझिया=प्रवृत्त होना। वलाइ=विपत्ति।

कवीरदास कहते है कि जिन्होने ज्ञानार्जन का कुछ प्रयत्न नही किया उन्होने सम्पूर्ण आयु सुख-निद्रा मे व्यतीत कर दी। मैं अज्ञानी जव उस ब्रह्म को जानने के लिये साधना मे प्रवृत्त हुआ तो प्रभु-वियोग की यह विपत्ति मेरे गले पड गई।

जांण भगत का नित मरण, अण जांणें का राज।
सर अपसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज ॥७॥

शब्दार्थ—जाण=ज्ञानी। अण जाणें=अज्ञानियो। राज=आनन्द से तात्पर्य। सर अपसर=अवसर-अनवर। पेट-भरण=जीवन की पाशविक वृत्तियों के लिए।

ज्ञानी का तो नित्य मरण है, क्योकि उसे-वियोग मे शत-शत मृत्यु की वेदना को सहन करता पडता है। आनन्द तो केवल अज्ञानियो को प्राप्त है जिन्हे प्रभु-भक्ति से कोई प्रयोजन नही, केवल जीवन की पाशविक वृत्तियो को ही संतुष्ट करने मे उनके कर्तव्य की इति-श्री हो जाती है।

जिहि घटि जांण विनाण है, तिहि घटि आवटणों घणा।
विन षंडै संग्रांम है, नित उठि मन सौं झूझणां ॥८॥

शब्दार्थ—जांण-विनाण=ज्ञान-विज्ञान। आवटणा=औटना, संतप्त होने के अर्थ मे। घणा=अत्यधिक। षंडै=तलवार। झूझणाँ=युद्ध करना।

कवीरदास कहते है कि जिसके हृदय मे ज्ञान-विज्ञान है अर्थात् जो विवेकी है उसके हृदय मे विरह-वह्नि प्रज्वलित रहती है। उसे नित्य प्रति उठकर अपने मन से द्वन्द्व करना पडता है कि वह असद् मार्ग की ओर प्रवृत्त न हो। इस प्रकार बिना तलवार के वहाँ नित्यप्रति युद्ध होता रहता है।

विशेप—विभावना अलकार।

रांम वियोगी तन विकल, ताहि न चीन्हैं कोइ।
तंवोली के पाँन ज्यूं, दिन दिन पीला होइ ॥९॥

शब्दार्थ—चीन्है=पहिचानना।

जो प्रभु-वियोगी होता है उसकी वेदना को कोई नही जान पाता । वह तो तमोली की दूकान पर रखे पान के समान दिन प्रतिदिन पीला होता जाता है ।

विशेष—उपमा अलकार ।

पीलक दौड़ी साँइयां, लोग कहै पिंड रोग ।
छाँनै लंघण नित करै, राँस पियारे जोग ॥१०॥

शब्दार्थ—पीलक=पीलापन । साँइयाँ=प्रभु । पिंड=पीलिया, एक रोग-विशेष जिसमे व्यक्ति दिन-प्रतिदिन पीला पडता जाता है । छानै=क्षीण । लघण=व्रत ।

हे प्रभु ! तुम्हरे वियोग मे पीडित होकर मेरा शरीर दिन-प्रतिदिन पीला पडता जाता है, सब यह कहते है कि इसे पीलिया हो गया है । राम के वियोग मे मै न कुछ खा सकता हू, न पी सकता हू इससे मैं और भी क्षीण होता जाता हूं जिससे प्रियतम से मिलन हो सके ।

काम मिलावै राँम कूं, जे कोई जाँणै राषि ।
कबीर बिचारा क्या करै, जाका सुखदेव बोलै साषि ॥११॥

शब्दार्थ—सरल है ।

यदि कर्मों को उचित रीति से सम्पन्न किया जाय तो कर्म ही प्रभु से मिला देते है । ऐसा कहकर मैं कोई मिथ्या तत्व प्रतिपादित नही कर रहा हू, मेरे कथन की साक्षी तो शुकदेव जी ने भी दी है ।

विशेष—(१) कबीर ने अपने वचनो की आप्तता, आर्णता घोषित करने के लिये स्थान-स्थान पर वैष्णवो के पूज्य ऋषियो एव देवताओ द्वारा अपनी वाणी का समर्थन बताया है ।

(२) **शुकदेव**—"पुराण मे कथा है कि व्यास जी के पुत्र शुकदेव जी माया के डर से १२ वर्ष तक माता के गर्भ मे रहे थे । व्यास जी के बहुत समझाने पर बाहर आये, पर जन्मते ही वन को चल दिये, व्यास जी पुत्र मोह मे विरह-कातर होकर पीछे-पीछे चले । मार्ग मे कुछ ब्रह्मचारी श्रीकृष्ण सम्बन्धी आधा श्लोक पढ़ रहे थे उसे सुनकर शुकदेव जी को पूरा श्लोक जानने की इच्छा हुई । व्यास जी ने कहा मैने अठाहर हजार श्लोक बनाए है । भगवान् व्यास ने पुत्र को सम्पूर्ण पढ़ाया और कहा बिना गुरु के ज्ञान अधूरा रहता है । तुम महाराज जनक से अध्यात्म विद्या प्राप्त कर लो । शुकदेव जी ने पिता की यह आज्ञा स्वीकार कर ली और राजा जनक के पास जाकर ब्रह्म-विद्या प्राप्त की । इन्होंने राजा परीक्षित को भागवत की कथा सुनाई थी ।"

—'कवीर वीजक'

कांमणि अंग बिरकत भया, रत भया हरि नांइ ।
साषी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि माँहि ॥१२॥

शब्दार्थ—कामणी=कामिनी। रत=अनुरक्त।

कामिनी से विरक्त होना एव प्रभु के नाम मे अनुरक्त होना ही श्रेय है। इसके साक्षी गुरु गोरखनाथ है जिन्होने कलियुग मे भी इस आचरण से अमरता प्राप्त कर ली।

विशेष—गोरखनाथ—"ये एक प्रसिद्ध योगी तथा महात्मा थे, नाथ सप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते है। ये तन्त्र विद्या के आचार्य भी थे, इनके बनाये हुए सस्कृत मे ग्रन्थ भी है। नौ नाथ तथा चौरासी सिद्धो मे इनकी गणना है, गोरखपुर मे इनके नाम का मन्दिर भी है।"—कबीर बीजक

जदि बिषै पियारी प्रीति सूं, तब अंतरि हरि नांहि।
जब अंतर हरि जा बसै, तब बिषिया सूं चित नांहि ॥१३॥

शब्दार्थ—बिषै=विषय-वासनाए।

जब तक विषय-वासनाएं प्रभु-भक्ति से अधिक प्रिय हैं तब तक हृदय मे प्रभु का निवास नही हो सकता। जब हृदय मे प्रभु का वास हो जायगा तब मन विषयो मे नही लगेगा।

विशेष—तुलना कीजिए—

"तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहए।"

(विनय पत्रिका)

जिहि घट मैं संसौ बसै, तिहि घटि राम न जोइ।
राम सनेही दास बिचि, तिणां न सचर होइ ॥१४॥

शब्दार्थ—बिचि=मध्य मे। तिणाँ=तृण।

जिस हृदय मे मायाजनित द्वैत-भावना है उसमे प्रभु का वास नही हो सकता। प्रभु एव प्रेमी भक्त मे तो इतनी सी भी दूरी नही होनी चाहिए जो उनके बीच तृण का भी सचार हो सके।

स्वारथ को सबको सगा, जब लगलाही जांणि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि ॥१५॥

शब्दार्थ—सगा=निकट, सम्बन्धी। सगला=सम्पूर्ण।

कबीरदास कहते है कि समस्त ससार स्वार्थ सिद्धि के ही कारण सब को अपना सम्बन्धी बनाता है। यदि कोई बिना स्वार्थ ही के अपना आदर करे तो समझिए कि उसमे प्रभु-भक्ति अवशिष्ट है।

जिहि हिरदै हरि आइया, सो क्यूं छांनां होइ।
जतन जतन करि दाबिये, तऊ उजाला सोइ ॥१६॥

शब्दार्थ—छाना=छिपाना।

जिस हृदय के भीतर प्रभु का पदार्पण हो गया वह कैसे छिपाया जा सकता है, उसकी निर्मल ज्योति सर्वदा भासमान रहती है। चाहे ब्रह्म की उस निरंजन

ज्योति को दबा-दबाकर मनुष्य कितना भी छिपाने का उपक्रम क्यो न करे तो भी उसका प्रकाश प्रकाशित ही होता रहेगा ।

फाटैं दीदैं मैं फिरौं, नजरि न आवै कोइ ।
जिहि घटि मेरा सांइयां, सो क्यूं छांनां होइ ॥१७॥

शब्दार्थ—फाटैं=खोलकर । दीदैं=नेत्र ।

मै नेत्र फाड-फाड कर देख रहा हूं, किन्तु फिर भी कोई प्रभु-भक्त दृष्टिगत नही हो रहा है । जिस हृदय में मेरे स्वामी, ब्रह्म का निवास है वह छिपाया नही जा सकता ।

भाव यह है कि महात्मा अलग से ही दीख जाते है ।

सब घटि मेरा सांइयां, सूनी सेज न कोइ ।
भाग तिन्हौं का हे सखी, जिहि घटि परगट होइ ॥१८॥

शब्दार्थ—घटि=हृदयो मे ।

सर्वत्र सब प्राणियो में प्रभु वसे हुए है, कोई भी हृदय-शय्या उनसे शून्य नही है । हे सखी ! जिसके हृदय मे भी वे उत्पन्न हो गए यह उस जीवात्मा का भाग्य है ।

पावक रूपी रांम है, घटि घटि रह्या समाइ ।
चित चकमक लागै नहीं, तार्थं धूंवां ह्वै ह्वै जाइ ॥१९॥

शब्दार्थ—पावक=आग ।

कबीर कहते है कि प्रभु उस अग्नि के समान है जो भस्मावृत रह प्रत्येक के हृदय मे समायी रहती है, किन्तु उसे चित्त, मन रूपी चकमक पत्थर का स्पर्श नही हो पाता जिससे प्रभु रूपी अग्नि के दर्शन नही होते, इसलिए केवल धुआँ ही धुआँ (विषय-वासनाओं की कालिमा) ही दृष्टिगत होती है । भाव यह है कि चित्तवृत्तियाँ प्रभु मे केन्द्रित होने पर ही उसका दर्शन सम्भव है ।

कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोइ ।
कै जागै विषई विष भर्या, कै दास बंदगी होइ ॥२०॥

शब्दार्थ—खालिक=प्रभु ।

कबीर कहते है कि केवल प्रभु ही जगता है और कोई नही । या जागता है तो विषयी व्यक्ति जागता है जो नाना भोगो मे सलिप्त रहता है या फिर वह प्रभु-भक्त ही जागता है जो भक्ति मे निमग्न रहता है ।

कबीर चाल्यां जाइ था, आगैं मिल्या खुदाइ ।
मींरां मुझ सौं यौं कह्या, किन फुरमाई गाइ ॥२१॥५१४॥

शब्दार्थ—फुरमाई=फरमाना । मीरा=प्रभु, कुछ स्थानो पर भी आज भी मीराँ-नामक देवता की पूजा होती है ।

कबीर कहते है कि मैं यो ही अपनी धुन में मस्त चला जा रहा था कि आगे

प्रभु मिल गये। उन्होंने मुझ से कहा कि तू अपने विचारों को गाकर प्रस्तुत क्यो नही करता ? इसलिए मैं अपने विचारो को गा-गा कर प्रस्तुत कर रहा हू।

३०. साध महिमां कौ अंग

अंग-परिचय—प्रस्तुत अंग मे कबीर ने साधुओं की—सज्जनो—महिमा का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि साधु यदि थोडे में भी हो तो वे उन असाधुओं की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ हैं जिनके गाँव के गाँव बसे हुए हैं। जहाँ पर साधु निवास करते है, वही पर वास्तविक शोभा रहती है। जिस नगर मे साधुओं का निवास नही है, चाहे वह नगर कितना ही सुन्दर और सुशोभित हो, किन्तु वह ऊजड प्रदेश के समान ही समझना चाहिए। इसी प्रकार जिस घर मे साधुओं की सेवा नही होती, वे घर भी श्मशान के समान है। किसी भी धनाढ्य की अपेक्षा उस साधु का दर्जा बहुत बडा है जो निरन्तर प्रभु की भक्ति मे लगा रहता है, चाहे वह भिक्षा माँगकर ही अपनी जीविका चलाता हो। इसी प्रकार राजा की रानी की तुलना मे वह पनिहारी श्रेष्ठ है जो रात-दिन प्रभु की भक्ति में लगी रहती है। वह माता भी धन्य है जिसने प्रभु-भक्त को जन्म दिया है। इसके विपरीत जिस कुल मे किसी प्रभु-भक्त का जन्म नही हुआ है वह कुल कभी भी गौरवशाली नही हो सकता और उसके अस्तित्व का कोई प्रयोजन भी नही होता। इसीलिए प्रभु-भक्ति से विहीन होकर ऊँचे-ऊँचे महलो मे रहना भी अच्छा नही है। वस्तुतः जहाँ साधु होते है, वहाँ स्वयं प्रभु निवास करते है।

चंदन की कुटकी भली, नां बँबूर की अबरांउं।
बैश्नों की छपरी भली, नां साषत का बड गाउं ॥१॥

शब्दार्थ—कुटकी = छोटी सी गठडी से तात्पर्य है। बंबूर = बबूल। अबराउ = जंगल। साषत = शाक्त। बड = बड़ा।

कबीर कहते है कि अच्छी वस्तु का थोडी मात्रा मे प्राप्त होना ही अच्छा है और बुरी वस्तु की बहुत बडी मात्रा मे प्राप्ति भी अश्रेयस्कर है। चन्दन की लकड़ी का एक छोटा सा बन्डल ही बबूल वृक्ष के वन जिसमे लकडी ही लकड़ी होती है, से श्रेष्ठ है। वैष्णवो की एक कुटिया ही शाक्तो के बडे गावो से श्रेष्ठ है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

पुरपाटण सूवस बसै, आनंद ठांयें ठांइ।
रांम सनेही बाहिरा, ऊजंड़ मेरे भाइ ॥२॥

शब्दार्थ—सूवस = सुरीति से। बसै = बसा हुआ। ठाँयें ठाँइ = अत्यधिक। बाहिरा = बिना। ऊजँड = उजाड, शून्य।

कोई कितने ही सुन्दर ढंग के बसा हुआ नगर हो और उसमे आनन्दोल्लास

का वार-पार न हो, किन्तु यदि वह प्रभु-भक्त से शून्य हो तो निश्चय ही वह ऊजड़ शून्य प्रदेश तुल्य है।

विशेष—उपमा अलंकार।

जिहिं घरि साध न पूजिये, हरि की सेवा नाहि।
ते घर मड़हट सारषे, भूत बसै तिन माहि ॥३॥

शब्दार्थ—मडहट=मरघट, श्मशान।

जिस घर मे साधु की सेवा एव प्रभु-भक्ति नही है वह घर श्मशान तुल्य शून्य तथा भयानक है। उसके अन्दर तो सासारिक क्लेशो के भूत घर किये रहते है।

विशेष—उपमा अलकार।

है गै गैबर सघन घन, छत्र धजा फरराइ।
ता सुख थैं भिष्या भली, हरि सुमरत दिन जाइ ॥४॥

शब्दार्थ—है=हय, अन्य। गै=गयद, हाथी। सघन घन=घनीभूत जन-सख्या। भिष्या=भिक्षा।

यदि किसी के पास हाथी घोडे, अत्यधिक प्रजा से पूरित ग्राम, शीश पर छत्र एव महल-अट्टालिकाओ पर फहराती ध्यजा आदि समस्त ऐश्वर्य हो, केवल प्रभु-भक्ति न हो तो ये सब व्यर्थ है। दूसरी ओर यदि प्रभु-भक्ति मे समस्त दिन व्यतीत हो जाता है और भिक्षा ग्रहण करनी पडती है तो यह उसकी अपेक्षा कही अधिक श्रेष्ठ है।

है गै गैबर सघन घन, छत्रपती की नारि।
तास पटंतर नां तुलै, हरिजन की पनिहारि ॥५॥

शब्दार्थ—पटतर=बराबर, समान।

हाथी, घोडे एवं अमित ऐश्वर्यशाली राजा रानी भी प्रभु-भक्ति की पनिहारित की तुलना मे ही रखी जा सकती है, यह उससे हेय है।

क्यूं नृप नारी नींदये, क्यूं पनिहारी कौं मांन।
वा मांग संवारै पीव कौं, वा नित उठि सुमरै रांम ॥६॥

शब्दार्थ—नृप रानी=नारी। नीदये=निंदिता। मान=सम्मान।

राजा की ऐश्वर्ययुक्त रानी की निम्नता एव प्रभु-भक्त की पनिहारिन की श्रेष्ठता किस कारण बतायी गयी है? एक (रानी) तो अपने लौकिक प्रियतम के लिए शृंगार-मण्डल करती है और (पनिहारिन) सच्चे स्वामी प्रभु का नित्य प्रति भजन करती है। इसी अन्तर के कारण द्वितीय प्रथम से महान् है।

कबीर धनि ते सुन्दरी, जिनि जाया बैसनौं पूत।
राम सुमरि निरभै हुवा, सब जग गया अऊत ॥७॥

शब्दार्थ—अऊत=निपूत।

कबीर कहते हैं कि वह स्त्री धन्य है जिसने वैष्णव पुत्र-रत्न प्रसूत किया, क्योंकि वह प्रभु को स्मरण कर निर्भय हो जाता है और शेष संसार तो निपूत, निस्सन्तान, ही रह गया।

कबीर कुल तो सो भला, जिहि कुल उपजै दास।
जिहि कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास ॥८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि वही वंश श्रेष्ठ है जिसमें प्रभु-भक्त जन्म ले। जिस परिवार मे प्रभु-भक्त जन्म न ले वह आक और पलाश के समान निष्प्रयोजन है।

साषत बाभण मति मिलै बैसनों मिलै चंडाल।
अंक माल दे भेटिये, मानो मिले गोपाल ॥९॥

शब्दार्थ—साषत बाभण=शाक्त ब्राह्मण। अंक=आलिंगन।

कबीर कहते है कि शाक्त ब्राह्मणों से न मिलना ही अच्छा है। उनसे श्रेष्ठ तो वैष्णव चाण्डाल से मिलना है। उस चाण्डाल से तो प्रेमपूर्वक आलिंगबद्ध होकर ऐसे मिलना चाहिए मानो प्रभु से ही मिलन हो रहा है।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलकार।

रांम जपत दालिद भला, टूटी घर की छानि।
ऊंचे मन्दिर जालि दे, जहां भगति न सारगपांनि ॥१०॥

शब्दार्थ—दालिद=दरिद्र। सारगपानि=विष्णु, वैसे तात्पर्य अनाम ब्रह्म से ही है।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-भजन करते हुए दरिद्रता भी भली है चाहे घर की आश्रयस्थली, छप्पर तक क्यो न टूट जाय, अर्थात् दरिद्र से दरिद्रतर अवस्था भी प्रभु-भक्ति करते हुए अच्छी है। ऐसे ऊंचे-ऊंचे आवासो को जहाँ प्रभु की भक्ति नही है, जला देना चाहिए।

कबीर भया है केतकी, भवर सब भये दास।
जहां जहां भगति कबीर की, तहां तहां रांम निवांस ॥११॥१२५॥

शब्दार्थ—केतकी=एक पुष्प विशेष, जिसके चारो ओर भ्रमर-श्रेणी मंडराया करती है।

कबीर केतकी-सुमन सदृश आकर्षण का केन्द्र हो गया है जिसके चारो ओर अन्य भक्त मण्डली लगी रहती है। जहाँ-जहाँ कबीर की भक्ति है वहाँ प्रभु का विकास ही जानो।

विशेष—रूपक अलकार।

★

३१. मधि कौ अंग

अंग-परिचय—शास्त्रो मे लिखा है कि अति का सर्वथा परित्याग करना चाहिए, क्योंकि किसी भी विषय की अति अन्ततोगत्वा दुखप्रद होती है। कबीर ने भी प्रस्तुत अग मे मध्यम मार्ग को अपनाने की ही सलाह दी है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति मध्यम मार्ग को अपनाकर चलता है, उसे इस अपार भवसागर को पार करने मे देर नही लगती। यदि व्यक्ति मध्यम मार्ग को नही अपनाता है तो उसके मन मे द्विविधा बनी रहती है जो उसको किसी भी निश्चय पर नही पहुचने देती। मध्यम मार्ग का ग्रहण करने से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, क्योकि कुण्डलिनी भी सहस्रदल और मूलाधार के मध्य मे स्थित है, जो मुक्ति का कारण है। प्रत्येक साधु को अपना घर ऐसे स्थान पर बनाना चाहिए जहाँ प्रत्येक प्रकार की वृत्तियो का सामजस्य हो। वही पर पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है, क्योकि यहाँ पर न तो अधिक शीतलता होती है और न अधिक ऊष्मा, न अधिक तपन होती है और न अधिक ठड, न अधिक दिन होते है और न अधिक रात, न अधिक स्वप्न होते है और न अधिक चिन्ता।

महाजनों द्वारा अपनाये गये मार्गों पर चलना भी श्रेयस्कर नही है, क्योकि पडितो का अनुकरण, जिन्होने समन्वय प्रवृत्ति का ग्रहण नही किया है, श्रेष्ठ नही होता, बल्कि सन्ताप और क्लेशो को देने वाला होता है। इसी प्रकार स्वर्ग और नरक के प्रपंच मे पडना भी ठीक नही है। इससे व्यक्ति का केवल मानसिक ह्रास ही होता है, उपलब्धि कुछ भी नही होती। अपने धर्म की अतिशय मान्यता के कारण ही हिन्दु और मुसलमान दोनो राम और खुदा का नाम स्मरण करते हुए नष्ट हो गये, किन्तु मुक्ति किसी को भी नही मिली। अत इन नामो के झमेले मे न पडकर यदि सच्चे हृदय से प्रभु का स्मरण किसी भी एक नाम को लेकर किया जाय तो अवश्य ही मुक्ति की प्राप्ति होगी।

इस संसार मे सुख किसी को भी प्राप्त नही है, न तो अत्यन्त समृद्धिशाली को और न अत्यन्त निर्धन को। सुख उसे ही मिलता है जो सुख और दुख के प्रति तटस्थ भाव रखता है। जिस प्रकार पीली हल्दी और सफेद चूना ये दोनो एक साथ मिल कर लाल रग मे परिवर्तित हो जाते है, उसी प्रकार समत्वमात्मक भावना प्रभु के प्रति सच्चा अनुराग उत्पन्न करती है। मध्यम मार्ग के ग्रहण करने पर फिर किसी विशेष वस्तु की कोई महत्ता नही रह जाती। उसके लिए काबा और काशी दोनों समान बन जाते है।

अतः मध्यम मार्ग का समत्वमात्मक प्रवृत्ति का ग्रहण ही मनुष्य के लिए सुख-प्रद और शातिप्रदायक है।

कबीर मधि अंध जेको रहैं, तौ तिरत न लागै बार।
दुहु दुहु अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार ॥१॥

शब्दार्थ—मधु=मध्यम मार्ग, समन्वयी मार्ग। यह प्रवृत्ति दो विरोधी विचार-धाराओ, वस्तुओ एव वातावरण मे सामजस्य कर एक बीच का मार्ग निकालने की

पक्षपाती है। कबीर से पूर्व बुद्ध ने 'मध्यमा प्रतिपदा' नाम से इसी मध्यम मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। तिरत=तरने में, पार जाने में।

कबीर कहते हैं कि जो जीवन मे मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है उसे इस संसार-सागर के पार करने मे देर नही लगती। दो अति विरोधी मतों के आश्रित होकर ही संसार संघर्ष मे पड़कर नष्ट होता है।

विशेष—तुलना कीजिए—

"छोड़ कर जीवन के अतिवाद
　　मध्य पथ से लो सुगति सुधार।" 　　　　—जयशंकर प्रसाद

×　　　　×　　　　×

"मध्यमभयम्" (मध्यम मार्ग के अवलम्बन मे कोई भय नही होता)।
　　　　—शतपथ ब्राह्मण

कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।
यहु सीतल वहु तपति है, दोऊ कहिये आगि ॥२॥

शब्दार्थ—दुविधा=संशय। यहु=वह, किसी एक बात को ग्रहण करना।

कबीर कहते हैं कि दोनो अतिवादी मतो का अनुसरण अश्रेयस्कर है, अतः इस संशय को दूर कर कि दोनो मतो मे से किसको अपनाऊ, तू केवल मध्य मार्ग का अनुसरण कर। यह मत शान्तिदायक एव दूसरा परिताप-प्रद है—ऐसा कहना भी दाहक है। इससे भी क्लेश उत्पन्न होता है।

अनल अकासां घर किया, मधि निरन्तर वास।
बसुधा व्योम विरकत रहै, बिनठा हर विसवास ॥३॥

शब्दार्थ—अकाक्षा=आकाश, शून्य, ब्रह्मरन्ध्र। विरकत=विरक्त।

कुण्डलनी ने ब्रह्मरन्ध्र मे जहाँ निरजन ज्योति प्रकाशित रहती है, वास कर लिया है, इस प्रकार अब वह मूलाधार एव सहस्रदल कमल के बीच स्थित है। अब आत्मा पृथ्वी (मूलाधार) और आकाश (सहस्रदल कमल) सबसे असम्पृक्त हो गई है, उन्मनी अवस्था मे उसका प्रत्येक मिथ्या विश्वास समाप्त हो गया है। इस मध्य मार्ग मे पहुच कर ही उसे आनन्द की प्राप्ति हो पायी।

बासुरि गमि न रैणि गमि, नां सुपनै तर गंम।
कबीर तहां बिलंबिया, जहां छांहड़ी न घंम ॥४॥

शब्दार्थ—बासुरि=दिन। छाहडी=छाह, शीतलता। घम=घाम, धूपताप

कबीर ने अपना निवास ऐसे स्थान को बना लिया है जहा प्रत्येक प्रवृत्ति का सामजस्य है, वहा मध्यममार्ग का पूर्ण आनन्द है। वहा न तो अधिक शीतलता है और न अधिक ताप एवं न दिन को, न रात को और न स्वप्न मे कभी भी चिन्ता हो नही है।

जहि पैडै पंडित गए, दुनियां परी बहीर।
औघट घाटी गुर कही, तिहिं चढ़ि रह्या कबीर ॥५॥

शब्दार्थ—पैडै=पगडण्डी, मार्ग । औघट=सकीर्ण एव कठिन ।

जिस मार्ग पर पण्डित गया उसी पर शेष जनता चल पडी किन्तु कोई भी अपने लक्ष्य पर नही पहुच सका । सद्‌गुरु ने कबीर को ऐसी सकीर्ण घाटी का कठिन मार्ग बताया उस पर कबीर ने चढकर अपने लक्ष्य (ब्रह्म) को प्राप्त किया ।

विशेष—औघट घाटी—औघट घाटी से तात्पर्य साधना की विकट पगडडी से है । कबीर ने अन्यत्र भी इस दुर्गमता का बोध पिपीलिका आदि से कराया है ।

श्रग नृक थै हूँ रह्या, सतगुर के प्रसादि ।
चरन कवंल की मौज मै, रहिस्यूं अन्तिरु आदि ।।६।।

शब्दार्थ—श्रग=स्वर्ग । नृक=नरक । प्रसादि=कृपा, अनुकम्पा । चरन कवँल=प्रभु के चरण कमल ।

मैं सद्‌गुरु की कृपा से स्वर्ग और नरक के प्रपच मे न पडा । मै तो प्रभु-भक्ति के आनन्द मे अद्यतन आनन्द-मग्न हू ।

हिंदू मूये रांम कहि, मुसलमान खुदाइ ।
कहै कबीर सो जीवता दुह मैं कदे न जाइ ।।७।।

शब्दार्थ—दुह मैं=दुविधा मे । कदे=कभी भी ।

हिन्दू राम नाम रटक कर अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता के प्रतिपादन मे मर मिटे तो मुसलमान खुदा को श्रेष्ठ बताने के चक्कर मे नष्ट हो गये । कबीर कहते है कि जीवित तो वही है जो दोनो नामो को एक ही ब्रह्म के लिए मानकर इस झगडे मे नही पड़ते कि कौन श्रेष्ठ है ।

दुखिया मूवा दुख कौं सुखिया सुख कौं झूरि ।
सदा अनंदी रांम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि ।।८।।

शब्दार्थ—झूरि=जूझता रहा ।

संसार में दुखी व्यक्ति सर्वदा अपने दु.ख को रोता रहा और जो सुखी है वह और भी सुख-प्राप्ति की आशा मे जूझता रहा । वे राम भक्त सर्वदा आनन्दमग्न रहे जो सुख और दुख को समान समझ उनके तटस्थ हो गये ।

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ ।
रांम सनेही यूं मिले, दून्यूं बरन गंवाइ ।।९।।

शब्दार्थ—पीयरी=पीली । ऊजल=उज्ज्वल, सफेद ।

कबीर कहते है कि हल्दी पीले रग की होती है और चूना श्वेत । जिस प्रकार ये दोनो मिलकर अपने वास्तविक रग को त्याग सुन्दर अनुरागयुक्त लाल रंग मे परिवर्तित हो जाते है उसी प्रकार प्रभु-भक्त विविध, विरोधी विचारधाराओ को भक्ति के सुन्दर कलेवर में खपा कर सुन्दर रूप प्रदान करते हैं ।

काबा फिर कासी भया, रांम भया रहीम ।
मोट चून मेदा भया, बैठि कबीरा जीम ।।१०।।

शब्दार्थ—जीम=खाना।

कबीर कहते हैं कि समन्वयी मध्यमार्गी प्रवृत्ति से मुसलमानों के तीर्थ-स्थान काबा एव हिन्दुओ के तीर्थ स्थान काशी मे कोई अन्तर नहीं रह जाता; दोनों के आराध्य राम और रहीम एक हो जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न विरोधी धारणाएँ जो पहले मोटे आटे के समान भद्दी लगती थी, मध्यम-मार्ग के अनुसरण से सुन्दर मैदा के रूप मे परिणत हो गई, इसमे प्राप्त आनन्द का कबीर उपभोग कर रहा है।

> धरती अरु असमान बिचि, दोइ तूंबड़ा अबध।
> षट दरसन संसै पड़्या, अरु चौरासी सिध ॥११॥५२६॥

शब्दार्थ—सरल है।

पृथ्वी और आकाश दो असम्बद्ध तूबो के समान हैं। इन दोनों के मध्य मार्ग की खोज नहीं की जा सकी। षट्-दर्शन एव चौरासी सिद्ध भी इस मध्यम मार्ग की खोज मे असफल रहे। किन्तु वही मार्ग कबीर ने खोज लिया, जो मूलाधार (पृथ्वी) और शून्य (आकाश) के मध्य उन्मनी अवस्था में अपनी आत्मा को स्थित किए हुए हैं।

विशेष—(१) षट्-दर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त।

(२) चौरासी सिद्ध—चौरासी सिद्ध ये हैं—

लूहिपा, लीलापा, विरूपा, डोम्भिपा, शबरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चोरंगिपा, वीणापा, शान्तिपा, तन्तिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कराहपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शालिपा, तिलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखन्धिपा, अजोगिपा, कालपा, धोम्भिपा, कंकणपा, कमरिपा, डेंगिपा, भदेपा, तन्धेपा, कुकुरिपा, कुसूलिपा, धर्मपा, महिपा, अचिन्तिपा, भलहपा, नलिनपा, भुसुकुपा, इन्द्रभूतिपा, मेकोपा, कुठालिपा, कमरिपा, जलन्धरपा, राहुलपा, धर्वरिपा, मेदिनीपा, पंकजपा, घण्टापा, जोगीपा चेलुकपा, गुण्डरिपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, जयानन्तपा, चर्पटिपा, चम्पकपा, भिखनपा, भलिपा, कुमरिपा, जवरिपा, मणिभद्रपा, मेखलापा, कनखलापा, कलकलपा, कन्तलिपा, धहुलिपा, उधलिपा, कपालपा, किलपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिका, पुतुलिपा, पनहपा, कोकलिपा, अनंगपा, लक्ष्मीकरापा, समुद्रपा एवं भलिपा।

★

३२. सारग्राही कौ अंग

अंग-परिचय—शास्त्रो में लिखा है कि ज्ञान अनत है, उसकी सम्पूर्णता को कोई प्राप्त नही कर सकता, अत. मनुष्यो को क्षीर-नीर न्याय के अनुसार सार तत्व को ग्रहण करना चाहिए और असार तत्व को छोड देना चाहिए। प्रस्तुत अग मे कबीर ने भी यही शिक्षा दी है। वे कहते है कि प्रभु का नाम क्षीर के समान है और सासारिक विषय जल के समान। जिस प्रकार हस क्षीर-नीर मे से क्षीर को ग्रहण करता है और नीर को छोड देता है, इसी प्रकार साधु को भी प्रभु

के नाम का ग्रहण और सासारिक पदार्थो का परित्याग कर देना चाहिए। इस ससार मे गुण और दोष भी साथ-साथ रहते है, अत गुण-दोषो की विवेचना न करके मनुष्य को केवल गुणों का ग्रहण कर लेना चाहिए। इसी प्रकार पृथ्वी पर अनेक प्रकार के फूल और फल उत्पन्न होते है जिनमे से कुछ कडवे होते है और और कुछ मीठे। साधु को मीठे फलो को ग्रहण कर लेना चाहिए और कडवे फलो को छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार सार-ग्रहण के द्वारा ही मनुष्य वास्तविक सुख, आनन्द और शान्ति की प्राप्ति कर सकता है।

षीर रूप हरि नाव है, नीर आन ब्यौहार।
षस रूप कोइ साध है, तत का जांनणहार ॥१॥

शब्दार्थ—षीर=क्षीर, दुग्ध। नाव=नाम। साध=साधु। तत=सार तत्व, प्रभु।

कबीर कहते है कि इस ससार मे दूध के रूप मे, प्रभु का नाम है और ससार के अन्य मिथ्या व्यवहार जल के समान है—ये दोनो साथ ही साथ तो मिले हुए है। कोई हसात्मा तत्वविद् साधु ही सार तत्व ब्रह्म (दुग्ध) को माया जल से पृथक् कर ग्रहण कर पाता है।

वशेष—यह प्रसिद्ध है कि हस दुग्ध-मिश्रित जल मे से दूध और जल को पृथक्-पृथक् कर दुग्ध को ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार हसात्मा (मुक्तात्मा) साधु ससार मे माया-जल को ग्रहण नही करता अपितु अमृत रूप दुग्ध—प्रभु नाम को ही ग्रहण करता है।

कबीर साषत को नहीं, सबै वैशनों जांणि।
जा मुख राम स उचरैं, ताही तन की हांणि ॥२॥

शब्दार्थ—उचरै=उच्चरै, उच्चारित होना।

जिस मुख से प्रभु-नाम-उच्चरित नही होता वही वैष्णव नही है, उसी का नाश होता है।

कबीर औगुण नां गहै, गुण ही कौं ले बीनि।
घट घट महु के मधुप ज्यूं, पर आत्म ले चीन्हि ॥३॥

शब्दार्थ—बीन=छाटना। महु=मधु, शहद। चीन्हि=पहिचानना।

कबीर कहते है कि दूसरो के अवगुणो पर दृष्टिपात मत करो, केवल उसके गुणो को ही ग्रहण कर लो। जिस प्रकार मधुमक्षिका विविध सुमनो का सारतत्व मधु सचित कर छत्ते का निर्माण करती है उसी प्रकार तुम दूसरो के चरित्र के सद्गुणो को परमात्मा का अश जानकर अपना लो।

विशेष—उपमा अलकार।

वसुधा बन बहु भाँति है, फूल्यौ फल्यौ अगाध।
मिष्ट सुबास कबीर गहि, बिषम कहै किहि साध ॥४॥५४०॥

शब्दार्थ—सरल है।

यह पृथ्वी विविध भाति के अच्छे बुरे फल-फूलो से सुसज्जित है। कबीर कहते हैं कि हम वहाँ से मीठे फलो को ही ग्रहण करना चाहिए, कटु फलो को ग्रहण करने से क्या लाभ है ?

भाव यह है कि ससार मे अच्छे बुरे सब प्रकार के मनुष्य और सदसद् सब प्रकार के तत्व विद्यमान हैं, हमें उनमे से सद् ही सद को ग्रहण करना चाहिए।

३३. विचार कौ अग

अंग-परिचय—इस अग मे कबीर ने अनेक प्रकार के विचारो को व्यक्त किया है। एक दोहे मे यदि इन्होने यह बताया है कि भावना भेद से ही भक्ति मे अन्तर आ जाता है तो अन्य दोहे मे यह बताया है कि केवल राम-राम कहने से ही व्यक्ति की मुक्ति नही हो जाती, क्योकि आग-आग चिल्लाने से आग पर पैर रखे विना कोई मनुष्य जल नही सकता। इस प्रकार इस अग के दोहों मे कोई तारतम्य नही है, वल्कि प्राय प्रत्येक दोहे का पृथक् भाव है। इस अग का साराश यह है—

इस संसार में प्रभु की सत्ता सत्य है। इसके अतिरिक्त सब असत्य एव मिथ्या है। मनुष्य को प्रभु की प्राप्ति तभी हो सकती है जब वह अपनी सब वृत्तियो को अन्तर्मुखी कर लेता है, अर्थात् सासारिक आकर्षणो से विरत हो जाता है। मनुष्य का शरीर नश्वर और क्षणभगुर है। यह पानी के बुलबुले के समान है जो एक क्षण उत्पन्न होता है और दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति संसार की विषय-वासनाओं मे उलझा हुआ है। इस उलझ से वही मनुष्य सुलझ सकता है जिससे भक्ति का सम्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। कवि असाधारण व्यक्ति होता है। वह उन्हीं शब्दो के प्रयोग से लावण्ययुक्त काव्य की रचना कर देता है जिनको जन-साधारण नित्य प्रति अपनी भाषा मे प्रयुक्त करते हैं। भगवान् मोतियो की उस माला के समान है जो कच्चे धागे मे पिरोई गई हो। यदि इसे शास्त्र आदि के चक्कर में पडकर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जायेगा तो यह और भी अधिक उलझ जायेगी। संसार के प्रत्येक पदार्थ मे प्रभु की ज्योति प्रतिविम्बित है। भक्ति उसी प्रभु की सच्ची है जो निराकार है और सृष्टि के रग-रग मे समाया हुआ है।

रांम नांम सब को कहै, कहिबे बहुत विचार।
सोई रांम सती कहै, सोई कौतिग-हार ॥१॥

शब्दार्थ—सती=पतिव्रता। कौतिग-हार=ढोगी।

प्रभु नाम का उच्चारण तो सभी करते है किन्तु इसके पीछे विभिन्न विचारधाराएं होती हैं। उसी राम नाम का उच्चारण भक्त सती-भाव से करता है और उसी राम नाम का उच्चारण एक ढोगी प्रदर्शन बनाकर करता है। भावना भेद से ही भक्ति और फल मे अन्तर आ जाता है।

आगि कह्याँ दाझै नहीं, जे नहीं चंपै पाइ।
जब लग भेद न जांणिये, रांम कह्या तौ कांइ ॥२॥

शब्दार्थ—आगि=आग, अग्नि। दाझै=दग्ध होना। चपै=रखना।

कबीर कहते है कि केवल आग-आग चिल्लाने से ही आग पर पैर रखे बिना पैर नही जल सकता। इसी प्रकार जब तक माया और प्रभु का अन्तर ज्ञात न हो जाय तब तक भजन से कोई लाभ नही

कबीर सोचि बिचारिया, दूजा कोई नाँहि।
आपा पर जब चीन्हिया, तव उलटि समाना माँहि ॥३॥

शब्दार्थ—दूजा=अन्य ससार।

कबीर कहते है कि मैंने भली प्रकार चिन्तन-मनन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि ससार मे प्रभु के अतिरिक्त अन्य कुछ है नही। इस प्रकार जब ससार मे मुझे परम तत्व के दर्शन हो गये तब मेरी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो प्रभुभ-क्ति मे प्रवृत्त हो गईं।

कबीर पाणीं केरा पूतला, राख्या पवन सँवारि।
नांनां बांणी बोलिया, जोति धरी करतारि ॥४॥

शब्दार्थ—सँवारि=सम्भाल कर। नाना=विविध। जोति=ज्योति, प्रकाश।

कबीर कहते है कि मनुष्य पानी के बुलबुले के समान है जिसको प्राण-तत्व की वायु ने सुरक्षित रखा हुआ है अन्यथा यह कब का फूट जाता। इस बुलबुले मे ब्रह्म ने अपनी ज्योति, प्रकाश भर दिया है उसी के कारण यह विविध रूपो में अपना कार्य-कलाप करता है।

नौ मण सूत अलूझिया, कबीर घर घर बारि।
तिनि सुलझाया बापुड़े, जिनि जाणी भगति मुरारि ॥५॥

शब्दार्थ—मण=मन, तौल का एक माप। अलूझिया=उलझ गया। बापुडे=विचारे।

कबीर कहते है कि प्रत्येक व्यक्ति इस ससार के मायादिक प्रपंच रूपी उलझे सूत को सुलझाने मे लगा हुआ है, किन्तु इसको वही सुलझा सके है जिन्होने प्रभु भक्ति के मर्म को पहचाना है, अर्थात् प्रभु-भक्त ही इस भव-जाल से मुक्ति पा सके है।

विशेष—**नौ मण सूत**—नौ मन सूत कबीर ने सासारिक जाल के लिए प्रयुक्त किया है। इसमे पच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध,) तीन गुण (सत, रज, तम) एव मन को ही समस्त सांसारिक क्लेश और परितापों का उद्भावक माना है।

आधी साषी सिरि कटैं, जोर बिचारी जाइ।
मन परतीति न ऊपजै, तौ राति दिवस मिलि गाइ ॥६॥

शब्दार्थ—सापी=साक्षी ।

कबीर कहते है कि यदि कोई आस्था एव विश्वासपूर्वक मेरी आधी साखी का भी पाठ करेगा तो उसकी मुक्ति हो जायगी, किन्तु यदि मन मे श्रद्धा और प्रेम नही है तो चाहे इन साखियो का गान अहर्निश करो, कोई लाभ नही ।

सोई आषिर सोई वैयन, जन जू जू वाचवत ।
कोई एक मेलै लवणि, अमीं रसाइण हुंत ॥७॥

शब्दार्थ—आपिर=अक्षर । वैयन=वचन । जन=जन सामान्य । वाचवत=वाचते हैं, पाठ करते है । लवणि=नमक, सौन्दर्य । अमी=अमृत । रसाइण=रसमय ।

कबीर कहते हैं कि उन्ही सामान्य अक्षरो और वचनो मे जिनका जन-सामान्य नित्य प्रयोग करने है कवि अपने कौशल मे ऐसा लावण्य ला देता है कि अमृत भरी रसयुक्त वाणी काव्य हो जाती है ।

हरि मोत्यां की माल है, पोई काचै तागि ।
जतन करी झंणां घंणां, टूटैगी कहूँ लागि ॥८॥

शब्दार्थ—मोत्याँ=मोतियो की । तागि=धागे मे । झटा=झंझट । घणां=अत्यधिक ।

कबीर कहते है कि प्रभु मोतियो की उस माला के समान है जो कच्चे धागे मे पिरोयी गई है । यदि इसे शास्त्रादि के चक्कर मे पडकर सुरक्षित रखने की सोचोगे तो यह उलझकर गुत्थी बन जायेगी और सम्भव है कि टूट भी जाय ।

भाव यह है कि प्रभु-भक्ति से प्राप्य एव तर्क से अप्राप्य है, हो सकता है तर्क आपकी ईश्वर-सम्बन्धी आस्था को ही निर्मूल कर आपको नास्तिक रूप मे परिवर्तित कर दे ।

विशेष—उपमा अलकार ।

मन नहीं छाड़ै विषै, विषै न छाड़ै मन कौं ।
इनकौं इहै सुभाव, पूरि लागी जुग जन कौं ॥९॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि मन विषय-वासनाओ मे इतना उलझ गया है कि उन्हे छोडता ही नही और विषय-वासनाए भी मन मे इतनी घर कर गई हैं कि वे वहाँ से नही हटती । मन और विषय-विकारो का ऐसा दूसरे से चिपटे रहने का स्वभाव है, ये व्यक्ति को आक्रान्त रखते हैं ।

खंडित मूल बिनास, कहौ किम बिगतह कीजै ।
ज्यूं जल मे प्रतिव्यंब, त्यूं सकल रांमहि जांणीजै ॥१०॥

शब्दार्थ—प्रतिव्यब=प्रतिबिम्ब ।

संसार के प्रत्येक पदार्थ मे, तत्व मे उस प्रभु का प्रतिबिम्ब है (यह दृश्यमान जगत् उसी के प्रकाश से प्रकाशित है) । यदि कोई अनास्थावादी प्रभु मे अविश्वास

करता है तो वह संसार के अस्तित्व को स्वीकार नही करता, भला विना विम्ब के प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है ? जव प्रतिबिम्व—ससार—सम्मुख है तो विम्ब—प्रभु—अवश्य ही होगा ।

सो मन सो तन सो बिषे, सो त्रिभवन-पति कहूँ कस ।
कहै कबीर व्यंदहु नरा, ज्यूं जल पूर्या सकल रस ॥६॥५४६॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि अवतार को, जिसे संसार प्रभु मानकर पूजता है, मैं उसे त्रिभुवन-पति ब्रह्म कैसे कहू ? क्योकि मनुष्य के समान ही वह भी तन-मन-धारी है । इसलिए हे मनुष्यो ! उस निराकार प्रभु की वन्दना करो जो उसी प्रकार समस्त ससार मे समाया हुआ है जिस प्रकार रसो मे जल ।

३४. उपदेश कौ अंग

अंग-परिचय—प्रस्तुत अग मे कबीर ने विभिन्न विषयो पर अपने विचार प्रकट किये है । सबसे पहले वे इस बात की घोषणा करते है कि प्रभु ने उन्हे इस धरातल पर इसीलिए भेजा है कि वे अपनी साखियो द्वारा मनुष्यो के अज्ञान को नष्ट करके उन्हे प्रभु की ओर उन्मुख करे । फिर उन्होने बताया है कि प्रत्येक कर्म का फल तत्काल मिल जाता है, अत मनुष्य को कभी भी वुरे कर्म नही करने चाहिए । जिस प्रकार किसान बायें हाथ मे फसल के पौधे पकड़कर दाहिने हाथ के हँसिया से वही काटता है, जो वह बोता है, इसी प्रकार मनुष्य जैसा कार्य करेगा, उसे उसका वैसा ही फल मिलेगा । जीवन और इसकी वासनाएँ क्षणिक है जो देखते-देखते नष्ट हो जाती है । संशय मुक्ति-प्राप्ति मे सवसे वड़ा वाधक है । जब तक मनुष्य के मन मे सशय बना रहेगा, वह द्विविधा-ग्रस्त वना रहेगा और किसी भी प्रकार द्विविधा-ग्रस्त मन किसी निर्णय पर नही पहुचा करता । अत ईश्वर की ओर उन्मुख होने से पूर्व सशय का परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है । संन्यासी को विरक्त और गृहस्थ को उदारचित्त वाला होना चाहिए । ये दोनो यदि अपनी सीमाओ का त्याग कर देगे तो समाज की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायेगी और ये दोनो मुक्ति से भी वचित रह जायेगे । जहाँ तक सम्भव हो सके, व्यक्ति को विषय-विकारो मे पड़कर अपनी आत्मा को कलुषित नही करना चाहिए । मनुष्य को सदैव मधुर वचनो का प्रयोग करना चाहिए, क्योकि इस प्रकार के वचनो मे दूसरो को भी सुख मिलता है और स्वयं को भी सुख मिलता है । अन्त मे, कबीर ने वताया है कि साधक को सदैव सदुपदेशो द्वारा इतना सावधान और सजग रहना चाहिए कि कोई भी विकार उसके मन मे प्रवेश न कर सके ।

हरि जी यहै विचारिया, साषी कहौ कबीर ।
भौसागर मैं जीव है, जे कोइ पकड़ै तीर ॥१॥

शब्दार्थ—विचारिया=विचार किया, यहा निश्चय किया के अर्थ मे। भौसागर=भव-सागर, ससार-समुद्र।

कबीर कहते है कि प्रभु ने यही निश्चय कर कहा कि कबीर तुम अनुभव-सचित ज्ञान को साखियो के रूप मे ससार के सम्मुख प्रस्तुत करो, कहो। इस ससार-समुद्र मे वहुत से जीव तरने की आशा मे पडे हैं, कदाचित् कोई इन साखियों का सम्बल पाकर ही इस भवसागर से पार हो जाये।

विशेष—निश्चय ही साखियो मे वह ज्ञानामृत, जीवन-सिद्धान्तों का सारतत्व एव पथ-विभ्रान्त लोगो के लिए ऐसा दिव्य प्रकाश है कि उससे प्राणी जीवनमुक्त हो सकता है। कबीर की इस घोषणा मे मिथ्या गौरव अथवा अहभाव किंचित् मात्र भी नही। यह उनका दृढ विश्वास है कि वे उस कचन को प्रस्तुत कर रहे हैं जिसे प्रत्येक जौहरी कचन कहेगा, अन्यथा नही।

कली काल ततकाल है, बुरा करौ जिनि कोइ।
अन बावै लौहा दांहिणं, बोवै सु लुणतां होइ ॥२॥

शब्दार्थ—अन=अन्न, फसल के पौधो से तात्पर्य है। बावै=बायाँ, बायां हाथ। लोहा=हसिया या दाती। दाहिणैं=दक्षिण हाथ।

कबीर कहते हैं कि कलियुग मे कर्मफल तत्काल प्राप्त होता है अतः बुरे कर्म मत करो। जिस प्रकार कृषक बाये हाथ मे फसल के पौधे पकड़कर एवं दाहिने हाथ मे उनको काटने वाली हँसिया लेकर जो बोता है वही काटता है। उसी भाति जैसे कर्म करोगे उसका वैसा ही फल तत्क्षण भोगना पडेगा।

विशेष—अर्थान्तिरन्यास अलंकार।

कबीर ससा जीव मैं, कोइ न कहै समझाइ।
विधि बिधि बांणीं बोलता सो कत गया बिलाइ ॥३॥

शब्दार्थ—ससा=सशय, शंका से तात्पर्य। विधि विधि=विविध प्रकार की। बिलाई=नष्ट हो गया।

कबीर कहते है कि मुझे जीव के अस्तित्व के विषय मे विभिन्न आशकाएं हैं। जो जीवात्मा अभी-अभी भिन्न-भिन्न प्रकार की बाते कर रहा था, वह न जाने किधर विलुप्त हो गया। जीव की कैसी क्षणिक स्थिति है?

कबीर संसा दूरि करि, जांमण मरण भरंम।
पंचतत तत्तहि मिले, सुरति समाना मंन ॥४॥

शब्दार्थ—जामण-मरण=जन्म-मरण।

इससे पहली साखी मे जो शका उपस्थित की गई थी उसी का समाधान करते हुए कबीर कहते है कि हे मन! तू शका को दूर कर दे, क्योकि यह जन्म-मरण तो भ्रम-मात्र है। इस शका को दूर करने से जीवन्मुक्त हो जायेगा और जिन पचतत्वो ('क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा') से यह शरीर निर्मित हुआ है वे

अपने तत्वों मे मिल जायेगे और तब मन सुरति अवस्था में पहुंच ईश्वर का साक्षात्कार करेगा ।

ग्रिही तौ च्यंता घणी, बैरागी तौ भीष ।
दुहु कात्यां बिचि जीव है, दौ हनै संतौ सीष ।।५।।

शब्दार्थ—च्यंता=चिंता । घणी=अधिक । भीष=भिक्षा । दुह कात्यॉं=कैंची के दो फलको का अर्थ । हनै=नष्ट करे ।

कबीर कहते हैं कि गृही तो बहुत सी चिन्ताओ मे ग्रस्त है और संन्यासी भी भिक्षा की चिन्ता से मुक्त नही । इस प्रकार गृहस्थ और संन्यास दोनो अवस्थाओ मे जीव उसी प्रकार नष्ट होता है जैसे कैंची के फलको के बीच कोई वस्त्र आदि । इन दोनो अवस्थाओ मे साधु-शिक्षा ही चिन्ताओ को नष्ट कर सकती है ।

विशेष—तुलना कीजिए—

"प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च ।
सम्यक्तत्त्वोपदेशाय सता सूक्ति प्रवर्तते ।।"
—जैनाचार्य शुभचन्द्राचार्य कृत 'ज्ञानार्णव' से

("सत्पुरुषो की उत्तम वाणी दूसरो को जगाने के लिए, सत्यासत्य के विवेक के लिए, लोक-कल्याण के लिए, जगत् मे शान्ति के लिए और जीवन मे वास्तविक तत्व के उपदेश के लिये प्रवृत्त हुआ करती है ।")

बैरागी बिरकत भला, गिरहीं चित्त उदार ।
दुहूं चूकां रीता पड़ै, ताकूं वार न पार ।।६।।

शब्दार्थ—बिरक्त=विरक्त ।

कबीर कहते है कि सन्यासी को विरक्त एवं गृहस्थ को उदार-चित्त होना चाहिए । यदि ये दोनो अपने इन प्रकृत गुणों को परित्यक्त कर देंगे तो इतना अनर्थ होगा कि उसकी सीमा नही रहेगी ।

जैसी उपजै पेड़ सूं, तसी निबहै ओरि ।
पैंका पैंका जोड़तां, जुड़िसी लाष करोड़ि ।।७।।

शब्दार्थ—निबहै ओरि=अन्त तक सुरक्षित रख सके । पैंका-पैंका=पैसा-पैसा । जुडिसी=जुड़ जाता, सग्रह हो जाता ।

कबीर कहते है कि जैसा सुन्दर एव मधुर फल (आम आदि) पेड से गिरते समय होता है यदि उसे अन्त तक उसी रूप मे सुरक्षित रखा जाय तो वह बहुत ही स्तुत्य प्रयास होगा, उसी भाति आत्मा जिस निर्दोष और निष्कलक रूप मे उस परम तत्व से पृथक् होते समय प्राप्त हुई थी, यदि वैसी ही निर्मल रहे तो बहुत अच्छा रहेगा ।

अब दूसरा भाव व्यक्त करते हुए कबीर कहते है कि जीवात्मा ! तूने समस्त जीवन-रत्न व्यर्थ गवा दिया, प्रभु भक्ति न की । यदि तूने थोडा-थोडा भी प्रभु-भजन किया होता तो तू इस महान् सुकृत्य से जीवन-मुक्त हो जाता । क्योकि पैसा-पैसा जोड़कर तो लाख और करोडो की सम्पत्ति सगृहीत की जा सकती है ।

कवीर हरि के नांव सूं, प्रीति रहै इकतार ।
तौ मुख तैं मोती झड़ैं, हीरे अंत न पार ॥८॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कवीर कहते है कि यदि साधक का प्रभु-नाम से निरन्तर और दृढ़ प्रेम वना रहे तो उसके मुख से अनमोल वचनो के मुक्ता झड़ने लगें और उस वचनावली मे सारतत्व रूपी अनमोल हीरो का अनन्त भण्डार होगा ।

ऐसी बांणी वोलिये, मन का आपा खोइ ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ ॥९॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कवीर कहते हैं कि मन के अह दर्प को नष्ट कर ऐसी वाणी वोलिए कि स्वय का शरीर भी प्रफुल्लित हो और श्रोता भी उससे आह्लादित हो ।

विशेष—मनुस्मृति मे मधुर वाणी की विविध प्रकार से प्रशसा की गई है, कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

"वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ।"

(जो धर्म-मार्ग का अनुसरण करना चाहता है उसे मधुर और स्निग्ध वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए ।)

"ययास्योद्विजते वाचा नालोक्या तामुदीरयेत् ।"

(जिससे दूसरो को व्यथा हो ऐसी लोक-परलोक दोनो को विगाड़ने वाली वाणी को न वोलना चाहिए ।)

"सत्य ब्रूयात्प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रिय च नानृत ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥" (४।१३८)

(मनुष्य को चाहिए कि वह सत्य वोले, प्रिय वोले, अप्रिय सत्य को न वोले, असत्य प्रिय को भी न वोले, यह सनातन धर्म है ।)

कोइ एक राखै सावधान, चेतनि पहरै जागि ।
वरतन वासन सूं खिसै, चोर न सकई लागि ॥१०॥५५९॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कवीर कहते है कि साधक को सदुपदेशो के द्वारा इतना सजग रहना चाहिए, उसे अपनी चेतना को इस प्रकार जागृत रखना चाहिए कि (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह रूपी) पच चोरो मे से कोई भी भीतर न आ सके । यदि वरतन या वस्त्र के खिसकने की भी ध्वनि हो तो उसे जाग जाना चाहिए जिससे चोर पास भी न फटक सके ।

भाव यह है कि मन मे कोई विकार आते हैं साधक को उसे दूर कर देना चाहिए ।

☆

३५. बेसास कौ अंग

अंग-परिचय—निर्गुण-सन्तो की साधना मे प्रभु के प्रति अडिग विश्वास का बहुन महत्त्व है। जब तक साधक प्रभु के प्रति दृढ विश्वास और आस्था अपने मन में उत्पन्न न कर लेगा, तब तक उसे अपनी साधना मे सफलता नही मिल सकती। प्रस्तुत अग में कवीर ने इसी विश्वास का वर्णन किया है। वे कहते है कि मनुष्य को सदैव प्रभु पर विश्वास करना चाहिए। यदि उसे भूख लगती है तो उसे ससार के सामने भूखा-भूखा चिल्लाने से कोई लाभ नही होगा, क्योकि ससार उसकी कुछ भी सहायता नही करेगा। बल्कि उसे ईश्वर पर विश्वास रखना चाहिए, क्योकि जिस ईश्वर ने उसका पेट और मुँह बनाया है, वही उसको भोजन भी देगा। अतः मनुष्य को अपने रचनहार का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए और उसे अपने मन में प्रतिष्ठित कर लेना चाहिए। वह प्रभु तो चिंतामणि के समान है जो मनुष्य की सब चिन्ताओ का निवारण कर देता है। मनुष्य व्यर्थ मे ही चिन्ता करता है जबकि उसकी चिन्ताओ से कोई लाभ नही होता। अत उसे सासारिक विषयो की चिन्ताएँ छोडकर भगवान् की प्राप्ति की ही चिन्ता करनी चाहिए, क्योकि यही जीवन का परम उद्देश्य है। भगवान् ने जिस व्यक्ति के भाग्य मे जो कुछ लिख दिया है, वही उसे मिलता है, इसलिए भी मनुष्य का चिन्ता करना व्यर्थ है।

जो सच्चे साधु होते है, उनका भगवान् पर अचल विश्वास होता है। वे उतना ही ग्रहण करते है, जितने की उन्हे आवश्यकता होती है, क्योकि उनका विश्वास है कि भगवान् सदा उनके साथ है, और जब भी उन्हे किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ेगी, भगवान् तुरन्त उसका प्रबन्ध कर देगे। जिस साधु को ऐसा विश्वास होता है, उसे कभी भी नरक की प्राप्ति नही हो सकती; अर्थात् वह ब्रह्म-लोक मे निवास करने का अधिकारी बन जाता है। भगवान् मे विश्वास के कारण ही मनुष्य सब प्रकार के भयो से छुटकारा पा जाता है। क्योकि जिस व्यक्ति के सिर पर भगवान् का वरद हस्त होता है, उसका कोई भी बाल बाका नही कर सकता। अत. साधु को भगवान् के अतिरिक्त और किसी व्यक्ति के सामने हाथ नहीं फैलाना चाहिए क्योकि जब भी किसी से याचना की जाती है, तब ही व्यक्ति का मान, महत्ता, प्रेमानद, गौरव और गुण सब नष्ट हो जाते है।

यह शरीर पाडुर-पुष्प के समान है जिस पर मन रूपी भ्रमर निवास करता है। इस पुष्प मे वह भ्रमर सद्भावो की सुगन्धि पाता है क्योंकि इसका सिंचन राम-नाम रूपी अमृत से होता है और अन्त मे इस पर प्रभु का विश्वास रूपी सुन्दर फल लगता है। वही व्यक्ति मुक्ति का अधिकारी वनता है जिसका मन विषय-वासनाओं की कालिमा से रहित होकर मोती के समान उज्ज्वल और निर्मल है और जिसमें प्रभु का विश्वास निहित है। प्रभु की प्राप्ति उसी व्यक्ति को होती है जिसका प्रभु के प्रति अटल और अथाह विश्वास होता है।

जिनि नर हरि जठरांह, उदिकंथै पंड प्रगट कियौ।
सिरजे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयौ॥
उरध पाव अरध सीस, बीस पषां इम रषियौ।
अंन पान जहाँ जरै, तहां तैं अनल न चषियौ॥
ईहि भांति भयानक उद्र में, उद्र न कबहुँ छंछरै।
कृसन कृपाल कबीर कहि, इम प्रतिपालन क्यो करै॥१॥

शब्दार्थ—जठराह=पेट मे भी। उदिकथै=रज और वीर्य से। पंड=पिंड, शरीर। तास=उसमे, तात्पर्य मुख मे। उरध पाव अरध सीस=ऊपर को पाँव और नीचे को शीश, मातृगर्भ मे शिशु की स्थिति उल्टी होती है। वीस पषा=बीस पक्ष अर्थात् दस मास। अन=अन्न खाद्य पदार्थ। पान=पेय, दूध और जल आदि। चषियौ=छुआ नही। उद्र=उदर। छछरै=खाली रहा। कृसन=प्रभु।

कबीर जीव के जन्म की स्थिति बताते हुए तथा प्रभु-अनुकम्पा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते है कि जिस प्रभु ने माता के गर्भ मे रज और वीर्य से मनुष्य-शरीर निर्मित कर कान, हाथ, पैर, प्राण एव मुख तथा मुख मे जीभ का सृजन किया, जिसने ऐसी भयानक जठराग्नि मे जहाँ खाद्य और पेय जलकर नष्ट हो जाते है ऐसी रक्षा की कि अग्नि का स्पर्श तक न हो सका और १० मास तक गर्भ मे उलटे लटका कर परिपालन किया, जिसने ऐसे भयानक (अग्नियुक्त) पेट मे मेरे पेट को कभी खाली न रहने दिया, सर्वदा भोजन दिलाया, उन प्रभु की महिमा का गान कहाँ तक करू ? और कौन इस प्रकार पालन-पोषण कर सकता है ?

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भांडा घड़ि जिनि मु दिया, सोई पूरण जोग॥२॥

शब्दार्थ—भाडा=पात्र, उदर से तात्पर्य है। घडि=बनाकर। मु=मुंह, मुख।

कबीर कहते है कि ससार के सम्मुख भूख-भूख क्यो चिल्लाते हो। तुम्हारा चिल्लाना व्यर्थ है, क्योकि ससार तुम्हारी सहायता नही कर सकता। जिस प्रभु ने पेट बनाकर मुख प्रदान किया है, केवल वही इसे भरने मे, भोजन प्रदान करने मे समर्थ हैं। अतः उन्ही का स्मरण कर।

रचनहार कूं चीन्हि लै, खैबे कूं कहा रोइ।
दिल मंदिर मै पैसि करि, तांणि पछेवड़ा सोइ॥३॥

शब्दार्थ—खैवै=खाने को, सासारिक आवश्यकताओ को। ताणि=तान कर। पछेवडा=चादर।

कबीर कहते है कि हे जीव ! तू सांसारिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे क्यो व्यर्थ मर रहा है ? तू अपने सृजनहार को पहचान ले, परमतत्व से साक्षात्कार कर उन्हे हृदय मे वसा ले और फिर निश्चिन्त होकर अनन्त सुख की नीद सो जा, जीवन्मुक्त हो जा।

रांम नाँम करि बोंहडा, बांहो बीज अघाइ।
अंति कालि सूका पड़ै, तौ निरफल कदे न जाइ ॥४॥

शब्दार्थ—बोहडा=गेहूं, जौ आदि की फसल बोने को बांस की बनी एक नलिका, जिसे कुछ स्थानो पर 'नलका' भी कहा जाता है। इसका लाभ यह होता है कि इससे बीज खूड़ (कतार) मे ही गिरता है। बांही=बीज। अघाई=भरपूर। सूका=वर्षाभाव।

कबीर कहते है कि हे साधक ! तू राम-नाम रूपी नलिका के द्वारा हृदय रूपी क्षेत्र (खेत) मे प्रभु-भक्ति का भरपूर बीज बो दे। ऐसा करने से फिर चाहे बाद मे सूखा भी रहे, वर्षा न भी हो, तो भी प्रभु-भक्ति रूपी फसल का फल तुझे अवश्य प्राप्त होगा, वह निष्फल नही जा सकती।

विशेष—(१) कबीर यह समझाते है कि नामस्मरण द्वारा प्रभु-भक्ति मे प्रवृत्त होना चाहिए।

(२) कबीर का लोक-ज्ञान अपरिमित था। सत्य तो यह है कि उन्होंने जीवन और जगत् रूपी ग्रथो के ही पन्ने पलट कर अपनी अमृतवाणी जनता को दी थी। 'अंति कालि सूका पड़ै' के द्वारा जुलाहे कबीर का कृषिज्ञान देखते ही बनता है। कृषक नलिका से बीज विशेष रूप से इसलिए बोता है कि बीज गहरा जाकर पड़ता है जहां अधिक नमी होती है, अत· यदि कुछ दिन तक यदि वर्षा न भी हो तो वह बीज जमकर जड़ बनाये रहता है। भक्ति-क्षेत्र मे कबीर इसके माध्यम से बताना चाहते हैं कि यदि शीघ्र प्रभु-अनुकम्पा न भी हो, अन्त मे उसे प्रभु-भक्ति का फल—जीवन्मुक्ति—अवश्य प्राप्त होगा।

(३) सांगरूपक अलंकार।

च्यंतामणि मन मै बसै, सोई चित मैं आंणि।
बिन च्यंता च्यंता करै, इहै प्रभू की बांणि ॥५॥

शब्दार्थ—च्यतामणि=एक मणिविशेष का नाम जिसके विषय मे प्रसिद्ध है कि उससे जो मागते है वही प्राप्त होता है। आणि=प्रवृत्त कर दे। बाणि=प्रकृति, आदत, स्वभाव।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य ! तू चिंतामणि के लिए अन्यत्र क्यों भटकता है। वह ब्रह्मरूप चिंतामणि तो चित्त मे ही है, उसमे ही समस्त वृत्तियो को लगा दो। हे मनुष्य ! तुझे चिन्ता की आवश्यकता नही, क्योकि वह परम कृपालु ईश्वर चिन्तामुक्त होता हुआ भी सबकी चिन्ता रखता है। यही उसका दयालु स्वभाव है।

कबीर का तूं चिंतवै, का तेरा च्यंता होइ।
अण च्यंता हरिजी करै, जो तोहि च्यंत न होइ ॥६॥

शब्दार्थ—अण-च्यता=बिना सोचा हुआ, अप्रत्याशित।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य ! तू क्यो व्यर्थ चिन्ता करता है, तेरे चिन्ता

करने से हो भी तो कुछ नही सकता । अतः तू ईश्वर मे विश्वास रख निश्चिन्त हो जा क्योकि वे अप्रत्याशित लाभ कर डालते हैं ।

करम करीमां लिखि रह्या, अव कछू न लिख्या जाइ ।
मासा घटै न तिल वधै, जौ कोटिक करै उपाइ ॥७॥

शब्दार्थ—करीमा=प्रभु ।

कवीर कहते है कि जो कुछ प्रभु को तुम्हारे भाग्य में लिखा था वह लिख दिया, अव इसके अतिरिक्त कुछ नही लिखा जा सकता । चाहे मनुष्य कोटिशः प्रयत्न क्यो न करे किन्तु उस भाग्य विधान मे किंचित भी घट वढ़ नही हो सकती ।

जाकी जेता निरमया, ताकौं तेता होइ ।
रंती घटै न तिल वधै, जौ सिर फूटै कोइ ॥८॥

षब्दार्थ—निरमया=निर्धारित किया है । रती=रत्ती, तनिक भी ।

कवीरदास कहते है कि चाहे कोई अधिक प्राप्ति की आशा मे कितना ही प्रयत्न क्यो न करे, किन्तु जितना जिसके लिए निर्धारित है उसको उतना ही प्राप्त हो सकेगा । न तो उस मे तिलभर घट सकता है न तिलभर वढ सकता है ।

च्यंता न करि अच्यत रहु, सांई है सम्रथ ।
पसु पंषेरू जीव जंत, तिनकी गाडि किसा ग्रंथ ॥९॥

शब्दार्थ—सम्रथ=समर्थ, शक्तिमान् । गाड़ि=गणना ।

कवीरदास कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू चिन्ता मत कर, क्योकि प्रभु सव कुछ करने मे समर्थ है (प्रभु के समर्थ होते हुए मनुष्य का उसके विधान मे दखल देना शोभा नही देता) । मनुष्य की तो वात ही क्या, वह प्रभु तो इन सव संख्यातीत पशु पक्षी तथा जीव-जन्तुओ का भी ध्यान रखता है जिनकी गणना कोई भी ग्रंथ नही कर सका ।

संत न वांधै गांठडी, पेट समाता लेइ ।
सांई सूं सनमुष रहै, जहां मागै तहां देइ ॥१०॥

शब्दार्थ—गाठड़ी=गठिया, पोटली ।

कवीरदास कहते है कि सन्त जन अपनी आवश्यकता के अनुरूप ही सामग्री लेते है वे सचय के लिए गठडी नही वांधते । भगवान् हमेशा उसके सम्मुख रहता है और जव भी मनुष्य उनसे माँगता है। वे उसे खाने के लिए दे देते है ।

विशेष—इस दोहे का यह पाठान्तर भी मिलता है—

"साधु गाँठ न वाँधई, उदर समाता लेय ।
आगे पीछे हरि खड़े, जव माँगे तव देय ॥"

रांम नांम सूं दिल मिली, जन हम पड़ी बिराइ ।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरकि न जाइ ॥११॥

शब्दार्थ—बिराई=विराग । इष्ट=भगवान् । वंदा=मैं (कवीर) ।

कबीरदास कहते है कि मेरा मन प्रभु मे अनुरक्त हो गया है और शेष संसार से मुझे विरक्ति हो गई है। मुझे अपने इष्टदेव की अनुकम्पा का विश्वास है कि मुझे नरक की प्राप्ति नही होगी।

कबीर तूं काहे डरै, सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये, कूकर भुसै जु लाष॥१२॥

शब्दार्थ—कूकर=कुत्ता। भुसै=भौके।

कबीरदास कहते है कि हे मन! तू डरता क्यो है, तेरे ऊपर तो प्रभु-अनुकम्पा का वरद हस्त है। देख चाहे कितने ही श्वान क्यो न भौके, किन्तु हाथी पर चढ़े हुए का आसन नही डोल सकता, अर्थात् वह अपदस्थ नही हो सकता। उसी भाँति कबीर तू साधना-मार्ग मे उस उच्च स्थान पर पहुच चुका है जहाँ विषय-वासना के श्वान चाहे कितना ही भौके, किन्तु तेरा कुछ नही बिगाड सकते।

मीठा खांण मधूकरी, भांति भांति कौ नाज।
दावा किसही का नहीं, बिन विलाइति बड़ राज॥१३॥

शब्दार्थ—दावा=अधिकार।

कबीरदास कहते है कि भिक्षा मे भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न-निर्मित खाद्य प्राप्त होते है जो खाड के समान मीठे लगते है। इस प्रकार सन्यासी बिना किसी भूप्रदेश के ही राजा के रूप मे अपने हृदय साम्राज्य का उपभोग करता है, उस पर किसी का कुछ पर अधिकार नही होता।

भाव यह है कि साधु स्वतन्त्र एव आत्मभोगी होता है।

मांनि महातम प्रेम रस, गरवा तण गुण नेह।
ऐ सबहीं अह लागया, जबहीं कह्या कुछ देह॥१४॥

शब्दार्थ—गरवा=गौरव। अह=समाप्त होना।

कबीरदास कहते है कि व्यक्ति का मान, महानता, प्रेमानन्द, गौरव, गुण एवं स्नेह ये सब उसी क्षण समाप्त हो जाते है जब हम किसी से कुछ देने के लिए कहते है।

मांगण मरण समान है, बिरला बंचै कोइ।
कट लबीर रघुनाथ सूं, मतिर मंगावै मोहि॥१५॥

शब्दाथ—वंचै=वचना। मतिर=मत।

कबीरदास कहते हैं कि किसी से भी कुछ माँगना मरण तुल्य है, कोई विरला ही इससे बच पाता है। मैं तो प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि तू मुझसे किसी के सम्मुख याचना मत करा।

पांडल पंजर मन भवर, अरथ अनूपम बास।
रांम नांम सीच्या अंमी, फल लागा बेसास॥१६॥

शब्दार्थ—पांउल=एक पुष्प विशेष जिसका रग बहुत तेज लाल होता है, भ्रमर इस पर वहुत बैठता है। भवर=भौरा। अमी=अमृत। बेसास=विश्वास।

कवीरदास कहते हैं कि यह शरीर पाडुर-पुष्प के समान है जिस पर मन रूपी भ्रमर का वास है। इस पुष्प मे वह मन रूपी भ्रमर अनुपम अर्थयुक्त अर्थात् सद्भाव रूपी गन्ध पाता है। इस सुमन का सिंचन राम-नाम रूपी अमृत से होता है जिस पर प्रभु विश्वास का सुन्दर फल लगता है।

विशेष—सागरूपक।

मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म विसास।
अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस ॥१७॥

शब्दार्थ—मुकता=मुक्त, मोती के समान उज्ज्वल। विसास=विश्वास।

कवीरदास कहते हैं कि मेरा 'ममत्व' निकल जाने से मैं मुक्त हो गया, या मैं मोती के समान निर्मल और उज्ज्वल हो गया, जिसके कारण मेरा प्रभु मे विश्वास हो गया है। हे प्रभु! आपके अतिरिक्त अब मेरा और कोई नहीं, केवल तुम्हारे ही अपनाने की आशा है।

जाकी दिल में हरि बसैं, सौ नर कलपैं कांइ।
एकैं लहरि समंद की, दुख दलिद्र सब जाइ ॥१८॥

शब्दार्थ—कलपैं=दुखित होना। समद=समुद्र। दलिद्र=दरिद्र।

कवीरदास कहते है कि जिस मनुष्य के हृदय मे प्रभु का वास है वह व्यर्थ क्यों दुखित होता है अर्थात् उसे किसी प्रकार का दुख नही हो सकता। समुद्र की एक लहर ही मुक्ताओ का ढेर लगा कर दुख-दरिद्र मिटा देती है, उसी भांति प्रभ अनुकम्पा की एक लहर ही तेरे क्लेशो को विनष्ट कर देगी।

पद गांये लैलीन ह्वं, कटी न संसैं पास।
सबैं पिछोड़े थोथरे, एक विनां वेसास ॥१९॥

शब्दार्थ—थोथरे=खाली। ससैं पास=संशय का पाश।

कवीरदास कहते है कि हे मनुष्य! तूने प्रभु-भक्ति के पद तो आत्मलीन होकर गाये, किन्तु फिर भी तेरे भ्रम का निवारण न हो सका क्योकि एक प्रभु-विश्वास का अभाव था। विना विश्वास के तो प्रभु-भक्ति के समस्त साधन व्यर्थ हो गये।

गावण हीं मै रोज है, रोवण हीं में राग।
इक वैरागी ग्रिह मैं, इक गृहीं मै वैराग ॥२०॥

शब्दार्थ—रोज=रुदन। ग्रिह=ग्रहस्थ।

जिस भाँति गायन मे ही रुदन है और रुदन मे ही गान उसी भाँति प्रभु विश्वास के होते हुए वैराग्य मे भी गृहस्थ रहा जा सकता है और गृहस्थी मे भी वैराग्य-साधना हो सकती है—आवश्यकता तो केवल प्रभु-विश्वास की है।

गाया तिनि पाया नहीं, अण-गाँयां थैं दूरि।
जिनि गाया विसवास सूं, तिन रांम रह्या भरपूरि ॥२१॥५८०॥

शब्दार्थ—सरल है।

जिन लोगों ने यह मिथ्या गर्व किया कि उन्होंने प्रभु-भक्ति की है, उन्है प्रभु न मिल सका जिन्होने उसका गुणगान ही नही किया उनसे ती वह बहुत दूर हो गया, किन्तु जिन्होने विश्वासपूर्वक प्रभु-स्मरण किया उनमे प्रभु पूर्णरूपेण समा गया, अर्थात् उनका प्रभु से साक्षात्कार हो गया।

३६. पीव पिछांणन कौ अग

अंग-परिचय—इस अग मे कबीर ने बताया है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है और सृष्टि के प्रत्येक अग मे रमा हुआ है, इसलिए जो व्यक्ति मंदिर मे बद पत्थर की मूर्ति को ब्रह्म मानते है, वे भारी भ्रम मे है। प्रभु तो समस्त ससार मे समाया हुआ है किन्तु वह सासातिक मोह-माया से निर्लिप्त रहता है। ससार के विषयो मे फँस कर आत्मा अपने ऐसे प्रभु के स्वरूप को भूल जाती है। अत उसे समझना चाहिए कि उसका प्रभु निराकार है जिसके न मुँह है और न माथा, वह तो पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म है। भाव यह है कि ब्रह्म निर्गुण और निराकार है। मनुष्य को ऐसे प्रभु के प्रति ही अपनी भक्ति का प्रयास करना चाहिए।

संपटि मांहि समाइया, सो साहिब नही होइ।
सकल मांड मै रह्या, साहिब कहिए सोइ॥१॥

शब्दार्थ—सपटि=सम्पुट, मन्दिर मे। साहिब=प्रभु। माँड=ब्रह्माण्ढ, ससार। सोइ=उसी को।

कबीरदास कहते हैं कि जो पत्थर का देवता मन्दिर मे बन्द है वह परब्रह्म नही हो सकता। जो समस्त ससार मे सर्वत्र रम रहा है, उसी को ब्रह्म मानना उचित है।

विशेष—मूर्ति पूजा का खडन है।

रहै निराला मांड थै, सकल मांड ता माँहि।
कबीर सेवै तास कूं, दूजा कोई नांहि॥२॥

शब्दार्थ—मांड=ब्रह्माण्ड, ससार। निराला=अलग।

समस्त ससार उस प्रभु मे समाया हुआ है तो भी वह सासारिक माया-मोह से सर्वथा निर्लेप रहता है। कबीर ऐसे ही अनुपम प्रभु की भक्ति करता है, वही उसके एकमात्र आश्रय है।

भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।
सतगुर गुरू बतांइया, पूरिबला भरतार॥३॥

शब्दार्थ—भलै=भोली आत्मा। विभचार=व्यभिचार, इन्द्रियो के नाना विषयों मे गमन करना ही व्यभिचार है। गुरू=मन्त्र। पूरिवला=पहले का। भरतार =भर्ता, पति।

कवीर कहते है कि आत्मा ससार-मोह मे पड़कर अपने वास्तविक स्वामी को विस्मृत कर वैठी और ससार की विषय-वासनाओ मे गमन कर व्यभिचार किया। जव सद्गुरु ने भक्ति का मन्त्र दिया तो आत्मा ने पूर्व पति को प्राप्त कर लिय।

जाकै मुँह माथा नहीं, नही रूपक रूप।
पुहुप बास थैं पतला, ऐसा तत अनूप ॥४॥५८४॥

शब्दार्थ—पुहुप=पुष्प। वास=सुगन्धि।

कवीर उस परब्रह्म का स्वरूप समझाते हुए कहते है कि न तो जिसके मुख है, न भाल, और न जिसका कोई सौंदर्य और आकर हे, जो सुमन-सुगन्ध से भी पतला है वह ऐसा अनुपम तत्व है।

३६. बिर्कताई कौ अंग

अंग-परिचय—विरक्ति ब्रह्म के लिए अनिवार्य है। जव मन की आसक्ति सासारिक विषयो में रमी रहती है, तव तक कोई भी साधना सफल नही होती और आत्मा विकारो के वन्धन मे आवद्ध रहती है। इस अग मे कवीरदास ने विरक्ति का वर्णन करते हुए वताया है, कि मे अव ससार से विरक्त हो गया हूं और जिस प्रकार स्फटिक पत्थर में पडी हुई दरार को पुन. नही जोडा जा सकता, उसी प्रकार मेरे मन मे पुनः आसक्ति का प्रवेश नही हो सकता। वासी दूध की भाँति जो आक के पौधे की भाँति विरक्त होकर फट जाता है, मेरा मन भी ससार की नश्वरता एवं क्षणभगुरता देखकर उससे अलग हो गया है, उसकी असक्ति टूट गयी जो टूटे हुए मोति की भाँति पुनः नही जोडी जा सकती। जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र पर कोई रंग नही चढ सकता, उसी प्रकार मेरा मन सासारिक विषय-विकारो से इतनी दूर चला गया है कि अव उन पर इन विकारो का कोइ प्रभाव नही पड सकता।

अपनी विरक्ति का वर्णन करने के पश्चात् कवीर सासारिक विषयो मे आसक्त मनुष्य को सदुपदेश देते हुए कहते है कि हे दिल! तू अपने चित्त को चैतन्यस्वरूप ब्रह्म से लीन करके सांसारिक विषयो के प्रति सावधान क्यो नही हो जाता क्योकि यह संसार तो अनेक प्रकार के सन्तापो का समूह है जिसमें मनुष्य जीवनभर जलता रहता है। ससार की नश्वरता के लिए रोना भी कमै है, क्योकि यहाँ की तो प्रत्येक वस्तु नष्ट होने के लिए ही वनी है। अत तू स्वय को सम्भाल और अपने चंचल मन पर समय का अकुश लगाकर अपने वश मे कर ले, नही तो वह सांसारिक विषयो मे बाँधकर भटक जावेगा। दूसरो को भक्ति के उपदेश देने की अपेक्षा यही अच्छा है कि तू स्वय उन उपदेशो पर आचरण कर, क्योकि भगवान सागर के समान सवके हृदय मे विद्यमान हैं, जिसे भक्ति की प्यास होगी, वह स्वय उस सागर के फल का पान करने के लिए उस ओर चल देगा। इस ससार मे जो भी व्यक्ति स्वामित्व की

भावना लेकर जीवित रहना चाहता है, वह स्वय ही अपने लिए दुख और कष्टों का सग्रह एकत्र करता है। अत इन दुख तथा कष्टो से छूटने का सहज उपाय यही है कि तू स्वामित्व की भावना का परित्याग करके सेवक-भाव से प्रभु के चरणो मे तल्लीन होगा। वास्तविकता तो यह है कि इस ससार मे ईश्वर के सिवाय न तो किसी का अस्तित्व सच्चा ही है और न कोई अपना हितकारी ही है।

मेरै मन मै पड़ि गई, ऐसी एक दरार।
फाटा फटक पषांण ज्यूं, मिल्या न दूजी बार ॥१॥

शब्दार्थ—दरार=सम्बन्ध-विच्छेद की प्रतीक। फटक=स्फटिक, एक पत्थर विशेष।

कबीर कहते है कि अब मेरा ससार से सम्बन्ध विच्छेद हो गया है। जिस प्रकार स्फटिक पत्थर मे पड़ी दरार को पुन नही जोड़ा जा सकता, उसी भाँति अब मेरा मन ससार मे नहीं रम सकता।

विशेष—उपमा अलकार।

मन फाटा बाइक बुरै, मिटी सगाई साक।
जौ परि दूध तिवास का, ऊकटि हूवा आक ॥२॥

शब्दार्थ—बाइक बुरै=बुरी बातो से। सगाइ=सम्बन्ध। साक=साख, विश्वास। तिवास=तीन दिवस का। ऊकटि=फट कर।

कबीर कहते है कि जिस प्रकार तीन दिन का रखा बासी दूध, जो आक के पौधे के समान विषावत हो जाता है, फट जाता है, उसी भाँति संसार की बुरी बातें देखकर मेरा सत उससे फट गया है है, विरक्त हो गया है जिससे साँसारिक सम्बन्ध एवं विश्वास टूट गये हैं।

विशेष—उदाहरण अलकार।

चंदन भागां गुण करै, जैसै चोली पंन।
दोइ जन भागां नां मिलै, मुकताहल अरु मंन ॥३॥

शब्दार्थ—मुक्ताहल=मोती।

चन्दन के टुकड़े-टुकड़े करने पर भी वह अपनी सुगन्ध थषी त्यागता, जिस प्रकार चोली पहनी जाती है, उसी भाँति वक्षस्थल पर उसका शीतल लेप किया जा सकता है किन्तु दो वस्तुएं भग्न होने पर टूट जाने पर पुनः नही मिल पाती—एक तो मन और दूसरा मोती।

पासि बिनंठा कपड़ा, कदे सुरांग न होइ।
कबीर त्याग्या ग्यांन करि, कनक कामनी दोइ ॥४॥

शब्दर्थ—बिनठा=विनष्ट हुआ, फटा-पुराना। सुराग=अच्छा रग। कनक=सोना। कामनी=नारी।

जिस प्रकार फटे-पुराने जीर्ण वस्त्र पर रग भली प्रकार नही चढ़ सकता, उसी प्रकार ससार से विरक्त मेरे मन पर साँसारिक आकर्षणो का रग नही चढ़

सकता। कबीर ने ज्ञान पाकर स्वर्ण (धन) और कामिकी का परित्याग कर दिया है।

विशेष—दृष्टात अलकार।

चित चेतनि मैं गरक ह्वै, चेत्य न देखैं मंत।
कत कत की सालि पाड़िये, गल बल शहर अनंत ॥५॥

शब्दार्थ—गरक है=लीन होना, डूब कर।

कबीर कहते हैं कि हे मित्र! चित्त को चैतन्यरूप परब्रह्म मे लीन कर, सावधान हो क्यो नही देखता? इस ससार रूप बडे नगर मे न जाने कितनी चिन्ताएं एव ताप है तू किस-किस की चिन्ता करेगा? परब्रह्म की अराधना कर स्वय अपना जन्म सफल कर।

जाता है सो जांण दे, तेरी दसा न जाइ।
खेवटिया की नाव ज्यूं, घणै मिलैंगे आइ ॥६॥

शब्दार्थ—खेवटिया=मल्लाह।

कबीर जीवात्मा को प्रबोध देते हुए कहते है कि जो ससार छोडकर जा रहा है उसे जाने दे, यर्थ उसके पीछे अश्रुपात मत कर। केवल यह ध्यान रख कि तेरा आचार-व्यवहार ठीक रहे। तुझसे इस ससार मे अनेक लोग आकर उसी प्रकार मिल जायेंगे जिस प्रकार मल्लाह की नाव के किनारे आ जाने पर बहुत से उसके साथ ही हो लेते है।

भाव यह है कि इस आवागमनपूर्ण संसार मे जाने वाले की चिन्ता मत कर, जगत के इस धारावाहिक क्रम मे तुझे बहुत से मित्र मिल जायेगे।

विशेष—अर्थान्तरयास अलकार।

नीर पिलावत क्या फिरैं, सायर घर घर बारि।
जो त्रिषावंत होइगा, तो पीवेगा झष मारि ॥७॥

शाब्दार्थ—सायर=सागर। त्रिषावंत=प्यासा। झष मार=विवश होकर।

कबीर कहते हैं कि हे साधक! तू प्रभु भक्ति का उपदेशामृत प्रत्येक को पिलाने का क्यो प्रयत्न कर रहा है, क्योंकि इस भक्ति का जल का केन्द्र (सागर) प्रभु—सबके हृदय मे विद्यमान है। जिसको प्रभु-भक्ति की प्यास होगी वह झख मार कर उसका पाता करेगा अर्थात् प्रभ-भजन करेगा।

सत गंठी कोपीन है, साध न मानै संक।
रांम अमलि माता रहैं, गिणै इन्द्र कौ रंक ॥८॥

शाब्दार्थ—संक=शंका, डर। माला=मस्त। रक=भिक्षुक।

साधु अपने हृदय में कोई सासारिक्र वासना (काम वासना भी हो सकता है) नही रखता तो भी समम के लिए वह सात गाँठ युक्त कोपोन धारण करता है। वह तो प्रभु-भक्ति मे मदमस्त रहता है और इसी प्रभु-भक्ति के गौरव से वह वडे से वडे राजा को भी भिक्षुक समझता है।

दावै दाभ्रण होत है, निरदावै निसंक।
जे नर निरदावै रहैं, ते गिणै इंद्र कौं रंक ॥९॥

शब्दार्थ—दावै=अधिकार। दाहण=जलना, दुखी होना। निरदावै=उपेक्षित करता है।

कबीरदास कहते है कि ससार मे अधिकतर, स्वामित्व की इच्छा ही मनुष्य को दग्ध करती है, दुःख देती है। जो अधिकार-भावना को दूर कर देते है उन्हें किसी चोर आदि की सका ही नही रहती। जो मनुष्य स्वामित्व की भावना का त्याग कर जीवन व्यतीत करेगा वह इतना महान होगा कि बडे से बडे राजा को भी वह भिखारी समझेगा।

कबीर सब जग हंढिया, मंदिल कंधि चढ़ाइ।
हरि गिन अपनां को नही, देखे ठोकि बजाइ ॥१०॥५९४॥

शब्दार्थ—हढ़िय=घूमलिया। मदिल कंधि चढाइ=शरीर का भार ढोते हुए। ठोकि बजाइ=भलीभाँति निरीक्षण करके।

कबीरदास कहते है कि मैंने समस्त ससार मे शरीर-भार को ढोते हुए घूम कर देख लिया है, और सुनिश्चित चितन और निरीक्षण के आधार पर देख लिया है कि प्रभु के अतिरिक्त अपना कोई और नही है।

विशेष—तुलना कीजिए—

"मैने सीखी है जीवन की, कुछ और तरह परिभाषा।
अपने कहलाने वालो से, तुम रखना एक न आशा।
चकित न होना पथिक तुम, लख कर जग की झिल-मिल।
राग तुम्हे किससे परदेशी, दूर तुम्हारी मंजिल ॥"

३८. समरथाई कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में यह बताया गया है कि प्रभु सब कुछ करने में समर्थ हैं और वे ही सब कुछ करते है। मनुष्य के वश मे कई वात नही है। वह तो दम्भ के कारण कर्त्ता होने का दावा किया करता है। जिस पर भगवान् की कृपा होती है, सारा संसार उसकी उंगलियो के इशारे पर नाचता है और वह सहज में ही प्रभु के दर्शन कर लेता है। प्रभु के गुण असंख्य और वर्णनातीत है। यदि सातों समुद्रो की स्याही बनाकर, सारे बनो की लेखनी बनाकर और सारी धरती को कागज बनाकर भी प्रभु के गुण लिखे जाये तो वे वे भी नही लिखे जा सकते। वह प्रभु तो अवर्ण्य है, उसके स्वरूप का थोडा-बहुत आभास केवल उसी व्यक्ति को हो सकता है जो सच्चे मन से प्रभु-प्रेम मे लीन हो जाता है। अन्यथा प्रभु की कृपा के बिना मनुष्य के सारे साधन, चाहे वे कितने ही प्रबल क्यो न हो, व्यर्थ और निष्फल सिद्ध होते है। इसीलिए मनुष्य को यह जानना चाहिए कि भगवान् ही सब कुछ करने में

है। वह राई से पर्वत और पर्वत मे राई बना सकता है। मनुष्य के वश में तो कुछ भी नही है, अर्थात् वह भगवान् की प्रेरणा तथा कृपा के विना कुछ भी नही कर सकता।

नां कुछ किया न करि सक्या, नां करणे जोग सरीर।
जे कुछ किया सु हरि किया, तार्थं भया कबीर कबीर ॥१॥

शब्दार्थ—जोग=योग्य। कबीर=महान् व्यक्ति।

कबीरदास कहते है कि न तो मैंने कुछ सत्कर्म किया है और न मैं उसे करने मे समर्थ हू, न मेरा शरीर इतना शक्तिशाली है कि मै कुछ सुकार्य कर सकू। जो कुछ भी मैंने (परोपकार) किया है वह सब प्रभु ने ही किया है, उसी की कृपा से मैं इतना महान् हो गया हू कि सबामेरा सम्मान करते है।

विशेष—यमक अलकार।

कबीर किया कछू न होत है, अनकीया सब होइ।
जे किया कुछ होत है, तौ करता औरै कोइ ॥२॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास कहते है कि मनुष्य के करने से कुछ भी नही हो सकता, जो हम करना नही चाहते है प्रभु-विधान से वह हो जाता है। यदि मनुष्य के प्रयत्न करने से कोई कार्य सफल भी हो जाता है तो उसका श्रेय और किसी को, प्रभु को, ही है।

विशेष—भेदकातिशयोक्ति।

जिसहि न कोई तिसहि तूं, जिस तूं तिस सब कोइ।
दरिगह तेरी सांईयां, नांम हरू मन होई ॥३॥

शब्दार्थ—दरिगह=आश्रम।

जिसका ससार मे कोई नही है उसके सहायक हे प्रभु! आप हैं और जिसके साथ आप है समस्त ससार उसका है। हे प्रभु! तेरे सम्मुख जाकर मन केवल तेरे नाम का ही स्मरण करता है।

एक खड़े ही लहैं, और खड़ा बिबलाइ।
साइं मेरा सुलषनां, सूतां देइ जगाइ ॥४॥

शब्दार्थ—सुलषनां=सुलक्षणयुक्त। सूता=सोते हुए को, मोह-निद्रा मे पड़े हुए को।

कबीर कहते है कि एक भक्त तो प्रभु का दर्शन खड़े होकर ही कर लेता है, अर्थात् थोड़े से ही प्रयत्न से वह प्रभु का साक्षात्कार कर लेता है और दूसरा जिसका प्रभु मे सच्चा अनुराग नही खड़ा-खडा प्रभु के लिये रोता पीटता है। मेरे प्रभु बड़े दयालु हैं कि उन्होंने मुझे ससार की माया-मोह निद्रा से जगाकर चेतनायुक्त कर दिया।

समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौ, तऊ हरि गुंण लिख्या न जाइ ॥५॥

शब्दार्थ—मसि=स्याही। बनराइ=बन।

कवीर कहते है कि सातो समुद्र की यदि स्याही बनाकर समस्त वनों की लेखनी से, समस्त पृथ्वी रूप कागज पर यदि प्रभु के गुण लिखने बैठू तो उनकी संख्या इतनी है कि यह सामग्री थोडी पड जायेगी और प्रभु के गुण समाप्त नही होगे।

अबरन कौं का बरनिये, मोपै लख्या न जाइ।
अपना बाना बाहिया, कहि कहि थाके माइ ॥६॥

शब्दार्थ—अबरन=अवर्ण, निराकार, प्रभु, ब्रह्म। वाना=रुचि।

कवीर कहते है कि निराकार प्रभु का क्या स्वरूप वर्णन किया जाय, मैं तो उसे देखने मे असमर्थ हूं। इसीलिए प्रत्येक साधक ने उसे अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप देखकर जितना वर्णन कर सके, किया है।

झल बांवै झल दांहिनै, झलहि मांहि व्यौहार।
आगै पीछै झलमई, राखै सिरजनहार ॥७॥

शब्दार्थ—झल=अग्नि। बावै=बायें, वाम पार्श्व। व्यौहार=क्रिया-कलाप।

कवीर कहते है कि इस संसार मे जीवात्मा के वाम एवं दक्षिण पार्श्व में सांसारिक तापों की अग्नि जल रही है तथा जितना भी मनुष्य का कार्य-व्यवहार है सर्वत्र अग्नि ही अग्नि—दुःख ही दु.ख—है। यहां तक कि आगे और पीछे मनुष्य का मार्ग इसी से अवरुद्ध है। केवल एक प्रभु ही इस ससार-अग्नि जीव की रक्षा कर सकते हैं।

सांईं मेरा बांणियाँ, सहजि करै व्यौपार।
बिन डांडी बिन पालड़ै, तोलै सब संसार ॥८॥

शब्दार्थ—बाँणिया=बनिया, वणिक्।

कबीर कहते है कि मेरा स्वामी, प्रभु (प्रेम का) व्यापार करने वाला सच्चा व्यापारी है। तराजू के बिना ही समस्त संसार से इस व्यापार की तौल कर रहा है।

भाव यह है कि जिस प्रकार सच्चा व्यापारी धन के बदले उतने ही मूल्य की वस्तु देता है, उसी प्रकार प्रभु से जो जितना अधिक प्रेम करता है, उस पर वह उतनी ही कृपा दृष्टि रखता है।

विशेष—विभावना अलंकार।

कबीर वार्या नांव परि, कीया राई लूण।
जिसहि चलावै पंथ तूं, तिसहिं भुलावै कूण ॥९॥

शब्दार्थ—वार्या=बलिहारी होना । नाव=नाम, प्रभु नाम । कूण=कौन ।

कबीर कहते है कि मैं तो प्रभु नाम की बलिहारी जाता हूं, इस नाम स्मरण से ही मेरा प्रभु से ऐसा अभिन्न साक्षात्कार हो गया कि मैं प्रभु से राई और नमक के समान तदात्म हो गया । हे प्रभु ! जिसे आप भक्ति के सन्मार्ग पर चलते हैं, उसे सासारिक विषय-वासना कैसे पथ-भ्रष्ट कर सकती है ?

विशेष—काकुवक्रोक्ति अलकार ।

कबीर करणीं क्या करै, जे रांम न करै सहाइ ।
जिहिं जिहिं डाली पग धरै, सोई नवि नवि जाइ ॥१०॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि यदि प्रभु सहायता न करे तो मनुष्य कुछ भी कर्म नही कर सकता । प्रभु की अनुकम्पा के अभाव मे तो मनुष्य जिस-जिस शाखा को लक्ष्य तक पहुचाने का अवलम्ब बनाता है वही झुक जाती है । भाव यह है कि प्रभु की सहायता बिना साधन व्यर्थ हो जाते है ।

विशेष—पुनरुक्ति अलकार ।

जदि का माइ जनमियां, कहूँ न पाया सुख ।
डाली डाली मै फिरौं, पातौं पातौं दुख ॥११॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि हे प्रभु जब से मैंने जीवन धारण किया है कभी भी सुख प्राप्त नही किया । सुख प्राप्ति के लिगे मैंने जितना अधिक प्रयत्न किया दुख ने उतना ही मुझे व्यथित किया ।

विशेष—पुनरुक्ति अलकार ।

सांइ सूं सब होत है, बंदे थै कछु नांहि ।
राई थै परबत करै, परबत राई मांहि ॥१२॥६०६॥

शब्दार्थ=साईं=स्वामी, प्रभु । वदे=मनुष्य ।

प्रभु सब कुछ करने मे समर्थ है, किन्तु मनुष्य कुछ भी नही कर सकता । वे शक्तिसम्पन्न प्रभु राई जैसे तुच्छ कण को पर्वताकार दे सकते हैं और पर्वत को राई के समान छोटा बना सकते है । असम्भवतम कार्य उनके लिए सम्भव है ।

३९. कुसबद कौ अंग

अंग-परिचय—कुशब्द अथवा अपशब्द साधुओ के द्वारा वर्ज्य है । उन्हे सदैव ऐसे शब्दो प्रयोग करना चाहिए जो मनोहर और हितकारी हैं । प्रस्तुत अग मे मे कबीर कुशब्दो की निन्दा करते हुए कहते है कि बरछी की नोक की मार तो सही जा सकती है, क्योकि उसके लगने पर व्यक्ति गिरकर भी सास लेता रहता है

किन्तु कुशब्द के आघात से तो व्यक्ति का तुरन्त प्राणांत हो जाता है। जो व्यक्ति कुशब्दो की चोटो को भी धैर्यपूर्वक सहन कर लेता है, वही महान् और सर्वगुणसम्पन्न होता है, क्योकि इसकी चोटो को सहन कर लेना हर व्यक्ति की सीमा से बाहर है। जिस प्रकार पृथ्वी सब व्यक्तियो के पैरो की चोट सहन करती है, इसी प्रकार साधुजन सबके कठोर वचनो को सह लेते है। यह सहनशक्ति व्यक्ति में तभी आती है जब वह अपने-पराये की भावना से मुक्त हो जाता है और जिसे ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरू मैं दास ॥१॥

शब्दार्थ—अणी=अनी, नोक। सुहेली=सहने योग्य। सेल=बरछी। पडता=घायल होकर गिरने पर भी।

बरछी की नोक की मार तो सही भी जा सकती है, क्योकि उसके लगने पर व्यक्ति गिर की भी सास लेता रहता है, किन्तु कुशब्द, बुरी वाणी से तो व्यक्ति तत्क्षण मर जाता है। कबीर कहते है कि जो कुशब्द की चोट के आघात को चुपचाप सहन कर लेगा, वह मेरा गुरु है और मैं उसका शिष्य।

विशेष—(१) तुलना कीजिए—

"अग्निदाहादपि विशिष्ट वाक्पारुष्यम्।',

—'चाणक्य-सूत्र'

(वाणी की कठोरता अग्नि के दाह से भी अधिक कष्ट देती है।")

(२) कुछ विद्वन् द्वितीय पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी कहते है "सद्गुरु के शब्द की चोट जो झेल जाये वह गुरु है और मैं उसका दास," किन्तु यह अर्थ भ्रामक है क्योकि यहाँ 'शब्द' कबीरपथी गीत के अर्थ में नही आया. यहाँ तो (जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है) इसका अर्थ बुरे वचन ('कुसबद') से है।

खूंदन तौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ ॥२॥

शब्दार्थ—खूदन=पैरो की रगड। बनराइ=बनराजि, बन-पक्ति।

कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार पैरो के नीचे रौदने के कष्ट को पृथ्वी ही सहन कर सकती है और बाढ को रोकने मे बन-पंक्ति ही समर्थ है, उसी भाति केवल प्रभु-भक्त, साधु ही बुरे वचनो को चुपचाप सह सकता है।

विशेष—(१) तुलना कीजिए—

"बुद अघात सहै गिरि कैसे। खल के बचन संत सहँ जैसे॥"

(२) उदाहरण अलकार

सीतलता तब जांणियें, समिता रहै समाइ।
पष छाडै निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ ॥३॥

शब्दार्थ—पष=पक्ष, अपनत्व । दूष्या जाई=दूषित लगे, बुरा लगे, कटु लगे ।

कबीर कहते है कि 'मैं' और 'तू' रहित समदृष्टि आने पर ही मनुष्य का स्वभाव शान्तिपूर्ण बन सकता है । अपनत्व छोड़कर निष्पक्ष रहने से किसी की (बुरी) वाणी भी असह्य नही लगती ।

कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान ।
जिहि बैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान ।।४।।६१०।।

शब्दार्थ—बैसदर=अग्नि । उदिक=जल ।

कबीर कहते है कि ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होने से मेरा मन शीतल हो गया । जिस माया की अग्नि से समस्त ससार दग्ध हो रहा था, प्रभु-कृपा से वह मेरे लिए जल के समान शीतल और निर्मल हो गई है ।

☆

४०. सबद कौ अंग

अंग-परिचय—सिद्धो और नाथों की योग-साधना मे शब्द का बडा महत्त्व है । उनकी दर्शन की शब्दावली मे इसे अनहद नाद कहा गया है । प्रस्तुत अंग मे कबीर शब्द अथवा अनहद नाद का परिचय देते हुए कहते हैं कि शब्द समस्त संसार मे व्याप्त है और सभी के हृदयो के तारो को झकृत करता रहता है । जिस व्यक्ति के हृदय मे यह झकृत होने लगता है, उसे फिर ससार के विषय अपनी ओर आकर्षित नही कर सकते । सती, सन्तोषी एवं संसार की विषय-वासनाओ के प्रति जागरूक व्यक्ति ही इस शब्द की महिमा को समझ सकते हैं, क्योकि उनके हृदय गुरु की कृपा के कारण विकारहीन और निर्मल होते हैं ।

इस शब्द का बोध कराने वाला गुरु भी साधारण व्यक्ति नही होता । वह तो सिकलीगर के समान होता है जो शब्द-रूपी शाण पर साधक के शरीर को घिस कर चपका देता है । वही सच्चा शूरवीर होता हैं तो शब्द-बाण मारकर साधक के मन को विकारशून्य बना देता है । हरि की भक्ति से और सतगुरु की कृपा से ही इस बाण की चोट खाने का सौभाग्य साधक को प्राप्त होता है ।

कबीर सबद सरीर मैं, बिनि गुण बाजै तंति ।
बाहरि भीतरि भरि रह्या, तार्थं छूटि भरंति ।।१।।

शब्दार्थ—गुण=रस्सी, यहाँ तार, जो वीणा मे लगे होते है, से तात्पर्य । तति=तन्त्री, वीणा । भरति=भ्रान्ति, माया का भ्रम ।

कबीर कहते है कि शरीर में अक्षर ब्रह्म का अनहद नाद हो रहा है और इस प्रकार बिना तार के ही वीणा झकृत हो रही है । यह अनहद नाद संसार में सर्वत्र और मनुष्य के शरीर के भीतर हो रहा है—इसमें रम जाने से माया भ्रम मे मनुष्य नही पडता ।

विशेष—(१) योगियो की यह मान्यता है कि 'ब्रह्माण्ड' मे सर्वत्र अनहद

नाद हो रहा है और यही अनहद नाय 'पिण्ड'—शरीर—मे भी हो रहा है। योगियों की इसी मान्यता को कबीर ने यहाँ प्रस्तुत किया है।

(२) विभावना अलंकार।

सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुबिचार।
सतगुर के प्रसाद थैं, सहज सील मत सार ॥२॥

शब्दार्थ—प्रसाद=कृपा।

सती, सन्तोष प्राप्त व्यक्ति एवं संसार की विषय-वासनाओं से सचेत व्यक्ति इस अनहद नाद की महिमा से परिचित होते है क्योकि इनका मन निर्मल होता है। ये सब वर्ग सद्‌गुरु की कृपा से यह जान जाते है कि संसार के समस्त मतो, सम्प्रदायों का सार—अपने आचरण को ठीक रखना (सहजशील) है जिससे चित्त निर्मल रहता है।

सतगुर ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ ॥३॥

शब्दार्थ—सिकलीगर=शान रखने वाला कारीगर। मसकता=पत्थर का एक गोल घेरा सा, जो सिकलीगर की साइकिल-सी मे लगा रहता है, पैर से पैडल को घुमाकर ही इस पत्थर द्वारा शान लगाई जाती है। द्रपन=दर्पण, निर्मल, सिकलीगर जंग लगे चाकू आदि को भी शीशे के समान चमका देता है।

कबीर कहते है कि सद्‌गुरु को सिकलीगर के समान होना चाहिए जो शब्द रूपी पत्थर को घुमाकर उसके द्वारा साधक के शरीर को शीशे के समान चमका कर शुद्ध बना दे।

सतगुर साचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भैं मिलि गया, पड़्या कलेजै छेक ॥४॥

शब्दार्थ—साँचा=वास्तविक। बाह्या=मारा, छोड़ा, यहाँ 'कहने' के अर्थ में, किन्तु तीर के समान मर्मान्तक प्रभाव रखने के कारण ही इसे 'बाह्या' कहा है। भैं=भूमि। छेक=छिद्र, दरार, विभेद, यहाँ ससार से सम्बन्ध-विच्छेद अर्थ होगा।

कबीर कहते है कि सद्‌गुरु ही सच्चा शूरवीर है। उसने केवल अपना एक शब्द-रूपी बाण साधक के ऊपर छोड़ा जिसके लगते ही वह पृथ्वी पर धराशायी हो गया, समाधिस्थ हो गया और मेरा ससार से सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

भाव यह है कि गुरु कृपा से ही सब कुछ सफल होते है।

हरि-सर जे जन बेनिया, सतगुण सीं गणि नांहि।
लागी चोट सरीर मे, करक कलेजे मांहि ॥५॥

शब्दार्थ—हरि-सर=प्रभु-बाण।

कबीर कहते है कि जो प्रभु-प्रेम-पाश मे एक बार फंस गया उस पर सातों गुणो-युक्त सीगनियो से भी किये गये बाण के प्रहार का कुछ प्रभाव नही हो सकता।

क्योकि शब्द रूपी वाण की चोट तो साधक के शरीर मे लगी है और उसकी वेदना हृदय-प्रदेश मे हो रही है।

विशेष—असगति अलंकार।

ज्यूं ज्यूं हरि गुण सांभलूं, त्यूं त्यूं लागे तीर।
सांठी सांठी झड़ि पड़ी, भलका रह्या सरीर ॥६॥

शब्दार्थ—साँभलू=सम्हलता हू, स्मरण करता हू। साँठी-साँठी=लकड़ी-लकडी।

कबीर कहते है कि जितना ही अधिक मैं प्रभु-गुण का स्मरण करता हू उतना ही अधिक प्रभु-प्रेम का तीर मेरे हृदय मे उसी प्रकार बैठता जाता है जैसे धनुष की प्रत्यचा (गुण) को कोई जितना अधिक खीचेगा उतना ही अधिक तीर गहरा लगेगा। मेरे मुख से कही गई वाणी मे जो सारतत्व था वह भाले की अनी के समान हृदय मे प्रविष्ट हो गया और शेप निरर्थक बाते भाले की लकड़ी के समान बाहर ही टूट कर गिर गईं।

ज्यूं ज्यूं हरि गुण सांभलौं, त्यूं त्यूं लागै तीर।
लागें थें भागा नहीं, साहणहार कबीर ॥७॥

शब्दार्थ—साहणहार=सहने वाला। कबीर (१) कवि का नाम, (२) महापुरुष।

ज्यो-ज्यो, अधिकाधिक, मैं प्रभु गुणो का स्मरण करता हूँ उनकी प्रेम-भक्ति का तीर मेरे हृदय मे गहरे से गहरा पैठता है। उस प्रेम-वेदना से विचलित हो साधक प्रेम-पंथ से भागने लगा और जो उस ईश-विरह-वेदना को सहन कर जाता है, वही कबीरदास के समान भक्त बन जाता है।

विशेष—श्लेष अलकार।

सारा बहुत पुकारिया, पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर ॥८॥६१८॥

शब्दार्थ—सारा=ढोगी। पीड़=पीडा, वेदना।

ढोगी साधु ईश्वर प्रेम-वेदना का मिथ्याडम्बर कर बहुत प्रदर्शन करता है और जो उस ईश्वरीय पीड़ा से पीड़ित होते है उनकी वेदना कुछ और ही होती है। सद्गुरु के शब्द रूपी बाण की चोट लगकर कबीर तो एक स्थान पर स्थित हो गया है।

भाव यह है कि सद्गुरु के उपदेश-बाण से वृत्तियाँ केन्द्रित होकर प्रभु-भक्ति मे लग जाती हैं।

★

४१. जीवन मृतक कौ अंग

अंग-परिचय—जो व्यक्ति सांसारिक विषय-वासनाओं के बन्धनो से मुक्त है, वह जीवित है और जो आवद्ध है, वह मृतक है। इन बंधनो से छुटकारा पाने के लिए मन पर नियंत्रण करना आवश्यक है, क्योकि जब तक मन का चाचल्य नष्ट नही होगा, तब तक साधक की कोई भी साधना सफल नही होगी ससार से सबध विच्छेद कर देने के पश्चात् ही प्रभु की कृपा प्राप्त होती है प्राकृतिक मृत्यु को तो सब ही व्यक्ति प्राप्त होते है, किन्तु ऐसा व्यक्ति बिरला ही होता है जो अपने जीवन मे ही अपनी इन्द्रियो को मार देता है। ऐसा मनुष्य कभी भी प्राकृतिक मृत्यु को प्राप्त नही होता। मन की चंचलता नष्ट करने पर, माया का मोह छोड देने पर और अहं को तिलाजलि दे देने पर ही मनुष्य मुक्ति का अधिकारी बनता है। किन्तु इस प्रकार मरना भी हर आदमी नही जानता।

मनुष्य की श्रेष्ठता की कसौटी प्रभु-भक्ति है। जो इस कसौटी पर खरा उतर आता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है और जो खरा नही उतरता, वह आवागमन के बंधन मे बंदी बना रहता है। अहकार को समाप्त करने के पश्चात् ही मनुष्य इस कसौटी पर खरा उतर सकता है। इसके लिए प्रभु का अवलम्ब भी आवश्यक है। बिना प्रभु में विश्वास स्थापित किये कोई भी व्यक्ति अपनी साधना मे सफल नही हो सकता, न वह सांसारिक बधनो से ही छूट सकता है। इसीलिए प्रभु को प्राप्त करने के लिए साधक को रोड़े की तरह बन जाना चाहिए। जिस प्रकार वह रोड़ा सबके पदाघातों को सहता है, उसी प्रकार साधक को भी सबके दुर्व्यवहार को शातिपूर्वक सह लेना चाहिए।

जीवत मृतक ह्वै रहै, तजै जगत की आस।
तब हरि सेवा आवण करै, मति दुख पावै दास ॥१॥

शब्दार्थ—जीवत=जीवित। दास=भक्त।

जो मनुष्य जीवित रहते हुए भी सासारिक माया-जन्य आकर्षणो में उलझते हुए जीवन्मुक्त हो सासारिक आशा-अभिलाषाओ का परित्याग कर देते है, उन्हे प्रभु अपनी सेवा मे लेकर (अनुकम्पापूर्वक) उनका दुःख दूर कर देते है।

कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर।
तब पैडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर ॥२॥

शब्दार्थ—कबीर-कबीर=भक्त के लिए सम्बोधन से तात्पर्य है।

कबीर कहते है कि यदि मन मर जाय, सासारिक आकर्षणों मे निश्चेष्ट हो जाय और शरीर प्रभु-भक्ति मे दुर्बल हो जाय तब भक्त के पीछे भगवान् उसे पुकारते फिरते हैं अर्थात् कथित आचरण से स्वयमेव भगवत्-प्राप्ति हो जाती है।

कबीर मरि मड़हट गह्या, तब कोइ न बूझै सार।
हरि आदर आगै लिया, ज्यूं गऊ बछ की लार ॥३॥

शब्दार्थ—मड़हट=श्मशान, संसार। बछ=बछड़ा। लार=पंक्ति।

कबीर जीवन्मुक्त हो जीवित अवस्था मे भी मरकर इस संसार रूपी श्मशान मे उपेक्षित पडा रहा, समस्त ससार ने उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। केवल प्रभु ने ही मुझे उस वत्सल भाव से ग्रहण किया, जिस भाँति गाय अपने बछडे को, अर्थात् ममता और स्नेहपूर्वक।

> घर जालौं घर ऊबरै, घर राखौं घर जाइ।
> एक अचंभा देखिया, मड़ा काल कौं खाइ ॥४॥

शब्दार्थ—मडा=मृतक। काल=मृत्यु।

यदि मैं इस सासारिक घर-बार को जला देता हू, इसके ममता-बन्धन मे नही पडता हूँ तो वह वास्तविक घर—प्रभु-साक्षात्कार से प्राप्त घर—बचता है और यदि इस सासारिक गृह-रक्षा मे पड़ माया बन्धन मे पडता हू तो वह वास्तविक घर—उद्देश्य—मोक्ष नष्ट हो जाता है। कबीर कहते है कि मैंने एक बहुत बडा आश्चर्य देखा है कि मृतक शव काल को समाप्त कर रहा है (जबकि साधारण अवस्था मे काल मृतक को खाता है) अर्थात् जीवन्मुक्त मनुष्य काल की सीमा और शक्ति को समाप्त कर अमर हो रहा है।

विशेष—विरोधाभास अलकार।

> मरतां मरतां जग मुवा, औसर मुवा न कोइ।
> कबीर ऐसै मरि मुवा, ज्यूं बहुरि न मरनां होइ ॥५॥

शब्दार्थ—मुवा=समाप्त हो गया। औसर=अवसर। बहुरि—पुनः, फिर।

मृत्यु को प्राप्त होता-होता ही संसार विनष्ट हो गया, किन्तु अवसर रहते हुए मरना, जीवन्मुक्त होना, किसी ने नही जाना। कबीर अपने जीवन-काल मे ही इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हो गया कि ससार के आकर्षणो एवं विषयो से कोई सम्बन्ध ही नही रह गया अर्थात् वह जीवन्मुक्त हो गया। अब उसे आवागमन के इस ससार चक्र मे पड़ना नही पड़ेगा।

> बैद मुवा रोगी मुवा, मुवा सकल संसार।
> एक कबीरा ना मुवा, जिनि के राम अधार ॥६॥

शब्दार्थ—मुवा=मर गया, समाप्त हो गया।

कबीर कहते हैं कि वैद्य अर्थात् ससार-ताप से पिंड छुडाने का प्रयत्न करने वाला भी समाप्त हो गया और समस्त ससार भी उसके उपचार से ठीक न होकर नष्ट हो गया, केवल वही बच रहे जिनके एकमात्र आश्रय प्रभु थे।

> मन मार्या ममिता मुइ, अहं गइ सब छूटि।
> जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥ . ॥

शब्दार्थ—ममता='अय परो वा' की भावना।

सासारिक विषयो मे मन की गति अवरुद्ध होने पर ममत्व का मोह एवं अहं का दर्प सब समाप्त हो गया। ऐसी अवस्था आने पर साधक प्रभु मे रम गया

और जिस आसन पर वह समाधिस्थ था वहा तो केवल शरीर—शव—मात्र रह गया।

जीवन थैं मरिबौ भलौ, जौ मरि जानै कोइ।
मरनै पहली जे मरै, तो कलि अजरावर होइ ॥८॥

शब्दार्थ—अजरावर=आश्चर्यचकित।

उस जीवन से जिसमे ससार-विषयो मे ही मनुष्य उलझा रहता है, मृत्यु ही अच्छी है। यदि कोई जीवनावस्था मे ही मृत्यु को प्राप्त हो जाय; अर्थात् संसार से पूर्ण तटस्थ हो जीवन्मुक्त हो जाय तो कलियुग मे यह आश्चर्यचकित कर देने वाली बात ही होगी।

खरी कसौटी रांम की, खोटा टिकै न कोइ।
रांम कसौटी सो टिकै, जौ जीवत मृतक होइ ॥९॥

शब्दार्थ—मृतक=मुक्त।

प्रभु-भक्ति ही श्रेष्ठता की वास्तविक कसौटी है जिस पर कोई कुप्रवृत्ति वाला मनुष्य खारा नही उतर सकता। प्रभु-भक्ति की कसौटी पर तो वही खरा उतर सकता है जो जीवित अवस्था मे ही ससार से मृतक के समान असम्बद्ध रहे—यही जीवन्मुक्त अवस्था है।

आपा मेट्यां हरि मिलै हरि मेट्या सब जाइ।
अकथ कहांणीं प्रेम की, कह्यां न को पत्ययाइ ॥१०॥

शब्दार्थ—पत्ययाई=विश्वास करे। आपा नेट्या=अह को मिटाना, दर्प को दूर करना।

मनुष्य यदि अपने अहं (दर्प) को समाप्त कर दे तो प्रभु-प्राप्ति सम्भव है, किन्तु जब संसार के आकर्षणो के सम्मुख ईश्वर को विस्मृत कर दिया जाता है तो सर्वस्व नष्ट हो जाता है। प्रभु-प्रेम की यह विलक्षण गति अवर्णनीय है। यदि इसका वर्णन किया जाय तो कोई विश्वास नही कर सकता।

निगुसांवां बहि जाइगा, जाकै घाघी नहीं कोइ।
दीन गरीबी बंदिगी, करतां होइ सु होइ ॥११॥

शब्दार्थ— निगुसावा=स्वामीहीन। घाघी=नाव की पतवार।

इस ससार मे प्रभु विश्वास के अवलम्ब बिना व्यक्ति नष्ट हो जयगा, इसी भाव को प्रकट करते हुए कबीर कहते है कि इस ससार-सरिता मे जिसकी नौका का गुरुरूपी पतवार नही, बह जायगा, समाप्त हो जायगा। अत' हे मनुष्य ! तू विनम्रता और श्रद्धा सहित दीनावस्था मे भी प्रभु-भक्ति का कुछ न कुछ कार्य करता रह।

दीन गरीबी देन कौं, दूंदर कौं अभिमान।
दुंदर दिल विस सं भरी, दीन गरीबी राम ॥१२॥

शब्दार्थ—दीन=निर्धन। दूंदर=धनिक। विष=विषय-वासना एव कलुषित भावना।

जो निर्धन है उनमे विनम्रता है एवं धनिक मे अभिमान है। धनिक का हृदय विषय-वासनाओ एव कलुषित भावनाओ से भरा रहता है और निर्धन का हृदय प्रभु-भक्ति से ओत-प्रोत रहता है।

कबीर चेरा सत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसैं ह्वै रह्या, ज्यूं पाऊं तलि घास ॥१३॥

शब्दार्थ—चेरा=चेला, शिष्य।

कबीर कहते है कि मैं साधु-सन्तो का शिष्य एवं प्रभु-भक्तों का दासानुदास हूं। जिस प्रकार घास पैरो के नीचे रुंदकर भी प्रतिकार नही करती उसी भाँति मैं भी सन्तो और भक्तो का विनम्र सेवक हूं।

विशेष—उपमा अलकार।

रोड़ा ह्वै रहौ वाट का, तजि पाषंड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान ॥१४॥६३२॥

शब्दार्थ—वाट का=मार्ग का।

कबीर कहते हैं कि साधक! तू अपने मं ऐसा विनीत भाव वना ले जिस प्रकार मार्ग मे पडा रोडा सवका पदाघात चुपचाप सहता है। जव तुझ मे ऐसा विनम्र भाव और अह का विसर्जन हो जायगा तभी; तुझे प्रभु-प्राप्ति हो जायगी।

४२. चित कपटीभेष कौ अंग

अंग-परिचय—मन की कपटाता साधना मे वाधक है। इसीलिए प्रस्तुत अंग मे कवीर ने वताया है कि जहाँ कपटपूर्ण प्रेम का प्रदर्शन होता हो,वहाँ साधकको भूलकर भी नही कहना चाहिए। इस प्रकार का स्नेह कवीर के मुख की भाँति रोता है जो ऊपर से लाल तथा अन्दर से सफेद होता है। इसी प्रकार कपटी व्यक्तियों के प्रेम मे वास्तविकता कुछ भी नही होती। वे ऊपर से तो प्रेम का नाटक रचते हैं, किन्तु उनके हृदय मे कपट भरा रहता है। निष्कपट हृदय का प्रेम पा जाना वड़े ही सौभाग्य का विषय है, क्योकि इस संसार मे दो ही वातें प्राप्त करने योग्य है—प्रभु की भक्ति और निष्कपट प्रेम।

कवीर तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत।
जालूं कली कनीर की, तन रातौ मन सेत ॥१॥

शब्दार्थ—हेत=प्रेम।

कबीर कहते है कि जहा कपटपूर्ण स्नेह का प्रदर्शन मात्र हो वहाँ कभी नही जाना चाहिए। कवीर-पुरुष से लाल होता है और भीतर से श्वेत—इसका अनुराग का लाल रग कृत्रिम है क्योकि हृदय में तो श्वेत—फीका—रंग है। ऐसे पुष्प को नष्ट कर देना उपयुक्त है, अर्थात् ऐसे कपटी हृदय मनुष्य से प्रेम सम्वन्ध तोड़ देना चाहिए।

विशेष—'कली किनीर की'—का अर्थ कुछ विद्वानों ने कनेर के फूल से लगाया है, किन्तु कनेर का फूल पीला होता है। यहाँ कबीर का तात्पर्य दुपहरिया के लाल-सुमन से है जो भीतर से श्वेत निकलता है।

संसारी साषत भला, कंवारी कै भाइ।
दुराचारी बैश्नों बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ ॥२॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर शाक्तो के विरोधी एव वैष्णवो के प्रशसक है किन्तु मिथ्याचारी वैष्णव के वे शब्द है—उससे तो अच्छा वे घृणित शाक्त को ही बताते है। वे कहते हैं ससार लिप्त शाक्त, संन्यासी किन्तु दुराचारी वैष्णव से अच्छा है। वह ससारी शाक्त तो मन से कुमारी कन्या के समान निर्मल है और वह वैष्णव कलुषित भावनाओ से परिपूर्ण, प्रभु भक्त को ऐसे वैष्णव के पास नही जाना चाहिए।

निरमल हरि का नांव सों, कै निरमल सुध भाइ।
कै लै दूणी कालिमां, भावै सौ मण सावण लाइ ॥३॥६३५॥

शब्दार्थ—कै=अथवा। सुध भाइ=शुद्ध भाव। दूणी=दुगुनी। सौ मण =सौ मन, अपरिमित।

कबीर कहते है कि इस ससार मे दो ही प्रकार के आचरण हो सकते है—एक तो प्रभु का प्रेम-पूर्वक स्मरण और प्रत्येक व्यवहार मे मन की पवित्रता रखना और दूसरा मार्ग यह है कि मनुष्य कुकर्मों मे अधिकाधिक सलग्न रहे, फिर उस कालुष्य को चाहे तो भी सौ मन साबन लगाकर भी तमाप्त नही कर सकता है।

भव यह है कि एकमात्र प्रभु-भक्ति ही संसार मे काम्य है।

४३. गुरुसिष हेरा कौ अंग

अंग-परिचय—निर्गुण-साधना मे गुरु का बहुत अधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है, किन्तु सच्चा गुरु शिष्य को भाग्य से ही प्राप्त होता है। प्रस्तुत अग मे इसी बात का वर्णन करते हुए कबीरदास कहते है कि जो गुरु अपने उपदेश द्वारा शिष्य को भव-सागर से पार उतार सके, ऐसा गुरु मिलना दुर्लभ है। गुरु मे एक भक्ति का होना भी आवश्यक है। राम के प्रति उसमे आत्म-समर्पण की ऐसी भावना होनी चाहिए। जैसी हिरन की सगीत के प्रति होती है। गुरुत्व का दर्जा व्यक्ति को तभी मिलता है जब वह अपनी इन्द्रियो पर तथा सासारिक आकर्षणो पर पूर्णतया विजय प्राप्त कर लेता है।

इस संसार की माया अनायास ही सबका मन मोहित कर लेती है। कोई विरला ही ऐसा व्यक्ति होता है जो हरि कृपा प्राप्त करके इस माया के बन्धन से छुटकारा पा लेता है। ससार मे ढोगी व्यक्ति तो बहुत रहते है, पर ऐसा व्यक्ति कोई नही मिल रहा है जो सच्चे मन से प्रभु से प्रेम करता है।

ऐसा कोई नां मिलै, हम कौं दे उपदेस।
भौसागर मैं डूबतां, कर गहि काढ़ै केस ॥१॥

शब्दार्थ—भौसागर=भव-सागर, ससार-समुद्र। केस=केश, बाल।

कबीर कहते हैं कि इस ससार मे कोई ऐसा कृती मनुष्य (गुरु) नही मिला जो हमे उपदेश, दे सके, जो इस ससार-समुद्र मे मुझे डूबते हुए को हाथ और केश पकड कर निकाल ले।

ऐसा कोई नां मिलै, हम कौं लेइ पिछानि॥
अपना करि किरपा करै, ले उतारि मैंदानि ॥२॥

शब्दार्थ—पिछानि=पहचान।

कबीर कहते है कि हमे संसार मे ऐमा कोई मनुष्य तही मिला जो मेरे गुणों को पहचान कर मुझे शिष्य बना लेता और कृपापूर्वक अपना कर इस संसार-क्षेत्र के पार उतार देता।

ऐसा कोई नां मिलै, रांम भगति का गीत।
तन मन सौंपे मृग ज्यूं, सुनै बधिक का गीत ॥३॥

शब्दार्थ—मृग=हिरन। बधिक=शिकारी।

प्रभु-भक्ति से परिपूर्ण कोई गुरु हमे न मिल सका जिसके उपदेश-इगित पर हम अपना तन-मन, सर्वस्व, उसी प्रकार अर्पित कर देते जैसे मृग आखेटक का तन्त्रीनाद सुन कर विमोहित हो रुक जाता है—फिर उसे यह भी चिन्ता नही रहती कि मेरे शरीर पर अनवरत बाण-वर्षा हो रही है।

विशेष—उपमा अलकार।

ऐसा कोई नां मिलै, अपना घर देइ जराइ।
पंचू लरिका पटिक करि, रहै रांम ल्यौ लाइ ॥४॥

शब्दार्थ—पचू लरिका=पाँच इन्द्रियो रूपी लडकियाँ। ल्यौ=प्रम।

हमे किसी ऐसे पूर्ण विरक्त के दर्शन नहीं हुए जो अपना समस्त गृहद्वार भस्म कर देता और अपने काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, रूपी पाँचों पुत्रो अथवा पाँचो इन्द्रियो रूपी लड़कियों से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद कर प्रभु से सच्चा प्रेम करता हो।

ऐसा कोई नां मिलै, जासौं रहिये लागि।
सब जग जलता देखिये, आपहीं अपणीं आगि ॥५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि मुझे कोई ऐसा सिद्ध नहीं मिला जिसका अनुसरण किया जाता। मैंने समस्त ससार को अपनी-अपनी धुन मे व्यस्त और अपनी अपनी चिन्ता-व्यथाओ मे भस्म होते देखा है।

ऐसा कोई नां मिलै, जसूं कहूँ निसंक।
जासूं हिरदै की कहूँ, सो फिरि मांडै कंक ॥६॥

शब्दार्थ—मॉडै=गूँधना । कंक=ककाल, शरीर ।

कबीर कहते है कि ऐसा व्यक्ति संसार मे कोई नही मिला जिससे निस्संकोच होकर अपने मन की वात कह सकू । जिससे मै अपने हृदय का समस्त रहस्य प्रकट कर देता हूं, वही सव स्थितियो से अवगत हो मेरे शरीर को उसी प्रकार व्यथित करता है जैसे आटे को गूध-गूंध कर घूसे मार-मार कर, यातना दी जाती है ।

ऐसा कोई नां मिलै, सब बि ध देइ बताइ ।
सुनि मंडल मैं पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाइ ॥७॥

शब्दार्थ—सुनि=शून्य । पुरिष=पुरुष, ब्रह्म ।

ऐसा कोई सद्गुरु नही मिला जो योगसाधना के समस्त रहस्यो से मुझे अवगत कराता और शून्य मण्डल मे स्थित उस परम-पुरुष की अनन्त ज्योति से मेरा सक्षात्कार करा देता ।

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जांह ।
ऐसा कोई नां मिलै, पकड़ि छुड़ावै बांह ॥८॥

शब्दार्थ—सरल है ।

हमारे देखते ही देखते सम्पूर्ण ससार विनष्ट हुआ जा रहा है और समस्त जगत् के सम्मुख मेरा भी विनाश हुआ जा रहा है । कोई ऐसा कृती (गुरु) नही मिला जो इस कालचक्र से मेरी भुजा पकड़ कर निकाल देता ।

तीनि सनेही बहु मिलै, चौथे मिलै न कोइ ।
सबै पियारे राम के, बैठे परवसि होइ ॥९॥

शब्दार्थ—परवसि=परवश, मायाग्रस्त ।

इस संसार मे 'तीन' के तो प्रेमी वहुत है किन्तु एक उस परम प्रभु का प्रेमी कोई नही । यद्यपि सब प्रभु से कुछ न कुछ अनुराग रखते है किन्तु फिर भी वे माया ग्रस्त हो संसार मे लिप्त है ।

विशेष—"तीन सनेही बहु मिलै" मे तीन के विभिन्न अर्थ लिए जा सकते है—प्रत्येक सन्दर्भ मे 'चौथे' का अर्थ कुछ बदल जायगा, यथा—

(१) (i) जागृत (ii) स्वप्न (iii) सुषुप्ति (iv) तुरीय—यही काम्य है ।
(२) (i) धर्म (ii) अर्थ (iii) काम (iv) मोक्ष—यही काम्य है ।
(३) (i) लोकैषणा (ii) वित्तैषण (iii) पुत्रैषणा (iv) प्रभु प्राप्ति की इच्छा—यही काम्य है ।

इनमे २ व ३ न० मे पर्याप्त समानता है ।

माया मिलै महोबंती, कूड़े आखै बैन ।
कोई घायल बेध्या नां मिलै, साईं हंदा सैण ॥१०॥

शब्दार्थ—महोवती=मोहयुक्त । कूडे=बुरे । आखै=कहती है । वेध्या=वेधा हुआ । साईं=प्रभु । सैण=कटाक्ष ।

इस संसार में सर्वत्र मोहमयी माया का साम्राज्य है जो कुव्यसन कराती है, मिथ्याचार कराती है। प्रभु की प्रेम-दृष्टि के कटाक्ष का घायल, इससे जिसका हृदय बिंध गया है, ऐसा कोई नहीं मिलता।

सारा सूरा बहु मिलै घायल मिलै न कोइ।
घायल ही घायल मिलै, तब रांम भगति दिढ़ होइ ॥११॥

शब्दार्थ— सारा सूरा=अक्षत, वीर योद्धा। दिढ़= दृढ़, मजबूत।

संसार में ऐसे योद्धा तो अनेक मिले जो प्रभु-भक्ति में घायल नहीं थे, किन्तु घायल कोई नहीं मिला। जब प्रभुभक्ति में घायल भक्त को अपने समान ही घायल मिल जाता है तो प्रभु-भक्ति परिपक्व होती है।

प्रेमी ढूंढत मैं फिरौं, प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी कौं प्रेमी मिलै, तब सब विष अमृत होइ ॥१२॥

शब्दार्थ—सरल है।

मैं प्रभु के प्रेमी को खोज रहा हूं किन्तु कोई प्रभु-प्रेमी नहीं मिल रहा है। जब एक भक्त को दूसरा भक्त मिल जाय तो संसार की विषय-वासनाओं का विष समाप्त हो जाता है।

हम घर जाल्या आपणां, लिया मुराडा हाथि।
अब घर जालौं तास का, जे चलै हमारे साथि ॥१३॥६४८॥

शब्दार्थ—मुराडा=ज्ञान-शलाका की मशाल।

मैंने अपना घर जला दिया है और ज्ञान-शलाका की मशाल लेकर साधना पथ में बढ़ रहा हूं। अब मैं उसका इस संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर घर फूंक दूंगा जो मेरे साथ चलने के लिए प्रस्तुत हो। अर्थात् वही व्यक्ति मेरे साथ चल सकता है जो संसार के विषयों का पूर्णरूप से परित्याग कर दे।

४४. हेत प्रीति सनेह कौ अंग

अंग-परिचय—इस अंग में प्रेम की महत्ता का वर्णन किया है। जिसका जिससे प्रेम होता है, चाहे वे दोनो कितनी ही दूरी पर स्थित क्यों न हो, परस्पर मिल ही जाते हैं, जैसे कुमोदिनी तो पृथ्वी पर तालाव मे रहती है और चन्द्रमा आकाश मे वसता है, फिर भी कुमोदिनी का उससे प्रेम वना हुआ है। इसी प्रकार चाहे गुरु काशी में रहता हो और शिष्य वहुत दूर समुद्र के किनारे पर वैठा हो, किन्तु यदि शिष्य गुणवान है तो उसका गुरु उसे कभी नही भूल सकता। वास्तविकता तो यह है कि जो जिसको प्रिय है, वह उससे मिलकर ही रहता है, वह उसकी स्मृति से कभी भी विस्मृत नही होता और प्रभु भी तो मन के भाव पर—प्रीति पर—ही रीझते हैं।

कमोदनीं जलहरि वसै, चंदा वसै अकासि।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥१॥

शब्दार्थ—कमुदनी=एक पुष्प विशेष, जो जल मे होता है और चन्द्र दर्शन दर्शन से विकसित होता है।

कुमुदिनी का वास जल में है और चन्द्रमा उससे बहुत दूर आकाश मे स्थित है किन्तु फिर भी उनका प्रेम प्रसिद्ध है। वस्तुतः जो जिसका वास्तविक प्रेमी है वह दूर रहकर भी उसके बहुत सन्निकट है।

विशेष—(१) अर्थान्तरन्यास अलंकार।

(२) इस दोहे का यह भी रूपातर मिलता है—

जल मे बसै कुमोदनी, चदा बसै अकास।
जो जाही का भावता, सो ताहि कै पास॥'

कबीर गुर बसै बनारसी, सिष समंदां तीर।
बिसार्या नहीं बीसरै, जे गुंण होइ सरीर॥२॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि साधक का गुरु तो काशी मे रहता है और शिष्य समुद्र तट पर बैठा तपस्या करता है, किन्तु जो साधक गुणवान् है तो गुरु उसे दूर रहने पर भी नही भूल सकता।

जो हैं जाका भावता, जदि तदि मिलसी आइ।
जाकौं तन मन सौंपिया, सो कबहूँ छांड़ि न जाइ॥३॥

शब्दार्थ—जदि-तदि=यदा-कदा।

जो जिसका प्रिय है वह उसे यदा-कदा मिल ही जाता है। जिसको तन-मन सर्वस्व अर्पण किया जा चुका है वह कभी भी प्रिय से सम्बन्ध विच्छेद नही करेगा।

स्वामी सेवक एक मत, मन ही मै मिलि जाइ।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ॥४॥६५२॥

शब्दार्थ—चतुराई=ज्ञान। भाइ=भाव, प्रेम-भाव।

स्वामी और सेवक—प्रभु और भक्त—दोनो मन मे ही मिलकर एक-मत हो जाते है हृदयगत प्रेरणा उन्हे एक मेक कर देती है। प्रभु किसी के ज्ञान पर नही अपितु मन के प्रेम भाव पर ही रीझते है।

४५. सूरा तन कौ अंग

अंग-परिचय—निर्गुण सन्तो की साधना मे शूरवीर का बडा महत्व है। प्रस्तुत अग मे कबीर ने बताया है कि शूरवीर कौन होता है। जो व्यक्ति अपने मनरूपी शत्रु से युद्ध करके उसकी काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह इन पाँच प्रकार की सेनाओ को जीत लेता है, जो चारो ओर घूमकर युद्ध करता है; अर्थात् चतुर्दिक से अपनी इन्द्रियो को वश मे कर लेता है, जो ससार की विषय-वासनाओ मे नही फँसता, जो मनोयोग रूपी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर एवं सहजावस्था का कवच धारण

करके कुवृत्तितो से जूझता है, जो अपने स्वामी के हित के लिए इतनी धीरता से युद्ध करता है कि चाहे वह टुकडे-टुकडे हो जाये, तो भी रणक्षेत्र से नहीं भागता, जो शरीर का मोह छोडकर प्रभु के लिए अपने शीश को अर्पण कर देता है, वही सच्चा शूरवीर कहलाता है।

इसके अतिरिक्त कबीर ने इस अग मे और भी कुछ विषयो का उल्लेख किया है। प्रभु-मिलन की आशा का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा है कि अब तो साधना-मार्ग मे ऐसी स्थिति आ गई है कि मन प्रभु-भक्ति मे ही प्रवृत हो गया है, अतः प्रभु का मिलन निश्चित है। मृत्यु से डरना केवल अज्ञानता का कारण है, क्योकि मृत्यु तो एक ऐसा साधन है जो आत्मा को शरीर के बधन से मुक्त करके परम ब्रह्म से मिलाती है। साधना का पथ सुगम नही है, इसलिये हर प्राणी इसके छोर तक नही पहुंच पाता। प्रभु से प्रेम करना भी आसान नही है। वही व्यक्ति प्रभु से सच्चा प्रेम कर सकता है जो अपने सिर को उतार कर अपनी हथेली पर रख लेता है। इसलिए भक्ति करना शूरवीरो का काम है, कायरो का नही। यह तो तलवार की धार पर चलने के समान है जिस पर तनिक भी विचलित होने से सर्वनाश हो जाता है; यह उस अग्नि कुण्ड के समान हैं जिसमे कूदने वाले पार हो जाते है और कूदने से डरने वाले जलकर भस्म हो जाते हैं।

जिस प्रकार सती स्त्री अपना सर्वस्व बलिदान करके भी अपने प्रियतम को प्राप्त कर लेना चाहती है, उसी प्रकार आत्मा भी—यदि परम ब्रह्म मे उसका सच्चा अनुराग है—परमात्मा को प्राप्त करने के लिये अपना सर्वस्व निछावर करने को तत्पर रहती है। प्रभु की भक्ति प्रकट होकर, सब प्रकार की बाधाओ को सहने करके करनी चाहिये। जो बाधाओ से डरकर छिपकर प्रभु की भक्ति करता है, वह सच्चा भक्त नही है। भक्ति मे स्वार्थ-भावना का त्याग आवश्यक है, क्योकि जब तक भक्त के मन मे स्वार्थ की भावना है, तब तक वह अपनी भक्ति मे सफल नही हो सकता।

काइर हुवां न छूटिये, कछु सूरा तन साहि।
भरम भलका दूरि करि, सुमिरण सेल संबाहि ॥१॥

शब्दार्थ—काइर=कायर। सूरा=शूरता। साहि=सुशोभित कर, सराह। भरम भलका=भ्रम रूपी भाला। सुमिरण=प्रभ स्मरण। सेल=बरछी, एक अस्त्र-विशेष।

कबीर कहते है कि कायर रहने से तो मनुष्य ससार के युद्ध क्षेत्र से मुक्त नहीं हो सकता। अतः हे मनुष्य! तू माया-मोह, काम-क्रोध आदि से युद्ध करने मे कुछ वीरता दिखा। इस ससार के भ्रम-रूपी भाले को दूर फैंक दे और प्रभु-स्मरणकी बरछी से, अगद के सग्राम को जीत।

षूंणै पड्या न छूटियो, सुणि रे जीव अबूझ।
कबीर मरि मैदान मैं, करि इंद्र्यां सूं झूझ ॥२॥

शब्दार्थ—षूणों=कोने मे, एकान्त में। अबूझ=अज्ञानी। मैदान=युद्ध क्षेत्र, ससार। झूझ = युद्ध।

कबीर कहते हैं कि हे मूख जीवात्मा! एकान्त में तपस्या करने से तेरी मुक्ति नही होगी। मुक्ति के लिए संसार के रणक्षेत्र में इन्द्रियो से युद्ध करना आवश्यक है। भाव यह है कि इन्द्रियों को जीत लेने वाली आत्मा ही मुक्तात्मा है।

कबीर सोई सूरवां, मन सूं मांडै झूझ।
पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करै सब दूज ॥३॥

शब्दार्थ—सूरिवाँ=सूरमाँ, शूरमा, शूरवीर। पच पयादा=काम, क्रोध मद, लोभ, मोह—पाँच पदाति, प्राचीन समय मे चार प्रकार की सेनाओ का उल्लेख प्राप्त होता है—गजसेना, रथसेना, अश्वसेना एवं पताति सेना। कबीर यहाँ पदाति के सैनिको का उल्लेख करते है। दूज=द्वैध, द्वैत-भावना।

कवीर कहते है कि शूरवीर वही है जो मन रूपी शत्रु से युद्ध करे और उसके काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह खपी पाँचो पदाति सैनिको को भगा दे तथा द्वैत-भावना को भी रणक्षेत्र मे न रुकने दे।

सूरा झूझै गिरदै सूं इक दिसि सूर न होइ।
कबीर यौं बिन सूरिवां, भला न कहिसी कोइ ॥४॥

शब्दार्थ—गिरद=इर्द-गिर्द, चारो ओर।

युद्धपक्ष—वस्तुत· शूरवीर वही है जो चारो ओर घूमकर युद्ध करे—एक ही दिशा के शत्रुओ का नाश करने वाला सच्चा शूरवीर नही। जो इस प्रकार युद्ध नही करता उसे कोई श्रेष्ठ योद्धा नही कह सकता।

साधनापक्ष—साधक को अपने चारों ओर छाये माया-आकर्षणों एव अन्य असत् तत्वों से युद्ध करना चाहिये, जो केवल एकाध असत् तत्व से जूझता है वह सच्चा साधक नही रहता। सच्चे साधक के लिये समस्त असत् तत्वो से संग्राम आवश्यक है।

विशेष—श्लेष अलंकार।

कबीर आरणि पैसि करि, पीछै रहै सु सूर।
सांईं सूं साचा भया, रहसी सदा हजूर ॥५॥

शब्दार्थ—आरणि=अरण्य, वन। पैसि करि=प्रवेश कर। साचा भया= कर्तव्य के प्रति सच्चा। हजूर=कृपा-पात्र।

कबीर कहने हैं कि इस ससार रूपी, वन मे प्रविष्ट हो जो पीछे रह गया, इसके विषय-वासना जजाल न फंसा वही सच्चा शूरवीर है। ऐसा करके वह प्रभु के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर सर्वदा उनका कृपा-पात्र रहता है।

गगन दमांमाँ बाजिया, पढ़्या निसानै घाव।
खेत बुहार्‌या सरिवै, मुझ मरणे का चाव ॥६॥

शब्दार्थ—गगन=शून्य, ब्रह्माण्ड, सहस्रदल कमल । दमांमां=नगाड़ा । निसानै=ध्वनि से । घाव=चोट । बुहार्‌या=साफ किया ।

शून्य प्रदेश मे कुण्डलिनी के विस्फोट से अनहद नाद हो रहा है, उसकी ध्वनि सुनकर तन-मन उसी नाद से पूर्ण हो गया । साधक ने काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि विषयो का कालुष्य हटाकर मन-क्षेत्र को स्वच्छ किया, क्योंकि उसे जीवन्मुक्त होने की लालशा थी ।

कबीर मेरै संसा को नहीं, हरि सं लागा हेत ।
कांम क्रोध सं झूझणां, चौड़े मांड्या खेत ॥७॥

शब्दार्थ—ससा=शका । हेत=प्रीति । झूझणां=युद्ध करना । चौड़े माण्ड्या=विस्तृत क्षेत्र मे, ससार-क्षेत्र मे ।

कबीर कहते है कि अब मैं प्रभु से प्रेम करके पूर्ण निशक हो गया हूं । अब तो इस ससार क्षेत्र मे काम-क्रोधादि से युद्ध कर उन्हे समाप्त करना है ।

सूरै सार सबाहिया, पहर्या सहज सजोग ।
अब कै ग्यांन गयंद चढ़ि, खेत पड़न का जोग ॥८॥

शब्दार्थ—सूरै=शूर ने । सार=लोह, लोह-निर्मित अस्त्र से तात्पर्य है । सबाहिया=संभाल लिया । सहज=सजोग=सहजावस्था का कवच धारण कर । जोग=अवसर ।

साधक शूर मनोयोग रूपी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित एव सहजावस्था का कवच धारण कर कुप्रवृत्तियो युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गया है । अब की बार इस संसार-क्षेत्र से मुक्त होने का अवसर अवश्य ही आ गया है, क्योकि उपर्युक्त साधनो के साथ-साथ वह ज्ञान-हस्ती पर चढकर युद्ध करेगा ।

भाव यह है कि अब बार-बार साधक को ससार मे इस युद्ध के लिए नही आना पड़ेगा, वह जीवन्मुक्त हो जायेगा ।

सूरा तबही परषिये, लड़ै धणीं कै हेत ।
पुरिजा पुरजा ह्वै पड़े, तऊ न छाड़ै खेत ॥९॥

शब्दार्थ—परपिये=जानिए ।, धणी=स्वामी । पुरिजा-पुरिजा=टुकडे-टुकड़े ।

सच्चे शूरवीर की परीक्षा यही है कि वह अपने स्वामी के लिए रणक्षेत्र मे लडकर टुकडे-टुकड़े क्यो न हो जाय, पर हार मान कर पीछे न हटे । उसी भाँति साधक को साँसारिक विषय-वासनाओ से युद्ध करना चाहिए ।

खेत न छाड़ै सूरिवाँ, झूझै द्वै दल मांहि ।
आसा जीवन मरण की, मन मैं आणै नांहि ॥१०॥

शब्दार्थ—द्वै दल=जय-पराजय जीवन-मरण ।

सच्चे शूर के मत मे जीवन-मरण—जय-पराजय—का कोई भाव नही होता वह तो युद्ध क्षेत्र मे बिना मुँह मोड़े दोनो पक्षो के मध्य जूझता रहता है ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

अब तौ झूझ्यां हीं बणै, मुड़ि चाल्यां घर दूरि ।
सिर साहिब कौं सौंपतां, सोच न कीजै सूरि ॥११॥

शब्दार्थ—वर्णा=सम्भव है । मुडि=मुडना, लौटना । घर=संसार ।

कबीर कहते है कि भक्त जब प्रभु-भक्ति के मार्ग पर हर्याप्त आगे बढ चुका हो और फिर यह सोचे कि वह लौट कर ससार-विषयो का पुन· रसास्वादन करे तो असम्भव है, क्योकि वह साँसारिक विषयो की वहुत दूर छोड, चुका है । हे साधक ! प्रभु-भक्ति में मगल ही मगल है, अतः उसके लिए सर्वस्व समर्पित करने मे आगा-पीछा सोचना वृथा है ।

अब तौ ऐसौ ह्वै पड़ी, मन का रुचित कीन्ह ।
मरनै कहा डराइये, हाथि स्यंधौरा लीन्ह ॥१२॥

शब्दार्थ—ह्वै पडी=अवसर आ पहुचा । मन का रुचित=जैसा मन को इच्छित था । हाथि= हाथ मे । स्यधौरा=सिंदूर रखने की डिब्बी ।

कबीर कहते हैं कि अत्र तो साधना मार्ग मे ऐसी स्थिति आ गई है कि मन प्रभु भक्ति मे ही प्रवृत्त हो गया है, अतः अव प्रभु-मिलन निश्चित है । इसलिए हे संसार के चालाक मनुष्यो ! अब मुझे प्रभु-भक्ति मार्ग से विचलित क्यो करना चाहते हो । भला जव सती होने वाली स्त्री ने सिंदूर पात्र सम्भाल लिया हो तो उसे मृत्यु भय दिखाने का क्या लाभ, वह तो सती होगी ही । उसी भाँति अब मुझे प्रभु को प्राप्त करके ही रहेगा ।

विशेष—सती होने वाली स्त्री चिता पर जाने से पूर्व सोलह शृगारों से विभूषित होती थी—अन्य लोग उसे मृत्यु का भय दिखाकर चिता पर जाने से रोकते थे, कुच तो रुक जाती थी किन्तु जिसने सौभाग्य-सिंदर की डिब्बी माग भरने के लिए उठा ली फिर तो उसके दृढ निश्चय की पुष्टि ही हो जाती थी । दृढ़ निश्चव के लिए कबीर का यह प्रयोग सर्वथा नवीन है ।

जिस मरनै थैं जग डरै, सो मेरे आनन्द ।
कब मरिहूँ कब देखिहू, पूरन परमांनंद ॥१३॥

शब्दार्थ—सरल है ।

जिस मृत्यु से ससार डरता है, वह मरण मेरे लिव आनन्ददमयी होगी मैं मृत्यु की उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा हूं कि कब मर कर पूर्ण परब्रह्म से साक्षात्कार करूं ।

विशेष—तूलना कीजिए ।

तोड़ दो बंधन क्षितिज के देख लूं उस ओर क्या है ।
जा रहे जिस पथ से, युग कल्प उसका छोर क्या है ।
फिर भला प्राचीर बनकर, क्यो आज मेरे प्राण घेरे ।
फिर विकल हैं प्राण मेरे ।"—महादेवी

कायर बहुत पमाँवहीं, वहकि न बोलै सूर।
कांम पड्या हीं जाणिये, किसके मुख परि नूर ॥१४॥

शब्दार्थ—पमाँवही=बढ़-चढकर बातें करना। नूर=तेज, विजयोल्लास।

कायर व्यक्ति ही बहुत चढ़-बढकर बाते करते है, सच्छें शूर कभी भी बकवास नही करते, वे तो काम को करके ही दिखाते हैं। कार्य (युद्ध) पडने पर ही जाना जा सकता है कि शूरवीर अथवा कायर किसके मुँह पर विजयोल्लास झलकता है।

भाव यह है कि शूर ही विजय प्राप्त करते है, वक-वर करने वाले कायर नही।

विशेष—तुलना कीजिए—

"Batking dogs seldom bitc"

जाइ पूछो उस घाइलै, दिवस पीड़ निस जाग।
वांहण-हारा जाणिहै, कै जांणै जिस लाग ॥१५॥

शब्दार्थ—वाहरा-हारा=मारने वाला, वार करने वाला। जिस लाग=जिसके लगती है, जिसके चोट पडती है।

उस घायल व्यवित से उसकी पीडा की दशा पूछो जो अपनी पीडा से दिन मे व्यथित होता है और रात को जागता है। उस पीडा का अनुभव केवल उसी को होता है अथवा उसका किंचित् उसका अनुभव उसको हो सकता है जो (बाणो की) चोट करता है।

भाव यह है कि प्रभु के प्रेम की पीर का अनुमान गुरु को हो सकता है और अनुभव सेवल साधक को।

घाइल घूंमैं गहि भर्या, राख्या रहै न ओट।
जतन कियां जीवै नहीं, बर्णी मरम की चोट ॥१६॥

शब्दार्थ—राख्या=छिपाने पर। रहै न ओट=छिपी नही रहती।

साधक प्रभु-प्रेम की पीर से आहत गुरु मे उपदेश रूपी वाणो की चोट से भरा हुआ घूमता है, यदि कोई उसे छिपाना चाहे तो छिपा नही सकता। उसके मर्मस्थल पर गुरु के उपदेश की ऐसी गहन-चोट लगी है कि प्रयत्न करने पर भी—माया के वन्धन मे उलझाने पर भी—ससार मे रर सकता, अर्थात् न वह तो जीवन्मुक्त होकर रहेगा।

ऊंचा बिरष अकासि फल, पंषी मूए झूरि।
बहुत सयाने पचि रहे, फल निरमल परि दूरि ॥१७॥

शब्दार्थ—विरप=वृक्ष। झूरि=प्रयत्न करके।

उस अलख ज्योति के वृक्ष का फल का वास शून्य मे है, जहाँ तक साधना का दुर्गम पथ है। इस विकट साधना पथ मे बहुत से जीवात्मा रूपी पक्षी हार कर

निष्फल बैठ गये। अनेक चतुर लोग विविध प्रयत्न करने पर भी उस निर्मल फल को प्राप्त न-कर सके।

भाव यह है कि विरले ही साधना की यिजट-यात्रा को विकट-यात्रा को पूर्ण कर उस अलख ज्योति रूपी निर्मल फल को प्राप्त कर सके।

दूरि भया तो का भया, सिर दे नेड़ा होइ।
जब लग सिर सौंपे नही, कारिज सिधि न होइ ॥१८॥

शब्दार्थ—नेड़ा=समीप। कारिज=कार्य। सिधि=सिद्ध।

कबीरदास कहते है कि वह अलख ब्रह्म, निरजन ब्रह्म, रूपी निर्मल फल यदि इतनी दूरी पर है तो चिन्ता की क्या बात है, वह शीश दान देने से, अर्थात् साधना मार्ग मे सर्वस्व त्याग करने से निश्चय ही प्राप्त हो जाता है। जब तक सर्वस्व त्याग नही किया जायगा, तब तक प्रभु-प्राप्ति असम्भव है।

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नांहि।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर मांहि ॥१९॥

शब्दार्थ—खाला=मौसी। पैसे=प्रवेश करना।

कबीरदास कहते है कि प्रभु-भक्त का मार्ग मौसी का घर नही जहाँ विविध प्रकार की सुख सुविधाओ से पूर्ण आतिथ्य प्राप्त होता है, यह तो प्रेम-स्थली है। इसमे उसी का प्रवेश हो सकता है जो शीश हाथ में लेकर अर्थात् सर्वस्व त्याग के लिए प्रस्तुत हो इधर पदार्थण करे।

विशेष—तुलना कीजिए—

"अति तीक्षण प्रेम को पथ महा,
तलवार की धार पै धावनो है।"—'बोवा'

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तलि धरै, तव निकटि प्रेम का स्वाद ॥२०॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास कहते है कि हमारे प्रेम-निकेतन का मार्ग अत्यन्त अगम्य और अगाध है। उस प्रेम का आनन्द तभी प्राप्त किया जा सकता है जब शीश उतार कर पैरो के नीचे रख दिया जाय—अर्थात् जब सर्वस्व बलिदान की तैयारी हो तभी उस प्रेम का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

विशेष—घनानन्द के प्रेमादर्श से तुलना कीजिए—दोनो मे पर्याप्त अंतर होते हुए भी बलिदान की भावना एक सी ही है—

"पूरन प्रेम को मन्त्र महापन,
जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यौ।
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि
यो पचि कै रचि राखि विसेख्यौ॥

ऐसो हियो-हित पत्र पवित्र जु,
आन कथा न कहू अवरेख्यौ।
सो घन आनन्द जान अजान लौ,
टूक कियो, पर बाचि न देख्यौ।"

प्रेम न खेतौं नींपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥२१॥

शब्दार्थ—नींपजै=उत्पन्न होता है।

प्रभु का प्रेम न तो किसी खेत मे उत्पन्न होता है न किसी बाजार मे बिकता है। इसे तो राजा-प्रजा, धनी-निर्धन जो चाहे वह शीशदान देकर ले जा सकता है।

विशेष—महाकवि भवभूति ने अपने 'उत्तर रामचरित' मे यही प्रतिपादित किया है कि प्रेम बाह्य कारणों पर आश्रित नही होता होता—

"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः सश्रवन्ते।
विकसति हि पतगस्योदये पुण्डरीक
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।" (६।१२)

(कोई अज्ञात आतरिक कारण पदार्थो को सम्बद्ध कर देता है, प्रीति बाह्य कारण पर आश्रित नही होती। सूर्य के उदय होने पर कमल खिल जाता है और चन्द्रमा के निकलने पर चन्द्रकान्त मणि पसीजने लगती है।)

२. इस दोहे का यह पाठान्तर भी मिलता है—

'प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाइ।
राजा प्रजा जेहि रुचै, सीस देय लै जाइ ॥'

सीस काटि पसंग दिया, जीव सरभरि लीन्ह।
जाहि भावे सो आइ ल्यौ, प्रेम आट हंम कीन्ह ॥२२॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीरदास कहते हैं कि हमने प्रेम का बाजार लगाया है जो चाहे इसमे से प्रेम क्रय कर सकता है, किन्तु उसे तराजू के पासग को निकालने के लिये अपना शीश चढ़ा कर प्राणो के मूल्य मे मह प्रेम प्राप्त हो सकेगा।

सूरै सीस उतारिया, छाड़ी तन की आस।
आगैं थैं हरि मुल किया, आवत देख्या दास ॥२३॥

शब्दार्थ—सरल है।

शूरवीर साधक ने शरीर का मोह छोड़ प्रभु-भक्ति के लिए अपना शीश दान दे दिया। अपने भक्त को आता देखकर स्वय प्रभु ने साधना मार्ग के बीच मे ही बढ़ कर उसका स्वागत किया।

भगति दुहेली रांम की, नहिं कायर का कांम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नांम ॥२४॥

शब्दार्थ—दुहेली=कठिन।

प्रभु-भक्ति बड़ी कठिन है, यह कायर के लिए नही है। जो शीश उतार कर हाथ मे ले ले, वही प्रभु का नाम ले सकता है।

भगति दुहेली रांम की, जैसि खाँडे की धार।
जे डोलै तो कटि पड़ै, नहीं तौ उतरै पार ॥२५॥

शब्दार्थ—खाडे की=तलवार की। डोलै=विचलित होना।

प्रभु-भक्ति अत्यन्त कठिन है जिस प्रकार 'तलवार की धार पर धावनी है।'' यदि तनिक भी विचलित हुए तो सर्वनाश, अन्यथा दृढ रहने पर संसार-सागर के पार हो ही जाते है।

भगति दुहेली रांम की, जैसि अगनि की झाल।
डाकि पड़े ते ऊबरे, दाधे कौतिगहार ॥२६॥

शब्दार्थ—झाल=लपट। डाकि=कूदना।

राम की भक्ति बडी कठिन है जैसे दहकती हुई अग्नि की लपट। जो इसमें कूद पडे वे तो पार हो गये, इसमें दग्ध नही हुए और जो केवल कौतूहलवश इसे देखते ही रहे वे भस्म हो गये।

विशेष—विरोधाभास अलंकार।

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यांन षड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार ॥२७॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि हे साधक तू प्रेम रूपी अश्व पर सावधानीपूर्वक चढ़ जा। मृत्यु को शीश पर मडराती हुई समझकर ज्ञान-कृपाण हाथ मे लेकर संसार की विषय-वासनाओ से युद्ध कर।

कबीर हीरावण जिया, महँगे मोल अपार।
हाड गला माटी गली, सिर साटै व्यौहार ॥२८॥

शब्दार्थ—साटै=तय किया। व्यौहार=व्यापार।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-प्रेम का अमूल्य हीरा बड़ा महगा प्राप्त है। शरीर के अस्थि-चर्म को नष्ट कर और शीश को बलि देकर यह व्यापार तय किया है।

जेते तारे रैंणि के, तेतै बैरी मुझ।
धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न बिसारौं तुझ ॥२९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि इस ससार मे विषय-वासना रूपी मेरे उतने ही शत्रु है जितने असख्य अगणित रात्रि के नक्षत्र। यदि मेरा शीश काटकर किसी महल के

कगूरो पर और धड़ सूली पर लटका दिया जाय तो भी हे प्रभु ! मैं तुम्हे विस्मृत नही कर सकता ।

जे हार्या तौ हरि सवां, जे जीत्या तो ड़ाव ।
पारब्रह्म कूं सुवतां, जे सिर जाइ त जाव ॥३०॥

शब्दार्थ—हरि सवाँ=प्रभु के सामने । डाव=दाव, मनोवाछा ।

परब्रह्म की सेवा मे यदि शीश व्यर्थ जाता है तो जाने दो, क्योकि यदि तू साधना पथ मे हारेगा तो प्रभु जैसे प्रतिद्वन्द्वी के सम्मुख और यदि विजय प्राप्त हुई तव तो तेरी मनोवाछा—प्रभु-प्राप्ति—पूर्ण हो ही जायेगी अत. दोनो प्रकार से तेरा मगल है ।

विशेष—सूरवीर का ऐसा ही उच्च आदर्श तो होता है—

"जीवते लभ्यते लक्ष्मी, मृत चाप सुरागणा"

'चन्दवरदायी'—पृथ्वीराज रासो

सिर साटैं हरि सुवियें, छाड़ि जीव की बांणि ।
जे सिर दीयाँ हरि मिले, तब लग हांणि न जांणि ॥३१॥

शब्दार्थ—सरल है ।

हे जीव ! मायाजन्य आकर्षणो मे स्वाभाविक रुचि को त्याग कर तू अपने शीश का दान देकर प्रभु की भक्ति कर । जो शीश-दान देकर प्रभु-प्राप्ति हो जाय तो यह सौदा बुरा नही है ।

टूटी बरत अकास थैं, कोइ न सकै झड़ झेल ।
साध सती अरु सूर का, अंणीं ऊपिला खेल ॥३२॥

शब्दार्थ—वरत=एक मोटी रस्सी का ग्राम्य नाम । झड़=झटक । अणी=नोक । ऊपिला=ऊपर ।

जिस प्रकार नट की आकाश मे वधी मोटी रस्सी की झटक को टूटने पर कोई नही सम्भाल सकता, नट की मृत्यु निश्चित ही है उसी भाँति साधना-भ्रष्ट साधक का सर्वनाश निश्चित है। साधक (योगी), सती एवं शूरवीर का कार्य तो तलवार की नोक पर चलने जैसा ही है ।

सती पुकारै सलि चढ़ी, सुनि रे मींत समांन ।
लोग बटाऊ चलि गये, हंम तुझ रहे निदांन ॥३३॥

शब्दार्थ—सलि=चिता । समान=श्मशान । वटाऊ=पथिक । निदान=अन्त मे ।

कवीर कहते हैं कि जीवात्मा रूपी सती साधना की चिता पर चढ़कर कहती है कि हे श्मशान रूपी साधना स्थल ! सुन अब मैं और तुम ही रह गये अन्य जो साथी (साधना क्षेत्र मे गुरु) यहाँ तक आये थे वे चले गये ।

भाव यह है कि साधना मे किसी का सम्वल ढूढना वृथा है, केवल साधक और साधना-स्थली ही तो वहाँ है ।

सती बिलारी सत किया, काठौं सुज बिछाइ ।
ले सूती पिव आपणां, चहुँ दिसि अगनि लगाइ ।।३४।।

शब्दार्थ—सरल है ।

सती नारी ने काष्ठ-लकड़ियो की चिता चुनकर यथार्थ आचरण किया और उस चिता की चारो ओर से दग्धकारी दहकती अग्नि मे अपने पति को लेकर भस्म हो गई । साधक को भी इसी भाँति अपनी आत्मा के साथ साधना-क्षेत्र मे प्रभु से तादात्म्य कर लेना चाहिए ।

सती सूरा तन साहि करि, तन मन कीया घांण ।
दिया महौला पीव कूं, तब मड़हट करै बषांण ।।३५।।

शब्दार्थ—महौला=महत्त्व । मडहट=श्मशान । बषाण=प्रशसा करना ।

सती एव शूरवीर ने शरीर को अलकृत कर शरीर और मन दोनो को पूर्णतय नष्ट कर दिया । उन दोनो ने प्रिय को (शूर का स्वामी—राजा—ही उसका प्रिय है, इतना महत्त्व दिया है तभी श्मशान उनकी प्रशसा करता है, अर्थात् उनकी वीरगति के गीत गाये जाते है ।

सती जलन कूं नीकली, पीव का सुमरि सनेह ।
सबद सुनत जीव निकल्या, भूलि गई सब देह ।।३६।।

शब्दार्थ—सरल है ।

प्रभु का स्मरण कर जीवात्मा रूपी सती साधना मार्ग मे दग्ध होने के लिए निकली । सद्‌गुरु के उपदेश को सुनते ही वह जीवन्मुक्त हो गई और उसने समस्ता पार्थिव सम्बन्धों को विस्मृत कर दिया ।

सती जलन कूं नीकली, चिस धरि एकबमेख ।
तन मन सौंप्या पीव कूं, तब अंतरि रही न रेख ।।३७।।

शब्दार्थ—सरल है ।

जीवात्मा रूपी सती प्रभु मिलन के लिए साधना पथ पर अग्रसर हुई, उसके मन मे केवल मात्र प्रभु का ही ध्यान था । जब उसने तन-मन सर्वस्व प्रभु को समर्पित कर दिया तो दोनो मे कोई अन्तर न रहा ।

हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यूं न मराइ ।
मूंवा पीछै सत करै जीवन क्यूं न कराइ ।।३८।।

शब्दार्थ—सरल है ।

मृवतात्मा सासारिक आत्मा से प्रश्न करती है कि हे सखी ! तू जीवप्मुक्त क्यो नही हो जाती । यदि मृत्यु—नाश को—प्राप्त हो जाने पर तूने सत्याचरण—साधना मार्ग को अपनाना—किया तो उससे क्या लाभ ? जीते ही जीते क्यो न प्रभु प्राप्ति का उपाय करती ।

कबीर प्रगट राम कहि, छानै रांम न गाइ ।
फूस क जौड़ा दूरि करि, ज्यूं बहुरि न लागै लाइ ।।३९।।

शब्दार्थ—छानै=छिपकर। फूस क जौडा=फूस का छप्पर या फूस की टट्टी। लाई=अग्नि।

कबीर कहते है कि सबके सम्मुख प्रभु का नाम लो, छिपकर उसका जप करने से क्या लाभ ? माया-भ्रम रूपी इस फूस के टट्टर को अपने से दूर कर दे जिससे सासारिक तापों की अग्नि तुझे न व्यापे।

कबीर हरि सबकूं भजै, हरि कूं भजै न कोइ।
जब लग आस सरीर की, तब लग दास न होइ ॥४०॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि प्रभु सबका ध्यान रखते है क्योकि समस्त जीवो का स्मरण कोई नही करता (विरले ही करते है)। जब तक जीव को शरीर का मोह है तब तक वह भक्त नही हो सकता।

आप सवारथ मेदनीं, भगत सवारथ दास।
कबीरा रांम सवारथी, जिनि छाड़ी तन की आस ॥४१॥६९३॥

शब्दार्थ—मेदनी=पृथ्वी, ससार।

कबीर कहते हैं कि ससार अपने स्वार्थ से परिपूर्ण है, भक्त भी भक्ति का स्वार्थ तो रखे हुए है ही किन्तु कबीर तो केवल प्रभु के ही स्वार्थी है अर्थात् केवल प्रभु ही उन्हे मिल जायें यही सब कुछ है। इसी के लिए कबीर ने शरीर का मोह भी छोड़ दिया है।

४६. काल कौ अंग

अंग-परिचय—मृत्यु को जीत लेना ही साधना का परम लक्ष्य है। प्रस्तुत अंग में कबीर ने मृत्यु के विविध रूपो का और उसकी भयानकता का वर्णन करके साधक को उसके प्रति सजग तथा जागरूक रहने की चेतावनी दी है। वे कहते हैं कि इस संसार के जितने भी आमोद प्रमोद है, वे सब दिखावटी और झूठे हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे सब काल के चबीने (ग्रास) हैं। काल सभी व्यक्तियो के सिर पर खड़ा हुआ होता है, अर्थात् इससे कोई भी नही बच सकता, किन्तु मनुष्य की मूर्खता तो देखिए कि वह अनेक प्रकार के सुखप्रद साधनो को उपलब्ध करने मे प्रयत्नशील रहता है। यह ससार नश्वर है। इसमे जो उत्पन्न हुआ है, वही मरण को प्राप्त होता है, अर्थात् जन्म और मरण यहाँ के निश्चित धर्म हैं।

मनुष्य का जीवन स्थायी नही है। वह पानी के बुलबुले के समान नश्वर और क्षणभंगुर है और जिस प्रकार प्रात.कालीन तारे देखते-देखते ही छिप जाते हैं, उसी प्रकार यह जीवन भी देखते-देखते ही नष्ट हो जाता है। इसीलिए ससार का भी कोई आनन्द स्थायी नही है। ससार एक क्षण तो सुखद प्रतीत होता है, किन्तु दूसरे ही क्षण यह दु ख देने वाला अनुभव होने लगता है। जो नारी अपने शरीर को

विविध प्रसाधनो से सुन्दर बनाये रखने का प्रयत्न करती रहती है, उस शरीर में से जब आत्मा निकल जाती है, तो उसका मूल्य मिट्टी के ढेर से अधिक नही रह जाता। मनुष्य संसार मे जितने भी वैभव एकत्र करता है, वे सब कुछ दिनो के लिए ही उसका साथ देते है।

आत्मा ही इस शरीर का सर्वस्व है। जब शरीर से आत्मा निकल जाती है तो यह निस्सार हो जाता है, इसकी काति निस्तेज हो जाती है। यह आत्मा उस पथिक के समान है जो अपनी लम्बी यात्रा से थक कर कुछ देर के लिए कही ठहर जाता है, इसी प्रकार यह भी कुछ दिनो के लिए इस शरीर मे विश्राम करने के लिए रुक जाती है। इसलिए कबीर मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते है कि हे मनुष्य ! जब तक तेरे शरीर मे इस आत्मा का निवास है; अर्थात् जब तक तू जीवित है, तब तक तू हरि का स्मरण कर, अन्यथा बाद मे तुझे पछताना पड़ेगा।

झूठे सुख कौं सुख कहै, मानत है मद मोद।
खलक चबीणां काल का, कुछ मुख मै कुछ गोद ॥१॥

शब्दार्थ—खलक=ससार। चबीणा=भोजन।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य ! संसार के माया-जनित आकर्षणो से प्राप्त मिथ्यानन्द को सुख समझ कर तू मन मे प्रसन्नता का अनुभव करता है। वास्तविकता यह है कि समस्त ससार काल का भोजन है जो कुछ तो उसके मुख मे है और कुछ गोद मे। अर्थात् कुछ तो विनाश को प्राप्त हो रहा है और कुछ विनाश को प्राप्त होने वाला है।

विशेष—'पत' ने अपनी 'परिवर्तन' नामक प्रसिद्ध कविता मे परिवर्तन—काल—का ऐसा ही चित्रण किया है—

"अहे निष्ठुर परिवर्तन।
तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन, विश्व का करुण विवर्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन, निखिल उत्थान पतन।"

आजक काल्हिक निस हमैं, मारगि माल्हंतां।
काल सिचांणां नर चिड़ा, औझड़ औच्यंतां ॥२॥

शब्दार्थ—सिचाणा=बाज। चिड़ा=पक्षी।

नर रूपी पक्षी के लिए काल बाज के समान है जो आज या कल की रात—शीघ्र ही—एक दम झपट कर हमे नष्ट कर देगा।

विशेष—रूपक अलंकार।

काल सिहणै यौं खड़ा, जागि पियारे म्यंत।
रांम सनेही बाहिरा, तूं क्यूं सोवै नच्यंत ॥३॥

शब्दार्थ—सिहणै—सिरहाने, ऊपर। म्यत=मित्र। नच्यत=निश्चित होकर।

हे प्रिय मित्र ! जाग, सावधान हो, काल तेरे ऊपर खडा हुआ है। इसके अधिकार क्षेत्र से केवल प्रभु-भक्त ही वाहर है, अत तू प्रभु-भक्ति कर, अज्ञान में मत पड़ा रह।

सव जग सता नीद भरि, संत न आवै नींद।
काल खड़ा सिर ऊपरैं, ज्यूं तोरणि आया वींद ॥४॥

शब्दार्थ—सरल है।

समस्त ससार सुख-निद्रा मे सोता है, किन्तु साधु को नीद नही आती, क्योंकि वह प्रभु-भक्ति मे लगा रहता है। उसे पता है कि समय कम है काल सिर के ऊपर खडा है, जिस प्रकार दूल्हा आकर वहू को लेकर ही जाता है उसी भाँति काल नष्ट करके ही हटता है।

विशेष—दृष्टात अलकार।

आज कहै हरि काल्ह भजौंगा, कालिह कहै फिरि कालिह।
आज ही कालिह करंतड़ां, औसर जासी चालि ॥५॥

शब्दार्थ—सरल है।

हे मनुष्य ! तू आज यह कहता है कि कल प्रभु का भजन करूगा और कल के आने पर फिर अगली कल के लिए सोचता है। इस प्रकार कल ही कल मे आयु व्यतीत हो जाती है और प्रभु-शक्ति नही हो पाती।

कबीर पल की सुधि नहीं, करै कालिह का साज।
काल अच्यंता झड़पसी, ज्यं तीतर को बाज ॥६॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य ! तुझे यह तो एक पल का भी ज्ञान नही कि इसमे क्या होगा—विनाश अथवा सृजन और तू सब कार्यक्रम कल—भविष्य—के लिए स्थगित कर रहा है। काल अचानक तुझे इस प्रकार झड़प लेगा जैसे तीतर को बाज अचानक झपट कर ले जाता है।

विशेष—दृष्टात अलकार।

कबीर टग टग चोघतां, पल पल गई बिहाइ।
जीव जजाल न छाड़ई, जम दिया दमांमां आइ ॥७॥

शब्दार्थ—चोघतां=चुगता हुआ, उदर-पूर्ति करता हुआ। जजाल=संसार के वंधन। जम=यमराज, मृत्यु। दमामा =नगाडा वजाना।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य ! क्षण-क्षण कर तेरी समस्त आयु व्यतीत हो गई और तूने उदरपूर्ति के अतिरिक्त और कुछ न किया। जीव इस ससार के वधन से मुक्त नही हुआ और इतने मे मृत्यु ने आकर अपना स्वर-घोष कर दिया।

मै अकेला ए दोइ जणां, छेती नांहीं काइ।
जे जम आगै ऊवरौं, तो जुरा पहूँती आइ ॥८॥

शब्दार्थ—छेती=कम। काँइ=कोई भी। जुरा=जरा, वृद्धावस्था।

कबीर कहते हैं कि-मैं तो अकेला हूं और ये मेरे विनाशक दो—जरावस्था तथा मृत्यु। इन दोनो मे कम कोई नही है। यदि मैं मृत्यु से बच भी जाऊं तो फिर यह वृद्धावस्था नही छोड़ेगी। मृत्यु और जरा ये दोनो मेरे विनाशक है।

बारी बारी आपणीं, चले पियारे म्यत।
तेरी बारी रे जिया, नेड़ी आवै नित ॥९॥

शब्दार्थ—म्यत=मित्र। नेड़ी=नजदीक। नित=नित्य।

हे मनुष्य ! तेरे प्रियजन अपनी अपनी बारी पर इस ससार से विदा हो गये। अब दिन-प्रतिदिन तेरा मृत्यु अवसर भी निकट आ रहा है।

दौं की दाधी लकड़ी ठाढ़ी करे पुकार।
मति बसि पड़ौं लुहार कैं, जालै दूजी बार ॥१०॥

शब्दार्थ—दौ=आग। दाधी=जली हुई।

अग्नि मे जली कोयले के रूप मे लकड़ी पुकार कर कहती है कि मैं लुहार के अधिकार मे न चली जाऊं अन्यथा मुझे दुबारा जलना पड़ेगा (लुहार कोयला जलाकर अपनी भट्टी गरम करता है)।

भाव यह है कि ससार-तापो से दग्ध जीवात्मा कालाग्नि से भयभीत है।

जो ऊग्या सो आंथवे, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणिपां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ॥११॥

शब्दार्थ—ऊग्या=उदित हुआ। आथवै=अस्त होता है। जो चिणियां=जिसका निर्माण हुआ।

कबीर कहते हैं कि इस नश्वर संसार में जो उदित होता है उसका अस्त निश्चय है। जो कुसुम विकसित होता है वह अवश्य ही मुरझाएगा। जिसका निर्माण हुआ है उसका विध्वस निश्चित है। जो जन्म लेकर इस ससार मे आया है वह मृत्यु को प्राप्त होकर निश्चय ही यहा से जायगा।

जो पहर्या सो फाटिसी, नांव धर्या सो जाइ।
कबीर सोई तत्त गहि, जौं गुरि दिपा बताइ ॥१२॥

शब्दार्थ—सरल है।

जिस नवीन वस्त्र को धारण किया जाता है वह कभी न कभी अवश्य ही फटता है। जिसने जन्म लिया है वह मरण को अवश्य प्राप्त होगा। अतः हे कबीर ! तू उस प्रभु-भक्ति के तत्व को ग्रहण कर जिसे तुझे सद्गुरु ने प्रदान किया है।

निधड़क बैरा राम बिन, चेतनि करै पुकार।
यहु तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार ॥१३॥

शब्दार्थ—निधडक=निडर होकर। विनसत=नष्ट होते हुए। बार=देर।

ज्ञानी स्पष्ट रूप मे घोषणा करता है कि प्रभु-भक्ति विना तू निधडक क्यो बैठा है ? यह शरीर तो पानी के बुदबुदे के सदृश है जिसे फूटने मे देर नही लगती। अतः प्रभु-भक्ति कर।

पांणीं केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिनां छिप जांहिगे, तारे ज्यूं परभाति ॥१४॥

शब्दार्थ—पाणी केरा=पानी के। परभाति=प्रभात।

कवीर कहते है कि हम सांसारिको की जाति पानी के वुदवुदो जैसी है जिनका अत्यन्त क्षणिक अस्तित्व है। एक दिन हम उसी प्रकार अचानक लुप्त हो जायेंगे जिस प्रकार प्रभात समय मे नक्षत्रगण।

विशेष—उदाहरण अलकार।

कबीर यहु जग कुछ नहीं, खिन षारा खिन मींट।
कालिह जु बैठा माड़ियां, आज महांणां दीठ ॥१५॥

शब्दार्थ—माडिया=अलकृत हो रहा था। मसाणा=श्मशान में। दीठ= दिखाई देता है।

कवीर कहते है कि यह जग वडा क्षणिक है, क्षण भर मे यहां मधुर अनुभूति होती है तो क्षण भर मे ही कटु। कल तक जो व्यक्ति अलकृत हो रहा था वही आज श्मशान मे जल रहा था।

विशेष—'पन्त' से तुलना कीजिए—

"यही तो है असार ससार,
सृजन, सिंचन, सहार!
आज सर्वोन्नत हर्म्य अपार;
रत्न दीपावलि, मन्त्रोच्चार,
उलूको के कल भग्नविहार,
झिल्लियो की झनकार।"
× × ×
"अभी उत्सव औ, हास हुलास,
अभी अव ाद, अश्रु, उच्छ्वास।
रता ा जगत की आप
शून्य भरता ीर नि.श्वास।"

कबीर मंदिर आपणै, ा उठि करती आलि।
मड़हट देष्यां डरपती, ाड़ै दींन्हीं जालि ॥१६॥

शब्दार्थ—सरल है।

कवीर कहते हैं कि वह लज्जाशील नारी जो नित्य अपने भवन में परदा करती थी और श्मशान को देख डर जाया करती थी वही आज श्मशान के निर्जन, वे रोक-टोक स्थान मे जला दी गई। ससार कैसा नश्वर है?

मंदिर मांहि झबूकती, दीवा कैसी जोति।
हस वटाऊ चलि गया, काढौ घर की छोति ॥१७॥

शब्दार्थ—झबूकती=प्रकाशित करती, जगमगाती । हंस बटाऊ=मन रूपी पथिक ।

जो सुन्दर नारी कल तक अपने भवन को दीप-शिखा की भाँति अपने सौन्दर्य से प्रकाशित रखती थी । उसकी अनन्त पथ की यात्री आत्मा के निकल जाने पर, निष्प्राण अवस्था मे सब कहने लगे कि यह मिट्टी है इसे शीघ्र श्मशान ले चलो ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

ऊँचा मंदर धौलहर, माँटी चित्री पौलि ।
एक रांम के नांव बिन, जंम पड़ेगा रौलि ॥१८॥

शब्दार्थ—पौलि=द्वार । रौलि=रोना ।

मिट्टी के रगो से चित्रित सुन्दर-सुन्दर द्वार एव ऊँचे-ऊँचे भवन तथा अट्टालिकाए सब प्रभु-भक्ति के बिना नष्ट हो जायेगा जब काल इन्हे विनष्ट कर देगा तो रोना ही पड़ेगा ।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस ।
नां जांणै कहाँ मारिसी, कै घर कै परदेस ॥१९॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि इस संसार मे गर्व किस बात का ? सर्वदा तो मृत्यु मनुष्य के बाल पकड ए है, वह न जाने कहाँ, देश अथवा विदेश कहां उठा कर पटक दे, समाप्त कर दे ।

कबीर जंत्र न वाजई, टूटि गए सब तार ।
जंत्र बिचारा क्या करै, चले बजावणहार ॥२०॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि पंच तत्वों से निर्मित यह वाद्य-यन्त्र शरीर बजाने वाले आत्मा के अभाव मे बजता नही, उसके समस्त तार टूट गये हैं और इन तारों को बजाने वाली आत्मा भी अब नही रही है ।

धवणि धवंती रहि गई, बुझि गए अंगार ।
अहरणि रह्या ठमूकड़ा, जब उठि चले लुहार ॥२१॥

शब्दार्थ—धवणि=भट्टी । धवंती=दहकती । अहरणि=अहरन, निहाई । ठमूकड़ा=हथौड़ा । लुहार=आत्मा से तात्पर्य है ।

आत्मा रूपी लुहार के चले जाने पर शरीर की कान्ति निस्तेज हो जाती है और तापत्रय-युक्त सासारिक भट्टी दहकती रह जाती है । निहाई और हथौड़े रूपी मनुष्य के साज-समान यहाँ व्यर्थ धरे रह जाते है । इन सबका प्रयोजन कर्त्ता आत्मा शरीर मे रहने तक ही था ।

पंथी ऊभा पंथ सिरि, बुगचा बाँध्या पूठि ।
सरणां मुह आगै खड़ा, जीवण का सब झूठ ॥२२॥

शब्दार्थ—ऊभा=प्रस्तुत । बुगचा=गठड़ी । पूठि=पीठ पर ।

कबीर कहते है कि आत्मा रूपी अनन्त मार्ग का पथिक अपनी कर्म पोटली पीठ पर बाँध कर उस अनन्त पथ के लिए प्रस्तुत खडा है। जब मरण बिल्कुल सम्मुख ही है तो ससार मे सब कुछ मिथ्या है।

यहु जिव आया दूर थैं, अजौं भीं जासी दूरि।
बिच के बासै रसि रह्या, काल रह्या सर पूरि ॥२३॥

शब्दार्थ—जिव=जीवात्मा।

यह जीवात्मा रूपी अनन्त का पथिक बडी दूर से इस ससार में आया था और अभी इसे जाना भी बहुत दूर है। इस विश्राम स्थल—ससार—पर वह न जाने क्यो अधिक रुक गया है, अज्ञान मे अचेत पडा है, यह भी नही देखता कि मृत्यु सिर पर खडी है।

रांम कह्या तिनि कहि लिया, जुरा पहूँती आइ।
मंदिर लागै द्वार थैं, तब कुछ काढणां न जाइ ॥२४॥

शब्दार्थ—जुरा=जरावस्था, बुढापा।

जिनको अपने मुख से प्रभु नाम कहना था वे कह चुके अब तो वृद्धावस्था आ पहुची। जब मन्दिर के द्वार लग जाते है तब उसके भीतर से कुछ निकाला नही जा सकता, इसी भाँति जब इस शरीर-सदन का द्वार—मुख—बन्द हो जायेगा तब इससे प्रभु-नाम नही निकाला जा सकता।

बरियां बीती बल गया, बरन पलट्या और।
बिगड़ी बात न बाहुड़ै, कर छिटक्यां कत ठौत ॥२५॥

शब्दार्थ—बरिया=आयु। बरन=वर्ण। बाहुडै=बनना।

कबीर कहते है कि हे जीव! तेरी आयु व्यतीत हो चुकी है, समस्त शक्ति नष्ट हो गई है। वृद्धावस्था के आगमन से तेरा वर्ण भी कुछ और ही हो गया है। यदि अब बात बिगड गई तो फिर नही बन सकती, तुझे पश्चात्ताप करने का भी अवसर प्राप्त नही होगा—अत. इस अल्प समय मे प्रभु-स्मरण कर ले।

बरियां बीती बल गया, अरू बुरा कमाया।
हरि जिनं छाड़ै हाथ थैं, दिन नेड़ा आया ॥२६॥

शब्दार्थ—दिन नेड़ा आया=मृत्यु समीप आ गई।

हे मनुष्य! तेरी आयु व्यतीत हो चुकी है, अब तक तूने बुरे ही बुरे कर्म किये हैं। अब प्रभु को अपने हाथ से मत जाने दे, क्योंकि तेरी मृत्यु निकट आ पहुंची है।

कबीर हरि सूं हेत करि, कूडै चित्त न लाव।
बांध्या बार सटीक के, तापसु किती एक आव ॥२७॥

शब्दार्थ—हेत=प्रेम। कूडै = सासारिक विषय-वासनाएँ। षटीक=बधिक। आव=आयु।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू प्रभु से प्रेम कर और बुरी भावनाओं को अपने चित्त मे न आने दे। वधिक के द्वार पर बधे पशु की आयु का क्या भरोसा अर्थात् काल न जाने कब तुझे चट कर जाय।

विष के बन मै घर किया, सरप रहे लपटाइ।
तार्थं जियरं डर गह्या, जागत रैंणि बिहाइ ॥२८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि मेरा इस ससार मे ऐसा ही वास है जैसे विष-वन मे मैने घर बना लिया हो जिसमे दुर्वासनाओ के सर्प चारों ओर लिपटे रहते है। मैं इनसे भयभीत हूं इसलिए दिन रात जागता ही रहता हूं।

कबीर सब सुख राम है, और दुखां की रासि।
सुर नर मुनियर असुर सब, पड़े काल की पासि ॥२६॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि समस्त सुखो की राशि राम ही है शेष उपलब्धियों मे तो दु.ख ही दु ख है। देवता, मनुष्य, मुनिवर, राक्षस सब काल के बन्धन मे बधे हुए है—कोई इससे मुक्त नही। अत. हे मनुष्यो ! राम का भजन करो।

काची काया मन अथिर, थिर थिर कांम करंत।
ज्यूं ज्यूं नर निधड़क फिरै, त्यूं त्यूं काल हसंत ॥३०॥

शब्दार्थ—अथिर=चंचल। निधड़क=निर्भीक होकर, भगवान से उदासीन होकर।

यह नश्वर शरीर और चंचल मन है फिर भी मनुष्य अपने कार्यो को गहरी नीव देता है। ज्यो-ज्यों मनुष्य निडर होकर निश्चिन्तता से घूमता है मृत्यु उसकी मूर्खता पर हसती है कि इस अल्प समय मे यह प्रभु भजन क्यो नही करता ?

रोवणहारे भी मुए, मुए जलांवणहार।
हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार ॥३१॥

शब्दार्थ—कासनि=किसके। करो पुकार=सहायता के लिए प्रार्थना की जाये।

कबीर कहते हैं कि शव के लिए रोने वाले भी मृत्यु को प्राप्त हुए और जिन्होने शव-दाह किया था वे भी मरे। जो प्रियजन आठ-आठ आँसू रोये थे वे भी मरे। जब सभी मरणशील है तो सहायता की पुकार किससे की जाये। केवल एक-मात्र वही प्रभु अनश्वर है अतः मनुष्य ! उन्ही की भक्ति कर।

जिनि हम जाए ते मुए, हम भी चालणहार।
जौ हम को आगै मिले, तिन भी बंध्या भार ॥३२॥७२५॥

शब्दार्थ—सरल है।

जिन माता-पिता ने हमे जन्म दिया वे भी मृत्यु को प्राप्त हो गये और अब हम भी उस अनन्त यात्रा के लिए प्रस्तुत हैं। यही तो जगत का शाश्वत क्रम रहा है।

जो हमे अनन्त पथ पर—मृत्यु पथ पर—आगे मिले वे भी अपने कर्मों की पोटली बाँधे हुए थे जिनके आधार पर उन्हे पुन. जन्म-मरण के चक्र मे पड़ना था ।

७४. जीवनी कौ अंग

अंग-परिचय—इस अग मे कबीर ने जीवन्मुक्त दशा का वर्णन किया है। जब जीव जीवन्मुक्त हो जाता है, अर्थात् सासारिक विपय-विकारों से छूटकर ब्रह्म-लोक मे पहुच जाता है तो वहाँ उसे न तो वृद्धवस्था के दुख सहने पड़ते हैं, न वहाँ पर उसकी मृत्यु होती है, ब्रह्म जीव सर्वप्रकारेण दुखमुक्त और अमर वन जाता है। किन्तु जीव को ऐसी दशा तव ही प्राप्त होती है जव हरि की कृपा से वह सासारिक वन्धनो और मोह, माया आदि के प्रलोभनो से छूट जाता है। जव मन से विकारो का समूह नष्ट हो जाता है और वह शुद्ध तथा चैतन्य वन जाता है, तभी उसे हरि का प्राप्ति होती है।

साधक को सम्वोधित करते हुए कवीर ने वताया है कि हे साधक ! तुम उस शून्य रूपी वृक्ष पर अपना वास वना लो जो हर समय फलो की वर्षा करता रहता है, जिसकी छाया अत्यन्त शीतल होती है, जिसको तीनो तापो का सन्ताप नही व्यापता और जिस पर जीवन्मुक्त साधक पक्षी की भाँति नित्य सानंद क्रीड़ायें किया करते है।

जहाँ जुरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुणिये कोइ ।
चलौ कबीर तिहि देसड़ें, जहाँ वैद विधाता होइ ॥१॥

शब्दार्थ—जुरा=वृद्धावस्था । विधाता=प्रभु ।

जहाँ जरा-मरण का भय ही नही और न किसी की मृत्यु सुनी है, हे कवीर ! तू उस देश को चल । यदि वहाँ कोई अधिक व्याधि हो भी गई तो स्वयं प्रभु वहाँ वैद्य है।

कबीर जोगी बनि बस्या, पणि खाये कंद मूल ।
नां जाणौं किस जड़ी थैं, अमर भये असथूल ॥२॥

शब्दार्थ—असथूल=स्थूल ।

कवीर कहते है कि जीवात्मा रूपी योगी इस संसार रूपी वन में ही रह रहा था और सांसारिक विपयो से अपनी इन्द्रिय तृप्ति करता था। पता नही किस जडी-वूटी से (भक्ति की अनुपम वूटी से) वह इस स्थूल शरीर के रहते हुए भी अमर हो गया—जीवन्मुक्त हो गया ।

कबीर हरि चरणौं चल्या, माया मोह थैं टूटि ।
गगन मंडल आसण किया, काल गया सिर कूटि ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर ने प्रभु चरणो को अपना लिया है, उसका संसार से मोह-सम्बन्ध समाप्त हो गया है, अब उसने शून्य में अपना निवास बना लिया जहाँ वह अमर हो गया है।

यहु मन पटकि पछाड़ि लै, सब आपा मिटि जाइ।
पंगुल ह्वै पिव पिव करै, पीछै काल न खाइ ॥४॥

शब्दार्थ—पछाड़ि लै=धो ले।

मन के कालुष्य को पटक-पटक धो देने पर मन का समस्त अह नष्ट हो जाता है। मन जब विषय-वासनाओ की ओर नही दौडता तो प्रभु-नाम स्मरण करता है। इस अवस्था के आने पर मृत्यु तुम्हारा कुछ नही बिगाड सकती।

कबीर मन तीषा किया, बिरह लाइ षर सॉण।
छित चर्णूं मै चुभि रह्या, तहाँ नहीं काल का पांण ॥५॥

शब्दार्थ—षर=प्रखर, तीक्ष्ण। साँण=शान, एक पत्थर विशेष जिस पर धार रखी जाती है। चर्ण=चरणो। पॉणि=पाणि, हाथ, अधिकार।

कबीर कहते है कि मैंने प्रभु विरह की तीक्ष्ण शान पर रखकर मन को प्रभु-भक्ति के लिए प्रस्तुत किया है। अब मेरा मन प्रभु के चरणो में अनुरक्त रहता है। वहाँ मैं निश्चिन्त हू, क्योकि काल की गति वहा नही है।

तरवर तास बिलंबिए, बारह मास फलंत।
सीतल छाया गहर फल, पंषी केलि करंत ॥६॥

शब्दार्थ—तास=उस। गहर=भरपूर। केलि=क्रीडा।

कवीर कहते है कि हे साधक तुम उस शून्य रूपी वृक्ष पर अपना वास बना लो जो बारह-मास फलो की वर्षा करता है। जिसकी छाया अत्यन्त शीतल है—वहा ताप-त्रय नही व्यापते और फल भी भरपूर है तथा जीवन्मुक्त साधक रूपी स्वतन्त्र सक्षी वहाँ क्रीड़ा करते हैं।

दाता तरवर दया, फल, उपगारी जीवंत।
पंषी चले दिसावरां, बिरषा सुफल फलंत ॥७॥७२॥

शब्दार्थ—दिसावरा=विदेश। विरषा=वृक्ष।

स्वयं स्वामी जो समस्त फलो के देने वाला है, वृक्ष है एव वह दया का फल प्रदान करता है जिससे समस्त जीवो का हित होता है। एसा सुन्दर वृक्ष होने पर भी जीवात्मा रूपी पक्षी अत्यन्त भटकते हैं, प्रभु को छोड सुख-प्राप्ति के अन्य व्यर्थ विधान करते है।

विशेष—कबीर ने यहाँ पक्षी के रूप मे ऐसे व्यापारी का रूपक दिया है जो अपने प्रदेश की सुन्दर फसल छोडकर अन्यत्र उससे अच्छी फसल टटोलने जाता है।

*

४८ अपारिष कौ अंग

अंग-परिचय—जब साधक ज्ञानहीन हो जाता है तो उसकी साधना भ्रष्ट हो जाती है, अत: साधना की पूर्ति के लिए साधक का पारखी होना अपेक्षित है। प्रस्तुत अग मे कबीर ने पारखी का महत्व बताते हुए कहा है कि जब मनुष्य पारख से शून्य हो जाता है तो उसकी दशा उस व्यक्ति के समान बन जाती है जो हसो का ससर्ग छोडकर बगुलो के समाज को ही सर्वस्व समझ लेता है। उसकी बुद्धि इतनी मलीन हो जाती है कि उसे सदसद् का विवेक नही रहता, इसलिए वह सद् का परित्याग करके असद् को अपनाता रहता है। अतः वह प्रभुभक्ति रूपी बिखरे हुए अमूल्य मोतियो को भी नही पहचान पाता और अज्ञानाध होकर उन्हे छोड देता है। वस्तुत अज्ञान के बन्धनो मे बधा हुआ मनुष्य उस गाय के समान है जो अपने वास्तविक बछडे की मृत्यु को भी नही पहिचान पाती और उसकी खाल को ही असली बछडा समझ लेती है।

पाइ पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि।
जोड़ी बिछुटी हंस की, पड्या बगां कै साथि ॥१॥

शब्दार्थ—पाइ=पाया हुआ। कंकर=कंकड रौडा, व्यर्थ की वस्तु। बिछुटी=बिछुडी। बगा=बगुले।

कबीर कहते है कि पाये हुए अमूल्य पदार्थ प्रभु को छोडकर व्यर्थ के इस बोझ (माया) को अपना लिया। हस परमात्मा को छोडकर माया रूपी कपटी बगुले के ससर्ग को अपना लिया।

एक अचंभा देखिया, हीरा हाटि बिकाइ।
परिषणहारे बाहिरा, कौड़ी बदलै जाइ ॥२॥

शब्दार्थ—हाटि=बाजार। बाहिरा=अज्ञान।

कबीर कहते है कि मैंने एक आश्चर्य देखा कि संसार के बाजार मे प्रभु-भक्ति का अनमोल हीरा बिक रहा था। वह हीरा परखने वाले जौहरियो की समझ से बाहर था इसीलिए वे उसका मूल्य कौडी—नगण्य—बताने लगे।

कबीर गुदड़ी बीषरी, सौदा गया बिकाइ।
खोटा बांध्या गांटही, इब कुछ लिया न जाय ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि ससार के बाजार मे सत्कृत्य रूपी समस्त सौदा बिक गया और उनको रखने वाली शरीर की यह खाली पोटली नष्ट हुई जा रही है, इस पोटली मे कुकर्म रूपी खोटे सिक्के जिनके बदले सत्कृत्य बेच दिए, बाँध लिए हैं, अब इसका प्रतिकार भी तो कुछ नही किया जा सकता क्योकि अन्त समय निकट आ पहुंचा है।

पैंडे मोती बीखर्या, अंधा निकर्या आइ।
जोति बिनां जगदीश की, जगत उलंघ्यां जाइ ॥४॥

शब्दार्थ—पैडै=कदम-कदम पर।

कबीर कहते है कि ससार मार्ग में कदम २ पर प्रभु-भक्ति रूपी अमूल्य मोती बिखरे हुए हैं; किन्तु अज्ञानाध जीव निकला हुआ जा रहा है। प्रभु-प्रदत्त ज्ञान-ज्योति के अभाव मे जीव संसार मे उलझ कर ही रह जाता है।

कबीर यहु जग अंधला, जैसी अंधी गाइ।
बछा था सो मरि गया, ऊभी चांम चटाइ ॥५॥७३७॥

शब्दार्थ—अधला=अधा, अज्ञान। बछा=बछड़ा।

कबीर कहते है कि यह अज्ञानाध ससार मोहाध गाय की भांति है जो अपने वास्तविक वछड़े (प्रभु) के बिछुड जाने पर भी उसकी खाल (माया—जो प्रभु से ही उत्पन्न है) को चाटे जाती है।

विशेष—गाय का बछड़ा मर जाने पर उससे दूध लेने के लिए मरे बछड़े की खाल मे भुस भरवाकर खडा कर देते है। गाय उसे वास्तविक बछड़ा समझ दुलार करती है और दूध देती है। यही रूपक कबीर ने अपनाया है।

४९. पारिष कौ अग

अंग-परिचय—पारिष का अर्थ है परखना, सही मूल्याकन करना। साधक को अपनी साधना की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसमे किसी वस्तु को परखने की, सदसद् के विवेक की बुद्धि हो अवगुण को ग्राहक मिल जाते है तो गुण का मूल्य लाख गुना बढ़ जाता है और जब गुण को ग्राहक नही मिलते तो उनका मूल्य दो कौड़ी का रह जाता है। हस बगुलो से इसीलिए श्रेष्ठ है कि उसमें रत्न रूपी जौहरी ही परख सकता है और उसका सही मूल्याकन कर सकता है। अतः साधक में परख का ज्ञान होना अनिवार्य है, अन्यथा वह सत्य और असत्य मे भेद नही कर सकेगा।

जब गुण कूं गाहक मिलै, तब गुण लाख बिकाइ।
जब गुण कौ गाहक नहीं, तब कौड़ी बदलै जाइ ॥१॥

शब्दार्थ—सरल है।

जब श्रेष्ठ वस्तु को उसका पारखी ग्राहक मिल जाता है तो वह लाखो रुपये के मूल्य पर बिक जाती है। जब गुणवान वस्तु को पारखी ग्राहक नही मिलता है तो वह नगण्य मूल्य में बिक जाती है।

कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ।
बगुला मंझन जाणई, हंस चुणे चुणि खाइ ॥२॥

शब्दार्थ—मझन=मज्जन, स्नान। चूणे-चुणि=चुन-चुन कर।

कबीर कहते हैं कि भक्ति के सागर की लहर ने उपदेश या प्रभु-प्रेम के मौक्तिक बिखैर दिये। संसार-लिप्त पुरुष बगुले के समान उस लहर का उपयोग

केवल नहाने भर के लिये कर सके और मुक्तात्मा रूपी हसों ने प्रभु-प्रेम के मौक्तिको को चुन-चुन कर ग्रहण कर लिया ।

हरि हीराजन जौहरी, ले ले मांडिय हाटि ।
जबर मिलैगा पारिखू, तब हीरां की साटि ॥३॥७४०॥

शब्दार्थ—जन=भक्त । जौहरी=पारखी, जौहरी । जबर=जब भी ।

प्रभु-रूपी हीरे को भक्त-रूपी जौहरी ससार के बाजार मे सजाकर बैठता है, जब इस प्रभु-भक्ति रूपी हीरे का पारखी मिलेगा तभी हमारा सौदा तय हो सकेगा ।

५०. उपजणि कौ अग

अंग-परिचय—ससार और इसके अवरणो को देखकर ही साधक को सत्य एव असत्य का ज्ञान होता है और इसी ज्ञान के द्वारा उसके हृदय मे प्रभु-भक्ति का आविर्भाव होता है । जब साधक के मन मे ऐसी भक्ति उत्पन्न हो जाती है, तभी उसे सच्चा गुरु मिलता है जो उसे सत्पथ की ओर अग्रसर करता है । जिन लोगो के मन मे इस प्रकार की भक्ति उत्पन्न नही होती, उनके मन मे अह भावना बनी रहती है जो उनके पतन का कारण बनती है तथा वे ससार-सागर मे इतने गहरे डूब जाते हैं कि फिर उसमे उबर ही नही पाते । अत. कबीर भक्तो को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि वे उस इस अह-भावना का परित्याग करके जीवन-परण से मुक्ति लाभ करें ।

भगवान मे अनन्त गुण है, जिनका अनुभव केवल हृदय से किया ही जा सकता है, वाणी से उनका वर्णन नही किया जा सकता । जब ममुष्य के हृदय मे सासारिक विषय-विकारो की छाया पड़ जाती है तो उसका हृदयस्थ भगवान उससे दूर हो जाता है । इसलिए भक्त सासारिक विकारो के प्रति बहुत अधिक सचेत रहता है और वह इनमे नही पड़ता । भगवान की भक्ति के द्वारा ही मन शुद्ध सोने के समान बनता है । इस ससार-रूपी सागर से वे ही व्यक्ति पार उतार सकते है जिन्हे प्रभु का आलम्बन प्राप्त होता है । इसी आलम्बन से ही मनुष्य के सारे संशय दूर होते हैं और वह मुक्ति को प्राप्त करता है ।

नांव न जांणौं गांव का, मारगि लागा जांउं ।
काल्हि जु काटां भाजिसी, पहिली क्यूं न खड़ांउं ॥१॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि मुझे जिस स्थान पर पहुचना है वह मुझे अज्ञात है फिर भी मे मार्ग पर बढ़ा ही जा रहा हूं । अब मै सोचता हू कि इस मार्ग पर कल ही विपय-वासना का कांटा चुभा था फिर भी मेने उससे त्राण के लिए खडाऊ नही पहनी अर्थात् संयम नही किया ।

सीष भई संसार थैं, चले जु साँई पास।
अबिनासी मोहि ले चल्या, पुरई मेरी आस ॥२॥

शब्दार्थ—सीष=शिक्षा।

संसार की दुर्दशा देखकर हमे यह शिक्षा मिली कि एकमात्र प्रभु ही काम्य है अतः है उनके पास को चल दिया, प्रभु-भक्ति मार्ग पर अग्रसर हुआ। सदगुरु मुझे उस पंथ पर ले कर बढे अथवा प्रभु ने आगे बढ़कर मेरा स्वागत किया औस मेरी इच्छा पूर्ण की।

इंद्रलोक अचरिज भया, ब्रह्मा पड़्या विचार।
कबीरा चाल्या रांम पैं, कौतिगहार अपार ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है।

जब कबीर राम से मिलने चला, प्रभु-भक्ति मार्ग पर अग्रसर हुआ, तो स्वर्ग मे आश्चर्य छा गया एवं ब्रह्मा भी सोच मे पड़ गये। इस आश्चर्य को देखने के लिए अपार जनसमूह उमड पडा।

विशेष—आश्चर्य यह है कि मृत्यु के पश्चात् ही आत्मा परमात्मा से साक्षा-कार करती है, किन्तु कबीर जीवित ही मरण को प्राप्त हो, जीवनमुक्त हो, प्रभु से मिलने जा रहा है—यही आश्चर्य है।

ऊँचा चढ़ि असमान कूं, मेर उलंघे ऊड़ि।
पसू पँषेरू जीव जंत, सब रहे मेर मैं बूड़ि ॥४॥

शब्दार्थ—असमान—आकाश, शून्य, ब्रह्मरन्ध्र। मेर=अहं। पंषेरू=पक्षी। जंत=जंतु।

कबीर कहते हैं कि पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, सब अह मे डूब रहे हैं। हे साधक! तू इस अह का परित्याग कर शून्य प्रदेश के लिए प्रस्थान कर।

सद पाँणीं पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव।
बासी पावस पड़ि मुए, विषै बिलंबे जीव ॥५॥

शब्दार्थ—सम=अच्छा।

कवीर कहते है कि साधक! तू पाताल—बहुत गहरे—में निकाला सुन्दर ताजा जब पी। वासी पानी पीकर कितने ही विषयी जीव मरण को प्राप्त हो चुके है।

भाव यह है कि तू गहन अनुभव पर आधृत सिद्धांतों को ही सम्मुख रख स्वय के अनुभव पर आधृत सिद्धात मिथ्या नही हो सकते।

कबीर सुपनें हरि मिल्या, सूतां लिया जगाइ।
आंषि न मींचौं डरपता, मनि सुपनां ह्वै जाइ ॥६॥

शब्दार्थ—मति=ऐसा न हो कि।

कवीर कहते हैं कि इस संसार की अज्ञान रात्रि के बीच स्वप्न में प्रभु ने मुझे दर्शन दिया और ज्ञान-दान देकर मुझे अज्ञान निद्रा से जगा लिया। अब मैं

इसी कारण पुनः इस संसार में अज्ञान निद्रा में नही पड़ता, कही मुझे यह प्रभु-अनुकम्पा द्वारा प्राप्त स्वप्न-तुल्य दुर्लभ और अप्राप्य न हो जाये।

गोव्यंद के गुंण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै मांहि।
डरता पांणीं नां पीऊं, मति वै धोये जांहि ॥७॥

शब्दार्थ—गोव्यन्द=गोविन्द।

कवरीर कहते है कि मेरे हृदय-पट पर प्रभु के अनन्त गुण अकित है। मैं इस भय से माया रूपी जल का व्यवहार नही करता कि कही वे उससे घुल न जाय।

कबीर अब तौ ऐसा भया, निरमोलिस निज नाउं।
पहली काच कथीर था, फिरता ठांवैं ठाउं ॥८॥

शब्दार्थ—निरमोलिस=शुद्ध। काच=कच्चा। कथीर=पारा।

कवीर कहते है कि अब प्रभु-भक्ति के द्वारा मेरा नाम शुद्ध (कचन तुल्य) हो गया है अन्यथा पहले तो मैं कच्चा पारा ही था जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकता रहता है। भाव यह है कि चचलवृत्ति जीव भी प्रभु-भक्ति से पूर्व सासारिक माया-आकर्पणो मे भटकता रहता था।

भौ समंद विष जल भर्या, मन नहीं बाँधै धीर।
सबल सनेही हरि मिले, तब उतरे पारि कबीर ॥६॥

शब्दार्थ—भौ समद=ससार-रूपी सागर।

कवीर कहते हैं कि विषय-वासनाओ के विष जल से भरे ससार-समुद्र को देखकर मेरा मन विचलित हो रहा था। किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली स्वयं प्रभु जैसा प्रेमी मिल जाने पर कवीर पार उतर गया।

भला सुहेला उतर्यां, पूरा मेरा भाग।
रांम नांव नौका गह्या, तब पांणी पंक न लाग ॥१०॥

शब्दार्थ—सुहेला=कुशलता तूर्वक। पक=कीचड़, सांसारिक विपय वासनाएं।

मेरा बडा भाग्य है कि मै पूर्ण कुशलता से भवसागर पार उतर गया हूं प्रभु-नाम रूपी नौका का आश्रय लेने से संसार की माया का जल एव विपय-वासनाओं की कीचड़ छू भी नही सकते। राम नाम की नौका पूर्ण सुरक्षित है।

कबीर केसौ की दया, संसा घाल्या खोइ।
जे दिन गये भगति बिन, ते दिन सालै मोहि ॥११॥

शब्दार्थ—सरल है।

कवीर कहते हैं भि प्रभु-कृपा से मेरा माया-भ्रर दूर हो गया। अब मुझे उन दिनो के व्यर्थ जाने का पश्चात्ताप है जो विना प्रभु-भक्ति के नष्ट हो गये थे।

कबीर जाचण जाइ था, आगै मिल्या अजंच।
ले चाल्या घर आपणैं, भारी पाया संच ॥१२॥७५२॥

शब्दार्थ—जाचरा=याचना के लिए। अजंच=जो याचना नही करता। सच=शान्ति।

कबीर कहते है कि मैं ससार मे सुख-याचना के लिए निकला था किन्तु मार्ग में मुझे वह प्रभु मिल गये जो कभी किसी से याचना नही करते। वे मुझे अपने घर ले गये—प्रभु भक्ति का प्रदेश ही उनका घर है—यहा मुझे अमित शान्ति प्राप्त हुई।

५१. दया निरबैरता कौ अंग

अंग-परिचय—यह संसार अनेक प्रकार के प्रपंचो और विकारो से भरा हुआ है। इसमें जब विषय-वासनाओ की वडवानलन प्रज्वलित होती है तो सव कुछ जला कर नष्ट कर देती है, केवल प्रभु अथवा प्रभु-जन ही वच पाते है। इसी प्रकार जव माया भी वहती बहुत प्रखर वेग से वरसती है तो उसमे सारा ससार नष्ट हो जाता है। इसलिए इस ससार मे केवल प्रभु-जनो को छोडकर कोई भी अन्य व्यक्ति सुख नही प्राप्त कर सकता।

कबीर दरिया प्रजल्या, दाझ्झ जल थल झोल।
बस नांहि गोपाल सौं, विनस रतन अमोल ॥१॥

शब्दार्थ—प्रजल्या=प्रज्वलित हुआ। दाझै=दग्ध हो गये। झोल=शुष्क कबाड़ की ढेरी।

कवीर कहते है कि संसार रूपी सरिता मे विषय-वासनाओ की वडवानल प्रज्वलित हो उठी जिससे जल-थल एव कवाड सव कुछ नष्ट हो गया। इस वासना-अग्नि ने बडे-वडे अमूल्य रत्नो को विनष्ट कर दिया, केवल प्रभु पर इसका कोई प्रभाव नही।

ऊँनमि बिमाई बादली, बर्सण लागे अँगार।
उठि कबीरा धाह दे, दाझत है संसार ॥२॥

शब्दार्थ—ऊँनमि=ऊँची होकर। धाह दे=दहाड दे, रोकर आवाज दे।

माया-मेघ ऊँचा होकर वर्षा करने लगा, वर्षा मे उससे अंगार झडे जिनसे समस्त ससार भस्म हो गया। कवीर अव तू रोकर चिल्लाती आवाज मे, फूट-फूटकर, कह कि ससार विनष्ट हो रहा है।

विशेष—सामान्यतः तो वदली तव वरसती है जव वह नीची होती है, किन्तु यह वदली ऊँची होकर वरस रही है। इससे झरते हुए अगार विपय-वासना के परिणाम हैं।

दाध वली ता सव दुःखी, सुखी न देखौं कोइ।
जहाँ कवीरा पग धरैं, तहाँ टुक धीरज होइ ॥३॥७५५॥

शब्दार्थ—दाध=अग्नि। वली=प्रज्वलित। टक=कुछ-कुछ।

समस्त संसार विषय-वासना की अग्नि में जल रहा है, कोई भी सुखी नही है। जहाँ-जहाँ कबीर पदार्पण करते है वहाँ कुछ शान्ति हो जाती है।

५२. सुन्दरि कौ अंग

अंग-परिचय—कबीर ने अपने दर्शन मे आत्मा को नारी रूप मे चित्रित किया है। यहाँ भी उनका सुन्दरी से तात्पर्य आत्मा से है। जो साधक होते हैं, जिनकी आत्मा विकार-शून्य होती है, उनकी आत्मा सदैव उन्हे प्रभु की ओर प्रेरित करती रहती है और उसमे प्रभु के प्रति इतना अधिक अनुराग होता है कि वह उसके विरह मे अपने प्राणो को त्यागने के लिए तैयार रहती है। इसके विपरीत जो आत्मा निर्मल नही होती, जिसमें विकार भरे रहते हैं, वह परमात्मा से सदा विमुख रहती है जो आत्मा भगवान् को छोडकर और किसी से अनुराग करती है अथवा किसी अन्य को प्राप्त करने की आशा रखती है, वह कभी भी जीवन्मुक्त नही हो सकती। इस मन को जब विषय-विकारो से दूर कर दिया जायेगा, तभी आत्मा को सन्तोष मिल सकता है। इसलिए मनुष्य को सभी सासारिक पदार्थों को छोड देना चाहिए।

कबीर सुन्दरि यो कहै, सुणि हो कंत सुजांण।
वेगि मिलौ तुम आइ करि, नहीं तर तजौं परांण ॥१॥

शब्दार्थ—कत सुजाण=चतुर स्वामी। नही तर=नही तो।पराण=प्राण।

साधक की आत्मा रूपी सुन्दरी यह कहती है कि हे चतुर स्वामी—प्रभु मेरी विनय सुनिए। आप आकर या तो शीघ्र दर्शन दो अन्यथा मैं प्राण तज दूँगी, संसार त्याग दूँगी।

कबीर जे को सुंदरी, जाँणि करै विभचार।
ताहि न कबहूँ आदरै, प्रेम पुरिष भरतार ॥२॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि जो भी आत्मा रूपी सुन्दरी विविध विषयो मे लिप्त रह व्यभिचारमय आचरण करती है उसे उसका स्वामी—प्रभु—कभी भी सम्मान प्रदान नही करता।

ज सुंदरि सांईं भजै, तजै आन की आस।
ताहि न कबहूँ परहरै, पलक न छाड़ै पास ॥३॥

शब्दार्थ—साई=प्रभु। परहरै=छोड़ना।

जो आत्मा रूपी सुन्दरी प्रभु का ही भजन करती है अन्य किसी की आश नहीं रखती उसे वे कभी भी नही छोडते, एक पल के लिए भी उससे दूर नही हटते।

इस मन कौं मैंदा करौं, नान्हां करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुंदरी ब्रह्म झलकै सीस ॥४॥

शब्दार्थ—सरल है।

हे साधक ! इस मन को सयम के द्वारा पीस-पीसकर मैंदा के समान चिकना, निर्मल कर ले। तभी ब्रह्मरन्ध्र मे निरञ्जन ज्योति के दर्शन होगे और आत्मा प्रसन्न होगी।

दरिया पारि हिंडोलनां, मेल्या कंत मचाइ।
सोई नारि सुलषणीं, नित प्रति झूलण जाई ॥५॥७६०॥

शब्दार्थ—सरल है।

शून्य स्थल के पार प्रभु का हिंडोलना है जिस पर उन्होने स्वयं गलीचा विछाया हुआ है। वही आत्मा रूपी नारी सुलक्षणी है जो नित्य प्रति प्रिय के साथ उस पर झूलती है। अथवा सुलक्षणी नारी (कुण्डलिनी), जो सोई हुई है को जगा नित्य प्रिय के साथ झूलने जाना चाहिए।

५३. कस्तुरियां मृग कौ अंग

अंग-परिचय—हिरन की नाभि मे कस्तूरी होती है, किन्तु अज्ञानतावश वह उसे अपने हृदय मे न जानकर वन-बन ढूँढता फिरा करता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे भगवान वसा हुआ है, पर वह उसे अपने घर मे न जानकर ससार मे उसे ढूढता रहता है। प्रस्तुत अग मे इसी बात का वर्णन करते हुए कबीरदास कहते है कि यद्यपि हिरन की नाभि मे कस्तूरी होती है, किन्तु वह उसे बन-बन ढूँढता फिरा करता है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे भगवान् वसा हुआ है, पर वह उसे नही पहिचान पाता और इधर-उधर ढूँढता रहता है। हृदयस्थ भगवान् को पहिचान लेना प्रत्येक व्यक्ति का कार्य नही है। उसे तो वही पहिचान सकता है जिसने पाँचों इन्द्रियो को अपने वश मे कर लिया है। ब्रह्म समान रूप मे सर्वत्र व्याप्त है, वह कही कम या कही अधिक नही है, पर जो भगवान् को अपने निकट समझते है, उनके वह निकट है और जो दूर समझते है, उनके लिए वह दूर है।

जब तक मनुष्य के मन मे अह-भावना बनी हुई है, तब तक उसे भगवान् की प्राप्ति नही हो सकती, अत. ब्रह्म प्राप्ति के लिए अह का परित्याग और सदगुरु के उपदेश पर आचरण करना आवश्यक है। जिस प्रकार आँखो मे पुतली है, उसी प्रकार भगवान् भी सबके हृदय मे बसा हुआ है, किन्तु मनुष्य अज्ञानता के वशीभूत होकर तथा सांसारिक मोह-माया मे लिप्त होने के कारण उसे नही पहिचान पाते और उसे प्राप्त करने के लिए इधर-उधर फटकते रहते है।

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन मांहि।
ऐसैं घटि घटि रांम है, दुनियां देखै नांहि ॥१॥

शब्दार्थ—सरल है।

कैसी विडम्बना है कि मृग की नाभि मे ही कस्तूरी का वास है किन्तु वह

उसकी खोज मे वन-वन भटकता है, ऐसे ही प्रभु का प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवास है किन्तु कोई उसे देख नही पाता।

कोइ एक देखै संत जन, जांकै पांचूं हाथि।
जांकै पांचूं बस नहीं, ता हरि संग न साथि ॥२॥

शब्दार्थ—पाँचूँ=पाँचो इन्द्रियाँ।

उस घट-घट वासी को वह विरला सत ही देख पाता है जिसका पाँचो इन्द्रियो पर पूर्ण अधिकार हो। जिसका इन पाँचो इन्द्रियो पर अधिकार नही वह प्रभु का साक्षात्कार नही कर पाता।

सो सांईं तन मै बसै, भ्रंम्यो न जांणै तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूं, फिर फिरि सूघै घास ॥३॥

शब्दार्थ—भ्रंम्यो=भ्रमवश। तास=उसको।

वह परब्रह्म परमेश्वर प्रत्येक के हृदय मे स्थित है, किन्तु भ्रमवश कोई उसे पहचान नही पाता। जिस प्रकार कस्तूरी के नाभि मे रहते हुए भी मृग घास को सूंघ-सूंघ कर उसे खोजता है, उसी भाँति मनुष्य अन्य सासारिक विषयो मे उसे खोजने का व्यर्थ प्रयास करता है।

कबीर खोजी रांम का, गया जु सिंघल दीप।
रांम तौ घट भीतरि रमि रह्या, जो आवै परतीत ॥४॥

शब्दार्थ—परतीत=विश्वास।

कबीर कहते हैं कि साधक प्रभु को खोजने के लिग सिंहलद्वीप गया किन्तु यदि विश्वास सहित देखा जाय तो प्रभु तो हृदय के भीतर ही रमा हुआ है।

विशेष—नाथ-पंथ मे सिंहलद्वीप को सिद्धपीठ माना गया है, नाथ-पथी योगी इसकी यात्रा को बडा महत्व देते थे।

घटि बधि कहीं न देखिये, ब्रह्म रह्या भरपूरि।
जिनि जांन्यां तिनि निकटि है, दूरि कहैं ते दूरि ॥५॥

शब्दार्थ—घटि-बधि=घट बढकर, कम या अधिक।

ब्रह्म सर्वत्र समान रूप से परिव्याप्त है, वह कही कम या कही अधिक नही है। जो उसे जानते हैं उनके लिए वह निकट है, जो उसे दूर समझे बैठे हैं उनके लिए वह दूर ही है।

मैं जांण्या हरि दूरि हैं, हरि रह्या सकल भरपूरि।
आप पिछांणै बाहिरा, नेड़ा ही थैं दूरि ॥६॥

शब्दार्थ—सरल है।

मैं प्रभु को बहुत दूर समझता था किन्तु वह सर्वत्र परिव्याप्त है। यदि आप उसे दूर खोजने लगोगे तो वह पास होता हुआ भी दूर ही हो जायगा।

तिणकै ओल्है रांम है, परवत मेरै भांइ।
सतगुर मिलि परचा भया, तब हरि पाया घट मांहि ॥७॥

शब्दार्थ—औल्है=ओट मे। परचा=परिचय।

रामरूपी महान् तत्व अह के पर्वत की ओट मे छिपा हुआ है। सद्गुरु के मिलने पर अह से विनष्ट हो जाने पर प्रभु से साक्षात्कार हुआ और मैंने उन्हे अपने हृदय मे ही पा लिया।

रांम नांम तिहूँ लोक मै, सकल रह्या भरपूरि।
यहु चतुराई जाहु जलि, खोजत डोलै दूरि ॥८॥

शब्दार्थ—चतुराई=ज्ञान।

कबीर कहते है कि ऐसी चतुरता बुद्धिबल विनष्ट हो जाए जिसके कारण प्रभु को दूर खोजा जाता है। वह तो तीनो लोक—आकाश, पृथ्वी, पाताल मे समान रूप से परिव्याप्त है।

ज्यूं नैनूं मैं पूतली, त्यूं खालिक घट मांहिं।
मूरिख लोग न जांणही, बाहरि ढूंढण जांहिं ॥९॥७६९॥

शब्दार्थ—खालिक=प्रभु।

जिस भाँति नेत्रो के मध्य पुत्तलिका का वास है किन्तु हम बिना दर्पण (गुरु) के नही देख सकते उसी भाति प्रभु तो हृदय मे ही स्थित है, मूर्ख लोग इस रहस्य को न जानकर अन्यत्र प्रभु की खोज मे भटकते है।

★

५४. निद्या कौ अंग

अंग-परिचय—किसी की निन्दा करना अच्छी बात नही है, क्योकि पर-निन्दा साधना मे बाधक होती है। प्रस्तुत अग में इसी बात को समझाते हुए कबीरदास कहते हैं कि जो मनुष्य अज्ञानी है, वे ही दूसरो की निन्दा किया करते है, किन्तु जो व्यक्ति राम की भक्ति मे लीन होते है, उन्हे तो सिवाय भक्ति के और कोई बात अच्छी ही नही लगती। वे अहर्निश भगवान् की भक्ति मे ही तल्लीन रहा करते है। यह व्यक्ति की दुर्बलता होती है कि दूसरो के दोषो को देखकर तो वह हसता है, किन्तु अपने अपार दोषो की ओर कभी ध्यान भी नही देता। निन्दक को, जहाँ तक हो सके, अपने समीप रखना चाहिए, क्योकि वह बिना पानी और साबुन के मन को शुद्ध बना देता है।

जो लोग साधुओ की निन्दा करते है, वे स्वयं संकट मे पडते है और नरक के भागी बनते है। अच्छा तो यही है कि मनुष्य को किसी की भी निन्दा नही करनी चाहिए, चाहे वह व्यक्ति कितना ही तुच्छ क्यो न हो, अन्यथा वह भी दुख का कारण बन सकता है, जिस प्रकार आँखों मे पड़ा हुआ घास का टुकडा अत्यन्त कष्ट-प्रद बन जाता है। व्यक्ति को अपनी प्रशसा भी नही करनी चाहिए, क्योकि वह शरीर और सासारिक वैभव तो नश्वर तथा क्षणभंगुर है। चाहे मनुष्य स्वय धोखा खा जाये, पर उसे दूसरे व्यक्तियो को धोखा नही देना चाहिए। ऐसे ही व्यक्ति को ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

लोग विचारा नींदई, जिनह न पाया ग्यांन।
रांम नांव राता रहै, तिनहूँ न भावै आन ॥१॥

शब्दार्थ—नीदई=निन्दा करते है। राता=अनुरक्त रहना। आंन=अन्य।

जिन मनुष्यो को ज्ञान प्राप्ति नही हुई वे ज्ञानियों की निन्दा करते हैं किन्तु जो राम नाम मे अनुरक्त रहते है उन्हे अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नही रहती।

दोख पराये देख करि, चल्या हसंत हसंत।
अपनं च्यति न आवई, जिनकी आदि न अंत ॥२॥

शब्दार्थ—दोख=दोष। च्यति=चित्त।

दूसरे के दोषो को देखकर मनुष्य उपहास करता है किन्तु अपने अवगुणों को जिनका कोई आदि और अन्त ही नही, कभी चित्त मे भी नही लाता।

निंदक नेड़ा राखिये, आगणि कुटी बंधाइ।
बिन सावण पाणीं बिना, निरमल करै सुभाइ ॥३॥

शब्दार्थ—निंदक=निन्दा करने वाला। नेड़ा=समीप। सावण=साबुन। सुभाइ=स्वभाव।

जो आपका निन्दक हो उसे अपने पास ही सुविधापूर्वक रखना चाहिए क्योकि वह बिना पानी और साबुन के स्वभाव को शुद्ध कर देता है।

न्यंदक दूरि न कीजिये, दीजै आदर मांन।
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आंनहि आंन ॥४॥

शब्दार्थ—सरल है।

निन्दक को दूर मत कीजिए, उसे सम्मानपूर्वक पास ही रखना उचित है। क्योकि वह हमारे दोषों का कथन कर उन्हे सुधारने का अवसर दे तन-मन को शुद्ध कर देता है।

जे को नींदै साध कूं, संकटि आवै सोइ।
नरक माँहि जांमैं मरै, मुकति न कबहूँ होइ ॥५॥

शब्दार्थ—नीदे=निन्दा करता है। मुकति=मुक्ति।

जो साधु की निन्दा करता है उस पर स्वयं संकट टूटते है। वह नरकतुल्य इस ससार से मुक्त नही होता, जन्म और मृत्यु के आवागमन के चक्र मे पड़ा रहता है।

कबीर घास न नींदिये, जो पाऊं तलि होइ।
उड़ि पड़ै जब आंखि मैं, खरा दुहेला होइ ॥६॥

शब्दार्थ—पाऊं तलि=पैरों के नीचे। खरा=भारी। दुहेला=वेदना।

कबीर कहते हैं कि तुच्छ वस्तु को भी हीन समझकर उपेक्षा मत करो। पैरो से प्रति-पल रौंदी जाने वाली घास की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योकि जब उसी घास का क्षुद्र तृण उडकर आँख मे पड जाता है तो वेदना उत्पन्न कर देता है।

आपन यौं न सराहि, और न कहिये रंक।
नां जांणौं किस ब्रिष तलि, कूड़ा होइ करंक ॥७॥

शब्दार्थ—रक=क्षुद्र। ब्रिष=वृक्ष। करक शरीर।

कबी कहते है कि दूसरे को क्षुद्र कहते हुए अपनी सराहना मत करो, क्योंकि यह पता नही कि यह अस्थिचर्ममय शरीर किस वृक्ष के नीचे ढेरी हो जाय, निष्प्राण हो जाय।

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोइ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै और ठग्यां दुख होइ ॥८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि स्वय को ही धोखे मे रखो, दूसरे को धोखे मे मत डालो। अपने को धोखे मे डालने से सुख की प्राप्ति होती है और दूसरों को ठगने से दुःख की।

अब कै जे सांईं मिलै, तो सब दुख आषौं रोइ।
चरनूं ऊपरि सीस धरि, कहूँ ज कहणां होइ ॥९॥७७८॥

शब्दार्थ—आषौ=कहना।

यदि अब की बार मुझे प्रभु मिल जायें तो अपनी सब व्यथा-कथा रो-रो कर उनसे कह दू। उनके चरणो मे शीश रख कर मन मे जो भी कहने के लिए है सब कह डालू।

★

५५. निगुणां कौ अंग

अंग-परिचय—जो व्यक्ति गुणहीन होते है, वे सदैव दुख के भागी बनते हैं और उन पर किसी की भली बातो का भी कोई प्रभाव नही पड़ता, जिस प्रकार सूखा सूआ वृक्ष वर्षा के प्रभाव से अप्रभावित ही रहता है। ऐसे व्यक्ति को सदुपदेश देना उसी प्रकार व्यर्थ और निस्सार होता है, जिस प्रकार पत्थरों के ऊपर वर्षा होना। भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को विनीत और नम्र होना आवश्यक है। जिस प्रकार वर्षा का जल नीचे स्थान पर जाकर ही ठहरता है, उसी प्रकार प्रभु की कृपा उसी व्यक्ति पर होती है जो नम्र और विनीत होता है। जिस व्यक्ति में विवेक होता है वही शब्द की महिमा को समझकर संसार के विचारो से छुटकारा पा लेता है।

यह शरीर आत्मा के लिए एक विश्रामस्थल के समान है। इसमे आत्मा प्रवेश तो करती है विश्राम लेने के लिए, किन्तु यहां पर उसे और भी अनेक प्रकार की यातनाए सहनी पडती है क्योकि यह शरीर विषय और विकारो से भरा हुआ है। इस शरीर की जितनी अधिक चिन्ता की जाती है, उतना ही अधिक विकारग्रस्त होता चला जाता है, जिस प्रकार दूध पिलाने से सर्प का विष बढ़ता जाता है। चाहे व्यक्ति मे जितने गुण हो, किन्तु यदि उसके मन मे भगवान् के प्रति प्रेम नही है तो उसके सारे गुण इसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार खजूर के वृक्ष का

सीधापन और ऊंचाई, क्योंकि उसमे न तो पक्षियो को छाया मिलती है और न फल। अह-भावना के कारण दूसरे के गुणों का तिरस्कार करना भी नाश का कारण होता है और दूसरो के गुणो को ग्रहण करने से उसमे सद्गुण हो जाते हैं, जिस प्रकार चन्दन के पास रहने से नीम का वृक्ष भी सुगन्धित और शीतल बन जाता है।

हरिया जांण रूंपडा, उस पांणीं का नेह।
सूका काठ न जांणई, कबहूं बूठा मेह ॥१॥

शब्दार्थ—रूपडा,=वृक्ष। नेह=प्रेम। बूठा=पड़ा।

प्रभु-भक्ति से पल्लवित भक्त रूपी हरित वृक्षों को ही प्रभु के कृपा-वारि का ज्ञान होता है। प्रभु भक्ति से ही हीन शुष्क ठूठ जैसे अन्य व्यक्तियो को भला क्या ज्ञात कि यह प्रभु-कृपा-वारि की वर्षा कब हुई।

झिरिमिरि झिरिमिरि बरषिया, पाहण ऊपरि मेह।
माटी गलि सैंजल भई, पांहण वोही तेह ॥२॥

शब्दार्थ—सैंजन=सजल। पाहण=पाषाण, पत्थर।

पत्थरो के ऊपर प्रभु-स्नेह वारि की वर्षा हुई, उसके साथ चिपकी हरि-भक्त रूपी मिट्टी की आत्मा तो सजल—प्रभु-अनुकम्पा युक्त —हो गई, किन्तु वह पत्थर ज्यूं का त्यू ही रहा।

पार ब्रह्म बूठा मोतियां, घड़ बांधी सिषरांह।
सगुरां सगुरां चुणि लिया, चूक पड़ी निगुरांह ॥३॥

शब्दार्ण—सरल है।

परम प्रभु ने अपनी कृपा के मोतियो की वर्षा की, साधको मे उनके बीनने के लिए होड लग गई। जो सद्गुरु के शिष्य थे उन्होने तो मौक्तिक चुन लिये और जो सद्गुरुहीन थे, उनके हाथ कुछ न लगा।

कबीर हरि रस बरषिया, गिर डूंगर सिषरांह।
नीर मिवांणा ठाहरै, नाँ ऊंछा परड़ांह ॥४॥

शब्दार्थ—डूगर=टीला। सिषरह=चोटियो पर। मिवाणा=नीचे मे। ऊचा=ऊंचे पर।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-अनुकम्पा वारि की वर्षा पर्वत, टीलो और ऊंची-ऊंची चोटियो (अह से परिपूर्ण शुष्क, कठोर और दम्भयुक्त मनुष्यो) पर हुई, किन्तु वहाँ वह प्रभु-भक्ति का जल नही ठहरा। जल तो ऊचे पर नही, निम्न स्थान मे रुकता है।

भाव यह है कि प्रभु की भक्ति और कृपा के अधिकारी विनम्र-हृदय भक्त ही हैं।

कबीर मूंडत करमियां, लष सिष पाषर ज्यांह।
बांहणहारा क्या करै,-बांण न लागै त्यांह ॥५॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि जिन्होने मूर्खता कृत्यो के आवरण से अपने अग-प्रत्यंग को ढक रखा है उन पर सद्गुरु के उपदेश बाण का कोई प्रभाव नही पडता, उसमे सद्गुरु का कोई दोष नही ।

कहत सुनत सब दिन गए, उरझि न सुरझ्या मन ।
कहि कबीर चेत्या नहीं, अजहूँ सुपहला दिन ॥६॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि व्यथा-कथा कहते-कहते समस्त आयु व्यतीत हो गई फिर भी मन जो एक बार ससार-भ्रम में पडा था, पडा ही रहा सुलझ नही पाया । आज ज्ञान-प्रकाश हो जाने पर भी हे जीव ! तू सावधान नही होता, अज्ञानग्रस्त पडा है ।

कहै कबीर कठोर कै, सबद न लागै सार ।
सुध बुध कै हिरदै भिदै, उपजि बिबेक बिचार ॥७॥

शब्दार्थ— भिदै=बिंधना । बिबेक=ज्ञान ।

कबीर कहते है कि कठोर-हृदय मनुष्यो पर उपदेश-बाण की चोट नही लगती । ज्ञान-प्राप्त व्यक्तियों के मर्म को भेदकर ही उपदेश-बाण विवेक और विचार की उत्पत्ति करते है ।

मा सीतलता कै कारणै, माग बिलंबे आइ ।
रोम रोम विष भरि रह्या, अमृत कहाँ समाइ ॥८॥

शब्दार्थ—बिलबे=ठहरना ।

जिस भाँति बटोही मार्ग मे विश्राम के लिए ठहर जाता है उसी भाति आत्मा कहती है कि अनन्त यात्रा मे थककर शीतलता की आश मे मैं भी संसार में रुक गई किन्तु परिणाम उल्टा निकला । इस विश्राम स्थली संसार के कण-कण मे विषय-वासना का विष भरा हुआ है भला इस मे अमृताश निर्मल आत्मा के लिए स्थान कहां ?

सरपहि दूध पिलाइये, दूधै बिष ह्वै जाइ ।
ऐसा कोई नां मिलै, स्यूं सरपै विष खाइ ॥९॥

शब्दार्थ—सरपहि=सर्प को । स्यू =जो ।

सर्प को दूध पिलाने से दूध उसके मुख मे जाकर विष ही बन जाता है । हमे कोई ऐसा साधक नही मिला जो विषयुक्त इस माया की सर्पिणी को खा जाता, नष्ट कर देता ।

जलौं इहै बडपणां, सरलै पेड़ि खजूरि ।
पंखी छांह न बीसवै, फल लागै ते दूरि ॥१०॥

शब्दार्थ—वड़पडा=वडत्पन ।

कबीर कहते है कि खजूर के सीधे और ऊंचेपन का क्या लाभ है ? पक्षी को तो दूर तक छाया तक नहीं मिलती और फल इतने ऊंचे पर लगता है कि उसका लाभ सब नही उठा सकते ।

विशेष—इन दोहे का यह रूपान्तर भी मिलता है—

"वडा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर ।
पंछी को छाया नही, फल लागै अति दूर ॥"

ऊंचा कुल कै कारणै, बंस बध्या अधिकार ।
चंदन बास भेदै नहीं, जाल्या सब परिवार ॥११॥

शब्दार्थ—वस=वांस । जाल्या=जला दिमा ।

ऊंची जाति का होने के कारण वांस मे अहम्मन्यता आ गई और अपने से छोटे चन्दन के सद्गुण—सुन्दर, शीतल,सुगन्ध—को वह नही अपना सका, इसीलिए वह अपने परिवार—समूह सहित नष्ट हो गया ।

कवीर चंदन कै निड़े, नींव कि चंदन होइ ।
बूडा वंस वडाइतां, यौं जिनि बूडै कोइ ॥१२॥७६०॥

शब्दार्थ—निडै=पास होने पर । नीव=नीम । वंस=वास ।

कवीर कहते है कि दूसरे के सद्गुरु ग्रहण करने से वुरा व्यक्ति भी अच्छा हो सकता है, देखो चन्दन के पास रहने से नीम भी उसकी सुगन्ध ग्रहण कर चंदन जैसा ही वन जाता है किन्तु दूसरे के सद्गुण गहण न करने पर जिस प्रकार वांस का परिवार सहित विनाश हुआ, ऐसी स्थिति किसी की न आवे ।

भाव यह है कि सभी दूसरो के सद्गुण अपनाने की चेष्टा करें ।

★

५६. बिनती कौ अंग

अंग पचिय—इस अग मे प्रभु के प्रति विनय भाव की अभिव्यक्ति की गई है । प्रभु सर्वगुण-सम्पन्न और दुर्गुणो का नाश करने वाला है । ऐसे प्रभु के गुण अनंत हैं जिनका किसी प्रकार से भी वर्णन नही किया जा सकता । मनुष्य सासारिक विकारो मे फँसकर अपनी अमूल्य आयु को व्यर्थ मे ही नष्ट कर देता है और प्रभु का भजन नही करता । अन्त मे उसे पछताना पडता है । प्रभु ही संसार का कल्याण करने मे समर्थ हैं । व्यक्ति चाहे जितने धार्मिक कार्य करे, किन्तु यदि उसका प्रभु से अनुराग नही है तो चाहे वह हज की यात्रा करे वे चाहे काकी यात्रा करे, उसका कोई लाभ नही हो सकता । साधक का चरम लक्ष्य यही होना चाहिए कि वह अपने मन को आराध्य से मिलाकर एकाकार हो जाये ।

कवीर सांईं तौ मिलहिंगे, पूछहिंगे कुसलात ।
आदि अंति की कहूँगा, उस अंतर की बात ॥१॥

शब्दार्थ—अंतर=हृदय ।

कवीर कहते हैं कि स्वामी मिलेंगे तो अवश्य ही, इस मिलन-वेला में कुशलता पूछे जाने पर मैं अपने हृदय की व्यथा-कथा आदि से अन्त तक कहूंगा ।

कवीर भूलि बिगाड़ियां, तू नां करि मैला चित ।
साहिब गरवा लोड़िये, नफर बिगाड़ै नित ॥२॥

शब्दार्थ—गरवा=घमंड । लोड़ियो=त्यागना ।

कबीर कहते है कि तूने प्रभु को विस्मृत कर अपनी स्थिति को बिगाड़ लिया, किन्तु फिर भी चित्त मिलन मत होने दे। प्रभु-भक्ति से अब भी तेरा उद्धार हो सकता है, यदि तू गर्व का परित्याग कर दे। यह दम्भ नित्य-प्रति हमारी स्थिति को बिगाडता है।

करता केरे बहुत गुंण, औगुंण कोई नांहि।
जो दिल खोजौं आपणौं, तौ सब औगुण मुझ मांहि ॥३॥

शब्दार्थ—सरल है।

स्वामी मे तो अनन्न गुण ही हैं, अवगुण तो उसमे कोई भी नही है। हे मनुष्य! यदि तू आत्मदर्शन करे तो तू ही समस्त अवगुणों का केन्द्र है।

औसर बीता अलपतन पीय रह्या परदेस।
कलंक उतारौ केसया, भांनौं भरंम अंदेश ॥४॥

शब्दार्थ—अलपतन=अज्ञान मे। भानौं=नष्ट करूँ।

मेरी समस्त आयु अज्ञान मे ही व्यतीत हो गई और प्रिय मुझसे दूर रहा। अब मैं अपने हृदय से भ्रम और शका को समाप्त कर अज्ञानी होने के कलक को मिटा प्रभु-दास होना चाहता हूं।

कबीर करत है बीनती, भौसागर कै तांईं।
बंदे ऊपरि जोर होत है, जंम कूं बरजि गुसांईं ॥५॥

शब्दार्थ—ताँई=लिए, हित। बन्दे=दास। जोर=अत्याचार। बरजि= वर्जित कर।

संसार के सागर तुल्य अपार जनसमूह के लिए कबीर प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु! मनुष्यो पर काल अत्याचार कर रहा है आप इसे रोक दीजिए।

हज काबै ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर।
मीरा मुझ मैं क्या खता, मुखां न बोलै पीर ॥६॥

शब्दार्थ—मीरा=गुरुवर। खता=दोष।

कबीर न जाने कितनी वार कावा और हज कर आया किन्तु मुझे पता नही कि गुरुवर मुझ से क्यो रुष्ट है, बोलते तक नही।

भाव यह है कि व्यर्थाडम्बरो मे लिप्त रहने पर गुरु भी शिष्य को नही अपनाता।

ज्यूं मन मेरा तुझ सौं, यौं जे तेरा होइ।
ताता लोहा यौं मिलै, संधि न लखई कोइ ॥७॥७९७॥

शब्दार्थ—ताता=गर्म। सधि=जोड़।

कबीर कहते है कि हे प्रभु! मेरा आपसे अपार प्रेम है, मेरी इच्छा है कि हम दोनो इस प्रेम मे एकमेक हो जाय जिससे कोई दोनो के अन्तर को उसी प्रकार न जान सके जिस प्रकार गरम करके लोहे से लोह मिला देने पर दोनो की सन्धियो का पता नही चलता।

★

५७. सापीभूत कौ अंग

अंग-परिचय—भगवान ससार के कण-कण मे व्याप्त होकर भी संसार के विषय-विकारो से असम्पृक्त रहता है। यही असम्पृक्तता जब साधक के मन मे आ जाती है तो वह मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। उस अधिकार को प्राप्त करके भी जो सुख प्राप्त होता है, वह अद्वितीय एव अलौकिक होता है। मन साधना मे सबसे अधिक बाधक होता है। यदि व्यक्ति अपने मन को विषय-विकारों मे ग्रस्त रखेगा तो उसका अवश्य पतन होगा, और अपने इस पतन के लिए वह स्वय ही उत्तरदायी होगा।

कबीर पूछै रांम कूं, सकल भवनपति-राइ।
सबही करि अलगा रहौं, सो बिधि हमहि बताइ ॥१॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर समस्त भुवन-पति (१४ भुवन) प्रभु से पूछता है कि हे प्रभु! आप सब भुवनो की व्यवस्था कर उनमे रमे हुए भी उनके प्रभाव से जिस प्रकार असम्पृक्त रहते हो, वह ढग मुझे भी बता दो।

जिहि बरियां सांई मिलै, तास न जांणै और।
सबकूं सुख दे सबद करि, अपणीं अपणीं ठौर ॥२॥

शब्दार्थ—जिहि बरियां=जिस क्षण।

जिस क्षण मुझे प्रभु प्राप्ति हो जाय उस समय के समान महत्वमय अन्य समय को मत समझ। सबको यथास्थान अपने उपदेश से सुख पहुंचा।

कबीर मन का बाहुला, ऊंडा बहै असोस।
देखत हीं दह मैं पड़ै, दई किसा कौं दोस ॥३॥८००॥

शब्दार्थ—बाहुला=नाला, गढा।

कबीर कहते है कि यह मन रूपी नाला बडा गदला और गहरा है। यह जानते हुए भी यदि कोई इसमे गिर पडे तो फिर किसे दोष दिया जा सकता है? अर्थात् गिरने वाला ही स्वय दोषी है।

★

५८. बेली कौ अंग

अंग-परिचय—इस अग मे बेल के माध्यम से कबीर ने सासारिक विकारो का वर्णन किया है। वे कहते है कि जलाने के लिए जो लकडी लाई गई थी, वह पुनः पल्लवित होने लगी, अर्थात् जिस मन को सयम के द्वारा नियन्त्रित किया गया था, वह पुन. विकारो की ओर अग्रसर हो गया। माया-रूपी बेल को यदि आगे-आगे से जलाया जाये तो पीछे-पीछे पल्लवित होती रहती है, अर्थात् यदि माया का सम्पूर्ण विनाश न किया जाये तो वह पुन उभर आती है। इसको तो समूल नष्ट करने पर ही ईश्वर की प्राप्ति होती है। यह माया की बेल समूचे ससार मे फैली हुई है। यह जितनी कडवी है, इसका फल भी उतना ही कडवा होता है। अत. साधक को चाहिए कि वह माया की बेल का समूल नाश कर दे। तभी उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो सकेगी।

अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी, नां तूबड़ी न बेलि।
जालण आंणीं लाकड़ी, ऊंठी कूंपल मेल्हि ॥१॥

शब्दार्थ—तूबडी=तूम्बा। जालण=जलाने के लिए। कूपल=कोमल।

कबीर कहते है कि जलाने के लिए जो लकडी लाई गई थी वह पुनः पल्लवित होने लगी, अर्थात् जिस मन को संयम से मारा था, वह पुन विषयो मे प्रवृत्त होने लगा। इस अवस्था मे इस ससार सागर के पार जाने के लिए न वेल है न तुवा—कोई सम्बल नही।

विशेष—तैरने के लिये तूवे आदि का सहारा लिया जाता है।

आगै आगै दौं जलै, पीछै हरिया होइ।
बलिहारी ता बिरष की, जड़ काट्या फल होइ ॥२॥

शब्दार्थ—दौ=दावाग्नि। हरिया=हरित, पल्लवित।

माया रूपी बेल को आगे-आगे से यदि जलाया जाय तो यह पीछे ही पीछे, तत्क्षण, पल्लवित होती जाती है। कबीर कहते है कि मैं उस वृक्ष की बलिहारी जाता हू जिसकी जड़ काटने से, माया को समूल नष्ट करने से, फल (ईश्वर) प्राप्ति होती है।

जे काटौं तौ डपडपी, सींचौं तौ कुमिलाइ।
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुण कह्या न जाइ ॥३॥

शब्दार्थ—डहडही=हरी होना।

कबीर कहते है कि इस त्रिगुण—प्राकृत माया-बेलि की दशा का क्या वर्णन किया जाय? यदि इसे इन्द्रियो के कुल्हाडे से काटा जाय, भोग किया जाय तो यह और अधिक बढ़ती है और यदि इसे प्रभु-भक्ति के जल से सिंचित किया जाय तो कुम्हला जाती है।

विशेष—विरोधाभास अलकार।

आंगणि बेलि अकासि फल, अण ब्यावर का दूध।
ससा सींग की धूनहड़ी, रमै बांझ का पूत ॥४॥

शब्दार्थ—आंगणि=आगन। अण ब्यावर=बिना ब्याई हुई। ससा=खरगोश। धूनहड़ी=शृगी।

यह माया रूपी बेल ससार के सहन मे फैली हुई है और इसे काट देने पर शून्य प्रदेश मे निर्मल फल—परम-प्रभु की प्राप्ति होती है। सामान्यजनो को यह बात ऐसी ही विचित्र लगती होगी जैसे अनब्यायी गाय का दूध अथवा खरगोश के सींग की शृगी की बात कहना अथवा यह कहना कि वन्ध्या का पुत्र क्रीडा कर रहा है।

कबीर कड़ई बेलड़ी, कड़वा ही फल होइ।
सांध नांव तब पाइये, जे बेलि बिछोहा होइ ॥५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि इस माया रूपी कडवी वेल का फल भी ऐसा ही कड़वा होता है। वही प्रभु की खोज कर सकता है जो इस वेल से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर दे।

सींध भइ तब का भया, चहुँ दिसि फूटी वास ।
अजहूँ बीज अंकूर है, भी ऊगण की आस ॥६॥८०६॥

शब्दार्थ—सीध=सिद्ध, साधक । वास=प्रसिद्धि । ऊगण=उगने ।

यदि कोई माया से सम्बन्ध विच्छेद कर साधक बन गया और उसकी प्रसिद्धि हो गई तो क्या हुआ, इसका विशेष महत्व नहीं । आज भी इस माया-बेलि का बीज शेष है, वह कभी भी पुन: अंकुरित हो सकता है, अत: हे साधक ! तू सावधान रह ।

५९. अविहड़ कौ अंग

अंग-परिचय—इस अग मे कबीर ने बताया है कि मैंने उस परम ब्रह्म को अपना साथी बना लिया है जो सुख-दु.ख के भावो से परे है और जिसके अतिरिक्त मेरा और कोई सच्चा हितैषी नही है, जो हर अवस्था मे मेरा साथ देता है। ऐसे असीम प्रभु का मैं कभी भी साथ नही छोड़ूँगा ।

भाव यह है कि इस ससार मे ईश्वर ही सच्चा साथी है और उसके प्रति अनुराग बनाये रखने मे ही मनुष्य का वास्तविक हित है ।

कबीर साथी सो किया, जाकै सुख दुख नहीं कोइ ।
हिलि मिलि ह्वं करि खेलिस्यू, कदे विछोह न होइ ॥१॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर ने उस परब्रह्म को अपना साथी बनाया है जिसे कभी भी सुख-दुख नही व्यापता । मैं उससे बड़े प्रेमभाव से क्रीडा करता हूं, उस प्रभु से मेरा कभी भी वियोग नही हो सकता ।

कबीर सिरजनहार बिन, मेरा हितू न कोइ ।
गुण औगुण विहड़ै नहीं, स्वारथ बंधी लोइ ।२॥

शब्दार्थ—सिरजनहार=स्रष्टा, प्रभु । हितू=हितैषी । विहडै=छोडना । लोइ=लोग ।

कबीर कहते हैं कि स्रष्टा प्रभु के अतिरिक्त मेरा हितैषी अन्य कोई नही है । अन्य सासारिक प्रियजन स्वार्थ के कारण मेरा ध्यान रखते हैं किन्तु वह परम प्रभु मुझे गुणयुक्त अथवा गुणहीन किसी भी दशा मे नही छोड़ेगा । अत. वही मेरा सच्चा हितैषी है ।

आदि मधि अरु अंत लौं, अविहड़ सदा अभंग ।
कबीर उस करता की, सेवग तजै न संग ॥३॥८०९॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि आदि, मध्य, एव अन्त किसी भी अवस्था मे जिसका साथ नही छूटता, मैं उस प्रभु की सेवा और संसर्ग को कभी भी नही छोड़ूगा ।

पदावली भाग

पदावली-परिचय—कबीर पदावली मे कबीर के विभिन्न दृष्टिकोणों को बड़े ही सुन्दर पदों में सकलित किया गया है। इसकी सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि कबीर ने आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु के प्रति श्रद्धा को आवश्यक बताया है। क्योंकि हमारे प्राचीन शास्त्रो मे लिखा है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' अर्थात् गुरु के प्रति श्रद्धावान् होने से ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नही।

पदावली मे सर्वप्रथम कबीर के माया सम्बन्धी विचारो की अभिव्यक्ति हुई है। उनका माया-सम्बन्धी दृष्टिकोण बडा ही रहस्यपूर्ण, गम्भीर एवं व्यापक है। उनके मतानुसार यह सारा ससार ही माया रूप है, जिसकी अद्भुत छटा में मानव लिप्त होकर भटकते रहते है। कबीर ने पदावली मे माया को महाठगिनी कहा है, जो कि त्रिगुण फाँस लेकर सासारिक प्राणियो को अपने चक्र मे फँसाती रहती है। दूसरी ओर मनुष्य का सबसे बड़ा स्वार्थ मोक्ष है। परन्तु माया मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग मे सबसे बड़ी बाधा है। सबसे बडी खाई है, जिसको कूदना मनुष्य के लिए असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। इस रहस्य का उद्घाटन 'पदावली' के विभिन्न पदों मे किया गया है। इस सासारिक माया के सम्बन्ध मे पदावली मे लिखा है—

"माया महाठगिनि हम जानी।

× × ×

कहत कबीर सुनो भाई साधो! यह सब अकथ कहानी।"

परन्तु इस माया के अन्धकारमय पर्दे को किस प्रकार हटाया जा सकता है? इस प्रश्न पर भी पदावली मे कई पदो मे विचार किया गया है। इस महाठगिनी माया से बचने के लिए पदावली मे दो बातो की ओर सकेत किया गया है। प्रथम तो गुरु के प्रति हृदय मे श्रद्धा होनी चाहिए और दूसरे आत्मज्ञान की उत्पत्ति। इन दोनों के सामंजस्यपूर्ण साधन से माया रूपी पर्दा हटाया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे पदावली मे एक पद इस प्रकार लिखा गया है—

"घूंघट के पट खोल रे तोय पिया मिलेंगे।"

अर्थात् हृदय रूपी अन्धकारमय पर्दे को ज्ञान के द्वारा हटाया जा सकता है और उस आत्मज्ञान का प्रकाश गुरु कृपा से ही हो सकता है। क्योकि वह परमात्मा प्राणियो के हृदय मे पुष्पो मे सुगन्ध की भाँति समाया हुआ है। अतः उस ज्ञान का आभास गुरु के द्वारा प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करने से ही हो सकता है। इसलिए 'पदावली' मे गुरु को गोविंद से भी बडा बताया है। गुरु एक प्रकार से

परमात्मा की ओर ले जाने वाला मार्ग है। अतः यदि हम अपने जीवन में सफलता की प्राप्ति चाहते हैं, तो निस्सन्देह ही हमें गुरु के चरणों की सेवा करनी पड़ेगी। ज्ञान की आँधी आने से माया रूपी टाँटी उड़ जाती है। हृदय मे आलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। उसी आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' भी कहा गया है। पदावली के पदो मे इस भावना तथा दार्शनिक विचार की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है।

'पदावली' मे 'ब्रह्म' सम्वन्धी विचारो को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। 'ब्रह्म' क्या है और इसका स्वरूप क्या है? इस विषय मे भी 'पदावली' में अनेक पदों का संग्रह हुआ है। कवीर की ब्रह्मसम्वन्धी विचारधारा उपनिषद् के दार्शनिक विचारो पर आधारित है। उपनिषदों मे स्पष्ट लिखा है—'सर्व खलु इद्र ब्रह्म' एव 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या'। परन्तु कवीर ने पदावली मे ब्रह्म के स्वरूप को उपनिषद् से भी अधिक व्यापक तथा स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया है। अखिल-विश्व ही ब्रह्म का स्वरूप है और ब्रह्म से ही इस ससार की सृष्टि हुई है। 'पदावली' मे व्यक्त 'ब्रह्म' कोई भौतिक 'ब्रह्म' नही है। कवीर का ब्रह्म दाशरथी राम नही है, अपितु वह तो तीनो लोकों मे व्याप्त रहने वाला 'ब्रह्म' है। उस ब्रह्म से ही इस माया रूपी संसार की सृष्टि हुई है। पदावली मे इस वात पर वड़ा ही महत्व दिया गया है। उसमे कहा गया है कि ब्रह्म ही जगत् मे एकमात्र सत्ता है। ब्रह्म ही से सवकी उत्पत्ति हुई है और फिर सव उसी मे मिल जाते हैं। इस वात को स्पष्ट करने के लिए 'पदावली' की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

"जल मैं कुंभ कुंभ में जल है, वाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यहु तत कथौ गियानी॥"

अतः ब्रह्म के इस रहस्य को समझने के लिए मानव को सासारिक ममता का त्यागन करना पड़ता है।

अर्थात् 'अहंभाव' के स्थान पर हृदय मे हरि का ध्यान करना पड़ता है।'

इसके अतिरिक्त परमात्मा की भक्ति का सम्वन्ध मन से है, मन की भक्ति शरीर को अपने अनुकूल वना लेती है। इसलिए 'पदावली' मे 'कर का मनका छाँडि के, मन का मनका फेर' का उपदेश दिया गया है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्म का स्वरूप ज्ञानमार्गी होने के कारण शुष्कतापूर्ण हो जाता है। अत. कवीर ने अपने पदो में निराकार सम्वन्धी शुष्क चिंतन के साथ प्रेम-पूर्ण चिंतन को भी मिलाया। इस भौतिक जगत् मे ब्रह्म की व्यापकता उसके प्राणियो से प्रेममय सम्वन्ध स्थापित करने से ही जानी जा सकती है। 'पदावली' मे विभिन्न पदो मे कवीर के इस प्रेममयी—विचारो को कई पदो मे व्यक्त किया गया है। प्रेम रूपी मदिरा को मनुष्य यदि एक वार भी पी लेता है, तो जीवन पर्यन्त उसका नशा नही उतरता। वह उसी प्रेम के नशे मे अपनी सुध-वुध भूलकर परमार्थी भी हो

जाता है और सभी में उस महान् प्रेम के प्रकाश को देखता है। इसीलिए तो उन्होंने लिखा है—

> "लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल।
> लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥"

आँगल कवि कालरिज की भाँति कबीर पदावली में भी प्रेम को भगवान् के रूप में ही व्यक्त किया गया है।

'पदावली' मे कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार 'ब्रह्म' को 'निराकार' ही नही अपितु साकार रूप मे भी ग्रहण किया गया है। कबीर 'पदावली' मे उन पदो मे ब्रह्म को उन स्थानो पर प्रेम रूप माना है जहाँ ज्ञान के साथ प्रेम की भी व्याख्या की गई है।

'पदावली' वास्तव मे भक्ति और ज्ञान का आगार है। क्योंकि उसमे ज्ञान तथा भक्ति का बड़ा ही सुन्दर समन्वयवादी रूप प्रस्तुत हुआ है।

'पदावली' के विभिन्न पदो मे तत्कालीन समाज की विषमताओ का भी बड़ा ही तथ्यपूर्ण चित्र उपस्थित किया है। इसका कारण यह है कि कबीर ने अपने समय मे प्रचलित सामाजिक रूढियो, कुप्रथाओ, धार्मिक—आडम्बरमय बातो आदि को दूर करने का यथाशक्ति प्रयास किया। अतः इस प्रयास का जैसा का तैसा चित्र अनेक पदों मे उपस्थित हुआ है। इस दृष्टि से कबीर पदावली सामाजिक सुधार के अनेक प्रयत्नो का भी प्रतीक है। कबीर ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों जातियो में से इस प्रकार की असभ्य तथा भेदभावपूर्ण बातो को निकालने की चेष्टा की। दोनों मे एकता लाने की कोशिश की गई। अतः 'पदावली' मे संकलित वे पद, जिनमें कि समाज-सम्बन्धी विषमताओ के निवारण का विवेचन किया है, आधुनिक युग के लिए भी बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होगा। 'पदावली' में हिन्दू समाज में मूर्तिपूजन तथा मुसलमानों में चिल्ला-चिल्लाकर नमाज पढने आदि आडम्बरी बातो का विरोध किया और इन दोनो जातियो में पारस्परिक भेदभाव को मिटाकर तथा भटके हुए मार्ग से हटाकर सही मार्ग पर लाने के साधनो पर भी प्रकाश डाला गया है। कबीर को ऐसे पदो के आधार पर ही एक श्रेष्ठ समाज सुधारक भी कहा जाता है।

'पदावली' मे कबीर की रहस्यवादी भावनाओ को भी भली-भाँति स्पष्ट किया गया है। इस रहस्यवाद के अन्तर्गत एक अज्ञात शक्ति काम करती है, जो कि विश्व का संचालन करती है। उपनिषद् मे यही अज्ञात शक्ति 'अद्वैतवाद' के रूप मे मिलती है। परन्तु वह शक्ति इस प्रकार दिखाई नही देती, जिस प्रकार जगत् के अन्य दृश्य रूप। 'पदावली' मे परमात्मा के प्रेम तथा उसकी अनुभूति को गूंगे का सा गुड कहा है—

> "अकथ कहानी प्रेम की, कछू कही न जाइ।
> गूंगे केरी सरकरा, खाय और मुसकाय॥"

यही रहस्यवाद का मूल है। वेद तथा उपनिषदो मे रहस्यवाद इसी रूप में मिलता है। गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण के मुँह मे उनकी विभूति का जो वर्णन किया गया है, वह भी अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इस दृष्टि मे 'पदावली' दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन करने वाला एक वहुत ही उच्चकोटि का ग्रन्थ है। 'रहस्यवाद' की जितनी गम्भीर विवेचना पदावली मे की गई है, सम्भवत अन्यत्र नही। परमात्मा को पिता, माता, पुत्र अथवा सखा के रूप मे देखना ही रहस्यवाद है। पदावली में सर्वात्मवाद मूलक रहस्यवाद की ओर भी निर्देश किया गया है, जो 'माधुर्यभाव' से परिपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त परमात्मा के वियोग से जनित सारी सृष्टि का दुःख कितना अधिक कवीर के हृदय मे समाया हुआ है। 'पदावली' मे राम की वियोगिन की यह आकुलता निम्न पक्तियो मे व्यक्त की गई है- -

"वै दिन कव आवैंगे भाइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिवौ अंग लगाइ ॥"

चिर प्रतीक्षा के पश्चात् जव जीव रूपी दुलहिन अपने प्रिय परमात्मा रूपी पिया से मिलती है, तो उसे 'आलौकिक-आनन्द की' प्राप्ति होती है। 'पदावली' के एक पद मे इस 'आनन्द' को कितने सुन्दर शव्दो मे अभिव्यक्त किया गया है—

"दुलहिन गाओं मंगलचार।
हमारे घर आये राजाराम अवतार ॥"

साहित्य मे 'रहस्यवाद' की अभिव्यक्ति की यह उच्चतम स्थिति है। इस प्रकार 'पदावली' मे हमे आत्मोद्धार, जगत् की अन्य सृष्टियो से प्रेम स्थापित करने की प्रेरणा मिलती है। वस्तुत इस पुस्तक मे शुद्ध-रहस्यवाद मिलता है। इसी के कारण कवीर को भी डॉ० श्यामसुन्दर जैसे मर्मज्ञ विद्वानो ने 'शुद्ध-रहस्यवादी' कहा और उनके रहस्यावाद को सवसे ऊँचा वताया है।

'पदावली' मे कवीर के जिन पदो, साखी, शव्द, आदि का सग्रह हुआ है, वह सब शुद्ध कविता के सभी गुणो से सम्पन्न है। कवीर अनपढ थे। इसलिए उनसे इतनी उच्चकोटि की कविता करना आशातीत वात है। परन्तु जहाँ-जहाँ कवीर की आत्मा-प्रेमानुभूतियो से तडप उठी है और उस तडपन से जो शव्द कवीर की वाणी से निकले उनमे उच्चकोटि का काव्यत्व मिलता है। 'पदावली' के अनेक पद इस वात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। आलोचको का मत है कि कविता करना कवीर का लक्ष्य नही था। लक्ष्य तो उनका और ही कुछ था फिर भी उनकी पदावली मे काव्यत्व की सुन्दरतम तथा श्रेष्ठतम चीज़ मिलती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कवीर ने कविता के लिए कविता नही की, उनकी विचारधारा सत्य की खोज मे रही और उसी का प्रकाश करना उसका ध्येय है। शव्दो की तोड-मरोड़ से चमत्कार लाने की प्रकृति से वे दूर थे। दूर की सूझ जिस अर्थ में केशव, विहारी, आदि कवियो मे मिलती है, उस अर्थ में कवीर की पदावली मे पाना असम्भव है। 'पदावली' मे

'रहस्यावादी' कविता बहुत उच्चकोटि की कविता है। इन रहस्यमय उक्तियो में अलकार जैसे उपमा, रूप, अन्योक्ति, प्रतीक तथा छद आदि का सुष्ठु प्रयोग हुआ है।

'पदावली' मे प्रयुक्त भाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर की भाषा मे पूर्वी, व्रज, पजाबी, राजस्थानी, अरबी, फारसी आदि अनेक भाषाओ का पुट था। इसलिए 'पदावली' की भाषा को हम सधुक्कडी भाषा कह सकेंगे। इनकी भाषा पंचमेल-खिचड़ी होते हुए भी बडी रसपूर्ण तथा मधुर है। इसका प्रमाण पदावली के पदों की भाषा की संगीतात्मकता, माधुर्यता, प्रवाहमयता आदि बातें है।

हिन्दी-साहित्य मे 'कबीर की पदावली' का महत्वपूर्ण स्थान है। मुक्तक काव्य की दृष्टि से 'पदावली' अपने जगह अद्वितीय है और भावी कवियो के लिए एक पथ-प्रदर्शिका के रूप मे विद्यमान है। रहस्यवादी क्षेत्र मे तो पदावली मे प्रयुक्त रहस्यपूर्ण उक्तियाँ सबसे ऊँची है। यदि आध्यात्मिकता को भौतिकता से श्रेष्ठ माना जाय तो 'पदावली' को श्रेष्ठतम पुस्तक माना जा सकता है। हिन्दी-साहित्य मे प्रभाव की दृष्टि से तुलसी की रचनाओ के बाद कबीर की पदावली का ही नाम आता है, क्योकि तुलसी को छोडकर हिन्दी भाषी जनता पर कबीर से बढकर अन्य किसी कवि का प्रभाव नही पडा।

राग गौड़ी

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा रांम भरतार ॥टेक॥
तन रत करि मै मन रत करि, पंचतत बराती।
रांमदेव मोरै पांहुनं आये, मै जोबन मै माती॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार।
रांमदेव संगि भांवरि लैहूँ, धंनि धंनि भाग हमार॥
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहैं कबीर हंम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी॥१॥

शब्दार्थ—दुलहनी=सौभाग्यवती नारियो। मंगलचार=सस्कार के मंगलमय गीत। भरतार=पति। रत=अनुरक्त। पचतत=क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर। पाहुनें=अतिथि। भावरि=विवाह-परिक्रमाए। धनि-धनि=धन्य-धन्य। कौतिग=कोटिक, करोड। मुनियर=मुनिवर।

कबीर यहाँ परमपुरुष से अपने आध्यात्मिक मिलन का वर्णन विवाह के रूपक द्वारा करते हुए कहते है कि हे सौभाग्यवती नारियो! तुम विवाह के मगल गीत गाओ, आज मेरे घर पर स्वामी राम—परमप्रभु आये हैं। मेरी आत्मा प्रभु-भक्ति मे परिपक्व (जोवन मे माती) है। स्वय प्रभ मेरे द्वार पर अतिथि बनकर आये हैं। मैं उनका स्वागत पति रूप मे ही वरण कर करूंगी। मैं अपने शरीर और मन को उनके प्रेम मे रग, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश को बराती बनाकर अर्थात्

उनको साक्षी बना शरीर रूपी कुण्ड की वेदी पर प्रभु के साथ विवाह-सम्बन्ध मे बँध जाऊगी। इस विवाह के सस्कार पर स्वय ब्रह्मा वेद-मत्रो का उच्चारण करेंगे। अब आगे कबीर ऐसा वर्णन करते है कि विवाह हो चुका है, वे कहते है कि इस प्रेम से प्रेमिका (आत्मा) के इस महामिलन को देखने के लिए तेतीस करोड देवता एवं अट्ठासी सहस्र मुनिवर आये थे। कबीर कहते है कि इस प्रकार अविनाशी परम पुरुष से विवाह-सूत्र (अटूट प्रेम सम्बन्ध) जोडकर इस ससार से जा रहे हैं।

विशेष—कबीर यहा अपनी विचारधारा के प्रतिकूल तेंतीस करोड देवता एव अट्ठासी सहस्र मुनियो तथा ब्रह्मा आदि का उल्लेख करते है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि कबीर बहुदेववाद अथवा अन्धविश्वास से अन्य देवी-देवताओ को मानते थे। इन सबका उल्लेख केवल यहाँ उस परम-मिलन की अद्भुतता दिखाने के लिए ही किया है। इससे अन्यथा अर्थ निकालना कबीर के साथ अन्याय होगा।

बहुत दिनन थैं मै प्रीतम पाये,
भाग बड़े घरिं बैठें आये ॥टेक॥
मंगलचार मांहि मन राखौं, राम रसांइण रसनां चाखौं ॥
मंदिर मांहि भया उजियारा, ले सूती अपनां पीव पियारा ॥
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई ॥
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हाँ, सखी सुहाग रांम मोहि दीन्हां ॥२॥

शब्दार्थ—थैं=मे (बहुत दिनो मे)। रसाँइण=रसायन। मंदिर=हृदय, मन्दिर। सूती=सती।

कबीर परमात्मा के साथ अपने महामिलन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मैंने बहुत दिनो मे अपने स्वामी के दर्शन किये है (जब से आत्मा परमात्मा से बिछुड़ी है, तभी से उसे परम तत्व के दर्शन नही हुए)। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैंने इस संसार में ही उनको प्राप्त कर लिया। हे सखियो! (दूसरी आत्माओ) तुम अपना मन प्रभु-अर्चना मे गाये मंगल गीतो मे ही लगाओ एव जिह्वा से राम नाम के अमूल्य रसायन का रसास्वादन करो। प्रभु आगमन से मेरे हृदय मन्दिर मे प्रकाश हो उठा। (ज्ञानवर्तिका प्रदीप्त हो उठी)। हे सती आत्मा! तू अपने प्रियतम से भेंट कर। मैंने यह अमूल्य और सुन्दर निधि जो प्राप्त की यह प्रभु की ही अनुकम्पा है। कबीर कहते है कि हे सखी! मैंने कुछ भी विशेष महत्व का कार्य नही किया किन्तु यह प्रभु की कृपा है कि उन्होने मेरी आत्मा को अपनाया।

अब तोहि जांन न देहूँ राम पियारे,
ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे ॥टेक॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये ॥
चरननि लागि करौं बरिआई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ॥
इत मन मंदिर रहौ नित चोषै, कहै कबीर परहु मति घोषै ॥३॥

शब्दार्थ—बरिआई=सेवा। घोषै=धोखा। चोषै=भली प्रकार।

कबीर आत्मा के द्वारा कहलवाते हैं कि हे प्रियतम राम ! अब मैं तुम्हे अलग न होने दूंगी। जिस प्रकार भी आप मेरे पास रह सकते है, वैसे ही रहिये ! मैंने बहुत दिनो के बिछुडे स्वामी को प्राप्त किया है और वे घर बैठे ही प्राप्त हो गये हैं। यह मेरा परम सौभाग्य है। मैं उन्हें प्रेम-बन्धन मे बाध उनके चरणो में रहकर सेवा करूंगी। हे स्वामी ! आप मेरे मन मन्दिर में नित्य भली प्रकार (सम्पूर्ण सुविधाओं सहित) रहो। आप अन्यत्र जाकर धोखे मे मत पडिये; अर्थात् मेरे जैसा सच्चा प्रेम अन्यत्र दुर्लभ होगा।

विशेष—आचार्य प्रवर रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्तामणि' के 'श्रद्धा-भक्ति' निबन्ध मे प्रेम और भक्ति का अतर स्पष्ट करते हुए बताया है कि प्रेम मे प्रेमी यह चाहता है कि जिस प्रिय से उसकी प्रीति है उससे अन्य कोई प्रेम न करे, दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र मे भक्त यह चाहता है कि जिस आराध्य को मैं पूज्य मानता हूं उसे सब पूज्य मानें। इस दृष्टि से देखने पर यहा कबीर की भावना भक्ति क्षेत्र की नही, अपितु प्रेमी की ही भावना है, ईश्वर से यही प्रेम सम्बन्ध तो उन्हे रहस्यवादी कवि की कोटि मे रखता है।

मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहि रे।
चरन कंवल मन मांनियां, और न भावै मोहि रे ॥टेक॥
षट दल कंवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ रे।
दहूँ कै बीचि समाधियां, तहाँ काल न पासैं आइ रे॥
अष्ट कंवल दल भीतरां, तहां श्रीरंग केलि कराइ रे।
सतगुर मिलै तौ पाइये, नहीं जन्म अक्यारथ जाइ रे॥
कदली कुसुम दल भीतरां, तहाँ दस आंगुल का बीच रे।
तहाँ दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मींच रे॥
बंक नालि के अंतरै, पछिम दिशा की बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिये, तहां भंवर गुफा के घाट रे॥
त्रिबेणी मनाह न्हवाइए, सुरति मिलै जौ हाथि रे।
तहाँ न फिरि मघ जोइये, सनकादिक मिलिहैं साथि रे॥
घघन गरजि मघ जोइये, तहाँ दीसै तार अनंत रे।
बिजुरी चमकि घन बरषिहैं, तरां भीजत हैं सब संत रे॥
षोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि गए श्री बनवारि रे।
जुरामरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे॥
गुर गमि तैं पाईये, झंषि मरे जिनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे ॥४॥

शब्दार्थ—अक्यारथ=व्यर्थ। कुसुम दल=रीढ़ की हड्डी। दुवादस=द्वादश। मीच=मृत्यु। बक नालि=सुषुम्ना। अतरै=अन्दर। नीभर झरै=निर्झर झर रहा

है, अमृत वरस रहा है। जुरामरण=वृद्धावस्था और मृत्यु। झपि मरै=प्रयत्न करता हुआ मर जाये, अत्यधिक प्रयत्न करे।

कबीर कहते हैं हे मन के स्वामी! मेरा मन केवल आप मे ही अनुरक्त है। आपके चरण-कमलो मे ही मेरा मन लगता है, मुझे अन्य कुछ भी प्रिय नही है। स्वाधिष्ठान चक्र मे मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी को पहुंचाने में जो समाधि लगायी जायेगी, उससे मृत्यु भय दूर हो जायगा। अष्ट कमल—सुरति कमल—के मध्य ईश्वर का निवास है। यदि सद्गुरु प्राप्ति हो जाय तो वहा तक पहुचा जा सकता है, अन्यथा यह जन्म व्यर्थ ही चला जाता है। कदली तुल्य रीढ की हड्डी के मध्य जो नाडी जाल है मूलाधार चक्र से हृदय-चक्र तक पहुचने मे दस अगुल की दूरी है। यहा द्वादश दल वाला कमल है जिसकी प्राप्ति से मृत्यु नही होती। सुषुम्णा यदि ऊपर सहस्रार मे जाकर वाई ओर को विस्फोट करे तो वहा उस शून्य गुफा से अमृत-स्रवण होता है। यदि साधक को इस स्थान की प्राप्ति हो जाय तो वह त्रिवेणी-स्नान का पुण्य लाभ यही करता है। वहाँ जाकर पुन. ससार की ओर दृक्पात करने की आवश्यकता नही, वहाँ तुम्हारा मिलन अन्य मुक्तात्माओ से भी हो जायगा। अनहद नाद के द्वारा मेघ-गर्जन का सुख लाभ होता है और परब्रह्म के दर्शन होते हैं। वहाँ अनंत ज्योतिष्मान् परमेश्वर की कान्ति का विद्युत् प्रकाश है, एवं अमृत-स्रवण से समस्त मुक्तात्माएं स्नात है। षोडष-दल कमल—विशुद्ध चक्र—प्राप्ति पर साधक प्रभु से तदाकार हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त कर जरा-मरण का भय भाग जाता है और पुन आवागमन मे नही पड़ना पडता। यह परमपद गुरु कृपा के द्वारा ही पाया जा सकता है, वैसे चाहे कोई कितना ही भगीरथ प्रयत्न करे, उसकी प्राप्ति नही कर सकता। कबीर तो अव उसी परमपद का लाभ सहज समाधि द्वारा कर रहा है।

विशेष—१ नाथपथी साधनानुरूप योग का वर्णन है।

२. कुछ चक्रो का वर्णन नाथ-सम्प्रदाय से भिन्न स्थानो मे प्राप्त होता है।

३ प्रभु के वैष्णव नाम प्रयोग मे कबीर पर वैष्णव प्रभाव देखा जा सकता है।

गोकल नाइक वीठुला, मेरौ मन लागौ तोहि रे।
वहुतक दिन विछुरें भये, तेरो औसेरि आवै मोहि रे ॥टेक॥
करम कोटि कौ ग्रह रच्यौ रे, नेह गये की आस रे।
आपहि आप वँधाइया, द्वै लोचन मरहि पियास रे ॥
आपा पर संमि चीन्हिये, दीसै सरब समांन रे।
इहि पद नरहरि भेटिये, तूं छाड़ि कपट अभिमांन रे ॥
नां कतहूँ चलि जाइये, नां सिर लीजै भार रे।
रसनां रसहि विचारिये, सारंग श्रीरंग धार रे ॥

साधं सिधि ऐसी पाइये, किवा होइ महोइ रे।
जे दिठ ग्यांन न ऊपजै, तौ अहटि रहै जिनि कोइ रे॥
एक जुगति एकै मिलै, किबा जोग कि भोग रे।
इन दून्यूं फल पाइये, रांम नांम सिधि जोग रे॥
प्रेम भगति ऐसी कीजिये, मुखि अंमृत बरिषै चंद रे।
आपही आप बिचारिये, तब केता होइ अनंद रे॥
तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म बिचार रे।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥
चरन कंवल चित लाइये, रांम नांम गुन गाइ रे।
कहै कबीर संसा नहीं, भगति मुकति गति पाइ रे॥५॥

शब्दार्थ—नाइक=नायक। बीठुला=बिट्ठल, हिन्दुओं के आराध्य। औसेरि =आश्रम, स्मृति। द्वैलोचन=दोनो आँखे। संमि=समान रूप से।

कबीर कहते हैं कि हे गोकुलनायक विट्ठल प्रभु! मेरी आपसे प्रीति हो गई है। आप मेरे से बहुत समय से बिछुड गये हो (आत्मा-परमात्मा से बहुत समय पूर्व अलग हो चुकी) आपकी स्मृति मुझे व्यथित करती है। आपके दर्शनों की आशा मे मेरे दोनों नेत्र प्यासे मरते हैं, मैं स्वय ही इस जगत् के बन्धन मे बध गया हूं जिसके फलस्वरूप स्नेहहीन व्यक्तियो से मैंने प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास कर विविध कर्मों का तन्तु ताना। आगे कबीर कहते है कि वह सर्वत्र व्यापी प्रभु सबको समान रूप से दृष्टिगत होता है तथा जिस रूप मे वह सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त है उसी भाति स्वय मैं भी, अतः अपने भीतर ही प्रभु को खोजने की चेष्टा करनी चाहिए, अन्यत्र नही। अतः हे मनुष्य! तू कपट एव मिथ्याभिमान का परित्याग कर अपना पूर्ण समर्पण प्रभु चरणो मे कर दे। उस प्रभु की खोज मे न तो इधर-उधर भटकने की आवश्यकता है और न शीश पर शास्त्र ग्रथो का बोझ ढोने का। केवल जिह्वा से प्रेम सहित उस परम प्रभु का ध्यान करते रहो! साधना से ही यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है अथवा उस प्रभु से प्रेम द्वारा पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ही उनका साक्षात्कार आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। यदि मनुष्य की दृष्टि ज्ञानपूर्ण नही है तो वह ससार मे ही भटकती रहती है। अनन्य साधना से ही उस पमतत्व, एक अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है अथवा एक समय मे एक ही की साधना की जा सकती है भोग की अथवा योग की, अर्थात् योग और भोग का असम्पृक्त होना वाछनीय है। राम-नाम जपने से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है कि योग और भोग दोनो का आनद प्राप्त हो। भाव यह है कि यदि मनुष्य कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र मे पहुचा दे और वहा से स्रवित अमृत का पान करे तो वह अमर हो जाय, मुक्त हो जाय।

कबीर कहते है कि हे सासारिक मनुष्यो! तुम यह समझते होगे कि यह कबीर ने यो ही मनोरजनार्थ गीत गाया है वस्तुत यह तो मेरा स्वय का ब्रह्म

सम्बन्धी दृष्टिकोण है । मैंने तो केवल आत्म-साधना की विधि का कथन मात्र किया है । यदि आप राम-नाम स्मरण कर उनके चरणों में प्रेमपूर्वक अपने चित्त का विनियोग कर देंगे तो निस्सदेह ही भक्ति के द्वारा मुक्ति प्राप्त हो जायगी ।

विशेष—यद्यपि इस पद मे कबीर ने कुछ स्थलो पर योग-साधना की विविध प्रक्रियाओ का उल्लेख किया है, किन्तु वे विशेष महत्व 'प्रेम-भगति' को ही दे रहे हैं—यह इस पद के उत्तरार्द्ध से भली भाँति स्पष्ट है ।

अब मैं पाइबौ रे पाइबो ब्रह्म गियान,
सहज समाध सुख मैं रहिबौ, कोटि कलप विश्राम ॥टेक॥
गुर कृपाल कृपा जब कीन्हीं, हिरदै कंवल बिगासा ।
भागा भ्रम दसौं दिस सूझ्या, परम जोति प्रकासा ॥
मृतक उठ्या धनक कर लीयैं, काल अहेड़ी भागा ।
उदया सूर निस किया पयांनां, सोवत थैं जब जागा ॥
अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई ।
सैन करै मनहीं मन रहसै, गूंगै जांनि मिठाई ॥
पहुप बिना एक तरवर फलिया, बिन कर तूर बजाया ।
नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया ॥
देखत कांच भया तन कंचन, बिन बानी मन मांनां ।
उड़्या बिहंगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहि समांनां ॥
पूज्या देव बहुरि नहीं पूजौं, न्हाये उदिक नांउं ।
भागा भ्रम ये कही कहतां, आये बहुरि न आंऊं ॥
आपै मैं तब आपा निरख्या, अपन पै आपा सूझ्या ।
आपै कहत सुनत पुनि अपनां, अपन पै आहा बूझ्या ॥
अपनै परचै लागी तारी, अपन पै आप समांनां ।
कहै कबीर जे आप बिचारै, मिटि गया आवन जांनां ॥६॥

शब्दार्थ—कोटि कलप=करोडो कल्पो तक । अहेडी=वधिक । निस=रात्रि, अज्ञान । पयाना=प्रमाण, नष्ट हो जाना । रहसै=प्रसन्न होना । पहुप=पुष्प । कचन=स्वर्ण, निर्मल । निरख्या=देख । आवन जाना=आवागमन ।

कबीर ब्रह्म-दर्शन के पश्चात् अपनी मिलनानुभूति का वर्णन करते कहते कि अब मुझे ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति हो गई है । उस सहज समाधि मे ऐसा अपरिमि सुख है कि करोडो कल्पो तक उसी स्थिति मे रमा जाय ।

कृपालु सद्गुरु ने जब कृपा द्वारा ज्ञान प्रशस्त किया तो हृदय मे पूर कमल का विकास हुआ जिससे मेरा ससार-विषयक भ्रम दूर हो गया और अनन ज्योति प्रकाशित हो उठी । मेरा समाप्त आत्मज्ञान पुनरुजीवित हो प्रभु-मिलन के लि प्रयत्नरत हो गया जिससे काल रूपी वधिक जो ससार का वध करता है, डर कर भा गया । जब मैं इस प्रकार चेतनावस्था मे आ गया तो ज्ञान-सूर्य का उदय हो गया ए

अज्ञान-निशा समाप्त हो गई। इस स्थिति मे मैंने उस अगम्य, अनादि, अनुपम प्रभु के दर्शन किये—उस दर्शनानन्द का वर्णन अवर्णनीय है। जिस भाँति गूंगा मिठाई के स्वाद का आनन्द मन ही मन भोगता है, उसकी अभिव्यक्ति नही कर सकता, केवल मात्रा इगितादि से ही उसे परितुष्टि प्राप्त करनी पडती है, वही दशा मेरी उस आनद को अभिव्यक्ति देने मे है। यह जो कुछ भी अभिव्यक्ति की वह तो उस आनन्द-दशा के सूचक इगित मात्र ही है। ऐसा लगता था जिस भाँति कोई वृक्ष विना पुष्प के ही फलित हो गया है, अर्थात् वह अशरीरी होकर भी शोभा युक्त था जिसने बिना हाथ के ही वाद्य बजा कर ध्वनि की, अर्थात् वह बिना कारण कार्य करने मे समर्थ है। माया रूपी नारी के बिना ही हृदयघट ज्ञान-जल से परिपूर्ण हो गया एव मैंने उस परम प्रभु के दर्शन प्राप्त किये। देखते ही देखते क्षणभर में मेरा कांच तुल्य पार्थिव शरीर कचन की शुद्धता मे परिणत हो गया। आत्मा रूपी हंस जाकर परमात्मा से उसी भाँति मिल गया जिस भाति से जल-जल मे जाकर एकमेक हो मिल जाता है। अब मैं सासारिक अन्धविश्वासो द्वारा प्रस्थापित देवताओं की आराधना बहुत कर चुका, अब उनकी शरण मे नही जाऊँगा। मेर भ्रम दूर हो गया और अब मैं ससार में पुन. नही बध सकता।

जव मैंने अपने हृदय के भीतर ही प्रभु की खोज की तो मुझ को उनके दर्शन हुए। इस प्रकार अपनी आत्मा मे ही परमतत्व से साक्षात्कार हुआ। आत्म-तत्व से परिचय होते ही मैं भव सागर तर गया, आत्म का परमात्मा से मिलन हो गया। कबीर कहते है कि जो आत्म तत्व का विचार करता है वह मुक्त हो आवागमन के चक्र से छूट जाता है।

विशेष—१. दृष्टान्त, विभावना, उपमा, अनुप्रास आदि अलंकार स्वयं कबीर की अटपटी वाणी मे आ गये है।

२ उस परम प्रभु से जिसने भी साक्षात्कार किया है वह उस मिलन दशा का वर्णन नही कर सकता क्योकि वाणी उसकी अभिव्यक्ति मे अक्षम एवं शब्द कोष अपर्याप्त है। इसीलिए कबीर ने जो भी अभिव्यक्ति उस मिलनानुभूति को दी है वह केवल मात्र इगित है, क्योकि उस दशा का वर्णन करते करते शब्द लडखड़ाकर कुछ अटपटे हो उलटबासी से हो जाते है, यथा "पहुप बिना एक तरवर फलिया" आदि।

नरहरि सहजैं हीं जिनि जांनां।
गत फल फूल तत तर पलव, अंकूर बीज नसांनां ॥टेक॥
प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं, ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससि हर सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी ॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर-डंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुंनि समांनां, बाजे अनहद तूरा ॥

सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वांमीं।
पद आनंद काल थैं छूटै, सुख मैं सुरति समांनीं ॥७॥

शब्दार्थ—नरहरि=प्रभु। गुरगमिथै=गुरु के उपदेश से। प्रजरी=जलन।

सहज साधना द्वारा ही प्रभु को जाना जा सकता है। इस साधना से सासारिक विषय-वासना के बीज और अकुर समाप्त हो जाते हैं एवं इस संसार वृक्ष का वास्तविक फल प्रभु की प्राप्ति होती है।

गुरु ने अपने सदुपदेश से ज्ञान का प्रकाश कर दिया एवं प्रभु की भक्ति पर साधक को लगा दिया। इस ज्ञान सूर्य के प्रकाश से हृदय प्रदेश का कोना कोना भासमान हो उठा एव योग साधना मे साधक प्रवृत्त हुआ जिससे कुण्डलिनी को जाग्रत् कर उसने छहो चक्रो का वेधन किया और ऊर्ध्वगामी हो उसने शून्यस्थिति ब्रह्मरन्ध्र का भेदन किया जिससे अमित आनन्ददायी अनहद नाद होने लगा। कबीर अपनी सद्बुद्धि द्वारा विचार कर यह घोषणा करते हैं कि शरीर की त्रिकुटी मे प्रभु-साक्षात्कार किया जा सकता है और इस भाँति सुरति-निरति का परिचय कर मनुष्य परम पद का अधिकारी हो कालबंधक से मुक्त हो सकता है।

विशेष—(१) "अनहद तूरा"—कुण्डलिनी जब षट्चक्रो का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र मे पहुचाती है तो अलख ज्योति के दर्शन होते हैं और शरीर का रोम प्रति रोम से प्रभु नाम का शब्द निकलता है—यही 'अनहद नाद' कहलाता है जिसे कबीर 'अनहद तूरा' कह रहे हैं।

२ 'त्रिकुटी'—दोनो नेत्रो एव नासिका मूल भाग का केन्द्र बिन्दु, ध्यानावस्था मे योगी यहीं पपना ध्यान लगता हैं। ३. 'पय आनन्द,—आनन्द पद, मुक्त, हंसात्मा—योगियो ने इसे ही परग काम्य माना है।

मन रे मन हीं उलटि समांनां।
गुर प्रसादि अकलि भई तोकौं, नहीं तर था बेगांनां ॥टेक॥
नेड़ै थैं दूरि दूर थैं नियरा, जिनि जैसा करि जांनां।
औ लौं ठीका चढ्या बलींडै, जिनि पिवा तिनि मांनां ॥
उलटे पवन चक्र शट बेधां, सुंनि सुरति लै लागी।
अमर न मरै मरे नहीं जीवै, ताहि खोजि बैरागी ॥
अनभै कथा कवन सौं कहिये, है कोई चतुर ववेकी।
कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो झल विरलै देखी ॥८॥

शब्दार्थ—अकलि=ज्ञान, विवेक। बेगाना=आवारा। नेड़ै=पास, निकट। यहा ऊर्ध्व स्थान से तात्पर्य। उलटे पवन=उल्टे होकर प्राणायाम करना। ववेकी=विवेकी। झल=अलख ज्योति।

कबीर कहते हैं कि साधक का मन ऊर्ध्वमुखी हो गया है, इसे गुरु कृपा से ज्ञान लाभ हो गया, अन्यथा यह तो निपट आवारा—चारो ओर भ्रमित रहने वाला था।

जब प्रभु को खोजने चलते है तो वह ऐसा लगता है कि वह दूर अर्थात् अन्यत्र है, किन्तु सर्वत्र खोजने के पश्चात् परिणाम यही निकलता है कि वह कही अन्यत्र नही, हृदय मे ही स्थित है। जो भी मनुष्य ऊपर चढ़ गया अर्थात मन की वृत्तियो को ऊर्ध्वोन्मुखी कर प्रभु से प्रेम किया उसने उसकी प्राप्ति कर ली। अधोमुखी हो प्राणायाम साध कर षट-चक्रो का भेदन कर यदि शून्य मे सुरति को लगा दिया जाय तो मनुष्य आवागमन चक्र से विमुक्त हो जाय। हे साधक! तू उसी मार्ग का साधना कर। कबीर कहते है कि इस अपूर्व कथा का वर्णन किससे किया जाय, ऐसा कोई चतुर एवं विवेकवान मनुष्य है?

भाव यह है कि ऐसे बहुत कम लोग है जिन्हे इस योग-साधना का पात्र समझा जाये। कबीर कहते है कि सद्गुरु के ज्ञान-स्फुलिंग दान से उचित मार्ग का अवलम्बन और उस अलख ज्योतिस्वरूप परम प्रभु के दर्शन बिरले ही लोगों को होते है।

इहि तात रांम जपहु रे प्रांनीं, बूझौ अकथ कहांणीं।
हरि कर भाव होइ जा ऊपरि, जाग्रत रैनि बिहांनीं॥टेक॥
डांइन डारै सुन हां डोरै, स्यंघ रहै बन घेरै।
पंच कुटंब मिलि झूझन लागे, बाजत सबद संघेरै॥
रोहै मृग ससा बन घेरै, पारधी बांण न मेलै।
सायर जलै सकल वन दाझै, मंछ अहेरा खेलै॥
सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहि बिचारै।
कहै कबीर सोइ गुर मेरा, आप तिरै मोंहि तारै॥६॥

शब्दार्थ—डांइन=माया। स्यघ=सिंह, काल। पच कुटुम्ब=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ रोहे=भागा। पारधी=अहेरा। सायर=सागर। मछ अहेरा=साधक योगी। तत ग्याता=तत्व ज्ञाता, उसके जानने वाला।

कबीर कहते है कि हे प्राणियो! ससार का सार यही है कि राम-नाम स्मरण कर प्रभु की अकथनीय कथा का चिन्तन किया जाय। जिसके हृदय में परम प्रभु का वास सबसे ऊपर है वह दिन-रात प्रेम-पीर से आहत हो जागता रहता है। हे साधक! सुन, ऐसे योगी के मार्ग में माया रूपी डाकिनी आकर्षण के विविध प्रपंच फैला बाधा डालती है और काल रूपी सिंह समस्त संसार रूपी वन पर अपना अधिकार किये हुए है। विषयादिक आकर्षणो की ध्वनि सुनकर मन रूपी मृग उस ओर भागता है एवं खरगोश के रूप मे वासनाओं ने ससार को घेर रखा है किन्तु फिर भी साधक रूपी अहेरी बाण-वर्षा द्वारा इनको नष्ट नही करता जब इस समस्त सृष्टि के जल-थल वासना अग्नि से भस्म होने लगते हैं, तब भी योगी रूपी अहेरी यहाँ निश्चिन्तता से क्रीड़ा करता है उसे सांसारिकता नही व्यापती। कबीर कहते है कि वही व्यक्ति ज्ञानी है, मेरा गुरु है जो इस पद का विचारपूर्वक आचरण कर स्वयं भी इस भव-सागर से तर जाय और कबीर जैसे अन्य लोगो को भी ससार-सिन्धु से तार दे।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

अवधू ग्यांन लहरि धुनि माडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता, इहि विधि त्रिष्णां षांडी ॥टेक॥
मन कै ससै समंद घर कीया, मंछा बसै पहाड़ी।
सुइ पीवैं बांम्हण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी॥
षाड बुणें कोली मैं बैठी, षूंटा मैं गाढ़ी।
तांणें वाणें पड़ी अनंवासी, सूत कहै बुणि गाढी॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो, अगम ग्यांन पद मांहीं।
गुरु प्रसाद सूई कै नांकैं, हस्ती आवैं जांहीं ॥१०॥

शब्दार्थ—षाडी=नष्ट की। ससै=खरगोश, यहाँ चंचल मन के लिए प्रयोग किया गया है। मछा=आत्मा। पहाडी=शून्य रूपी पर्वत। बाडी=खेती। षाढ= थान, वस्त्र। कोली=जुलाहा। खूटा=बुनाई मे काम आने वाला एक खूटा। गाड़ी=यह भी बुनाई से सम्बन्धित। ताणें-वाणें=ताना-बाना, वस्त्र मे दो तरफ से पडने वाले सूत के धागे। गाड़ी=बुनने वाले।

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत! ज्ञान-लहर के उठने पर साधक समाधि में लीन हो गया। अनाहद नाद से उत्पन्न आनन्ददायी शब्द में ही उसकी वृत्तियां रम गईं। इस भाँति उसने सासारिक तृष्णा को नष्ट कर दिया। जिसके फलस्वरूप संसार रूपी वन मे भटकने वाले चचल खरगोश रूपी मन ने शून्य-समुद्र मे अपना वास-स्थान बना लिया एव मछली रूपी पवित्र आत्मा शून्य-शिखर रूपी पर्वत पर जा बसी। वहाँ पहुच कर प्रभु-भक्ति में मस्त मुक्तात्मा ब्राह्मण अमृत का पान करने लगा और इस प्रकार बिना ही खेती किए प्रभु रूपी अमूल्य फल की प्राप्ति साधक को हो गई। इस अवस्था मे पहुंच कर आत्मा रूपी जुलाहन सुन्दर कर्म रूपी वस्त्र का निर्माण करती है। इस वस्त्र बुनने की प्रक्रिया मे आत्मा ही कर्ता है एवं स्वय ही साधक—'अहं ब्रह्मास्मि'।

विविध सुन्दर कर्मों का ताना-बाना डालकर वह उस वस्त्र का निर्माण कर रही है—सूत अर्थात् सत्कर्म स्वयं उसे पुण्य करने के लिए प्रेरित करते है। कबीर कहते हैं कि हे साधुओ! ध्यानपूर्वक सुनो, इस अगम्य, अप्राप्य मुक्तपद को साधक गुरु कृपा से ही प्राप्त कर सकते है। गुरु कृपा से असम्भव भी सम्भव हो जाता है—सूई की नोक जैसे सूक्ष्म स्थान के मध्य मे हाथी जैसे विशालकाय पशु का आवागमन भी वे सम्भव कर सकते हैं।

विशेष—(१) विभावना, रूपक, अन्योक्ति, उलटवाँसी आदि का प्रयोग है।

(२) भक्त के लिए अमिट, अगाध श्रद्धा वाछनीय है—जिसका गुरु पर ऐसा विश्वास हो कि सुई की नोक मे से वह हाथियों का आवागमन सम्भव कर सकता है उस भक्त कबीर को ज्ञानाश्रयी शाखा मे रख कर शुक्लजी ने वस्तुतः कबीर के साथ पूर्ण न्याय नही किया था। यद्यपि कबीर अधविश्वास को तर्क की कसौटी पर रख

कर धज्जियाँ उड़ा देते है किन्तु प्रेम-भक्ति क्षेत्र मे यह तर्क काफूर हो जाता है। वहाँ तो शेष रहता है भावनाओ का प्राबल्य मात्र। अतः कबीर को इस उक्ति के आधार पर अंधविश्वासी कहना उनके साथ अन्याय होगा, यह तो उनकी सद्गुरु पर अगाध आस्था का द्योतक है।

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥टेक॥
पहलै पूत पीछै भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई॥
तलि करि साषा ऊपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै ॥११॥

शब्दार्थ—डॉ० राम कुमार वर्मा जी ने अपनी पुस्तक 'संत कबीर' मे उल्टबाँसी मे प्रयुक्त शब्दो के अर्थ निम्न प्रकार दिये है—

पुत्र=जीव। माता=माया। गुरु=शब्द। चेला=जीवात्मा। सिंह=ज्ञान। गाय=वाणी मछली=कुडलिनी। तरुवर=मेरुदण्ड। कुत्ता=अज्ञानी। बिल्ली=माया। पेड=सुषुम्णा नाड़ी। फल-फूल=चक्र और सहस्रदल कमल। घोड़ा=मन। भैस=तामसी वृत्तियाँ। बैल=पच-प्राण। गोनि=स्वरूप की सिद्धि।

अधिकांश शब्दो के अर्थ से सहमत होते हुए भी कुछ शब्दो मे हमारा मत उनसे भिन्न है जैसा कि अर्थ करते समय स्पष्ट होगा।

हे भाई! मैंने एक आश्चर्य देखा है। यह आश्चर्य साधना क्षेत्र का है। वहाँ ज्ञान रूपी सिंह समस्त इन्द्रियो का अर्थात् कर्मो का सचालन कर रहा है।

इस संसार मे पहले तो पुत्र रूपी मनुष्य का जन्म हुआ—"ईश्वर अंश जीव अविनाशी"—फिर माता रूपी माया का अविर्भाव। माया प्रभु की दासी है—चेली है—उस प्रभु का अश जीव अर्थात् गुरु उसके पीछे लग रहा है—पैरों पड़ रहा है। भाव यह है कि प्रभु-दासी माया मे सलिप्त रहता है मूलाधार मे स्थित कुण्डलिनी ने मेरुदण्ड की सुषुम्णा मे अपना वास कर लिया है। माया ने विषय-वासना से पोषित जीवों को समाप्त कर दिया। गुणी आत्मा तामसी वृत्तियो रूपी बैलों का नाश करके अपने वास्तविक स्थान—शून्य-महल—मे आ गई एव जो सासारिकता मे बद्ध विषय-वासना मे लिप्त कुत्ते के समान निकृष्ट जीव थे उन्हे तो माया ने अपने बंधन मे बाँध लिया। इस संसार रूपी वृक्ष की शाखाए अधोमुखी एव मूल ऊर्ध्वमुखी है, इस मूल-स्थान—ब्रह्मरन्ध्र—पर विविध कामनाओं को तृप्त करते वाला फल—अलख निरंजन दर्शन—प्राप्त होता है। कबीर कहते है कि जो मनुष्य इस पद के अर्थ को हृदयगम कर (आचरण कर) सकेगा, उसे त्रिभुवन का ज्ञान सहज प्राप्त हो जायेगा।

विशेष—अधोमुखी वृक्ष का ऐसा ही वर्णन गीता मे प्राप्त होता है, सुमित्रानन्दन पत ने भी अपनी 'महात्मा जी के प्रति' कविता मे लिखा है—

"अधोमूल अश्वत्थ विश्व, शाखाए सस्कृतियां वर।"

हरि के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि षाये।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, ताथैं जनमि जनमि डहकाये ॥टेक॥
धोल मंदलिया बैलर बावी, कऊवा ताल बजावै ॥
पहरि चोल नांगा दह नाचै, भैंसा निरति करावै ॥
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा छावै।
उंदरी वपुरी मगल गावै, कछू एक आनंद सुनावै ॥
कहै कबीर सुनहुं रे संतौ, गडरी परवत खावा।
चकवा बैसि अगारे निगलै, समंद अकासां धावा ॥१२॥

शब्दार्थ—जारे=जल गये है, विषय-वासनाओ को समाप्त कर दिया है। डहकाये=भटकते फिरते हैं। धौल=ढौल। स्यघ=सिंह, ज्ञान।

प्रभु-भक्ति मे अनुरक्त लोग साधना की भट्टी मे तपे है, जिन्होने वहाँ अपनी वषय-वासनाओ को भस्म कर दिया उन्होने प्रभु को प्राप्त किया और जो अज्ञानी है वे तो ससार के माया प्रपचो मे भटकते फिरते हैं एव उन्हे वारम्वार आवागमन के चक्र में पड़ना पडता है।

ढोल, मृदग. वाम्वी आदि विविध वाद्य ससार मे माया-आकर्षणो के रूप मे बज रहे है विषय-वासना की ओर एक दम लपकने वाला कौआ रूपी जीव भी इन आकर्षणो की गति मे अपने को छोड़ देता है। विषय-वासना का वस्त्र धारण कर वह जीव निर्लज्ज होकर उन आकर्षणो मे भटकता है एव विविध तामसिक वृत्तियो का भैंसा उससे यह नृत्य कराता है। ज्ञान का सिंह निश्चिन्त होकर भ्रम के पान को कतर रहा है—नष्ट कर रहा है, माया रूपी घूस उसे पथभ्रष्ट कर विविध आकर्षणो की गिलौरी (पान मे डालने की) देना चाहती है किन्तु ज्ञान उसके कहने मे नही आता। वेचारी मुक्तात्मा प्रभु-भक्ति के आनन्दप्रद-मंगल-गान (नाम-जप) गाती है। कबीर कहते है कि हे साधुओ! सुनो, माया रूपी गड़रिनी ज्ञान के अचल पर्वत को नष्ट करना चाहती है, किन्तु कुण्डलिनी शून्य में विस्फोट कर अलख निरञ्जन की ज्योति के दर्शन करती है और समुद्र अर्थात् विषय-वासना मे पड़ी आत्मा शून्य प्रदेश मे पहुच जाती है।

विशेष—यहा कबीर ने उलटवाँसी के माध्यम से योगसाधना की विविध प्रक्रियाओ को पार कर प्रभु-प्राप्ति का ढंग बताया है।

चरषा जिनि जरै।
कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सौं ॥टेक॥
जलि जाई थलि ऊपजी, आई नगर मैं आप।
एक अचंभा देखिया, बिटिया जायौ बाप ॥
बावल मेरा ब्याह करि, वर उत्यम ले चाहि।
जब लग वर पावै नहीं, तब लग तूं हीं ब्याहि ॥

सुबधी कै घरि लुबधी आयौ, आन बहू कै भाइ।
चूल्है अगनि बताइ करि, फल सौं दीयौ ठठाइ॥
सब जगही मर जाइयौ, एक बढ़इया जिनि मरै।
सब रांडनि कौ साथ चरखा को धरै॥
कहै कबीर सो पंडित ग्याता, जो या पदहि बिचारै।
पहलै परचै गुर मिलै, तौ पीछै सतगुर तारै॥१३॥

शब्दार्थ—बिटिया=माया रूपी पुत्री। उत्यम=उत्तम। बढ़इया=बढई, प्रभु।

कबीर प्रेमिका के रूप मे कहते है कि यह शरीर रूपी चरखा नष्ट न हो, क्योकि मैं प्रियतम अर्थात् प्रभु की सौगन्ध खा कर कहती हूं कि इससे प्रभु-भक्तिरूपी उत्तम कर्मों का सूत कातूगी।

जीवात्मा के रूप मे कबीर आगे कहते है कि मैं अपने वास्तविक जन्म-स्थान से इस संसार रूपी नगर मे स्वय ही आ गई हू। मैने यह बड़ा आश्चर्य देखा कि माया रूपी प्रभु की बेटी ने (क्योकि वह उनसे उत्पन्न है, इसलिए उनकी पुत्री) जीव (जो प्रभु का ही अश है) रूपी पुत्र को जन्म दिया। अब आत्मा प्रभु से प्रार्थना करती है कि मेरा विवाह सम्बन्ध जो आत्मिक बन्धन है किसी उत्तम व्यक्ति के साथ कर दे और हे परमपिता जब तक कोई अन्य सुन्दर वर नही मिलता तब तक तुम्ही मुझे पत्नी रूप मे स्वीकार करो। सुबुद्धि रूप आत्मा को आकर्षित करने के लिए विषय-वासना का आकर्षण ले माया ने प्रपच फैलाया। उसने आत्मा को वास्तविक प्राप्य प्रभु—से तो दूर रखा और विषय-वासना की तप्त अग्नि मे झोक दिया। समस्त ससार इसी प्रकार इस विषय-वासना अग्नि मे भस्म हो नष्ट हो गया, अनुभव प्राप्त एक (कबीर की) ही आत्मा नष्ट न हुई। इसीलिए उस प्रिय की अचल सुहागिन ने अन्य अभागिन आत्माओ के साथ शरीर रूपी चरखे को कुकर्मो में प्रवृत्त नही होने दिया। कबीर कहते है कि जो इस पद का अर्थ हृदयगम कर सके वही पण्डित है, वही ज्ञानी है। किसी का परिचय यदि पहले कुछ आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तो से हो जाता है तभी सद्गुरु उसकी जीवन-नौका पार लगाते है।

विशेष—(१) कबीर की आत्मा अपने 'बाप'—प्रभु—से ही दाम्पत्य सम्बन्ध इसलिए स्थापित करना चाहती है कि यहाँ एक दूसरे की दूरी नही रहती—'एक प्राण दो तन' की उक्ति चरितार्थ हो जाती है। जो आत्माएं इस प्रकार प्रभु से सम्बन्ध स्थापन न कर अन्य सासारिक माया आकर्षणो मे फसी रहती है उन्हें कबीर ने अभागिन—'राँडनि'—कहा है।

(२) केवल मात्र उक्ति-वैचित्र्य लाने के लिए ही कबीर ने टेक वाली पंक्ति मे 'प्रियतम' के लिए 'नणद के भइया' का प्रयोग किया है।

अब मोहि लै चलि नणद के बीर, अपनै देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि बदेसा॥टेक॥

गंग तीर मोरी खेती वारी, जमुन तीर खरिहानां ।
सातौं विरही मेरे नीपजैं, पञ्चूं मोर किसानां ॥
कहै कबीर यहु अकथ कथा है, कहतां कही न जाई ।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहे समाई ॥१४॥

शब्दार्थ—नणद के वीर=प्रियतम। पचनि=पाँचो इन्द्रियो ने। गग=इड़ा। जमुन=पिंगला।

कबीर की आत्मा प्रियतम से मनुहार करती कहती है कि हे प्रियतम! अब मुझे आप अपने देश मे ले चलो। इस ससार रूपी विदेश मे मुझे यहाँ के माया आकर्षणो (पचनि) के सम्पर्क ने लूट लिया है। गगा और यमुना अर्थात् इड़ा और पिंगला के तट पर मेरी खेती-बारी और खलिहान हैं—मेरा सर्वस्व वही है अतः मेरी गति वही है। अब तो पाँचो ज्ञानेन्द्रिया, छठा मन तथा सातवी बुद्धि यही मेरे क्षेत्र की वास्तविक उत्पत्तियाँ हैं जिन्हे काम, क्रोध, मद, लोभ मोह रूपी कृपकों ने उत्पन्न किया है। अत' मुझे इस अवस्था से उबारो। कबीर कहते हैं कि संसार के अद्भुत क्रिया-व्यापार की कथा और उससे युक्ति का उपाय अकथ्य है। जिस प्रक्रिया से सहज समाधि प्राप्त की जा सकती है मैं उसी मे लगा हुआ हूं।

अब हम सकल कुसल करि मांनां,
स्वांति भई तब गोव्यंद जांनां ॥टेक॥
तन मैं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि ॥
जम थैं उलटि भया है रांम, दुख विसर्‌या सुख कीया विश्रांम ॥
बैरी उलटि भये हैं मींता, सापत उलटि सजन भये चीता ॥
आपा जांनि उलटि ले आप, तौ नहीं व्यापै तीन्यूं ताप ॥
अब मन उलटि सनातन हुवा, तब हम जांनां जीवत मूवा ॥
कहै कबीर सुख सहज समाऊं, आप न डरौं न और डराऊं ॥१५॥

शब्दार्थ—स्वाति=शान्ति। गोव्यंद=गोविन्द, प्रभु, ब्रह्म। उपाधि=व्याधिया। सजन=स्वजन, हितैषी।

कबीर कहते हैं कि जब मैंने प्रभु को जान लिया तभी चित्त को शान्ति हुई, इसलिए अब तो मेरी कुशल ही कुशल है।

ससार की मायालिप्त होने की जो स्वाभाविक गति है उससे विपरीत आचरण कर अर्थात् वृत्तियो को जडोन्मुख से चिदुन्मुख कर देने से जो शरीर की कोटि-कोटि व्याधिया थी वे समस्त सहज समाधि मे परिवर्तित हो गई। अब काल भी बदल कर मुझे राम सम ग्राह्य और प्रिय हो गया है और इस प्रकार मैं दुख को विस्मृत कर सुख-लाभ कर रहा हूं। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि जो आत्मा के शत्रु थे वे अब दास बन कर मित्र रूप मे काम आ रहे है। शाक्त जैसे कुमार्गी, आचरण भ्रष्ट भी सज्जन रूप मे परिवर्तित हो गये है। यदि मनुष्य अपनी वृत्तियो को अन्तर्मुखी कर दे तो उसे दैविक, दैहिक, भौतिक—तीनो तापो मे से कोई भी

व्यथित नही कर सकता। जब मैं जीवन-मुक्त की स्थिति मे आ गया तभी मेरा मन जो ससार माया मे उलझा रहता था निर्मल होकर अपने प्रकृत रूप (जिस रूप मे ईश्वर ने उसे प्रदान किया था) मे आ गया।

कबीर कहते है कि मैं सहज-समाधि मे अपने को लगाकर सुख लाभ करूंगा और संसार-तापो के भय से न तो स्वय भयभीत होऊंगा और न किसी को भयभीत करूंगा।

विशेष—पद की टेक पूर्णतः लोकगीत पर आधृत है। लोकगीतो मे पति के लिए नणद के बीर का सम्बोधन बडा प्रिय है।

संतौ भाई आई ग्यांन की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडांणी, माया रहै न बाँधी ॥टेक॥
हिति चत की द्वै थूनीं गिरानीं, मोह बलींडां तूटा।
त्रिस्नां छांनि परी धर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा ॥
जोग जुगति करि संतौं बाँधी, निरचू चुवै न पांणीं।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणीं ॥
आँधी पीछें जौ जल बूठा, प्रेम हरी जन भींनां।
कहैं कबीर भांन के प्रगटें, उदित भया तम षींनां ॥१६॥

शब्दार्थ—टाटी=टट्टी, छप्पर। उडाणी=उड गई। थूनी=छप्पर को रोकने के लिए एक प्रकार की टेक, जायसी ने भी नागमती के वियोग वर्णन में इस वस्तु का उल्लेख किया है। बलीडा=छप्पर को मजबूत करने के लिए उसके सिरे पर लगाये जाने वाला फूस का लम्बा-लम्बा एक भाग। कुबधि=कुबुद्धि। बूठा=बरसा। भांन=भानु, सूर्य। षीना=क्षीण।

कबीर कहते हैं कि हे संतो! ज्ञान की आँधी आयी जिससे माया-बन्धनो से बँधी भ्रम की टट्टी, छपरिया नष्ट होकर उड गई। ज्ञान—आँधी के आते ही मिथ्या प्रेम द्वैत जनित भावना की थूनियां गिर गईं एवं मोह का बलीडा भी टूट गया। इस प्रकार तृष्णा की छान घर—संसार—से अलग जा पड़ी तथा कुवुद्धि का भेद खुल गया कि वह किस गलत मार्ग पर थी। हे सतो! जीवात्मा ने यह छप्पर बडे यत्न-पूर्वक बाधा था जिससे ज्ञान की एक बूद भी इसमे न पड सके किन्तु इस ज्ञान-आंधी ने इसे उडाकर शरीर के पापो रूपी कूड़े को निकाल बाहर किया। इस आँधी के पश्चात् प्रभु-भक्ति के जिस जल की वर्षा हुई उससे प्रभु-प्रेमी भीग गये। कबीर कहते है कि इस भाँति ज्ञान—प्रभाकर के उदित होते ही आज्ञानांधकार विदीर्ण हो गया।

विशेष—सांगरूपक, रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

अब घटि प्रगट भये राम राई, सोधि सरीर कनक की नांई ॥टेक॥
कनक कसौटी जैसै कसि लेइ सुनारा सोधि सरीर भयो तन सारा।
उपजत उपजत बहुत उपाई, मन थिर भयो तबै थिति पाई ॥

वाहरि खोजत जनम गंवाया, उनमनीं ध्यांन घट भीतरि पाया।
वन परचै तन कांच कथीरा, परचै कंचन भया कवीरा ॥१

शब्दार्थ—सरल है।

शरीर को यौगिक-प्रक्रियाओ से कचन के समान शुद्ध किया है तभी हृदय मे प्रभु के दर्शन हुए है। जिस प्रकार स्वर्णकार कसौटी पर कस कर स्वर्ण को शुद्ध कर कंचन वना लेता है उसी प्रकार योग-साधना से मैंने शरीर को शुद्ध किया। हृदय मे प्रभु-भक्ति उपजाने के लिए अनेक प्रयत्न किये किन्तु जव चचल मन पूर्ण रूप से शांत हो गया तभी शान्तिपूर्ण स्थिति भी प्राप्त हुई। मैंने व्यर्थ समस्त ससार मे प्रभु को खोजते हुए जीवन व्यर्थ कर दिया, उन्मनी की ध्यानावस्था से मैंने उसे हृदय मे ही प्राप्त कर लिया। प्रभु से विना परिचय के तो यह शरीर कच्चे मास के समान अशुद्ध था किन्तु उनसे साक्षात्कार होते ही यह विशुद्ध कचन के रूप मे परिवर्तित हो गया।

विशेष—तुलसी ने भी कहा है—

"शठ सुधरहि सत संगति पाई, पारस परस कुधात सुहाई ॥"

हिंडोलनां तहां भूलै आतम रांम।
प्रेम भगति हिंडोलनां, सव संतनि कौ विश्राम ॥टेक॥
चद सूर दोइ खंभवा, वंक नालि की डोरि।
भूलें पंच पियारिया, तहां भूलै जीय मोर ॥
द्वादस गम के अंतरा, तहाँ ममृत कौं ग्रास।
जिनि यहु अमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास ॥
सहज सुंनि कौ नेहरौ, गगन मंडल सिरिमौर।
दोऊ कुल हम आगरी जौ हम भूलै हिंडोल ॥
अरध उरध की गंगा जमुनां, मूल कवल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणीं संगम वाट ॥
नाद व्यंद की नावरी, रांम नांम कनिहार।
कहै कवीर गुंण गाइ ले, गुर गंमि उतरौ पार ॥१८॥

शब्दार्थ—पंच पियारियाँ=पाँचों इन्द्रियाँ। सु नि=शून्य।

प्रेम भक्ति के हिंडोले पर समस्त संत जन रमण करते है। उसी हिंडोले पर कवीर भूल रहा है।

जिस भांति हिंडोले में दो खम्व होते हैं उसी प्रकार इडा, पिगला के दो स्तम्भ हैं जिसके मध्य वंकनालि—सुषुम्णा—की डोर डाल रखी है जिस पर पाचों ज्ञानेन्द्रियां भूलती हैं अर्थात् समस्त चित्त वृत्तियां वही केन्द्रित हो गई हैं— मेरा मन भी वही भूलता—रमता है। जिस शून्य स्थान पर—ब्रह्मरन्ध्र में—द्वादश आदित्यो के आलोक सदृग प्रकाश प्रकाशित रहता है वही अमृत का कुण्ड है। जिस साधक ने इस अमृत का पान कर लिया वह हमारा स्वामी है हम उसके सेवक। शून्य शिखर पर सहज-

समाधि मे ही हमारा पीहर है, यहा भूलकर हम अपना पितृकुल एव श्वसुर कुल अर्थात् लोक एवं परलोक दोनो को ही श्रेष्ठता प्रदान कर देगी।

अब दूसरा रूपक प्रस्तुत करते हुए कबीर कहते है कि कुण्डलिनी मूलाधार चक्र के घाट से इडा-पिंगला रूपी मार्गों द्वारा षट् चक्रो की गगरी को उठाकर—भेदन कर—आटव के सगम पर पहुंच कर विस्फोट करेगी जिससे जो अनहद नाद उत्पन्न होगा वही इस तीर्थ स्थल में नौका होगी जिसे नाम-स्मरण से खेया जायगा। कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू राम का गुणगान कर ले जिससे इस संसार-सरिता के पार उतरा जा सके।

को बीनें प्रेम लागी री, माई को बीनें।
रांम रसांइण माते री, माई को बीनें ॥टेक॥
पाई पाई तूं पुतिहाई, पाई की तुरियां बेचि खाई री, माई कौ बीनें।
ऐसैं पाई पर बिथुराई, त्यूं रस बांनि बनायौ री, माई को बीनें ॥
नाचै तांनां नाचै बांनां, नच्चै कूंच पुराना री, माई को बीनें।
करगहि बैठि कबीरा नाचैं, चूहै काट्या तांनां री, माई कौ बीनें ॥१९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्ति के इस अनुपम वस्त्र को हे सखि! कौन बुनेगा। मैं तो अब राम रसायन मे मदमस्त हूं और कौन इस सुख को प्राप्त करना चाहती है। हे बुनकर सखि! तूने अपना समस्त धन पाप-कर्मो मे खर्च कर डाला, अब इस भक्ति-वस्त्र को कौन बुनेगा (वस्त्र बुनने मे कुछ पूंजी की आवश्यकता होती है न) बुनकर सखि! माया आकर्षणो मे लिप्त रह गयी, अब इस प्रभु-प्रेम वस्त्र को कौन पूरा करे। बुनकर के अभाव मे ताना-वाना दोनो इधर-उधर हो रहे है एव वस्त्र बुनने मे वही पुरातन ढर्रा चल रहा है जिसमे विषय-वासना हा प्रमुख थी। इसीलिए करघे पर कबीर यह देखकर भुप्र-भक्ति वस्त्र बुनने बैठ गये कि काल रूपी चूहा आयु को समाप्त कर रहा है।

भाव यह है कि संसार-रीति, माया-पथ, छोड़ शीघ्र ईश्वर-भजन करो।

मै बुनि करि सिरांनां हो रांम, नालि करम नहीं ऊबरे ॥टेक॥
दखिन कूंट जब सुनहाँ भूंका, तब हम सुगन बिचारा।
लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो रांम ॥
तांनां लीन्हां बांनां लीन्हाँ, लीन्हें गोड के पऊवा।
इत उत चितवत कठवन लीन्हाँ, माँड चलवनाँ डऊवा हो रांम ॥
एक पग दोइ पग त्रेपग, संधें संधि मिलाई।
करि परपंच मोट बंधि आये, किलि किलि सबै मिटाई हो रांम ॥
ताँनाँ तनि करि बांनां बुनि करि, छाक परी मोहि ध्यांन।
कहै कबीर मैं बुंनि सिरांना, जानत है भगवाँनां हो रांम ॥२०॥

शब्दार्थ—दखिन=दक्षिण। कूंट=कोने मे, कोण—दिशा का। भूंका=श्वान के भूंकने की ध्वनि। पऊवा=पाव भर। मंधे=धीरे-धीरे। किलिकिलि=धीरे-धीरे। छाक=सूक्ष्म भोजन, कलेवा जंमा।

कबीर कहते है कि मैंने सांसारिक कर्मो का तन्तु वायु तानना बन्द कर दिया क्योकि इन कर्मो के द्वारा ससार से मुक्ति सम्भव नही। दक्षिण दिशा मे जिस समय श्वान रूपी सांसारिक जीवो की व्यथित ध्वनि आ रही थी, भाव यह है उनकी दुर्दशा देखकर हमने अपने विषय मे कुछ शकुन अनुमान किया। इसी समय मुझे यह आभास हुआ कि यम-नियम सयम रूपी पुत्रो के जागने पर भी यह विषय-वासना का चोर मेरे भीतर घुस आया। तभी मैंने ताना-बाना एव सूत के पाव-पाव के गोले आदि एकत्रित कर लिये अर्थात् अपने सम्पूर्ण प्राप्य को लेकर इस संसार से कही अन्यत्र जाकर अपने सुकर्मो का वस्त्र बुनने का निश्चय किया। कुछ पग बढ कर धीरे-धीरे हमने उन दुष्कर्मो के अधूरे ताने-बाने मे अच्छे कर्मों की सधि मिलने का प्रयास किया। किन्तु यहा जो विषय-वासना मे पडकर पापो की गठरी बाध ली थी वह धीरे-धीरे नष्ट हुई। इस भाति सत्कर्मों का ताना-बाना डाल मुझे वस्तुतः ग्राह्य भोज्य—प्रभु-भक्ति—का ध्यान आया। कबीर कहते है कि प्रभु-भक्ति मे प्रवृत्ति होते ही मैं कर्म-निरत हो गया—यह सब प्रभु जानते हैं।

विशेष—लोकधुन मे आधृत, और आधृत ही क्या लोकधुन की ही संगीतात्मकता ने कबीर के अभीष्ट अर्थ की श्रीवृद्धि मे अपूर्व योगदान दिया है।

तननां बुननां तज्या कबीर, रांम नांम लिखि लिया शरीर ॥टेक॥
जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै रांम सनेह ॥
ठाढी रोवै कबीर माई, ए लरिका च्यूं जीवै खुदाई।
कहै कबीर सुनहुं री माई, पूरणहारा त्रिभुवन राई ॥२१॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि मैं तो जीवन्मुक्त हो गया हूं इसीलिए कर्म-विरत हो, कर्म वस्त्र बुनने का व्यापार त्याग मैं तो प्रभु-भक्ति मे अनुरक्त हो गया हूं। जब तक मैं इस जीवन-नलिका पर आयु रूपी सूत लपेटता रहूगा तब तक मेरी राम मे प्रीति बनी रहेगी, भाव यह है कि जीवन-पर्यन्त मैं प्रभु-प्रेमानुरक्त रहूंगा। कबीर की मां अर्थात् माया—जिससे वह पहले पल्लवित होता रहा था आश्चर्यान्वित है कि यह जीव मुझसे पृथक् होकर जवित कैसे है किन्तु कबीर माया रूपी, (झूठी) मां को समझाते कहते हैं कि जीवनदान देने वाला तो अनन्त शक्तिमय प्रभु है।

जुगिया न्याइ मरै मरि जाइ।
घर जाजरौ बलीडौ टेढौ, ओलोती डर राइ ॥टेक॥
मगरी तजौं प्रीति पाष सूं डांडी देहु लगाइ।
छींकौ छोडि उपरांह डौ बांधौ, ज्यूं जुगि जुगि रहौ समाइ ॥

बैसि परहूडी द्वारा मुंदावौं, ल्यावों पूत घर घेरी।
जेठी धीय सासरै पठवौं, ग्यूं बहुरि न आवै फेरी ॥
लहुरी धीइ सबै कुल खोयौ, तब ढिग बैठन पाई।
कहै कबीर भाग बपरी कौ, किलि किलि सबै चुकांई ॥२२॥

शब्दार्थ—जुगिया=जग। जाजरौ=जर्जर। बलीडौ=छप्पर के बीच मे भीतर की ओर लगने वाला एक बास। टेढौ=टेढ़ा। ओलोती=जहां छप्पर के अगले भाग से पानी चू-चू कर गिरता है। मगरी=छप्पर की कमर। पार्षे=पाखा, प्रायः मिट्टी, अथवा पक्की इंटो के बने ढलाव के एक विशेष प्रकार के स्तम्भ जिन पर छप्पर के सिरे टिके रहते है। डाँडी=यह भी छप्पर मे ही लगने की एक लकड़ी होती है। छीकौ=एक विशेष प्रकार का लटकने वाला भूलना सा जिस पर प्रायः भोज्य पदार्थ सुरक्षा की दृष्टि से रख दिये जाते हैं। डौ=को। परहूडी=घड़े रखने का स्थान विशेष जो एक प्रकार से मकानो मे बनी अगीठी के ऊपर की सिल्ली के समान होता है। जेठी धीय=बडी पुत्री, यहाँ तात्पर्य कुण्डलिनी से है। ग्यूं=जिससे लहुरी धीय=छोटी पुत्री अर्थात् माया। बपरी=बपुरी, बेचारी।

कबीर कहते हैं कि हे जीव! यदि तू अन्य सासारिकों की भांति मरना चाहता है तो मर जा किन्तु तू तनिक यह तो ध्यान रख कि तेरा शरीर रूपी भवन जर्जर हो चुका है, विषय-वासनाओ के दबाव से बलैडा रूपी शरीर का मेरुदंड भुक गया है जिससे न जाने कब वर्षा की ओलाती रूपी आशका आ पड़े।

मैं प्रभुप्रेम के पाखो पर शरीर को छोड दूंगा जिसमें नाम-जप की डाँडी लग जायेगी। उस स्थान पर प्रभु प्राप्ति के फल को ऊचे पर ही रखूगा जिससे वह मेरे लिए बहुत समय तक सुरक्षित रहे। इस घर के द्वार जिनसे मन बाहर जाता है, पलहूंढी रूपी अकुश से बन्द करवा दूगा। कुण्डलिनी रूपी बड़ी लड़की को उसके श्वसुर ग्रह—वास्तविक घर—शून्य शिखर पर—पहुचा देंगे जिससे वह पुनः लौट कर इस ससार मे न आ सके। माया रूपी छोटी लडकी ने तो समस्त कुल—ससार—को सम्पर्क मे आते ही नष्ट कर दिया। कबीर कहते है कि यह अपना-अपना भाग्य है, छोटी का किया हुआ बड़ी लड़की—कुण्डलिनी—को करना पड़ रहा है।

विशेष—रूपक, सागरूपक, रूपकातिशयोक्ति अलकार।

मन रे जागत रहिये भाई।
गाफिल होइ यसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई ॥टेक॥
षट चक्र की कनक कोठड़ी, बस्त भाव है सोई।
ताला कुंची कुलफ के लागे, उघड़त बार न होई ॥
पंच पहरवा सोइ गये हैं, बसतै जागण लागी।
जुरा मरण व्यापै कुछ नांहीं, गगन मंडल लै लागी ॥
करत विचार मनहीं मन उपजी, नाँ कहीं गया न आया।
कहै कबीर संसा सब छूटा रॉम रतन धन पाया ॥२३॥

शब्दार्थ—गाफिल=चेतानिशून्य। चोर=पंच चोर—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह,। पच पहरवा=पाँच ज्ञानेन्द्रिया। वमतै=कुण्डलिनी।

कबीर अपने मन को प्रबोध देते हुए कहते है कि हे! मन तू चेतनाशून्य हो अपनी पूंजी को मत खो अन्यथा माया रूपी चोर का शरीर के घर मे प्रवेश हो जायेगा।

यह शरीर षट्चक्रोयुत स्वर्ण-कोठरी है जिसमे कुण्डलिनी सुप्तावस्था में पड़ी है, किन्तु जब प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी चक्रो का भेदन करती हुई ऊपर जायेगी तो समस्त रहस्य प्रकट हो जायेगा। इस अवस्था मे पहुंचकर शरीर की पांच ज्ञानेन्द्रियां रूपी पहरेदार जो समस्त क्रिया व्यापार के सचालक है सो गये हैं; अर्थात् उन्होने अपनी गति स्थिर कर दी है। उसके सोते ही कुण्डलिनी जग गई और वह शून्य की ओर अग्रसर होने लगी, वह ब्रह्मरन्ध्र पर पहुच गई। वहा पहुचने पर फिर जीवात्मा को जन्म-स्मरण का भय नही रहता। मन में विचार करते ही करते यह सिद्धि प्राप्त हुई है अथवा मन की वृत्तियो को अन्तर्मुखी कर देने पर ब्रह्म-प्राप्ति हो गई। इसके लिए मुझे कही इधर-उधर न भटकना पडा। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार राम रूपी अमूल्य रत्न को प्राप्त कर मैं संसार-सशय से छूट गया।

चलन चलन सबको कहत है, नाँ जाँनौं बैकुंठ कहाँ है ॥टेक॥
जोजन एक प्रमिति नहीं जाँनै, बातनि ही बैकुंठ बषानै।
जब लग है बैकुंठ की आसा, तब लग नहीं हरि चरन निवासा ॥
कहैं सुनें कैसें पतिअइये, जब लग तहाँ आप नहीं जइये।
कहै कबीर यहु कहिये काहि, साध संगति बैकुंठहि आहि ॥२४॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि सब प्रभु लोक—शून्यगढ को जाने को कहते हैं किन्तु उसका मार्ग किसी को ज्ञात नही है। जो व्यक्ति उस एक ब्रह्म की सीमाओ—शक्तियो—से अवगत नही वह तो व्यर्थ मे ही वैकुण्ठ की बात करता है, उसे प्रभु स्थान का पता भी नही। जब तक मन मे वैकुण्ठ पहुचने मे कोई कामना प्रमुख है तब तक प्रभु-चरणो मे निवास असम्भव है। उस प्रभु-लोक की बताई गई बातो को जब तक स्वयं न देख लें, विश्वास किस आधार पर करें? कबीर कहते हैं कि मैं यह किसे समझाऊँ कि साधु-संगति मे ही प्रभु का वास है—वही वैकुण्ठ है।

अपनें बिचारि असवारि कीजै सहज कै पाइडै पाव जब दीजै ॥टेक॥
दे मुहरा लगाँम पहिराऊँ, सिकली जीन गगन दौराऊं।
चलि बैकुंठ तोपि लै तारौं, थकहित प्रेम ताजनै मारूं ॥
जन कबीर ऐसा असवारा, बेद कतेब दहूँ थैं न्यारा ॥२५॥

शब्दार्थ—असवारि=सवारी।

कबीर कहते है कि हे साधक! आत्मविचार की सवारी करो और सहज-समाधि की रकाब मे पैर रखो—प्रवृत्त होओ, मन मे अकुश का मुहरा पहना नियंत्रण

मे कर लो और उसकी वृत्तियो को अन्मुंखी कर, जीवन कस के, शून्य-शिखर की ओर उसे दौडाओ। हे मन ! चल तुझे प्रभु लोक ले जाकर तेरा उद्धार करूँ और वहाँ तुझ पर सम्पूर्ण शक्ति से प्रेम का एक चाबुक मार दूं जिससे तू प्रभु-प्रेमानुरक्त हो जाय। कबीर कहते है कि ऐसा ही साधक ठीक होता है जो वेद-शास्त्र, कुरान आदि धर्म-ग्रंथो के पचड़े से दूर रहता है।

विशेष—सागरूपक अलंकार।

अपनै मैं रंगि आपनपौ जानू,
जिहि रँगि जाँनि ताही कूं माँनूं ॥टेक॥
अभि अंतरि मन रंग समानाँ, लोग कहैं कबीर बौरानाँ ॥
रंग न चीन्हैं मूरखि लोई, जिहि रँगि रंग रह्या सब कोई।
जे रंग कबहूँ न आवै न जाई, वहै कबीर तिहि रह्या समाई ॥२६॥

शब्दार्थ—अपने मैं रगि=अपनी चित्तवृत्तियो को अन्तर्मुखी करके।

कबीर कहते हैं कि मैंने जब अपनी वृत्तियो को अन्तर्मुखी कर दिया तभी मुझे अपने वास्तविक रूप—कि मैं भी ब्रह्माश हूं, अतः मेरा वास्तविक प्रिय ब्रह्म ही है—के दर्शन प्राप्त हुए। जिसने भी प्रभु के रग को पहचान लिया, मैं उसी को सम्मान दूंगा।

मेरे मन मे प्रभु-प्रेम का रंग समाया हुआ है, किन्तु ससार मुझे सांसारिक आचरणो से विरत देख पागल समझता है क्योकि मूर्ख, अज्ञानी प्रभु के प्रेम रंग को नही पहचान पाते, यद्यपि समस्त सृष्टि के अणु-अणु मे उसी की कान्ति है। वह रग इतना प्रगाढ है कि कभी छूटता नही है। कबीर उसी रग मे पूर्णतया रगा हुआ है।

विशेष—महा कवि सूरदास ने भी इसी भाव का पद कहा है।

"आपुन पौ आपुन ही मे पायौ।
सब्दहिं सब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायौ ॥
ज्यो कुरग-नाभी कस्तूरी, ढूढत फिरत भुलायौ।
फिर चेत्यो जब चेतन ह्वै करि, आपुन ही तनु छायौ ॥

झगरा एक नबेरो रांम, जे तुम्ह अपनै जन सूं काम ॥टेक॥
ब्रह्मा बड़ा कि जिनि रू उपाया, बेद बड़ा कि जहां थैं आया ॥
यहु मन बड़ा कि जहां मन मानैं, रांम बड़ा कि रांमहिं जानैं।
कहै कबीर हूँ खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास ॥२७॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! यदि आपको अपने भक्तो से स्नेह है तो एक झगड़े को निपटा दो। वह यह कि ब्रह्म बडा है या जिसने हमे उत्पन्न किया है, वेद बड़े हैं अथवा वह बडा है जहाँ से वेदो का उद्गम है। यह मन बड़ा है अथवा वह प्रभु जिसमे अब यह रमता है अथवा इन सबसे बड़े स्वयं आप है ? यह सब बातें

आप ही जान सकते है। तीर्थस्थल बड़े है या उनमे भी बड़े है प्रभु-भक्त, भाव यह है कि तीर्थस्थलों की अपेक्षा साधुसंगति अधिक श्रेयस्कर है। कबीर तो अब इस झगड़े से उदास हो गया है—वह केवल प्रभु को ही सर्वोपरि मानता है।

विशेष—"ब्रह्मा बड़ा कि जिनि रु उपाया"—से यह ध्वनित होता है कि शरीर का स्रष्टा कबीर परब्रह्म को ही मानते है जबकि हिन्दुओं की पौराणिक मान्यतानुसार ब्रह्मा ही शरीर का निर्माता है। किन्तु इस विचार वैभिन्य से कबीर के अभिप्रेत अर्थ को पाठक तक पहुचने मे कोई कठिनाई नही होती।

दास रांमहि जांनिहै रे, और न जानै कोइ ॥टेक॥
काजल देइ सबै कोई, चषि चाहन मांहि बिनांन।
जिनि लोइनि मन मोहिया, ते लोइन परवांन ॥
बहुत भगति भौसागरा, नांनां विधि नांनां भाव।
जिहि हिरदै श्रीहरि भेटिया, सो भेद कहूँ कहूँ ठाउं ॥
दरसन संमि का कीजिए, जौ गुन नहि होत समांन।
सींधव नीर कबीर मिल्यौ है, फटक न मिलै पखान ॥२८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि प्रभु को भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई नही जानता। जिस प्रकार नेत्रो मे काजल तो सभी डालते है, किन्तु वह सुन्दर नेत्रों में ही शोभा पाता है। नेत्र की जिन सुन्दर पुत्तलिकाओ ने मन को मोहित कर दिया वे ही नेत्र प्रामाणिक रूप से सुन्दर है। संसार-सागर मे विविध प्रकार की अनेक भक्ति-पद्धतियाँ हैं, किन्तु जिसके माध्यम से हृदय मे प्रभु के दर्शन हो जाय वह भक्ति तो किसी ही किसी—विरले को ही प्राप्त है। उस प्रभु भक्तो के दर्शन करके ही हे मानव! क्या लाभ, यदि तुमने स्वय मे उसके समान गुण उत्पन्न न किये। कबीर को तो प्रभु-भक्ति रूपी समुद्र का पवित्र जल प्राप्त हो गया है, हे जीवात्मा! तुझे चारो ओर भटकने से तो पत्थर की भी प्राप्ति नही हो सकती।

कसै होइगा मिलवा हरि सनां,
रे तू विष विकारन तजि मनां ॥टेक॥
रे तै जोग जुगति जान्यां नहीं, तै गुर का सबद मान्यां नहीं ॥
गंदी देही देखि न फूलिए, ससार देखि न भूलिए।
कहै कबीर मन बहु गुंनी, हरि भगति बिनां दुख फुन फुंनी ॥२९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हे मन! तू विषय-विकारो का परित्याग कर दे, अन्यथा पाप-पंक-पूरित शरीर से प्रभु से किस प्रकार मिलन होगा? हे मन! तूने न तो यौगिक प्रक्रियाओ को जाना और न सद्गुरु के उपदेश का पालन किया जिससे प्रभु प्राप्ति सम्भव होती। तू इस शरीर का जो निरा कूडा है व्यर्थ अभिमान मत कर और न ससार के विभिन्न माया-आकर्षणो मे पडकर अचेत हो। कबीर कहते है कि

इस संसार मे चाहे कितने ही गुण क्यो न हो प्रभु-भक्ति बिना वे सब दुख ही दुख है।

कासूं कहिये सुनि रामां, तेरा मरम न जानें कोई जी।
दास बबेकी सब भले, परि भेद न छानां होई जी ॥टेक॥
ए सकल ब्रह्मंड तैं पूरिया, अरू दूजा महि थांन जी।
मैं सब घट अंतरि पेषिया, जब देख्या नैंन समांन जी ॥
रांम रसाइन रसिक हैं, अदभुत गति बिस्तार जी।
भ्रम निसा जो गत करैं ताहि सूझै संसार जी ॥
सिब सनकादिक नारदा, ब्रह्म लिया निज बास जी।
कहै कबीर पद पक्यजा, अब नेड़ा चरण निवास जी ॥३०॥

शब्दार्थ—मर्म=रहस्य। बबेकी=विवेकी, ज्ञानी। छानाँ=पाया। पेषिया=देख लिया। पक्यजा=पकज्ज। नेड़ा=पास, निकट।

कबीर कहते है कि हे प्रभु ! मै तुम्हारी महिमा-वर्णन किस से करू, क्योकि कोई तुम्हारा भेद जानता ही नही। आपके भक्त बड़े ज्ञानी है, किन्तु वे भी आपका भेद नही पा सकते। इस समस्त ब्रह्माण्ड मे आप परिपूर्ण है और फिर भी आपका स्थान कोई दूसरा ही है। मैंने जब अपने हृदय घट को समग्रतः देखा तो आपके दर्शन किये, आपकी गति उसी प्रकार है जिस भाति नेत्रो से देखते तो सबको है, किन्तु हम स्वय अपने नेत्रो की (बिना दर्पण आदि के) नही देख सकते आपके द्वारा ही समस्त क्रिया-व्यापार सचालित होते है किन्तु आपके दर्शन नही हो पाते। आपकी गति परम विचित्र है। प्रभु ! आप रसिको के लिए अमूल्य रसायन के सदृश है। जो इस संसार मे अज्ञान-रात्रि को विनष्ट कर देता है उसे ही ससार का वास्तविक रूप दृष्टिगत होता है। शिव, सनकादिक एव नारदादि ने ब्रह्म को ही अपना निवास बना लिया है, अर्थात् वे उसमें ही रम गए है। कबीर कहते है कि अब मेरा वास भी प्रभु के पदपद्मों मे ही होगा।

विशेष—'सिव सनकादिक नारदा'—ये समस्त पौराणिक ऋषि और (शिव) देवता है।

मै डोरै डरै जांऊंगा, तो मै बहुरि न भौजलि आंऊंगा ॥टेक॥
सूत बहुत कछु थोरा, तार्थं लाइ लै कंथा डोरा।
कंथा डोरा लागा, तब जुरा मरण भौ भागा ॥
जहां सूत कपास न पूनीं, तहां बसै इक मूनीं।
उस मूनीं सूं चित लाऊंगा, तौ मै बहुरि न भौजलि आंऊंगा ॥
मेरे डंड इक छाजा, तहां बसै इक राजा।
तिस राजा सूं चित लाऊंगा, तौ मै बहुरि न भौजलि आंऊंगा ॥
जहां बहु हीरा घन मोती, तहां तब लाइ लै जोती।
तिस जोतिहि जोति मिलाऊंगा, तौ मै बहुरि न भौजलि आंऊंगा ॥

जहां ऊगै सूर न चंदा, तहाँ देष्या एक अनंदा ।
उस आनन्द सूं चित लाऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि लाऊंगा ॥
मूल बंध इक पावा, तहां सिध गणस्वर रावा ।
तिस मूलहि मूल मिलाऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ॥
कबीरा तालिब तोरा, तहां गोपत हरी गुर मोरा ।
तहाँ हेत हरी चित लांऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊंगा ॥२१॥

शब्दार्थ—भौजलि=भाभी, यहां सखी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । थोरा=थोडा, अल्प । कथा=साधुओ के धारण करने का एक वस्त्र विशेष । जुरा=जरा, वृद्धावस्था । भौ=भय । पूती=रुई को कातने से पूर्व बनाई जाने वाली एक बत्ती सी । मूनी=मुनि, ब्रह्म । राजा=स्वामी ब्रह्म । लै जोती=निरजन ज्योति । मूल बन्ध=मूलाधार चक्र । सिद्ध गणेश्वर रावा=सिद्धि दाता गणपति, कुण्डलिनी ।

कबीर कहते हैं कि यदि मैं प्रभु के मार्ग पर अग्रसर हो गया तो हे सखि ! मैं फिर लौटकर इस ससार मे नही आऊँगा । अर्थात् मैं मुक्त हो जाऊँगा ।

इस ससार मे कर्म रूपी सूत का कोई ओर छोर नही, अतः उसमें पडने की अपेक्षा कथा धारण करना, विरक्त होना अधिक श्रेयस्कर है । ससार से विरक्त होने पर प्रभु-भक्ति को अपनाने के कारण जरा-मरण का भय समाप्त हो जायेगा । जहाँ सूत, कपास एव पूनी आदि अर्थात् कोई भी सांसारिक उपकरण नही है वहा ब्रह्म का निवास है । मैं उन ही परम प्रभु से प्रेम करूँगा और पुन इस संसार में नहीं आऊँगा । मेरे प्रेम नगर के अनुपम (शून्य) भवन में एक राजा—ब्रह्म—का निवास है । अब मैं उसी राजा की भक्ति करूंगा और इस संसार मे नही लौटूंगा । उस शून्य प्रदेश मे अत्यधिक मात्रा मे हीरे और मोती है एव वही निरंजन ज्योति का वास है। मैं उसी परम-ज्योति स्वरूप से अपनी आत्मा की दीप-ज्योति मिला दूंगा । जहाँ सूर्य एव चन्द्रमा की भी गति नही है वहाँ—शून्य—स्थल—पर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हुई। मैं उसी आनन्द मे चिरमग्न रहूगा और हे सखि मैं अब पुनः इस संसार मे नही आऊंगा । मूलाधार चक्र मे एक ऐसा स्थल है जहाँ सिद्धिसदन गणपति—इस ब्रह्म प्राप्ति मे सिद्धि प्रदान करने वाली कुण्डलिनी का वास है । उस मूल शक्ति को सृष्टि के मूल उस ब्रह्म से मिला दूंगा और फिर इस ससार मे नही आऊंगा । कबीर कहते हैं कि जहाँ ब्रह्मानन्दी साधक के गुरु का वास है—शून्य गढ में वही मेरे भी गुरु का, मैं भी प्रभु-प्रेम के कारण अपनी चित्तवृत्तियो को वही केन्द्रित कर रहा हूं, अतः अब मैं इस ससार मे पुन. नही आऊंगा ।

संतौ धागा टूटा गगन विनसि गया, सबद जु कहां समाई ।
ए संसा मोहि निस दिन व्यापै, कोइ न कहै समझाई ॥टेक॥
नहीं ब्रह्मंड प्यंड पुंनि नांही, पंचतत भी नाहीं ।
इला प्यंगुला सुषमन नांहीं, ए गुंण कहाँ समांहीं ॥

नहीं गिह द्वार कछू नहीं तहिवाँ, रचनहार पुनि नाँही।
जोवनहार अतीत सदा संगि, गुंण तहाँ समाँहीं॥
तूटै बँधै बँधै पुंनि तूटै, जब तब होइ बिनासा।
तब को ठाकुर अब को सेवग, को काकै बिसवासा॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै, जौ धागा उनमानाँ।
सीखें सुनें पढ़ें का होई, जौ नहीं पदहि समाँनाँ॥३२॥

शब्दार्थ—विनसि=विनष्ट। ब्रह्मंड=ब्रह्माण्ड। प्यड=पिंड शरीर। पंचतत=पचतत्व 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा।'

कबीर कहते है कि हे सन्तो! जीवन का यह सूत्र टूट जाने पर शरीर-सत्ता समाप्त हो जाती है तो गुरु का सदुपदेश कहाँ समायेगा? मुझे तो यही आशंका अहर्निश त्रस्त करती है कि जीवात्मा गुरु-उपदेश द्वारा किस प्रकार जीवन्मुक्त होगी। शरीर की सत्ता समाप्त होने पर ब्रह्माण्ड और पिण्ड तथा पचतत्व एवं इड़ा-पिंगला आदि का कोई महत्व शेष नही रह जाता। गृह, द्वार अथवा सृजक-मृतक के लिए तो कोई भी नही रह जाता। उस अगम्य, अनादि ईश्वर में ही आत्मा का लय हो जाता है। यह जीवन सूत्र टूटता है, वधता है और इसी प्रकार जीवन-क्रम चलता रहता है, इसी के द्वारा जो पहले कभी स्वामी रहा होगा उसे किसी का सेवक बनना पड़ता है। कबीर कहते है कि इस ज्ञान के श्रावण मात्र से कुछ नही होता, वास्तविक तत्व को हृदयगम कर उन्मन अवस्था से ब्रह्म से तद्रूप हो जाने पर शून्य—ब्रह्म से आत्मा विलग नही होता।

ता मन कौं खोजहु रे भाई, तन छूटै मन कहाँ समाई॥टेक॥
सनक सनंदन जै देवनामा, भगति करी मन उनहुँ न जाना।
सिव बिरंचि नारद मुनि ग्यानीं, मन की गति उनहूँ नहीं जानीं॥
ध्रू प्रहिलाद बभीषन सेषा, तन भीतरि मन उनहूँ न देषा।
ता मन का कोई जानै भेव, रंचक लीन भया सुषदेव॥
गोरष भरथरी गोपीचन्दा, ता मन सौं मिलि करै अनन्दा।
अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा॥३३॥

शब्दार्थ—विरचि=ब्रह्मा। ध्रू=ध्रुव भक्त। बभीषन=विभीषण। भेव=भेद।

कबीर कहते हैं कि हे भाइयो! उस मन की गति का पता लगाओ जो शरीर के छूटने पर भी न जाने कहाँ रमण करता है। सनक सनन्दन आदि जो ऋषिगण थे उन्होंने अपार भक्ति करके भी मन का रहस्य न पाया। शिव एवं नारद जैसे विरक्त ज्ञानी, महामुनि भी मन की गति को न जान पाये। परम-भक्त ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण एवं शेषनाग भी शरीर स्थित मन की गति से अवगत न हो सके। उस रहस्यपूर्ण मन का भेद भला कोई क्या जान सकेगा? शुकदेव मुनि ने थोड़ी-सी उसकी गति को जान पाया अथवा फिर गोरखनाथ, भर्तृहरि, गोपीचन्द जैसे नाथपथी योगियो ने मन

की गति को जानकर पूर्ण आनन्द प्राप्त किया। जो मन शरीर में अलख निरंजन ज्योति स्वरूप परमात्मा के समान समाया हुआ है उससे कबीर ने पूर्ण परिचय प्राप्त कर लिया है।

विशेष—पद की प्रथम और अन्तिम पंक्ति से ऐसा आभास होता है कि मन का प्रयोग कबीर ने इन दो पक्तियो मे आत्मा के लिए किया है।

भाई रे बिरले दोसत कबीर के, यहु तत बार बार कासौं कहिये।
भांनण घड़ण संवारण संम्रथ, ज्यूं राषै त्यूं रहिए ॥टेक॥
आलम दुनीं सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयानां।
छह दरसन छ्यांनबै पाषंड, आकुल किनहूं न जानां॥
जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौरानां।
कागद लिखि लिखि जगत भुलानां, मनहीं मन न समाना॥
कहै कबीर जोगी अरु जंगम, ए सब झूठी आसा।
गुर प्रसादि रटौ चात्रिग ज्यूं, निहचै भगति निवासा॥३४॥

शब्दार्थ—बिरलै = कोई ही। दोसत = साथी, क्योकि कबीर का साधना मार्ग बडा विकट है अत. उसके साथ चलने के लिए बिरले ही साथी मिलते है। तत = तत्व, सत्य। आलम = दुनिया, ससार। दुनी = दुनिया। छह दरसन = षट्दर्शन, शिक्षा, छन्द, निरुक्त व्याकरण, ज्योतिष, कल्प।

कबीर कहते हैं कि मेरे साथी बहुत कम है—इस सत्य का बारम्बार उद्घाटन मैं किस-किस के सम्मुख करूँ। वह परम प्रभु भरण, पोषण एव दोष-संवारण सब क्षेत्रो मे समर्थ है, अतः वह जिस प्रकार रख रहा है मनुष्य को वैसे ही रहना चाहिए। मैंने सर्वत्र सृष्टि मे खोज कर देख लिया, किन्तु प्रभु बिना सर्वत्र शून्य, निर्जनता के और कुछ नही है। षट्दर्शन एव अन्य विविध शास्त्र ग्रन्थो (जिन्हे कबीर केवल मात्र ब्राह्मण वर्ग का पाखड मानते हैं) मे प्रभु की खोज मे बडे व्यग्र प्रयत्न किये गये हैं किन्तु कोई भी उन्हे पूर्णरूपेण जानने मे समर्थ नही हो सका। उसी को जानने के लिये संसार जप, नियम-संयम, पूजा-अर्चना, ज्योतिष आदि विविध प्रपचो मे पागल हो रहा है। उसकी खोज के लिए पुस्तक पर पुस्तक एव विविध धर्म-ग्रथो के ढेर के ढेर लिख कर मन ही मन प्रफुल्लित है, किन्तु इनमें किसी से भी उसका वास्तविक रूप प्रकट नही होता। कबीर कहते है कि योगी आदि विभिन्न वर्ग के साधक उसकी खोज मे झूठी आशा ले लेकर मर रहे है, इनके द्वारा गृहीत उपायो से वह प्राप्त नहीं होता तो निश्चयपूर्वक गुरु उपदेश के द्वारा ग्रहण की गई दृढ भक्ति द्वारा प्राप्त होता है।

कितेक सिव संकर गये ऊठि,
राम संमाधि अजहूं नहीं छूटि ॥टेक॥
प्रलै काल कहू कितेक भाष, गये इंद्र से अगिणत लाष।
ब्रह्म खोजि पर्यो गहि नाल, कहै कबीर वै राम निराल ॥३५॥

शब्दार्थ—सरल है।

इस पद मे कबीर प्रभु की अगम्यता का वर्णन करते कहते है कि शिवशंकर जैसे न जाने कितने तपस्वी प्रभु की प्राप्ति-इच्छा मे समाधि लगा-लगा कर पराजय मान गये किन्तु प्रभु की समाधि—निद्रा आज भी नही टूटी, जो उन्हें दर्शन दे सकें। न जाने कितनी सृष्टियो का सृजन एवं विनाश हो गया और इन्द्र जैसे न जाने कितने लक्ष देवता उनसे पराजित हो गये। ब्रह्मा उन्हे खोजते-खोजते कमल-नाल पकड कर बैठ रहा, किन्तु कबीर कहते है कि वे अद्भूत राम किसी को भी प्राप्त नही हो सके।

विशेष—पद की प्रत्येक पंक्ति में हिन्दुओं के किसी न किसी धार्मिक विश्वास का कबीर को ध्यान है जिनके आधार पर वे ब्रह्म की अगम्यता सिद्ध कर रहे हैं।

अच्यंत च्यंत ए माधौ, सो सब मांहि समांनां।
ताहि छाड़ि जे आंन भजत हैं, ते सब भ्रंमि भुलांनां ॥टेक॥
ईस कहै मैं ध्यांन न जांनूं, दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणां कारणि केसौ, नांव धरण कौं तोहीं॥
कहौ धौं सबद कहा थै आव, अरू फिरि कहां समाई।
सबद अतीत का मरम न जानै, भ्रंमि भूली दुनियाई॥
प्यंड मुकति कहां ले कीजै, जौ पद मुकति न होई।
प्यंडै मुकति कहत है मुनि जन, सबद अतीत था सोई॥
प्रगट गुपन गुपत पुनि प्रगट, सो कत रहै लुकाई।
कबीर परमांनंद मनाये, अकथ कथ्यौ नहीं जाई॥३६॥

शब्दार्थ—रंजक=थोडी-सी। करुणा=दया। प्यंडै मुकति=शरीर की मक्ति। लुकाई=छिपना।

वह अनुपम ब्रह्म समस्त सृष्टि मे समा रहा है, उस परम-प्रभु को छोड़ जो अन्य का भजन करते है वे लोग सासारिक भ्रम में भ्रमित है।

प्रभु स्वयं कहते है कि मैं ध्यान द्वारा प्राप्य नही हूँ, मुझे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। हे प्रभु! आप अपने दासो—भक्तों—पर थोडी सी तो दया दृष्टि फेरिये जिससे वे आपका नाम जपने में समर्थ हो सके। भला बताओ तो शब्द ब्रह्म, नाद-ब्रह्म, कहाँ से उत्पन्न होता है और फिर कहाँ समा जाता है। सद्गुरु के उपदेश का संसार रहस्य नही जानता वह केवल मात्र माया-भ्रम मे उलझा हुआ है। इस शरीर की ही मुक्ति को लेने से क्या लाभ यदि मुक्ति स्वरूप परम-पद की प्राप्ति न हुई। जीवनमुक्त मुनिगण यह बताते हैं कि वह अनहद नाद ही तो ब्रह्म था। वह प्रभ कभी दर्शनीय हो जाते है और कभी अदृश्य, अगम्य—न जाने वे किधर छिपे हुए है। कबीर को अब परमानन्द स्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति हो गई है, इस आनन्द का वर्णन नही किया जा सकता।

सो कछू बिचारहु पंडित लोई,
जाकै रूप न रेख बरण नहीं कोई ॥टेक॥

उपजै प्यंड प्रांन कहां थैं आवै, मूवा जीव जाइ कहां समावै।
इंद्री कहां करहि विश्रांमां, सो कत गया जो कहता रांमा ।।
पंचतत तहां सबद न स्वादं, अलख निरंजन बिद्या न बादं।
कहै कबीर मन मनहिं समानां, तब आगम निगम झूठ करि जानां ।।३७।।

शब्दार्थ—लोई=लोग । रेप=रेखा । आगम निगम=वेद और शास्त्र आदि।

भला पण्डित लोग अर्थात ज्ञानी उसका क्या विचार कर सकते हैं जिसकी न कोई रूप रेखा है और न कोई वर्ण—जो सर्वथा निराकार है, उसको पाने का प्रयत्न तो बड़ा यत्न साध्य है।

शरीर की उत्पत्ति पर उसमे प्राणो का सचार न जाने कहा से हो जाता है और जीव की मृत्यु पर वही प्राण न जाने कहाँ जाकर समा जाता है? जीव के मरणोपरान्त न जाने इन्द्रियाँ, जो ससार के नाना विषयो मे अनुरक्त थी, कहाँ जाकर सो जाती है और वह हसात्मा जो शरीर को सजीव बनाये था न जाने कहा चला गया? जहाँ जाते हैं वहाँ पचतत्व निर्मित यह भौतिक ससार नही है, केवल वह अलख निरजन ब्रह्म ही ज्योतिष्मान है। वहाँ किसी लौकिक विद्या अथवा विचारधारा की गति नही है। कबीर कहते है कि जब मन की वृत्तियो को अन्तर्मुखी कर ब्रह्म मे केन्द्रित कर दिया जाता है तब आगम-निगम आदि की समस्त शास्त्रीय विचारधारा मिथ्या प्रतीत होने लगती है और केवल ब्रह्म का ही ध्यान रहता है।

जो पैं बीज रूप भगवाना,
तौ पंडित का कथिसि गियाना ।।टेक।।
नहीं तन नहीं मन नहीं अहकारा, नहीं सत रज तम तीनि प्रकारा ।।
विष अमृत फल फले अनेक, वेद रु बोधक हैं तरु एक।
कहै कबीर इहै मन माना, कहिधूं छूट कवन उरझाना ।।३८।।

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि यदि ब्रह्म बीज रूप ही एक है जिससे असंख्य फलो वाली यह सृष्टि फली है तो फिर पडित इसी वात के रहस्योद्घाटन के लिये क्या ज्ञान-कथन करेगा? वह ब्रह्म न तो शरीरधारी है और न मनयुक्त है एव सत्त्व, रज, तम तीनो गुणो से परे है। इस ससार मे उसी की सृष्टि के रूप मे विष और अमृतमय फलो से युक्त वृक्ष लगे हुए हैं किन्तु उन सबका मूल उत्स एक ही है। कबीर कहते है कि इस प्रकार समस्त सृष्टि का नियामक एक ही ब्रह्म को मान लेने मे ही आनद और शान्ति है, कौन इस व्यर्थ के झगडे मे पड़कर उलझे?

पांडे कौंन कुमति तोहि लागी,
तूं रांम न जपहि अभागी ।।टेक।।
वेद पुरांन पढत अस पांडे, खर चंदन जैसैं भारा।
रांम नांम तत समझत नांही, अंति पड़ै मुखि छारा ।।

बेद पढ़्यां का यहु फल पांडे, सब घटि देखै रांमां।
जन्म मरन थै तौ तूं छूटै, सुफल हूँहि सब कांमां।।
जीव बधत अरु धरम कहत हौ, अधरम कहां हैं भाई।
आपन तौ मुनिजन ह्वै बैठे, का सनि कहौं कसाई।।
नारद कहै ब्यास यौं भाषैं, सुखदेव पूछौ जाई।
कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ रांम ल्यौ लाई।।३९।।

शब्दार्थ—खर=गधा। छारा=छार, धूल। घटि=हृदय मे। का सति=किसकी। क्यौ=प्रगाढ प्रेम।

हे पाडे जी ! आप किस दुर्बुद्धि के फेर मे पड़कर विविध पाखड कर्मो का जंजाल फैलाते हो। हे अभाग्यवान् ! राम-नाम क्यो नही जपता ? व्यर्थ मे वेद और पुराण पढने से क्या लाभ ? वास्तविक ज्ञान तो प्रभु-भक्ति है, यह पुस्तकीय ज्ञान तो ऐसा ही है जैसे गधे पर चन्दन लदा हुआ हो और वह उसका कुछ भी लाभ न उठा सके। यदि तूने राम-नाम का रहस्य नही जाना तो अन्त मे मुख मे धूलि पडेगी; अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होगा। हे पाण्डे जी ! वेद पढने का तो यही लाभ है कि प्रत्येक जीव के हृदय मे प्रभु की सत्ता को समझो। इससे तू जन्म-मरण के आवागमन चक्र से मुक्त हो जाएगा और तेरे समस्त कार्य सफल हो जायेगे। यदि तुम पशुबलि करके भी धर्म कहते हो तो फिर अधर्मपूर्ण कार्य कौन सा रह गया ? तुम स्वय पशुबलि करके तो मुनि कहलाते हो, फिर भला कसाई किसे कहोगे ? व्यास जी नारद और सुखदेव जैसे ऋषियो द्वारा इस मत की पुष्टि कराते है। कबीर कहते है कि यह कुबुद्धि जो तुम्हे ऐसे क्रूर कर्म करने के लिये प्रेरित करती है तभी छूट सकती है जब तुम अपनी वृत्तियाँ राम मे केन्द्रित कर दो।

पंडित बाद बदंते झूठा।
रांम कह्यां दुनियां गति पावै, षांड कह्यां मुख मीठा।।टेक।।
पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्यां भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई।।
नर कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल मै, बहुरि न सुरतै आनै।।
साची प्रीति विषै माया सूं, हरि भगतनि सूं हासी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बांध्यौ, जमपुरि जासी।।४०।।

शब्दार्थ—पावक=अग्नि। त्रिषा=प्यास। सूवा=तोता। बहुरि=फिर। जमपुरि=नरक लोक मे।

पडित लोग व्यर्थ के विभिन्न बाद प्रस्थापित कर ईश्वर के झूठे स्वरूप से परिचय कराते है। भला यदि राम-नाम कहने मात्र से संसार से मुक्ति हो जाय और खाड का नाम-मात्र लेने से मुह मिष्टान्न का स्वाद ले ले, अग्नि का नाम लेने से ही पैर जल जाय और जल कह देने भर से प्यास बुझ जाय, भोजन कहने भर से

भूख मिट जाय तो सब ही अपनी इच्छानुकूल तृप्ति पा लें। मनुष्य द्वारा सिखाये जाने पर तोता भी राम-नाम उच्चारण करता है, किन्तु वह प्रभु प्रताप से तो अवगत नहीं होता। यदि कभी वह अपने पिंजड़े से छूट जाय तो पुन: कभी उसे प्रभु की स्मृति भी नही आ सकती। जो जीवात्मा माया के विविध विषयो से अनुराग रखते है और प्रभु-भक्तो का उपहास कहते है उनके हृदय मे कभी भी प्रभु-प्रेम उत्पन्न नही हो सकता है और वे आवागमन के वधन मे वधे मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

जौ पै करता वरण विचारै,
तौ जनमत तीनि डांडि किन सारै ॥टेक॥

उतपति व्यंद कहां थै आया, जा धरी अरू लागी माया।
नहीं को ऊंचा नहीं को नींचा, जाका प्यंड ताही का सींचा ॥
जे तूं बांभन बभनी जाया, तौ आंन बाट ह्वै काहे न आया।
जे तूं तुरक तुरकनीं जाया, तो भीतरि खतनां क्यूं न कराया ॥
कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सो मधिम जा मुखि रांम न होई ॥४१॥

शब्दार्थ—तीनि डाडि=तीन खडो में। मधिम=नीच।

कबीर कहते है कि यदि सृष्टि कर्ता प्रभु भी वर्ण-विचार करे तो मनुष्य के जन्म लेते ही उसे तीन खण्डो मे विभाजित कर दे। समस्त जीवो का मूल उत्स एक ही है और फिर सब माया वधन मे पडते हैं। समस्त जीव समान हैं क्योकि शरीर एक ही साचे मे ढले हुए है इसलिए कोई उच्च और निम्न नही है। हे ब्राह्मण! यदि तुझे अपनी उच्चता का गर्व है तो तू शेष ससार के समान ही मातृ-गर्भ से क्यों जन्मा किसी अन्य मार्ग से क्यो नही आया? और हे तुर्क! यदि तू अपनी श्रेष्ठता में किसी को कुछ समझता ही नही तो मातृ उदर मे ही खतरा करा कर अन्य लोगों से अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करता। कबीर कहते है कि कोई नीच नही है, केवल वही नीच है जिसके मुख से राम-नाम का उच्चारण नही होता।

विशेष—इस पद मे कबीर के सत्य-कथन की प्रसरतापर्य को छखने वाली है।

कथता बकता सुरता सोई, आप बिचारै सो ग्यांनी होई ॥टेक॥
जैसे अगिन पवन का मेला, चंचल चपल बुधि का खेला।
नव दरवाजे दसूं दुवार, बूझि रे ग्यांनी ग्यांन बिचार ॥
देही माटी बोलै पवनां, बूझि रे ग्यांनीं मूवा स कौनां।
मुई सुरति बाद अहंकार, वह न मूवा जो बोलणहार ॥
जिस कारनि तटि तीरथि जांही, रतन पदारथ घट हीं माहीं।
पढ़ि पढ़ि पंडित वेद बषांणै, भीतरि हूती बसत न जांणै ॥
हूँ न मूवा मेरी मुई बलाइ, सो न मुवा जो रह्या समाइ।
कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया, मरता जाता नजरि न आया ॥४२॥

शब्दार्थ—बलाइ=ग्रह। पवन=हवा। नव दरवाजे=नौ इन्द्रियाँ। दस=दसवाँ, ब्रह्मरन्ध्र।

जो अपनी वृत्तियों को अंतर्मुखी कर विचार करता है वही ज्ञानी है, वही उपदेशक है, वही प्रभु प्रेमानुरक्त है। जिस प्रकार वायु के सम्पर्क से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है उसी भाँति सर्वत्रगामी और तीव्र बुद्धि के द्वारा ही यह आत्म-चिन्तन सम्भव है। शरीर मे नौ द्वार एवं ब्रह्मरन्ध्र हैं हे ज्ञानी ! ज्ञान द्वारा तू इनकी स्थिति का अनुमान कर। शरीर तो मिट्टी मात्र है जिसको प्राणवायु जीवन प्रदान करती है, हे ज्ञानी जो (आत्मा) मर गया वह कौन था, उसके स्वरूप पर विचार कर। कबीर स्वय ज्ञानी से किये गये प्रश्न का उत्तर देते कहते है कि आत्मा नष्ट नही होती, मनुष्य की मृत्यु पर नष्ट तो अह मिथ्या दम्भ एव स्वार्थवृत्ति होती है। जिनके लिए मनुष्य विविध तीर्थो की यात्रा का श्रम उठाता है वह रत्न और अमूल्य पदार्थ अर्थात् प्रभु तो हृदय मे ही वास करते है। पण्डित व्यर्थ मे उदघोष गिरा से वेदों का मन्त्रोच्चार करता है किन्तु अन्तर मे रहने वाले ब्रह्म से परिचित नही होता। मृत्यु पर मनुष्य नही मरता केवल मात्र उसका अहं नष्ट हो जाता है और वह जो समस्त ससार मे रमा हुआ है परमात्मा आत्मा के रूप मे रह जाता है। कबीर कहते है कि सदगुरु ने मुझे ज्ञान-दृष्टि प्रदान कर ब्रह्म के दर्शन करा दिये जिससे मैं जीवन-मरण के आवागमन चक्र से मुक्त हो गया।

हम न मरैं मरिहै संसारा, हम कूं मिल्या जियावनहारा ॥टेक॥
अब न मरौं मरनैं मन मांनां, तेई मूए जिनि राम न जांनां।
साकत मरैं संतन जीवैं, भरि भरि रांम रसाइन पीवैं ॥
हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं, हरि न मरैं हंम काहे कूं मरिहैं।
कहै कबीर मन मनहि मिलावा, अमर भये सुख सागर पावा ॥४३॥

शब्दार्थ—साकत=शक्ति। रसाइन=रसायन।

कबीर इस पद मे प्रभु प्राप्ति के पश्चात् अपनी मन:स्थिति का वर्णन करते कहते है कि अब मेरा मरण नही हो सकता क्योकि मुझे तो जीवन या अमरता प्रदान करने वाले प्रभु के दर्शन हो गये। अब मैंने मन मे दृढ निश्चय कर लिया है कि मैं मरण को प्राप्त नही होऊँगा—मरते तो वे है जो प्रभु-महिमा से अवगत नही होते और मैं तो प्रभु से साक्षात्कार कर चुका हू। शाक्त या बलि आदि की विविध हिंसात्मक क्रियाओ मे ही पड़ा हुआ नष्ट हो जाता है और साधु जन भरपूर मात्रा मे राम-रूपी रसायन—प्रभुभक्ति—का पान करते है, अत: वे अमर हो जाते है। यदि प्रभु की समाप्ति हो जायेगी तो हमारा भी नाश हो जायेगा, किन्तु जब वही नहीं मरेगा तो हम कैसे मर सकते है ? क्योकि हम तो उस अशी के अश है। कबीर कहते है कि मन को प्रभून्मुख कर देने से सुख सागर की प्राप्ति होकर मनुष्य अमर हो जाता है।

कौंन मरै कौन जनमैं आई, सरग नरक कौंनैं गति पाई ॥टेक॥
पंचतत अबिगत थैं उपपनां, एकैं किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समांनां, रेख रही नहीं आसा ॥

जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है,बाहरि भीतरि पांनीं।
फूटा कुंभ जल जलहि समांना, यहु तत कथौ गियानीं॥
आदैं गगां अंतै गगना, मधे गगनां भाई।
कहैं कबीर करम किस लागैं, झूठी संक उपाई॥४४॥

शब्दार्थ—अविगत=ब्रह्म। एकै=एक मे हो। संक=शंका। उपाई=उपाय।

कबीर कहते है कि भला कौन मरता जीता है एवं मरणोपरान्त कौन स्वर्ग और नरक प्राप्त करता है—ये तो विश्वासमात्र ही हैं। प्रभु से उत्पन्न पचतत्व—पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु—एकत्र रूप मे आने पर मनुष्य का रूप धारण कर गये; शरीर नष्ट हो जाने पर, उससे विलग हो, ये पचतत्व पुन. उसी ब्रह्म मे समा जाते है और फिर मनुष्य का कुछ चिन्ह भी संसार मे नही रह जाता। वस्तुत. यह सृष्टि इसी प्रकार है कि ससार के जल मे शरीर रूपी एक घट है जिसमे भीतर भी जल विद्यमान है—शरीर मे समस्त तत्व इस सृष्टि के ही हैं—एवं उसके बाहर तो संसार रूपी जल है ही। शरीर रूपी घट के फट जाने पर शरीर घट स्थित जल रूपी आत्मा शेष ससार मे व्याप्त परमात्मा से मिल गई। इस प्रकार सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त मे अर्थात् सर्वत्र परमात्मा का ही निवास है। कबीर कहत हैं कि संसार के माया-आकर्षण तथा ससार भ्रम मिथ्या है, यहाँ तो केवल कर्म ही प्रधान है।

कौंन मरैं कहु पडित जनां, सो समझाइ कहौ हम सनां॥टेक॥
माटी माटी रही समाइ, पवनैं पवन लिया सँगि लाइ।
कह कबीर सुंनि पंडित गुंनी, रूप मूवा सब देखैं दुनीं॥४५॥

शब्दार्थ—रूप मूवा=शरीर मर गया। दुनी=दुनियाँ।

हे ज्ञानी पण्डित भक्त! हमे बताओ तो सही कि मरता कौन है? मरना कुछ नही केवल मिट्टी का दूसरी मिट्टी मे मिल जाना है, पवनाश का सम्पूर्ण वातावरण मे व्याप्त वायु से मिलन है। कबीर कहते है कि ज्ञानी पण्डित! सुन, सब लोग केवल शरीर को नष्ट होता देख उसे मरण कहते है, किन्तु यह कोई नही देखता कि यह व्यष्टि का समष्टि से, अंश से आत्मा का परमात्मा से मिलन है।

जे को मरैं मरन है मींठा,
गुर प्रसादि जिनहीं मरि दीठा॥टेक॥
मूवा करता मुई ज करनीं, मुईं नारि सुरति बहु धरनी।
मूवा आपा मूवा मांन, परपंच लेइ मूवा अभिमान॥
रांम रमें रमिं जे जन मूवा, कहै कबीर अविनासी हूवा॥४६॥

शब्दार्थ—प्रसादि=कृपा। अविनासी हुआ=ऊपर हो जाते हैं।

कबीर कहते है कि सदगुरु की कृपा से जिन्हे मरण के दर्शन हो जाते है वे यदि मरना चाहें तो मरण ही उनके लिए मधुर है क्योकि वह प्रभु-दर्शन का एक उपाय है। जो सासारिक कर्मो के लिए मर जाता है अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है उसे

कर्म-दोष या कर्म-पाप नही लगता। व्यक्ति को कामिनी एव अन्य मायाकर्षणों से विरत हो जाना चाहिए। अह और दम्भ को नष्ट कर एव मिथ्या-मान को भी त्याग कर व्यक्ति सांसारिक प्रपंच से अलग हो जाता है। कबीर कहत हैं कि इस भांति संसार के लिए मर कर जो प्रभु-भक्ति मे लीन रहते है फिर वे प्रभु में मिल कर अमरत्व को प्राप्त हो जाते है।

विशेष—मूलपद पर गीता का प्रभाव है।

जस तूं तस तोहि कोई न जान,
लोग कहैं सब आंनहिं आंन ॥टेक॥
चारि बेद चहुँ मत का बिचार, इहि भ्रंमि भूलि पर्‌यौ संसार।
सुरति सुमृति दोइ को बिसवास, बाझि पर्‌यौ सब आसा पास॥
ब्रह्मादिक सनकादिक सुर नर, मै बपुरौ धूं का मै का कर॥
जिहि तुम्ह तारौ सोई प तिरई, कहै कबीर नांतर बांध्यौ मरई ॥४७॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि हे प्रभु! आप जैसे है उस रूप मे आपको कोई नही जानता सब और ही और रूप मे आपका स्वरूप वर्णन करते है। चारों वेद एवं समस्त मत-मतान्तरो का उद्देश्य भी आपका स्वरूप वर्णन है किन्तु संसार उनमें विश्वास कर व्यर्थ भूल मे पडा हुआ है—वहाँ ईश्वर का वास्तविक स्वरूप कहाँ? प्रभु को प्राप्त करने के लिए केवल दो ही उपाय है—प्रेम और स्मृति ग्रथ, ससार शेष उपायो के द्वारा इन्ही के चारो ओर घूमता है। आगे कबीर पूर्व कथन से विरोध रखती हुई बात कहते है कि ब्रह्मादिक एव सनकादिक आदि ऋषिगण एवं अन्य देवता तथा मनुष्य भी उनका भेद न जान सके तो मैं बेचारा भला उनको क्या जान सकता हू? कबीर कहते है कि हे प्रभु! जिसे आप इस ससार-सिंधु से तारना चाहते हैं तो तर जाता है, अन्यथा शेष मनुष्य तो माया-बधन मे पडे ही मर जाते हैं और आवागमन के चक्र मे पुन: पडते है।

विशेष—१ अन्तिम पक्ति से तुलना कीजिए—

"सो जानई जेहि तुम्हई जनाई, जानत तुम्मई होइ जाइ।"

२. ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करने मे कबीर की बड़ी विचित्र स्थिति हो जाती है, प्रस्तुत पद के पूर्वार्द्ध मे कबीर चुनौती देकर वेदादि की प्राप्ति को भ्रम बताते है किन्तु इससे थोड़ा आगे बढकर वे प्रभु प्राप्ति के दो ही उपाय बताते है—प्रेम व स्मृति ग्रन्थ। यह कैसा विरोधाभास है? फिर और आगे बढकर उसी कबीर के मुख से, जो धर्म ग्रन्थो की प्राप्ति को इस प्रकार चनौती देना है कि उसने वास्तविक सत्य का साक्षात्कार किया है, उसका ब्रह्म से मिलन हुआ है, हम यह सुनते है कि जब बडे-बडे ऋषिगण ही उस प्रभु को न जान सके तो भला मैं क्या जान सकता हूं? वस्तुत. इन कथनो मे ऊपर से ही विरोधाभास लक्षित होता है, उनके मूल मे एक साधक की विभिन्न मन.स्थितियो का दर्शन होता है।

लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन, नंद कहौ धूं काकौ रे।
धरनि अकास दोऊ नहीं होते, तब यहु नंद कहां थौ रे ॥टेक॥
जामैं मरै न संकुटि आवै, नांव निरंजन जाकौ रे।
अविनासी उपजै नहि बिनसै, संत सुजस कहैं ताकौ रे॥
लष चौरासी जीव जंत मैं भ्रमत नंद थाकौ है।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो, भगति करै हरि ताकौ रे ॥४८॥

शब्दार्थ—बिनसै = नष्ट होता है। लष = लाख।

हे पण्डित। नन्दलाल श्रीकृष्ण को प्रभु बताते हो, किन्तु यह तो बताओ कि नन्द कौन है ? और कहाँ का वासी है ? जब पृथ्वी और आकाश—सृष्टि में कुछ भी नहीं था केवल मात्र परब्रह्म था क्या तुम्हारा यह नन्द तब भी था ? कबीर कहते हैं कि वास्तविक प्रभु तो वही है जिसका नाम अलख-निरंजन है। वह न तो जन्म लेता है और न मरण को प्राप्त होता है और न कभी उस पर संकट आता है। वह अविनाशी प्रभु न तो जन्म लेता है न मरता है। हे साधु जनो ! तुम उसी का गुण-गान करो। नन्द तो, जो कृष्ण का पिता है, आवागमन के चक्र मे पड़कर चौरासी लाख योनियो मे भ्रमित होता रहा है; अर्थात् वह तो सामान्य मनुष्य है किन्तु कबीर के स्वामी ऐसे है जो इन सब सासारिक बातो से परे हैं। उसी की भक्ति काम्य है।

निरगुण राम निरगुण रांम जपहु रे भाई,
अविगत की गति लखी न जाइ ॥टेक॥
चारि बेद जाकै सुमृत पुरांनां नौ व्याकरवां मरम न जाना।
सेस नाग जाकै गरड़ समांनां, चरन कवल कवला नहीं जांनां॥
कहै कबीर जाकै भेदै नांही, निज जन बैठे हरि की छांहीं ॥४९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि हे भाई। तुम निर्गुण ब्रह्म की भक्ति करो। उस अगम्य प्रभु की गति का किसी को पता नही। चारो वेद एव समस्त स्मृति एवं पुराण ग्रन्थ तथा नव-व्याकरण इस निर्गुण ब्रह्म के रहस्य को न जान सके। शेषनाग को जिसका वाहन गरुड चट कर जाता है उस प्रभु के रहस्य को उनके चरण कमलो मे रहने वाली लक्ष्मी नही जान पाती। कबीर कहते है कि परम प्रभु के रहस्य को कोई नही जान पाया, किन्तु प्रभु-भक्ति उनके रहस्य को पहचानकर उन्ही की शरण मे रहते है।

विशेष—कबीर के ब्रह्म की विशेषता यही है कि उसे जहां निर्गुण बताते हैं वहाँ उसका सम्मिलन वैष्णवो के आराध्य विष्णु आदि से कर देते है किन्तु इन नामो को भी कबीर ने अवतार के नाम के रूप मे नही अपनाया उनका निर्गुण ब्रह्म जनता मे प्रचलित इष्टदेव के नामो से अभिहित हो सर्वसाधारण के अधिक निकट [illegible] जाता है।

सबनि मै औरनि मै हूँ सब।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो,
कोई कहौ कबीर कोई कहौ रांम राई हो ॥टेक॥
नां हम बार बूढ नाहीं हम, नां हमरै चिलकाई हो।
पठए न जांऊं अरवा नहीं आंऊं, सहजि रहूँ हरिआई हो।
वोढन हमरै एक पछेवरा, लोक बोलै इकताई हो।
जुलहै तनि बुनि पांन न पावल, फारि बुनी दस ठांई हो।
त्रिगुंण रहित फल रमि हम राखल, तब हमरौ नांउं रांम राई हो।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो ॥५०॥

शब्दार्थ—बिलगि बिलगि=भिन्न भिन्न रूप। बार=पानी। बूढ=डूबना। चिलकाई=प्रकाशित होना।

कबीर का ब्रह्म स्वय कहता है कि मै सर्वत्र व्याप्त हूं और सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ मे सब कुछ मैं ही हू। यह नाना रूपात्मक जगत मेरे विभिन्न रूपो का प्रकाश है। कोई मुझे किसी नाम से पुकारता है और कोई किसी अन्य नाम से। मैंने तो जल-प्रवाह में डूब सकता हू एवं न मै किसी बाह्य प्रकाश से प्रकाशित है। मै कही जाता हूं और न कही आता हूं तो स्वाभाविक रूप से, प्रयत्न न करते हुए भी ससार (विद्वानो से तात्पर्य) मुझे एक परमतत्व के रूप मे जानता है। जुलाहा जिस प्रकार एक ही थान को बुनकर उसके दस टुकड़े कर देता है उसी भाँति मैं एक होते हुए भी सर्वत्र रहता हू। मुझे मेरी सत्-रज तम त्रिगुणात्मक प्रकृति भी नही व्यापती, इसी अद्भुतता के कारण मेरा नाम राम पडा। कबीर ने उसके स्वरूप को कुछ ग्रहण किया है, इसीलिए वे कहते हैं कि ब्रह्म तो समस्त जगत को देखता है किन्तु ससार उस परमात्मा को नही देखता।

लोका जांनि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक, सब घट रह्यौ समाई ॥टेक॥
अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा।
ता नूर थै सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा॥
ता अला की गति नहीं जांनीं, गुरि गुड़ दीया मींठा।
कहै कबीर मै पूरा पाया, सब घटि साहिब दींठा ॥५१॥

शब्दार्थ—खालिक=प्रभु। खलक=ससार। नूर=रत्न। मंदा=बुरा। गुरि=सद् गुरु। गुड़=ज्ञानोपदेश। पूरा=पूर्ण ब्रह्म। साहिवा=स्वामी, ब्रह्म। दीठा=दृष्टिगत हुआ।

हे पंडित ! तुम प्रभु-महिमा को जानते हुए भी उसे भूलो मत। अर्थात् प्रभु को विस्मृत कर ससार की विषय-वासनाओ मे मत पडे रहो। वह ब्रह्म सर्वत्र है। इस प्रकार वह प्रभु प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे बसा हुआ है। एक प्रभु से ही समस्त

ससार का निर्माण हुआ है अत दूसरे की निन्दा कर प्रभु को ही निन्दित करते है। जब समस्त ससार उसी एक ज्योति से प्रकाशित है तो फिर भला अच्छा और बुरा, उच्च और निम्न का भेद कैसा ? सतगुरु के मधुर ज्ञानोपदेश से प्रभु के दर्श हुए, उसकी गति अगम्य है। कबीर कहते है कि मुझे पूर्ण ब्रह्म के दर्शन हो गये, अब मुझे प्रत्येक के हृदय मे उसका वास दृष्टिगत होता है।

रांम मोहि तारि कहाँ लै जैहो।
सो बैकुंठ कहौं धूं कैसा, करि पसाव मोहि देहो ॥टेक॥
जो मेरे जीव दोइ जांनत हौ, तौ मोहि मुकति बताओ।
एकमेक रमि रह्या सबनि मैं, तौ काहे भरमावौ ॥
मारण तिरण जबै लग कहिये, तब लग तत न जांनां।
एक रांम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मन मांनां ॥५२॥

शब्दार्थ—तारि=उतार कर, ससार सागर से तर कर। पासव=कृपा करके। तत=तत्व, सत्य, ब्रह्म।

हे प्रभु ! मेरी समझ मे नही आता कि आप मुझे इस संसार से तार कर कहा ले जाओगे। हिन्दुओ का यह विश्वास है कि ससार सागर से पार होकर मनुष्य वैकुण्ठ मे जाता है तो हे प्रभु ! आप मुझे कृपा कर जो यह लोभ प्रदान करेंगे वह कैसा है ? यदि आप अपने और मेरी जीवात्मा मे द्वैत-भावना से अन्तर देखते हैं तो मुझे मुक्ति का साधन बताइये जिसमे मै आपके स्वरूप मे लीन हो एकमेक हो जाऊं। यदि वह एक ब्रह्म सर्वत्र समस्त वस्तुओ एव पदार्थों में परिव्याप्त है तो फिर मुझे इस द्वैत (भ्रम) मे क्यो डाला गया। तारने एव तरने की तो बातें तभी तक सूझती हैं जब तक प्रभु को नही जाना जाता। कबीर मन मे प्रभु की सत्ता को स्वीकार कर सर्वत्र राम की ही झाकी देखते हैं।

सोहं हंसा एक समांन, काया के गुण आंनहि आंन ॥टेक॥
माटी एक सकल संसारा, बहु विधि भांडे घड़ै कुंभारा ॥
पंच बरन दस दुहिए गाइ, एक दूध देखौ पतिआइ।
कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभुवननाथ रह्या भरपूर ॥५३॥

शब्दार्थ—सोहं=सोऽहं, ब्रह्म। हसा=आत्मा। काया=शरीर। आनहि-आदि=अन्य ही अन्य। ससा=सशय।

कबीर कहते हैं कि ब्रह्म और आत्मा मे कोई अतर नही, केवल मात्र मनुष्य के ही गुण भिन्न है, वही माया मे सलिप्त है। समस्त ससार मे एक ही मिट्टी है, सृष्टि निर्माता ब्रह्म रूपी कुम्भकार ने उसी मिट्टी के विविध आकारधारी मनुष्य रूपी घडे निर्मित कर दिये हैं। ससार ने पचवर्ग रूपी काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और दसो इन्द्रियो द्वारा एक आनन्द प्राप्ति ही लाम्म बना ली है। कबीर कहते है कि संसार के माया-जन्य भ्रम को दूर कर दे और प्रभु का भजन कर क्योकि वही समस्त संसार मे परिव्याप्त है।

प्यारे रांम मनहीं रनां ।
कासूं कहूँ कहन कौं नाहीं, दूसर और जनां ।।टेक।।
ज्यूं दरपन प्रतिब्यंब देखिए, आप दवासूं सोई ।
संसौ मिट्यौ एक कौं एकै, महा प्रवै जब होई ।।
जौं रिझऊं तौ महा कठिन है, बिन रिझये थैं सब खोटी ।
कहैं कबीर तरक दोइ साधै, ताकी मति है मोटी ।।५४।।

शब्दार्थ—दरपन=दर्पण। प्रतिव्यँव=प्रतिविम्ब। ससौ=संशय। तरक=तर्क।

हे प्रभु ! मैं आपका महिमागान मन ही मन कर लेता हूं, मै किससे आपका गुण-वर्णन करूँ, कोई अन्य प्रभु-भक्ति मे अनुरक्त नही मिलता। जिस प्रकार दर्पण मे प्रतिविम्ब है, उसी भाँति इस ससार मे आपका प्रतिविम्ब है। ससार-भ्रम का नाश तो तभी हो सकता है जब महाप्रलय होकर सब-कुछ नष्ट हो जाय और केवल मात्र एक प्रभु ही शेष रह जाय। यदि मै प्रभु को अपने प्रेम द्वारा आकर्षित करने का प्रयत्न करूँ तो यह प्रेम-निर्वाह बडा कठिन है। कबीर कहते है कि जो व्यक्ति तर्क बल से ससार और प्रभु दोनों की सत्यता प्रमाणित करने का प्रयास करते है वे निर्बुध है, क्योंकि एकमात्र प्रभु से प्रेम ही मनुष्य का श्रेय है।

हंम तौ एक एक करि जांनां ।
दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजग, जिन नांहिन परिचांनां ।।टेक।।
एकै पवन एक ही पांनीं, एक ज्योति संसारा ।
एक ही खाक घड़े सब भांडे, एकही सिरजन हारा ।।
जैसें बाढी काष्ट ही काटै, अगिनि न काटै कोई ।
सब घटि अंतरि तूंही व्यापक, धरै सरूपै सोई ।।
माया मोहे अर्थ देखि करि, काहे कूं गरबांनां ।
निरभै भया कछू नहीं ब्यापै, कहै कबीर दिवांनां ।।५५।।

शब्दार्थ—दोई=द्वैत। दोजग=दोजख, नरक। खाक=मिट्टी। भाँड=पात्र। बाढी=बढई। अगिनि=अग्नि। तूंही=तू ही, ब्रह्मा। सरूपै=स्वरूप। अर्थ=धन। गरबाँना=गर्व करना, मिथ्या दम्भ के अर्थ मे प्रयोग।

कबीर कहते है कि हमने तो प्रभु को एक ही परब्रह्म के रूप मे जाना है। जो व्यक्ति प्रभु को एक से अधिक बताते है अथवा जो प्रभु और संसार दोनो को सत्य मानते हैं, वे नरक के अधिकारी है। ससार में एक ही पवन परिव्याप्त है एव जल भी एक ही है। समस्त ससार एक ही परम ज्योति के प्रकाश से अथवा एक ही सूर्य से प्रकाशित है। एक ही मिट्टी से सृजनकार ब्रह्म ने मनुष्यो के रूप मे विविध आकार के पात्रो का निर्माण किया है। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि प्रभु एक ही है। जिस प्रकार बढई काष्ठ की लकडी को ही काटता है, अग्नि को कोई नही काट सकता, उसी भाति भौतिक उपादानो को तो नष्ट कर सकते है किन्तु

परम ज्योति स्वरूप ब्रह्म को नष्ट नही किया जा सकता । हे प्रभु ! समस्त संसार के हृदय मे आपका वास है, एक प्रकार से समस्त संसार के रूप में प्रभु ही विविध रूपो मे भासित है । हे मनुष्य ! क्यो व्यर्थ मिथ्यादम्भ करता है, तेरा चंचल मन धन एवं अन्य माया प्रलोभनो मे सहज ही फस जाता है । कबीर कहते हैं कि प्रभु-प्रेमानुरक्त भक्त को किसी प्रकार का सांसारिक भय नही रह जाता, वह तो प्रभु-प्रेम मे ही लीन रहता है ।

अरे भाई दोइ कहां सो मोहि बतावौ,
विचिहि भरम का भेद लगावौ ।।टेक।।
जोनि उपाइ रची द्वै धरनीं, दीन एक बीच भई करनीं ।
रांम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई ।।
कहै कबीर चेतहु भौंदू, बोलनहारा तुरक न हिंदू ।।५६।।

शब्दार्थ—दोइ=दो, यहां तात्पर्य एक से अधिक का है, बहुदेववाद । तसबी =मुसलमानो के जपने की माला का विशेष नाम । भौंदू=मूर्ख,बुद्धू ।

कबीर कहते है कि हे बहुदेववादियो ! मुझे इस बात का उत्तर दो कि एक से अधिक भगवान् कहाँ से आ गये । यदि वह एक से अधिक है तो उसने एक से अधिक पृथ्वी का निर्माण क्यो नही किया । सब धर्मों का बिन्दु तो एक ही है, केवल मात्र उनकी आचरण पद्धति मे अन्तर है । हिन्दू और मुसलमानो ने अपने-अपने आराध्य को पृथक्-पृथक् स्वीकार कर इस सत्य को विस्मृत कर दिया और हठधर्मी से एक ने माला को और दूसरे ने तसबी को अपनाया । कबीर कहते हैं कि भेद बुद्धि रखने वाले हे भोदुओ ! (बुद्धुओ) मनुष्य के शरीर मे बोलने वाली आत्मा न तो हिन्दू है और न मुसलमान—वह तो इस भेद बुद्धि से परे है ।

ऐसा भेद बिगूचन भारी ।
बेद कतेब दीन अरू दुनियां, कौंन पुरिख कौन नारी ।।टेक।।
एक बूंद एकै मल मतूर, एक चाम एक गूदा ।
एक जोति थै सब उतपनां, कौन बांम्हन कौन सूदा ।।
माटी का प्यंड सहजि उतपनां, नाद रुव्यंद समांनां ।
बिनसि गयां थै का नांव धरिहौ, पढ़ि पुनि भ्रंम जांनां ।।
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सत गुन हरि है सोई ।
कहै कबीर एक रांम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई ।।५७।।

शब्दार्थ—बेद=चारो बेद । कतेब=किताब, कुरान, मुसलमानों का धर्म ग्रन्थ । बूंद=वीर्य की एक बूंद से तात्पर्य है । सूदा=शूद्र । प्यड=पिंड, शरीर । नाद=शब्द । रुव्यद=रुण्ड ।

कबीर कहते हैं कि भेद-बुद्धि ने भारी वितण्डावाद खड़ा कर रखा है । इस भेद-बुद्धि ने भारी विविध धर्म ग्रन्थो, मतो एव देशो मे विभेद कर रखा हैं ।

वास्तविकता यह ... स्त्री और पुरुष मे भी कोई अन्तर नहीं है, सब ही उस परब्रह्म के अश हैं।

समस्त मनुष्य एक ही वीर्य की बूंद से उत्पन्न हुए है। सब समान रूप से मल-मूत्र का त्याग करते है। सब मे एक ही चर्म और माँस समान ही है। सबका जन्म परम ज्योति स्वरूप एक ब्रह्म से ही है। फिर भला ब्राह्मण और शूद्र का अन्तर कैसा ? मिट्टी से सबके शरीर की उत्पत्ति एक समान भाव से ही होती है। सबके शरीर मे नाद-ब्रह्म की अवस्थिति है। यदि यह शरीर नष्ट हो गया तो मृत्यु के उपरान्त आत्मा को क्या सम्बोधन दोगे ? भाव यह है कि नाम-रूप का भेद मिथ्या है—सब में समान रूप से ब्रह्म का वास है। इस सत्य के होते हुए भी संसार व्यर्थ पोथी-ज्ञान मे उलझा हुआ है। हिन्दुओ का यह विश्वास कि ब्राह्मण मे रजोगुण, शकर मे तमोगुण एव विष्णु मे सतगुण प्रधान है—भ्रामक है। इसीलिए कबीर कहते है कि तुम एक परब्रह्म का ही भजन करो। हिन्दू और मुसलमान सब एक हैं, अतः उनके आराध्य भी एक ही हैं।

हंमारै रांम रहीम करीमा केसो, अहल रांम सति सोई।
इनकै काजी मुलां पीर पैकंबर, रोजा पछिम निवाजा।
इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा॥
तुरक मसीति देहुरै हिंदू, दहूठां रांम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नांहीं, तहां काकी ठकुराई॥
हिंदू तुरक दोऊ रह तूटी, फूटी अरू कनराई।
अरध उरध दसहूँ दिस जित तित, पूरि रह्या रांम राई।
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनीं रहि चलि भाई।
हिंदू तरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई॥५८॥

शब्दार्थ—हमारे=हमारे। करीमा=करीम। केसो=केशव। बिसमिल=बिस्मिल्लाह। बिस्म्भर=विश्वम्भर, विश्व का भरण पोषण करने वाला। मुलां=मुल्ला। पैकंबर=पैगम्बर, धर्मदूत। रोजा=रमजान के दिनो मे उपवास रखने को रोजा कहते है। दिज=द्विज, ब्राह्मण। मसीति=मस्जिद। देहुरे=देवालय। ठकुराई=प्रभुता, स्वामित्व। रहि=राह, मार्ग। करता=कर्त्ता, ब्रह्म।

कबीर यहाँ सब मत-मातान्तरो द्वारा आराधित प्रभु को नामों की विभिन्नता होते हुए भी गक ही मानते है। वे कहते है कि हमे तो प्रभु राम, रहीम, केशव, अल्लाह समस्त रूपो मे समान भाव से मान्य है। बिस्मिल्लाह न कहकर यदि उसे विश्वम्भर कर दिया जाय तो भी वह वही प्रभु रहेगा कोई दूसरा नही।

एक ओर मुस्लिमो के यहा काजी, मुल्ला, पीर तथा पैगम्बर एवं रोजा तथा पश्चिम दशा की ओर मुह उठाकर नमाज पढ़ने की मान्यता है तो दूसरी ओर हिन्दुओ के यहा पूर्व दिशा की ओर मुख करके ब्राह्मण और अन्य देवताओ की पूजा

विधि है और एकादशी व्रत तथा गगा स्नान की मान्यता है। भला एक ही प्रभु के लिए उपासना-पद्धति का यह व्यवधान कैसा ? मुसलमान मस्जिद एव हिन्दू मन्दिर मे प्रभु का वास मानते है। इस प्रकार वे राम और अल्लाह मे भेद उत्पन्न कर देते हैं। भला जहा मन्दिर और मस्जिद नही है, वहां किस प्रभु का शासन है? इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान व्यर्थ अपने वीच भेद की दीवार खड़ी कर त्रुटिपूर्ण आचरण करते है और परस्पर लडते हुए एक-दूसरे से कतराते रहते है।

भक्त कवीर दास जी कहते है कि मनुष्य ! तू अपने उचित मार्ग का अवलम्वन कर क्योंकि ऊपर नीचे अत्र-तत्र-सर्वत्र वही सर्वशक्तिमान् एक ही ब्रह्म वसा हुआ है। हिन्दू औ मुस्लिम दोनो का निर्माता एक ही ब्रह्म है, उसकी गति को कोई नही देख पाता।

काजी कौन कतेव वषांनै।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जांनै ॥टेक॥
सकति से नेह पकरि करि सुनति, यहु नवदूं रे भाई।
जौंर षुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपै कथि किन जाई॥
हौं तौ तुरक किया करि सुनति, औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिंदू रहिये।
छाड़ि कतेव रांम कहि काजी, खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कवीर भगति की, काजी रहे झष मारी॥५६॥

शब्दार्थ—कतेव=किताव, कुरान सरीफ। खून करते हो भारी=वहुत अन्याय करते हो। सुनति=मुसलमानो की सुन्नत की रस्म।

कवीर कहते है कि हे काजी ! क्यो व्यर्थ कुरान के पाठ के चक्कर में पड़े हुए हो ? इसका पाठ करते-करते तुम्हे न जाने कितना समय व्यतीत हो गया, किन्तु तुम अव भी प्रभु महिमा से परिचत नही हो सके। ये काजी शान्तिपूर्ववक वालक का खतना करते हैं, यह इनका आदर्श है। यदि तुर्क अपने प्रभुत्व का इसी प्रकार उपयोग करें तो काजी ही कट जाय, मार दिया जाय। यदि तुम तुर्क होकर खतनें कराने से पवित्र होते हो तो फिर स्त्री को क्या उत्तर दोगे ? अर्ध शरीर भाव ही अच्छा है। अत. हे मुसलमानो ! अपनी पवित्रता वनाने के लिए हिन्दुओ के आधे आचरण करो। हे मुल्ला ! तुम कुरान आदि धर्म-ग्रन्थो को छोड राम-नाम का जप करो, ऐसा न करने पर तुम भारी अन्याय कर रहे हो। कवीर कहते हैं कि मैंने तो भक्ति का दृढ सम्वल प्राप्त कर लिया है, धर्मनिष्ठ मुसलमान, काजी, मुझे मुसलमान वनाने का व्यर्थ उपक्रम करते रह गये।

विशेष—१ प्रथम दो पक्तियो मे पुस्तकी ज्ञान की निस्सारता पर जो वात कवीरदास जी ने यहा कही है, वही वात 'साखी' मे भी वड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत

की है, यथा—

"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
एकै अषर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥"

२. "छाड़ि कतेब······भारी" चरण से ज्ञात होता है कि कबीर की वैष्णव भक्ति मे कितनी दृढ़ और गहन आस्था थी। उनकी इस अटूट निष्ठा का द्योतक पद मे प्रयुक्त 'खून करत हो भारी' प्रयोग है। आगे वह इसी की पुष्टि करते हुए कहते है—"पकरी टेक कबीर भगति की।"

मुलां कहां पुकारै दूरि, रांम रहीम रह्या भरपूरि ॥टेक॥
यहु तौ अलह गूंगा नांही, देखै खलक दुनीं दिल माहीं।
हरि गुंन गाइ बंग मै दीन्हां, काम क्रोध दोऊ बिसमल कीन्हां॥
कहै कबीर यह मुलनां झूठा, रांम रहीम सबनि मै दीठा ॥६०॥

शब्दार्थ—अलह=अल्लाह। बग=बाँग बिसमिल=नष्ट करना दीठा=दृष्टिगोचर होता है।

कबीर कहते है कि हे मुल्ला जी! आप बाग देकर प्रभु को दूर से बुलाने का उपक्रम क्यों करते हो? उसे अल्लाह कहो या राम, वह तो सर्वत्र रमा हुआ है। यह अल्लाह गूंगा तो नही है, उसे तो समस्त ससार मे तथा अपने हृदय मे देखा जा सकता है। कबीरदास जी कहते है कि यह बाँग लगाने वाला मुल्ला भ्रम मे पडा हुआ है वह राम और रहीम सभी नामो को धारण करने वाला ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। अत. मैंने तो प्रभु का गुणगान कर बाग को अलग कर दिया है अर्थात् बाँग का मेरे लिए कोई प्रयोजन नही। प्रभु स्मरण से मेरे शत्रु काम तथा क्रोध भी समाप्त हो गये है।

विशेष—१."यह तो अल्लाह गूँगा नही" मे 'गूगा' शब्द के स्थान पर यदि' बहरा' शब्द होता तो अधिक उपयुक्त था क्योकि मुल्ला के बाग देने की बात कही गई है।

'खलक' दुनी' मे पुनरुक्ति दोष दृष्टिगत होता है। यदि इसका अर्थ इस प्रकार कर दिया जाय कि ससार उसे समस्त दुनिया मे और हृदय मे देखे तो यह दोष नही रहता।

पढि ले काजी बंग निवाजा,
एक मसीति दसौं दरवाजा ॥टेक॥
मन करि मका कबिला करि देही, बोलनहार जगत गुर येही।
जहाँ न दोजग भिस्त मुकांमां, इहां ही रांम इहां रहिमांनां॥
बिसमल तांमस भरंम कै दूरी, पचूं भषि ज्यूं होइ सबूरी।
कहै कबीर मै भया दिवांनां, मनवां मुसि मुसि सहजि समांनां ॥६१॥

शब्दार्थ—मसीति=मस्जिद। कबिला=कर्बला। दोजग=नरक।

कबीर कहते है कि हे काजी ! तू मसजिद मे जो नमाज पढ़ता है वह झूठी है, अब तू प्रभु नाम का स्मरण कर सच्ची नमाज पढ । इस एक शरीर रूपी मसजिद के दस द्वार हैं, उन सबसे यही राम नाम ध्वनि आनी चाहिए । तू मन को मक्का और शरीर को कर्वला के समान पवित्र तीर्थधाम बना ले । तेरे भीतर ब्रह्म का जो अंश आत्मा है वही तेरा पूज्य गुरु है । अतः तू अपना ध्यान वहा केन्द्रित कर, उस ब्रह्म में लगा, जहां न स्वर्ग है और न नरक । वह एक मात्र ब्रह्म ही राम और रहीम आदि नामो से पुकारा जाता है । तू अपनी समस्त तामसी वृत्तियो को समाप्त कर मायः-भ्रम को भगा दे । यदि तू पांचो इन्द्रियो से अर्थात् सम्पूर्ण चित्तवृत्तियो से प्रभ का भजन करेगा तो तुझे शान्ति प्राप्त होगी ।

कबीर कहते हैं कि मैं नो प्रभु-प्रेम का दीवाना हो गया हूं और मेरा मन चुपचाप—संसार से असम्पृक्त हो सहज समाधि में लीन रहने लगा है ।

मुलां करि ल्यौ न्याव खुदाई,
इहि बिधि जीव का भरम न जाई ॥टेक॥
सरजी आंनें देह बिनासै, माटी बिसमल कीता ।
जोति सरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता ॥
बेद कतेब कहौ क्यूं झूठा, झूठा जोनि विचारै ।
सब घटि एक एक करि जांनें, भौं दूजा करि मारै ॥
कुकड़ी मारे बकरी मारे, हक हक करि बोलै ।
सबै जीव सांईं के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै ॥
दिल नहीं पाक पाक नहीं चीन्हां, उसदा षोज न जांनां ।
कहै कबीर भिसति छिटकाई, दोजग ही मन मांनां ॥६२॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि हे मौलवी साहब ! इन बाह्याचारों के ढोग मे न पडकर ईश्वर के न्याय के अनुरूप आचरण करो । इस मिथ्याचार से जीवात्मा का भ्रम नष्ट नही होगा. उसे मुक्ति प्राप्त नही होगी । जीव-हत्या द्वारा तुमने उस परमेश्वर द्वारा निर्मित जीव के शरीर को नष्ट कर उसके शव को भी समाप्त कर दिया । इस हलाल करने का क्या लाभ, जब वह ज्योतिस्वरूप परम ब्रह्म ही तुम्हे दृष्टिगत नही हुआ । वेद, कुरान आदि शास्त्र-ग्रन्थो को झूठा कहने से क्या लाभ ? वस्तुत. झूठे वे नही, झूठे तो वे लोग है जो उन पर विचार नही करते । यदि आप सब प्राणिमात्र के हृदय मे एक उसी ब्रह्म की अवस्थिति मानते है तो जीवहत्या करते समय आप उसमे अपने जैसा ही प्राण क्यो नही मानते ? तुम बकरी और मुर्गी जैसे निरीह जीवो को मारकर भी धर्म और पुन्य की बाते बढ-चढ कर करते हो । समस्त जीवमात्र ही परमेश्वर को प्रिय हैं, ये निर्मम हत्याए कर तुम किस भाँति मुक्त हो सकोगे ? तुम्हारा हृदय तो स्वच्छ नही है और न तुम उस परम पवित्र प्रभु को पहचान पाये और न उसको

खोजने का कभी प्रयत्न ही किया। कबीर कहते है कि मुल्ला जी! आपने प्रभु और संसार मे (ससार के जीवो मे) द्वैत-भावना स्थापित कर भ्रम का वातावरण बना रखा है।

या करीम बलि हिकमति तेरी,
खाक एक सूरति बहु तेरी ॥टेक॥
अर्ध गगन मैं नीर जमाया, बहुत भांति करि नूरनि पाया।
अवलि आदम पीर मुलांनां, तेरी सिफति करि भये दिवांनां ॥
कहै कबीर यहु हेत बिचारा, या रब या रब यार हमारा ॥६३॥

शब्दार्थ—करीम=ईश्वर। वलि=वलिहारी। हिकमति=सराहनीय प्रयत्न, यहाँ माया से तात्पर्य। खाक=मिट्टी।

कबीर कहते है कि हे प्रभु! मैं तुम्हारी माया पर बलिहारी जाता हू। तुमने चित्र-विचित्र सृष्टि की रचना की है। इस ससार मे मिट्टी एक ही है, किन्तु उसी से ही तुमने विविध भाँति के जीव निर्मित कर दिये। तुम्हारी यह विचित्र माया ही तो है कि आकाश के कुछ भाग मे न जाने कैसे जलमय मेघों की सृष्टि कर दी। आपके ज्योतिस्वरूप का साक्षात्कार बडे प्रयत्न से ही हो पाता है। ससार मे जितने भी बली, आदम तथा अन्य पीर आदि श्रेष्ठ व्यक्ति हुए हैं, वे केवल आपकी कृपा और भक्ति से हुए है। कबीर कहते है कि इसीलिए मैंने आपकी प्रिय भक्ति को ही अपना लक्ष्य निर्धारित कर लिया है।

काहे री नलनीं तूं कुमिलांनीं,
तेरे ही नालि सरोबर पांनीं ॥टेक॥
जल मै उतपति जल मै बास, जल मैं नलनीं तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि ॥
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हंमारे जान ॥६४॥

शब्दार्थ—नलनी=कमलिनी। उदिक=जल।

कबीर कहते है कि हे कमलिनि! तू क्यो कुम्हला रही है? तेरी नासिका तो सदैव जलपूर्ण सरोवर मे रहती है। इस जल मे ही तेरा जन्म हुआ और जल मे ही तू प्रारम्भ से अन्त तक निवास करती है। तू तो थल की गरमी से भी दूर है और न सूर्य का ताप तुझे झुलसा सकता है (क्योकि रात्रि मे विकसित होती है) फिर तू किस कारण से सूखती जाती है। कबीर कहते है कि जो जल के समान ही हो गये, जल से एकरूप हो गये—जहाँ तक मेरा ज्ञान है, वे तो अमर ही हो गये हैं।

विशेष—१. यहाँ महात्मा कबीर ने अन्योक्ति के माध्यम से जीव की स्थिति के विषय मे प्रकाश डाला है। वे कहते है कि जीव! जब तू जलस्वरूप ब्रह्म के नित्य सम्पर्क मे है तो फिर तू व्यथित और भ्रमित क्यो है? यदि तू अपने को उस जल—ब्रह्म के ही समान कर ले अर्थात् अपनी आत्मा को पूर्ण शुद्ध कर उस अशी के समान ही बना दे तो तुझे कोई भव-बाधा न हो, तू मुक्त हो जाय।

२. अपने प्रसिद्ध पद—

"जल मे कुम्भ कुम्भ मे जल है, वाहर भीतर पानी ।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इति तथ कथ्यो ज्ञानी ॥"

मे भी कवीर ने यही प्रतिपादित किया है कि द्वैत का वन्धन हटते ही आत्मा परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेती है ।

इव तूं हसि प्रभू मैं कुछ नांहीं,
पंडित पढि अभिमान नसांहीं ॥टेक॥
मैं मै मै जव लग मैं कीन्हां, तव लग मैं करता नहीं चीन्हां ।
कहै कबीर सुनहु नरनाहा, नां हम जीवत न मूंवाले माहां ॥६५॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कवीर कहते है कि हे प्रभु ! मै कुछ नही हू, आप ही सर्वत्र हैं, आप ही समस्त चर-अचर के विधायक हैं—हे पडित ! तू इस सत्य का साक्षात्कार करके अपने अह को विदूपित कर दे । जव तक मैंने अह का परित्याग नही कर दिया तव तक मैं प्रभु के स्वरूप का साक्षात्कार नही कर पाया । कवीर कहते हैं कि हे श्रेष्ठ सतो ! सुनो मै इस अह-दर्प का परित्याग कर न जीवित—ससारसम्पृक्त और न मृत—ससार से असम्पृक्त की स्थिति मे हू अर्थात् जीवन्मुक्त हूं ।

विशेष—महात्मा कवीर द्वारा वर्णित यह जीवन्मुक्त स्थिति गीता के निष्काम योगी की सी दशा है ।

अव का डरौं डर डरहि समांनां,
जव थै मोर तोर पहिचांनां ॥टेक॥
जव लग मोर तोर करि लीन्हां, भै भै जनमि जनमि दुख दीन्हां ।
आगम निगम एक करि जांनां, ते मनवां मन मांहि समांनां ॥
जव लग ऊंच नीच करि जांनां, ते पसुवा भूले भ्रंम नांना ।
कहै कवीर मै मेरी खोई, तवहि रांम अवर नहीं कोई ॥६६॥

शब्दार्थ—मोर-तोर=मेरी-तेरी । आगम-निगम=वेद-शास्त्र । पसुवा=पशु के समान मूर्ख मनुष्य । मेरी=अह भावना ।

कवीर कहते हैं कि अव मैं जीवन्मुक्त स्थिति में आकर ससार के तापों तथा मायादिक के भय से भयभीत क्यो होऊँ ? मैं तो अह और पर की भावना को विदूरित कर भय-मुक्त हो गया हूं । जव तक मैं अह और पर जनित द्वैत भावना मे संलिप्त रहा तव तक मैं आवागमन चक्र मे पड़कर जन्म-मरण का दुःख भोगता रहा । आगम-निगम आदि जितने भी धर्म ग्रथ है उन सवकी एकमत मान्यता यही है कि वह परम प्रभु हृदय के भीतर ही अवस्थित है । जव तक मनुष्य मनुष्यो मे ही ऊँच और नीच का विभेद करता है तव तक वह मनुष्य नही अपितु नाना सशयो मे पड़ा हुआ पशुमात्र है ।

कबीर कहते है कि जब मैंने अहं का परित्याग कर समस्त चर-अचर को एक माना तब मुझे सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म दृष्टिगत हुआ।

विशेष—कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के निम्न भाव से तुलना कीजिए—

"एक ही तो असीम उल्लास, विश्व मे पाता विविधाभास।"

बोलनां का कहिये रे भाई, बोलत बोलत तत नसाई ॥टेक॥
बोलत बोलत बढ़ै विकारा, बिन बोल्यां क्यूं होइ बिचारा।
संत मिलै कछु कहिये कहिये, मिलै असंत मुष्टि करि रहिये ॥
ग्यानीं सूं बोल्यां हितकारी, मूरखि सूं बोल्यां झष मारी।
कहै कबीर आधा घट डोलै, भर्या होइ तौ मुषां न बोलै ॥६७॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि व्यर्थ तर्क से क्या लाभ, तर्कजाल मे उलझकर वास्तविक सत्य का नाश हो जाता है। व्यर्थ वक-वक करने से ही वितण्डा खडी होती है, किन्तु आप वोलें नही तो विचार-विमर्श कैसे हो? इसके विषय मे कवीर की नीति यह है कि यदि संत मिले तो उससे विचार-विमर्श कीजिए और यदि दुर्जन मिले तो चुप रहना ही श्रेयस्कर है। ज्ञान-सम्पन्न से तो वार्तालाप हितकारी और मूर्ख से तो वोलना झख मारना ही है। जिस प्रकार आधा भरा हुआ घट ही छलकने पर ध्वनि करता है और पूर्ण भरा होने पर वह न छलकता है और न वोलता है इसी भाँति ज्ञानी तो दूसरे की ज्ञानपूर्ण वात सुनकर चुप रहता है, उसका आदर करता है किन्तु जो ज्ञान से रिक्त है वह दूसरे की ज्ञानपूर्ण बात सुनकर उसे कुतर्क का विषय बना देता है।

विशेष—दृष्टात अलकार।

बागड़ देस लूवन का घर है,
तहां जिनि जाइ दाझन का डर है ॥टेक॥
सब जग देखौं कोई न धीरा, परत धूरि सिरि कहत अबीरा।
न तहां सरवर न तहां पांणीं, न तहां सतगुर साधू बांणीं ॥
न तहां कौकिल न तहां सूवा, ऊँचे चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा।
देस मालवा गहर गंभीर, डग डग रोटी पग पग नीर ॥
कहै कबीर घरहीं मन मांनां, गूंगै का गुड़ गूंगै जांनाँ ॥६८॥

शब्दार्थ—वगाड़ देश=सासारिक मोह-माया से युक्त संसार। लूवन=दुःखो का। मालवा=भक्ति का प्रदेश।

उस प्रिय के देश का मार्ग अग्नि के समान दाहक वाधाओं से परिपूर्ण है—साधन-स्थली पथ अत्यन्त विकट है। कवीर कहते है कि मैंने समस्त ससार को देखा किन्तु उसमे कोई ऐसा धैर्यवान् दृष्टिगत न हुआ जो उस पथ का अवलम्बन कर सके। कुछ प्रयत्न तो करते है किन्तु उसमें परिपक्वता के अभाव के कारण उन्हे असफलता

ही प्राप्त होती है। उस मार्ग मे श्रांत पथिक के परिश्रमशमनार्थ न तो कोई सरोवर है और न जल का कोई अन्य साधन एवं साधना मार्ग मे प्रवृत्त होने पर सद्-गुरु की उपदेश वाणी और सज्जनो के सत्सग का सम्वल भी शेष नही रहता। वहाँ कोयल की कलित काकली और तोते के रूपाकर्षण के लिए भी स्थान नही, अर्थात् किसी प्रकार का सुख उपलब्ध नही। वहाँ तो हसात्मा उच्चतर सोपान को प्राप्त करती जाती हैं। इस भाँति वह प्रभु का स्थान अत्यन्त कठिन साधना के उपरान्त लभ्य होता है। वहाँ पहुंचकर तो पग-पग तृप्ति ही तृप्ति है (डग-डग रोटी पग-पग नीर)। कबीर कहते हैं कि मेरा मन तो उसी स्थान पर रम रहा है, उस आनन्द का मैं वर्णन उसी प्रकार नहीं कर सकता जिस भाँति गूँगा मनुष्य गुड़ के मिठास को मन ही मन प्रसन्न हो सराहता है, उसे अभिव्यक्ति नही दे सकता।

विशेष—१ कबीर साधना मार्ग की विकटता बताकर साधक को उससे विमुख नही करते अपितु उस पथ की विषमताओ से उसे सचेत कर धैर्य, दृढ़ता, अटूट श्रद्धा आदि गुणो से परिपूर्ण कर ईश्वर-भक्ति पथ पर लगाना चाहते हैं।

२. लोकोक्ति अलंकार।

अवधू जोगी जग थे न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षंडै धारा ॥टेक॥
बसै गगन मैं दुनीं न देखै, चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नही छाड़ै, पीवै महा रस मींठा ॥
परगट कंथा मां हैं जोगी, दिल में दरपन जोवै।
सहंस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै ॥
ब्रह्म अगनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै ॥६६॥

शब्दार्थ—सरल है।

यहाँ कबीर हठयोगी साधना का वर्णन करते हैं कि योगी समस्त ससार से पृथक् आचरण करने वाला व्यक्ति है। उसका तो मुद्रा, इडा-पिंगला, शृगी और अनहद नाद से ही अटूट सम्बन्ध होता है।

वह तो साधना की मुद्रा ग्रहण कर शून्य मे लय लगाता है, इस प्रकार वह शून्य स्थल—ब्रह्मरन्ध्र—पर पहुचकर वहाँ स्रवित होने वाले अमृत का पान करता है। वह विरागी के वेश मे रहता हुआ हृदय मे उसी अनूप का दर्शन करता है। वह इक्कीस सहस्र छ सौ नाडियो मे अर्थात् सम्पूर्ण तन मन मे ईश्वर को रमा लेता है। इस भाँति जब वह ब्रह्म की अलखस्वरूप निरजन-ज्योति से शरीर को निर्मल कर लेता है तो त्रिकुटी में ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। कबीर कहते हैं कि वही साधक योगेश्वर है जो सहजावस्था को प्राप्त कर अपनी चित्तवृत्तियो को शून्य मे केन्द्रित कर देता है।

विशेष—दीपक अलकार।

अवधू गगन मंडल घर कीजै ।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीजै ॥टेक॥
मूल बांधि सर गगन समांनां, सुषमन यों तन लागी ।
काम क्रोध दोऊ भया पलीता तहां जोगणीं जागी ॥
मनवां जाइ दरीबै बैठा, मगन भया रसि लागा ।
कहै कबीर जिय संसा नांहीं, सबद अनाहद बागा ॥७०॥

शब्दार्थ—सरल है ।

हे अवधूत ! तुम शून्य—ब्रह्मरन्ध्र—को अपना स्थायी वास बना लो । वहाँ सदैव अमृत स्रवित होता है जिससे अमित आनन्द की प्राप्ति होती है । सुषुम्ना नाड़ी को वहाँ पहुंचाकर उसके द्वारा साधक को इस अमृत का पान करना चाहिए ।

मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी जागृत हो सुषुम्णा के माध्यम से ऊर्ध्वगामी हो गई जिसमें काम, क्रोध आदि विकारो ने जलकर पलीते का कार्य किया और इस विस्फोट द्वारा ही तो योगिनी-रूप कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था से जागृत हो गई । शून्य में पहुच कर मन उस सहजावस्था मे पहुच गया जहाँ अलख के दर्शन । आनन्द ही आनन्द विद्यमान है । कबीर कहते हैं कि इस अवस्था मे पहुचकर साधक के मन मे कोई भ्रम या माया का सशय नही रह जाता है और वह अनहद नाद के आनन्द मे लय हो परमात्म-स्वरूप हो जाता है ।

विशेष—१ 'मूल' मूलाधार चक्र से तात्पर्य, षट्चक्रो मे यह सबसे पहला होता है जहाँ कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था मे पडी रहती है ।

२ 'जोगणी'—कुण्डलिनी के लिए योग-साधना में बहुप्रयुक्त शब्द ।

३. 'सबद अनहद'—अनहद नाद, शून्य मे सुषुम्णा के माध्यस से कुण्डलिनी के विस्फोट करने पर अमृत स्रवण के साथ-साथ शरीर के रोम-रोम से 'अह ब्रह्मास्मि' जैसी ध्वनि उठती है, अथवा घण्टे के नाद जैसा शब्द सुनाई देता है, यही अनहद नाद कहलाता है । इस स्थिति मे पहुंचकर योगी स्वय के शरीर की दशा को भी भूल जाता है । उसे इस शब्द के अतिरिक्त अन्य कुछ सुनाई नही देता ।

कोई पीवै रे रस रांम नांम का, जो पीवै सो जोगी रे ।
संतौ सेवा करौ रांम की, और न दूजा भोगी रे ॥टेक॥
यहु रस तौ सब फीका भया, ब्रह्म अगनि परजारी रे ।
ईश्वर गौरी पीवन लागे, रांम तनीं मतिवारी रे ॥
चंद सूर दोइ भाठी कीन्ही, सुषमनि चिगवा लागी रे ।
अमृत कूं पी सांचा पुरया, मेरी त्रिष्णां भागी रे ॥
यहु रस पीवै गूंगा गहिला, ताकी कोई न बूझै सार रे ।
कहै कबीर महा रस मँहगा, कोई पीवैगा पीवणहार रे ॥७१॥

शब्दार्थ—परजारी=जलाई जाना सूर=सूर्य । चिगवा=पलिता त्रिष्णा=प्यास ।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-भक्ति के अनुपम रस का पान ही श्रेयस्कर है जो इसका पान करता है वही वस्तुत. योगी है। इसलिये हे साधुजनो ! तुम परम प्रभु की ही भक्ति करो अन्य कोई इस पूजा और भक्ति का पात्र नही है।

हृदय मे ईश्वर भक्ति जग जाने पर सासारिक विषय-वासनाओ के आकर्षण और रस निस्सार और छूछे अनुभव होने लगते हैं। शिव और पार्वती इस भक्ति रस का पान कर ही राम-नाम मे मदमस्त रहते हैं।

जब मैने इडा और पिगला की भट्ठी बनाकर प्रभु-भक्ति की अग्नि को सुषुम्णा के पलीते द्वारा प्रज्वलित किया तो मुझे अमृत की प्राप्ति हो गई, निरंजन ज्योति के दर्शन हो गये एव मेरी तृष्णाएं परितृप्त हो गई। इस अनुपम रस का पान तो कोई ऐसा व्यक्ति ही करेगा जिसे ससार पागल समझे और वह इस रस को पान कर गूंगा ही बन जाता है, उसे अभिव्यक्ति प्रदान नही कर सकता। कबीर कहते हैं कि इस महारस को प्राप्त करने के लिये महान् त्याग और संयम तथा अटूट भक्ति की आश्यकता है, इसीलिये यह कुछ महगा है। अत. विरले ही इसका पान कर पाते हैं।

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियारा ॥टेक॥
गुड़ करि ग्यांन ध्यांन कर महुवा, भव भाठी करि भारा।
सुषमन नारी सहजि समांनीं, पीवै पीवनहारा ॥
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुया महा रस भारी।
काम क्रोध दोइ किया वलीता, छूटि गई संसारी ॥
सुंनि मंडल मै मंदला वाजै, तहां मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनां काछै ॥
पूरा मिल्या तवै सुष उपज्यौ, तन की तपति बुझानी।
कहै कबीर भवबंधन छूटै, जोतिहि जोत समानी ॥७२॥

शब्दार्थ—उन्मनि=उन्मत्त हो कर, उन्मनी अवस्था मे। भव=संसार। सुनि =शून्य। प्रसादि=कृपा। ज्योतिहि=ज्योति मे, ब्रह्म मे।

कबीर यहाँ मदिरा खीचने की प्रक्रिया के रूपक द्वारा हठयोगी साधना से ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग बताते है कि हे अवधूत ! मेरा मन प्रभु-भक्ति मे मदमस्त है। वह उन्मनी अवस्था द्वारा शून्य मे पहुच अमृत का पान करता है। इस महारस के पान से मुझे प्रत्येक लोक का ज्ञान प्राप्य है। भाव यह कि सृष्टि के कण-कण का ज्ञान मेरे साधक को है।

अब कबीर मदिरा खीचने की विधि द्वारा बताते है कि किस भाँति मैने महा-रस को प्राप्त किया है। मैंने ज्ञान को गुड और ध्यान मो महुवा अथवा जौ बनाकर ससार को ही अपनी भट्टी बना लिया। इस भट्टी मे अग्नि प्रज्वलित करने के लिए काम और क्रोध (को नष्ट कर) का पलीता बना दिया एव इंगला-पिंगला का

समन्वय कर इस भट्टी को तैयार किया। इस साज के पूरा हो जाने पर अमृत का स्रवण होने लगा। सुषुम्णा नामक नाड़ी सहजावस्था मे पहुच गई और इस प्रकार मैंने इस महारस का पान किया। इस अमृत पान से मुझे ज्ञात हुआ कि शून्य—ब्रह्म-रन्ध्र मे अनहद नाद हो रहा है जिसकी ध्वनि से मेरा मन आत्म-विस्मृत हो प्रभु मे लीन हो गया। इस भाँति गुरु कृपा से यह अमृत प्राप्त किया और सुषुम्णा सहजा-वस्था मे ही रहने लगी। कबीर कहते है कि इस भाति अंशी मे, आत्मा के परमात्मा मे विलय हो जाने से मनुष्य विमुक्त हो जाता है। किन्तु यह सब तभी सम्भव है, भव-ताप और बन्धन तभी नष्ट हो सकते है जब कोई ज्ञान-परिपूर्ण पथ-प्रदर्शक सद्गुरु मिले।

विशेष—साग रूपक अलकार।

छाकि पर्यो आतम मतिवारा,
पीवत रांम रस करत विचारा ॥टेक॥
बहुत मोलि महँगे गुड़ पावा, लै कसाब रस रांम चुवावा।
तन पाटन मै कीन्ह पसारा, मांगि मांगि रस पीवै बिचारा।
कहै कबीर फाबी मतिवारी, पीवत रांम रस लगी खुमारी ॥७३॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि मेरी आत्मा प्रभु भक्ति का रसपान कर मदमस्त है। यह इस प्रेम-रस का पान कर प्रभु का ही विचार करती है। मैंने बहुत मूल्य चुका कर गुरुचरणो मे बैठ और सत्संग से यह ज्ञान का मूल्यवान् गुड खरीदा है एवं योग साधना के अन्य साधनो द्वारा अमृत को प्राप्त किया। शरीर रूपी वस्त्र मे रस के लिये इतनी तृष्णा बढ़ गई है कि वह मांग-माग कर उसका पान करती है। राम रसा-यन से मदमस्त फक्कड़ कबीर कहता है कि राम-भक्ति रस का पान करने पर उसका नशा ऐसा चढ़ता है कि फिर उतरता नही।

बोलौ भाई रांम की दुहाई।
इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूँ न अघाई ॥टेक॥
इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारि।
ससि हर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी ॥
मन मतिवाला पीवै रांम रस, दूजा कछू न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई ॥
पंच जनै सो संग करि लीन्हे, चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी ॥
सहज सुंनि मै जिनि रस चाष्या, सतगुर थै सुधि पाई।
दास कबीर इहि रसि माता, कबहुँ उछकि न जाई ॥७४॥

शब्दार्थ—अघाई=तृप्ति। द्वार दस=शरीर के दस द्वार—दो आँख, दो नासिका-विवर दो कर्ण-छिद्र एक मुख, एक मलद्वार, एक मूत्रद्वार एवं एक ब्रह्मरन्ध्र

या दशम द्वार। उलटी गग=कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति। पंच जाने=पाँच इन्द्रियाँ। नागिन=कुण्डलिनी।

कबीर कहते है कि हे भाइयो! प्रभु की भक्ति करो, क्योंकि इस अनुपम भक्ति रस का पान कर शिव और सनकादिक जैसे भी आजतक परितृप्त नही हुए। उनकी कामना है कि अभी इस रस का पान और करें, और करें। हृदय में ब्रह्म ज्योति प्रज्वलित कर इडा और पिंगला नाडियो की भट्टी बना ली। इगला-पिंगला के मध्य सुषुम्णा के द्वारा कण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी कर सहजावस्था की प्राप्ति की। इस प्रकार सुषुम्णा के माध्यम से कुण्डलिनी द्वारा ब्रह्मरन्ध्र मे विस्फोट से अमृत का स्रवण होने लगा। प्रभु-भक्ति मे मस्त मेरा मन उस महारस के पान से संसार के समस्त रसो के आनन्द को भूल गया। इस अमृत पान के साथ-साथ पाचों इन्द्रियां भी तल्लीन थी। इस महारस से ही ये सव झूम रही थी। इस भाँति सुषुप्त कुण्डलिनी जागृत हो गई। सद्गुरु से ज्ञान लाभ कर ही साधक इस सहज शून्य के अनुपम रस को प्राप्त कर सकता है। दास कबीर तो इसी रस को पान कर मदमस्त है, इसकी खमारी कभी नही जा सकती।

रांम रस पाईया रे, ताथैं विसरि गये रस और ॥टेक॥
रे मन तेरा को नहीं, खैंचि लेइ जिनि भार।
बिरषि बसेरा पंषि का, ऐसा माया जाल॥
और मरत का रोइए, जो आया थिर न रहाइ।
जो उपज्या सो विनसिहै ताथैं दुख करि मरै बलाइ॥
जहां उपज्या तहां फिरि रच्या रे, पीवत मरदन लाग।
कहै कबीर चित चेतिया, ताथैं रांम सुमरि वैराग॥७५॥

शब्दार्थ—रस=लौकिक आनन्द। बिरषि=वृक्ष। पंषि=पक्षी। थिर=स्थिर, अमर।

कबीर कहते है कि मैंने राम रस की प्राप्ति कर ली, है, इससे मुझे अन्य सांसारिक तुच्छ रस विस्मृत हो गये। आगे कबीर मन को प्रबोध देते कहते है कि हे मन! तेरा इस ससार मे कोई नही है फिर तू क्यो व्यर्थ मे दूसरो का बोझ ढोता है, उनके लिये क्यो अनेक पाप कर्म करता है। इस ससार का माया जाल तो ऐसा है जैसे पक्षी का रात को किसी पेड़ पर अल्प समय का बसेरा! मनुष्यो के मरने पर दुःख भी क्यो किया जाय, यहाँ तो जो भी आया है वह तो जायगा ही। जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही मरेगा अतः शोक करना वृथा है। यह जन्म-मरण, सृजन-संहार का क्रम अटूट है किन्तु फिर भी लोग वस्तुस्थिति भूलकर इसका रसपान करने मे लगे हैं। कबीर कहते हैं कि चित्त जब तक सावधान हो कर विषय वासना का परित्याग नंही कर देता तब तक प्रभु भक्ति कहाँ? अतः निर्मल मन से प्रभु का भजन ही श्रेय है।

राम चरन मनि भाए रे।
अस ढरि जाहु रांय के करहा, प्रेम प्रीति ल्यौ लाये रे ।।टेक।।
आब चढ़ी अंबली रे अंबली, बबूर चढ़ी नग बेली रे।
द्वै थर चढि गयौ रांड कौ करहा, मनहु पाट की सैली रे ।।
कंकर कूई पतालि पनियां, सूनै बूंद बिकाई रे।
बजर परौ इहि मथुरा नगरी, कांन्ह पियासा जाई रे ।।
एक दहिड़िया दही जमायौ, बुहरी परि गई साई रे।
न्यूंति जिमाऊं अपनौं करहा, छार मुनिस की डारी रे ।।
इहि बंनि बाजै मदन भेरि रे, उहि बनि बाजै तूरा रे।
इहि बंनि खेलै राही रुकमनि, उहि बंनि कान्ह अहीरा रे ।।
आसि पासि तुरसी कौ बिरवा, माँहि द्वारिका गांऊं रे।
तहां मेरौ ठाकुर रांम राइ है, भगत कबीरा नांऊं रे ।।७६।।

शब्दार्थ—मनि=मन को। अम्बली=आम । नगवेली=आकाश बेल। करहा=करघा। पाट की सैली=ऊन, रेशम या बालो की एक माला सी जिसे योगी गले अथवा शीश पर धारण करते है। कूई=कुईया, छोटा कुआँ। बजर=आग लगाना। न्यूति=निमन्त्रण। रुकमनि=श्री कृष्ण भगवान् की प्रियतमा किन्तु यहा माया से तात्पर्य। कान्ह अहीरा=यहाँ ब्रह्म से अर्थ। तुरसी=तुलसी, एक सुगन्धित एवं पूज्य पौधा।

कबीर कहते है कि मेरे मन को रामचरण, प्रभु भक्ति अत्यन्त प्रिय है। मैं प्रभु में अपनी समस्त चित्तवृत्तियाँ केन्द्रित कर उन्ही के रग में रंग जाऊँ, यह मेरी इच्छा है। जो लता आम जैसे सुमधुर फल के वृक्ष का अवलम्बन करती है, वह तो आम के समान ही मधुर ही हो जाती है और जो शूलयुक्त बबूल वृक्ष का आश्रय लेती है वह तो व्यर्थ की आकाश बेलि ही बनती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रभु भक्ति का आश्रय लेते है वे मुक्ति का मधुर फल प्राप्त करते हैं और सासारिकता के मार्ग का अवलम्बन करने वाले भावबाधाओं के शूलो से विद्ध होते हैं।

अब आगे वे योग साधना का रूपक बाधते हुए कहते हैं कि इडा और पिंगला सुषुम्णा से सम्बद्ध हो गई एव मन ही स्वय सेल्ही बन गया (जिसे योगी गले अथवा शीश पर धारण करते हैं)। मूलाधार चक्र मे कुण्डलिनी रूपी पनिहारिन है जिसे शून्यदेश मे अमृतोपम जल लेने जाना है। इस ससार रूपी मथुरा नगरी मे तो आग ही लग जाय क्योकि जीव की यहाँ तृप्ति नही होती, उसकी वास्तविक तृप्ति तो उस शून्य मे स्रवित अमृत का पान करने से होती है। इस ससार रूपी वन मे तो रुक्मिणी-माया—का नृत्य हो रहा है और उस शून्य लोक मे, ब्रह्मलोक मे ब्रह्मपुरी कृष्ण का लीलाप्रसार हो रहा है उस द्वारिकापुरी—ब्रह्मलोक—मे सर्वत्र तुलसी के पवित्र मादप महक रहे है। वही पर मेरे स्वामी-ब्रह्म का निवास है, मैं उन्ही की भक्ति करता हूं।

विशेष—(१) द्वारिका—कुछ राजनैतिक कारणों मे भगवान् कृष्ण ने मथुरा छोड़कर इस नगरी को अपनी राजधानी बना लिया था। पोरबन्दर से लगभग २३ मील दक्षिण समुद्र मे इस स्थान की अवस्थिति मानी जाती है। कहते है कि श्रीकृष्ण के निधनोपरान्त यह पुरी समुद्र जल मे मग्न हो गई। जिस प्रकार कबीर साहित्य के संदर्भ मे राम-कृष्ण,आदि वैष्णव नाम भिन्न अर्थ रखते है उसी प्रकार वैष्णव तीर्थ-स्थल भी कबीर काव्य मे भिन्नार्थ रखते है—अधिकाशतः उनका प्रयोग ब्रह्मलोक के अर्थ मे ही हुआ है।

(२) दृष्टान्त,रूपक अलकार।

थिर न रहै चित थिर न रहै, च्यंतामणि तुम्ह कारणि हो।
मन मेले मैं फिरि फिरि आहौं, तुम सुनहुँ न दुख बिसरावन हो ॥टेक॥
प्रेम खटोलवा कसि कसि बांध्यौ, बिरह बान तिहि लागू हो।
तिहि चढ़ि इंदऊँ करत गवंसियां, अंतरि जमवा जागू हो ॥
महरू मछा मारि न जानैं, गहरैं पैठा धाई हो।
दिन इक मगर मछ लै खैहै, तब को रखिहै बंधन भाई हो ॥
महरू नाम हरद्दये जानैं, सबद बूझै बौरा हो।
चारैं लाइ सकल जग खायौ, तऊ न भेटि निसहुरा हो ॥
जौ महाराज चाहौ महरईये, तौ नाथौ ए मन बौरा हो।
तारी लाइकैं सिष्टि बिचारौ, तब गहि भेटि निसहुरा हो ॥
टिकुटी भई कांन्ह कै कारणि, भ्रंमि भ्रंमि तीरथ कीन्हा हो।
सो पद देहु मोहि मदन मनोहर जिहि पदि हरि मैं चीन्हा हो ॥
दास कबीर कीन्ह अस गहरा, बूझै कोई महरा हो।
यहु संसार जात मै देखौं, ठाढा रहौ कि निहुरा हो। ॥७७॥

शब्दार्थ—थिर=स्थिर। च्यतामणि=चिन्तामणि, ब्रह्म। मैंले=मेले। फिरिफिरि=वारम्वार। खटोलवा=खटोला, खाट का छोटा रूप। बान=पतली-पतली रस्सियो को जिनसे खाट बुनी जाती है बान कहते है। जमवा=यम, कुभावनाएं महराईये=दया करना।

हे प्रभु! आपके दर्शनो के लिये व्याकुल मेरा यह मन स्थिर नही रहता, भ्रमित होता रहता है। हे दुःखमोचन प्रभु! आप मेरी पुकार सुनते नही, आप मेरे मन के मेले मे वारम्वार आकर दर्शन दीजिये। मैंने प्रेम रूपी खटोला बडे प्रयत्न से तैयार किया है जिसमे विरह का बान लगाकर इसे स्थायित्व प्रदान किया है। इस प्रेम-खटोले पर चढकर मेरी समस्त इन्द्रिया आपसे मिलने के लिए प्रस्थान करती है किन्तु तभी मन में विषय-वासनाओ के रूप मे यम का आविर्भाव हो जाता है। श्रेष्ठ व्यक्ति—प्रभु भक्ति मे लीन भक्त—सरिता के तट पर उथले जल मे मछलिया—सासारिक क्षणिक आनन्द—प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य नही बनाता अपितु वह तो गहरे पैठ कर हरि-हीरा ही प्राप्त करता है। उसी को वास्तव मे सद्गुरु जानो

जो सन्तों के उपदेश (सबद) को हृदयंगम करता हो। समस्त संसार चारो अवस्था मे पड़ नष्ट हो रहा है किन्तु तो भी उसे ब्रह्म दर्शन नहीं होता। हे प्रभु ! यदि आप मुझ पर दया करना चाहते हैं तो इस मन को प्रबोध देकर उचित मार्ग पर लगा दो। मैं आपका ही ध्यान करता हुआ आपको प्राप्त करूं। मैं व्यर्थ भ्रमित होकर तीर्थों में भटकता रहा, किन्तु मुक्ति तो ब्रह्म-ध्यान से होती है। हे प्रभु ! आप मुझे वही अवस्था प्रदान करो जिसमें मैं आपसे साक्षात्कार कर सकू।

कबीर कहते कि कोई श्रेष्ठ व्यक्ति ही कबीर की इस गम्भीर बात को समझ सकता है। मैं इस संसार को पतन-मार्ग पर जाता हुआ देखता हूं। हे प्रभु ! मैं भी इन लोगों की श्रेणी में ही सम्मिलित हो जाऊं, या आप मुझे कृपा कर सद्बुद्धि प्रदान कर रहे हैं जिससे मैं मुक्त हो सकूगा।

बीनती एक रांम सुंनि थोरी, अब न बचाइ राखि पति मोरी ॥टेक॥
जैसे मंदला तुमहि बजावा, तैसे नाचत मैं दुख पावा ॥
जे मसि लागी सबै छुड़ावौ, अब मोहि जिनि बहु रूपक छावौ ॥
कहै कबीर मेरी नाच उठावौ, तुम्हारे चरन कवल दिखलावौ ॥७८॥

शब्दार्थ—थोर=थोड़ी, अल्प। मदला=वाद्य विशेष। मस=स्याही, पाप।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मेरी थोडी सी प्रार्थना सुन लीजिए, अब आप मुझसे दूर मत रहो और मेरी लाज रख लो। आपकी माया ने जो आकर्षण जाल फैलाया, मैं उसी के फेर मे पड़कर बहुत दुखित हुआ। मेरी जितनी भी पाप-कालिमा है आप कृपापूर्वक उसे छुड़ाकर मुझे विविध योनियो के जन्म-मरण से विमुक्त कर दो। कबीर कहते हैं कि प्रभु ! आप मुझे अपने चरण-कमलो के दर्शन करा कर इस संसार-प्रपंच से मुक्त कर दो।

मन थिर रहै न घर ह्वै मेरा, इन मन घर जारे बहुतेरा ॥टेक॥
घर तजि बन बाहरि कियौं बास, घर बन देखौं दोऊ निरास ॥
जहां जांऊं तहां सोग संताप, जुरा मरण कौ अधिक बियाप।
कहै कबीर चरन तोहि बंदा, घर मैं घर दे परमांनंदा ॥७९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर यहां यह बताते हैं कि मन आनन्द की खोज मे व्यर्थ बाहर भटकता है जबकि वास्तविक आनन्द—परमानन्द ब्रह्म—मन मे ही है।

वे कहते है कि यह मेरा चित्त स्थिर नही रहता, इसकी इस अस्थिरता ने बहुत से सुख नष्ट कर दिये। इसने आनन्द की खोज मे घर—अन्तर—का परित्याग कर संसार के चक्कर काटे, फलस्वरूप घर और बाहर दोनो स्थान पर इसे निराशा ही प्राप्त हुई। जहाँ-जहाँ मैं जाता हू वही-वही शोक और सांसारिक ताप विद्यमान है और ससार मे वही जरा-मरण के द्वारा आवागमन का चक्र चल रहा है। कबीर कहते है कि हे प्रभु ! अब मैं आपके श्री चरणो की वन्दना करता हूं अतः आप मुझे हृदय में ही दर्शन दीजिए।

कसैं नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष विचषन नारी ॥टेक॥
बैल वियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ।
मकड़ी घरि माषी छछि हारी, मास पसारि चील्ह रखवारी ॥
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै साप पहरइया।
नित उठि स्याल स्यंघ सूं भूझै, कहै कबीर कोई विरला बूझै ॥८०॥

शब्दार्थ—विचषन=विचक्षण, चतुरा। नारी=माया रूपी स्त्री। मकडी घरि=कुण्डलिनी। छछि हारी=छाछ रूपी अमृत का व्यापार।

कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु के पावन नगर मे किस प्रकार प्रवेश करूं (क्योंकि मार्ग मे अनेक बाधाएं हैं)। यह जीवात्मा अत्यत चचल है और इसको पथ-भ्रष्ट करने वाली माया जैसी चतुर स्त्री है जो विविध आकर्षणो मे इसे अपने वश में करना चाहती है।

ईश्वर से ही समस्त जगत की उत्पत्ति हुई है, माया से नही, वह तो बन्ध्या ही रही। त्रिकाल मे अर्थात् सर्वदा ईश्वर से, ब्रह्म से ही फल प्राप्ति होती है। ब्रह्म रन्ध्र (मकडी घरि) कुण्डलिनी (माषो) अमृत (छाछि) का व्यापार कर रही है। सासारिक प्रलोभनो से रक्षा सुषुम्णा (चील) ही करती है; क्योंकि उसी मे समस्त मनःप्रवृत्तियाँ केन्द्रीभूत हो जाती हैं। सांसारिक पुरुषो की स्थिति ऐसी है कि वे माया-रूपी नौका मे बैठे हुए हैं और उसका खेवनहार भी विषय-वासना संचालित मन है। अज्ञानान्ध जीव सोता रहता है और नित्यप्रति उठकर जीव रूपी शृगाल संसार के महान् आकर्षण रूपी सिंह से सघर्ष करता है। कबीर कहते हैं कि इस पद का भाव कोई विरले ही समझ सकते हैं।

भाई रे चूंन विलूंटा खाई,
बाघनि संगि सबहिन कैं, खसम न भेद लहाई ॥टेक॥
सब घर फोरि विलूंटा खायौ, कोई न जांनै भेव।
खसम निपूती आंगणि सूती, राड न देई लेव ॥
पाड़ोसनि पनि भई बिरांनीं, मांहि हुई घर घालै।
पंच सखी मिलि मंगल गांवै, यहु दुख याकौं सालै ॥
द्वै द्वै दीपक घरि घरि जोया, मंदिर सदा अंधारा।
घर घेहर सब आप सवारथ, बाहरि किया पसारा ॥
होत उजाड़ सबै कोई जानै, सब काहू मनि भावै।
कहै कबीर मिलै जे सतगुर, तौ यहु चून छुड़ावै ॥८१॥

शब्दार्थ—चून=पुण्य,—सतकर्मो का पुण्य। विलूटा=माया। खाई= नष्ट कर देता है। बाघनि=माया। खसम=स्वामी, पति, ईश्वर। लहाई=प्राप्त किया। भेव=भेद।

कबीर कहते हैं कि हे भाई! समस्त सत्कर्मो के पुण्य को यह मायारूपी बिल्ली खाये जा रही है, नष्ट कर रही है। यह माया सबके साथ लग जाती है

इस प्रकार कोई भी ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर पाता। इस शरीर आगार को माया के विविध आकर्षण नष्ट कर रहे है। इस भेद को कोई नही जानता। ईश्वर रूपी स्वामी तो पुत्रहीन है अर्थात् उसका आगन सूना है, अर्थात् वह ममत्व-बधन मे नही पडता। यह माया किसी को प्रभु का पुत्र नही बनने देती। इसी भावना से निकट का व्यक्ति भी कभी-कभी दूर का हो जाता है और माया जीव और ब्रह्म के मध्य दीवार खडी करने मे सफल हो जाती है। पाचो ज्ञानेन्द्रिया अपने-अपने स्वाद मे लिप्त रह मोद मनाती हैं। यह स्थिति भक्त को अच्छी नही लगती।

संसार के व्यक्ति अपने-अपने घरो मे तो प्रकाश करने के लिए कई-कई दीपक प्रज्वलित करते है, किन्तु उनके हृदय मन्दिर में सदैव अज्ञानाधकार रहता है। मनुष्य अपनी पहुच के भीतर तो स्वार्थ-साधना मे तत्पर रहता ही है, साथ ही बाहर भी उसी की पूर्ति करना चाहता है। जब व्यक्ति सर्वथा नष्ट हो जाता है तो सब उसकी मूर्खता पर प्रसन्न होते है। कबीरदास जी कहते है कि यदि कोई सद्गुरु मिल जाय वही इस माया से सत्कर्मों के आटे (पुण्य) को बचा सकता है।

बिषिया अजहूँ सुरति सुख आसा,
हूँण न देइ हरि के चरन निवासा ॥टेक॥

सुख मांगे दुख पहली आवै, तायै सुख मांग्या नहीं भावै।
जा सुख थै शिव बिरंचि डरांनां, सो सुख हमहुँ सांच करि जाना ॥
सुखि छ्याड्या तब सब दुख भागा, गुर के सबद मेरा मन लागा।
निस बासुरि बिषैतनां उपगार, बिषई नरकि न जातां बार ॥
कहै कबीर चंचल मति त्यागी, तब केवल रांम नांम ल्यौ लागी ॥८२॥

शब्दार्थ—हूण न देइ=होने नही देता। बिरच=ब्रह्मा। बासुरि=दिन।

कबीर कहते है कि मेरा मन अब भी विषय-वासना जनित आनन्द-प्राप्ति की आशा मे भटक रहा है इसीलिए यह मुझे प्रभु-चरणो का आश्रय नही लेने देता।

मुझे वह विषय-वासना का सुख रुचिकर नही, जिसकी इच्छा करने पर दुख पहले मार्ग मे आता है। जिस विषय-वासना के रसानन्द से शिव एवं ब्रह्मा जसे महान् देव भी भयभीत हो प्रार्थना करते है कि इस सुख से हमे बचाओ, मैं उसी सुख को वास्तविक सुख मान बैठा। सासारिक सुख का परित्याग करने पर ही मेरे समस्त भव-ताप नष्ट हो गये और मन गुरु के उपदेशानुसार चलने लगा। हे मनुष्य यदि तू निशिदिन विषय-वासना मे सलिप्त न रहता तो नरक का भागी न होता। कबीर कहते है कि जब मैंने चचल बुद्धि का जो विषय-वासनाओ मे भटकती रहती थी, परित्याग कर दिया, तभी मेरी राम से लगन लगी।

तुम्ह गारड मै विष का माता, काहे न जिवावौ मेरे अंमृतदाता ॥टेक॥
संसार भवगम डसिले काया, अरु दुख दारन व्यापै तेरी माया।
सापनि एक पिटारै जागै, अह निसि रोवै ताकूं फिरि फिरि लागै ॥
कहै कबीर को को नही राखे, रांम रसांइन जिनि जिनि चाखे ॥८३॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! माया के सांप द्वारा काटे गये आप मेरे विष का अन्त क्यो नही कर देते; क्योकि आप उस सर्प के लिए गरुड-स्वरूप हैं। हे अमृत-मय प्रभु ! आप मेरा उद्धार कीजिए। यह समस्त संसार सर्प है जो जीव के शरीर को डसता है, विषयुक्त कर देता है। फिर ऊपर से तेरी माया अनेक दारुण दुखो से व्यथित करती है। इस ससार के पिटारे मे माया-रूपी सर्पिणी का स्थायी वास है, उसके दंश से मानव दिन-रात रोता है, किन्तु फिर भी वारम्वार उसका ही आलिगन करता है।

कबीरदास जी कहते है कि इस माया—सर्पिणी से वही वच सकते हैं जिन्होने प्रभु-भक्ति का मधुर रसायन चखा है।

माया तजूं तजी नहीं जाइ,
फिर फिर माया मोहि लपटाइ ॥टेक॥
माया आदर माया मांन, माया नहीं तहां ब्रह्म गियांन।
माया रस माया कर जांन, माया कारनि तजै परान ॥
माया जप तप माया जोग, माया वांधे सबही लोग।
माया जल थलि माया आकासि, माया व्यापि रही चहूँ पासि ॥
माया माता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता।
माया मारि करै व्योहार, कहै कबीर मेरे रांम अधार ॥८४॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर यहाँ माया-प्रभाव का उल्लेख करते कह रहे हैं कि माया का यद्यपि मैं परित्याग करना चाहता हूं किन्तु उसका आकर्षण इतना प्रबल है कि वह वारम्वार मुझे अपने मे सलिप्त कर लेती है ससार मे मनुष्य ने माया को ही आदर और सम्मान सब कुछ समझ लिया है। जहा माया का प्रभाव नही है, वही प्रभु का ज्ञान प्राप्त हो गया है। माया मे ही समस्त रस और माया मे ही समस्त आनन्द मानकर व्यक्ति उसके लिए प्राण भी छोड देता है। आज माया ही जप, तप और योग सब कुछ बन गई है—इस भांति माया ने समस्त जगत् को अपने वंधन मे बाध रखा है। माया पृथ्वी, समुद्र, आकाश सर्वत्र अपना प्रभाव दिखा रही है। संसार मे समस्त सम्वन्ध —माता, पिता, पत्नी और पुत्री माया जनित मिथ्या है। कबीर कहते हैं कि मैं माया को नष्ट कर आचरण करता हू और मेरे एकमात्र आधार प्रभु ही हैं।

ग्रिह जिनि जांनौ रूड़ौ रे।
कंचन कलस उठाइ लै मंदिर, रांम कहै बिन धूरौ रे ॥टेक॥
इन ग्रिह मन डहके सबहिन के, काहू कौ पर्यौ न पूरौ रे।
राजा रांणां राव छत्रपति, जरि भये भसम कौ कूरौ रे ॥
सबथैं नींकी संत मंडलिया, हरि भगतनि कौ भेरौ रे।
गोविंद के गुन बैठे गैहैं, खैहैं टूकौ टेरौ रे ॥

ऐसैं जांनि जपौ जग-जीवन, जम सूं तिनका तोरौ रे।
कहै कबीर रांम भजबे कौं, एक आध कोई सूरौ रे ॥८५॥

शब्दार्थ—ग्रिह=भवन। खड़ौ=सूने, भयानक। धूरी=धूल के समान। नीकी=अच्छी। जम=मृत्यु।

उन स्वर्ण-कलाशधारी मन्दिरो को जिनमे राम नाम, प्रभु-नाम का उच्चारण नही होता वे केवल ककर-पत्थर से बने भूतो के घर हैं। इन मन्दिर नामधारी घरों ने सबके ही चित्तको भ्रमित किया है, किन्तु ये किसी को भी तत्वदर्शन न करा सके। राजा, ताल्लुकेदार एवं अन्य छत्रपति समस्त ही मृत्यु के पश्चात् जल कर भस्म के ढर मात्र रह गये—उनका कोई आज अस्तित्व भी नही। इन सवसे श्रेष्ठ तो सन्त-समूह है। वे बेचारे रूखी-सूखी खाकर आनन्दसहित प्रभु का गुणगान करते हैं। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! प्रभु को इस प्रकार भक्तिभाव से भजो कि संसार बंधन से मुक्त हो जाओ। वे आगे कहते हैं कि प्रभु-भजन करने के लिए तो कोई एकाध विरला ही तत्पर होता है।

रजसि मींन देखि बहु पांनीं, काल जाल की खबरि न जांनीं ॥टेक॥
गारै गरब्यौ औघट घाट, सो जल छाड़ि विकानौं हाट।
बंध्यौ न जांनै जल उदमादि, कहै कबीर सब मोहे स्वादि ॥८६॥

शब्दार्थ—सरल है।

संसार-जल मे लिप्त रहने वाले मछलीरूपी जीव विषय-वासना का आकर्षण देखकर उसमे फंस गया, किन्तु उसने काल, मृत्यु-रूप जाल का भय न जाना। भाव यह है कि यदि यह इस काल-पाश से परिचित होता तो विषय-वासना रूप जल में न पड़ता। प्रभु भक्ति के तट पर जाकर मनुष्य के मिथ्या अहं का नाश हो जाता है। इसलिए जीव रूपी मछली को इस विषय-जल को छोड यहाँ से, संसार से चल देना चाहिए। कबीर कहते है कि जो ससार बन्धन में बधा हुआ है वह प्रभु भक्ति के रहस्य को नही जान पाता। कबीर कहते हैं कि सब मनुष्य संसार के माया-मोह में पड़े हुए है।

काहे रे मन दह दिसि धावै, विषिया संगि संतोष न पावै ॥टेक॥
जहां जहां कलपै तहां तहां बंधनां, रतन कौ थाल कियौ तैं रंधनां।
जो पै सुख पईयत इन मांहीं, तौ राज छाड़ि कत बन कौं जांही ॥
आनंद सहत तजौ विष नारी, अब क्या झीषै पतित भिषारी।
कहै कबीर यहु सुख दिन चारि, तजि बिषिया भजि चरन मुरारि ॥८७॥

शब्दार्थ—कलपै=कल्पना करता है। वंधनां=वधन। झीषै=दुखी होना।

कबीर कहते हैं कि हे मन ! तू क्यो व्यर्थ भ्रमित होता फिरता है? तू विषयानन्दो मे संलिप्त है, किन्तु फिर भी तुझे सन्तोष नही—तृष्णाओ के पीछे वावला हुआ फिरता है। जिस-जिस स्थान की कल्पना मनुष्य करता है वही पर उसे माया-मोह का बन्धन वाध लेता है। आत्मा रूपी पूर्ण स्वच्छ स्वर्ण थाली को उसने पापो

से कलुषित कर दिया है। जो मनुष्य को इस सासारिक वैभव, विलास एवं विषय-जनित आनन्दो मे ही सुख प्राप्त होता और वैराग्य से प्रभ-प्राप्ति मे नहीं, तो भला राजा लोग अतुलित सम्पत्ति और वैभव का परित्याग कर वन का मार्ग क्यो ग्रहण करते ? हे पतित जीव ! अब पाप कर्म कर के क्यों भिखारी-सदृश दीन बनकर सुख-शान्ति की प्रार्थना करता है। यदि तुम विषयो के भोग एव नारी के ससर्ग का परित्याग कर दो तो वह आनन्दस्वरूप ब्रह्म सहज प्राप्त हो जायेगा। इसीलिए कबीरदास जी कहते है कि हे मनुष्य ! तू इस विषय-वासना के सुख को त्याग दे, क्योकि यह क्षणिक है और प्रभु का ही भजन कर।

जियरा जाहि गौ मै जांनां।
जो देख्या सो बहुरि न पेख्या, माटी सूं लपटांनां ॥टेक॥
बाकुल बसतर किता पहिरबा, का तप बनखंडि बासा।
कहा मुगधरे पांहन पूजे, कागज डारें गाता॥
कहै कबीर सुर मुनि उपदेसा, लोका पंथि लगाई।
सुनौं संतौ सुमिरौ भगत जन, हरि बिन जनम गवाई ॥८८॥

शब्दार्थ—मुगधरे=जड पाहन=पत्थर, मूर्ति।

कबीर कहते हैं कि मैं अब यह जान गया हू कि मन प्रभ-मिलन के लिए आवश्य जायगा। जिसने उस ब्रह्म से साक्षात्कार कर लिया फिर वह इस विषय-वासनापूर्ण ससार की ओर नही देखता। प्रभु-भक्ति मे व्याकुल साधक को वेशभूषा की चिन्ता की क्या आवश्यकता है एव न ही वह वन मे जाकर साधना करता है वह तो मन मे ही प्रभु-मिलन सुख प्राप्त कर लेता है। कबीरदास जी लोक-वेद सम्मत साधुजनो की वाणी का आश्रय लेकर कहते हैं कि जड पाहन मूर्ति को पूजने एवं उसके सम्मुख तपस्या करके अपने शरीर को सुखाने से क्या लाभ ? इसलिए हे साधुजनो ! एव प्रभु भक्तो ! ईश्वर-प्राप्ति के विना यह जीवन व्यर्थ है।

हरि ठग जग कौं ठगौरी लाई,
हरि के वियोग कैसें जीऊं मेरी माई ॥टेक॥
कौंन पुरिष को काकी नारी, अभि अंतरि तुम्ह लेहु बिचारी।
कौंन पूत को काकौ बाप, कौंन मरै कौंन करै संताप॥
कहै कबीर ठग सौं मनमांनां, गई ठगौरी ठग पहिचांनां ॥८९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कवीर अपनी आत्मा के द्वारा कहलाते हैं कि हे सखि ! प्रभु बड़ भारी ठग हैं जिन्होने अपनें प्रेम सें समस्त ससार को ठग रखा है। उनके वियोग मे भला मैं कैसे जीवन धारण करूं ? भला तनिक मन मे विचार करके सोचो तो सही कि इस संसार मे कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी है। कौन किसका पुत्र और कौन किसका पिता है, भला इनमे कौन किसके दुख से मरा है। ये समस्त ससार-सम्बन्ध मिथ्या है। कवीर कहते-है कि मेरा मन तो एक ठग से लग गया है, इस ससार-भ्रम के नष्ट होने पर मैंने उस ठग स्वरूप परमात्मा को पहचान लिया है।

विशेष—सभगपद यमक अलकार।

साईं मेरे साजि दई एक डोली, हस्त लोक अरु मैं तै बोली ॥टेक॥
इक झंझर सम सूत खटोला, त्रिस्नां बाव चहूँ दिसि डोला।
पांच कहार का मरम न जांनां, एकै कह्या एक नही मांनां ॥
भूभर घांम उहार न छावा, नैहर जात बहुत दुख पावा।
कहै कबीर बर बहु दुख सहिये, रांम प्रीति कर संगही रहिये ॥६०॥

शब्दार्थ—भू भर=गर्म रेत, तप्त बालू । नैहर=पीहर ।

कबीर कहते है कि मेरे शरीर रूपी एक डोली का निर्माण प्रभु ने कर दिया। वह इस संसार मे इधर-उधर भटकती फिर रही है। यह मानव-शरीर एक कच्चे सूत से निर्मित खटोले के समान है जिसको तृष्णा चारो ओर घुमाती फिरती है। इसे पाचो ज्ञानेन्द्रिया बिना समझे-बूझे चारो ओर विषय-तुष्टि मे भटकाती फिरती है। ऐसी अवस्था मे आत्मा प्रियतम ब्रह्म के पास कैसे जाय, क्योकि मार्ग मे तप्त बालू है एवं परिश्रम दूर करने के लिए छाया तक का आश्रय नही है। कबीरदासजी कहते हैं कि चाहे कितने ही दु.ख सहने पड जाँय किन्तु कभी भी राम-प्रेम, प्रभु-भक्ति का आश्रय नही छोडना चाहिए।

विशेष—पाँच कहार से तात्पर्य पाँचो ज्ञानेन्द्रियो—आख, नाक, कान, रसना, त्वचा—से है। जिस प्रकार कहार डोली को इधर-उधर ले जाते है उसी भाति इन्द्रिया मानव शरीर को शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के विषयो का आस्वाद कराती उसे पाप-पक मे लिप्त कराती है।

बिनसि जाइ कागद की गुड़िया,
जब लग पवन तबै लग उड़िया ॥टेक॥
गुड़िया कौ सबद अनाहद बोलै, खसम लियें कर डोरी डोलै।
पवन थक्यौ गुड़िया ठहरांनीं, सीस धुनै धूनि रोवै प्रांनी ॥
कहै कबीर भजि सारग पानीं, नहीं तर ह्वै है खैंचा तांनीं ॥६१॥

शब्दार्थ—कागद की गुड़िया=नश्वर शरीर। स्वरूप=स्वामी, प्रभ। सारंग पानी=कृष्ण, भगवान्।

कबीर कहते हैं कि यह मेरा शरीर कागज निर्मित गुड़िया के तुल्य क्षणिक अस्तित्व का है। जब तक इसमे प्राणवायु का सचार है, इसका अस्तित्व तभी तक है। यह शरीर योगसाधना द्वारा अनाहद शब्द सुनने की स्थित, ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लेता है। जब इस कागज की गुडिया—शरीर—में स्थित प्राण वायु निकल जाता है तब इसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है एव अन्य पारिवारिक बड़ा हृदय-विदारक रुदन कर उठते है। कबीर कहते है कि हे मनुष्य! तू प्रभु का भजन कर अन्यथा संसार बन्धनो मे पड़ा हुआ तू इधर-उधर खिंचता रहेगा।

मन रे तन कागद का पुतला।
लागै बूंद बिनसि जाइ छिन मैं, गरब करै क्या इतना ॥टेक॥

माटी खोदहिं भींत उसारैं, अंध कहै घर मेरा।
आवै तलव बांधि लै चालै, वहुरि न करिहै फेरा॥
खोट कपट करि यहु धन जोर्यो, लै धरती मैं गाड़्यो।
रोक्यो घटि सांस नहीं निकसै, ठौर ठौर सब छाड़्यो॥
कहै कबीर नट नाटिक थाके, मदला कौन बजावै।
गये पषनियां उभरी बाजी, को काहू कै आवै॥६७॥

शब्दार्थ—विनस=नष्ट। भीत=दीवार, भिति। उसारे=फूस निर्मित छप्पर। तलव=मृत्यु। खोट=पाप। नाटिक=नाटिका। मंदला=एक वाद्य विशेष।

कवीर कहते है कि हे मन! तू इस शरीर पर क्यो व्यर्थ इतना गर्व करता है, इसके लिए क्यो व्यर्थ इतने सम्भार करता है? इसका अस्तित्व तो उस कागज के पुतले के समान क्षणिक है जो बूद पड़ते ही नष्ट हो जाता है।

मिट्टी खोदकर कच्ची दीवार पर छप्पर डालकर जो टूटा फूटा रहने का स्थान बनाया है उसे ही यह अज्ञानी जीव अपना घर बताता है। मृत्यु जब आयेगी तो इस मनुष्य शरीर को समाप्त कर जायेगी फिर इस संसार को तू देख भी नहीं सकता। यह जो धनराशि तूने विविध पाप-कर्म करके एकत्रित कर पृथ्वी मे गाड़ी है वही मृत्यु के समय तेरे प्राणो को निकलने मे वाधा देती है, सोचता है, मैं इसे किस किस स्थान पर छोड़े जा रहा हूं। कवीर कहते है कि यह शरीर अव इस संसार नाटक में अभिनय करता-करता परिश्रान्त हो गया फिर भला अव इस वाद्य से ध्वनि कौन निकाल सकता है। सब साथी चले गये, छूट गये, कौन किसका साथ देता है?

झूठे तन कौं कहा रखइये, मरिये तौ पल भरि रहण न पइये॥टेक॥
षीर षांड़ घृत प्यंड संवारा, प्रान गये ले बाहरि जारा॥
चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरै काठ के संगा॥
दास कबीर यहु कीन्ह विचारा, इक दिन ह्वै है हाल हमारा॥६३॥

शब्दार्थ—चरचत=चर्चित।

इस मिथ्या शरीर को, जिसका अस्तित्व मृत्यु के एक क्षण अनन्तर नही रह पाता, क्या सवारा जाय। खीर, मिष्ठान, घी आदि जैसे स्वादिष्ट एव पौष्टिक पदार्थो से जिस शरीर का पोषण किया मृत्यु हो जाने पर उसी को घर से बहुत दूर श्मशान मे ले जा कर भस्म कर देते हैं। चन्दन आदि विविधि सुगन्धित पदार्थों के अगराग से जिसका मण्डन किया था वही लकड़ी के साथ रखकर चिता पर जलाया जाता है। अत. इस शरीर के पोषण से क्या लाभ है? अत. कबीरदास जी विचार-पूर्वक यह कहते हैं कि एक दिन हमारी भी यही गति होगी, अतः क्यो न शरीर का मोह त्याग प्रभु भजन किया जाय!

देखहु यहु तन जरता है, घड़ी पहर बिलंबौ रे भाई जरता है ॥टेक॥
काहे कौं एता किया पसारा, यहु तन जरि बरि ह्वै है छारा।
नव तन द्वादस लागी आगी, मुगध न चेतै नख सिख जागी ॥
कांम क्रोध घट भरे बिकारा, आपहि आप जरै संसारा।
कहै कबीर हम मृतक समांनां, राम नांम छूटे अभिमांनां ॥९४॥

शब्दार्थ—बिलबौ=रुको। पसारा=प्रसार, सम्भार। बरि है=प्रज्वलित होगा।

कबीर कहते हैं कि यह शरीर जिसके लिए तुम पाप-पंक मे फँसते हो, भस्म होकर अस्तित्वहीन हो जाता है। तुम थोड़े समय वाद देख लेना कि यह जलता है या नहीं—अर्थात् अवश्य जल जायेगा। क्यो व्यर्थ तुमने इसके लिए पाप कर्म किये, यह तो जल कर क्षार हो जायेगा। इस शरीर को वारह प्रकार की अग्नियाँ जलाकर नष्ट कर देंगी, किन्तु जो ससार मे लिप्त हैं वह यह देखकर भी प्रभु-भक्ति मे नही लगता। मनुष्यों के हृदय मे काम-क्रोध आदि विकार भरे हुए हैं, इनके ताप से संसार स्वयं भस्म होता जाता है। कवीर कहते है कि मै तो जीवन्मुक्त हूं, क्योकि मैंने प्रभ का आश्रय ले लिया है। ईश्वर भजन से ही ससार मे मिथ्याभिमान नष्ट होता है।

तन राखनहारा को नाहीं, तुम्ह सोचि विचारि देखौ मन मांहीं ॥टेक॥
जोर कुटंब अपनौं करि पायौं, मूड ठोकि ले बाहरि जायौं।
दगाबाज लूटैं अरू रोवैं, जारि गाडि पुर षोजहिं षोवैं ॥
कहत कबीर सुनहुँ रे लोई, हरि बिन राखनहार न कोई ॥९५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि मन में यह भली भाँति विचार कर देख लिया कि इस शरीर को बचाने वाला कोई भी नही है। जिस परिवार का पालन-पोषण जीवनपर्यन्त किया, वे ही थोड़ी देर सिर पीटकर मृत्यूपरान्त इसे घर से निकाल देते है। ये सांसारिक बड़े धोखेबाज है जो उसे जीते जी लूटते है और मरने पर रोते भी है एवं ररने पर जलाकर या दफन करके फिर खूटे अथवा कब्र के ऊपर कुछ चिनवाते है। कबीर अपनी शिष्या लोई को सम्वोधित करते कहते है कि इस मनुष्य की रक्षा प्रभु के अतिरिक्त और कोई नही कर सकता।

विशेष—"जारि गाडि षोवै—"के द्वारा कबीर ने उन सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य किया जिनके कारण मरने पर हिन्दुओ मे जला देने पर मनुष्य का अस्तित्व पूर्णरूपेण समाप्त कर देते है, किन्तु फिर भी किसी स्थान पर उनके नाम का खूटा इस विश्वास से वना देते है कि वह यहां वास करेगा। इसी प्रकार मुसलमानों में कब्र से ऊपर पक्की आलीशान दरगाह सी वना देते है। कैसे जीवन की विडम्बना है कि जिसे जीते जी पारिवारिक लोग लूटते-खसोटते हैं मरने पर उसके लिए क्या ठाटबाट खड़े कर देते है।

अब क्या सोचै आइ बनीं, सिर परि साहिब रांम धनीं ॥टेक॥
दिन दिन पाप बहुत मैं कीन्हां, नहीं गोब्यद की संक मनीं।
लेट्यौ भोमि बहुत पछितांनौं, लालचि लागौ करत घनीं ॥
छूटी फौज आंनि गढ घेर्यौं, उड़ि गयो गूड़र छाड़ि तनीं।
पकर्यौं हंस जम ले चाल्यौ, मंदिर रोवै नारि धनीं ॥
कहै कबीर रांम किन सुमिरत, चीन्हत नांहिन एक चिनीं।
जब जाइ आइ पड़ोसी घेर्यौं छांड़ि चल्यौ तजि पुरिष पनीं ॥९६॥

शब्दार्थ—सक=भय। भोमि, भूमि, पृथ्वी। घनी=अत्यधिक।

कबीर कहते है कि हे मूर्ख जीव! अब जब शीश पर मृत्यु आ चढ़ी है तब क्या सोचता है कि प्रभु सर्वोपरि है, यह बात तो पहले सोचने की है। जब तो प्रभु का कोई भय न मानते हुए तूने प्रतिदिन बड़े-बड़े पाप कर्म किये। जब लोभ और लालच मे बुरी तरह ग्रस्त था, किन्तु अब पृथ्वी पर लोट-लोट कर पश्चात्ताप करता है। जब मृत्यु ने इन शरीर रूपी किले पर आक्रमण कर दिया तो आत्मा इस शरीर को छोड़कर चली गई। प्राणो को पकडकर यम लेकर चल दिया तो घर पर बहुत से सम्बन्धी रोने लगे। कबीर कहते है कि राम का स्मरण कोई नही करता, उस पह-पहचानने योग्य को कोई नही पहचानने का प्रयत्न करता। जब इस शरीर को मृत्यु आ दबाती है तो सब अपने मनुष्यत्व को खो यहा से चल देते है।

सुवटा डरपत रहु मेरे भाई, तोही डराई देत बिलाई।
तीनि बार रूंधै इक दिन मैं, कबहूँ क खता खवाई ॥टेक॥
या मंजारी मुगध न मानें, सब दुनियां डहकाई।
राणां राव रंक कौं ब्यापै, करि करि प्रीति सवाई ॥
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरे हरि सरनांई।
लाखो मांहि तैं लेत अचांनक, काहू न दत दिखाई ॥९७॥

शब्दार्थ—सुवटा=तोता, यहाँ जीव से तात्पर्य है। बिलाई=माया। खता खवाई=धोखा हो जायगा, चट कर जायगी। मजारी=बिल्ली। डहकाई=बहकाई। सरनांई=शरण।

हे शुक रूप जीव! तू यहाँ इसी प्रकार से भय-वस्त्र रहेगा, क्योकि यहा यह माया-रूपी बिल्ली तुझे चट कर जाने के लिए बैठी हुई है। यह तुझे दिवस मे अनेक बार रूंध देती है, किन्तु वह तो मेरा भाग्य है कि तू अब तक बचा है, किसी बार धोखा हो जायेगा और यह बिल्ली तुझे चटकर जायगी। तु इस बिल्ली के मोह मे न पड़, इससे प्रेम न कर, इसने समस्त ससार को इसी प्रकार बहका रखा है। यह राजा, भिखारी सबको प्रेम सिखा कर अपने फंदे मे डाल लेती है। कबीरदास जी कहते हैं कि हे तोते रूप जीव! सुन, यह माया बिल्ली लाखो मनुष्यो के समूह मे भी चुपचाप ही व्यक्ति को चट कर जाती है, इससे निस्तार प्रभु शरण द्वारा ही सम्भव है।

का मांगूं कुछ थिर न रहाई,
देखत नैन चल्या जग जाई ।।टेक।।
इक लष पूत सवा लष नाती, ता रावन घरि दिवा न बाती ।
लंका सा कोट समंद सी खाई, ता रावन की खबरि न पाई ।।
आवत संग न जात संगाती, कहा भयौ दरि बांधे हाथी ।
कहै कबीर अंत की बारी, हाथ झाड़ि जैसें चले जुवारी ।।९८।।

शब्दार्थ—कोट=दुर्ग । सगाती=साथी । दरि=द्वार पर ।

कबीर कहते है कि मैं तुमसे हे प्रभु क्या मागू, देखते ही देखते ससार यू ही चला जाता है । इस ससार मे ऐसा कुछ भी तो नही है जो स्थिर है । जिस महाराजा रावणके एक लाख पुत्र एव सवा लाख नाती थे उसकाभी अन्त मे समूल ऐसा हो गया कि उसके घर मे कोई दीपक जलाने वाला भी शेष न रहा । जिसका लंका जैसा भव्य किला और उसके चारो ओर विशाल समुद्र पर उसका आधिपत्य था, उसी रावण का आज चिह्न तक शेष नही है । चाहे कोई द्वार पर हाथी बाध-बांधकर कितना ही वैभवशाली क्यो न कहला ले किन्तु न तो उसके साथ कुछ ससार मे आया था और न उससे साथ कुछ ससार से जायगा । कबीर कहते है कि मृत्यु के समय वैसे ही खाली हाथ मनुष्य जाता है जैसे जुए मे हराने पर जुआरी खाली हाथ जाता है ।

विशेष—उपमा अलकार ।

रांम ! थोरे दिन कौ का धन करनां,
धंधा बहुत निहाइति मरनां ।।टेक।।
कोटी धज साह हस्ती बंध राजा, क्रिपन को धन कौंन काजा ।
धन कै गरिब रांम नहीं जांनां, नागा ह्वै जम पै गुदरांनां ।।
कहै कबीर चेतहु रे भाई, हंस गया कछु संगि न जाई ।।९९।।

शब्दार्थ—क्रिपन=कृपण, कजूस । गरिब=गर्व, घमड । नागा=नगा खाली हाथ । हंस=जीव ।

कबीर कहते है कि हे प्रभु ! थोड़े दिन स्थिर रहने वाले इस सासारिक धन का क्या करना, इसके लिए न जाने कितने प्रयत्न जी तोडकर करने पडते हैं । यदि कोई साहूकार अथवा राजा अपने द्वार पर हाथी बाध कर भवन पर सौ पताकाए फहरा दे और कृपण अपने कोष मे अतुल धन जमा कर ले तो इसका किसी और को क्या लाभ ? ये लोग धनाभिमान मे प्रभु को भी नही पहचान पाते, किन्तु जब यम इन्हे ले जाता है तो नगे होकर खाली हाथ जाते है । कबीर कहते है कि सब साव-धान हो प्रभु-भक्ति का भजन करो क्योकि प्राण निकल जाने पर कुछ भी साथ नही जाता, यह सासारिक वैभव यथावत् यो ही धरा रह जाता है ।

काहे कूं माया दुख करि जोरी,
हाथि चूंन गज पांच पछेवरी ।।टेक।।

को बंध न भाई साथी, बांधे रहे तुरंगम हाथी।
मैड़ी महल बावड़ी छाजा, छाड़ि ढ्ये सब भूपति राजा ॥
कहै कबीर रांम ल्यौ लाई, धरी रही माया काहू न खाई ॥१००॥

शब्दार्थ—बधु=बन्धु। तुरगम घोड़े।

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तूने यह माया, धन सम्पति व्यर्थ क्यों दुःख उठा-उठा कर सचित की है। तुझे मृत्यु होने पर लाल रग का वही पाँच गज वस्त्र प्राप्त होगा, अन्य कुछ नही।

इस ससार मे कोई किसी का न बन्धु है न सखा, समस्त संसार-सम्बन्ध मिथ्या हैं फिर क्यो व्यर्थ धनिक लोग द्वार पर हाथी घोड़े बाँध कर वैभव का प्रदर्शन करते हैं। झोपडी, महल, सरोवर एवं अन्य भवन सब को यही छोड़कर बड़े-बड़े राजा मृत्यु-गामी हो गये। कबीर कहते हैं कि मूढ जीव! तू प्रेम सहित प्रभु भक्ति कर। इस माया को कोई नही खाये जाता।

माया का रस षांण न पावा,
तब लग जम बिलवा ह्वै धावा ॥टेक॥
अनेक जतन करि गाड़ि दुराई, काहू सांची काहू खाई।
तिल तिल करि यहु माया जोरी, चलती बेर तिणां ज्यूं तोरी।
कहै कबीर हूं ताका दास, माया मांहैं रहै उदास ॥१०१॥

शब्दार्थ—जम=यम, मृत्यु। बिलवा=बिलौंटा, नर बिल्ली। दुराई= छिपाई। तिना=तिनका।

कबीर कहते हैं कि मनुष्य अपनी विविध दुःखो सहित एकत्रित धन सम्पत्ति का अस्वाद भी नही कर पाया था कि मृत्यु रूपी बिलौटा आ धमका। यह अनेक प्रयत्न करके गाड और छुपा कर रखी थी, किन्तु सत्य-सत्य बताओ इसका उपभोग आज तक कोई कर पाया है। कण-कण एकत्रित कर तो यह माया संचित की, किन्तु इस संसार से चलते समय तृण के समान इससे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। कबीर कहते हैं कि मैं उसी का दास हूं उसी का भक्त हू, जो माया के मध्य रहता हुआ भी उससे संलिप्त न हो।

विशेष—कबीर भी यहां वेदान्तियो के समान 'पद्मपत्रमिवाम्भसि' जैसा आदर्श बताते हैं, वास्तव में यह आदर्श बहुत ऊँचा है और कदाचित् कबीर इस स्तर पर पहुंच गये थे तभी वे इतनी दृढ़ता-पूर्वक इस मत की प्रस्थापना करते हैं।

मेरी मेरी दुनियां करते, मोह मछर तन धरते।
आगै पीर मुकदम होते, वै भी गये यौं करते ॥टेक॥
किसकी ममां चचा पुंनि किसका, किसका पंगुड़ा जोई।
यहु संसार बजार मंड्या है, जानैगा जन कोई ॥
मैं परदेसी काहि पुकारौं, इहां नहीं को मेरा।
यहु संसार ढूंढि सब देख्या, एक भरोसा तेरा ॥

खांहि हलाल हरांम निवारैं, भिस्त तिनहु कौं होई।
पंच तत का मरम न जांनै, दोजगि पड़िहै सोई॥
कुटंब कारणि पाप कमावै, तूं जांणै घर मेरा।
ए सब मिले आप सवारथ, इहां नहीं को तेरा॥
सायर उतरौ पंथ सँवारौ, बुरा न किसी का करणां।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, ज्वाब खसम कूं भरणां॥१०२॥

शब्दार्थ—मछर=मत्सर। मरम = भेद। दोजगि = दोजख, नरक। कारणि=लिए। सवारथ=स्वार्थ। सायर=सागर। खसम=स्वामी, प्रभु।

कबीर कहते है कि सब मनुष्य अह, अथवा ममत्व-भावना के कारण विविध शरीर धारण करते है। जो पहले समाज मे सम्मानीय स्थानो और पदो की शोभा थे उन्हे भी चौरासी लाख योनियो मे भटकना पडता है। इस संसार मे माता-पिता आदि के जो सम्बन्ध है वे सब मिथ्या है, यहाँ कोई किसी का नही है। यह संसार तो बाजार के समान है जिसमे थोड़ी देर की पैठ लगाकर सब अपने-अपने गन्तव्य स्थान को चल देते हैं। हे प्रभु! मैं इस जगत् मे परदेशी सदृश हूं मैं किसे अपना समझूं, एकमात्र अवलम्ब तेरा ही है। ये सासारिक सम्बन्धी परिश्रम की कमाई खाकर आराम करते हैं और इस प्रकार भ्रष्ट आचरण करते हैं। यह मानव यह नही समझता कि इस शरीर का मोह कैसा? यह तो मृत्यु के पश्चात् पंचतत्व में समाहित हो जाता है। इस रहस्य को न समझ सकने के कारण ही ये दोजख, नरक को भोगते है। हे जीव! तू परिवारियों के लिए पाप कर्म कर धन संचित करता है और यह विश्वास करता है कि ये सब मेरे है। यह तेरा मिथ्या भ्रम हैं। यहाँ इस संसार में तेरा कोई नही है, सब अपना स्वार्थ साधन कर रहे है।

कबीर कहते है कि हे सज्जनो! तुम अपना परलोक संवार लो, किसी का बुरा मत सोचो, क्योकि तुम्हें अन्ततः उस स्वामी, ब्रह्म, को अपने कर्मों का उत्तर देना होगा।

रे यामैं क्या मेरा क्या तेरा,
लाज न मरहि कहत घर मेरा॥टेक॥
चारि पहर निस भोरा, जैसैं तरवर पंखि बसेरा।
जैसैं बनिय हाट पसारा, सब जग का सो सिरजनहारा॥
ये ले जारे वै ले गाड़े, इनि दखिइनि दोऊ घर छाड़े।
कहत कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम्ह बिनसि रहैगा सोई॥१०३॥

शब्दार्थ—भोरा=भौर, प्रातः काल। पखि=पक्षी। हाट=पैठ, [illegible] बिनसि=नष्ट होना। सोई=वही, प्रभु।

कबीर कहते है कि हे मूर्ख मनुष्य! तुझे इस संसार को अपना क[illegible] तक नही आती—इसमे 'मेरा और तेरा' भला क्या रखा है? तेरी इस [illegible] उस [illegible] ने पड़े [illegible] क्ति के

श्रमिक स्थिति ऐसी ही है जैसे रात्रि मे चार प्रहर व्यतीत करने के लिए पक्षीगण पेड़ पर बसेरा डाल लेते हैं, अथवा जैसे वणिक पैठ में जाकर थोड़ी ही देर के लिए वहाँ अपनी दुकान लगा कर उसे अपनी कहने लगता है और समस्त जगत् के स्रष्टा उस प्रभु को भूल जाता है। जो कृपण धन को सचित करते हैं एव जो उसे विषयभोगों मे नष्ट करते हैं, वे दोनो ही दुखी होकर इस ससार से जाते हैं। कबीर कहते हैं कि हे लोई (शिष्या का नाम)! हम तुम अर्थात् सब ससार तो नष्ट हो जायेगा, केवल ब्रह्म ही चिरन्तन और सत्य है, अतः उसी का भजन करो।

नर जांणे अमर मेरी काया, घर घर बात दुपहरी छाया ॥टेक॥
मारग छाड़ि कुमारग जौवं, आपण मरै और कूं रोवै।
कछू एक किया कछू एक करणां, मुगध न चेतै निहचै मरणां ॥
ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा, उपजत बिनसत लगै न वारा ॥
पच पंषुरिया एक ससीरा, कृष्ण कवल दल भवर कबीरा ॥१०४॥

शब्दार्थ—लगै न वारा=देर नही लगती। पंच पंपुरिया=पाँच तत्व।

कबीर कहते है कि मनुष्य यह सोचता है कि मेरा यह शरीर अमर है, किन्तु उसे यह ज्ञात नही कि यह दुपहरी की छाया के सदृश क्षणिक एव अस्तित्वहीन है। वह सन्मार्ग को छोड कुमार्ग को ग्रहण कर लेता है, स्वय भी तो इसे मरना ही है फिर और मरण देखकर क्यो व्यर्थ रुदन करता है। कुछ तो दुष्कर्म उसने पहले ही किये हैं और कुछ अब और करेगा, वह यह नही सोचता कि संसार मे लिप्त रहने से क्या लाभ? निश्चय ही उसे एक दिन मरना है। यह संसार जल की एक बूंद के तुल्य है जिसे उत्पन्न होते और नष्ट होते देर नही लगती। इस एक शरीर के पाँच सचालक—आँख, नाक, कान, रसना एव त्वचा—उसे विविध वासना-विषयो मे भ्रमित करते रहते है। कबीर तो सहस्रदल कमल मे स्थित ब्रह्म मे लीन हो गया है।

—उपमा अलकार।

मन रे अहरषि वाद न कीजै, अपनां सुकृत भरि भरि लीजै ॥टेक॥
कुंभरा एक कमाई माटी, बहु विधि जुगति वणाई।
एकनि मै मुकताहल मोती, एकनि व्याधि लगाई ॥
एकनि दीनां पाट पटंबर, एकनि सेज निवारा।
एकनि दीनीं गरै गूदरी, एकनि सेज पयारा ॥
सांची रही सूंम की संपति, मुगध कहै यहु मेरी।
अंत काल जब आइ पहूँता, छिन मै कीन्ह न वेरी ॥
कहत कबीर सुनौं रे संतौ, मेरी मेरी सब झूठी।
चड़ा चींथड़ा चूंहड़ा ले गया, तणीं तणगती टटी ॥१०५॥

शब्दार्थ—अहरषि=अहर्निश। सुकृत=पुण्य। कुंभरा=कुम्हार। जुगति=हेत। सूम=कृपण। पहूता=पहुंचा। चड़ा चीथड़ा=जर्जर वस्त्र। हा।

कबीर कहते है कि हे मन ! तू अहर्निश ससार-जाल मे ही मत उलझा रह। पुण्य कर्म कर अपना परलोक सभाल ले। कुम्हार एक ही मिट्टी के द्वारा अत्यन्त प्रयत्न करके बहुत-सी वस्तुएँ निर्मित कर देता है, किसी एक पात्र मे मुक्ता-माणिक्य भरे रहते हैं और दूसरा व्याध के पास होता है जिसमे वह रक्त-मास आदि जैसी वस्तुएँ रखता है उसी प्रकार सब मनुष्य उस ब्रह्म से ही निर्मित है, किन्तु एक को तो विविध प्रकार की सुन्दर-सुन्दर वेषभूषाएँ प्राप्त है तो दूसरे को बिछाने के लिए वस्त्र तक नही प्राप्त होते। एक के शरीर पर चिथडे होते है तो दूसरे को सुन्दर शय्या प्राप्त होती है। यह सब अपने-अपने कर्मों का ही फल है। कृपण तक की सम्पत्ति यहाँ रखी रह जाती है, ससार मे बद्ध जीव सम्पत्ति पर अपना स्वत्व बताता है और जब मृत्यु आ पहुँचेगी तो पल भर मे सब कुछ समाप्त हो जायेगा। कबीर कहते है कि हे सज्जनो ! साधुओ ! इस ससार मे तुम जिस-जिस वस्तु को अपनी बताते हो, वह सब झूठ है। इस जर्जर शरीर को काल रूपी चूहा ले गया तो सब सम्बन्ध चरमरा कर टूट जायेगे।

विशेष—अनुप्रास अलकार।

हड़ हड़ हड़ हड़ हसती है, दिवांनपनां क्या करती है।
आडी तिरछी फिरती है, क्या च्यौं च्यौं म्यौं म्यो करती है ॥टेक॥
क्या तूं रंगी क्या तूं चंगी, क्या सुख लोड़ै कीन्हां।
मीर मुकदम सेर दिवांनी, जंगल केर षजीनां॥
भूले भरमि कहा तुम्ह राते, क्या मदुमाते माया।
रांम रंगि सदा मतिवाले, काया होइ निकाया॥
कहत कबीर सुहाग सुंदरी, हरि भजि ह्वै निस्तारा।
सारा षलक खराब किया है, मांनस कहा बिचारा ॥१०६॥

शब्दार्थ—हड-हड=खिलखिला कर, अट्टहासपूर्वक। च्यौ-च्यौ म्यौ म्यौं= चिल्ल पो मचाना, उथल-पुथल का वातावरण बनाना। मीर=मुसलमान समाज की श्रेष्ठ पदवी जिसका अर्थ प्रथम होता है। मुकदम=मुकद्दम, पहले ग्रामो मे हुआ करते थे, यहाँ सम्माननीय व्यक्ति के अर्थ मे। मदुमाते=मदमाते। निस्तारा=छुटकारा। षलक=ससार। मानस=मनुष्य।

कबीर माया को सम्बोधित करते कहते हैं कि तू खिलखिलाकर अट्टहासपूर्वक हसकर क्या उत्पात किया चाहती है। तू ऐसा पागलपन क्यो कर रही है? तू इधर-उधर शान्ति भग करती क्यो फिर रही है? कोई व्यक्ति तेरे रग में रगकर सुख प्राप्त कर रहा हो, भले ही वह मीर-मुकद्दम कोटि का श्रेष्ठतम व्यक्ति क्यों न हो, वह वन में गडे अज्ञात खजाने के समान निरर्थक आनन्दोपभोग मे लगे है क्योकि उस आनन्द का किसी को लाभ तो प्राप्त होता ही नही है। इसलिए तुम भ्रम मे पड़े हुए माया के रग मे मत पड़ो। यह माया सबको मदमस्त बना देती है। प्रभु-भक्ति के

रस में रंगे हुए सर्वदा (स्थायी) आनन्द का सुख लाभ करते हैं। उसी से शरीर निष्पाप होता है। कवीरदास जी कहते हैं कि इस माया ने तो समस्त संसार को अपने दूषित प्रभाव से विषाक्त बना दिया है, फिर बेचारे मनुष्य की तो बात ही क्या ? अतः हे आत्मारूपी सुन्दरी ! तू प्रभु का भजन कर, इसी से मुक्ति सम्भव है।

हरि कै नांइ गहर जिनि करऊं, राम नांम चित मुखां न धरऊ ॥टेक॥
जैसें सती तजै स्यंगार, ऐसें जियरा करम निवार।
राग दोष दहूँ मैं एक न भाषि, कदाचि ऊपजै तौ चिता न राषि।
भूलै बिसरय गहर जौ होई, कहै कबीर क्या करिहौ मोही ॥१०९॥

शब्दार्थ—मुखा=मुख मे। स्यगार=शृङ्गार। निवार=परित्याग।

कवीर कहते है कि जो मनुष्य प्रभु के सम्मुख भी अहं भाव का परित्याग नहीं करते है वे ऐसे लोग होते हैं जो कभी राम-नाम, प्रभु-नाम को हृदय अथवा मुख में आने ही नही देने। वे आगे जीव को समझाते है कि जैसे सती नारी शृङ्गार का पूर्ण परित्याग कर देती है, उसी प्रकार तू कर्मों का पूर्ण त्याग कर कर्म-विरत हो जा एवं राग-द्वेष दोनो मे से किसी मे भी अपना मन न लगा और यदि कभी राग-द्वेष उत्पन्न भी हो जाय तो तू उस पर विचार ही न कर, वह स्वय समाप्त हो जायेगा। कवीर कहते है कि यदि धूलि मे विषयरस हुआ तो वह मोह करके भी कुछ नही बिगाड सकता।

भाव यह है कि हे मनुष्य ! यदि तू इस उस उपर्युक्त स्थिति को प्राप्त कर ले तो माया-मोह, विषय-विकार तुझे प्रभु-पक्ति पथ से हटा नही सकते।

विशेष—यह स्थिति गीता के जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ पुरुष जैसी ही है यथा तुलना कीजिए—

(१) "दुःखेष्वनुद्विग्नमना. सुखेषु विगतस्पृह।
वीतरागभय क्रोध. स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥" २।५७

"दुःखों की प्राप्ति मे उद्वेगरहित है मन जिसका और सुखो की प्राप्ति मे दूर हो गई है स्पृहा जिसकी तथा नष्ट हो गये हैं राग, भय और क्रोध जिसके ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।"

(२) विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।" २।५९

"यद्यपि इन्द्रियो के द्वारा विषयो को न ग्रहण करने वाले पुरुष के केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु राग नही निवृत्त होता और इस पुरुष का तो राग भी परमात्मा को साक्षात् हो जाता है।

(३) "इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थं रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनी ॥" ३।३८

"इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् सभी

इन्द्रियो के भोगो मे स्थित जो राग और द्वेष है उन दोनो के वश मे नही होवे, क्योकि दीनों ही इसकें कल्याणमार्ग मे विघ्न करने वाले महान् शत्रु है।"

मन रे कागद कीर पराया।
कहा भयौ ब्यौपार तुम्हारै, कल तर बढ़ै सवाया ॥टेक॥
बडै बोहरै सांठों दीन्हौं, कल तर काढ्यो खोट।
चार लाष अरू असी ठीक दे, जनम लिष्यौ सब चोटै ॥
अब की बेर न कागद कीर्‌यौ, तौ धर्म राइ सूं तूटै।
पूंची बितड़ि बंदि लै देहै, तब कहै कौंन कै छूटै ॥
गुरदेव ग्यांनी भयौ लगनियां, सुमिरन दीन्हौं हीरा।
बड़ी निसरनी नांव रांम कौ, चढ़ि गयौ कीर कबीरा ॥१०८॥

शब्दार्थ—पराया=दूसरे का। तर=तक। सवाया=सवा गुना। बौहरे=व्यापार करने वाला।

कबीर कहते है कि मन! तूने दूसरे बौहरे का कागज भरा है। ये पाप जो तू अर्जित कर रहा है उसी प्रकार कल तक सवा गुने बढ जायेंगे जिस भाँति बौहरे का सूद। यह तेज बौहरा कल तक तुझ पर सूद बढ़ा कर न जाने क्या-क्या दोष निकाल देगा जिसका फल तुझे चौरासी लाख योनियों मे जन्म लेकर भटकते हुए उठाना पड़ेगा। यदि अब की बार इस मनुष्य जन्म मे कागज का सब पाप-कर्म रूपी धन न चुका दिया तो मृत्यु-पश्चात् धर्मराज तुझसे रुष्ट हो जायेंगे। पूंजी के बढ जाने पर तुझे जब बन्दी कर देगा, तब तुझे कौन मुक्त करायेगा? सद्गुरु रूपी ज़मानती ही तुझे स्मरण का हीरा देकर इससे मुक्त करा सकता है। जिसके द्वारा राम-नाम की सीढी को पाकर इस ससार मे बद्ध कबीर भी भक्ति के चरम सोपान—प्रभु—को प्राप्त कर लेगा।

धागा ज्यूं टूटै त्यूं जोरि।
तूटै तूटनि होयगी, नां ऊं मिलै बहोरि ॥टेक॥
उरझ्यो सूत पांन नहीं लागै, कूच फिरै सब लाई।
छिटकै पवन तार जब छूटै, तब मेरो कहा बसाई ॥
सुरझ्यौ सूत गुढ़ी सब भागी, पवन राखि मन धीरा।
पंचूं भइया भये सनमुखा, तब यहु पान करीला ॥
नांन्ही मैंदा पीसि लई है, छांणि लई द्वै बारा।
कहै कबीर तेल जब मेल्या, बुनत न लागी बारा ॥१०९॥

शब्दार्थ—ऊँ=वह, ब्रह्म। वहोरि=दुबारा। पचू भइया—पाँचो भइया, पाँचो इन्द्रियाँ। मैंदा=बारीक आटे को छान कर निकाली जाती है। छाणि=छान कर।

कबीर कहते है कि प्रभु भक्ति का धागा यदि टूट जाता है तो जैसे भी हो उसे जोड अवश्य लेना चाहिए क्योकि यह टूटने का क्रम तो चलता ही रहेगा, किन्तु

रस मे रंगे हुए सर्वदा (स्थायी) आनन्द का सुख लाभ करते है। उसी से शरीर निष्पाप होता है। कबीरदास जी कहते हैं कि इस माया ने तो समस्त ससार को अपने दूषित प्रभाव से विषाक्त वना दिया है, फिर बेचारे मनुष्य की तो बात ही क्या ? अतः हे आत्मारूपी सुन्दरी ! तू प्रभु का भजन कर, इसी से मुक्ति सम्भव है।

हरि कै नांइ गहर जिनि करऊं, रांम नांम चित मुखां न धरऊ ॥टेक॥
जैसें सती तजै स्यंगार, ऐसें जियरा करम निवार।
राग दोष दहूँ मैं एक न भाषि, कदाचि ऊपजै तौ चिता न राषि।
भूलै विसरय गहर जौ होई, कहै कबीर क्या करिहौ मोही ॥१०९॥

शब्दार्थ—मुखा = मुख मे। स्यगार = शृङ्गार। निवार = परित्याग।

कबीर कहते हैं कि जो मनुष्य प्रभु के सम्मुख भी अहं भाव का परित्याग नही करते हैं वे ऐसे लोग होते है जो कभी राम-नाम, प्रभु-नाम को हृदय अथवा मुख में आने ही नही देते। वे आगे जीव को समझाते है कि जैसे सती नारी शृङ्गार का पूर्ण परित्याग कर देती है, उसी प्रकार तू कर्मो का पूर्ण त्याग कर कर्म-विरत हो जा एवं राग-द्वेष दोनो मे से किसी मे भी अपना मन न लगा और यदि कभी राग-द्वेष उत्पन्न भी हो जाय तो तू उस पर विचार ही न कर, वह स्वय समाप्त हो जावेगा। कबीर कहते हैं कि यदि धूलि मे विषयरस हुआ तो वह मोह करके भी कुछ नही बिगाड़ सकता।

भाव यह है कि हे मनुष्य ! यदि तू इस इस उपर्युक्त स्थिति को प्राप्त कर ले तो माया-मोह, विषय-विकार तुझे प्रभु-पक्ति पथ से हटा नही सकते।

विशेष—यह स्थिति गीता के जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ पुरुप जैसी ही है यथा तुलना कीजिए—

(१) "दु.खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह।
वीतरागभय क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥" २।५७

"दुःखो की प्राप्ति मे उद्वेगरहित है मन जिसका और सुखो की प्राप्ति मे दूर हो गई है स्पृहा जिसकी तथा नष्ट हो गये हैं राग, भय और क्रोध जिसके ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।"

(२) विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन.।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।" २।५९

"यद्यपि इन्द्रियो के द्वारा विषयो को न ग्रहण करने वाले पुरुप के केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु राग नही निवृत्त होता और इस पुरुष का तो राग भी परमात्मा को साक्षात् हो जाता है।

(३) "इन्द्रियस्येन्द्रिस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥" ३।३८

"इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ मे अर्थात् सभी

इन्द्रियो के भोगो मे स्थित जो राग और द्वेष है उन दोनो के वश मे नही होवे, क्योकि दोनो ही इसके कल्याणमार्ग में विघ्न करने वाले महान् शत्रु है।"

मन रे कागद कीर पराया।
कहा भयौ व्यौपार तुम्हारै, कल तर बढ़ै सवाया ॥टेक॥
बडे बोहरै सांठों दीन्हौं, कल तर काढ्यो खोट।
चार लाष अरू असी ठीक दे, जनम लिष्यौ सब चौटै ॥
अब की बेर न कागद कीर्‌यौ, तौ धर्म राइ सूं तूटै।
पूंचीं बितड़ि बंदि लै दैहै, तब कहै कौंन कै छूटै ॥
गुरदेव ग्यांनी भयौ लगनियां, सुमिरन दीन्हौं हीरा।
बड़ी निसरनी नांव रांम कौ, चढ़ि गयौ कीर कबीरा ॥१०८॥

शब्दार्थ—पराया=दूसरे का। तर=तक। सवाया=सवा गुना। वौहरे=व्यापार करने वाला।

कबीर कहते है कि मन ! तूने दूसरे बौहरे का कागज भरा है। ये पाप जो तू अर्जित कर रहा है उसी प्रकार कल तक सवा गुने बढ जायेंगे जिस भाँति वौहरे का सूद्र। यह तेज बौहरा कल तक तुझ पर सूद बढा कर न जाने क्या-क्या दोष निकाल देगा जिसका फल तुझे चौरासी लाख योनियो मे जन्म लेकर भटकते हुए उठाना पड़ेगा। यदि अब की वार इस मनुष्य जन्म मे कागज का सत्र पाप-कर्म रूपी धन न चुका दिया तो मृत्यु-पश्चात् धर्मराज तुझसे रुष्ट हो जायेंगे। पूंजी के बढ़ जाने पर तुझे जब बन्दी कर देगा, तब तुझे कौन मुक्त करायेगा ? सद्गुरु रूपी जमानती ही तुझे स्मरण का हीरा देकर इससे मुक्त करा सकता है। जिसके द्वारा राम-नाम की सीढी को पाकर इस ससार मे बद्ध कबीर भी भक्ति के चरम सोपान—प्रभु—को प्राप्त कर लेगा।

धागा ज्यूं टूटै त्यूं जोरि।
तूटै तूटनि होयगी, नां ऊं मिलै बहोरि ॥टेक॥
उरझ्यो सूत पांन नहीं लागै, कूच फिरै सब लाई।
छिटकै पवन तार जब छूटै, तब मेरो कहा बसाई ॥
सुरझ्यौ सूत गुढ़ी सब भागी, पवन राखि मन धीरा।
पंचूं भइया भये सनमुखा, तब यहु पान करीला ॥
नांन्ही मैदा पीसि लई है, छांणि लई द्वै बारा।
कहै कबीर तेल जब मेल्या, बुनत न लागी बारा ॥१०९॥

शब्दार्थ—ऊँ=वह, ब्रह्म। वहोरि=दुबारा। पंचू भइया—पाँचो भइया, पाँचो इन्द्रियाँ। मैदा=बारीक आटे को छान कर निकाली जाती है। छाणि=छान कर।

कबीर कहते है कि प्रभु भक्ति का धागा यदि टूट जाता है तो जैसे भी हो उसे जोड़ अवश्य लेना चाहिए क्योकि यह टूटने का क्रम तो चलता ही रहेगा, किन्तु

वह पुन. प्राप्त नही हो सकते। उलझा हुआ सूत पिंडी के रूप में परिणत नही किया जा सकता, चाहे आप उसे मुहल्ले के सब व्यक्तियों से करा देखिये। यदि विषय-वासना रूपी वायु के चलने पर प्रभु-भक्ति का तार टूट जाय तो मेरा क्या वश है ? कर्म-सूत के सुलझ जाने पर सब गाठें, मन के सन्ताप, दूर हो जाते हैं और इस प्रकार प्राणो मे धैर्य का संचार होता है। पाचो इन्द्रिया जब अपने वश में हो जाती है, तभी यह कर्म रूपी सूत पान (जिसके ऊपर सूत लपेटा जाता है) पर चढ़ सकता है। कवीर कहते है कि इस कर्म सूत को कलफ लगाने के लिए जो प्रयत्न रूपी दो बार की छनी मैदा लगाई और थोडा सा स्नेह (तेल) चुपड़कर कर्म-सूत से भक्ति का जो सुन्दर वस्त्र बुना उसे बुनते थोडी भी तो देर न लगी।

विशेष—१. कवीर ने यहाँ भक्ति को जुलाहे कर्म से सम्बन्धित उपमानो द्वारा स्पष्ट किया है, इससे उनकी उपमा और रूपक योजना मे कुछ दुरूपता अवश्य आ गयी है। किन्तु यदि उसे जुलाहे कर्म-ज्ञान के सन्दर्भ मे देखे तो वह सर्वथा स्पष्ट है।

२ उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलकार स्वाभाविक ही पद मे आ गये हैं।

> ऐसा औसर बहुरि न आव, रांम मिल पूरा जन पाव ॥टेक॥
> जनम अनेक गया अरु आया, की बेगारि न भाड़ा पाया।
> भेष अनेक एकधूं कैसा, नांनां रूप धरै नट जैसा ॥
> दांन एक मांगों कवलाकंत, कबीर के दुख हरन अनंत ॥११०॥

शब्दार्थ—औसर=अवसर। पूरा जन=पूर्ण पुरुष,ब्रह्म। भाडा=किराया। कवलाकत=कमलाकान्त, लक्ष्मीपति, विष्णु, ब्रह्म।

कवीर कहते हैं कि यह मनुष्य जन्म जैसा सुअवसर फिर प्राप्त नही हो सकेगा अत' भक्ति को अपना ले जिससे पूर्ण पुरुष नारायण की प्राप्ति हो जाय। हे जीव ! तू नाना योनियो मे जन्म गवा-गवा कर आया है, किन्तु सब मे तू बेगार की है जिसका तुझे कोई फल नही प्राप्त होगा। हे प्रभु ! उन विभिन्न जन्मों मे मैंने नाना वेष नट के समान धारण किये हैं, भाव यह है कि भिन्न-भिन्न योनियो मे भिन्न-भिन्न स्वरूप प्राप्त किया है। कवीर कहते हैं कि हे लक्ष्मीकान्त ! हे प्रभु ! मैं आपसे एक ही वरदान माँगता हू, वह यह कि आप मेरे अनन्त दुखो को दूर कर दीजिए।

विशेष=१. कवीर का पुनर्जन्म मे दृढ विश्वास ऐसे ही पदों से प्रकट होता है।

२. कवीर पर वैष्णव प्रभाव की घोषणा यत्र-तत्र प्रभु के लिए आये यह वैष्णव नाम भी करते है।

३ उपमा अलकार।

हरि जननीं मैं बालिक तेरा,
काहे न औगुंण बकसहु मेरा ॥टेक॥
सुत अपराध करैं दिन केते, जननीं कै चित रहैं न तेते।
कर गहि केस करैं जौ घाता, तऊ न हेत उतारैं माता।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ॥१११॥

शब्दार्थ—सरल है।

हे प्रभु ! आप माता हैं और मैं तुम्हारा अबोध बालक हूं। तुम मेरे अवगुणो पापों को क्षमा क्यो नही कर देते ? बालक दिवस मे न जाने कितने अपराध करता है, किन्तु माता के हृदय में उनमे से एक भी नही रह जाता। माता का हाथ पकड़ कर तो कभी बाल आदि खीचकर बालक उसे दुख पहुचाता है, किन्तु तो भी माता उस से अपनी स्नेह छाया नही हटाती। कबीर बुद्धिपूर्वक विचार कर एक बात कहता है कि यदि पुत्र दुखी रहता है तो माता भी उसके दुख से व्यथित रहती है।

भाव यह है कि प्रभु मैं दुखी हूं, आप मेरे दुख से व्यथित हो मेरा दुख हर लीजिए।

विशेष—१ कबीर के सम्बन्ध भावना के ये पद उन्हे ईश्वर के बहुत समीप पहुचाकर वैष्णव रहस्यवादी भक्तो के साथ-साथ सूर, तुलसी जैसे भक्तों की कोटि मे पहुचा देते है।

२. प्रभु से ऐसे ही निकट सम्बन्ध स्थापित कर हृदय निवेदन की प्रथा बड़ी पुरातन है, तुलना कीजिए—

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥"

गोब्यंदे तुम्ह थैं डरपौं भारी।
सरणाई आयौ क्यूं गहिये, यहु कौंन बात तुम्हारी ॥टेक॥
धूप दाझतैं छांह तकाई, मति तरवर सचपाऊं।
तरवर मांहैं ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊं ॥
जे बन जलै त जल कूं धावै, मति जल सीतल होई।
जलही मांहि अगनि जे निकसै, और न दूजा कोई ॥
तारण तिरण तिरण तूं तारण, और न दूजा जांनौं।
कहै कबीर सरनांई आयौं, आंन देव नहीं मांनौं ॥११२॥

शब्दार्थ—गोब्यदे=गोविन्द, प्रभु। दाझतै=जलते हुए, झुलसते हुए। तकाई=देखी। तरवर=तरुवर। सचपाऊ=शान्ति पाऊं। सरनाई=शरण मे।

कबीर कहते है कि हे प्रभु ! मुझे आपसे बड़ा भय लगता है, इसीलिए आपकी शरण मे आया हू। किन्तु आप शरण में आये हुए की भी रक्षा नही कर रहे हैं, यह आपका कैसा न्याय है ? संसार के माया-मोह की अग्नि मे जलते हुए मैंने

आपकी शीतल भक्ति का सहारा देखा, किन्तु अब उस प्रभु जिस तरुवर की भक्ति छाया है, की शरण मे आकर भी शान्ति लाभ नही हो रहा है। यदि तरु-से ही अग्नि निकलने लगे तो मैं उस पाप-ताप को कैसे शान्त करूंगा? यदि संसार रूपी वन जलने लगे और मै प्रभु रूप शीतल जल की ओर आऊ किन्तु यदि वह जल भी शीतल न करे तो मेरी क्या दशा होगी! कबीर कहते है कि हे प्रभु। आप ही मेरे उद्धारक हैं, इस ससार-सागर से पार उतारने वाले हैं, मेरा सहायक और कोई नही हैं। हे प्रभु! मैं तो एकमात्र आपकी ही शरण मे आ गया हू, किसी अन्य आराध्य को नही जानता। मेरे एकमात्र आप ही हैं, अतः मेरी रक्षा कीजिए।

मैं गुलांम मोहि बेचि गुसांइं, तन मन धन मेरा रांमजी कै तांइं ॥टेक॥
आंनि कबीरा हाटि उतारा, सोई गाहक सोई बेचनहारा ॥
बेचै रांम तौ राखै कौंन, राखै रांम तौ बेचै कौंन।
कहै कबीर मै तन मन जार्‌या, साहिब अपना छिन न बिसार्‌या ॥११३॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि हे प्रभु! मैं तुम्हारा दास हूं, मेरा तन, मन, धन सर्वस्व आपके लिए ही है अतः आप मुझे चाहे तो बेच दें। उस स्वामी ने कबीर को लाकर इस ससार रूपी बाजार मे रख दिया है—वस्तुतः वही मेरा बेचने वाला है और वही क्रय करने वाला। यदि मुझे राम बेच देना चाहे तो फिर भला कौन ऐसा है जो मुझे ससार मे रख सके, एवं यदि वह रखना चाहे तो फिर भला बेच कौन सकता है। कबीर कहते हैं कि मैंने प्रभु के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है, प्रत्येक पल मेरा प्रभु के लिए ही है।

विशेष—भगवान् के प्रति पूर्णतया समर्पण भारतीय सन्तो की प्रमुख विशेषता है। यही विशेषता कबीर के इस पद मे भी स्पष्टरूपेण परिलक्षित होती है।

अब मोहि राम-भरोसा तेरा, और कौंन का करौं निहोरा ॥टेक॥
जाके रांम सरीखा साहिब भाई, सो क्यूं अनत पुकारन जाई।
जा सिरि तीनि लोक कौ भारा, सो क्यूं न करै जन की प्रतिपारा।
कहै कबीर सेवौ बनवारी, सींचौ पेड़ पीवै सब डारी ॥११४॥

शब्दार्थ—निहोरा=आश्रय। सरीखा=समान। अनत=अन्यत्र, दूसरी जगह। प्रतिपारा=प्रतिपालन, पालन-पोषण।

कबीर कहते है कि हे प्रभु! अब मुझे केवल मात्र आपका ही आश्रय है, अब मैं किसकी वन्दना आपके अतिरिक्त करूँ? जिसके पूर्ण समर्थ राम जैसे स्वामी है उसे अन्यत्र किसी और की वन्दना करने से क्या लाभ? जिस प्रभु राम पर तीनो लोकों के पालन-पोषण करने का भार है, वह भला अपने भक्त की हितचिन्ता क्यो न करे? कबीर कहते है कि प्रभु की भक्ति करने मे ही मंगल है। जिस प्रकार पेड़ की जड़ को

सीचने से समस्त शाखाएँ स्वयं जल प्राप्त कर लेती है उसी भाँति प्रभ-भक्ति से समस्त कामनाएँ स्वयं सफलीभूत हो जाती है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलकार।

जियरा मेरा फिरै उदास।
रांम बिन निकसि न जाई सास, अजहूँ कौंन आस ॥टेक॥
जहां जहां जाऊं रांम मिलावै न कोई, कहौ संतौ कैसें जीवन होई।
जरै सरीर यहु तन कोई न बुझावै, अनल दहै निस नींद न आवै॥
चंदन घसि घसि अंग लगाऊं, रांम बिनां दारन दुख पाऊं।
सत संगति मति मन करि धीरा, सहज जांनि रांमहि भज कबीरा ॥११५॥

शब्दार्थ—अनल=आग। दहै=जलाती है। दारन=दारुण, भयकर।

कबीर कहते है कि मेरा मन ससार से उदास रहता है। मुझे शका है कि कही बिना राम भक्ति के ही यह जीवन समाप्त न हो जाय। हे साधुओ! मुझे बताओ कि मैं कैसे जीवन धारण करूँ, जहाँ-जहाँ भी प्रभु दर्शन की आशा मे जाता हूँ मुझे कोई भी प्रभु से साक्षात्कार नही कराता। मेरा यह शरीर रात-दिन विरह की आग में दग्ध होता रहता है, किन्तु कोई इसका ताप नही मिटाता। शरीर की शान्ति के लिए चाहे मैं शरीर पर घिस-घिस पर चन्दन लगाऊ, किन्तु बिना प्रभु-भक्ति के मैं दु:खों की दारुण व्यथा से व्यथित हो रहा हूं। कबीर कहते है कि हे मन! तू साधु-सगति करता हुआ राम भक्ति मे अपनी चित्तवृत्तियाँ केन्द्रित कर।

रांम कहौ न अजहूँ केते दिना, जब ह्वै है प्रांन प्रभू तुम्ह लीनां ॥टेक॥
भौ भ्रमत अनेक जन्म गया, तुम्ह दरसन गोव्यंद छिन न भया।
भ्रम्य भूलि पर्यौ भव सागर, कछू न बसाइ बसोधरा॥
कहै कबीर दुखभजनां, करौ दया दुरत निकंदनां ॥११६॥

शब्दार्थ—छिन न भया=क्षण भर के लिए भी नही हुआ। दुरत निकदना=पापो को नष्ट करने वाले।

कबीर कहते हैं कि हे मन! तुझे कितने दिन इस ससार मे व्यतीत हो गये किन्तु आज तक तूने प्रभु का नाम उच्चारण नही किया। अब वह समय आ पहुचा है जब ईश्वर इस जीवन को समाप्त कर देगा। इस जग के भ्रम मे पड़े हुए अनेक जन्म व्यतीत हो गये किन्तु प्रभु दर्शन एक क्षण के लिए भी न हो सका। इस भ्रम में भ्रमित होकर ही मैं संसार-समुद्र मे पड़ा हू, इससे निकलने के लिए प्रभु मेरा कोई वश नही चलता। कबीर कहते है कि है दुख भञ्जन प्रभु! अब एक दम इस संसार से पार निकाल दो।

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव, हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ॥टेक॥
हरि मेरा पीव मै हरि की बहुरिया, रांम बड़े मै छुटक लहुरिया।
किया स्यंगार मिलन कै तांई, काहे न मिलौ राजा रांम गुसांई॥
अब की बेर मिलन जो पांऊं, कहै कबीर भौ-जलि नही आंऊं ॥११७॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हे सखि ! सुन। प्रभु मेरे प्रियतम हैं, उनके अभाव में मेरे प्राण पल भर भी नही रह सकते। वे मेरे पति हैं तो मैं उनकी पत्नी। वे महान् है मैं क्षुद्र। मैंने प्रेम-पथ पर अग्रसर होकर शृंगार किया, किन्तु प्रियतम राम न जाने क्यो नही मिल रहे हैं ? कबीर कहते हैं कि उस प्रियतम से यदि अबकी बार मिलन हो गया तो फिर मैं इस ससार-जल मे डूबने के लिए नही आऊँगा।

रांम बान अन्ययाले तीर, जाहि लागे सो जानै पीर ॥टेक॥
तन मन खोजौं चोट न पांऊं, ओषद मुली कहां घसि लांऊं।
एकहीं रूप दीसै सब नारी, नां जानौं को पीयहि पियारी ॥
कहै कबीर जा मस्तकि भाग, नां जांनूं काहू देइ सुहाग ॥११८॥

शब्दार्थ—ओषद=औषध। मूली=मूलि। दीसै=दृष्टिगत।

कबीर कहते हैं कि राम भक्ति का बाण लगा है, इसकी वेदना को वही जान सकता है जिसको स्वयं यह बाण लगा है। इस बाण का प्रहार देखने के लिए मैं तन-मन को खोजता हू, किन्तु कही घाव दृष्टिगत नही होता वैसे वेदना शरीर के अंग प्रत्यंग मे है। इसलिए यदि कोई उपचार भी करूँ तो समझ मे नही आता कि औषधि किस स्थान पर लगाऊँ। संसार मे जितनी भी आत्माएँ है वे सब एक ही रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु यह कहना बड़ा कठिन है कि इनमे प्रभु को यह प्रिय होगी। कबीर कहते हैं कि ज्ञात नही किस पुरुष का ऐसा भाग्य होगा जिसे वह प्रियतम अचल सौभाग्य प्रदान कर अंगीकार करेंगे।

आस नहीं पूरिया रे, रांम बिन को कर्म काटणहार ॥टेक॥
जद सर जल परिपूरता, चात्रिग चितह उदास।
मेरी विषम कर्म गति ह्वै परी, तायै पियास पियास ॥
सिध मिलै सुधि नां मिलै, मिलै मिलावै सोइ।
सूर सिध जब भेटिये, तब दुख न ब्यापै कोइ ॥
बोछै जलि जैसै मछिका, उदर न भरई नीर।
त्यूं तुम्ह कारनि केसवा, जन ताला बेली कबीर ॥११९॥

शब्दार्थ—कर्म काटणहार=कर्म-बंधन से मुक्त करने वाला। जद=जैसे। चात्रिग=चातक। बोछै जलि=जल मे बस कर भी। मछिका=मछली।

कबीर कहते है कि प्रभु के बिना कोई न तो आशा को पूर्ण कर सकता है और न इस भव-बन्धन का ही विदूरित कर सकता है। जिस प्रकार सरोवरो जल के परिपूर्ण रहने पर भी चातक की प्यास नही मिटती उसी भाँति मेरी भी गति बड़ी विचित्र हो गई है, इसीलिए इस ससार के आनन्दो मे भी मेरी तृप्ति नही हो रही है साधु इत्यादि सज्जन-गण तो मिल जाते हैं किन्तु कोई प्रभुदर्शन प्राप्त भक्त नहीं मिलता जो प्रभु से मिला दे। जब ऐसा व्यक्ति मिल जायेगा तब कोई दु.ख शेष नहीं

रह जायगा। पानी में पड़े हुए भी जैसे मछली का पेट जल से ही नही भरती (वायु-भक्षरण भी करती है) उसी भाँति कवीर कहते है कि इस संसार के आनन्दों में भी आपके बिना मेरी तृप्ति सम्भव नही।

विशेष—दृष्टात अलंकार।

रांम बिन तन की ताप न जाई, जल मैं अगनि उठी अधिकाई ॥टेक॥
तुम्ह जलनिधि मै जल कर मीनां, जल मैं रहौं जलहिं बिन षींनां ॥
तुम्ह प्यंजरा मै सुवनां तोरा, दरसन देहु भाग बड़ मोरा।
तुम्ह सतगुर मै नौतम चेला, कहै कबीर रांम रमूं अकेला ॥१२०॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि इस ससार मे रहते हुए तो इस शरीर के ताप और भी बढ़ते जाते हैं। विना प्रभु के इन तापों का शमन सम्भव नही। यदि प्रभु आप समुद्र है तो मैं जल पर ही जीवन धारण करने वाली मछली हूँ किन्तु विडम्बना है कि मैं सर्वान्तिर्यामी प्रभु के पास रहते हुए भी उनके दर्शन के लिए तडपती हू। यदि आप पिंजड़े हैं तो मैं उसमें आबद्ध तोता हूं जिसकी सीमाएँ वह पिंजड़ा ही है। हे प्रभु ! यदि आप दर्शन दे तो वह मेरा बड़ा भाग्य होगा। यदि आप सद्गुरु हैं तो मैं आपका आज्ञाकारी शिष्य हूं। कबीर कहते हैं कि वह प्रभु एक ही है और सर्वत्र रमण करता है।

गोव्यंदा गुंण गाईये रे, तार्थं भाई पाईये परम निधांन ॥टेक॥
ऊंकारे जग ऊपजै, बिकारे जग जाइ।
अनहद बेन बजाइ करि, रह्या गगन मठ छाइ ॥
झूठै जग डहकाइया रे, क्या जीवण की आस।
रांम रसांइण जिनि पीया तिनिकौं बहुरि न लागी रे पियास ॥
अरध षिन जीवन भला, भगवंत भगति सहेत।
कोटि कलप जीवन व्रिथा, नांहिन हरि सूं हेत ॥
संपति देखि न हरषिये, विपति देषि न रोइ।
ज्यूं सपति त्यूं विपति है, करता करै सु होइ ॥
सरग लोक न बांछिये, डरिये न नरक निवास।
हूंणां था सो ह्वै रह्या, मनहु न कीजै झूठी आस ॥
क्या जप क्या तप संजमां, क्या तीरथ व्रत अस्नान।
जो पै जुगति न जांनियै, भाव भगति भगवान ॥
सुंनि मंडल मैं सोधि लै, परम जोति परकास।
तहूवां रूप न रेष है, फूलनि फूल्यौ रे अकास।
कहै कबीर हरि गुंण गाइ लै, सत संगति रिदा मंझारि।
जो सेवग सेवा करै, ता संगि रमै रे मुरारि ॥१२१॥

शब्दार्थ—विकारे=पाप-कर्म । अनहद बेन=अनहद नाद । रसाइण=रसायन । वाछिये=इच्छा करना । संजमा=सयम । सुनि=शून्य । नहूवां=उसका ।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य ! तू प्रभु का गुणगान कर, इसी उपाय से उन परमनिधान ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है । 'ओ३म्कार' का स्मरण करने से ससार बनता है और पाप-कर्मो से तो इस लोक मे भी जीवन नष्ट हो जाता है । वह ब्रह्म अनहद नाद उत्पन्न कर शून्य में रम रहा है । समस्त संसार जीवन की आशा में वृथा ही जग के धोखे मे पडा हुआ है । जिन्होने राम-भक्ति का अमूल्य रस पान कर लिया, उन्हे फिर ससार-रसो की प्यास शेष नही रह जाती ।

यदि प्रभु से प्रेम नही है तो कोटि-कोटि युगो का दीर्घ जीवन वृथा और प्रभु-भक्ति युक्त एक क्षण का जीवन भी श्रेष्ठ है । सम्पत्ति सुख को देखकर हर्षित नही होना चाहिए और न विपत्ति को देखकर दुखित होना चाहिए । स्वर्ग लोक की इच्छा करना और नरक से भयभीत होना भी उचित नही है क्योकि मन मे इन मिथ्या आशा-आकाक्षाओ को रखने से क्या लाभ ? जो होना है वह तो होकर ही रहेगा—

"सुखदु.खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।" २।३८ (गीता)

× × ×

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेपु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि ॥" २।४७ (गीता)

प्रभु जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, स्नान आदि विविध कर्मो से प्राप्त नही होते जब तक प्रेम—भक्ति सहित उनसे हृदय निवेदन नही किया जाता तब तक सब व्यर्थ है ।

हे साधक ! तू उस अलख निरजन ज्योतिष्मान को शून्यमण्डल, ब्रह्मरन्ध्र मे खोज ले । वहाँ उसका न तो कोई आकार है और न वर्ण, बिना वृत्त के ही पुष्प के समान वह वहाँ विकास पा रहा है । कबीर कहते हैं कि हे मानव ! तू प्रभु का गुणगान कर, साधु सगति कर, क्योकि इसी से प्रभु-प्राप्ति होगी । जो प्रभु की सेवा प्रेमाभक्ति द्वारा करता है उसे उनका नैकट्य अवश्य ही प्राप्त होता है ।

विशेष—अनहदवेन=अनहदवेणु, अनहद् नाद से तात्पर्य ।
गगन मठ=शून्यस्थान, ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रदल कमल से तात्पर्य ।
सुनि मण्डल=शून्यमण्डल, " " " ।
परम जोति परकाश=नाथ पथी योग साधना मे ब्रह्म को परम ज्योतिस्वरूप निरजन, निराकार माना गया है ।

मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई ।
जा दिन तेरो कोई नांहीं, ता दिन रांम सहाई ॥टेक॥
तंत न जानूं मंत न जानूं, जानूं सुंदर काया ।
मीर मलिक छत्रपति राजा, ते भी खाये माया ॥

वेद न जांनूं भेद न जांनूं, जानूं एकहि रांमां।
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हां, मुख कीन्हौं जित नांमां॥
राजा अंबरीक कै कारणि, चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौ, भगत की सरन ऊबारै॥१२२॥

शब्दार्थ—तंत=वच। मीर=श्रेष्ठ महान्। पछिवारा=पीठ। अम्बरीक= एक राजा का नाम।

कबीर कहते है कि हे मन! तू सर्वदा प्रभु का स्मरण कर। जब मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होगा तब उसका राम के अतिरिक्त और कोई सहायक नही होगा। कबीर आगे कहते है कि मै तन्त्र, मंत्र—किसी भी पूजा-विधान से जानकारी नही रखत, केवल रूप-सौन्दर्य मे भटकता रहता हूं। यह शरीर नाशवान् है—सबको माया नष्ट कर देती है मीर, राव, राजा, छत्रपति सब ही नष्ट हो जाते हैं। हे प्रभु! मैं वेदादि शास्त्रो के ज्ञान से परिचित नही हू, मैं तो एकमात्र आपको ही जानता हू। पण्डित लोग व्यर्थ के विधि-विधानो मे पडे रहते है, किन्तु मै तो नामस्मरण मे ही विश्वास रखता हू। कबीर के प्रभु बड़े दयालु है, वे भक्त को दुख से उबारकर शरण मे ले लेते हैं, इन्होने राजा अम्वरीष की दुर्वासा से सुदर्शन चक्र द्वारा बचाकर रक्षा की।

विशेष—१ बीडी विचित्र बात है कि कबीर प्रभु को वैष्णवो के अवतार न मानते हुए भी अम्वरीष आदि की कथा के साथ सम्वद्ध करते है, किन्तु उनका वास्तविक अर्थ यही लक्षित होता है कि विष्णु, राम, कृष्ण, आदि को वे पूर्ण ब्रह्म के रूप में स्वीकार करते है। दूसरे शव्दो मे यदि यह कहे कि अपने पूर्ण ब्रह्म के लिए उन्होंने इन वैष्णव नामो को स्वीकार कर लिया था तो अनुचित न होगा। ऐसा करने से उनका अलख निरंजन ब्रह्म जनसाधारण के स्तर पर उतरकर सर्वग्राह्य बन जाता है।

२. अम्बरीष—"वैवस्वत मनु के पौत्र महाराज नाभाग के पुत्र थे। परम प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे, इन्ही के कारण दुर्वासा ऋषि का विष्णु के चक्र ने पीछा किया था।"—कबीर बीजक।

रांम भणि रांम भणि रांम चिंतामणि, भाग बड़े पायौ छाड़ै जिनि॥टेक॥
असंत संगति जिनि जाइ रे भुलाइ, साध संगति मिलि हरि गुंण गाइ।
रिदा कवल मैं राखि लुकाइ, प्रेम गांठि दे ज्यूं छूटि न जाइ॥
अठ सिधि नव निधि नांव मंझारि, कहै कबीर भजि चरन मुरारि॥१२३॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य! तू राम रूप चिंतामणि का भजन कर। उन व्यक्तियों के भाग्य बडे महान है जो इस संसार से मुक्त हो गये है। वे नर भी भाग्यशाली है जो दुर्जनो की सगति छोडकर साधु-सगति या प्रभु गुणगान करते है।

कवीर कहते है कि वह ब्रह्म शून्य स्थान मे छिपा हुआ वैठा है। उसे प्रेम भक्ति के द्वारा वहाँ रोके रखो कभी अन्यत्र न चला जाय। कवीर कहते है कि आठों सिद्धि, नवो निधि का सुख प्रभु नाम मे ही है अतः उन्ही के चरण कमलों का ध्यान करो।

विशेष—१. चिंतामणि एक मणि विशेष जिसकी प्राप्ति से समस्त कामनाए तृप्त हो जाती हैं।

२ आठ सिद्धि—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व।

३. नवनिधि—पद्म, महापद्म, शख, मकर, कच्छप, मुकन्द, कुन्द, नील, वर्च।

४. कहै कवीर भजि चरण मुरारि—कवीर निराकार ईश्वर के उपासक हैं किन्तु उन पर वैष्णव प्रभाव इतना प्रवल है कि वे उस निरकार को कहीं-कही साकार वना देते हैं। निराकार के 'चरन' भजने की कैसी संगति।

निरमल निरमल राम गुंण गावै, सो भगता मेरे मनि भावै ॥टेक॥
जे जन लेहि रांम को नांउं, ताकी मैं वलिहारी जाउं।
जिहि घटि रांम रहे भरपूरि, ताकी मैं चरनन की धूरि॥
जाति जुलाहा मति को धीर, हरषि गुंण रमै कवीर ॥१२४॥

शब्दार्थ—सरल है।

कवीर कहते हैं कि जो भक्त निर्मल-मन होकर राम के गुणो का गान करता है वह मेरे मन को अच्छा लगता है। जो भक्त प्रभु का स्मरण करता है मैं उसकी वलि-वलि जाता हू। वैसे मैं जुलाहे जैसी पिछडी जाति का हूं किन्तु भक्ति पथ मे वडा धैर्यवान् हूं, मैं हर्षित हो कर राम का गुणगान करता हू।

जा नरि रांम भगति नहीं साधी, सो जनमत काहे न मूवो अपराधी ॥टेक॥
गरभ मुचे मुचि भई किन बांझ, सूकर रूप फिरै कलि मांझ।
जिहि कुलि पुत्र न ग्यांन विचारी, वाकी विधवा काहे न भई महतारी॥
कहै कवीर नर सुंदर सरूप, रांम भगति विन कुचल करूप ॥१२५॥

शब्दार्थ—जनमत=जन्म लेते ही। मूवौ=मरना। मुचे=समाप्त होना। कुचल=दुश्चरित्र।

कवीर कहते हैं कि जिसने प्रभु भजन नही किया वह अपराधी, पापी जन्म लेते ही क्यों न मर गया। वह तो मनुष्य के रूप मे सुअर जैसा इस कलियुग में रह रहा है, वह गर्भ में ही क्यो न समाप्त हो गया, उसकी माँ बांझ क्यो न हो गई। जिस परिवार में पुत्र-ज्ञान सम्पन्न नही हुआ उसकी जननी उसे जन्म देने से पूर्व विधवा क्यो न हो गई। कवीर कहते है कि चाहे मनुष्य कितना ही रूपवान् क्यों न हो किन्तु प्रभु भक्ति के विना वह दुश्चरित्र और कुरूप है।

विशेष—पद के भाव की तुलना कीजिए—
"येषा न विद्या तपो न दानम्, ज्ञान न शील न गुणो न धर्मः।
ते मृत्यलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥"

रांम बिनां ध्रिग ध्रिग नर नारी, कहा तै आइ कियौ संसारी ॥टेक॥
रज बिनां कैसौ रजपूत, ग्यांन बिना फोकट अवधूत।
गनिका कौ पूत पिता कासौं कहै, गुर बिन चेला ग्यांन न लहै॥
कवारी कंन्यां करै स्यंगार, सोभ न पावै बिन भरतार।
कहै कबीर हूँ कहता डरूं, सुषदेव कहै तौ मै क्या करौं ॥१२६॥

शब्दार्थ—ध्रिग = धिक्, धिक्कार। स्यगार = शृंगार। सोभ = शोभा।

कबीर कहते है कि वे नर-नारी जिन्होने संसार में आकर प्रभु का नाम नही लिया धिक्कारने योग्य हे। जिस भाँति वैभव के बिना, राजरूपी ठाट के विना राजपुत्र अथवा राजपूत का कोई अर्थ नही, उसी प्रकार बिना गान के योगी किस काम का। सद्गुरु के बिना शिष्य ज्ञान लाभ वैसे ही नही कर सकता जैसे वेश्या-पुत्र यह कहने का सौभाग्य प्राप्त नही कर पाता कि वह अमुक का पुत्र है। कबीर कहते हैं कि शुक-देव आदि प्रतिष्ठित मुनिगण कहते है कि बिना गुरु के और प्रभु-भक्ति के मनुष्य वैसे ही है जैसे कुमारी कन्या बिना पति के व्यर्थ ही शृंगार करती है।

विशेष—सुखदेव—इन्हे 'सुखदेव' भी कहा जाता है। "पुराण मे कहा है कि व्यास जी के पुत्र शुकदेव जी माया के डर से बारह वर्ष तक माता के गर्भ मे रहे थे। व्यास जी के वहुत समझाने पर बाहर आए, पर जन्मते ही वन को चल दिये, व्यास जी पुत्र मोह मे विरह कातर होकर पीछे-पीछे चले। मार्ग मे कुछ ब्रह्मचारी श्री कृष्ण सम्बन्धी आधा श्लोक पढ रहे थे उसे सुन कर शुकदेव जी को पूरा श्लोक जानने की इच्छा हुई। व्यास जी ने कहा मैंने अठारह हजार श्लोक बनाए हैं। भगवान् व्यास ने पुत्र का सम्पूर्ण भागवत पढ़याया और कहा बिना गुरु के ज्ञान अधुरा रहता है। तुम महाराज जनक से अध्यात्मविद्या प्राप्त कर लो। शुकदेव जी ने पिता की यह आज्ञा स्वकार करली और राजा जनक के पास जाकर ब्रह्म विद्या प्राप्त की।"—
कबीर वीजक !

जरि जाव ऐसा जीवनां, राज' रांम सूं प्रीति न होई।
जन्म अमोलिक जात है, चेति न देख कोई ॥टेक॥
मधुमाषी धन संग्रहै, मधुवा मधु ले जाई रे।
गयौ गयौ धंन मूंढ जनां, फिरि पीछै पछिताई रे॥
बिषिया सुख कै कारनै, जाइ गनिका सूं प्रीति लगाई।
अंधै आगि न सूझई, पढ़ि पढ़ि लोग बुझाई॥
एक जनम कै कारणै, कत पूजौ देव सषंसौ रे॥
काहे न पूजो रांम जी, जाकौ भगत महेसौ रे॥

कहैं कबीर चित चंचला, सुनहू मूंढ मति मोरी।
विषिया फिरि फिरि आवई, राजा रांम न मिलै बहोरी ॥१२७॥

शब्दार्थ—अमोलिक=अमूल्य । चेति=सावधान हो । मधुमाषी=मधु मक्खी । मधुवा=शहद एकत्र करने वाला । गनिका=वेश्या । सहंसौ=सहस्र । महेसौ=शिव ।

कबीर कहते है कि ऐसा जीवन, जिसमें प्रभु से प्रेम न हो, समाप्त हो जाय। यह अमूल्य जन्म प्रभु भक्ति बिना व्यर्थ व्यतीत हुआ जा रहा है, किन्तु कोई सावधान होकर इसका कुपरिणाम नही देखते । मधुमक्खी मधु संचित करती है, किन्तु उसे मधु-विक्रेता इकट्ठा कर ले जाता है और वह पीछे पछताती रहती है, इसी भांति मनुष्य तू विविध पाप कर्मों से जो सम्पत्ति संचित कर रहा है उसका उपभोग करने के लिए तू शेष कहाँ रहेगा ? इस मनुष्य जन्म के चले जाने पर हे मूर्ख ! तू पीछे पछतायेगा । विषयानन्द प्राप्त करने के लिये ही वेश्या से लोग प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अज्ञानांध को दूर का दृष्टिगोचर नही होता चाहे कोई उन्हे कितना ही शास्त्रसम्मत वचनो द्वारा समझावे । इस एक जन्म के लिए क्यो सहस्रों देवताओ की आराधना करते हो, उस एक परम प्रभु राम को क्यो नही भजते जिनका भजन शिव भी करते है ।

कबीर कहते है कि हे चंचल मूर्ख-अज्ञानी मन मेरी बात सुन । यह विषय वासना का आनन्द तो तुझे अन्य जन्मो मे भी प्राप्त हो जायेगा किन्तु फिर प्रभु दर्शन और प्रभु-भक्ति का अवसर प्राप्त नही होगा ।

रांम न जपहु कहा भयौ अंधा,
रांम बिनां जंम मेलै फंधा ॥टेक॥
सुत दारा का किया पसारा, अंत की बेर भये बटपारा ॥
माया ऊपरि माया मांडीं, साथ न चलै पोषरी हांडीं ॥
जपौ रांम ज्यूं अंति उबारैं, ठाढी बांह कबीर पुकारैं ॥१२८॥

शब्दार्थ—मेलै=डालेगा । दारा=स्त्री, पत्नी ।

कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू राम नाम क्यो नही जपता, अज्ञानांध क्यो हो रहा है । प्रभु भक्ति बिना काल तुझे कवलित कर जायगा । अब तो तू पुत्र-पत्नी आदि के लिए पाप कर्मो का प्रसार कर रहा है, किन्तु मृत्यु के समय कोई तेरा साथ नही देगा । माया-मोह का बन्धन मिथ्या है, तेरे साथ तो खाली हांडी तक नही जायेगी—फिर तू क्यो पाप कर्मो मे रत है । हे मनुष्यो ! राम का भजन करो, जो संसार-सागर से बाहर पकड़कर उबार लेता है ।

डगमग छाड़ि दु मन बौरा ।
अब तौ जरें बरें बनि आवैं, लीन्हौं हाथ सिंधौरा ॥टेक॥
होइ निसंक मगन ह्वै नाची, लोभ मोह भ्रम छाड़ौ ।
सूरौ कहा मरन थैं डरपै, सती न संचै भांडौं ॥

लोक बेद कुल को मरजादा, इहै गलै मै पासी।
आधा चलि करि पीछा फिरिहै, ह्वै है जग मै हासी॥
यहु संसार सकल है मैला, रांम कहैं ते सूचा।
कहै कबीर नाव नहीं छाड़ौं, गिरत परत चढ़ि ऊँचा॥१२६॥

शब्दार्थ—डगमग=चचलता । बौरा=पागल । सचै=इकट्ठा करना । भांडौ=साँसारिक मोह-माया के पदार्थ। पासी=फाँसी, बन्धन। सूचा=अमर।

कबीर कहते है कि हे पागल मन ; तू यह चंचलता त्याग दे। अब तो मैंने हाथ मे प्रभु भक्ति का खाँडा ले लिया है, जैसे भी होगा तुझे सीधा कर दूंगा अतः तू स्वय ही सन्मार्ग पर आ जा। प्रभु-भक्ति मे मग्न हो संसार-दुखों से निशंक हो नाचते रहो और लोभ, मोह, माया-अग का परित्यग कर दो। शूरवीर मरण से नही डरते और सती स्त्री मोह मे नही आती, उसी भाति भक्त प्रभु-भक्ति पथ पर अडिग है। लोक शास्त्र एव कुल मर्यादा के बन्धन शूर और सती को मर्यादा में रखते है, किन्तु भक्त इन सब की चिन्ता किए बिना भक्ति मार्ग पर चल दिया है। यदि अब वह आधे मार्ग से ही लक्ष्य को प्राप्त किये बिना लौट पड़े तो उसकी संसार मे हंसी होगी।

कबीर कहते हैं कि यह समस्त संसार मेला है जहां आवागमन लगा ही रहता है। जो यहा प्रभु का नाम लेते है वे अमर हो जाते है, इसलिए प्रभु का सम्बल नहीं छोड़ना चाहिए, गिरते पड़ते कैसे भी हो प्रभु-मिलन के लिए कटिबद्ध रहना चाहिए।

का सिधि साधि करौं कुछ नाहीं,
रांम रसांइन मेरी रसनां मांहीं॥टेक॥
नहीं कुछ ग्यांन ध्यान सिधि जोग, ताथै उपजै नांना रोग।
का बन मैं बसि भये उदास, जे मन नहीं छाड़ै आसा पास।
सब कृत काच हरी हित सार, कहै कबीर तजि जग ब्यौहार॥१३०॥

शब्दार्थ—सिधि=सिद्ध। रसाइन=रसायन। काच=कच्चे।

कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु प्राप्ति के लिए अन्य साधनाएं, विधि-विधान क्या करूं, क्योंकि मेरी जिह्वा पर तो ब्रह्म-प्राप्ति का अचूक रसायन राम-नाम बसा है, किन्तु न तो प्रभु का नाम ले और न अन्य ज्ञान, ध्यान, जप, तप आदि करे तो उसमे अनेक दुखो का आविर्भाव होता है। विरक्त हो कर वन मे जाकर संन्यासी बनने का कोई लाभ नही, यदि मन आशा-तृष्णा का परित्याग न कर-सका। कबीर कहते हैं कि यह सब सासारिक कर्म मिथ्या है, इस ससार का कार्य-व्यापार त्याग देना चाहिए, क्योकि केवल प्रभु-भक्ति ही सत्य है।

जौ तै रसनां रांम न कहिबौ,
तौ उपजत बिनसत भरमत रहिबौ॥टेक॥

जैसी देखि तरवर की छाया, प्रांन गयें कहु का की माया।
जीवत कछू न कीया प्रवांनां, मूवा मरम को काकर जांनां॥
कंधि काल सुख कोई न सोवै, राजा रंक दोऊ मिलि रोवै।
हंस सरोवर कँवल सरीरा, रांम रसांइन पीवै कबीरा॥१३१॥

शब्दार्थ—उपजत विनसत=उत्पन्न और नष्ट होकर; जन्म-मृत्यु के फेर में। काकर= किस प्रकार। कंधिकाल=मृत्युकाल।

कबीर कहते हैं कि हे जिह्वा! यदि तू राम नाम का उच्चारण नही करेगी तो यह जीवात्मा वारम्वार जन्म-मृत्यु के फेर मे पडी रहेगी। दूसरे की धनसम्पित का अपने को कोई लाभ नही होता। मानव जीवन भर तूने ऐसा कोई कर्म नहीं किया, किन्तु मरते समय तक ज्ञान को ककर पत्थर जानता रहा। मृत्यु के समय सुखपूर्वक कोई नही रहता, राजा और भिखारी सब इस समय दुखित होते हैं।

इन सरोवर रूपी शरीर मे सहस्रदल कमल ले नि.सृत अमृत का पान कवीर कर रहा है।

विशेष—रूपक अलकार।

का नांगें का बाँधे सांम, जौ नहीं चींन्हसि आतम-रांम॥टेक॥
नागे फिरे जोग जे होई, बन का मृग मुकति गया कोई।
मूंड मुंडाये जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँती कोई॥
ब्यंद राखि जे खेलै है भाई, तौ षुसरै कौण परम गति पाई।
पढ़ें गुनें उपजै अहंकारा, अधधर डूबे वार न पारा॥
कहै कबीर सुनहु रे भाई, रांम नांम बिन किन सिधि पाई॥१३२॥

शब्दार्थ—नाँगें=नगे। चाम=चमडा, यहाँ शरीर से तात्पर्य है। चीन्हसि= पहचाना।

कवीर कहते है कि हे मनुष्यो! योगियो का आडम्बर भर कर चाहे नग्न हो जाओ या ससारी बन कर वस्त्र धारण कर लो, किन्तु जव तक हृदयस्थित परमात्मा को न पहचानो तब तक इस सबका क्या प्रयोजन है? अर्थात् इनसे कई लाभ नही। नंगे रहने से योगसाधना पूर्ण हो जाय तो वन मे जो मृग सर्वदा निर्वस्त्र रहता है, मुक्त न हो गया होता? यदि शीश पर केश न रखने मात्र से ही योगी हो जाते तो आये दिन मुंडने वाली भेड़ स्वर्ग की अधिकारी न बन गई होती। यदि शरीर की रक्षा करते हुए योगसाधना हो जाती तो खसरो को परमगति किस भाति प्राप्त होती है। कवीर कहते है कि ज्ञान को पढ़ने से उसे आत्मसात् करके भी यदि अहकार उत्पन्न हो गया तो वह नर संसार समुद्र के अतल मे डूब जाता है। राम नाम के विना ता किसी को भी परमपद प्राप्ति नही हुई।

हरि बिन भरमि विगूते गंदा।
जापैं मांऊं आपनपौ छुड़ावण, ते बीधे वहु फंदा॥टेक॥

जोगी कहैं जोग सिधि नीकी, और न दूजी भाई।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, ऐ जु कहै सिधि पाई॥
जहां का उपज्या तहाँ बिलांनां, हरि पद बिसर्‌या जबहीं।
पंडित गुनीं सूर कवि दाता, ऐ जु कहैं बड़ हंमहीं॥
वार पार की खबरि न जांनीं, फिर्‌यौ सकल बन ऐसैं।
यहु मन बोहि थके कऊवा ज्यूं, रह्यौ ठग्यौ सौ बैसैं॥
तजि बांवें दाहिंणै बिकार, हरि पद दिढ करि गहिये।
कहै कबीर गुंगै गुड़ खाया, बूझै तौ का कहिये॥१३३॥

शब्दर्थ—भरमि=भ्रम। बीधे=बांधता है। फधा=फदा, बन्धन। सिधि=सिद्धि। नीकी=अच्छी, श्रेष्ठ। लुंचित मुंडित=सिरघुटाये योगी। मोनि=मौन धारण करने वाले। विलाँनां=समाप्त होना। बार-पार=आदि-अंत।

कबीर कहते हैं कि बिना प्रभु के मनुष्य भ्रम के पाप-पंक मे फंसा रहता है। जिसके पास भी अपनी मुक्ती के लिए जाता हूं, वही स्वयं अनेक बन्धनो में बंधा हुआ है अथवा वह ऐसे उपाय बताता है जिससे और बन्धनो की सृष्टि होती है। योगी के पास यदि मुक्ति की आशा से जाओ तो वह यही बताता है कि योग-साधना ही मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है, अन्य व्यर्थ है। शीश घुटा देने वाले साधु, मौन धारण करने वाले मुनि कहते है कि हमने सिद्धि—ब्रह्म—को प्राप्त कर लिया है। कबीर कहते है कि यदि किसी साधना में प्रभ के चरण कमलों को विस्मृत कर दिया गया है तो वह तो वही की वही समाप्त हो जायगी। पण्डित, गुणवान्, शूरवीर और कवि अपने ज्ञान दम्भ में मरे जाते हैं और कहते हैं कि हम ही श्रेष्ठ है। इन्हें तो आदि—अन्त किसी का कुछ ज्ञान ही नही, व्यर्थ ही संसार मे घूमते है। मन इन विभिन्न साधनावलम्बियों के द्वारा इसी प्रकार ठगा रह गया है जैसे जहाज से उड़ा कौवा चारो ओर समुद्र पाकर भ्रमित हो जाता है। कवीर कहते हैं कि इन सबका कथन मिथ्या है, क्योंकि जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका उसकी अनुभूति तो गूगे के गुड सदृश है, वह उस का वर्णन कैसे करे? अतः हे मनुष्य! अथवा हे मन! तू इधर-उधर से पाप कर्मों को छोडकर प्रभु के चरण-कमलो को निष्ठापूर्वक दृढता से पकड ले।

चलौ बिचरी रहौ सँभारी, कहता हूँ ज पुकारी।
रांम नांम अंतर गहि नांहीं, तौ जनम जुवा ज्यूं हारी॥टेक॥
मूंड़ मुड़ाइ फूलि का बैठे, कांननि पहरि मंजूसा।
बाहरि देह बेह लपटानीं, भीतरि तौ घर मूसा॥
गालिब नगरी गांव वसाया, हांम कांम अहंकारी।
घालि रसरिया जब जंम खैंचै, तब का पति रहै तुम्हारी॥
छांड़ि कपूर गांठि विष बांध्यौ, मूल हूवा न लाहा।
मेरे रांम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा॥१३४॥

शब्दार्थ—अतर=हृदय। कूलि=फूलकर प्रसन्न होकर। गालिव प्रय। रसरिया=रस्सी। जम=मृत्यु। पति=इज्जत। लाहा=गर्भ।

कबीर कहते है कि हे मनुष्यो! यदि तुमने राम-नाम, प्रभु-नाम, को हृदय मे धारण नही किया तो ऐसा समझो कि यह जन्म जुए मे हार दिया। मैं पुकार-पुकार कर इस विचार की घोषणा करता हू, इससे तुम सावधान हो जाओ। हे सन्यासी! तुम शीश घुटा कर, कानो मे मजूषा धारण कर प्रसन्न होकर क्या बैठे हो? तुमने बाहर ही तो शरीर पर भस्म रमा रखी है, तुम्हारा हृदय तो विषय-वासना विकारों से गन्दा है। इन वाह्याडम्वरो से ही तो प्रभु प्राप्ति नही हो जाती? उस प्रभु का स्थान अत्यन्त उच्च स्थल पर है किन्तु वहाँ पहुचने मे दम्भ और काम बहुत वाधक है। रस्सी डाल कर जब काल तुम्हे खीचेगा तब तुम्हारी क्या लज्जा शेष रह जायगी। प्रभु रूप कपूर को छोडकर विष रूपी विषय-वासनाओ को सहेज रहा है, इससे तो मानव न तुझे मूल—ब्रह्म—ही प्राप्त होगा और न कुछ लाभ प्राप्त होगा। कबीर जुलाहा कहते हैं कि मेरे प्रभु का वास अभय स्थान पर है, उसे प्राप्त कर ससार में किसी भाति के ताहो का भय शेष नही रह जाता।

कौंन बिचारि करत हौ पूजा,
आतम रांय अवर नहीं दूजा ॥टेक॥
बिन प्रतीतैं पानी तोड़ै, ग्यान बिनां देवलि सिर फोड़ै ॥
लुचरी लपसी आप संवारै, द्वारै ठाढा रांम पुकारै।
पर-आत्मा जौ तत बिचारै, कहि कबीर ताकै बलिहारै ॥१३५॥

शब्दार्थ—जवर=अन्य। प्रतीतै=प्रवति, विश्वास देवलि=मंद्रिर मैं।

कबीर कहते है कि तुम क्या सोचकर दूसरे की पूजा कर रहे हो वह प्रभु तो हृदयस्थ है, अन्यत्र कही नही। विना विश्वास के पूजा मे नैवेद्य चढाना तो पत्ती ताड़ने के समान ही है एव विना ज्ञान के मन्दिर पर माथा टेकना पत्थर पर शीश रखना मात्र ही है। हे मनुष्य! तू विषय-वासनाओं मे फसा हुआ है और उधर प्रभु भी मिलन के लिए तुझे पुकार लगा रहे हैं। कबीर उन पुरुषो की बलिहारी जाते हैं जो परमात्मा का विचार करते हैं, उसकी प्राप्ति के लिए कटिवद्ध रहते है।

कहा भयौ तिलक गरैं जपमाला, मरम न जांनैं मिलन गोपाला ॥टेक॥
दिन प्रति पसू करैं हरिहाई, गरैं काठ वाकी बांनि न जाई।
स्वांग सेत करौं मनि काली, कहा भयौ गलि माला घाली ॥
बिन ही प्रेम कहा भयौ रोयें, भीतरि मैल बाहरि कहा धोये।
गल गल स्वाद भगति नहीं धीर, चीकन चंदवा कहै कबीर ॥१३६॥

शब्दार्थ—हरिहाई=पास जाना। वाँनि=आदत। सेत=श्वेत, निर्मल। चीकन चंदवा=चन्दन के समान चीकना।

कबीर कहते हैं कि यदि मनुष्य प्रभु मिलन के रहस्य से परिचित नही तो गले में माला, माथे पर तिलक लगा लेने से क्या लाभ? जंगल मे भागने वाले पशु के गले

मे जिस प्रकार काठ का पाया पडा रहने पर भी वह भागने से बाज नहीं आता, चाहे भागने पर वह पाया कितना ही उसके पैरो में लगे, इस भांति जीव भी यह जानते हुए कि विषयो के आनन्द मे पाप-पक मे फंसना है इस ओर जाये बिना बाज नहीं आता। यदि किसी का मन ससार-स्वाग में बुरी तरह फंसा हुआ है तो गले मे ढोंग सहित माला धारण करने का कोई लाभ नही। प्रेम शून्य स्थिति मे प्रभु के लिये रोने से क्या—भीतर मन में तो पाप, विषय-विकार है, बाहर से शरीर को धोने का क्या लाभ ? कबीर कहते है कि भक्ति पथ में सांसारिक आनन्द नही, वह बड़ा धैर्यपूर्ण मार्ग है एव वह पथ चन्दन तुल्य शीतल और चिकना है।

विशेष—अनुप्रास अलकार।

ते हरि के आवैहि किहि कांमां, जे नहीं चीन्हैं आतमरांमां ॥टेक॥
थोरी भगति बहुत अहंकारा, ऐसे भगता मिलै अपारा ॥
भाव न चीन्हैं हरि गोपाला, जांनि क अरहट कै गलि माला।
कहै कबीर जिनि गया अभिमानां, सो भगता भगवन्त समांनां ॥१३७॥

शब्दार्थ—चीन्है=पहिचाननौं।

कबीर कहते है कि वे लोग प्रभु के किस प्रयोजन के जो उसके हृदयस्थ रूप को नही पहचानते। ऐसे भक्त तो अनेक मिल जाते है जिनमे भक्ति तो थोड़ी बहुत होती है किन्तु भक्ति का दम्भ अधिक। वे लोग सोचते है कि प्रभु गले मे माला देखकर प्रेम-भाव नही देखते—यह उनका भ्रम है। कबीर कहते है कि जिस भक्त का अभिमान चला गया वह तो फिर प्रभु के समान ही हो जाता है। भाव यह है कि भक्ति मे अभिमान का त्याग अत्यावश्यक है।

कहा भयौ रचि स्वांग बनायौ, अंतरिजांमीं निकटि न आयौ ॥टेक॥
बिषई बिषै दिढावै गावै, रांम नांम मनि कबहूँ न भावै ॥
पापी परलै जांहि अभागे, अमृत छाड़ि बिषै रसि लागे।
कहै कबीर हरि भगति न साधी, भग मुषि लागि मुये अपराधी ॥१३८॥

शब्दार्थ—अन्तरिजांमी=अन्तर्यामी प्रभु। भग=स्त्री। मुष=मुँह। मूये=मर गये, नष्ट हो गये।

कबीर कहते हैं कि साधु की इस ढोग साधना से क्या लाभ यदि उसने हृदयस्थ प्रभु को प्राप्त न किया। विषयी का मन सर्वदा विषयो मे भ्रमित रहता है उसे प्रभु-नाम कभी भी रुचिकर नही लगता। ऐसे व्यक्ति अभागे है, क्योकि वे स्वयं पाप-पक मे फंसे रहते है, प्रभु भक्ति के अमृत को त्याग कर विपयो मे रुचि लेते है। कबीर कहते है कि ऐसे लोग प्रभु भक्ति की साधना तो करते नही और स्त्री के पीछे काम वासना से लग कर पाप कमा नष्ट हो जाते हैं।

जौ पै पिय के मनि नहीं भायें, तौ का पारोसनि कै हुलराये ॥टेक॥
का चूरा पाइल झमकायें, कहा भयौ बिछुवा ठमकायें ॥

का काजल स्यंदूर कै दीयें, सोलह स्यंगार कहा भयो कीयें।
अंजन मंजन करै ठगौरी, का पचि मरै निगोड़ी बौरी ॥
जौ पै पतिव्रता ह्वै नारी, कैसै हीं रहौ सो पियहि पियारी।
तन मन जीवन सौंपि सरीरा, ताहि सुहागनि कहै कबीरा ॥१३६॥

शब्दार्थ—चूरा=चूड़ियाँ। पाइल=पायल। झमकायै=वजाने से। विछुआ =नूपुर। स्यंदूर=सिन्दूर।

कबीर कहते हैं कि यदि यह आत्मा प्रिय—प्रभु—को अच्छी नही लगती तो पड़ोसियों के प्रसन्न करने से क्या लाभ ? न ही फिर कोई सोलह शृगार का प्रयोजन शेष रहता है, इसलिए चूडी, पायल एव विछुओ की मधुर ध्वनि अर्थात् इनके धारण करने से क्या लाभ ? सिंदूर एव काजल लगाने का भी कोई अर्थ उस अवस्था मे नहीं रह जाता। यह पागल आत्मा स्नानादि द्वारा स्वच्छ हो इन शृंगारो के द्वारा स्वामी को रिझाना चाहती है, किन्तु इसे यह ज्ञात नही कि जो पतिव्रता नारी है वह किसी भी प्रकार से रहे अन्ततः प्रिय को प्यारी ही लगेगी। कबीर कहते हैं कि सुहागिन का एकमात्र लक्षण यह है कि वह मन-मन-जीवन से—सर्वात्मना—अपने को प्रभु की शरण में डाल दे।

विशेष—आत्मा का वास्तविक पति परमात्मा है। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य विषयो मे उसका प्रसार व्यभिचार है। इसलिए वे भक्ति के लिए सर्वात्म-समर्पण आवश्यक मानते हैं।

दूभर पनियां भर्या न जाई, अधिक त्रिषा हरि बिन न बुझाई ॥टेक॥
ऊपरि नीर ले ज तलि हारी, कैसैं नीर भरै पनिहारी ॥
ऊधर्‌यौ कूप घाट भयौ भारी, चली निरास पंच पनिहारी।
गुर उपदेस भरी ले नीरा, हरषि हरषि जल पीवैं कबीरा ॥१ ०॥

शब्दार्थ—दूभर=दुष्कर। त्रिषा=तृष्णा। पच पनिहारी=पाँचो इन्द्रिय रूपी पनिहारी।

कवीर यहा कमल कुआ से निसृत अमृत रस प्राप्ति को पनिहारिन के पानी भरने की क्रिया से उपमा देकर समझाते कहते हैं कि वह कमल कुएँ मे भरा हुआ पानी प्राप्त करना वडा दुष्कर है। जीवात्मा की आनन्द के लिए प्यास उस परमात्मा के विना शान्त नही होती। ब्रह्मरन्ध्र पर तो वह जल स्थित है और पानी भरने वाली पनिहारिन-कुण्डलिनी—तल (मूलाधार चक्र) पर। उस औंधे कुएँ पर जहाँ घाट वडा विकट है, पाँचो इन्द्रियो रूपी पनिहारिनो के लिये जल भरना अत्यंत कठिन है, क्योकि वे पूर्णरूप से वहाँ केन्द्रित नही रहती। कबीर ने वही दुष्प्राप्य जल—अमृत—गुरु उपदेश से केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है और वह हर्षित हो होकर इसका पान करता है।

कहौ भईया अंबर कासूं लागा,
कोई जांणैगा जांननहार सभागा ।।टेक।।
अंबरि दीसै केता तारा, कौंन चतुर ऐसा चितरनहारा ।
जे तुम्ह देखौ सो यहु नाहीं, यहु पद अगम अगोचर मांहीं ।।
तीनि हाथ एक अरधाई, ऐसा अंबर चीन्हौं रे भाई ।
कहै कबीर जे अंबर जांनै, ताही सूं मेरा मन मानै ।।१४१।।

शब्दार्थ—अबर=शून्य ब्रह्मरन्ध्र । सभागा=सौभाग्यशाली । चितरनहारा=देखने वाला ।

कबीर कहते है कि शून्य—ब्रह्मरन्ध्र—की क्या [स्थिति है यह कोई भाग्यशाली तत्ववेत्ता ही जान सकता है । कौन ऐसा सुजान है जो उस शून्य मे कौन-कौन लक्षण हैं यह जान सके अर्थात् उसमे स्थित अलख निरजन ब्रह्म को देख सके । जिस ससार को तुम देख रहे हो अर्थात् विषय-वासनाओ मे फस रहे हो, वहाँ आनन्द नहीं वह तो अगम्य, अलख ब्रह्म के ही पास स्थित है । यह शून्य साढ़े तीन हाथ की कुण्डलिनी के द्वारा ही पहचाना जा सकता है । कबीर कहते है कि मेरा मन तो उसी से प्रसन्न रहता है, हर्षित होता है जो शून्य को पहचान गया है—जिसने प्रभु का साक्षात्कार कर लिया है ।

विशेष—कबीर ने यहाँ उस भक्त की प्रशसा की है जो ईश्वर से साक्षात्कार कर शून्य-रहस्य को समझ गया है ।

तन खोजौ नर नां करौ बड़ाई, जुगति बिना भगति किनि पाई ।।टेक।।
एक कहावत मुलां काजी, रांम बिनां सब फोकटबाजी ।।
नव ग्रिह बांभण भणता रासी, तिनहूँ न काटी जम की पासी ।।
कहै कबीर यहु तन काचा, सबद निरंजन रांम नांम साचा ।।१४२।।

शब्दार्थ—जम की पासी=मृत्यु बन्धन । काचा=कच्चा नश्वर ।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य ! तुम अपने चरित्र पर दृष्टिपात करो, व्यर्थ अपनी प्रशंसा मत हाँको । प्रयत्न—साधना—बिना भक्ति किसी को भी प्राप्त नहीं हुई है । एक कहावत है कि जितने भी धर्मानुष्ठान करने वाले मुल्ला, काजी (या पंडित) है बिना प्रभु भक्ति के सब व्यर्थ है । नव ग्रह, पडित अथवा अन्य कोई राशीधारी मृत्यु बन्धन को न काट सका । कबीर कहते है कि यह शरीर तो मिथ्या है, सत्य तो केवल प्रभु नाम ही है, जिससे प्रभु प्राप्ति होता है ।

विशेष—नव ग्रह—नौ ग्रह—

१ सूर्य, २. चन्द्र, ३. भौम, ४. गुरु, ५. बृहस्पति, ६. शुक्र, ७. शनि, ८. राहु, ९. केतु ।

जाइ परौ हमरौ का करिहै,
आप करै आपै दुख भरिहै ।।टेक।।

उझड जातां बाट बतावै, जौ न चलै तौ बहु दुख पावै ॥
अंधे कूप क दिया बताई, तरकि पड़ै पुनि हरि न पत्याई ।
इंद्री स्वादि विषै रसि बहिहैं, नरकि पड़ै पुंनि रांम न कहिहैं ॥
पंच सखी मिलि मतौ उपायौ, जंम की पासी हंस बंधायौ ।
कहै कबीर प्रतीति न आवै, पाषंड कपट इहै जिय भावै ॥१४३॥

शब्दार्थ—उझड=ऊबड खाबड । तरकि पड़ै=बिगड उठे । पत्याई=विश्वास करना । हस=प्राण ।

कबीर यहाँ ऐसे मनुष्य को फटकारते हैं जो सद्गुरु के बताये हुए मार्ग पर तो चलता नही है, किन्तु विपत्ति पडने पर पुन सद्गुरु (कबीर) की शरण मे आकर कहता है 'त्राहि माम् त्राहि माम्' । वे कहते हैं कि तुम स्वय जैसा तुमने किया है उसका फल भोगो हम कोई सहायता नही कर सकते । जो ऊबड़ खावड़ मार्ग पर चल रहा है और यदि उसे अच्छा पथ बतलाया जाय और वह उस पर न चले तो बड़े दुख पाता है । जो कूप मडूक ज्ञानान्ध है यदि उसे प्रभु के विषय मे कुछ बताया तो वह बिगड़ तो उठेगा किन्तु प्रभु के अस्तित्व मे विश्वास नही करेगा । जो मनुष्य इन्द्रियो से संचालित हो नाना विषय-रसो मे सिक्त रहते है और प्रभु नाम नही लेते वे नरक के अधिकारी हैं । पाँचो इन्द्रियों ने जीव को ऐसी कुमति दे दी कि वह मृत्यु बंधन से विमुक्त नही हो सकता । ऐसे लोगो का प्रभु भक्ति मे विश्वास नही होता, उन्हे तो केवल कपट और पाखण्ड मे ही रुचि रह जाती है ।

ऐसे लोगनि सूं का कहिये ।
जे नर भये भगति थैं न्यारे, तिनथैं सदा डराते रहिये ॥टेक॥
आपण देही चरवा पांनीं, ताहि निंदै जिनि गंगा आंनी ॥
आपण बूडै और कौं बोडै, अगनि लगाइ मंदिर मैं सोवै ।
आपण अंध और कूं कांनां, तिनकौं देखि कबीर डरांनां ॥१४४॥

शब्दार्थ—निंद=निन्दा करना । बूडै=डूबना ।

कबीर कहते है कि ऐसे मनुष्यो से कुछ भी नही कहा जा सकता जो भक्ति से अलग रहते है. उनसे तो दूर ही दूर रहना अच्छा । ऐसे लोग अपने कुचरित्र को गंगा तुल्य पवित्र समझते है । वे स्वय तो पाप-गर्त मे डूबते ही है अन्य लोगो को भी ले डूबते हैं, इस प्रकार ससार के अन्य मनुष्यो को भी विषय वासना की ओर प्रवृत्त कर स्वय निश्चिन्तता से बैठ जाते हैं । कबीर कहते है कि ये लोग स्वय अज्ञानान्ध होते ही है, दूसरो मे भी अज्ञान का प्रसार करते है, इनसे हमे भय लगता है क्योंकि ये लोक-घातक हैं ।

है हरि जन सूं जगत लरत है, फुंनिगा कैसै गरड़ भषत है ॥टेक॥
अचिरज एक देखहु संसारा, सुनहा खेदै कुंजर असवारा ॥
ऐसा एक अचंभा देखा, जंबक करै केहरि सूं लेखा ।
कहै कबीर रांम भजि भाई, दास अधम गति कबहूं न जाई ॥१४५॥

शब्दार्थ—जंबक=गीदड । केहरि=शेर । कुंजर=हाथी ।

कबीर कहते है कि हे प्रभु ! आपके भक्त का समस्त ससार विरोधी है। समस्त ससार बगला भक्ति मे लगा हुआ है। कबीर कहते है कि श्वान (सुनहां—कुत्ता विशेष) अर्थात् ससार-वासना ग्रस्त व्यक्ति प्रभु भक्ति के हाथी पर चढे हुए भक्त को तंग करता है। यह इसी भाँति है मानो गीदड़ शेर से लेखा जोखा ले। कवीर कहते है कि हे भाई ! प्रभु का भजन कर, इससे भक्त को कभी भी अधोगति प्राप्त नही होती।

विशेष—सुनहा—"सोनहा ! कुत्ता कुत्ते की जाति का छोटा जगली जानवर जो झुंड मे रहता है और वडा हिंसक होता है, यह शेर को भी मार डालता है।"
—कबीर बीजक ।

है हरिजन थैं चूक परी, जे कछु आहि तुम्हारौ हरी ॥टेक॥
मोर तोर जब लग मै कीन्हां, तब लग त्रास बहुत दुख दीन्हां।
सिध साधिक कहै हम सिधि पाई, रांम नांम बिन सबै गंवाई ॥
जे बैरागी आस पियासी, तिनकी माया कदे न नासी।
कहै कबीर मै दास तुम्हारा, माया खडन करहु हमारा ॥१४६॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि प्रभु भक्त पर इसलिए दयालु नही है कि उससे कुछ दोष हो गया होगा। मेरी जब तक अह-परत्व की भावना समाप्त नही हुई थी, तव तक मुझे बहुत दुख सहने पडे। सिद्धि साधक वृथा यह मिथ्या दम्भ भरते हैं कि हमने सिद्धि प्राप्त कर ली है, किन्तु वस्तुतः बिना राम नाम के उनकी जो भी सचित सत्कर्मो की पूँजी होती है वह समाप्त हो जाती है। जिस विरक्त की तृष्णाएँ शान्त नही हुई है वह कभी भी माया-बन्धन से विमुक्त नही हो सकता।

कबीर कहते है कि हे प्रभु मैं आपका भक्त हूं, मुझे माया-बन्धन से विमुक्त कर दो।

सब दुनीं संयानीं मै बौरा, हंम बिगरे बिगरौ जिनि औरा ॥टेक॥
मै नहीं बौरा रांम कियौ बौरा, सतगुरु जारि गयौ भ्रम मोरा।
बिद्या न पढूं बाद नहीं जांनूं, हरिगुंन कथत सुनत बौरांनूं ॥
कांम क्रोध दोऊ भये बिकारा, आपहि आप जरै संसारा।
मींठो कहा जाहि जो भावै, दास कबीर रांम गुंन गावै ॥१४७॥

शब्दार्थ—दुनी=द्वैत भावना से युक्त लोग। सयानी=चतुर। वाद=वाद-विवाद।

कवीर कहते है कि जिनकी द्वैत भावना नष्ट नही हुई है वे सब चतुर है और मै प्रभु प्रेमदीवाना। मुझे सव पागल बताते है, और कोई पागल मत बनो। अरे मूर्खो ! मे स्वय पागल नही प्रभु ने मुझे पागल कर दिया है। सद्गुरु ने

मेरा सशय दूर कर दिया है। मैं न तो शास्त्रग्रन्थो के ज्ञान का तत्वज्ञ हूँ और न ही शास्त्रार्थ ही करता हूँ, केवल प्रभु के गुरण का गायन और श्रवरण करता हू। उसी से मैं प्रभु प्रेम मे पागल हूं। काम और क्रोध दोनो विकार है जिनकी अग्नि में यह ससार स्वत' ही दग्ध हो रहा है। कबीर कहते है कि यह तो अपनी अपनी रुचि का प्रश्न हे, मधुर तो वही हे जो जिसको रुचिकर लगे। कबीर अपनी रुचि के अनुकूल प्रिय प्रभ का गुरणगान करता हे।

अब मै रांम सकल सिधि पाई, आंन कहूँ तौ रांम दुहाई ॥टेक॥
ईंहि चिति चाषि सबै रस दीठा, रांम नांम सा और न मीठा।
औरे रसि ह्वै है कफ गाता, हरि-रस अधिक अधिक सुखदाता ॥
दूजा बणिज नहीं कछू वाषर, रांम नांम दोऊ तत आषर।
कहै कबीर जे हरि रस भोगी, ताकूं मिल्या निरंजन जोगी ॥१४८॥

शब्दार्थ—आन कहू=अन्य किसी देवता का आश्रय ग्रहरण करूँ। कफ गाता=व्याधियो को उपजाने वाले। बरिणत=वारिणज्य, व्यापार।

कबीर कहते है कि अब मैंने राम के रूप मे समस्त सिद्धियाँ प्राप्त कर ली है यदि अब मैं अन्य किसी देवता का आश्रय ग्रहरण करू तो मुझे राम की ही सौगन्ध है। मैंने समस्त रसो का स्वाद ग्रहरण कर देख लिया है, किन्तु उनमे राम नाम सदृश मधुर कोई नही है। अन्य सासारिक रस तो व्याधियो के जन्मदाता है, किन्तु प्रभु भक्ति रस का पान करने से अधिकाधिक आनन्द प्राप्त होता है। इस संसार मे कोई व्यापार सारपूर्ण नही, केवल राम नाम का व्यापार ही सार है। कबीर कहते हैं कि जो प्रभु भक्तिरस के आस्वादक है उन्हे योग का निरजन पद, सहज ही प्राप्त हो जाता है।

विशेष—निरजन जोगी—योग का निरजन पद जब साधक योग-साधना द्वारा शून्य-स्थित ब्रह्म—अलख निरजन—ज्योतिस्वरूप परमात्मा, को प्राप्त कर वही रमरण करने लगता है, तब निरजन पद का अधिकारी कहलाता है। कबीर भक्ति के द्वारा, प्रभु गुरणगान के द्वारा भी उसी की बात कहते हैं।

रे मन जाहि जहां तोहि भावै, अब न कोई तेरै अंकुस लावै ॥टेक॥
जहां जहां जाइ तहां तहां रांमा, हरि पद चीन्हि कियौ विश्रामा ॥
तन रजित तब देखियत दोई, प्रगट्यौ ग्यांन जहां तहां सोई।
लीन निरंतर वपु बिसराया, कहै कबीर सुख सागर पाया ॥१४९॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर अपने मन को वश मे कर फिर उसे इतनी स्वतन्त्रता प्रदान करते है कि वह जहाँ चाहे, चला जाय किन्तु अब वह उस नियन्त्रण मे है जहा भी जावेगा उसे प्रभु ही प्रभु मिलेगे।

वे कहते हैं कि हे मन ! तू जहाँ चाहे चला जा अब तुझ पर कोई नियन्त्रण नहीं रखूगा। जहा जहा भी तू जायेगा तुझे मेरे संसार मे राम ही राम दृष्टिगत होगे

अब मैं प्रभु चरण-कमलो को पहचान कर पूर्ण निश्चित हूं। जब शरीर का रोम-रोम अंग-प्रत्यग, मस्ती रस मे स्नात हो जाता है तो ज्ञान का स्वतः उदय हो जाता है। कबीर कहते है कि प्रभु भक्ति मे पूर्णरूपेण लीन हो, आत्मा-विस्मृत हो मैंने सुख के अनन्त सागर को प्राप्त कर लिया है।

विशेष—रूपक अलकार।

बहुरि हम काहे कूं आवहिंगे।
बिछुरे पंचतत की रचनां, तब हम रांमहि पांवहिंगे ॥टेक॥
पृथ्वी का गुण पांणी सोष्या, पांनीं तेज मिलांवहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगांवहिंगे॥
जैसैं बहुकंचन के भूषन, ये कहि गालि तवांवहिंगे।
ऐसैं हम लोक वेद बिछुरैं, सुंनिहि मांहि समांवहिंगे॥
जैसैं जलहि तरंग तरंगनीं, ऐसैं हम दिखलांवहिंगे।
कहै कबीर स्वांमीं सुख सागर, हंसहि हंस मिलांवहिंगे ॥१५०॥

शब्दार्थ—बहुरि=पुन.। बिछुरे पच तन की रचना=शरीर के नष्ट हो जाने पर। बहुमूल्य=अमूल्य सोना; तरग=लहर। हंसाई हंस=प्राणो मे प्राण।

कबीर कहते है कि हम इस ससार मे पुनः क्यो कर आयेंगे, इस पंचतत्व निर्मित शरीर की सत्ता छूट जाने पर प्रभु की प्राप्ति होगी। पृथ्वी का गुण धूलि में क्षार रूप मे, जल का जल मे, एवं अग्नि अग्नि में लय हो जायेगी। प्राणवायु में प्रवेश कर जायगी, इस प्रकार इस मृण्मय सत्ता से विमुक्त हो हम सहज समाधि लाभ करेंगे। जिस प्रकार विभिन्न आकार-प्रकार के स्वर्ण-निर्मित आभूषण पिघलकर सोने मे ही परिवर्तित हो जाते है उसी भाँति हम इस ससार से छूटने पर पुनः परमात्म स्वरूप मे समाहित हो जायेंगे। जिस भाँति लहर जल से उत्पन्न हो उसी में समा जाती है उसी प्रकार हम पुनः परात्मा के स्वरूप मे लय हो जायेंगे। कबीर कहते है कि इस प्रकार शरीर की सत्ता छूट जाने पर हम उस सुख सागर स्वरूप ब्रह्म से एकाकार हो जायेंगे।

विशेष—१. कबीर ने यहाँ वेदान्तियो के समान ही अश-अंशी, आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को जल-तरग-न्याय आदि के द्वारा स्पष्ट किया है।

२ दृष्टान्त अलंकार।

कबीरौ संत नदी गयौ बहि रे।
ठाढ़ी माइ कराड़े टेरैं, है कोई ल्यावै गहि रे ॥टेक॥
बादल बांनीं रांम घन उनयां, बरिषै अंमृत धारा।
सखी नीर गंग भरि आई, पीवै प्रान हमारा॥
जहां बहि लागे सनक सनंदन, रुद्र ध्यांन धरि बैठे।
सुय [illegible] मेक मैं, घन कबीर ह्वै पैठे ॥१५१॥

शब्दार्थ—कराडै=किनारे पर। उनयां=उमड़ा।

कबीर कहते है कि संत—प्रभु-भक्त—तो ईश्वर-भक्ति की सरिता के प्रवाह में वह चुका है, माया किनारे पर खड़ी कोटिशः टेर लगाती है किन्तु अब कोई उसे वहां से निकाल नही सकता। बादल, जिससे यह सरिता उमटी, स्वयं प्रभु नाम का था जिससे अमृत-वर्षा (भक्ति की) हुई। आत्मा इस पुनीत गंगा तट पर उस जल को भरने आई थी उसी को अब हम छक-छक कर पान कर रहे हैं। जिस भक्ति की सरिता के प्रवाह मे सनक-सनन्दन जैसे ऋषि बहे और महेश जिसके लिए ध्यानावस्थित है उसी आनन्दायिनी भक्ति धारा मे कबीर डूब चुका है।

विशेष—सनक सनन्दन—"सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन जो ब्रह्मा के पुत्र कहे जाते है। ये एक वार भगवान् से मिलने वैकुण्ठ गये थे, वहाँ द्वारपालों के रोकने पर उन्हे तीन जन्म तक राक्षस होने का शाप दिया था।"—कबीर बीजक।

राग रामकली

अवधू कांमधेन गहि बांधी रे।
भांडा भंजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आंधी रे॥टेक॥
जौ ब्यावै तौ दूध न देई, ग्याभण अमृत सरवै।
कौली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यूं घेरौं त्यूं दरवै॥
तिहिं धेन थै इंछया पूगी, पाकड़ि खूंटै बांधी रे।
ग्वाड़ा मांहैं आनंद उपनौं, खूंटै दोऊ बांधी रे॥
साईं माइ सास पुनि साईं, साईं याकी नारि।
कहै कबीर परम पद पाया, संतो लेहु बिचारी॥१५२॥

शब्दार्थ—इंछया पूगी=इच्छायें परितृप्त हो जाती हैं। ग्वाड़ा=ग्वाला, भक्त से तात्पर्य है।

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत ! मैंने प्रभु भक्ति की कामधेनु पकड कर बाँध ली है, यह सबके साँसारिक उपकरण, मिथ्याडम्बरो रूपी पात्रो को फोड़ देती है। यदि यह माया की ओर चली जाय तो फल नही देती, दूध नही देती और यदि अपनी गम्भीरता बनाये रखे तो अमृतोपम आनन्द प्रदान करती है। मन पर बड़े नियन्त्रण रख इसे प्राप्त किया जा सकता है। इस कामधेनु से मनुष्य की समस्त इच्छाएँ परितृप्त हो जाती हैं। यदि इसे दृढतापूर्वक साधा जाय तो यह ग्वाल (भक्त) को अमित आनन्द प्रदान करती है। फिर तो यह भक्त के लिए उसकी चित्तवृत्तियो के अनुकूल हो जाती है। कबीर कहते है कि हे संतो ! मैंने भक्ति की इसी कामधेनु से प्रभु को प्राप्त कर लिया है।

विशेष—विरोधाभास अलंकार।

जगत गुर अनहद कींगरी बाजै, तहां दीरघ नाद ल्यौ लागै ॥टेक॥
त्री अस्थांन अंतर मृगछाला, गगन मडल सींगीं बाजै।
तहुआं एक दुकांन रच्यो है, निराकार व्रत साजै॥
गगन हीं भाठी सींगी करि चूंगी, कनक कलस एक पावा।
तहुवां चवै अमृत रस नीझर, रस ही मै रस चुवावा॥
अब तौ एक अनूपम बात भई, पवन पियाला साजा।
तीनि भवन में एकै जोगी, कहौ कहाँ बसै राजा॥
बिनर जांनि परणऊं परसोतम, कहि कबीर रंगि राता।
यह दुनियां कांइ भ्रमि भुलांनी, रॉम रसांइन माता॥१५३॥

शब्दार्थ—त्री अस्थान=त्रिकुटी। कनक कलस=सोने का कलश। नीझर =निर्झर, झरना। माता=मस्त।

कबीर कहते है कि साधक या भक्त उस अवस्था मे पहुंच गया है कि वहां अनहद नाद का आनन्दमयी स्वर समा बाध रहा है और साधक ने वहा अपनी चित्त-वृत्तियो को केन्द्रित कर रखा है। त्रिकुटी के मध्य ही वह रहकर शून्यमण्डल—ब्रह्मरन्ध्र मे होने वाले विस्फोट-शब्द को सुन रहा है। वही अपना स्थायी वास बनाकर वह अलख निरजन की साधना में दत्तचित्त है। अब आगे वे मदिरा खीचने के रूपक द्वारा स्पष्ट करते है कि शून्य स्थल की भट्टी बनाकर सहस्र दल कमल के स्वर्ण पात्र के द्वारा सीगी की उड़ीक लगा दी है जिससे अमृत निस्सृत हो रहा है। इस अमृत का पान साधक की आत्मा करती है। इसको पीकर साधक सर्वोपम एवं सर्वश्रेष्ठ बन जाता है, इसीलिए तीन लोको के स्वामी के समान उसे अपना वैभव इस समय प्रतीत होता है। कबीर कहते है कि पूर्ण पुरुषोत्तम के रग मे कबीर पूर्णतः रंग गया है और वह अन्य किसी को नही जानता। यह जगत् माया-भ्रम में उलझा हुआ है किन्तु मै राम-रसायन के आनन्द से मदमस्त हू।

विशेष—१. यहाँ कबीर ने योगसाधना का सम्पूर्णत. वर्णन किया है। योग साधना के अनहद नाद, गगन, त्रिकुटी, सीगी गगन-भाठी, रसचर्वणा—सबका वर्णन नाथपंथी योगसाधनानुकूल किया है।

२. रूपक अलकार।

ऐसा ग्यांन बिचारि लै, लै लाइ लै ध्यांनां।
सुंनि मंडल मैं घर किया, जैसे रहै लिचांनां ॥टेक॥
उलटि पवन कहां राखिये, कोई भरम बिचारै।
सांधै तीर पताल कूं, फिरि गगनहि मारै॥
कंसा नाद बजाव ले, धुंनि निमसि ले कंसा।
प्यंड परें जीव कहाँ रहै, कोई मरम लखावै॥
जीवत जिस घरि जाइये, ऊँधै मुषि नहीं आवै।

सतगुरु मिलै त पाईये, ऐसी अकथ कहांणीं ॥
कहै कबीर संसा गया, मिले सारंग पांणीं ॥१५४॥

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीर कहते है कि हे साधक ! तू ऐसा ज्ञान अर्जित कर ले, जिससे प्रभु मे अपनी वृत्तियाँ केन्द्रित कर शून्यमण्डल मे अपना स्थायी वास बना सके । प्राणायाम द्वारा ससार के इस माया-भ्रम को विदूरित कर देना चाहिए । मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी को शून्य तक पहुचाने मे प्रवृत्त कर दे । फिर उसके विस्फोट से अपरिमित आनन्ददायी अनहद नाद को सुने । अनहद नाद के सुनाई देते ही ब्रह्म ही ब्रह्म सर्वत्र दष्टिगत होता है । फिर साधक आत्मविस्मृत हो अपने शरीर को भी भूल जाता है फिर भला शरीर के अचेत होने पर जीव-आत्मा कहाँ जायगी—वह जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेगी । किसी सद्‌गुरु के मिलने से ही इस अकथन साधना का रहस्य समझ मे आ सकता है । कबीर कहते है कि ससार-भ्रम दूर होने पर प्रभु-प्राप्ति सुनिश्चित है ।

है कोई संत सहज सुख उपजै, जाकौं जप तप देउ दलाली ।
एक बूंद भरि देइ रांम रस, ज्यूं भरि देइ कलाली ॥
काया कलाली लांहनि करिहू, गुरू सबद गुड़ कीन्हां ।
कांम क्रोध मोह मद मंछर, काटि काटि कस दीन्हां ॥
भवन चतुरदस भाठी पुरई, ब्रह्म अगनि परजारी ।
मूंदे मदन सहज धुनि उपजी, सुखमन पोतनहारी ॥
नीझर झरै अमी रस निकसै, तिहि मदिरावल छाका ।
कहै कबीर यहु बास विकट अति, ग्यांन गुरू ले बांका ॥१५५॥

शब्दार्थ—कलाली=शराबी । मंछर=मत्सर । परजारी=जलाई । अमी रस =अमृत रस ।

यहां कबीर मदिरा के रूपक द्वारा भक्ति का वर्णन करते है । वे कहते हैं कि कोई ऐसा सज्जन, साधु, गुरु, है जिसको मै अपने समस्त सत्कृत्य दलाली के रूप मे दे दूं और वह केवल इतना कर दे कि कलश के समान मेरे पात्र मे एक बूंद रामभक्ति की मदिरा डाल दे । यह शरीर ही कलश बन गया है एव सद्‌गुरु की वाणी गुड है । काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को काट-काट कर इस गुड को नियन्त्रित कर दिया है । चौदह भुवनो की भट्टी बनाकर इसमे ब्रह्म की अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी है । उस मदिरा के पात्र को कामदेव के द्वारा ऊपर से बन्द कर दिया है (काम का परित्याग कर दिया है) अब अनहद नाद की सहज ध्वनि हो रही है जिसकी मुख्य संचालिका सुषुम्णा नामक नाडी है । उस शून्य ब्रह्मरन्ध्र से अमृत निर्झर का स्रवण निरन्तर हो रहा है जिससे साधक खूब छक गया है । कबीर कहते है कि इस शून्य स्थल पर वास बड़ा कठिन है जहां पर ज्ञानी सद्‌गुरु ही साधक को ले जा सकता है ।

विशेष—१ योग की समाधि का वर्णन किया गया है—इसका विस्तृत उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है।

२. 'चौदह भुवन'—सात स्वर्ग—भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्ग लोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक एव सात पाताल—अतल, वितल, तल, सुतल, महातल, रसातल, पाताल।

अकथ कहांणीं प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई ॥ टेक ॥
भोमि बिनां अरू बीज बिन, तरवर एक भाई।
अनत फल प्रकासिया, गुर दीया बताई ॥
मन थिर बैसि बिचारिया, रांमहि ल्यौ लाई।
झूठी अनभै बिस्तरी, सब थोथी बाई ॥
कहै कबीर सकति कछु नांहीं, गुर भया सहाई।
आंबण जांणी मिटि गई, मन मनहि समाई ॥ १५६ ॥

शब्दार्थ—सरकरा=शर्करा। भोमि=भूमि। थिर=स्थिर। ल्यौ=लगन। अनभै=निर्भय। थोथी=निस्सार। आँवण जाँणी=आवागमन।

कबीर कहते हैं कि ईश्वरीय प्रेम की कथा अकथनीय है जिसका वर्णन नही किया जा सकता, वह तो गूगे की शर्करा के समान है जिसका वह आस्वादन और प्रशसा मन ही मन कर लेता है।

वे आगे कहते हैं कि बिना भूमि और बीज के भक्ति का एक तरुवर पल्लवित हो रहा है। उस पर लगे अनन्त आनन्ददायी ब्रह्म रूप फल को सद्गुरु ने बता दिया है जिससे मन स्थिर होकर प्रभु के ध्यान मे लग गया है। यह माया का निस्सकोच प्रसार सर्वथा मिथ्या है, इसका कोई लाभ नही। कबीर कहते है कि जिस अवस्था का वर्णन किया गया है उसकी प्राप्ति के लिए गुरु का अनुकूल होना आवश्यक है, गुरुकृपा से ही इस भक्ति को प्राप्त किया है जिसके द्वारा आवागमन, जन्म-मृत्यु, का यह बन्धन छूट गया है एव मन अन्तर्मुखी हो ब्रह्म मे एकाकार हो गया है।

विशेष—वेदान्तियो के समान उस ब्रह्म के आनन्द को कबीर ने भी मूकास्वादनवत् कहा है।

संतौ सो अनभै पद गहिये।
कला अतीत आदि निधि निरमल,
ताकूं सदा विचारत रहिये ॥ टेक ॥
सो काजी जाकौं काल न व्यापै, सो पंडित पद बूझै।
सो ब्रह्मा जो ब्रह्म विचारै, सो जोगी जग सूझै ॥
उदै न अस्त सूर नहिं ससिहर, ताकौ भाव भजन करि लीजै।
काया थैं कछू दूरि बिचारै, तास गुरू मन धीजै ॥

जार्यौं जरै न काट्यौ सूकै, उतपति प्रलै न आवै।
निराकार अखंड मंडल मैं, पांचौं तत समावै॥
लोचन अछित सबै अंधियारा, बिन लोचन जन सूझै।
पड़दा खोलि मिलै हरि ताकूं, जो या अरथहि बूझै॥
आदि अनंत उभै पख निरमल, द्रिष्टि न देख्या जाई।
ज्वाला उठी अकास प्रजल्यौ, सीतल अधिक समाई॥
एकनि गंध वासनां प्रगट, जग थैं रहै अकेला।
प्रांन पुरिस काया थैं बिछुरै, राखि लेहु गुर चेला॥
भागा भर्म भया मन असथिर, निद्रा नेह नसांनां।
घट की जोति जगत प्रकास्या, माया सोक बुझानां॥
बंकनालि जे समि राखै, तौ आवागमन न होई।
कहै कबीर धुनि लहरि प्रगटी, सहजि मिलैगा सोई॥१५७॥

शब्दार्थ—अनभैपद=ब्रह्मपद। कलाअतीत=कालातीत आदि-अन्तविहीन। निधि निरमल=निर्मल ब्रह्म।

कबीर कहते हैं कि संत वही है जो परमपद को प्राप्त करे, कलातीत निर्मल ब्रह्मनिधि का निरन्तर ध्यान करता रहता है जिनको मृत्यु-भय नहीं, वही काजी है, तथा जो ब्रह्म पद के रहस्य को जान लेता है वही पण्डित—ज्ञानी है। ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म का विचार करे और जोगी वही है जो सम्पूर्ण जगत् का द्रष्टा है। जिस प्रभु के समीप सूर्य, चन्द्र आदि किसी की सत्ता नही है उसी का प्रेमसहित भजन करो जो गुरु इस शरीर को छोड ब्रह्म की भी बात सोचता है उसी को आत्मसमर्पण कर दो। वह ब्रह्म न तो जलाने पर जल सकता है, न काटने पर सूख सकता है—उसे उत्पत्ति प्रलय कुछ भी नही व्यापती। ऐसा निराकार ब्रह्म के शून्यमण्डल मे ही समस्त मानसिक शक्तिया एव वृत्तिया केन्द्रित हो गई हैं। भक्ति मे आगा-पीछा कर (आंख खोलकर) चलने से समस्त ससार मे अधकार ही अधकार दृष्टिगत होता है, किन्तु इस भक्ति पथ पर आखमूं द कर केवल प्रभु-प्रेम का आश्रय लेकर चलने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है। जो इस रहस्य को समझ लेता है उसका भ्रम-आवरण नष्ट कर प्रभु उसे दर्शन देते हैं। वह ब्रह्म आदि से अन्त—प्रत्येक पक्ष से ऐसा निर्मल है कि सांसारिक दृष्टि से उसे नही देखा जा सकता। उसके प्रकट होते ही निर्मल ज्योति आविर्भूत होती है एव आकाश जलने लगता है, शून्यमण्डल मे केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है। उसकी सुगन्ध से समस्त संसार सुवासित हो उठता है, क्योकि वह समस्त संसार में अनूठा जो है। साधक के प्राण उसके इस पचतत्वनिर्मित शरीर को छोड़ गुरु उद्योग से ब्रह्म मे लीन हो जाते हैं। उसके दर्शन से भ्रम भाग जाता है, मन अस्थिर उसी के लिए व्याकुल हो जाता है। ससार मोह सर्वथा विनष्ट हो जाता है। उस हृदयस्थ ज्योति से ही समस्त ससार आलोकित दीख पड़ता है, माया जाल नष्ट हो जाता है—"लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।"

वे आगे कहते है कि यदि मेरुदण्ड मे स्थित इडा, पिंगला, सुषुम्णा का समन्वय मनुष्य करता रहे तो न तो उसे आवागमन चक्र मे बधना पडे और ब्रह्म को प्राप्त कर वह सर्वदा अनहद नाद को सुनता रहे ।

विशेष—१. योगसाधना का वर्णन इस पद मे किया गया है ।

२. "जार्यौ जरै····· समावै" मे गीता के निम्नस्थ श्लोक से कितनी समानता है, यथा—

"नैन छिन्दति शस्त्राणि नैन दहति पावक. ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत. ॥" २।२३

इस आत्मा को शस्त्रादि नही काट सकते है, न इसे अग्नि जला सकती है, जल इसे गीला कर गला नही सकता और न वायु इसे सुखा सकती है ।

३. अनुप्रास, अतिशयोक्ति, विरोधाभास आदि अलकार स्वाभाविक रूप से आ गये है ।

जाइ पूछौ गोविंद पढ़िया पंडिता, तेरां कौंन गुरू कौंन चेला ।
अपणें रूप कौं आपहि जांणै, आपै रहे अकेला ॥टेक॥
बांझ का पूत बाप बिन जाया, बिन पांऊं तरबरि चढ़िया ।
अस बिन पाषर गज बिन गुड़िया, बिन षंडै संग्रांम जुड़िया ॥
बीज बिन अंकूर पेड़ बिन तरबर, बिन साषा तरवर फलिया ।
रूप बिन नारी, पुहुप बिन परमल, बिन नीरै सरवर भरिया ॥
देव बिन देहुरा पत्र बिन पूजा, बिन पांषां भवर बिलंबिया ।
सूरा होइ सु परम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया ॥
दीपक बिन जोति जोति बिन दीपक, हद बिन अनाहद सबद बागा ।
चेतनां होइ सु चेति लीज्यौ, कबीर हरि के अंगि लागा ॥१५८॥

शब्दार्थ—पाऊं=पैर । षडै=खड्ग, तलवार । पुहप=पुष्प । परिमल=सुगन्धि । देहुरा=मन्दिर ।

कबीर ब्रह्म का स्वरूप वताते हुए कहते है कि उस प्रभु से जाकर पूछ लो कि उसका कौन गुरु है, वह किसका चेला है तो कुछ भी ज्ञात नही होगा । क्योकि वह न किसी से उत्पन्न और न किसी से पालित-पोषित, वह तो सर्वथा अकेला है, उसके आदि अन्त को भी कोई नही जानता, वह स्वय ही अपने स्वरूप को जानता है अन्य कोई नही ।

वह ब्रह्म वन्ध्या के बिन जाये पुत्र के समान है । वह बिना पैरो के वृक्ष पर चढने की सामर्थ्य रखता है । वह विना वीज के प्रस्फुटित अकुर और पेड के समान है । माया से असम्पृक्त होते हुए भी वह 'एकोऽहम् वहु स्याम्, को चरितार्थ करता है । आकारहीन सुन्दरी एव परिमल विकास के पुष्पित कुसुम है । वह विना जल के ही सरोवर को भरने की सामर्थ्य रखता है । वह उसी भाँति है जैसे विना

इष्ट देव की मूर्ति के भी देवालय हो सकता है, विना पत्र-पुष्प के पूजा तुल्य है। वह विना पुष्प-राजि के भ्रमित होने वाले भ्रमर के समान है इस परम विचित्र ब्रह्म को शूरवीर ही प्राप्त कर सकते है, वे तो ससार मे ही नष्ट हो जाते है। वह विना दीपक के ही ज्योतिष्मान् है, एव असीम और अनहद है। कबीर कहते है कि हे मनुष्यो ! यदि तुम्हे सावधान होकर इस प्रभु को पाना है। तो शीघ्र चेत जाओ, कबीर तो प्रभु को प्राप्त कर चुका है।

विशेष—विभावना अलकार।

पंडित होइ सु पदहि बिचारै, मूरषि नांहिन बूझै।
बिन हाथिन पांइन बिन कांननि, बिन लोचन जग सूझै ॥टेक ॥
बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नहीं छाड़ै, दह दिसिहीं फिरि आवै ॥
बिनहीं तालां ताल बजावै, बिन मंदल षट ताला।
बिनहीं सबद अनाहद बाजै, तहां निरतत है गोपाला ॥
बिनां चोलनें बिना कंचुकी, बिनहीं संग संग होई।
दास कबीर औसर भल देख्या जांनैगा जन कोई ॥१५६॥

शब्दार्थ—लोचन=आँख। ताला=मृदग आदि वाद्य। निरतत=नाचना।

कबीर कहते हैं कि जो ज्ञानी हैं वही इस पद का भाव, अर्थ, मर्म, हृदयंगम कर सकते हैं, मूर्ख लोग नही। अब वे प्रभु-स्वरूप का कथन करते कहते है कि उसे विना हाथ, पैर, कान, नेत्र एवं जिह्वा के समस्त जगत् दृष्टिगत हो जाता है। वह अपने स्थान पर स्थिर रहता हुआ भी दसो दिशाओ मे घूम आता है। वह बिना करतल के तान बजा सकता है एव विना मृदग आदि के ताल-तुकमय सगीत का सृजन कर सकता है। जहां किसी बाह्य शब्द के अनहद नाद हो रहा है वही प्रभु निवास करते हैं, वही उनका नृत्य चल रहा है किन्तु वह नृत्य (कृष्ण के समान नही अपितु) विना किसी वस्त्र एवं वेशभूषा के प्रत्येक स्थान पर हो रहा है। कबीर कहते है कि मैं उपयुक्त अवसर देखकर इस प्रभु रहस्य का कथन कर रहा हू कोई विरला भक्त ही इसे जान सकता है।

विशेष—विभावना अलंकार।

है कोई जगत गुर ग्यांनीं, उलटि बेद बूझै।
पांणीं में अगनि जरै, अंधेरे कौं सूझै ॥टेक॥
एकनि दादुरि खाये पंच भवंगा।
गाइ नाहर खायौ काटि अंगा ॥
बकरी बिघार खायौं, हरनि खायौ चीता।
कागिल गर फांदियां, बटेरै बाज जीता ॥
मूसै मंजार खायौ, स्यालि खायौ स्वांनां।
आदि कौं आदेस करत, कहै कबीर ग्यांनां ॥१६०॥

शब्दार्थ—दादुरी=मन । भवगा=सर्प । गाइ=गाय । नाहर=सिंह । बिघार=बघेरा । मजार=बिल्ली । स्वाना=कुत्ता ।

कबीर कहते है कि इस संसार मे कोई ऐसा ज्ञानी है जो इस उलटे ज्ञान व्यापार को स्पष्ट कर सके । सहस्त्र-दल कमल से अमृत झर रहा है, वही ज्योतिस्वरूप ब्रह्म प्रकट हो रहा है जो ससार से आँख बन्द किये साधक को दिखता है । कुण्डलिनी की साधना ने पाँचो इन्द्रियों रूपी भुजगनियो को चट कर लिया, नियन्त्रण मे कर लिया । गाय तुल्य सीधे साधक ने भ्रम के सिंह को काट-काट कर खा लिया, विदूरित कर दिया । यह कर्म ऐसा ही है जैसे बकरी ने बघेरे को एव हरिण ने चीते को खा डाला । जो माया जीव को अपने फन्दे मे फसाये रहती थी उसी जीव ने साधना द्वारा माया को अपने कब्जे, नियन्त्रण में कर लिया—इस प्रकार बटेर बाज से जीत गई । यह उसी भाँति अद्भुत है जैसे चूहा बिल्ली (माया) को, तथा बिल्ली ने श्वान को खा लिया हो ।

ज्ञानी कबीर इस कथन द्वारा प्रभु का ही सन्देश अर्थात् प्रभु-भक्ति का सन्देश कहना चाहते हैं ।

विशेष—१. उलटबांसी के माध्यम से अद्भुत रस की प्रतिष्ठा हुई है ।

२. मालोपमा, विरोधाभास, अतिशयोक्ति आदि अलकार स्वाभाविक रूप से आये हैं ।

ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या, मैं रह्या उभेषै ।
मूसा हसती सौं लड़ै, कोई बिरला पेषै ।।टेक।।
मूसा पैठा बांबि मै, लारै सापणि धाई ।
उलटि मूसै सापणि गिली, यहु अचिरज भाई ।।
चीटी परबत ऊषण्यां, ले राख्यौ चौड़ै ।
मुर्गा मिनकी सूं लड़ै, झल पांणीं दौड़ै ।।
सुरही चूंषै बछतलि, बछा दूध उतारै ।
ऐसा नवल गुंणी भया, सारदूलहि मारै ।।
भील लुक्या बन बीझ मै, ससा सर मारै ।
कहै कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहि बिचारै ।।१६१।।

शब्दार्थ—बांबि=साँप का बिल । ऊषण्यां=उखाड़ लिया । झल=अग्नि । सुरहीं=सुरभि, गाय । सारदूलहि=सिंह को । ससा=खरगोश । सर=बाण ।

कबीर कहते है कि सद्गुरु ने उस ब्रह्म का स्वरूप निरूपण ऐसी अद्भुत विधि से किया है कि मैं आश्चर्य चकित हो देखता ही रह गया । मन मायारूपी हाथी से जूझता है जिसको कोई भक्त ही देख पाता है । साधक साधना स्थित हो बैठ जाता है एवं माया रूपी सर्पिणी उसकी ओर को लपकती है किन्तु आश्चर्य यह है कि उस साधक ने माया को परास्त कर दिया । यह कार्य वैसा ही हुआ कि चौड़े मे चीटी ने

पर्वत को उखाड कर रख दिया हो। माया और साधक का युद्ध होता है। ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित अमृतोपम जल के मध्य ज्योतिस्वरूप ब्रह्म रहता है। इस प्रकार आत्मा रूपी गाय ब्रह्मरन्ध्र रूपी बछड़े के नीचे चून रही है, अमृत का पान कर रही है। अब यह साधक साधना द्वारा इतना सबल हो गया कि माया के सिर को मार गिराता है। भ्रमरूपी भील संसार-वन मे छिप गया है और साधक रूपी खरगोश फिर भी उसे बाण मार-मार कर नष्ट कर रहा है।

कबीर कहते है कि मै उसे अपना गुरु बना लूँगा जो इस पद को विचारेगा।

अवधू जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहीं व्यापै, देही जुरा न छीजै ॥टेक॥

उलटी गंग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नव ग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मैं व्यंब प्रकासै ॥
डाल गह्यां थै मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि शरप कौं लागी, धरणि महा रस खावा ॥
बैठि गुफा मैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनकि पारधी मार्‌यो, यहु अचिरज कोई बूझै ॥
औंधा घड़ा न जल मैं डूबै, सूधा सूभर भरिया।
जाकौं यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया ॥
अंबर बरसै धरती भीजै, यहु जांणै सब कोई।
धरती बरसै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई ॥
गावणहारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेखि पेखनां, पेखै, अनहद बेन बजावै ॥
कहणीं रहणीं निज तत जाणै, यहु सब अकथ कहाणीं।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की बांणीं ॥
बाझ पियालै अमृत सोख्या, नदी नीर भरि राख्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाख्या ॥१६२॥

शब्दार्थ—काल=मृत्यु। कलप=कल्प। जुरा=जरावस्था। छीजै=क्षीण होना। ससिहर=चन्द्रमा। गरासै=ग्रस लेता है। बबई=बांबी, साँप का बिल।

कबीर कहते है कि हे अवधूत! ज्ञान प्राप्त कर पुन. अज्ञान-निद्रा मे मत पड़ो। जागृत रहने से मृत्यु बन्धन कभी नही बाँधता तथा शरीर जरावस्था द्वारा जीर्ण नही होता। सुषुम्ना मे इड़ा और पिंगला का समन्वय हो जाने पर कुण्डलिनी ऊर्ध्वगति से शून्य कमल मे पहुच वहाँ से स्रवित अमृत का पान करती है। नौ चक्रों का भेदन कर साधक उस अमृत मे ज्योतिस्वरूप अलख निरजन ब्रह्म के दर्शन करता है। किन्तु यदि साधक कुण्डलिनी को मूलाधार से ऊपर न चढ़ावे तो उस ब्रह्मरस की प्राप्ति नही हो सकती अपितु मूलाधार चक्र से ही साधना प्रारम्भ करने से ही उसकी

प्राप्ति होगी। कुण्डलिनी वहाँ से उलटी होकर ऊर्ध्वंगति से चल दी और उसने शून्य मे पहुँच महारस का पान किया। मन को अंतर्मुखी करने से ही ब्रह्म दर्शन होता है, इस दर्शन मे ससार का प्रत्येक रहस्य प्रकट हो जाता है, किन्तु यदि मन बाहर विषय-वासनाओं मे ही भटकता रहा तो फिर कुछ प्राप्त नही हो सकता। साधक ने इस प्रकार समाधिस्थ हो कुण्डलिनी की ऊर्ध्वंगति से इस ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त किया। इस आश्चर्य को जानने वाले थोड़े ही है।

जिस भाँति उल्टा घट जल मे डूबता नहीं है और सीधा ऊपर तक भर कर डूब जाता है उसी भाँति जिन्होंने अपने आत्म-घट को संसार से उल्टा कर लिया है भवसागर मे डूब नही सकते किन्तु जो संसार की ओर ही इसका मुख किये रहेगे वे निश्चय ही यहाँ डूब जायेगे। जो इस संसार से घृणा करके चलता है अर्थात् इसके आकर्षणो में लिप्त नही होता वह मुक्त हो जाता है। आकाश से बादलों के बरसने को तो सब कोई ही जानता है। किन्तु औंधे कुएं—ब्रह्मरन्ध्र—से अमृत वर्षा के रहस्य से कोई-कोई ही परिचित होता है। जो प्रभु के गुणों का गान सर्वदा अपने मन मे करता रहता है वह कभी चिल्ला कर प्रार्थना नही करता, जो उसका नाम मन मे प्रतिपल नही लेता वही बाँग दे देकर प्रभु का नाम पुकारता है। यदि उस नटवर ब्रह्म को देखता है तो देखो, वह अनहद नाद की वेणु की स्वर लहरी छेड़ता है। साधक का कथन, वास और प्रत्येक कर्म कलाप इस अलख से ही सम्बन्धित होना चाहिए। यह महापुरुषो का कथन कि कुण्डलिनी उलट कर आकाश-शून्य मे जाकर अमृत का पान करती है। यह अमृत कुण्ड कभी सूख नही सकता, सरिता के रूप मे सर्वदा प्रवाहित रहता है। कबीर कहते है कि कोई विरला योगी ही इस महारस—ब्रह्मरन्ध्र से स्रावित अमृत का पान करता है।

विशेष—१. योगसाधना का उसके पारिभाषिक शब्दों एवं परिभाषानुसार वर्णन हुआ है।

२. अतिशयोक्ति, अनुप्रास, विरोधाभास, उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग है।

३. उलटवाँसियों की अद्भुत रसपूर्ण विरोधाभासयुक्त प्रतीकात्मकता दर्शनीय है।

रांम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरखनाथि जांणी।
नाति सरूप न छाया जाकै, बिरध करै बिन पांणीं ॥टेक॥
बेलड़िया द्वै अणीं पहूँती, गगन पहूँती सैली।
सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही ॥
मन कुंजर जाइ बाड़ी बिलंव्या, सतगुर बाही बेली।
पंच सखी मिलि पवन पयंप्या, बाड़ी पांणी मेल्ही ॥
काटत बेली कूपले मेल्हीं, सींचताड़ी कुमिलांणीं।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरंतर जाणी ॥१६३॥

शब्दार्थ—बेलड़ी=बेल, लता। बिरध=वृद्धि। कूपल=कोपल। कुंजर=हाथी।

हे अवधूत ! गोरखनाथ जैसे सन्त ने रामगुणलता को पहचाना था। उसका न तो कुछ स्वरूप है, स्वरूपविहीन होने से उसकी छाया भी नही है एव विना माया-जल के ही उसकी वृद्धि होती है, माया विना ही वह पल्लवित और पुष्पित होती है। यह रामगुणवेली पृथ्वी से आकाश तक फैली हुई है। जव सहज समाधि लगने लगी तभी यह वेली और अधिक पल्लवित हुई। सद्गुरु ने मनरूपी हाथी को इस लता के पास भेज दिया; अर्थात् मन प्रभु गुणगान करने लगा। पाँचो इन्द्रियाँ विषय-रस से हटकर इधर ही लग गईं, इसी को सिंचित करने लगी। माया-वेली को काटने से इस राम-गुण-लता पर नवीन पल्लव प्रस्फुटित होते है और माया-वेली का अभिसिंचन करने से यह कुम्हला जाती है। कवीर कहते हैं कि कोई विरला योगी ही सहज साधना के मर्म को समझ पाता है।

विशेष—विभावना, रूपक, विरोधाभास अलंकार।

रांम राइ अविगत विगत न जानं,
कहि किम तोहि रूप वषानं ॥टेक॥
प्रथमे गगन कि पुहमि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पवन कि पाँणीं।
प्रथमे चंद कि सूर प्रथमे प्रभू, प्रथमे कौंन विनांणीं॥
प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमे प्रभू, प्रथमे रकत कि रेतं।
प्रथमे पुरिष कि नारि प्रथमे प्रभू, प्रथमे वीज कि खेतं॥
प्रथमे दिवस कि रैंणि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पाप कि पुन्यं।
कहै कवीर जहां वसहु निरंजन, तहां कुछ आहि कि सुन्यं॥१६४॥

शब्दार्थ—पुहुपि=पृथ्वी। विनांणी=रचना की। प्यड=शरीर। रकत=रक्त, खून। सुन्यं=शून्य।

कवीर कहते है कि हे भाई ! राजा राम, प्रभु का स्वरूप कथन करना अत्यन्त कठिन है, मैं उनके स्वरूप का वर्णन किस भाँति कर सकता हू। पृथ्वी और आकाश पहले हुए अथवा प्रभु ? वायु, पवन, चन्द्र, सूर्य और प्रभु इनमे पहले कौन जन्मा ? पहले प्राण हुए कि शरीर, पहले रक्त हुआ कि रज, पहले नारी हुई अथवा पुरुष, पहले वीज का अस्तित्व है कि क्षेत्र का ? पहले रात्रि हुई थी या दिवस ? पहले पाप-पुण्य मे किसकी धारणा उद्भूत हुई ?—जिस भाँति ये सव प्रश्न बड़े विचित्र और निरुत्तर कर देने वाले हैं उसी प्रकार प्रभु के स्वरूप, आकार-प्रकार के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता।

कवीर कहने हैं कि जहाँ अलख निरजन ज्योतिस्वरूप परमात्मा का निवास है वहाँ शून्य के अतिरिक्त और कुछ नही।

अवधू सो जोगी गुर मेरा, जो या पद का कर नवेरा ॥टेक॥
तरवर एक पेड़ विन ठाढ़ा, विन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नही वाकै, अष्ट गगन मुख वागा॥

पैर बिन निरति करां बिन बाजै, जिभ्या हीणां गावै।
गावणहारे कै रूप न रेषा, सतगुर होइ लखावै ॥
पषी का षोज मीन का मारग, कहै कबीर बिचारी।
अपरंपार पार परसोतम, वा मूरति की बलिहारी ॥१६५॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि हे अवधूत ! जो योगी इस पद का अर्थ स्पष्ट कर दे वही मेरा गुरु है। एक पेड बिना तने के खडा है एव बिना पल्लवित हुए ही उस पर फल लग रहे है। उस पर शाखा एव पत्र भी कुछ नही है, वह केवल अष्ट-चक्रो के वेधनोपरान्त प्राप्त होता है। वह ब्रह्म बिना पैर एव साज के नृत्य कर रहा है और रसना बिना गान—अनहद नाद करता है। उस गायक का कोई स्वरूप और आकार-प्रकार नही, केवल सद्गुरु ही उसे दर्शा सकते है। कबीर विचारपूर्वक कहते है कि ब्रह्म तक पहुचने का मार्ग पक्षी की गति के समान एव मीन के कार्य जैसा है। वह अपार, अनादि पूर्ण पुरुषोत्तम है, मै उस प्रभु की बलिहारी जाता हू।

विशेष—विभावना।

अब मै जांणिबौ रे केवल राइ की कहांणी।
मझा जोति रांम प्रकासै, गुर गमि बांणी ॥टेक॥
तरवर एक अनत मूरति, सुरता लेहु पिछांणी।
साखा पेड़ फूल फल नांही, ताकी अंमृत वांणीं ॥
पुहप बास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया ॥
सहज समाधि बिरष यहु सींच्या, धरती जल हर सोष्या।
कहै कबीर तास मै चेला, जिनि यहु तरवर पेष्या ॥१६६॥

शब्दार्थ—मझा जोति=प्रकाश के अन्दर। राता=अनुरक्त। बिरष=वृक्ष।

कबीर कहते है कि मै उस प्रभु का रहस्य जान गया हू। गुरु उपदेश से यह ज्ञात हुआ कि अनन्त प्रकाश के मध्य उस ज्योति स्वरूप ब्रह्म का निवास है। शून्य तरु पर एक अनन्त सौन्दर्यमयी मूर्ति—ब्रह्म—है। 'सुरत' द्वारा, सहजसमाधि द्वारा उसके दर्शन किये जा सकते है। उस तरु की शाखा, पत्र, तना इत्यादि सामान्य वृक्ष की भाँति नही है, अपितु वहाँ तो केवल मात्र अमृत का ही स्रवण होता है। उस तरुवर के फल पर मधु-लोभी मधुकर—साधक—पहुँचता है और उस अमृत को अपने हृदय में संचित कर लेता है। इस प्रकार सोलह पवनो से वह स्पर्श करता है और उसका फल शून्य मे ही लगा हुआ है। सहज समाधि के द्वारा इस वृक्ष का अभिसिंचन किया जाता है, उसे सासारिकता का स्पर्श तक नही होता। कबीर कहते है कि मैं उस साधक भक्त का शिष्य हू जिसने ब्रह्मस्वरूप इस अद्भुत वृक्ष को देख लिया है।

राजा रांम कवन रंगै, जैसै परिमल पुहप संगै ॥टेक॥
पंचतत ले कीन्ह बंधान, चौरासी लष जीव समांन।
बेगर बेगर राखि ले भाव, तामै कीन्ह आपकौ ठांव ॥

जैसै पावक भंजन का वसेष, घट उनमान कीया प्रवेस।
कह्या चाहूँ कछू कह्या न जाइ, जल जीव ह्वै जल नहीं विगराइ॥
सकल आतमां वयतै जे, छल बल कौं सब चीन्हि बसे।
चीनियत चीनियत ता चीन्हिलै से, तिहि चीन्हिअत धूंका करके॥
आपा पर सब एक समांन, तब हम पाया पद निरवांण।
कहै कबीर मन्य भया संतोष, मिले भगवंत गया दुख दोष॥१६७॥

शब्दार्थ—परिमल पुहप संगै=फूल के साथ सुगधि। लष=लाख।

कबीर कहते है कि प्रभु उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक और सबके साथ हैं जैसे कि पुष्प के साथ सुगन्ध। हे मनुष्य उसके समान पंच तत्वो से इस सृष्टि का निर्माण किया है और वह चौरासी लाख जीव-योनियो पर सम दृष्टि रखता है। तू प्रभु को हृदय मे निष्ठापूर्वक वसा ले जिससे तू ससार मे कुछ समय अपने अस्तित्व की रक्षा कर सके। जिस भाँति अग्नि किसी वस्तु मे शीघ्र प्रवेश करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी ने ऊर्ध्वगति प्राप्त कर शून्य मे प्रवेश किया है। अव मेरी गति ऐसी हो गई है कि कुछ कहना तो चाहता हू, किन्तु कुछ कह नही सकता, यह आत्मा उसी अंशी का अग है, किन्तु अपनी कलुषता से उस परमात्मा का कुछ नही बिगाड़ सकता। जितनी भी शुभकामनाए हैं वे सव ससार के माया-भ्रम को दूर करके ही मुक्त हुई है। शनैं शनै. ऐसा अभ्यास कर जो उस प्रभु को अवसर पाकड (धू का) पहचान ले। जव मैंने 'अह पर' की भावना का परित्याग कर दिया तभी यह मुक्ति-पद प्राप्त हुआ है। कबीर वर्णन करते हैं कि प्रभु के मिलने से मेरे दु ख तथा क्लेश नष्ट हो गये और मन को परितोप प्राप्त हुआ।

विशेष—सहोक्ति अलकार।

अंतर गति अनि अनि बांणीं।
गगन गुपत मधुकर मधु पीवत, सुगति सेस सिव जांणी॥टेक॥
त्रिगुन त्रिबिधि तलपत तिमरातन, तंती तंत मिलांनीं।
भागे भरम भोइन भये भारी, बिधि बिरंचि सुषि जांणीं॥
वरन पवन अवरन बिधि पावक, अनल अमर मरै पांणीं।
रबि ससि सुभग रहे भरि सब घटि, सबद सुंनि थितिमांहीं॥
संकट सकति सकल सुख खोये, उदधि मथित सब हारे।
कहै कबीर अगम पुर पटण प्रगटि पुरातन जारे॥१६८॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि हृदय मे प्रभु का वास है। शून्य लोक मे, ब्रह्मरन्ध्र में, मधुकर—आत्मा—अमृत रूपी जिस मधु का पान कर रही है उसके मधुर रस को शेपनाग व शिव ही जान सकते है। यह आत्मा त्रिगुणात्मक विविध-युक्त ससार के माया-मोह मे उलझ रही थी किन्तु इस अमृत पान से तत्व—आत्मा—अश परम तत्त्व, परमात्मा, अंशी से एकाकार हो जाती है जिसके द्वारा ससार भ्रम का महा

जजाल दूर हो गया—इस सुख का अनुभव ब्रह्मा आदि ही जान सकते है। इस स्थिति मे पहुचने पर क्षिति, जल, पावक्, गगन, वायु आदि तत्व परम तत्व मे लीन हो जाते है—शरीर का महत्व नही रहता। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि सब अनहद नाद सुनकर पूर्ण रूपेण स्थित हो गये, साधक स्थितप्रज्ञ स्थिति मे आ गया। इस ससार का वारि—बिलोने मे ही मनुष्य ने अपने समस्त सुखो को नष्ट कर डाला है। कबीर कहते है कि अगम्य प्रभु के लोक की प्राप्ति पुरातन पापो का प्रक्षालन करने से ही होती है।

विशेष—१ त्रिगुण—सत, रज, तम।

२. त्रिविधि—वेद विधि, लोक बिधि, कुल विधि।

३. विधि विरचि—मे पुनरुक्ति दोष है, जो कबीर के लिए क्षम्य है क्योकि हिन्दू देवताओ के सम्बन्ध मे उनका ज्ञान उतना ही है जितना कि हम एक अपढ विधर्मी से आशा कर सकते है—मुसलमान से। वस्तुत. उनका यह ज्ञान ही नही समस्त ज्ञान सत्सग से प्राप्त किया हुआ है। वैसे उनके लिए विधर्मी शब्द प्रयुक्त करना उपयुक्त नही वे तो राम-रसायन पीकर मद मस्त है—उनका पालन पोषण ही केवल मुसलमान जुलाहा दम्पति के द्वारा हुआ, वैसे उनकी शिराओ मे हिन्दू रक्त दौड रहा था। इस सवन्ध मे आचार्यवर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के शब्द द्रष्टव्य है—

"सयोग से वे ऐसे युग-सधि के समय उत्पन्न हुए थे जिसे हम साधनाओ और मनोभावनाओ का चौराहा कह सकते है—उन्हे सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के सस्कार पडने के रास्ते है वे प्राय सभी उनके लिए बद थे। वे मुसलमान होकर भी असल मे मुसलमान नही थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नही थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नही थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नही थे। वे योगी होकर भी योगी नही थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बन कर भेजे गये थे। कबीर ऐसे ही मिलन बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है दूसरी ओर मुसलमानत्व, ..."[1]

इस पद का कला पक्ष भी दर्शनीय है, यहाँ प्रत्येक शब्द ढपली पर गाने मे चाहे जिस रूप मे नही निकल गया है अपितु प्रत्येक शब्द ढपली के स्वर पर थिरक २ कर मधुर स्वर लहरी उत्पन्न करने के लिए निकला है।

४. अनुप्रास, विरोधाभास अलंकार।

लाधा है कछू लाधा है, ताकी पारिष को न लहै।
अबरन एक अकल अबिनासी, घटि घटि आप रहै॥टेक॥
तोल न मोल माप कछु नाहीं, गिणंती ग्यान न होई।
नां सो भारी नां सो हलवा, ताकी पारिष लषै न कोई॥
जामै हक सोई हम हीं मै, नीर मिलें जल एक हूवा।
यौं जाणै तौ कोई न मरिहै, बिन जांणै थैं बहुत मूवा॥
दास कबीर प्रेम रस पाया, पीवणहार न पाऊं।
बिधनां बचन पिछाणत नाहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊं॥१६९॥

१. हिन्दी साहित्य।

शब्दार्थ—हलका=हल्का। पारिष=परख, पहचान।

वह अरूप अविनाशी ब्रह्म घट-घट व्यापी है, यह जानते हुए भी कोई उसके विषय मे कुछ भी जान नही सका है। न उसका कोई भार अथवा माप है, न उसे अंको की गणना द्वारा जाना जा सकता है। न वह भारी ही है और न हल्का ही, उसे कोई भी पहचान नही सकता। हम उसके अन्दर समाहित हैं और वह हम सबके हृदय में रम रहा है, जिस प्रकार जल के दो प्रकार मिलकर एकमेक हो जाते हैं, उसी भांति उस अंगी से अंग मिलाकर तद्रूप हो जाता हैं। यदि मनुष्य उसको जान ले तो फिर कोई न मरे और बिना उसे जाने तो समस्त ससार मृत्यु को प्राप्त हो ही रहा है। कबीर कहते है कि मैंने उस प्रभु के प्रेम रस को प्राप्त कर लिया है किन्तु अब मुझे अन्य कोई उसका पीने वाला नहीं मिलता। ब्रह्मा तक तो मेरे शब्दो का अर्थ नहीं समझ पाता है फिर भला प्रभु मिलन से सम्बन्धित आनन्द की अभिव्यक्ति कैसे दू? (गूगे का गुड ही जो ठहरा)।

हरि हिरदै रे अनत कत चाहौ,
भूलैं भरम दुनीं कत वाहौ ॥टेक॥
जग परबोधि होत नर खाली, करते उदर उपाया।
आतम रांम न चीन्हैं संतौ, क्यूं रमि लै रांम राया॥
लागै प्यास नीर सो पीवैं, बिन लागै नहीं पीवैं।
खोजैं तत मिलै अविनासी, बिन खोजैं नहीं जीवैं॥
कहै कबीर कठिन यह करणीं, जैसी षंडे धारा।
उलटी चाल मिलै परब्रह्म कौं, सो सतगुरू हमारा॥१७०॥

शब्दार्थ—अनत=अन्यत्र। परबोधि=प्रबोध। षडे धारा=तलवार की धार।

कबीर कहते है कि वह प्रभु तो प्रत्येक हृदय मे स्थित है किन्तु फिर भी जगत् भ्रम मे भटक कर उसे अन्यत्र खोजता है। इस मूर्ख, अज्ञानग्रस्त ससार को समझाने से तो बुद्धि खाली होती हैं, यह तो उदरपूर्ति के ही साधनो मे भटका हुआ है। ये घटवासी प्रभु को भी नही पहचानते, इसीलिये सृष्टि के कण कण मे व्याप्त प्रभु के दर्शन इन्हे नहीं हो सकते। जिस प्रकार तृषित को ही खोजने पर जल की प्राप्ति होती है, बिना खोज (साधन) के नही उसी भाँति जो प्रभु को साधन द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं उन्हे ही उसकी प्राप्ति होती है। कबीरदास कहते है कि यह साधना मार्ग इतना ही कठिन है जितना तलवार की धार पर गमन करना। जो अपनी कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वगामी कर साधना द्वारा प्रभु को प्राप्त करता है, वह योगी हमारे लिए गुरुवत् पूज्य है।

विशेष—१ उपमा, विरोधाभास अलकार।

१ तुलना कीजिए—

अति तीछण प्रेम को पथ महा, तलवार की धार पै धावनो है।

रे मन बैठि कितै जिनि जासी, हिरदै सरोवर है अविनासी ॥टेक॥
काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति, काया मधे वैकुंठबासी ॥
उलटि पवन षटचक्र निवासी, तीरथराज गंग तट बासी ॥
गगन मंडल रबि ससि दोइ तारा, उलटी कूंची लागि किवारा।
कहै कबीर भई उजियारा, पंच मारि एक रह्यो निनारा ॥१७१॥

शब्दार्थ—कवलापति=कमलापति, विष्णु। पचमारि=पाँचो इन्द्रियों को मारकर, वश मे करके।

कबीर कहते है कि हे मन! तू व्यर्थ इधर-उधर क्यो भटक रहा है? वह अविनाशी प्रभु तो हृदय सरोवर मे ही विद्यमान है अन्यत्र जाकर तीर्थ-पूजा की क्या आवश्यकता है, इस शरीर मे ही करोडों काशी आदि तीर्थ हैं। इस शरीर मे ही लक्ष्मी-पति वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु विद्यमान है। इसलिए तू प्राणायाम साधना से कुण्ड-लिनी को ऊर्ध्वगामी कर षट्चक्रो का भेदन करता हुआ तीर्थराज प्रयाग (त्रिकुटी), एवं गंगा (ब्रह्मरन्ध्र) तट का वासी हो। उन शून्यमंडल मे सूर्य, चन्द्र तारे का प्रकाश—अनन्त ज्योतिस्वरूप परमात्मा—का वास है। उसके किवाड़ लगे हैं जिसे कुण्डलिनी को उल्टी कर खोलना है। कबीर कहते है कि पाँचो इन्द्रियो को वहीं केन्द्रस्थित कंर देने से ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का दर्शन प्राप्त होता है।

रांम बिन जन्म मरन भयौ भारी।
साधिक सिध सूर अरु सुरपति, भ्रमत गये हारी ॥टेक॥
व्यंद भाव भ्रिग तत जंत्रक, सकल सुख सुखकारी।
श्रवत सुनि रवि ससि सिब सिव, पलक तुरिह पल नारी ॥
अंतर गगन होत अंतर धुनि, बिन सासनि है सोई।
घोरत सबद समंगल सब घटि, व्यंदत ब्यंदै कोई ॥
पांणीं पवन अवनि नभ पावक, तिहि संगि सदा बसेरा।
कहै कबीर मन मन करि बेव्या, बहुरि न कीया फेरा ॥१७२॥

शब्दार्थ—साधिक=साधक। सिध=सिद्धि। सुरपति=इन्द्र। बिनसासनि =विना सासो के। घटि=हृदय में।

साधक, सिद्ध, शूरवीर एव देवराज इन्द्र सब इस ससार मे भटक-भटक कर हार गये किन्तु विना प्रभु के तो वे जन्म-मरण के बन्धन मे ही वंधे रहते है। प्रभु प्रेम एक ऐसा मन्त्र है जो समस्त प्राणियो के लिये सुखदायी है। शिव, सूर्य, चन्द्र आदि सब जानते है कि वह प्रभु कभी पल में स्त्री तो कभी पल में पुरुष रूप में परिवर्तित हो जाता है। शून्य मण्डल मे उसके रहते हुए एक मंगल ध्वनि होती है एवं वह प्रभु विना साँस प्राण वायु के भी जीवितं है। यह अनहद शब्द प्रत्येक हृदय में हो रहा है किन्तु बिरले ही इसको सुनकर प्रभुवन्दना करते है। उस ईश्वर के सम्पर्क मे क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर-सब सर्वदा साथ रहते हैं कबीर कहते है कि

शब्दार्थ—हलका=हल्का। पारिख=परख, पहचान।

वह अरूप अविनाशी ब्रह्म घट-घट व्यापी है, यह जानते हुए भी कोई उनके विषय मे कुछ भी जान नही सका है। न उसका कोई भार अथवा माप है, न उसे अकों की गणना द्वारा जाना जा सकता है। न वह भारी ही है और न हल्का ही, उसे कोई भी पहचान नही सकता। हम उसके अन्दर समाहित है और वह हम सबके हृदय में रम रहा है, जिस प्रकार जल के दो प्रकार मिलकर एकमेक हो जाते हैं, उसी भांति उस अशी से अश मिलाकर तद्रूप हो जाता है। यदि मनुष्य उसको जान ले तो फिर कोई न मरे और बिना उसे जाने तो समस्त ससार मृत्यु को प्राप्त हो ही रहा है। कबीर कहते है कि मैंने उस प्रभु के प्रेम रस को प्राप्त कर लिया है किन्तु अब मुझे अन्य कोई उसका पीने वाला नहीं मिलता। ब्रह्मा तक तो मेरे शब्दो का अर्थ नही समझ पाता है फिर भला प्रभु मिलन से सम्बन्धित आनन्द की अभिव्यक्ति कैसे दू? (गूगे का गुड ही जो ठहरा)।

हरि हिरदै रे अनत कत चाहौ,
भूलै भरम दुनीं कत बाहौ ॥टेक॥
जग परबोधि होत नर खाली, करते उदर उपाया।
आतम रांम न चीन्हैं संतौ, क्यूं रमि लै रांम राया॥
लागै प्यास नीर सो पीवै, बिन लागै नहीं पीवै।
खोजै तत मिलै अविनासी, बिन खोजै नहीं जीवै॥
कहै कबीर कठिन यह करणीं, जैसी पडे धारा।
उलटी चाल मिलै परब्रह्म कौं, सो सतगुरु हमारा ॥१७०॥

शब्दार्थ—अनत=अन्यत्र। परबोधि=प्रबोध। पडे धारा=तलवार की धार।

कबीर कहते है कि वह प्रभु तो प्रत्येक हृदय मे स्थित है किन्तु फिर भी जगत् भ्रम मे भटक कर उसे अन्यत्र खोजता है। इस मूर्ख, अज्ञानग्रस्त ससार को समझाने से तो बुद्धि खाली होती है, यह तो उदरपूर्ति के ही साधनो मे भटका हुआ है। ये घटवासी प्रभु को भी नही पहचानते, इसीलिये सृष्टि के कण कण मे व्याप्त प्रभु के दर्शन इन्हे नही हो सकते। जिस प्रकार तृषित को ही खोजने पर जल की प्राप्ति होती है, बिना खोज (साधन) के नही उसी भाँति जो प्रभु को साधन द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते है उन्हे ही उसकी प्राप्ति होती है। कबीरदास कहते है कि यह साधना मार्ग इतना ही कठिन है जितना तलवार की धार पर गमन करना। जो अपनी कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वगामी कर साधना द्वारा प्रभु को प्राप्त करता है, वह योगी हमारे लिए गुरुवत् पूज्य है।

विशेष—१ उपमा, विरोधाभास अलकार।

१ तुलना कीजिए—

अति तीछण प्रेम को पथ महा, तलवार की धार पै धावनो है।

रे मन बैठि कितै जिनि जासी, हिरदै सरोवर है अबिनासी ॥टेक॥
काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति, काया मधे वैकुंठबासी ॥
उलटि पवन षटचक्र निवासी, तीरथराज गंग तट वासी ॥
गगन मंडल रवि ससि दोइ तारा, उलटी कूंची लागि किवारा।
कहै कबीर भई उजियारा, पंच मारि एक रह्यो निनारा ॥१७१॥

शब्दार्थ—कवलापति=कमलापति, विष्णु। पंचमारि=पाँचो इन्द्रियों को मारकर, वश मे करके।

कवीर कहते है कि हे मन! तू व्यर्थ इधर-उधर क्यो भटक रहा है? वह अविनाशी प्रभु तो हृदय सरोवर मे ही विद्यमान है अन्यत्र जाकर तीर्थ-पूजा की क्या आवश्यकता है, इस शरीर मे ही करोडो काशी आदि तीर्थ हैं। इस शरीर में ही लक्ष्मी-पति वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु विद्यमान है। इसलिए तू प्राणायाम साधना से कुण्ड-लिनी को ऊर्ध्वगामी कर षट्चक्रो का भेदन करता हुआ तीर्थराज प्रयाग (त्रिकुटी) एवं गगा (ब्रह्मरन्ध्र) तट का वासी हो। उन शून्यमडल मे सूर्य, चन्द्र तारे का प्रकाश —अनन्त ज्योतिस्वरूप परमात्मा—का वास है। उसके किवाड़ लगे हैं जिसे कुण्डलिनी को उल्टी कर खोलना है। कबीर कहते है कि पाँचो इन्द्रियो को वहीं केन्द्रस्थित कर देने से ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का दर्शन प्राप्त होता है।

रांम विन जन्म मरन भयौ भारी।
साधिक सिध सूर अरु सुरपति, भ्रमत गये हारी ॥टेक॥
ब्यंद भाव भ्रिग तत जंत्रक, सकल सुख सुखकारी।
श्रवत सुनि रवि ससि सिब सिव, पलक तुरिह पल नारी ॥
अंतर गगन होत अतर धुनि, बिन सासनि है सोई।
घोरत सबद समंगल सब घटि, ब्यंदत ब्यंदै कोई ॥
पांणीं पवन अवनि नभ पावक, तिहि संगि सदा बसेरा।
कहै कबीर मन मन करि बेध्या, बहुरि न कीया फेरा ॥१७२॥

शब्दार्थ—साधिक=साधक। सिध=सिद्धि। सुरपति=इन्द्र। बिनसासनि=बिना सासो के। घटि=हृदय मे।

साधक, सिद्ध, शूरवीर एव देवराज इन्द्र सब इस ससार मे भटक-भटक कर हार गये किन्तु विना प्रभु के तो वे जन्म-मरण के बन्धन मे ही बधे रहते है। प्रभु-प्रेम एक ऐसा मन्त्र है जो समस्त प्राणियो के लिये सुखदायी है। शिव, सूर्य, चन्द्र आदि सब जानते है कि वह प्रभु कभी पल मे स्त्री तो कभी पल में पुरुष रूप मे परिर्वातित हो जाता है। शून्य मण्डल मे उसके रहते हुए एक मगल ध्वनि होती है एवं वह प्रभु विना साँस प्राण वायु के भी जीवित है। यह अनहद शब्द प्रत्येक हृदय में हो रहा है किन्तु विरले ही इसको सुनकर प्रभुवन्दना करते है। उस ईश्वर के सम्पर्क मे क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर-सब सर्वदा साथ रहते है कबीर कहते हैं कि

मन को मैंने इतनी दृढता से नियन्त्रित किया है कि यह पुनः विषय-वासनाओं मे संलिप्त नही होगा ।

विशेष—अनुप्रास, विभावना अलंकार ।

नर देही बहुरि न पाईये, ताथैं हरषि हरषि गुंण गाईये ॥टेक॥
जे मन नहीं तजै विकारा, तौ, क्यूं तिरिये भौ पारा ।
जब मन छाड़ै कुटिलाई, तब आइ मिलै राम राई ॥
ज्यूं जीमण त्यूं मरणां, पछितावा कछू न करणा ।
जांणि मरै जे कोई, तौ बहुरि न मरणां होई ॥
गुर वचनां मंझि समावै, तब रांम नांम ल्यौ लावै ।
जब रांम नांम ल्यौ लागा, तब भ्रम गया भौ भागा ॥
ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा ।
जब अनहद बाजा बाजै, तब सांई संगि विराजै ॥
होह सन्त जनन के संगी, मन राचि रह्यौ हरि रंगी ।
धरौ चरन कवल विसवासा, ज्यूं होइ निरभै पर वासा ॥
यहु काचा खेल न होई, जन षरतर खेलै कोई ।
जब षरतर खेल मचावा, तब गगन मंडल मठ छावा ॥
चित चंचल निहचल कीजै, तब रांम रसांइन पीजै ।
जब रांम रसांइन पीया तब काल मिट्या जन जीया ॥
यूं दास कबीरा गांवै, ताथैं मन कौं मन समझावै ॥
मन हीं मन समझाया, तब सतगुर मिलि सचु माया ॥१७३॥

शब्दार्थ—बहुरि=पुनः । ल्यौ=प्रेम । राचिरसो=रग रहा है । प्रेम कर रहा है । निहचल=निश्चल् । सचु सुख ।

हे मनुष्य ! तू पुनः इस मानव शरीर को प्राप्त नही कर पायेगा, इसलिए उल्लास और प्रसन्नता-सहित प्रभु का गुणगान कर; क्योकि प्रभु-भक्ति इसी जन्म में सम्भव है । जो यह मन विषय-वासनाओ को नही त्यागेगा तो यह संसार-सागर से किस भांति पार होगा । जब मन कुटिलता छोड़ निर्मल हो जायेगा तो भगवान् स्वयं आकर तुझसे मिलेंगे । जो मनुष्य जीवन धारण किये हुए है वह मरेगा अवश्य ही, फिर इस भांति पछताने से कुछ नहीं होगा कि काश हम प्रभु-भक्ति के लिये ही मरे होते । यदि कोई जीते जी मर जाय, जीवनमुक्त स्थिति को प्राप्त कर ले तो फिर उसे बार-बार जन्म मृत्यु के बन्धन मे बधना न पड़े । जो साधक, भक्त, गुरु उपदेश में अपना मन लगा देगा वही प्रभु नाम से अपना ध्यान लगा सकता है । प्रभु से प्रेम होने पर इस संसार का भ्रम विदूरित हो जाता है । यदि सूर्य-चन्द्र रूप इडा-पिंगला मिल जाँय (कुण्डलिनी उस मार्ग से शून्य भेदन करे) तो अनहद नाद की वेणु मुखरित हो जाती है । जब यह अनहद शब्द बजता है तभी भक्त को ज्योतिरूप भगवान् के दर्शन होते है । अब यह मन प्रभु के रंग मे रंग साधु पुरुषो की संगति मे रहता है । मैं अब

प्रभु के चरण कमलो का विश्वासी हो गया हूं इससे तो वहा (चरणों मे) निर्भय पद की प्राप्ति होती है। यह प्रभु भक्ति कोई कच्चा खेल नही है, इसे कोई धैर्यवान् ही खेल सकता है। जब साधना के रूप मे यह कठिन खेल प्राप्त हो जाता है तो भक्त शून्यमण्डल का वासी बन जाता है। मन को पूर्णरूपेण स्थिर कर प्रभु-भक्ति का मधुर रस पान करना चाहिए जिसके पान करते ही काल—मृत्यु—का भय समाप्त हो जाता है इस प्रकार भक्त कबीर प्रभु-भक्ति का निरूपण करते है और मन ही मन मे मन को प्रबोध देते हैं जब मन स्वय ही मन को समझाने लगता है तभी सच्चे गुरु की प्राप्ति होती है जिससे प्रभु-दर्शन होता है।

अवधू अगनि जरै कै काठ।
पूछौं पंडित जोग संयासी, सतगुर चीन्हैं बाट ॥टेक॥
अगनि पवन मै पवन कवन मै, सबद गगनके पवनां।
निराकार प्रभु आदि निरंजन, कत रवंते भवनां ॥
उतपति जोति कवन अंधियारा, घन बादल का बरिषा।
प्रगट्यौ बीज धरनि अति अधिकै, पारब्रह्म नही देखा ॥
मरना मरै न मरि सकै, मरनां दूरि न नेरा।
द्वादस द्वादस सनमुख देखै, आपै आप अकेला ॥
जे बांध्या ते छुछंद मुकता, बांधनहार बांध्या।
बांध्या मुकता मुकता बांध्या, तिहि पारब्रह्म हरि लांधा ॥
जे जाता ते कौण पठाता, रहता ते किन राख्या।
अंमृत समांनां, विष मै जांनां, विष मै अमृत चाख्या ॥
कहै कबीर बिचार बिचारी, तिल मै मेर समांनां।
अनेक जनम का गुर गुर करता, सतगुर तब भेटांनां ॥१७४॥

शब्दार्थ—नेरा=समीप। द्वादस=बारस आदित्य, अर्थात् परम प्रकाश। बाध्या=बन्दी होना। मेर=मेरु, सुमेरु पर्वत।

हे अवधूत! यह माया मे वासना अग्नि लग रही है अथवा जीव में जो प्रभु का अंश है? यह बात मैं योगी, संन्यासी, ज्ञानी सभी से पूछता हूं, किन्तु इसके ज्ञाता तो केवल सद्गुरु ही है। अग्नि तो प्राणवायु—वायु—मे समा जाती है, किन्तु यह पवन किस मे समाता है? यह वायु भी अनहद नाद के महाशब्द मे लीन हो जाती है। वह प्रभु तो निराकार, निरजन एव अनादि है वह किसी मन्दिर—भवन—मे कब रहता है। उस ज्योतिस्वरूप परमेश्वर के प्रकट होते ही अज्ञानाधकार शेष नही रह जाता एवं उस अनुपम बादल से अमृत वर्षा होने लगती है। इस प्रकार से प्रभु का दर्शन होता है, किन्तु यह ससार फिर भी अपने तापो से दुखित है, प्रभु के दर्शन का प्रयास नही करता। प्रभु को प्राप्त करने मे मरना पड़ता है, अर्थात् साधना-स्थली कठिन है, यह मरण बडा कठिन है, सरल नही। मरकर जीवन्मुक्त होकर प्रभु-प्राप्ति करते समय द्वादश आदित्यो का प्रकाश दृष्टिगत होता है और आत्मा वहाँ ब्रह्म के

साथ अकेली रह जाती है। जो ससार मे बद्ध है उनकी गति छछून्दर तुल्य है, सृष्टा ही ने उन्हे माया बधन मे बाध दिया है। जो बन्धन मे पड़े हुए है वे मुक्त होने का प्रयास क्यो नही करते, वे पारब्रह्म परमेश्वर की आराधना नही करते। जो प्रभु की भक्ति के मार्ग मे प्रवृत्त होना चाहता है, उसे कौन भेजता है? वह तो स्वयं वहाँ चला जाता है और जो उस मार्ग को ग्रहण नही करता, भला उसे किसने रोका है? इस कठिन प्रभु-भक्ति के द्वारा मैंने अमृत का पान किया है इस विप मे ही कष्ट में ही अमृत की प्राप्ति होती है। कबीर विचारपूर्वक कहते है कि भक्ति अपनाने से पलभर मे ही मेरा अहत्व समाप्त हो गया और अनेक जन्म के पुण्य-फलो द्वारा मुझे उस सद्गुरु की प्राप्ति हुई जिसने मुझे प्रभु से मिला दिया।

अवधू ऐसा ग्यान विचारं।
भेरै चढे सु अधधर डूबे, निराधार भये पारं ॥टेक॥
ऊघट चले सु नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटांनें, के बांधे के छूटें ॥
मदिर पैसि चहूँ दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूका।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा ॥
बिन नैनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
कहैं कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देख्या धंधा ॥१७५॥

शब्दार्थ—ऊघट=ऊबड,-खावड। पैसि=प्रवेश करके। धधा=धोखा।

हे अवधूत! तु ऐसा अनुपम ज्ञान का विचार कर जिसमे आश्रय ढूढने पर मनुष्य डूब जाता है और ससार से अपने सम्वन्ध विच्छेद कर देने पर वह इस सागर से पार हो जाता है। जो उल्टी चाल, कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति, से चले वे प्रभु के उस प्रदेश (शून्य) मे पहुच गये किन्तु जो मार्ग आदि मे सीधे ही अन्य सासारिको की भाति चले वे तो लुट कर सर्वस्व गवा कर बैठ गये। एक माया रज्जु से समस्त ससार बधा हुआ है वहा शून्य मन्दिर मे जो कोई भी पहुचा वह उस अनुपम अमृत रस से भीग कर अमर हो गया और जो बाहर रह गया वह सूखा ही रहा, उसे वह अद्भुत अमृत प्राप्त नही हुआ। जिन्होने अपने मन को मार दिया है वे सर्वदा सुखी रहे जिन्होने उसे स्वतन्त्र छोड दिया वह तो दुखी है ही। वह बिना नेत्रो के ही समस्त ससार की गतिविधि को देख लेता है और इस प्रकार नेत्र वाले अन्धे से अच्छा है। कबीर कहते हैं कि अन्तत; यह समझ मे आया कि ससार धोखे से परिपूर्ण है।

विशेष—१. विरोधाभास, विभावना आदि अलकार।

२. ससार को इसी प्रकार सब सन्तो, समस्त विचारको ने एव सामान्य प्राणी तक ने धोखा प्रपच, छल, माया, ही माना है। प० प्रतापनारायण मिश्र अपने "धोखा" निवन्ध मे कितने सुन्दर ढंग से इसी बात को प्रस्तुत करते है—

'सच है ! भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान् के बनाये हुए भव (ससार) मे जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है, तभी तक ससार है, वरच ससार का स्वामी तभी तक है फिर कुछ भी नही।"

जग धंधा रे जग धंधा, सब लोगन जांणै अंधा।
लोभ मोह जेवड़ी लपटानीं, बिनही गांठि गह्यो फंदा ॥टेक॥
ऊंचै टीबै मछ बसत है, ससा बसै जल मांहीं।
परबत ऊपरि लोक डूबि मूवा, नीर मूवा धूं कांहीं ॥
जले नीर तिण षड सब उबरै, बैसंदर ले सीचै।
ऊपरि मूल फूल तिन भीतरि, जिनि जान्या तिन नीकै ॥
कहै कबीर जांनही जांनै, अन-जांनत दुख भारी।
हारी बाट बटाऊ जीत्या, जांनत की बलिहारी ॥१७६॥

शब्दार्थ—मछ=मत्स्य। ससा=खरगोश। वैसन्दर=अग्नि।

"यह ससार प्रपच है—इसके अतिरिक्त कुछ भी नही" इस तथ्य से सब अवगत है। यहा जीव को लोभ, मोह की रज्जु बिना गाँठ डाले फन्दा बना कर फसाये रहती है। ऊँचे टीले, शून्य-शिखर पर मछली—ब्रह्म—बसता है और खरगोश, कुण्डलिनी, नीचे मूलाधार चक्र पर स्थित है। इस शून्य पर्वत के ऊपर अर्थात् इसे पाने के प्रयत्न मे वहुत से नष्ट हो गये किन्तु वहाँ से स्रवित अमृत की प्राप्ति किसी को नही होती। उस जल को जिसने भी प्राप्त कर लिया वे सब मुक्त हो गये। उस वृक्ष की जड़ ऊपर तया फल नीचे है जिन्होने उसे जान लिया वे ही श्रेष्ठ है। कबीर कहते हैं कि जानने का प्रयत्न करने से ही उसे जाना जा सकता है, बिना जाने तो उससे महान् वेदना होती है, ससार ताप विदूरित नही होने। साधना मार्ग में एक दिन वह अवश्य आ जाना है जब लक्ष्य—ब्रह्म—सम्मुख आ जाता है, कबीर उस लक्ष्य प्राप्त भक्त की वलिहारी जाता है।

विशेष—विभावना रूपकातिशयोक्ति, रूपक आदि अलकार।

अवधू ब्रह्म मतै घरि जाइ।
कालिह जु तेरी बंसरिया छीनी, कहा चरावै गाइ ॥टेक॥
तालि चुगै वन तीतर लउवा, परबति चरै सौरा मछा।
बन की हिरनी कूवै बियांनी, ससा फिरै अकासा ॥
ऊंट मारि मै चारै लावा, हस्ती तरंडबा देई।
वंबूर की डरियां बनसी लैहूँ, सीयरा भूंकि भूंकि षाई ॥
आंब कै बौरे चरहल करहल, निबिया छोलिछोलि खाई।
मोरे आग निदाष दरी वल, कहै कबीर समझाई ॥१७७॥

शब्दार्थ—सरल है।

हे अवधूत ! ब्रह्म का रहस्य जान पाना बडा कठिन है, क्योकि कल जिसने तेरी बाँसुरी चुराई, उस चोर से गायो के चुराने की आशा कैसे की जाये ? अथवा

कल जिसने स्वय तेरी बाँसुरी कृष्णरूप मे चुराई थी उससे इन्द्रियों के वश में रखने की आशा कैसे की जाये ? वन रूपी ससार जीवरुपी तीतर को नष्ट कर रहा है और सुसरी मछली माया पर्वत सदृश ससार को खा रही है। मृग तुल्य-वन-वन भटकने वाला मन हृदयकूप मे केन्द्रित हो गया और खरगोश रूप कुण्डलिनी आकाश—शून्यमण्डल—में रम रही है। मैंने अह के ऊचे ऊट को समाप्त कर दिया है। माया रूपी हस्तिनी स्वय अव मेरी चेरी है। शुष्क साधना रूप ववूल वृक्ष पर मधुर फल लग रहे हैं जिन्हे कुण्डलिनी के द्वारा साधक प्राप्त कर रहा है। आम की डाली (भक्ति) पर वैठकर मनभावन स्वादो से युक्त फल प्राप्त किये जा सकते है। कबीर कहते हैं कि मुझे तो दाख आदि सब कुछ प्राप्त हो गये हैं।

विशेष—रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास, विभावना आदि अलकार।

कहा करौं कैसैं तिरौं, भौ जल अति भारी।
तुम्ह सरणा-गति केसवा, राखि राखि मुरारी ॥टेक॥
घर तजि वन खडि जाइये खानि खइये कंदा।
विषैं बिकार न छूटई, ऐसा मन गंदा।
विष विषिया कौं वासनां, तजौं तजी नहीं जाई।
अनेक जतंन करि सुरझिहौं, फुनि फुनि उरझाई॥
जीव अछित जोवन गया, कछू कीया न नीका।
यहु हीरा निरमोलिका, कौडी पर वीका॥
कहै कबीर सुनि केसवा, तूं सकल वियापी।
तुम्ह समांनि दाता नहीं, हंम से नहीं पापी ॥१७८॥

शब्दार्थ—भौजल=ससार रूपी जल। फुनि-फुनि=पुन.-पुन. वार-वार। अछित=अक्षत, सुन्दर। नीका=सत्कर्म भलाई का काम। निरमोलिका=अमूल्य। बियापी=व्याप्त।

कबीर अपने प्रभु की वन्दना करते कहते है कि मैं हे प्रभु ! इस गम्भीर ससार सागर-जल से कैसे पार पाऊँ ? केवल आप ही हमारे एक मात्र आश्रय है, अतः हे नाथ रक्षा करो ? यह मन तो इतना पाप-पूर्ण है कि घर का परित्याग कर सन्यास लेने पर वन मे जाकर तपस्या करते हुए, खाने मे कंद आदि पर ही जीवन निर्भर रखते हुए भी इसके विषय-विकार नहीं छूट सकते। यह विषय-वासना का विष कितना ही त्यागने का प्रयत्न करो किन्तु छोडते नही वनता। इस भव-जाल से मुक्त होने का कितना ही प्रयत्न करो किन्तु इसमे अधिकाधिक उलझते जाते हैं हे जीवात्मा ! तेरा यह सुन्दर यौवन काल व्यर्थ ही समाप्त हो गया, उसमे तूने कोई सत्कर्म ही नही किया। यह तेरा हीरे के समान अमूल्य मानव-जीवन कौडी के मूल्य मे चला गया। कबीर कहते है कि हे ईश्वर ! आप सर्वत्र व्यापी है आपके समान उदार, औघड़ दानी कोई नही है और मुझ जैसा पापी कोई नही है, अत. मेरा उद्धार करो।

विशेष—यह पद बड़ा ही सरस, भक्त की दैन्यपूर्ण मधुर भावनाओं से परिपूर्ण है। इसमे अपना लघुत्व और इष्ट का महत्व तो तुलसी के ही समान है।

बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूं भव बंधन षूटै।
जुरा मरन दुख फेरि करंन सुख, जीव जनम थै छूटै ॥टेक॥
सत गुर चरण लागि यौं बिनऊं, जीवन कहां थै पाई।
जा कारनि हम उपजै बिनसै, क्यूं न कहौ समझाई ॥
आसा-पास षंड नहीं पाड़ै, यौं मन सुंनि न लूटै।
आपा पर आनंद न बूझै, बिन अनभै क्यूं छूटै ॥
कह्यां न उपजै उपज्यां नहीं जांणै, भाव अभाव बिहूनां।
उदै अस्त जहां मति बुधि नांहीं, सहजि रांम ल्यौ लीनां।
ज्यूं बिंबहि प्रतिबिंब समांनां, उदकि कुंभ बिगरांनां।
कहै कबीर जांनि भ्रम भागा, जीवहिं जीव समांनां ॥१७९॥

शब्दार्थ—षूटै=नष्ट होना। जुए=जरावस्था। उपजै=जन्म लिया। बिनसै=नष्ट हुए। अनभै=निडर, निर्भय। कुम्भ=घडा।

कबीर कहते है कि हे गुरुवर! कृपा करके दास को उचित पथ पर लगा दो जिससे ससार का यह असह्य वन्धन छूट जाय एव जीव जन्म-मरण से छूट, आवागमन से मुक्त हो जाय। सद्‌गुरु के चरण छूकर मै यह प्रार्थना करता हूं कि कृपा कर इस जन्म का प्रयोजन वताये। जिस (भक्ति) के लिए हम जन्मे है उस उद्देश्य को हमे समझा कर कहे। आशा, तृष्णा, जब तक पीछा नही छोड़ देती तब तक शून्य स्थित ज्योतिस्वरूप आनन्दमय का आनन्द प्राप्त नही किया जा सकता है।

अह आनन्द की प्राप्ति मे वहुत वाधक है। बिना सासारिक भय भागे भला मुक्ति सम्भव कहाँ? जिस बात को सद्‌गुरु कहते है उसका तू अनुगमन नही करता एव अभावो के ससार मे ग्रस्त रहता है। जहाँ वासनाओ—माया आदि का न उदय है और न अस्त—वही प्रभु के पास कबीर ने अपनी वृत्ति रमा दी है जिस भाँति विम्ब-प्रतिविम्व एक ही हो जाते है, जल और कुम्भ के भीतर का जल मायारूप कुम्भ के फूटते ही एक हो जाते हैं उसी प्रकार भ्रम के नष्ट होते ही जीव परमात्मा मे लीन हो जाता है।

विशेष—दृष्टात अलंकार।

संतो धोखा कासूं कहिये।
गुंण मै निरगुंण निरगुण मै गुंण है, बाट छाड़ि क्यूं बहिये ॥टेक॥
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणां जाई।
नाति सरूप बरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई ॥
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरू अंत न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई ॥१८०॥

शब्दार्थ—बहिये=पथ-भ्रष्ट होना।

कबीर ईश्वर के सम्बन्ध मे कहते है यह रहस्य किससे कहा जाय वह सगुण होते हुए भी निर्गुण है और निर्गुण होते हुए भी सगुण है। उचित पथ को छोड इस भ्रम मे कभी नही पडना चाहिए कि वह निर्गुण है अथवा सगुण। वह ब्रह्म तो अजर अमर अलख है—ऐसा सब मानते है किन्तु फिर भी उसके स्वरूप का विश्लेपण नही किया जा सकता। न जिसका कोई रूप-रेखा आकार है वह सबके हृदय मे रम रहा है। सब यह कहते है कि जो शरीर—पिड—मे है वही ब्रह्माण्ड में भी है किन्तु फिर भी उसका आदि और अन्त नही जाना जा सकता। पिड—शरीर को छोड कर सूक्ष्म रूप शून्यवासी ब्रह्म है, कबीर के मत से वही सब कुछ है।

पपा पखी कै षेपणैं, सब जगत भुलांनां।
निरपष होइ हरि भजै, सो साध सयानां ॥टेक॥
ज्यूं षर सूं षर वंधिया, यूं वधे सब लोई।
जाकै आतम द्रिष्टि है, साचा जन सोई ॥
एक एक जिनि जांणियां, तिनहीं सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौ लींन मन, ते बहुरि न आया ॥
पूरे की पूरी द्रिष्टि, पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछू समझि न परई, या कछू बात अलेखै ॥१८१॥

शब्दार्थ—पपापपी=पक्ष-विपक्ष, तेर-मेर निज पर।

यह संसार निज पर, तेरे-मेरे के फेर मे पडा हुआ भ्रमित है। जो निष्पक्ष—इन दोनो सीमाओ से ऊपर उठकर ईश्वर भक्ति करता है, वही सज्जन और साधु है। जिस प्रकार गधे से गधा, मूर्ख से मूर्ख वधा हुआ एक दूसरे को चाहे जिधर ठेल देते हैं वही इस जगत् की गति हो रही है। जिस व्यक्ति को आत्म-दृष्टि प्राप्त है, वही सच्चा है। जिन्होने उस एक परमात्मा के स्वरूप को जान लिया है, उन्हे ही शान्ति की प्राप्ति होती है। जिस मनुष्य का मन प्रभु-प्रेम मे लगने सहित केन्द्रित है, वह पुनः ससार मे नही आता, वह मुक्त हो जाता है। ऐसे पूर्ण मनुष्य की दृष्टि सर्वांग-सम्पूर्ण होती है और वह पूर्ण-पुरुष ब्रह्म को पा लेता है। कबीर इतना सब कहने के पश्चात् भी कहते हैं कि उसका रहस्य कुछ समझ मे नही आता है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास।

अजहूँ न संक्या गई तुम्हारी, नांहि निसंकि मिले बनवारी ॥टेक॥
बहुत गरब गरबे संन्यासी, ब्रह्मचरित छूटी नहीं पासी ॥
सुद्र मलेछ बसै मन मांहीं आतमरांम सु चीन्ह्यां नाहीं।
संक्या डाइणि बसै सरीरा, ता कारणि रांम रमै कबीरा ॥१८२॥

शब्दार्थ—सक्या=संशय। बनवारी=प्रभु, भगवान। आतमरांम=हृदय में स्थित भगवान्।

हे साधक! आज भी तुम्हारा संशय नष्ट नही हुआ, बिना निश्शक हुए प्रभु प्राप्ति नही होती। सन्यासी मिथ्या दम्भ मे मरे जाते है किन्तु न तो उन्हे प्रभु दर्शन

होता है और न वे भव-बन्धन से मुक्त ही होते है ससार के अन्य प्राणियो को शूद्र, म्लेच्छ कहने से क्या ये सब तो दुर्भावनाओ के रूप मे तुम्हारे मन मे ही रहती है। इसी कारण तुम आत्मस्थित ब्रह्म को न पहचान पाये। इस शरीर मे शका रूपी डायन का वास है जिसे निकालने के लिए कबीर अपने प्रभु की भक्ति करता है।

सब भूले हो पाषंडि रहे, तेरा बिरला जन कोई राम कहै ।।टेक।।
होइ अरोकि बूंटी घसि लावै, गुर बिन जैसै भ्रमत फिरै।
है हाजिर परतीति न आवै, सो कैसै परताप धरै।।
ज्युं सुख त्युं दुख द्रिढ़ मन राखै, एकादसी इकतार करै।
द्वादसी भ्रमै लष चौरासी, गर्भ बास आव सदा मरै।।
मै तै तजै तजै अपमारग, चारि बरन, उपरांति चढ़ै।
ते नही डूबै पार तिरि लंघै, निरगुण अगुण संग करै।।
होइ मगन रांम रँगि राचै, आवागमन मिटै धापै।
तिनह उछाह सोक नहीं ब्यापै, कहै कबीर करता आपै।।१८३।।

शब्दार्थ—मै तै=मेरा तेरा, अपने पराये की भावना। अपमार्ग=कुमार्ग। उछाह=उत्साह।

समस्त मानव प्रभु विस्मृत कर ससार के जजाल मे उलझे हुए हैं, कोई-कोई ही प्रभु का नाम लेता है। सद्गुरु विना चाहे उसे जानने के कितने ही प्रयत्न किये जाय किन्तु सब व्यर्थ। वह प्रभु विद्यमान है, किन्तु इस बात का विश्वास-दर्शन-किसी को नही है कि वह किस भाँति इतना अनुपम है। मनुष्य को सुख-दुख में समत्ववृत्ति रखते हुए मन सहित दसो इन्द्रियो को प्रभु मे केन्द्रित रखना चाहिए। किन्तु वह तो शरीर द्वायश-अगो की पूर्ति मे ही भकटता रहता है जिससे बार-बार गर्भ मे आ चौरासी लाख योनियो मे यातना भोगनी पड़ती है। जो व्यक्ति चारो वर्णों का भेद भाव छोड अहं पर की भावना को विदूरित कर देते है वे इस ससार-सागर मे डूबते नही है अपितु उस परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते है। मग्न होकर प्रभु भक्ति मे लगने से आवागमन चक्र से व्यक्ति विमुक्त हो जाता है। ऐसे लोगों की बुद्धि सम अवस्था को प्राप्त कर लेती है और वे ब्रह्म से मिल जाते है।

विशेष—१. गीता के 'स्थितप्रज्ञ' योगी की भाति सुख-दुख मे समान भाव रखने का उपदेश है—

"सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।"—२।३८

२. "एकादसी इकतार करे"—समस्त—११—वृत्तियो को प्रभु में केन्द्रित कर दे, ग्यारह: आख, कान, नाक, रसना, त्वचा, हाथ, पाँव, गुदा, लिंग, मुख—इन्द्रिया तथा एक मन।

३. "द्वादसी भ्रम"—शरीर के बाहर प्रमुख अंग, उन्ही की इच्छा पूर्ति मे लगे रहना। बारह प्रमुख अग—शिर, नेत्र, कर्ण, प्राण, मुख, हाथ, पैर, नाक, कण्ठ, त्वचा, गुदा, शिश्न।

तेरा जन एक आध है कोई ।
काम क्रोध अरु लोभ विवर्जित, हरिपद चीन्हैं सोई ॥टेक॥
राजस तांमस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया ।
चौथे पद कौं जे जन चीन्हैं, तिनहि परम पद पाया ॥
अस्तुति निंद्या आसा छांड़ै, तजै मांन अभिमांनां ।
लौहा कंचन समि करि देखैं, ते मूरति भगवानां ॥
च्यंतै तौ माधौ च्यतामणि, हरिपद रमैं उदासा ।
त्रिस्नां अरु अभिमांन रहित है, कहै कबीर सो दासा ॥१८४॥

शब्दार्थ—अस्तुति=स्तुति । निंद्या=निन्दा । च्यतै=चिन्तन करना ।

कबीर कहते है कि हे प्रभु ! तेरी भक्ति करने वाला भक्त तो साधक विरला ही है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पच विषयो से दूर आपके चरणों को पाने का प्रयत्न करता है ।

सत, रज, तम, त्रिगुणात्मक ससार तो तेरी ही माया है किन्तु जो इन सबसे तटस्थ हो प्रभु आराधना करते है वे प्रभु के परम पद से साक्षात्कार कर लेते हैं । जो भक्त निज प्रशसा, परनिन्दा, ससार तृष्णा को छोड़ मानाभिमान को त्याग देता है और लोह स्वर्ण, सुख-दुख, सबको समान मानता है वस्तुत. वह तो प्रभु के ही समान आदरणीय, पूज्य है । यदि तू किसी वस्तु की चिन्ता करता है तो चिन्तामणि स्वरूप प्रभु का विचार कर, ससार से उदासीन हो भक्ति मे लग । यह प्रभु-भक्ति का मार्ग, कबीर के विचार से तृष्णा और अभिमान रहित मनुष्य के लिए ही है ।

हरि नांमै दिन जाइ रे जाकौ,
सोई दिन लेखै लाइ रांम ताकौ ॥टेक॥
हरि नांम मै जन जागै, ताकै गोव्यंद साथी आगै ।
दीपक एक अभंगा, तामै सुर नर पड़ै पतंगा ॥
ऊंचा नींच सम सरिया, ताथैं जन कबीर निसतरिया ॥१८५॥

शब्दार्थ—निसतरिया=पार उतरना, संसार के बन्धनो से छुटकारा पाना ।

जिस व्यक्ति का समस्त दिवस प्रभु गुणगान मे बीतता है वही दिवस प्रभु को प्रिय हैं । जिस भक्त का आभार राम नाम ही है उसकी प्रभु सहायता करते हैं । यह माया का एक प्रज्ज्वलित आकर्षणमय दीपक है, उसमे देवता और मनुष्य शलभ के समान पड़-पड़कर प्राण दे रहे है । जो भक्त ऊंच नीच, सुख दुख मे समदृष्टि रखता है उससे कबीर तर जायेगा अर्थात् वह कबीर को प्रिय है ।

जब थैं आतम-तत विचारा ।
तब निरवैर भया सबहिन थैं, कांम क्रोध गहि डारा ॥टेक॥
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी ।
रांणा राव कवन सूं कहिये, कवन बैद को रोगी ॥

इनमैं आप आप सबहिन मै, आप आपसूं खेलै।
नांनां भांति घड़े सब भांडे, रूप धरे धरि मेलै॥
सोचि बिचारि सबै जग देख्या, निरगुंण कोई न बतावै।
कहै कबीर गुंणीं अरु पंडित, मिलि लीला जस गावैं॥१८६॥

शब्दार्थ—निरवैर=द्वेष-रहित।

जब से मैंने आत्म तत्व, प्रभु रहस्य पर विचार करना प्रारम्भ किया है, तभी से मुझे किसी से द्वेष नही रह गया है एवं काम, क्रोध को मैंने उठाकर पटक दिया है। पण्डित, ज्ञानी और योगी – सभी मे वही एक ब्रह्म व्यापक है। राजा, राव, सामान्य पुरुष और वैद्य तथा रोगी, चिकित्सक तथा चिकित्सा कराने वाले—सब ही तो समान हैं क्योंकि इन सबमे वही ब्रह्म स्थित है जो स्वय अपनी क्रीडा-लीला स्वय के आनन्द के लिये कर रहा है। संसार मे यह विभिन्नता तो उसी भाँति है जिस भाँति अनेक प्रकार के घड़े, स्वरूप मे भिन्न होते हुए भी एक ही मिट्टी के बने होते हैं। कबीर कहते हैं मैंने भली-भाँति विचार कर देख लिया है कि लीलामय भगवान् का स्वरूप गुण-गान तो सब ज्ञानी और गुणीजन करते है किन्तु उस निर्गुण परब्रह्म को कोई नही पहचानता।

तू माया रघुनाथ की, खेलण चढ़ी अहेड़ै।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे, कोई न छोड़्या नेड़ै॥टेक॥
मुनियर पीर डिगंबर मारे, जतन करंता जोगी।
जगल महि के जंगम मारे, तूंर फिरै बलिवंती॥
वेद पढंतां ब्राह्मण मारा, सेवा करतां स्वामीं।
अरथ करतां मिसर पछाड़्या, तूंर फिरै मैंमती॥
साषित कै तूं हरता करता, हरि भगतन कै चेरी।
दास कबीर रांम कै सरनै, ज्यूं लागी त्यूं तोरी॥१८७॥

शब्दार्थ—रघुनाथ=प्रभु। अहेड़ै = शिकार, आखेट। नेड़ै = पास। मुनियर=श्रेष्ठ मुनि। डिगम्बर=दिगम्बर। जतन=यत्न, साधना। बलिवती= बलशाली। मिसर=मिश्र, पडितो की जाति विशेष। मैं मती=मदमस्त। साषित= शाक्त।

कबीर कहते हैं कि प्रभु की माया इस ससार मे आखेट को निकली है। चतुर मृग रूप भोले मनुष्यो को इसने छान-छान कर मार डाला है, कोई भी अपने पास जीवित नही छोडा। इसने मुनिवर, पीर, दिगम्बर एव साधनारत योगी सबको भ्रष्ट किया, किसी को नही छोडा। इस पृथ्वी पर इसने जंगल के जंगल अपनी मार से साफ कर दिये। हे प्रभु-माया! तू अत्यन्त गर्वितमती है। इसने शास्त्र-ग्रंथो, धर्म-ग्रंथो में अनुरक्त ब्राह्मण, तार्किक मिश्र, प्रभु सेवा मे रत मनुष्य किसी को मुक्त नही किया, अब भी यह मदमस्त फिर रही है। शाक्त लोगो के यहाँ तो तू निस्सकोच रमी रहती है, किन्तु प्रभु-भक्त के पास चोरी-छिपे जाती है। कबीर कहते है कि जो प्रभु

की शरण मे चला जायेगा, वह माया से मुक्त हो जायेगा, इसे ही उल्टा समाप्त कर देगा।

विशेष—सागरूपक अलकार।

जग सूं प्रीति न कीजिये, संमझि मन मेरा।
स्वाद हेत लपटाइए, को निकसै सूरा ॥टेक॥
एक कनक अरु कांमनीं, जग में दोइ फंदा।
इनपै जौ न वधावई, ताका मैं वंदा॥
देह धरें इन मांहि वास, कहु कैसे छूटै।
सीव भये ते ऊवरे, जीवत ते लूटे॥
एक एक सूं मिलि रह्या, तिनहीं सचु पाया।
प्रेम मगन लै लीन मन, सो वहुरि न आया॥
कहै कवीर निहचल भया, निरभै पद पाया।
ससा ता दिन का गया, सतगुर समझाया ॥१८८॥

शब्दार्थ—सूरा=शूरवीर। कनक=सोना, सासारिक आकर्षण। कामनी=स्त्री, सासारिक माया। फदा=वंधन। निहचल=निश्चल।

कवीर मन को प्रवोध देते हुए कहते हैं हे मन! तू इस ससार के माया-मोह मे मत पड़। इससे तो कोई शूरवीर ही मुक्त हो पाता है।

इस संसार मे दो ही वन्धन है। प्रथम धन, द्वितीय रूप-यौवन-सम्पन्न नारी। जो इन दोनो के वन्धन मे नही पडता है, मैं उसका दास हू। इस पच तत्वमय भौतिक शरीर के रहते हुए इनका वास कैसे छूट सकता है? जो शिव के समान योगी और साधक हो जाय तव तो इस माया-जाल से मुक्त हो सकता है। जो उस एक पूर्ण ब्रह्म से मिल गया, शान्ति का लाभ तो उसने ही किया है। जिसका मन प्रभु-भक्ति मे तल्लीन हो गया वह मुक्त हो जाता है और पुन. इस ससार वन्धन मे नही फसता। कवीर कहते है कि इस प्रकार ही निश्चल हो निर्भय पद की प्राप्ति सम्भव है। संसार-सशय तो उसी दिन समाप्त हो गया, जव सद्गुरु ने ज्ञानोपदेश दे प्रभु-भक्ति मार्ग मे प्रवृत्त किया।

रांम मोहि सतगुर मिलै अनेक कलानिधि, परम तत सुखदाई।
कांम अगनि तन जरत रही है, हरि रसि छिरकि बुझाई ॥टेक॥
दरस परस तै दुरमति नासी, दीन रटनि ल्यौ आई।
पाषंड भरंम कपाट खोलि कै, अनभै कथा सुनाई॥
यहु संसार गंभीर अधिक जल, को गहि लावै तीरा।
नाव जिहाज खेवइया साधू, उतरे दास कवीरा ॥१८९॥

शब्दार्थ—कलानिधि=कलाओ मे पारगत। काम=काम-वासना।

कवीर कहते है कि हे प्रभु! मुझे अनेक कलाओ मे पारगत, अमित संतोष देने वाले अनेक गुरु मिले किन्तु फिर भी मेरा शरीर कामाग्नि से दग्ध होता रहा।

उसकी शान्ति तो प्रभु-भक्ति का रस छिडक कर ही हो सकी। प्रभु के दर्शन एवं स्पर्श से कुबुद्धि का नाश हो गया और मन प्रभु-भक्ति मे लवलीन रहा। जिससे पाखड और भ्रम के कपाट खुलकर प्रभु की रहस्यपूर्ण कथा ज्ञात हुई। यह जगत् गहरे जल से परिपूर्ण है, इसमे जीवात्मा को पकड़ कर कौन पार लगा सकता है? इस शरीर रूपी नौका के केवट तो साधुजन है जिससे कबीर पार निकल सकता है।

विशेष—रूपक, छेकानुप्रास अलकार।

दिन दहूँ चहू कै कारणै जैसै सैबल फूले।
झूठी सूं प्रीति लगाइ करि, साचे कूं भूले ॥टेक॥
जो रस गा सो परहर्या, बिड़राता प्यारे।
आसति कहूँ न देखिहूँ, बिन नांव तुम्हारे॥
साची सगाई रांम की, सुनि आतम मेरे।
नरकि पड़ें नर बापुड़े, गाहक जम तेरे॥
हंस उड्या चित चालिया, सगपन कछू नांहीं।
माटी सूं माटी मेलि करि, पीछे अनखांहीं॥
कहै कबीर जग अधला, कोई जन सारा।
जिनि हरि मरम न जांणिया, तिनि किया पसारा ॥१९०॥

शब्दार्थ—बिडराता=नाश का कारण होना। आसति=आश्रय, रक्षा। बापुड़े=बेचारे। पसारा=ससार के आकर्षण के जल मे फँसना।

इस तृष्णा के कारण मैं सैवल-फूल के समान ऊपर से प्रसन्न रहता हुआ भी भीतर ही भीतर दग्ध होता रहता हू। इन मिथ्या सासारिक आकर्षणो से प्रेम कर उस सच्चे प्रभु को मैं विस्मृत कर बैठा हू। हे प्रभु! जिस रस को स्वाद मे मैं अच्छा समझ बैठा हूं वही नाश का कारण सिद्ध होता है। प्रभु! आपके नाम के बिना कही भी रक्षा दृष्टिगत नही होती। हे मन! तू सुन, एक राम से ही सम्बन्ध सत्य है, शेष सम्बन्ध मिथ्या है। अन्त मे तो हे मनुष्य! यदि तूने प्रभु-भक्ति न की तो तुझ नरक मे पड़ना पड़ेगा और यमदूत तुझे आकर ले जायेंगे। जिस समय तेरी आत्मा यहाँ से महा प्रयाण करेगी, उस समय तेरा यहाँ कोई भी निकट सम्बन्धी नही होगा। मिट्टी मे मिट्टी मिल जायगी तो बाद मे बिलखने से क्या? कबीर कहते है कि जिन्होने प्रभु-भक्ति का रहस्य न समझा, वे ससार के आकर्षण-जाल मे पड़ते है। इस प्रकार समस्त जग अज्ञानान्ध है।

विशेष—उपमा अलकार।

माधौ मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति हेत नही साधी ॥टेक॥
कारनि कवन आइ जग जनम्यां, जनमि कवन सचुपाया।
भौ जल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ी न लाया॥
पर निंद्या पर धन पर दारा, पर अपवादै सूरा।
ताथै आवागमन होइ फुनि फुनि, ता पर संग न चूरा॥

काम क्रोध माया मद मंछर, ए संतति हम मांहीं ।
दया धरम ग्यांन गुर सेवा, ए प्रभु सुपिनै नांहीं ॥
तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत-बछल भौ-हारी ।
कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौ हमारी ॥१९१॥

शब्दार्थ—जनमि कवन सचु पाया=जन्म मे कौन-सा सुख मिला ? अर्थात् कोई भी सुख नही मिला, पर=दूसरे की । दारा=स्त्री । मछर=मत्सर । भौहारी=ससार के दु खो को दूर करने वाले । सासति=रक्षा ।

हे प्रभु ! मै ऐसा अपराधी हू कि मुझ से आपकी भक्ति की साधना नहीं होती । न जाने मैं क्यो इस जगत् मे आकर उत्पन्न हुआ, इस अमूल्य मानव-जीवन प्राप्ति का क्या सुख । इस ससार-सागर जल से निस्तार के लिए आपके श्रीचरण चिन्तामणि के समान दु ख दूर करने वाले थे, किन्तु उनमे मैंने पल भर भी ध्यान नही लगाया । मैं परनिन्दा, परधन-लालसा, पर स्त्री-गमन एव दूसरो पर दोषारोपण करने मे लगा रहा । इसी कारण मैं बार-बार आवागमन के चक्र मे पड़ता हू और फिर भी तनिक देर के लिए भी साधु-सगति नही करता । काम, क्रोध, मोह आदि का निवास प्रतिपल मुझ मे रहता है । दया, धर्म, ज्ञान, गुरु सेवा—जैसे सद्गुणो से मेरा सम्बन्ध स्वप्न तक मे नही है । हे प्रभु ! आप कृपालु, दयालु, वत्सल एवं भय विदूरित करने वाले हैं । कबीर कहते है कि हे प्रभु ! मुझे कृपा कर बुद्धि एवं धैर्य प्रदान करो ।

रांम राइ कासनि करौं पुकारा,
ऐसे तुम्ह साहिब जाननिहारा ॥टेक॥
इंद्री सबल निबल मैं माधौ, बहुत करैं बरियाई ।
ल धरि जांहि तहां दुख पइये, बुधि बल कछू न बसाई ॥
मैं बपरौ का अलप मूंढ मति, कहा भयो जे लूटे ।
मुनि जन सती सिध अरु साधिक, तेऊ न आयें छूटे ॥
जोगी जती तपी संन्यासी, अह निसि खोजे काया ।
मैं मेरी करि बहुत बिगूते, बिषै बाघ जग खाया ॥
ऐकत छांड़ि जांहि घर घरनीं, तिन भी बहुत उपाया ।
कहै कबीर कछु समझि न परई, बिषम तुम्हारी माया ॥१९२॥

शब्दार्थ—बरियाई=भटकाना । बपरौ=बेचारा ।

हे प्रभु ! आप तो सब कुछ जानते ही है, मैं आपके अतिरिक्त और किससे अपनी व्यथा कहूं ? हे माधव ये इन्द्रियाँ अत्यन्त शक्तिशाली है और मैं निर्बल हूं, ये मुझे नाना विषयो मे भटकाती हैं । जहाँ कही भी ये ले जाती है वही दारुण व्यथा के अतिरिक्त और कुछ नही है । इन इन्द्रियो के सम्मुख बुद्धि परास्त हो जाती है । इनके जाल से मुनि, सती, सिद्ध, साधक कोई भी मुक्त नही हुआ फिर मैं बेचारा अल्पज्ञ, मूर्ख भला कसे इनके विपरीत चलता । योगी, यति, तपस्वी, सन्यासी आदि

प्रभु को शरीर के मध्य खोजने का प्रयास करते हैं किन्तु वे यह नही जानते कि अहं ने समस्त ससार को नष्ट कर दिया है और विषय-वासनाओ का वास भी जग को नित्य प्रति चट कर रहा है। जो सन्यास के द्वारा भी प्रभु को खोजते-खोजते हार गये, वे वनको छोडकर घर जाकर गृहस्थ बन गये। कबीर कहते है कि हे प्रभु ! तुम्हारी यह विषम माया मेरी समझ मे नही आती, यह एक रहस्य ही है।

विशेष—रूपक अलकार।

माधौ चले बुनांवन माहा, जग जीतें जाइ जुलाहा ॥टेक॥
नव गज दस गज गज उगनींसा, पुरिया एक तनाइ।
सात सूत दे गंड बहत्तरि, पाट लगी अधिकाई ॥
तुलह न तोली गजह न मापी, पहजन सेर अढाई।
अढाई मैं जे पाव घटै तो, करकस कर बजहाई ॥
दिन की वेठि खसम सूं कीजै, अरज लगीं तहां ही।
भागी पुरिया घर ही छाड़ी, चले जुलाह रिसाई ॥
छोछी नलीं कांमि नहीं आवै, लहटि रही उरझाई।
छांडि पसारा रांम कहि बौरे, कहै कबीर समझाई ॥१९३॥

शब्दार्थ—वनावन=बुनने। नव गज=नौ गज। दस गज=दस गज। उगनीसा=उन्नीस।

प्रभु ! आपने इस संसार रूपी वस्त्र का निर्माण बुनकर किया है, किन्तु आपके इस वस्त्र को माया नष्ट कर रही है। नवद्वार एव दसो इन्द्रियाँ, इस उन्नीस गज से इस थान रूपी ससार का निर्माण किया है। सात धातुओ के सूत का इसमे पाट फैलाया हुआ है। इसका विस्तार इतना है कि न इसे तोला जा सकता है और न नापा जा सकता है यदि इसमे तनिक भी मात्रा कम हो तो ससार का क्रय नही चल सकता है। हे मनुष्य ! तू दिन भर अपने व्यवसाय की जो पैठ लगाये उसमें प्रभु-नाम स्मरण के अतिरिक्त और कुछ न हो। इस प्रकार के व्यवसाय से माया घर छोड कर भाग जायगी। ससार मे झूठे सम्बन्धो की यह नलिका किसी कार्य नही आती, यह तो और गुत्थी को उलझाती है। कबीर मनुष्य को समझाते हुए कहते है कि हे अज्ञानी जीव ! तू विषय-वासनाओ से अपनी गति रोक राम-नाम का स्मरण कर।

विशेष—१. रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलकार।

२. नव गज=नव द्वार—दो नेत्र, दो कान, दो नासिका विवर, मुख, गुदा, लिंग।

३ दस गज=दस इन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा, हाथ, पाँव, गुदा, लिंग, मुख।

४. सात सूत—सप्तधातु—रस, रक्त, माँस, वसा, मज्जा, अस्थि, शुक्र।

बाजै जंत्र बजावै गुंनीं, राम नांम बिन भूली दुनी ॥टेक॥
रजगुन सतगुन तमगुन तीन, पंच तत ते साज्या बींन।

तीनि लोक पूरा पेखनां, नाच नचावै एकै जनां ॥
कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभुवन नाथ रह्या भरपूरि ॥१९४॥

शब्दार्थ—सरल है।

यह संसार रूपी वाद्य बज रहा है जिसे [illegible] गुणों ([illegible]) ने सजाया है। प्रभु-नाम बिना समस्त संसार भ्रम में पड़ा हुआ है। रज, सत, तम—त्रिगुणात्मक प्रकृति एव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—पंचतत्वो से इस यंत्र—संसार—का निर्माण हुआ है। समस्त सृष्टि—तीनो लोक—[illegible] इसका सचालक वह प्रभु ही है। कबीर कहते है कि माया-भ्रम को दूर कर मन मे यह दृढ विश्वास जमा लो कि इस संसार मे ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है।

जंत्री जंत्र अनूपम बाजै, ताका सबद गगन मैं गाजै ॥टेक॥
सुर की नालि सुरति का तूंबा, सतगुर साज बनाया।
सुर नर गण गंध्रप ब्रह्मादिक, गुर बिन तिनहूँ न पाया ॥
जिभ्या ताति नासिका करहीं, माया का मैण लगाया।
गमां बतीस मोरणा पांचौं, नीका साज बनाया ॥
जंत्री जंत्र तजै नहीं बाजै, तब बाजै जब बावै।
कहै कबीर सोई जन साचा, जंत्री सूं प्रीति लगावै ॥१९५॥

शब्दार्थ—सरल है।

यह हृदय-तन्त्री प्रभु के नाम से बज रही है जिसका अनुपम शब्द—अनहद नाद—शून्य लोक मे हो रहा है। सुरति के तूम्बे को स्वर—[illegible] मे बाँधकर ही सद्गुरु ने इस संगीत का सृजन किया है। देव, मनुष्य, गन्धर्व, ब्रह्मादि किसी ने भी उस परमप्रभु को विना गुरु की सहायता से प्राप्त नही किया है। जिह्वा एवं नासिका के तन्तु पर माया को नष्ट कर उस पर लाग लगायी है। बत्तीस दांतों अर्थात् गुणों एव पाँचो इन्द्रियो को भी वाद्य मे प्रयुक्त किया है—इस प्रकार प्रभु भक्ति का यह सुन्दर वाद्य बनाया है। यह वाद्य-यन्त्र नाम का आश्रय छोड़ने पर नही बजता, जब बजता है तब नामोच्चारण का संगीत मुखरित हो। कबीर कहते है कि वही भक्त सच्चा है जो इस प्रभु-भक्ति के वाद्य मे अपना मन लगा ले।

विशेष—रूपक अलंकार।

अवधू नादै व्यद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।
अंतरि गति नहीं देखै नेडा, ढूंढत बन बन डोलै ॥टेक॥
सालिगराम तजौं सिव पूजौं, सिर ब्रह्मा का काटौं।
सायर फोडि नीर मुकलांऊं, कुंवा सिला दे पाटौं ॥
चंद सूर दोइ तूंबा करिहूँ, चित चेतनि की डांडी।
सुषमन तंती बाजण लागी, इहि बिधि त्रिष्णा षांडी ॥
परम तत आधारी मेरे, सिव नगरी घर मेरा।
कालहि षंडूं मीच बिहंडूं, बहुरि न करिहूं फेरा ॥

जपौं न जाप हतौं नही गूगल, पुस्तक ले न पढांऊं।
कहै कबीर परंम पद पाया, नही आंऊं नही जांऊं ॥१९६॥

शब्दार्थ—नैडा=समीप। सायर=सागर। सुषमन=सुषुम्ना नाड़ी। षांडी=खंडित कर दी, नष्ट कर दी। फेरा=जन्म लेना।

हे अवधूत! इस शरीर मे ही उस प्रभु का शब्द होता रहता हैं। वह दिव्य निनाद 'अनहदनाद' होता है। मनुष्य उस प्रभु को पाने के लिए वन-वन तो भटकता है किन्तु अपने अन्तस् मे खोजने का प्रयास नही करता। शालिग्राम का परित्याग कर शिव की उपासना करने का क्या प्रयोजन? मैं तो ब्रह्मा तक का अस्तित्व समाप्त कर दूंगा। सागर—जिसकी पूजा होती है उसको फोड जल को सुखा दूंगा और कुए मे पत्थर डालकर उसे अटवा दूंगा। इड़ा पिंगला के तूम्बो को मन की सतर्कता की डन्डी पर बाध कर सुषुम्णा नाडी की ताँत लगा, प्रभु-भक्ति का अलौकिक राग अलाप कर मैं तृष्णा का अन्त कर दूंगा। वह परम ब्रह्म ही मेरे इष्ट है और उनका देश ही मेरा घर है। मै समय के व्यवधान को समाप्त कर मृत्यु का नाश कर दूंगा और इस भाति पुनः इस जगत् मे नही आऊंगा। अब न मैं मन्दिर या मस्जिद मे बैठकर गूगल धूम्र का ठाठ खड़ा कर जाप करूंगा और न शास्त्रग्रन्थो आदि का उपदेश दूंगा कवीर कहते है कि मैंने तो अब परमपद प्राप्त कर लिया है, मैं आवागमन से विमुक्त हो गया हू।

बाबा पेड़ छाडि सब डालीं लागे, मूंढे जत्र अभागे।
सोइ सोइ सब रैंणि बिहांणीं, भोर भयौ तब जागे ॥टेक॥
देवलि जांऊ तौ देवी देखौं, तीरथि जांऊं त पाणीं।
ओछी बुधि अगोचर बांणीं, नहीं परंम गति जांणीं॥
साध पुकारैं समझत नांहीं, आंन जन्म के सूते।
बांधे ज्यूं अरहट की टीडरि, आवत जाति बिगूते॥
गुर बिन इहि जग कौंन भरोसा, काकै संगि ह्वै रहिये।
गनिका कै घरि बेटा जाया, पिता नांव किस कहिये॥
कहै कबीर यह बिरोध्या, बूझौ अमृत बांणी।
खोजत खोजत सतगुर पाया, रहि गई आंवण जाणी ॥१९७॥

शब्दार्थ—जत्र=आराधना करना। सूते=नष्ट करना। गनिका=वैश्या।

कबीर कहते है कि इस ससार के अभागे लोग मूल—प्रभु—को छोड़ कर शाखा—माया—आराधना मे लगे हुए है। इस अज्ञान मे ही उन्होने आयु व्यतीत कर डाली और जब सुबह होने को है, जीवन का अन्त निकट है, तब इन्हे सुधि आयी है। यदि मै मन्दिर मे जाता हू तो देव प्रतिमा दिखाई देती है और तीर्थ स्नान मे जल किन्तु प्रभु—ब्रह्म—कही नही। यह बुद्धि अत्यल्प है जो परमतत्व का रहस्य जानने मे अक्षम है। साधुजन इस विषयसलिप्त मनुष्य को बराबर पुकारते हैं किन्तु यह तो दूसरे जन्म को भी भ्रष्ट करके रहेगा और जिस भाँति रहट

की डोंगियो, बाल्टियो का धारावाहिक क्रम चलता रहता है उसी प्रकार यह भी आवागमन चक्र से विमुक्त नही होगा। इस ससार मे विन सद्गुरु के कोई साथी नही और मनुष्य की स्थिति वेश्यापुत्र के समान, अनामधारी पिता के पुत्र के समान हो जाती है। कबीर अनुपम वाणी कहते है कि यह बडा चित्र-विचित्र है। सद्गुरु की सहायता से खोजते-खोजते प्रभु को पालिया और जो रह गये वे आवागमन से विमुक्त नही हुए।

विशेष—उपमा अलकार।

भूली मालिनी हे गोव्यद जागती जगदेव,
तूं करै किसकी सेव ॥टेक॥
भूली मालनि पाती तोड़ै, पाती पाती जीव।
जा मूरति कौं पाती तोड़ै, सो मूरति नर जीव॥
टाचणहारैं टांचिया, दे छाती ऊपरि पाव।
जे तूं मूरति सकल है, तौ घड़णहारे को खाव॥
लाडू लावण लापसी, पूजा चढै अपार।
पूजि पुजारा ले गया, दे मूरति कै मुहि छार॥
पाती ब्रह्मा पुहपे विष्णु, फूल फल महादेव।
तीनि देवौं एक मूरति, करै किसकी सेव॥
एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा।
एक न भूला दास कबीरा, जाकै रांम अधारा॥१९८॥

शब्दार्थ—सेव=सेवा। लावण=लवण, नमक। छार=धूल।

हे मालिन! तू भ्रम मे पडी हुई है! तू तनिक यह तो विचार कर कि पत्र-पुष्प तोड़ इससे किस प्रभु की सेवा करेगी? तू व्यर्थ फल-पत्ते तोड रही है, क्योकि इनमे से प्रत्येक जीव—जीवन है, किन्तु तू जिस इष्ट-मूर्ति के लिए इनका नाश कर रही है वह निर्जीव प्रस्तर है। काल छाती पर पाव रख कर बढता आ रहा है। यदि तेरी मूर्ति सत्य है तो उस काल को समाप्त कर दे, उस मूर्ति से इसका नाश करा दे। उस मूर्ति पर लड्डू, लवणयुक्त पकवान और अन्य विविध मिष्टान अपरिमित मात्रा मे चढ़ते है किन्तु पुजारी सबको अपने घर ले जाता है और उसे खाक भी नही मिलता। फूल, पत्र, सबमे ब्रह्म, विष्णु, महेश तीनो का निवास है और तीनो देव एक ही है—केवल उनका स्वरूप पृथक् है, अब बता तू किसकी अर्चना करेगी। मालिनी! यह स्थिति तेरी ही नही या एक दो की ही नही, समस्त ससार इसी भाँति भ्रम मे पडा हुआ है। कबीर कहते हैं कि केवल एक प्रभु-भक्त जिसके राम ही आश्रय है, भ्रम मे नही पडा है।

विशेष—मूर्ति पूजा का तीव्र विरोध है।

सेइ मन समझि संमर्थ सरणांगता, जाकी आदि अंति मधि कोइ न पावै।
कोटि कारिज सरैं देह गुंण सब जरैं, नैंक जौ नाव पतिव्रत आवै॥टेक॥

आकार की ओट आकार नहीं ऊबरै, सिव बिरंचि अरू विष्णु ताईं ।
जास का सेवक तास कौं पाइहै, इष्ट कौं छाडि आगै न जांही ।।
गुंणमई मूरति सेइ सब भेष मिली, निरगुण निज रूप बिश्रांम नांहीं ।
अनेक जुग बंदिगी बिबिध प्रकार की, अंति गुंण का गुंण हीं हमांहीं ।।
पांच तत तीनि गुण जुगति करि सांनियां, अष्ट बिन होत नहीं क्रंम काया ।
पाप पुन बीज अंकूर जांमै मरै, उपजि बिनसै जेती सर्ब माया ।।
क्रितम करता कहैं, परम पद क्यूं लहैं, भूलि भ्रम मै पड़्या लोक सारा ।
कहै कबीर रांम रमिता भजै, कोई एक जन गए उतरि पारा ।।१९९।।

शब्दार्थ—कारिज=कार्य । सरै=पूर्ण होना । पाँचतत=पाँचतत्त्व । उपजि =उत्पन्न कर । बिनसै—नष्ट होना । क्रितम करता=सृष्टि-कर्ता ।

हे मन ! तू उस समर्थ प्रभु की जिसका आदि, मध्य, अवसान कोई न पा सका, सेवा कर, भक्ति कर । यदि उस प्रभु का नाम एकाग्रमन हो अल्प समय के लिए भी ले लिया जाय तो मनुष्य के करोडो कार्य सफल हो जाते है तथा देह के दुःख नष्ट हो जाते है । यदि इस शरीर की भूख—तृप्ति मे ही लगे रहेगे तो शिव, ब्रह्मा अथवा किसी भी उपास्य का स्वरूप प्रत्यक्ष नही होगा । तू जिसका भक्त है उसको निश्चय ही प्राप्त कर लेगा, किन्तु अपने आराध्य को छोड अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नही । इष्ट को पूजने से सब तृप्तियाँ हो जाती है, निर्गुण ब्रह्म को अपने कार्य से फुर्सत नही, सृष्टि सचालन मे वह सर्वदा व्यस्त रहता है । अनेक युगो तक अनेक प्रकार से पूजा करने पर भी वह प्रभु हमे प्राप्त न हो सका । पाचो तत्वो, तीन गुणों समेत समस्त उपाय करने पर भी योग की अष्टाग साधना विना उस प्रभु की प्राप्ति नही होती । इसी मार्ग से पाप-पुण्य, जन्म-मरण, माया, विषय-वासना आदि समस्त पचडो का हो जाता है । इस सृष्टि का कर्त्ता कहता है कि तुम्हे किस भाति परम-पद की प्राप्ति हो सकती है क्योकि समस्त ससार सशय से ग्रसित है ।

कबीर कहते है कि राम-नाम-स्मरण से कितने ही भक्त इस भवसागर को पार कर गये ।

रांम राइ तेरी गति जांणी न जाई ।
जो जस करिहै सो तस पइहै, राजा रांम नियाई ।।टेक।।
जैसी कहै करै जो तैसी, तौ तिरत न लागै बारा ।
कहता कहि गया सुनता सुंणि गया करणीं कठिन अपारा ।।
सुरही तिण चरि अंमृत सरवै, लेर भवंगहि पाई ।
अनेक जतन करि निग्रह कीजै, बिषै विकार न जाई ।।
संत करै असंत की संगति, तासूं कहा बसाई ।
कहै कबीर ताके भ्रम छूटै, जे रहे रांम ल्यौ लाई ।।२००।।

शब्दार्थ—नियाई=त्यागी, त्याग करने वाला । तिरत=पार उतरते हुए, भव-बन्धन से मुक्त होते हुए । ल्यौ=प्रेम ।

हे राजा राम, परम प्रभु ! तेरा रहस्य किसी को ज्ञात नही होता। राजा राम न्यायी है जो जैसा कर्म करता है तदनुकूल ही वह फल भोगता है। जिसकी सत् कहनी और करणी मे अन्तर नही होता, उसे भवसागर से पार जाते देर नही लगती। सद्-वचन कहने और सुनने मे कठिन नही इन्हे, व्यवहार मे लाना कठिन है। शून्य—ब्रह्म-रन्ध्र—से अमृत स्रवित होता है, वहाँ मधुलोभी कोई विरली आत्मा ही पहुच पाती है किन्तु सामान्य लोगो के साथ आप कितने ही उपाय संसार छुडाने के कर लें, किन्तु वे विषय-विकार को नही छोड सकते। यदि सज्जन दुर्जन की सगति करने लगे तो भला उसका क्या उपचार ? कबीर कहते हैं कि उसी का ससार-सशय विदूरित होता है जिसकी वृत्तिया राम मे केन्द्रित हो।

कथणीं बदणीं सब जंजाल,
भाव भगति अरु रांम निराल ॥टेक॥
कथै बदै सुणै सब कोई, कथें न होई कीयें होइ।
कूड़ी करणीं रांम न पावै, साच टिकै निज रूप दिखावै॥
घट मै अग्नि घर जल अवास, चेति बुझाइ कबीरदास ॥२०१॥

शब्दार्थ—बदणी = कार्य। निराल = निराला, सत्य।

कबीर कहते है कि व्यर्थ का धार्मिक उपदेश, मिथ्याचरण, यह सब वृथा है, केवल प्रभु की भावपूर्ण भक्ति ही सत्य है। साधना का कथन, टीका-टिप्पणी और श्रवण तो सब करते ही है, किन्तु प्रयोजन-सिद्धि मौखिक लेन-देन से नही अपितु-कर्म से होती है। बुरे आचरण से प्रभु-प्राप्ति सम्भव नही, केवल सत्याश्रित होने पर ही वह प्रभु अपना रूप दिखाते हैं। इस मन मे विषयाग्नि और मायजल भरा है। कबीर कहते है कि सावधान होकर इसे समाप्त कर दे।

राग आसावरी

ऐसी रे अवधू की वांणीं, ऊपरि कूवटा तलि भरि पांणी ॥टेक॥
जब लग गगन जोति नही पलटै, अविनासी सूं चित नहीं चिहुटै।
जब लग भवर गुफा नहीं जांनै, तौ मेरा मन कैसै मांनै॥
जब लग त्रिकुटी संधि न जांनै, ससिहर कै घरि सूर न आनै।
जब लग नाभि कवल नही सोधै, तौ हीरै हीरा कैसै वेधै॥
सोलह कला संपूरण छाजा, अनहद कै घरि बाजै बाजा।
सुषमन कै घरि भया अनदा, उलटि कवल भेटे गोब्यंदा॥
मन पवन जब परचा भया, ज्यूं नाले रांषी रस मइया।
कहै कबीर घटि लेहु विचारी, औघट घाट सींचि ले क्यारी ॥२०२॥

शब्दार्थ—गगन = शून्य। जोति = ज्योतिस्वरूप ब्रह्म। भवर गुफा = ब्रह्मरन्ध्र। त्रिकुटि = आँख नाक मस्तिष्क का सन्धि स्थल, भौहो के बीच का स्थान। नाभि कवल = नाभि पर स्थित मणिपूरक चक्र—"इसमे दल-दल होते है। यह नील वर्ण का होता है, इसका लोक स्वः है। इसका ध्यान करने से क्रमशः डँ, टँ, णँ, तँ,

थँ, दँ धँ, नँ, पँ, फँ की ध्वनि झंकृत होती है। इसके सिद्धि लाभ से मनुष्य ससार पालन मे समर्थ तथा वचन रचना में चतुर हो जाता है और उसकी जिह्वा पर सरस्वती निवास करती है।

कबीर कहते है कि योगी का उपदेश इस भाँति है—ऊपर शून्य लोक मे कुँआ है, किन्तु उससे पानी प्राप्त करने का साधन कुण्डलिनी (जल) नीचे है, मूलाधार चक्र मे स्थित है। जवतक शून्य मे ज्योतिस्वरूप परमात्मा का दर्शन नही होता, तव तक उस अलख निरजन से मन कैसे लगे? जब तक मन को शून्यदल, ब्रह्मरन्ध्र, का भी ज्ञान नही फिर उसे कैसे परितोष प्राप्त हो। जब तक साधक को त्रिकुटी का ज्ञान नही है तव तक चन्द्र, सूर्य, इडा, पिंगला कैसे एकमेक हो। जब तक नाभि मे स्थित मणिपूरक चक्र का भेदन साधक नही कर लेता, तब तक मणि रूप प्रभु को कैसे प्राप्त कर लेगा? वह सोलह कलाओ से पूर्ण ब्रह्म वहाँ वसा हुआ है जहा घण्टे की चोट पड़कर अनहद नाद का निरन्तर घोप हो रहा है। जब सुषुम्णा के द्वारा शून्यकमल भेदन हो अमृत स्रवित होने लगता है तो अपरिमित आनन्द का सृजन होता है। जब मन और परमात्मा का सक्षात्कार हुआ तो दोनो उसी प्रकार एकमेक हो गये जिस भाति नाले का जल (गंगा की) पवित्र धारा मे मिलकर एक हो जाता है। कबीर कहते हैं कि इस भाति तुम मन मे विचार कर उस अलख निरजन को प्राप्त कर लो।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

मन का भ्रंम मन हीं थैं भागा, सहज रूप हरि खेलण लागा ॥टेक॥
मै त तैं मै ए द्वै नांहीं, आपैं अकल सकल घट मांहीं।
जब थैं इन मन उनमन जांना, तब रूप न रेष तहां ले बांनां ॥
तन मन मन तन एक समांना, इन अनभै मांहैं मन मांनां।
आतमलीन अषंडित रांमां, कहै कबीर हरि मांहि समानां ॥२०३॥

शब्दार्थ—मै=अपनापन। तै=परायापन=उनमन=उन्मनी अवस्था।

मन से भ्रम के भाग जाने पर चित्त, हृदय, प्रभु-भक्ति मे रमने लगा। 'मै तू' 'अहं पर' का भेद मिथ्या है। समस्त प्राणिमात्र के हृदय मे एक वही प्रभु विद्यमान है। जब से इस मन को उन्मनी अवस्था का ज्ञान हुआ है तभी से इसका वास उस प्रभु के लोक मे हो गया है जिसका कोई रूप, आकार नही है। शरीर और हृदय दोनो समान ही है और इन्ही के मध्य मनभावन प्रभु का वास है। वह प्रभु आत्म-स्थित एव अविभाज्य है, कबीर कहते है कि उसी प्रभु मे मेरा मन रम गया है।

आत्मां अनंदी जोगी, पीवै महारस अमृत भोगी ॥टेक॥
ब्रह्म अगनि काया परजारी, अजपा जाप उनमनीं तारी।
त्रिकुट कोट मै आसण मांडै, सहज समाधि विषै सब छांडै ॥
त्रिबेंणी बिभूति करै मन मंजन, जनकबीर प्रभू अलष निरंजन ॥२०४॥

शब्दार्थ—सरल है।

आत्मानंदी योगी रन्ध्र में स्थित उस अमृतोपम महारस का पान करता है। वह ब्रह्माग्नि से शरीर के पारा भस्म कर उन्मनावस्था द्वारा अनहद नाद का श्रवण करता है। त्रिकुटी के किले में समाधि लगाकर साधक बैठ जाता है, यह सहज समाधि समस्त विषय-रसों से मुक्त कर देती है। तब मन इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा द्वारा प्रवाहित त्रिवेणी में स्नान करने लगता है तो अलख निरंजन, ज्योतिस्वरूप परमात्मा का दर्शन होता है।

या जोगिया की जुगति जु बूझै,
राम रमै ताकौं त्रिभुवन सूझै ॥टेक॥
प्रगट कथा गुपत अधारी, तामैं मूरति जीवनि प्यारी।
है प्रभू नेरै खोजै दूरि, ग्यांन गुफा मैं सींगी पूरि ॥
अमर वेलि जो छिन छिन पीवै, कहै कबीर सो जुगि जुगि जीवै ॥२०५॥

शब्दार्थ—कंथा=कथा। अधारी=आधारी। नेरै=समीप।

जो मनुष्य इस योगी की साधना को समझ लेगा उसे प्रभु-दर्शन हो जायेगा और साथ ही त्रिभुवन-समस्त सृष्टि उनके लिए दृश्य हो जायेगी। प्रकट में तो वह योगी प्रभु कथा कहता ही रहता है, वैसे उसकी आधारी भी प्रभु की प्रिय मूर्ति ही है, वह उसी के द्वारा जीवन धारण करता है। प्रभु तो पास में तो, अन्तर में ही स्थित है, उसे दूर कहाँ खोजते हो! ज्ञान से वह प्राप्य है। कबीर कहते हैं कि शून्यकमल से उत्पन्न अमरवेलिरस का जो प्रतिपल पान करता है, सर्वदा अनहद नाद का श्रवण करता है वह युग-युग तक अमर रहता है। उसे काल-बन्धन नहीं व्यापता।

सो जोगी जाकै मन मै मुद्रा,
राति दिवस न करई निद्रा ॥टेक॥
मन मै आसण मन मैं रहणां मन का जप तप मन सूं कहणां।
मन मैं षपरा मन मै सींगी, अनहद बेन बजावै रंगी ॥
पंच परजारि भसम करि भूका, कहै कबीर सो लहसै लंका ॥२०६॥

शब्दार्थ—पच परजारि=काम आदि पाँचो विकारो को जला कर।

कबीर कहते है कि योगी वही है जो अहर्निश जागृत, सावधान, रहता हुआ मन मे ही खेचरी मुद्रा को धारण करता है। वह मन मे ही समाधिस्थ होकर रहता है एवं जप-तप आदि साधना के जितने भी सोपान हैं, सबकी पूर्ति वही करता है। योगी का खप्पर और सींगी, अनहद नाद—ये सब सम्भार उनके मन मे ही रहते हैं। कबीर कहते है कि शून्यलोक रूपी लका को वही प्राप्त कर सकता हे जो काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह—पाँच विकारो को नष्ट कर दे।

विशेष—कबीर ने यद्यपि योगसाधना पर पर्याप्त पद-रचना की है, किन्तु वे विशेष बल मन साधना पर ही देते है। इसे हम अन्तर्मुखी वृत्ति भी कह सकते हैं।

बाबा जोगी एक अकेला, जाकै तीर्थ व्रत न मेला ॥टेक॥
झोली पत्र विभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै।

मांगि न खाइ न भूखा सोवै, घर आंगनां फिरि आवै ॥
पांच जनां की जमाति चलावै, तास गुरू मैं चेला ।
कहै कबीर उनि देसि सिधाये, बहुरि न इहि जगि मेला ॥२०७॥

शब्दार्थ—पाच जना की=पाँचो इन्द्रियो की अथवा पाँच विकारों की ।

कबीर कहते है कि योगी ससार मे अपने ही ढग का एक होता है इसे तीर्थ, व्रत, मेला आदि से कोई प्रयोजन नही होता । उसके पास सामान्य साधुओ के समान न तो झोली होती है, न शरीर पर मली हुई क्षार, न पैसे सचित करने के लिए बटुवा । वह तो अनहद नाद के श्रवण मे ही •.स्त रहता है । वह न तो भिक्षा माँग कर खाता है, न भूखा ही रहता है, वह तो शून्यलोक, ब्रह्मरन्ध्र, के स्रवित अमृत का पान करता है । कबीर कहते है कि जो पंच विषयो अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह पच विकारो की सेना को नष्ट कर दे ऐसे योगी को मैं गुरु बना लू । वे आगे कहते हैं जो साधक उस प्रभु के शून्य लोक को प्राप्त कर लेता है वह पुनः इस संसार मे आ आवागमन के चक्र मे नही पड़ता ।

जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ,
ज्यूं तेरा आवागबन मिटाइ ॥टेक॥
तत करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ ।
मन करि निहचल आसंणं निहचल, रसनां रस उपजाइ ॥
चित करि बटवा तुचा मेषली, भसमैं भसम चढ़ाइ ।
तजि पाषंड पांच करि निगृह, खोजि परम पद राइ ॥
हिरदै सींगी ग्यांन गुणि बांधौ, खोजि निरंजन साचा ।
कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति गिनां प्यंड काचा ॥२०८॥

शब्दार्थ—आवागबन=जन्म मरण का बधन । निहचल=निश्चल । तुचा=त्वचा । निग्रह, रोक, संयम । प्यंड=शरीर । काचा=कच्चा, निस्सार ।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! इस शरीर रूपी वाद्य की साधना कर जिससे तेरा जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाय । तू इस वाद्य मे परम-तत्व का तंतु एव धर्म की डंडी लगा और सत्य व्यवहार, सत्य आचरण की इस तंतु पर पुट लगा दे । मन को दृढ और एकाग्र कर समाधिस्थ हो जा एव अपनी जिह्वा मे प्रभु-भक्ति, प्रभु-नाम का रस उत्पन्न कर । इस हृदय को ही प्रभु गुण स्मरण सरक्षण का बटुआ, कोष, बना ले और अपनी शरीर त्वचा को योगियो के धारण करने की मेखला समझ ले । काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को भस्म कर उन्ही की विभूति बना ले । पाखण्ड का परित्याग कर पाँच विषयो को छोड परमप्रभु की खोज की साधना करो । हृदय रूपी शृगी को ज्ञान रज्जु से बांध दो और इस प्रकार अलख निरजन ज्योतिस्वरूप परमात्मा, ब्रह्म को खोज लो । कबीर कहते है कि ब्रह्म का रहस्य बिना साधना प्राप्त नही किया जा सकता, बिना योग साधना के यह शरीर निस्सार है ।

अवधू ऐसा ज्ञान विचारी, ज्यूं बहुरि न ह्वै संसारी ॥टेक॥
च्यंत न सोज चित बिन चितवै, बिन मनसा मन होई।
अजपा जपत सुंनि अभि-अंतरि, यहु तन जानैं सोई ॥
कहे कबीर स्वाद जब पाया, बंक नालि रस खाया।
अमृत झरैं ब्रह्म परकासैं, तब ही मिलै रांम राया ॥२०९॥

शब्दार्थ—च्यत=चिंता करना। सोज=शोक। मनसा=मन। सुंनि=शून्य। वद नाल=सुपुम्णा से अभिप्राय है। रामा=राजा, श्रेष्ठ।

कबीर कहते हैं कि हे अवधूत ! तू ऐसे ज्ञान—प्रभु-रहस्य—का विचार कर जिससे तुझे पुन इस जगत मे आकर दुख न उठाना पड़े। उसे (ब्रह्म को) न चिंता है, न कोई शोक, वह विना ही हृदय और नेत्र के सृष्टि को देखता है एव विना मानसिक भावनाओ के भी मन रखता है। इस तत्व को तो कोई विरले साधक ही जान सकते हैं जिसमे हृदय के भीतर ही अजपा जाप, अनहद नाद, शून्य लोक, ब्रह्म लोक से ध्वनित होता है। कबीर कहते हैं कि मैंने उस महारस का स्वाद तब पाया जब सुषुम्णा के माध्यम से कुण्डलिनी ने विस्फोट कर अमृत प्राप्त किया। जब वहाँ से अमृत स्रवित होने लगता है तो वह ज्योतिस्वरूप परमात्मा—ब्रह्म प्रकट होता है और उसका साक्षात्कार होता है।

विशेष—विभावना अलकार।

गोव्यंदे तुम्हारै बन कंदलि, मेरो मन अहेरा खेलै।
बपु बाडी अनगु मृग, रचिहीं रचि मेलै ॥टेक॥
चित तरउवा पवन षेदा, सहज मूल बाधा।
ध्यांन धनक जोग करम, ग्यांन बांन सांधा ॥
षट चक्र कंवल वेधा, जारि उजारा कीन्हां।
कांम क्रोध लोभ मोह, हाकि स्यावज दीन्हां ॥
गगन मंडल रोकि बारा, तहां दिवस न राती।
कहैं कबीर छांडि चले, बिछुरे सब साथी ॥२१०॥

शब्दार्थ—कदलि=कदली। अहेरा=शिकार। वपु=शरीर। नाडी=वल। धनक=धनुप। षट चक्र=मूलाधार आदि छ चक्र। राती=दाद, अज्ञान अथवा ज्ञान वधन।

कबीर कहते है कि हे प्रभु ! आपके कदली वन मे मेरा मन रूपी आखेटक आखेट कर रहा है। हृदय रूपी वृक्ष पर प्राणायाम साधना कर इसे सहज समाधि से बाँध दिया है। योगकर्मानुरूप ध्यान के धनुष पर ज्ञान वाण से लक्ष्य सधान—प्रभु-प्राप्ति—किया है। इस वाण से षटचक्र कमल जो मार्ग मे है उनका भेदन कर ज्ञाना-लोक विकीर्ण किया है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह को हाककर भगाकर, उस लक्ष्य को प्राप्त करने मे सहायता ली। समस्त चित्तवृत्तियो को शून्यलोक मे केन्द्रीभूत कर

दिया है जहाँ न अधकार है न प्रकाश अर्थात सम अवस्था है। इस प्रकार कबीर कहते है कि हम तो अब इस प्रकार से सम्बन्ध-विच्छेद कर प्रभुलोक मे चल दिये।

विशेष—रूपक, सांगरूपक, अनुप्रास, रूपकातिशयोक्ति अलंकारो का स्वाभाविक प्रयोग है।

(२) योगसाधना षट्चक्रो के स्थान पर प्राय: अष्ट-चक्रो का ही उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु कबीर ने अनेक स्थलो पर षट्चक्रो का ही दर्शन किया है। इन्होंने शून्यचक्र एव सुरति कमल को छोड दिया है। वे पटचक्र निम्नस्थ प्रकार है :—

(i) **मूलाधार**—इसका स्थिति स्थान योनि माना गया है। इसमे चार दल होते है। यह रक्त वर्ण का होता है, इसका लोक भू है। इसका ध्यान करने से एक प्रकार की ध्वनि झकृत होती है, वह क्रमश वँ, शँ, षँ, सँ, की होती है। इसके सिद्ध लाभ होने पर मनुष्य वक्ता, सर्वविद्याविनोदी, आरोग्य, मनुष्यो मे श्रेष्ठ, आनन्दचित्त तथा काव्य प्रबन्ध मे समर्थ होने आदि के विशेष गुण से युक्त हो जाता है।

(ii) **स्वाधिष्ठान चक्र**—इसका स्थिति स्थान पेड माना गया है इसमे छ: दल होते है। यह सिंदूर वर्ण का होता है इसका लोक भुवः है। इसका ध्यान करने से एक प्रकार की ध्वनि झकृत होती है वह क्रमश भ, मँ यँ, रँ, लँ, बँ, की होती हैं। इसके सिद्ध लाभ से अहकार, विकार का नाश, योगियो मे श्रेष्ठ, मोह रहित और गद्य पद्य की रचना मे समर्थ विशेष गुण मनुष्य मे उत्पन्न हो जाता है।

(iii) **मणिपूरक चक्र**—इसका स्थान नाभि कहा जाता है। इसमे दस दल होते हैं। यह नील वर्ण का होता है, इसका लोक स्व. है। इसका ध्यान करने से क्रमश. ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ की ध्वनियाँ झकृत होती है। इसके सिद्ध लाभ होने से मनुष्य सहार पालन मे समर्थ तथा वचन रचना मे चतुर हो जाता है और उसकी जिह्वा पर सरस्वती निवास करती है।

(iv) **अनाहत चक्र**—इसका स्थिति स्थान हृदय मे होता है। इसमे द्वादश दल होते है। यह अरुण वर्ण का होता है। इसका लोक मह. है। इसका ध्यान करने से एक प्रकार का अनहद नाद झकृत होता है। वह क्रमश. क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, का होता है। इसके सिद्ध लाभ से मनुष्य वचन रचना मे समर्थ ईशित्व सिद्धि प्राप्त योगेश्वर, ज्ञानवान, इद्रियजित, काव्य शक्ति वाला हो जाता है।

(v) **विशुद्ध चक्र**—यह चक्र कण्ठ स्थान मे स्थित है। इसके षोडश दल होते हैं। यह धूम्र वर्ण का होता है। इसका लोक जन' है। इसका ध्यान करने से क्रमशः अ से लेकर अः तक सोलह स्वरो की अनहद ध्वनि झकृत होती है इसके ध्यान सिद्ध होने पर मनुष्य काव्य रचना मे समर्थ, ज्ञानवान, उत्तम वक्ता, शान्त चित्त, त्रिलोक-दर्शी सर्वहितकारी, नीरोग, चिरजीवी और तेजस्वी होता है।

(vi) **आज्ञा चक्र**—यह दोनो भ्रुवो के मध्य मे स्थित है। इसमे दो दल होते है। ये श्वेत वर्ण होता है। इसका लोक तप' है। इसका ध्यान करने से ह, क्ष का

अनहद नाद क्रमशः ध्वनित होता है। इसके सिद्ध लाभ से योगी को वाक्य-सिद्धि प्राप्त होती है।

साधन कचू हरि न उतार, अनभ ह्वै तौ अर्थ विचारै ॥टेक॥
वाणीं सुरंग सोधि करि आंणीं, आणें नौ रंग धागा।
चंद सूर एकंतरि कीया, सीवत बहु दिन लागा ॥
पंच पदार्थ छोड़ि समांनां, हीरै मोती जड़िया।
कोटि वरस लू कचूं सींयां, सुर नर धंधै पड़िया ॥
निस वासुर जे सोवै नांहीं, ता नरि काल न खाई।
कहै कवीर गुर परसादै, सहजै रह्या समाई ॥२११॥

शब्दार्थ—निस वासुर=दिन रात। गुरु प्रसादै=गुरु की कृपा से।

बिना साधना के प्रभु प्राप्त नही हो सकते, हे साधक! यदि तुझे सासारिक तापो का भय नही है तो इस पद का अर्थ स्पष्ट कर, हृदयगम कर।

शरीर के नव द्वारो को गुरु उपदेश की सुरम्य वाणी से सचालित कर दिया है। इस भक्ति वस्त्र को सीने मे मुझको वहुत समय लगा है। सीने से पूर्व इडा पिंगला को मिला दिया गया था। पाच विषयो का रस छोडकर मैंने इसमे हीरे और माणिक्य जड़ दिये है। समस्त ससार, देव-मनुष्य सभी विषय-वासना जंजाल मे पडे हुए थे और मैंने इस साधना वस्त्र को दीर्घ समय तक सीया है। जो व्यक्ति, भक्त, अहर्निश ६६ न रह प्रभु-भक्ति मे संलग्न रहते है उन्हें मृत्यु नही व्यापती। कवीर कहते हैं कि मैं तो गुरु कृपा से सहज समाधि मे लगा हुआ हूं।

जीवत जिनि मारै मूवा मति ल्यावै,
मास विहूँणा घरि मत आवै हो कंता ॥टेक॥
उर बिन पुर विन चंच विन, बपु बिहूँनां सोई।
सो स्यावज जिनि मारै कंता, जाकै रगत मास न होई ॥
पैली पार के पारधी, ताकी धुनहीं पिनच नहीं रे।
ता बेलीं कौ ढूंक्यौ मृग लौ, ता मृग कैसी सनही रे ॥
मार्‌या मृग जीतता राख्या यहु गुर ग्यांन मही रे।
कहै कवीर स्वामीं तुम्हारे मिलन कौ, बेली है पर पात नही रे ॥२१२॥

शब्दार्थ—मास=महारस। विहूंना=विहीन।

आत्मा के माध्यम से कबीर जी को सम्बोधित करते कहते है कि हे स्वामिन! तू जीवन्मुक्त स्थिति को प्राप्त कर ले। (मास—गौमास) महारस की प्राप्ति विना तेरा घर आना व्यर्थ है। वह हृदय विहीन नगर विहीन, मुख विहीन एव रूप आकार परे है वही साधक श्रेष्ठ है, योगी है जो इस रक्त मास विहीन आखेट को प्राप्त कर। जिस धनुष मे उस दूसरे तट पर स्थित लक्ष्य का सधान किया जाता है उसमे न तो प्रत्यचा है और न बास की खप्पच ही। उस अनुपम अमृत-बेलि को मन रूपी मृग ने अन्य तृष्णाओ से आवृत कर लिया है। इसलिए मन-मृग से

मित्रता कैसी ? गुरु का उपदेश तो यही है कि इस मृग को मारकर, नियन्त्रित कर उस अमर वेलि को प्राप्त किया जाय। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आपसे मिलन के लिए साधना. या भक्ति-लता का ही साधन है, माया का नही।

धीरौ मेरे मनवां तोहि धरि टांघौं, तै तौ कीयौ मेरे खसम सूं षांगौं ॥टेक॥
प्रेम की जेवरिया तेरे गलि बांधूं, तहां लै जांउं जहां मेरौ माधौ।
काया दगरीं पैसि किया मैं बासा, हरि रस छाड़ि विष रसि माता।
कहै कबीर तन मन का ओरा, भाव भगति हरि सूं गठजोरा ॥२१३॥

शब्दार्थ—टाघौं=दड देना। षागौ=विश्वास करना।

हे मेरे मन ! तनिक रुक, मैं तुझे अभी दण्डित करता हू, तूने प्रभु, स्वामी, से विश्वासघात कैसे किया ? मैं तेरे गले मे प्रेम-रज्जु बाधकर तुझे वहां ले जाऊगा जहां भगवान् है। इस शरीर की क्षुधा-पूर्ति मे ही तू व्यस्त रहता है, प्रभु-भक्ति के मधुर रस को त्याग विषय-वासनाओ मे उलझा रहता है। कबीर कहते हैं कि तन-मन-सर्वस्व प्रभु को अर्पित कर चुका हू और अब भगवान् से ही मेरा सम्बन्ध रह गया है।

पारब्रह्म देख्या हो, तब वाड़ीं फूली, फल लागा बडहूली।
सदा सदाफल दाख बेजौरा कौतिकहारी भूली ॥टेक॥
द्वादस कूवा एक वनमाली, उलटा नीर चलावै।
सहजि सुषमनां कूल भरावै, दह दिसि वाड़ी पावै॥
ल्यौकी लेज पवन का ढ़ींकू, मन मटका ज बनाया।
सत की पाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया॥
त्रिकुटी चढ़्यो पाव ढौ ढारै, अरध उरध की क्यारी।
चंद सूर दोऊ पांणति कहिहैं, गुर मुषि बीज बिचारी॥
भरी छावड़ी मन बैकुंठा, सांई सूर हिया रंगा।
कहै कबीर सुनहु रे संतो, हरि हंम एकै संगा ॥२१४॥

शब्दार्थ—वाड़ी=लता, वेल। ढीइ=ढेकुली। चद सूर=इडा, पिंगला से तात्पर्य है।

जब ईश्वर के दर्शन हो जायँ तभी यह भक्ति-लतिका पल्लवित होती है और तभी इस पर परम फल लगता है। साधक आत्मा उस सदैव मधुर रहने वाले दाख तुल्य सुमधुर पदार्थ को प्राप्त कर आश्चर्य मे पड जाती है। वहा पर बारह पखुडियो युक्त कमल का एक कुंआ है जिसका अधिष्ठाता एक ब्रह्म ही है और वहा पर अमृत स्रवित होता रहता है। सहज समाधि द्वारा सुषुम्णा के माध्यम से कुण्डलिनी पहुचकर वहा दसो बावडियो का सृजन करती है। प्राणायाम की ढेकुली पर लय की रस्सी से मन-गागरी को भर, सत्य की घिर्री एव सुरति द्वारा खीच इस प्रभु-भक्ति के सहज जल को प्राप्त किया जाता है। त्रिकुटी पर आकर मन केन्द्रित हो जाता है,

मनगागरी ढुलक जाती है जिससे इधर-उधर बने क्षेत्र की क्यारियाँ उस अनुपम प्रभु भक्ति जल से अभिसिंचित हो जाती हैं। चन्द्र और सूर्य, इड़ा, पिंगला दोनों उस क्षेत्र को जोतकर उत्तम कृषि योग्य बना देती हैं जिसमें गुरु वाणी के उत्तम बीज का वपन होता है। इस भांति ईश्वर-भक्ति से समस्त क्षेत्र पल्लवित हो उठा और हृदय प्रभु के रंग मे ही रग गया। कबीर कहते हैं कि इस स्थिति मे पहुँचकर मैंने प्रभु का साक्षात्कार कर लिया है।

विशेष—सागरूपक अलकार।

राम नाम रग लागौ कुरंग न होई।
हरि रंग सौ रंग और न कोई ॥टेक॥
और सबै रंग इहि रंग थै छूटै, हरि-रंग लागा कदे न खूटै।
कहै कबीर मेरे रंग राम राई, और पतंग रंग उडि जाई ॥२१५॥

शब्दार्थ—कुरग=रग-विहीन होना।

कबीर कहते हैं कि मेरा अन्तर प्रभु भक्ति के रग से रंग गया है और अब वह छट नही सकता क्योकि इस ईश्वर-भक्ति रग के समान और कोई रंग नही है। कबीर कहते हैं कि मेरे पर तो राम भक्ति का ही रग चढ चुका है और रंग तो पतंग के रग के समान क्षणिक है।

विशेष—उपमा अलङ्कार।

कबीरा प्रेम कूल ढरै, हमारे रांम बिनां न सरै।
बांधि लै धोरा सींचि लै क्यारी, ज्यूं तूं पेड़ भरै ॥टेक॥
काया बाड़ी मांहैं माली, टहल करै दिन राती।
कबहूँ न सोवै काज संवारे, पांणतिहारी माती ॥
सेभै कूवा स्वाति अति सीतल, कबहूं कुवा बनहीं रे।
भाग हंमारे हरि रखवाले, कोई उजाड़ नही रे ॥
गुर बीज जमाया कि रखि न पाया, मन की आपदा खोई।
औरै स्यावढ करै षारिसा, सिला करै सब कोई ॥
जौ घरि आया तौ सब ल्याया, सबही काज संवार्‌या।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, थकित भया मैं हार्‌या ॥२१६॥

शब्दार्थ—धोरा=बाध, संयम का बाध। माली=ब्रह्म से तात्पर्य है। आपदा=विपत्ति, चंचलता।

कबीर कहते हैं कि प्रभु-प्रेम के तट पर ही निवास श्रेय है, क्योकि प्रभ के बिना हमारा निर्वाह सम्भव नही। संयम का बाध बाधकर इस क्यारी को प्रभु-भक्ति के भरपूर जल से अभिसिंचित कर ले। वह अनुपम माली—ब्रह्म—इस शरीर रूपी क्षेत्र के अन्तर्गत ही रहता है जो दिन रात सृष्टि पालन में तत्पर रहता है। वह माली, क्षेत्र को उर्वर करने वाला कभी भी नही सोता। इस खेती की सिंचाई के लिए

सहज का अत्यन्त शीतल और मधुर जल वाला कुंआ है। यह हमारा परम सौभाग्य है कि इस खेती के रक्षक स्वय श्री भगवान् है, इसकी कोई हानि नही कर सकता।

गुरु ने सदुपदेश का बीज इस क्षेत्र मे डाला था। मन की चंचलता ने उसे विनष्ट कर दिया। जौहरी, पारखी ही उस बीज को पहचान सकते हैं, शेष तो जूठन को प्राप्त करते है। जो इस प्रभु भक्ति को घर ले आये तो समस्त कामनाए परि-तृप्त हो जाती है। कबीर कहते है कि हे सन्तो ! मैं इस तथ्य का कथन करते-करते हार गया किन्तु फिर भी ससार अपनी विपय वासनाओं मे गति नही छोडता।

राजा राम बिना तकती धो धो।
राम बिनां नर क्यूं छूटौगे, जम करै नग धो धो धो ॥टेक॥
मुद्रा पहर्‌यां जोग न होई, घूंघट काढ्यां सती न कोई ॥
माया कै संगि हिलि मिलि आया, फोकट साटै जनम गँवाया।
कहै कबीर जिनि हरि पद चीन्हां, मलिन प्यंड थैं निरमल कीन्हां ॥२१७॥

शब्दार्थ—फोकट साटै जनम गवाया=व्यर्थ मे ही सारा जीवन बिता दिया। चीन्हा=पहचानना। प्यड=शरीर।

ईश्वर के विना इस ससार मे व्यर्थ-परिश्रम के अतिरिक्त कुछ नही है। काल—मृत्यु—तुम्हे बारम्बार परेशान करेगी। विना राम के भला कैसे उससे मुक्ति होगी।

मुद्रा धारण कर लेने मात्र से ही कोई साधु-योगी—नही वन जाता जैसे घूंघट काढ लेने मात्र से किसी नारी मे सतीत्व नही आ जाता। जो मनुष्य माया के साथ करके रहा उसने तो अपना जीवन वृथा ही गवा दिया। कबीर कहते है कि जिन्होने प्रभु के चरणो को पहचान लिया उन्होने इस पाप मलिन शरीर को पुष्पवान वना दिया।

विशेष—दृष्टात अलकार।

है कोई रांम नांम बतावै, बस्तु अगाचर मोहि लखावै ॥टेक॥
रांम नांम सब कोई बखांनै, रांम नांम मरम न जांनै ॥
ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावै तौ सुख पावै।
कहै कबीर कछू कहत न आवै, परचै बिनां मरम को पावै ॥२१८॥

ऐसा कौन इस ससार मे है जो मुझे राम-नाम का मर्म समझाकर उस अगोचर वस्तु को प्राप्त करा दे। राम नाम का गुणगान तो सव कोई करता है किन्तु उसके रहस्य से सव अनभिज्ञ है। कवीर कहते हे कि मुझे वाह्याडम्बर, भक्ति के ढोग से वहुत घृणा हे, उस प्रभु के गुणगान और दर्शन से ही वास्तविक सुख प्राप्त होना है। उसका रहस्य बिना साक्षात्कार के बताना असम्भव ही है।

गोब्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नाही मुद्रा नहीं माया ॥टेक॥

समद नाही सिपर नाहीं, धरती नाहीं गगनां।
रवि ससि दोउ एकै नाहीं, वहत नांहीं पवनां ॥
नाद नांहीं व्यंद नांहीं, काल नहीं काया।
जव तै जल व्यव न होते, तव तूंहीं राम राया ॥
जप नांहीं तप नांही, जोग ध्यांन नहीं पूजा।
सिव नांहीं सकती नांही, देव नही दूजा ॥
रुग न जुग न स्यांम अथरवन, वेद नहीं व्याकरनां।
तेरी गति तूंहीं जांनै, कवीरा तो सरनां ॥२१६॥

शब्दार्थ—समद=समुद्र। सिपर=शिखर, पर्वत। वहत=चलना। अथरवन=अथर्ववेद। रुग=ऋग्वेद। जुग=यजुर्वेद। स्याम=सामवेद।

हे ईश्वर! तू निरंजन है, साधारण नेत्रो से न देखे जाने के कारण अलक्ष निरञ्जन है। तेरा कोई रूप, आकार, मुख, मुद्रा नही, माया का भी तुझ तक प्रसार नही। तू न तो समुद्र है, न पर्वतशिखर, न पृथ्वी एव तू सूर्य-चन्द्र दोनो में से एक भी नही है, न वायु ही तू है। न तू नाद है न मृत्यु और न शरीर। जव सृष्टि में जल आदि की भी सत्ता नही थी, तव हे प्रभु! आप ही का अस्तित्व था। न तू जप-जप, योग, ध्यान अथवा पूजा से प्राप्य है। तू न शिव है और न शक्ति—न इसके अतिरिक्त अन्य कोई देवता है। न तू ऋग्, यजु, अथर्व और सामवेद और न व्याकरण मे से ही तू कोई है। हे प्रभु! आपकी गति केवल आप ही जानते है, कवीर तो आप की शरण मे पड़ा हुआ है।

विशेष—ईश्वर के निर्गुण स्वरूप का वर्णन है।

राम कै नांइ नींसांन वागा, ताका मरम न जानै कोई।
भूख त्रिषा गुण वाकै नांहीं, घट घट अंतरि सोई ॥टेक॥
वेद विर्वजित भेद विर्वजित, बिर्वजित पाप रु पुंन्यं।
ग्यान विर्वजित ध्यान बिर्वजित, विर्वजित अस्थूल सुंन्यं ॥
भेष विर्वजित भीख विर्वजित, विर्वजित ड्यभक रूपं।
कहै कवीर तिहूं लोक विर्वजित, ऐसा तत्त अनूपं ॥२२०॥

शब्दार्थ—नीसान=चिह्न। मरम=रहस्य। विर्वजित=शून्य, रहित।

यहाँ कवीर ईश्वर के अद्भुत स्वरूप का कथन करते हुए कहते है कि प्रभु राम का कोई चिह्न है ही नही उसका रहस्य कोई नही जानता। उसे न भूख-प्यास लगती है। वह तो प्रत्येक हृदय मे वसा हुआ है। वह वेद, भेद एव पाप-पुण्य की परिभापाओ से अलग है। ज्ञान, ध्यान, स्थूल एवं सूक्ष्म इन परिधि से भी वह दूर है। वाह्याडम्वर, भिक्षाटन, दम्भ आदि के स्वरूप से भी वह प्राप्त नही हो सकता। कवीर कहते हैं कि वह व्रह्म तो ऐसा अनुपम, चित्र-विचित्र है कि वह तीनो लोको से अनोखा है।

रांम रांम रांम रमि रहिए, साषित सेती भूलि न कहिये ।।टेक।।
का सुनहां कौं सुमृत सुनांयें, का साषित पै हरि गुन गाये ।
का कऊवा कौं कपूर खवाय, बिसहर कौं दूध पिलायें ।।
साषित सुनहां दोऊ भाई, वो नींदै वौ भौंक्त जाई ।
अंमृत ले ले नींब स्यंचाई, कहै कबीर वाकी बांनि न जाई ।।२२१।।

शब्दार्थ—सापित=शाक्त । सेती=शक्ति । सुनहा=श्वान । सुमृत=स्मृति । विषहर=विपधर ।

कबीर कहते है कि हे शाक्त ! तुम भूलकर भी शक्ति का जप मत करो, सदैव राम-नाम मे अपनी वृत्ति रमाये रहो । जिस भाँति श्वान को स्मृति सुनाने का कोई लाभ नही, उसी प्रकार शाक्त के सम्मुख प्रभू-गुण गान का कोई महत्व या अर्थ नही । उसके सम्मुख यह ऐसे ही निरर्थक है जिस भाँति कौए को कपूर जैसी सुगन्धि वस्तु खिलाने से वह अपना दुष्ट स्वभाव नही छोड़ता तथा सर्प दूध पिलाने से दंशन करना नही छोडता । शाक्त और श्वान दोनो एक जैसे ही है, शाक्त दूसरो की निन्दा मे सर्वदा भौकता रहता है, कुत्ता भी भौकता है । चाहे उसे कितना ही प्रभु-भक्ति का अमृत दिया जाय, किन्तु उसकी आदत नही छूटती ।

विशेष—१. उदाहरण अलकार ।

२. कबीर की तीव्र शाक्त विरोधी भावना यहाँ स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आई है ।

अब न बसूं इहिं गांइ गुसाईं,
तेरे नेवगी खरे सयांनें हो रांम ।।टेक।।
नगर एक तहां जीव धरम हता, बसै जु पंच किसानां ।
नैनूं निकट श्रवनूं रसनूं, इद्री कह्या न मांनै हो रांम ।।
गांइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै ।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकौं मारै हो रांम ।।
खोटौ महतौ विकट बलाही, सिर कसदम का पारै ।
बुरो दिवांन दादि नहिलागै, इक बांधै इक मारै हो रांम ।।
धरमराइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी ।
पाँच किसांनां भाजि गये है, जीव धर बांध्यौ पारी हो रांम ।।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बांधौ भेरा ।
अब की बेर बकसि बंदे कौं, सब खत करौं नवेरा ।।२२२।।

शब्दार्थ—गाँइ=गाँव । हता=नष्ट हो गया । पंच किसानां=पाँच किसान रूपी इन्द्रिय ठाकुर=स्वामी, काम से तात्पर्य है । काइथ=कायस्थ । महतौ=मुकद्दम । दिवान=पुलिस का दीवान । धरमराइ=धर्मराज । वकसि=क्षमा करना खत=पाप । नवेरा=हिसाब चुकाना ।

हे प्रभु ! मै आपके सम्मुख प्रार्थना करता हूं कि इस संसार रूपी ग्राम मे पुनः नही बसूगा । यहाँ रहकर जीवात्मा का धर्म नष्ट हो गया है । उस नगर मे पाँच विपयो के रूप मे पच कृपक वास करते है । इन्द्रियाँ मेरा कहना मानती ही नही, वे दौड-दौड कर इन विपयो मे लिप्त रहती है । गाँव का स्वामी काल इस शरीर रूपी क्षेत्र को नाप रहा है और कायस्थ-पटवारी भी अपना हिस्सा नही छोडता । जर्जर वन्धनो की रज्जु मे ये मेरे अस्तित्व को बाँध रहे है । इस प्रकार हे राम ! ये सब मिलकर मुझे मार दे रहे है । इस गाँव का मुकद्दम और अन्य कर्मचारी भी दुर्जन है जो आसामी को मारकर ही छोडेगे । पुलिस के जो दीवान है वे भी कुचक्री है, जो इन आततायियो से मुझे नही बचाते । रक्षक ही भक्षक है । मृत्यु होने पर जब धर्मराज ने कर्मो का लेखा-जोखा देखा तो मेरी ओर बहुत हिसाब निकला । इस स्थिति को देखकर पच विपयो के कृपक भाग गये है ।

कबीर कहते है कि हे सज्जनो ! साधुओ ! प्रभु का स्मरण करते हुए इस जीवन-बेड़े को वाध लो । हे प्रभु ! अवकी वार मुझे क्षमा कर दो, दया-दान दे दो तो मैं पिछला समस्त हिसाब सत्कर्मो से चुकता कर दूंगा ।

विशेष—१ सागरूपक अलकार ।

२. सूर से तुलना कीजिए—

"अवकी माधव मोहि उधारो ।
मगन हौ भव-अबुनिधि मे कृपासिधु मुरारो ॥
नीर अति गम्भीर माया लोभ लहरि तरग ।
लिए जात अगाध जल मे गहे ग्राह अनग ॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटत मोट अघ सिर भार ।
पग न इत-तन धरन पावत उरझि मोह सेवार ॥
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर ।
नहि चितवन देत तिय सुत नाम नौका ओर ॥
थक्यो वीच वेहाल विह्वल सुनहु करुनामूल ।
स्याम भुज गहि काढि डारहु 'सूर' व्रज के कूल ॥"

इसी प्रकार अन्य भक्तो ने इस जन्म की दारुण व्यथा दिखाते हुए प्रभु से एक वार उद्धार कर देने की कल्पना की है ।

ता भ थै मन लागौ राम तोही, करौ कृपा जिनि विसरौ मोही ॥टेक॥
जननीं जठर सह्या दुख भारी, सौ संक्या नही गई हमारी ॥
दिन दिन तन छीजै जरा जनावै, केस गहे काल बिरदग बजावै ।
कहै कबीर करुणांमय आगै, तुम्हारी क्रिपा बिना यहु विपति न भागै ॥२३२॥

शब्दार्थ—जठर=उदर । छीजै = नष्ट होता है । जरा = वृद्धावस्था । बिरदंग=मृदग ।

हे प्रभु ! मैं इस संसार-ताप भय से आपका आश्रय ग्रहण कर रहा हूं। हे दयामय दया कीजिए। मातृ-उदर मे बारम्बार ताप और दुःख सहता हू, किन्तु फिर भी यह संसार सशय नष्ट नही होता। प्रति दिन यह शरीर क्षीण होता हुआ वृद्धावस्था के आगमन की सूचना देता है और मृत्यु सर्वदा हम पर छायी हुई आनन्द मना रही है। कबीर दीनवन्धु प्रभु के सम्मुख यह प्रार्थना करता है कि आपकी अनुकम्पा विना यह दारुण-दुःख दूर नही होगा अत कृपा करो।

कब देखूं मेरे राम सनेही, जा विन दुख पावै मेरी देहीं ॥टेक॥

हूँ तेरा पथ निहारूँ स्वांमीं, कब र मिलहुगे अंतरजांमी।

जैसै जल बिन मीन तलपै, ऐसै हरि विन मेरा जियरा कलपै ॥

निस दिन हरि बिन नींद न आवै, दरस पियासी रांम क्यूं सचुपावै।

कहै कबीर अब विलंव न कीजै, अपनौं जानि मोहि दरसन दीजै ॥२२४॥

शब्दार्थ—कलपै=व्यथित होता है। सचु=सुख।

हे प्रभु ! मैं आपके दर्शन कब प्राप्त करूँगा, आपके अभाव मे यह शरीर प्रतिपल वेदना का अनुभव कर रहा है। मैं आपका मार्ग तभी से जोह रहा हूं, हे प्रभु आप कव दर्शन दोगे ? जिस भाँति जल के अभाव मे मछली व्यथित होती है वही स्थिति मेरी आपके अभाव में है। मुझे अहर्निश प्रभु-दर्शन के बिना नीद नही आती है। भला जो स्वामी के दर्शन की भूखी है वह शान्ति लाभ कैसे करेगी ?

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आप मुझे अपना ही जानकर अब दर्शन देने मे देरी मत कीजिए।

शब्दार्थ—उदाहरण अलंकार।

सो मेरा रांम कबै घरि आवै, ता देखें मेरा जिय सुख पावै ॥टेक॥

विरह अगिनि तन दिया जराई, बिन दरसन क्यूं होइ सराई ॥

निस बासुर मन रहै उदासा, जैसे चातिग नीर पियासा।

कहै कबीर अति आतुरताई, हमकों बेगि मिलौ रांमराई ॥२२५॥

शब्दार्थ—सराई=शीतलता, सुख की प्राप्ति। निस बासुर=रात-दिन।

कबीर अपनी आत्मा के माध्यम से कहते है कि मेरे स्वामी राम ! आप मुझे कब दर्शन दोगे जिससे मेरा मन आह्लादित हो जायेगा। यह शरीर विरहाग्नि से दग्ध हो रहा है, दर्शन के विना यहाँ शीतलता, शान्ति, सम्भव नही। जिस प्रकार चातक स्वाति नक्षत्र के जल के लिए तृषित रहता है उसी भाँति मेरा मन प्रभु दर्शन के लिए बेचैन रहता है। कबीर विरहातुर होकर मनुहार करते है। मुझे शीघ्र दर्शन दो।

विशेष—उदाहरण अलकार।

मै सासनै पीव गौंहनि आई।

सांई संगि साध नहीं पूगी, गयौ जोबनसुपिनां की नांईं ॥टेक॥

पंच जनां मिलि मंडप छायौ, तीनि जनां मिलि लगन लिखाई।
सखी सहेली मंगल गांवै, सुख दुख माथै हलद चढाई॥
नांनां रंगै भांवरि फेरी, गांठि जोरि बावै पति ताई।
पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक कै रंगि धर्यौ सगौ भाई॥
अपने पुरिष मुख कबहूँ न देख्यौ, सती होत समझी समझाई।
कहै कबीर हूँ सर रचि मरि हूँ, तिरौं कंत ले तूर बजाई॥२२६॥

शब्दार्थ—गौहनि=श्वसुर-गृह, ससुराल। पूगी=पूगी हुई। तीनि=सत्त्व, रज और तमोगुण।

कबीर आत्मा से कहलाते है कि मैं इस ससार रूपी श्वसुर गृह मे नवपरिणीता वधू के रूप मे आई थी, किन्तु कभी भी मेरा अपने स्वामी (प्रभु) से साक्षात्कार नही हुआ। यह आयु (जीवन) यू ही बीत गई। यद्यपि मेरा सासारिक रीति से विवाह हुआ था किन्तु साक्षात्कार आज तक नही हुआ। पाँचो इन्द्रियो ने मिलकर विवाह-मण्डप रचाया था और तीनो गुनो ने लग्न लिखी थी। सासारिक साथियो ने मिलकर मगल गान इस विवाहोत्सव पर गाये थे और मेरे शरीर पर सुख दुःख की हलद चढा दी थी। अनेक रगो की परिक्रमाए कर गठ-बन्धन आदि की समस्त क्रियाए सम्पूर्ण की। चौक के रगो को सगे भाई ने रखा था। इस भाँति बिना पति के ही विवाह की समस्त क्रियाए सम्पन्न कर दी गईं। इस आत्मा ने अपने स्वामी का मुख देखने का सौभाग्य कभी भी प्राप्त नही किया है। कबीर कहते है कि हे आत्मा! अब ऐसे सुकर्म कर कि मगल वाद्य बजाकर प्रियतम का स्वागत कर सके।

विशेष—रूपक, उपमा, विभावना अलकार।

धीरै धीरै खाइबौ अनत न जाइबौ, रांम रांम रांम रमि रहिबौ॥टेक॥
पहली खाई आई माई, पीछै खैहूँ सगौ जवाई।
खाया देवर खावा जेठ, सब खाया सुसर का पेट॥
खाया सब पटण का लोग, कहै कबीर तब पाया जोग॥२२७॥

शब्दार्थ—अनत=अन्यत्र, दूसरी जगह। पटण=नगर।

कबीर कहते है कि 'राम-राम' जपने से ही जीव का कल्याण होगा, इसलिए अपने सासारिक सम्बन्धो को तो धीरे-धीरे समाप्त करना ही श्रेयस्कर है।

पहले जीवात्मा ने माया (अपनी माँ, क्योकि जीव माया सृष्टि है) को समाप्त किया तदनन्तर उससे उत्पन्न विषय-वासना के जितने भी आकर्षण थे सबको समाप्त कर दिया। देवर, जेठ, श्वसुर—जितना भी माया का परिवार था, सबको समाप्त कर ही भक्तात्मा ने प्रभु-भक्ति, योग को प्राप्त किया है।

विशेष—वीप्सा अलकार।

मन मेरौ रहटा रसनां पुरइया,
हरि कौ नांउं लै लै काति बहुरिया॥टेक॥

चार खूंटी दोइ चमरख लाई, सहजि रहटवा दियौ चलाई ॥
सासू कहै काति बहू ऐसैं, बिन कात निसतरिबौ कैसैं ।
कहै कबीर सूत भल काता, रहटां नहीं परम पद दाता ॥२२८॥

शब्दार्थ—रहटा=चर्खा । पुरइया=माल । निसतरिबौ=उद्धार ।

कबीर अपनी आत्मा को सम्वोधित कर कहते है कि हे वहू! तू प्रभु का नाम ले-ले कर भक्ति का सूत कात। मेरा मन ही चरखे का घेरा है जिस पर जिह्वा की माल चढी हुई है। चारो पदार्थो को खूटों के रूप मे स्थापित कर दोनों लोकों की चमरख लगायी है और 'सहजसमधि' की घेरी को चला दिया है। गुरु-शिष्य आत्मा को कहते है कि तू इस भाँति भक्ति का सूत कात, बिना इसे काते तेरा उद्धार सम्भव नही। कवीर कहते है कि हे आत्मा! तू इस सूत को कात ले, मन के वश मे मत पड मन रूपी रहट (घेरा) परमपद का दाता नही, उसकी प्राप्ति तो भक्ति से होती है।

विशेष—सागरूपक, रूपक, रूपकातिशयोक्ति अलकार ।

अब की घरी मेरो घर करसो, साध संगति ले मोकौं तिरसी ॥टेक॥
पहली को घाल्यौ भरमत डोल्यौ, सच कवहूँ नहीं पायौ ।
अब की धरनि धरी जा दित थै, सगलौ भरम गमायौ ॥
पहली नारि सदा कुलवंती, सासू सुसरा मानैं ।
देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय कौ मरम न जानैं ॥
अबकी धरनि धरी जा दिन थैं, पीय सूं बांन बन्यूं रे ।
कहै कबीर भाग बपुरी कौं, आइ रू रांम सुन्युं रे ॥२२९॥

शब्दार्थ—भरमत=भ्रम मे पडा हुआ । सगलौ=सारा । बपुरी=बेचारी ।

कबीर कहते हैं कि अब मैं साधु-सगति से इस भवसागर से तर जाऊँगा और अपने वास्तविक घर पहुंच जाऊँगा। मैं अपने पहले किये हुए कुकर्मों के बल पर ही इस ससार मे भ्रमित हो रहा हू और सत्य का साक्षात्कार नही कर पा रहा हूं किन्तु अब जिस समय मैंने प्रभु-भक्ति का संकल्प किया है, मेरा समस्त भ्रम विदूरित हो गया है। साधक आत्मा बडी सती होती है जो प्रिय का ही ध्यान करती हुई गुरुजनों का भी सम्मान करती है किन्तु यह सासारिक आत्मा प्रियतम (प्रभ) की चिन्ता न करती हुई वासना मे लिप्त रहती है। यह पहली, साधक, आत्मा का ही भाग्य होता है कि प्रभु उससे मिलते है।

मेरी मति बौरी रांम बिसार्‌यौ, कहि विधि रहनि रहूँ हो दयाला ।
सेज रहूँ नैन नहीं देखौं, यहु दुख कासौं कहूँ हो दयाल ॥टेक॥
सासु की दुखी ससुर की प्यारी, जेठ कै तरसि डरौं रे ।
नणद सहेली गरब गहेली, देबर कै बिरह जरौं हो दयाल ॥
बाप सावकौ करै लराई, माया सद मतिवालो ।
सगौ भईया लै सलि चढ़िहूँ, तब ह्वै हूँ पीयहि पियारी ॥

सोचि बिचारि देखो मन मांहीं, औसर आइ बन्यूं रे।
कहै कबीर सुनहुँ मति सुंदरि, राजा राम रमूं रे ॥२३०॥

शब्दार्थ—बौरी=पागल। गरब=गर्व, गगट। औसर=अवसर।

कबीर कहते हैं कि हे दीनबन्धु ! मैं किस भांति जीवन-धारण करूँ। यह कैसी विडम्बना है कि आप सदैव समीप रहते हो किन्तु आपका दर्शन नहीं होता, इस व्यथा-कथा को किससे कहा जाय। यह आत्मारूपी दुलहन मायारूपी सास से तो दुखी है किन्तु प्रभु-रूप श्वसुर की प्यारी है एवं काम के कारण तो यह डर-डर कांपती है। सखियाँ इसे वासना-पथ पर चलने को प्रेरित करती हैं किन्तु यह प्रियतम के ही प्रेम मे घुली जा रही है। यह माया अपने जन्म देने वाले पिता—ब्रह्म से ही विरोध ठान रही है। यह आत्मा मायाजन्य आकर्षणों को चाहे वे कितने सुन्दर ही प्रिय क्यो न हो जब तक मार नहीं देती तब तक प्रियतम को प्रिय नहीं हो सकती। कबीर कहते हैं कि मन मे भली-भांति सोच-समझ कर देख तो यह मानव जन्म के रूप मे, प्रभु-भक्ति का अवसर आ गया है। इसलिए प्रभु का भजन करो।

विशेष—१ रूपक, अन्योक्ति, विरोधाभास।

२. टेक की तीसरी पंक्ति से विद्यापति के भाव की तुलना कीजिए—

"एकहि पलग पर कान्ह रे, मोर लग दूर देस भान रे।"

अवधू ऐसा ग्यांन बिचारी, तार्थं भई पुरिष थैं नारी ॥टेक॥
नां हूँ परनीं ना हूँ क्वारी, पूत जन्यूं द्यौ हारी।
काली मूंड को एक न छोड्यौ, अजहूँ अकन कुवारी ॥
बाम्हन कै बम्हनेटी कहियौं, जोगी कै घरि चेली।
कलमां पढि पढि भई तुरकनीं, अजहूँ फिरौं अकेली ॥
पीहरि जांऊं न रहूँ सासुरै, पुरषहि अंगि न लांऊं।
कहै कबीर सुनहु रे संतो, अगहि अंग न छुवांऊं ॥२३१॥

शब्दार्थ—परनी=परिणीता। क्वारी=कन्या।

हे अवधूत ! तू इस रहस्य को समझने की चेष्टा कर, जिससे 'ब्रह्म' परम-पुरुष होते हुए भी माया रूप मे क्यों सृष्टि करता है ? यह वैसा ही है जैसे कि स्त्री न तो परिणीता है और न क्वारी, किन्तु फिर भी पुत्र को जन्म देती है। इस माया ने किसी भी मनुष्य को धर्मनिष्ठ नही रहने दिया, किन्तु फिर भी यह आज भी क्वारी ही है। यह ढोंगी पंडितों के घर तो अपना पूर्ण प्रभुत्व जमा लेती है, किन्तु ज्योतिस्वरूप परमात्मा की साधना मे लगे हुए साधक की यह चेरी मात्र है। यह शास्त्र ग्रंथों को भी पढकर व्यभिचार नही छोडती। आत्मा कहती है कि अब मैं इस ससार रूपी श्वसुर गृह मे नही रहना चाहती, अपने प्रभु के लोक—पीहर—को जाना चाहती हूँ। इसलिए मैं अब तनिक भी विषय-वासना मे नही पडूंगी। कबीर कहते हैं कि हे संतो अब मेरी आत्मा पूर्ण निर्मल रहेगी जिससे प्रभु से मिलन हो सके।

विशेष—उदाहरण अलकार।

मींठी मींठी माया तजी न जाई, अग्यांनीं पुरिष कौं भोलि भोलि खाई ॥टेक॥
निरगुंण सगुंण नारी, संसारि पियारी, लषमणि त्यागी गोरषि निवारी।
कीड़ी कुंजर मैं रही समाई, तीनि लोक जीत्या माया किनहूं न खाई॥
कहै कबीर पद लेहु बिचारी, संसारि आइ माया किनहुँ एक कही पारी॥२३२॥

शब्दार्थ—भोलि-भोलि=भोला समझ कर गोरषि—गोरखनाथ। कुजर=हाथी।

कबीर कहते हैं कि ऊपर से मीठी-मीठी इस माया का परित्याग करते नहीं बनता। अज्ञानी मनुष्य को तो यह भोला समझ कर खूब नष्ट करती है। यह निर्गुण और सगुण रूप माया बडी भयानक है। लक्ष्मण और गोरखनाथ जी जैसे इसको त्याग चुके हैं। इसने तीनो लोको को विजित कर चिऊंटी से हाथी जैसे बडे पदार्थ तक मे अपना अस्तित्व बना रखा है किन्तु इसे कोई समाप्त नहीं कर सका। कबीर कहते है कि यह तुम भली भाँति समझ लो कि ससार मे आकर माया से विरले ही बचते है।

मन कै मैलौ बाहरि ऊजलौ किसौ रे,
खांडे की धार जन कौ धरम इसौ रे॥टेक॥
हिरदा को बिलाव नैंन बग ध्यांनीं।
ऐसी भगति न होइ रे प्रांनीं॥
कपट की भगति करै जिन कोई।
अंत की बेर बहुत दुख होई॥
छांडि कपट भजौ रांम राई।
कहै कबीर तिहुँ लोक बड़ाई॥२३३॥

शब्दार्थ—खाडे की धार=तलवार की धारा। बेर=समय।

यदि मन विषय-वासना विकारो से दूषित है तो शरीर को उज्ज्वल रखने से क्या लाभ? अन्तर और बाह्य—दोनो की ही शुद्धता वाछनीय है। भक्त का कर्त्तव्य 'तलवार की धार पै धावनो' है।

हृदय मे कपट रखते हुए बगला भक्त के समान नेत्रमूदे से भक्ति-साधना नही होती। जो भक्ति मे कपटपूर्ण व्यवहार करता है अन्तत. उसे दारुण दुख उठाने पडते हैं। यदि कपट छोडकर प्रभु राम का भजन किया जाय तो भक्त का यश तीनो लोको मे फैल जाता है।

चोखौ बनज ब्यौपार करीजै,
आइनै दिसावरि रे रांम जपि लाहौ लीजै॥टेक॥
जब लग देखौं हाट पसारा, उठि मन बणियों रे, करि ले बणज संवारा।
बेगे हो तुम्ह लाद लदांनां, औघट घाटा रे चलनां दूरि पयांनां॥

खरा न खोटा नां परखानां, लाहे कारनि रे सब मूल हिरांनां।
सकल दुनीं मैं लोभ पियारा, मूल ज राखै रे सोई बनिजारा॥
देस भला परिलोक बिरांनां, जन दोइ चारि नरे पूछो साध सयांनां।
सायर तीर न वार न पारा, कहि समझावै रे कबीर बणिजारा॥२३४॥

शब्दार्थ—चोखौ=अच्छा। वनज=व्यापार। सवारा=सभालकर, कुशलता से। लाहे कारनि=लोभ के लिए। सामर=शायर, कवि।

कबीर जीवात्मा की तुलना वणिक् से करते हुए कहते है कि इस विदेश (ससार) मे आकर भले कर्मो का व्यापार करना ही श्रेयस्कर है अत हे वणिक् (जीव) तुम राम नाम जपो। शीघ्रता-पूर्वक तुम अपना सामान बाँध लो, भक्ति कर्म कर लो क्योकि तुम्हारा लक्ष्य दूर और साधना की विकट पगडडी के द्वारा तुम्हे वहां जाना होगा। इस ससार मे तुमने लाभ के लोभ मे खरे-खोटे कर्मो की कुछ भी पहचान न की, जिस से लाभ के स्थान पर पूर्वसचित सत्कर्मों का मूलधन भी गवा बैठे। समस्त ससार लोभ के वशीभूत है, जो कोई प्रभु-भक्ति के मूलधन की रक्षा करता है वही वास्तविक भक्त है। जिन दो चार सज्जनो से परामर्श किया उन्होने यही सद्विचार बताया कि अपना देश ही अच्छा हे। यह विदेश तो बाधाओ एवं व्यथाओ से परिपूर्ण है। भक्त कबीर समझाते हुए कहते है कि शूरवीर का तीर या तो पार ही कर देता है अन्यथा भक्त वे तीर ही नही छोड़ते।

भाव यह है कि ऐसी भक्ति करो जो इस ससार सागर से पार हो अपने देश —प्रभु लोक—मे पहुच जाओ।

विशेष—सागरूपक अलकार।

जौ मैं ग्यांन विचार न पाया,
तौ मै यौंहीं जन्म गवाया ॥टेक॥
यहु संसार हाट करि जांनं, सबको वणिजण आया।
चेति सकै सो चेतौ रे भाई, मूरखि मूल गंवाया॥
थाके नैन बैन भी थाके, थाकी सुंदर काया।
जांमण मरण ए द्वै थाके, एक न थाकी माया॥
चेति चेति मेरे मन चचल, जब लग घट मै सासा।
भगति जाव पर भाव न जइयौ, हरि के चरन निवासा॥
जे जनि जांनि जपै जग जीवन, तिनका ग्यांन न नासा।
कहै कबीर वै कबहूँ न हारै, जांनि न ढारै पासा॥२३५॥

शब्दार्थ—मूल=मूलधन। जामण=जन्म। सासा=साँस। जाव=जाना।

यदि मैंने ज्ञान एव मनन-चिन्तनपूर्ण विचार को प्राप्त न किया तो मेरा यह जन्म व्यर्थ ही चला जयगा। यह ससार तो एक बाजार—पैठ है। वहा सब कर्म व्यापार करने आये हें। हे जीव! यदि तू इस विषय-वासना पूर्ण ससार मे सावधान हो प्रभु का भजन कर सके तो ठीक है, अन्यथा अज्ञानियो ने अपने पूर्व सचित सत्कर्मों

के मूलधन को भी गवा दिया है। यह सुन्दर शरीर, नयन तथा वाणी सभी कुछ परिश्रान्त और कलान्त हो चुकी है, जन्म-मरण के चक्र मे पड जीव ऊब गया है किन्तु माया भिर भी पराजित नही हुई। हे मेरे चचल मन! तू प्राणो के रहते सावधान हो जा। हरि-चरणो की शरण और भक्ति-भाव के बिना माया-प्रभाव दूर नही हो सकता। जो भक्त-जन ससार की स्थिति को जानते हुए करुणामय का भजन करते हैं उनका ज्ञान नष्ट नही होता। वे कभी भी इस माया से पराजित नही होते और पुनः इस भव-बन्धन मे नही पडते।

लावौ बाबा आगि जलावो घरा रे,
ता कारनि मन धंधै परा रे ॥टेक॥
इक डांइनि मेरे मन मैं बसै रे, नित उठि मेरे जीय कौं डसै रे।
या डांइन्य के लरिका पांच रे, निस दिन मोहि नचांवै नाच रे॥
कहै कबीर हूँ ताकौ दास, डांइनि कै संगि रहै उदास ॥२३६॥

शब्दार्थ—घरा=घर, गृह। लरिका=लड़के, विषय-विकार। उदास=उदासीन।

कबीर कहते है कि भाइयो! मुझे अग्नि ला दो, आज मैं इस गृह को भस्मसात् कर दूं जिसके कारण मन सर्वदा बन्धन मे पडा रहा है।

मेरे मन मे एक माया रूपी डकिनी का वास है जो नित्य उठ कर मन को सालती है। इस माया-डकिनी के पाँच पुत्र—पाँच विषय अथवा पाच विकार—(काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह) है जो अहर्निश मुझे अपने जाल मे फासे रहते हैं। कबीर कहते हैं कि उस भक्त का दास हूं जो इस माया डायन से उदासीन रहता है, इसके प्रभाव में नही आता।

बंदे तोहि बंदिगी सौं कांम, हरि बिन जांनि और हरांम।
दूरि चलणां कूंच बेगा, इहां नहीं मुकांम ॥टेक॥
इहां नहीं कोई यार दोस्त, गांठि गरथ न दांम।
एक एकै संगि चलणां, बीचि नहीं बिश्राम॥
संसार सागर बिषम तिरणां, सुमरि लै हरि नांम।
कहै कबीर तहां जाइ रहणां, नगर बसत निधांन ॥२३७॥

शब्दार्थ—कूच=प्रस्थान करना। मुकाम=ठहरना। दाम=सम्पत्ति। निधान=कृपा निधान ब्रह्म।

हे जीवात्मा! तुझे तो प्रभु-भक्ति से ही प्रयोजन है। ईश्वर के अतिरिक्त और सबको तो तू वृथा-जजाल जान। तुझे अभी दूर जाना है, संसार तीर्थ मे ही नही रुक जाना है क्योकि तेरी मंजिल यहां नही है। इस ससार मे तेरा कोई मित्र—हितैषी नही है, सब स्वार्थ के सम्बन्धी है तथा तेरे पास कुछ भी सम्पत्ति नही है जिसके आधार पर तू अपना लक्ष्य प्राप्त कर सके। उस अपनी मंजिल की डगर पर तुझे

अनवरत चलना होगा, तनिक भी विश्राम का अवसर नहीं है। इस भव सागर को पार करना बड़ा कठिन है, इसलिए ईश्वर-नाम का गुणगान कर ले। कबीर कहते हैं कि तुझे अपने उसी देश मे जाकर रहना चाहिए जहा कृपानिधान ब्रह्म का वास है।

झूठा लोग कहैं घर मेरा।
जा घर मांहे बोलै डोलै, सोई नहीं तन तेरा ॥टेक॥
बहुत बंध्या परिवार कुटंब मै, कोई नहीं किस केरा।
जीवत आंपि मूंदि किन देखौ, संसार अंध अंधेरा ॥
बस्ती मे थै मारि चलाया, जंगलि किया बसेरा।
घर कौं खरच खबरि नहीं भेजीं, आप न कीया फेरा ॥
हस्ती घोडा बैल बांहणीं, संग्रह किया घणेरा।
भीतरि बीबी हरम महल मैं, साल मिया का डेरा ॥
बाजी की बाजीगर जांनै, कै बाजीगर का चेरा।
चेरा कबहूं उझकि न देखै, चेरा अधिक चितेरा ॥
नौ मन सूत उरझि नही सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा।
कहै कबीर एक रांम भजहु रे, बहुरि न ह्वैगा फेरा ॥२३८॥

शब्दार्थ—बध्या=बंधना। मस्ती=हस्ती, हाथी। फेरा=जन्म।

इस ससार मे आकर लोग व्यर्थ ही यह उद्घोषण करते हैं कि यह घर मेरा है। अरे मूर्ख! घर मे तेरा यह सुन्दर शरीर बोलता है और सचरण करता है वह शरीर भी तेरा नही है।

हे जीव! तू इस ससार के परिवार आदि बधन मे बहुत बंध चुका है किन्तु वास्तव मे कोई भी तेरा नही है। तुम जीवन्मुक्त स्थिति प्राप्त कर इस संसार को देखेगा तो यह अधकार पूर्ण ही ज्ञात होगा अथवा यदि झूठे ही मर कर देख लो तो थोडे समय के पश्चात् तुम्हे कोई स्मरण नही करेगा। कुछ लोग ससार त्याग विरक्त हो वन मे आ जाते हैं। गृह की वे खबर तक नही लेते और फिर स्वय उधर जाते भी नही किन्तु इस अवस्था मे भी वे वन्धन मुक्त नही रहते।

सासारिक व्यक्ति हाथी, घोडा, बैल आदि ऐश्वर्य और सम्पत्ति का संचय करता है। साथ ही अपने अन्त:पुर मे विषय-वासना की पूर्ति के लिए सुन्दरी भी रखता है। किन्तु भक्त इधर आख उठाकर भी नही देखता क्योकि इस माया-मोह से सावधान रहता है। भक्ति साधना को या तो गुरु ही जानते है अथवा उनका शिष्य ही उससे परिचित होता है। पच विषय, तीन गुण एव एक मन का जो जंजाल है वही व्यक्ति को जन्म-जन्म मे, आवागमन के चक्र मे फासता है। कबीर कहते है एक प्रभु नाम के जपने से आवागमन के चक्र मे नही पड़ेगा।

विशेष—१. रूपक, अनुप्रास, रूपकातिशयोक्ति।

२. 'नौ मन सूत'—पाच विषय—शब्द, रूप, रस, गध, स्पर्श; तीन गुण

—सत, रज, तम, एव मन से ही समस्त कुकर्मो का जजाल खडा होता है, यदि इन्हे अपने वश मे कर ले तो फिर वह मुक्त हो जाय।

हाबड़ि धाबड़ि जनम गवावै,
कबहूँ न रांम चरन चित लावै ॥टेक॥
जहां जहां दांम तहां मन धावै, अंगुरी गिनतां रैंनि बिहावै।
तृया का बदन देखि सुख पावै, साध की संगति कबहूँ न आवै॥
सरग के पंथि जात सब लोई, सिर धरि पोट न पहुँच्या कोई।
कहै कबीर हरि कहा उबारे, अपणै पाव आप जौ मारै॥२३९॥

शब्दार्थ—हाबडि धाबड़ि=आपाधापी। रैनि=रात। तृया=स्त्री। बदन=मुख। सरग=स्वर्ग। पथि=मार्ग।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य! इस अपाधापी मे वासना कर्मो के प्रति जब देखो तब अनुरक्त रहने मे ही तैंने अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर दिया है। जहा-जहा धन प्राप्ति की आशा रहती मन वही भटकता रहता है और हिसाब लगाते-लगाते ही तेरी रात्रि कटती है। सुन्दरी को देखने को प्रति समय लालायित रहता है किन्तु साधुओ की सगति मे तेरी वृत्ति नही रमती। शीश पर पाप-कर्मो का भार रख सब स्वर्ग लोक जाने का उपक्रम करते हैं, किन्तु वहाँ तक पहुच कोई नही पाता है। कबीर कहते है कि प्रभु भी उसका उद्धार क्या करे जो स्वय विषय-वासनाओ को घातक जानते हुए भी उनमे सलिप्त रहता है।

प्रांणीं कहे कै लोभ लगि, रतन जनम खोयौ।
बहुरि हीरा हाथ न आवै, रांम बिना रोयौ॥टेक॥
जल बूंद थैं ज्यनि प्यंड बांध्या, अगनि कुंड रहाया।
दस मास माता उदरि राख्या, बहुरि लागी माया॥
एक पल जीवन की आस नांहीं, जम निहार सासा।
बाजीगर संसार कबीरा, जांनि ढारौ पासा॥२४०॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर, पुन.। प्यड=शरीर। जम=जमराज, मृत्यु।

हे मनुष्य तूने किस लोभ मे पड़ अमूल्य जीवन को व्यर्थ नष्ट कर दिया है। यह मणितुल्य मानव जीवन पुनः प्राप्त नही होगा, अब तू राम-भक्ति बिना व्यथा-पीडित होता रह। उस प्रभु की लीला बड़ी विचित्र है जिसने वीर्य की एक बूंद से इस शरीर का निर्माण कर दस मास तक मातृ-उदर की जठराग्नि के अग्निकुण्ड में इसे सुरक्षित रखा किन्तु फिर भी तू उसे विस्मृत कर माया मे पड़ा रहता है। यह स्थिति तो तब है जब एक क्षण के लिये भी जीवन अस्तित्व की आशा नही क्योकि प्रति श्वास पर यम का पहरा है—फिर भी तू सावधान हो प्रभु-भक्ति नही करता? कबीर कहते है कि यह संसार तो बाजीगर के समान है जो इसमे ज्ञान रखता है वही इसके पाशो से विमुक्त हो सकता है।

विशेष—रूपक अलंकार।

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ
जब दस मास उरध मुखि होते, सो दिन काहे भूल्यौ ॥टेक॥
जौ जारैं तौ होइ भसम तन, रहत कृम ह्वै जाई।
काचै कुंभ उद्यक भरि राख्यौ, तिनकी कौन बड़ाई ॥
ज्यूं माषी मधु संचि करि, जोरि धन कीनो।
मूयें पीछें लेहु लेहु करि, प्रेत रहन क्यूं दीनो ॥
ज्यूं घर नारी संग देखि करि, तब लग सग सुहेलौ।
मरघट घाट खेंचि करि राखे, वह देखहु हँस अकेलौ ॥
रांम न रमहु मदन कहा भूले, परत अंधेरै, कूवा।
कहै कबीर सोई आप बंधायौ, ज्यूं नलनीं का सूवा ॥२४१॥

शब्दार्थ—उरध=ऊर्ध्व, ऊपर। कृम=कीडा। उसक=उदक, पानी। माषी=मक्खी।

हे मनुष्य ! तू फला-फूला आह्लादित क्यो घूम रहा है जब दस मास तक मातृ-उदर मे व्यथा भोगी थी उसे क्यो विस्मृत कर बैठा ? यदि वह तब इस शरीर को भस्म करना चाहता तो आज कही कीडे के रूप मे तुम्हारा अस्तित्व होता। वह ईश्वर तो इतना महान् है कि यदि चाहे तो। बन पके, कच्चे घडे मे ही जल भर कर रख सकता है, उसकी महिमा का वर्णन कहाँ तक किया जाय ? जिस भाँति मधु-मक्खी थोडा-थोडा करके बहुत सा मधु एकत्रित कर लेती है उसी भाति तुम प्रभु-भक्ति को नित्य नाम-जप करके संचित कर लो। मृत्यु के पश्चात् इस शरीर का कोई लाभ नही ? बुरे कर्मों को कर प्रेत योनि मे पडना अच्छा नही। जो नारी प्रियतम का अमित प्रेम करती थी और साथ-साथ लगी फिरती थी वही श्मशान में इस शरीर को निकाल कर चिता पर रख देती है और आत्मा अकेली ही इस ससार से महाप्रयाण करती है, कोई सगा-सम्बन्धी उसके साथ नही जाता। जो व्यक्ति प्रभु-भजन न करता हुआ, विषय-वासना मे सलिप्त रहता है, वह अज्ञान-कूप मे पडकर आप ही बन्धन मे उसी प्रकार पड़ जाता है जिस भाति 'नलिनी का तोता' स्वय ही भ्रम-रत रहता है।

विशेष—उपमा, रूपक, दृष्टान्त अलकार।

जाइ रे दिन हीं दिन देहा, करि लै बौरी रांम सनेहा ॥टेक॥
बालापन गयौ जोबन जासी, जुरा मरण भौ संकट आसी।
पलटे केस नैन जल छाया, मूरिख चेति बुढ़ापा आया ॥
रांम कहत लज्या क्यूं कीजै, पल पल आउ घटै तन छीजै।
लज्या कहै हूँ जमकी दासी, एकै हाथि मुदिगर दूंजै हाथि पासी ॥
कहै कबीर तिनहूँ सब हार्‌या, रांम नांम जिनि मनहु बिसार्‌या ॥२४२॥

शब्दार्थ—बौरी=पागल। पलटे=परिवर्तित हो गये। लज्या=लज्जा। आउ=आयु। मुदिगर=मुगदड, व्यायाम के लिये प्रयुक्त होता है।

कबीर कहते हैं कि हे पागल अज्ञानी मूर्ख मनुष्य ! दिन व्यतीत हुए जाते हैं, अतः प्रभु से प्रेम कर ले। शैशव यौवन व्यतीत हो गये, वृद्धावस्था भी बीतने वाली है और मृत्यु ऊपर खडी है। केश श्वेतता मे परिवर्तित हो गये और नेत्रो की दृष्टि मद हो इनमे पानी ढलने लगा। हे अज्ञानी ! अब तो इन्हे वृद्धावस्था के चिन्ह जान सावधान होजा। तुम्हारी आयु प्रति पल घटती जा रही है, राम-नाम के उच्चारण में लज्जा क्यो आती है ? लज्जा तो तव आयेगी जब यम-दासी मृत्यु के एक हाथ मे इस जीवन को समाप्त करने के लिये मुगदड और दूसरे हाथ मे पुनः आवगमन चक्र में फासने के लिये वंधन होगा। कवीर कहते है कि जिनके मन मे राम-नाम बस जाता है, उनसे समस्त माया-आकर्षण परास्त हो जाते है।

मेरी मेरी करतां जनम गयौ,

जनम गयौ परि हरि न कह्यौ ॥टेक॥

बारह बरस बालापन खोयौ, बीस बरस कछू तप न कीयौ।
तीस बरस कै रांम न सुमिर्यौ, फिरि पछितानौं बिरध भयौ॥
सूकै सरवर पालि बधावै, लुणै खेत हठि बाड़ि करै।
आयौ चोर तुरंग मुसि ले गयौ, मोरी राखत मुगध फिरै॥
सीस चरन कर कंपन लागे, नैन नीर अस राल बहै।
जिभ्या बचन सूध नहीं निकसै, तब सुकरित की बात कहै॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, धन सच्यौ कछु संगि न गयौ।
आई तलब गोपाल राइ की, मैडी मंदिर छाड़ि चल्यौ ॥२४३॥

शब्दार्थ—बिरध=वृद्ध। पाति=सीमा। लुगै=नष्ट हुए। मुसि ले गयौ=चुराकर ले गया। मुगध=मुग्ध, पागल। सुकरित=सुकृत, सुगम। तलव=भक्ति से तात्पर्य है।

हे मानव ! अह के अथवा अपने पराये के फेर मे पड़े तेरी समस्त आयु व्यतीत हो गई किन्तु फिर भी तूने प्रभु का नाम नही लिया। आयु के वारह वर्ष तो शैशव मे व्यर्थ खो दिये, २० वर्ष तक यौवन के मद मे मस्त रहा और प्रभु के लिये तप नही किया। तीस वर्ष तक ससार की उधेड़-बुन में लगा रहा और फिर पश्चात्ताप करने से क्या, वृद्धावस्था आ पहुची। ससार के कर्मों मे लगे रहना ऐसे ही है जैसे सूखे सरोवर को पाल बाँधने और कटे हुए खेत की सुरक्षा के लिये बाड़ लगाने का उपक्रम मृत्यु रूपी चोर तुरन्त आकर समस्त कमायी हुई सम्पत्ति को ले गया और सम्पत्ति के रक्षक का अस्तित्व तक नही रहा। अब वृद्धावस्था आने पर शीश, हाथ, पैर कांपने लगे और नेत्रो से जल तथा मुख से राल वृद्धावस्था के चिन्हस्वरूप गिरने लगी एवं जव वाणी जरा के कारण अभिव्यक्ति मे अक्षम हो गयी तब तुझे भक्ति की सूझी है। कवीर कहते हैं कि सन्तो ! जीवन भर एकत्रित किया धन साथ नही जाता। अतः जव प्रभु भक्ति का मन होता है तो यह गृह द्वार त्याग देना चाहिए।

जाहि जाती नांव न लीया, फिरि पछितावैगो रे जीया ॥टेक॥
धंधा करत चरन कर घाटे, आउ घटी तन खींना।
विषै बिकार बहुत रुचि मांनीं, माया मोह चित दींन्हां ॥
जागि जागि नर काहे सोवै, सोइ सोइ कब जागैगा।
जब घर भीतरि चोर पड़ैगे, तब अंचलि किस कै लागैगा ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, करि ल्यौ जे कछु करणां।
लख चौरासी जोनि फिरौगे, बिनां रांम की सरनां ॥२४४॥

शब्दार्थ—नांव=नाम। आउ=आयु। खीना=क्षीण। अंचलि=आश्रम।

कबीर कहते हैं कि यदि आयु रहते प्रभु का नाम नही लिया तो फिर बाद में पछताना पड़ेगा। साँसारिक कर्म करते-करते पग भी थक गये और आयु व्यतीत हो चली, शरीर क्षीण हो गया। विषय-वासना मे जीव ने बहुत अनुरक्ति दिखायी और माया-मोह मे उलझा रहा। हे मनुष्य ! तू जाग, कब तक पड़ा सोता रहेगा। जब इस शरीर रूपी गृह मे मृत्यु का चोर आ धमकेगा तो किसका आश्रय ग्रहण करोगे ? कबीर कहते हैं कि हे मनुष्यो ! जो कुछ सत्कर्म करना है, वह करलो अन्यथा बिना प्रभु-कृपा के तो चौरासी लाख योनियो मे पड़ आवागमन के चक्र में भटकना पड़ेगा।

माया मोहि मोहि हित कीन्हां,
ताथैं मेरो ग्यांन ध्यांन हरि लीन्हा ॥टेक॥
संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीव न सुपिन समांन।
सांच करि नरि गांठि बांध्यो, छाँड़ि परम निधांन ॥
नैंन नेह पतंग हुलसै, पसू न पेखै आगि।
काल पासि जु मुगध बांध्या, कलंक, कांमिनीं लागि ॥
करि विचार बिकार परहरि, तिरण तारण सोइ।
कहै कबीर रघुनाथ भजि नर, दूजा नांहीं कोइ ॥२४५॥

शब्दार्थ—परम निधान=ब्रह्म। पहिरि=छोडना।

माया ने मोह कर प्रेम का ऐसा बन्धन डाला कि मेरा (जीव का) समस्त ज्ञान और विचार हरण कर लिया। संसार स्वप्नवत् मिथ्या है किन्तु इसमें व्यक्ति की सत्ता स्वप्न तुल्य भी नही है। हे जीवात्मा ! तू सत्य तत्व को गाँठ बाँध ले और सब कुछ प्रभु के ऊपर छोड़ दे। जिस प्रकार शलभ पशु-बुद्धि के कारण प्रेम में अग्नि को नही देखता उसी भाति कलकस्वरूप सुन्दरी पर मनुष्य दीवाना बना रहता है, यह नही देखता कि काल-बन्धन मे बधा हुआ है। इसलिए विचार कर विषय विचारो को त्याग उसी तरण-तारण प्रभु का स्मरण कर क्योकि उसके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नही है जो तेरे बेड़े को पार लगा दे।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

ऐसा तेरा झूठा मीठा लागा, ताथैं साचे सूं मन भागा ॥टेक॥
झूठ के घर झूठा आया, झूठा खान पकाया।
झूठी सहन क झूठा बाह्या, झूठै झूठा खाया॥
झूठा ऊठण झूठा बैठण, झूठी सबै सगाई।
झूठे के घरि झूठा राता, साचे को न पत्याई॥
कहै कबीर अलह का पंगुरा, साचे सूं मन लावौ।
झूठे केरी संगति त्यागौ, मन वंछित फल पावौ॥२४६॥

शब्दार्थ—पत्याई=विश्वास करना। अलह=ब्रह्म। पंगुरा=अश।

हे मनुष्य तेरी वृत्ति मिथ्या आनन्दो में—विषयानन्दों में, इतनी रमती है कि तुझे वास्तविक, सत्यानन्द मिथ्या लगने लगा। इसीलिये तू प्रभु-भक्ति नही करता। तेरा समस्त अन्तर-बाह्य और वातावरण झूठ—विषय-वासना—से प्रेरित होकर रहता है। उठना, बैठना और स्नेहपूर्ण सम्वन्ध सव मिथ्या है। ठीक भी है जो विषय वासना-संलिप्त हैं वे झूठ में ही अनुरक्त रहेगे, सत्य ब्रह्म का वे विश्वास तक नही करते कबीर कहते है कि हे जीव ! तू ईश्वरांश है अतः उसी सत्य स्वरूप परमात्मा मे अपना मन लगा। यदि तुम दुर्जनों की संगति का परित्याग कर दो तो मन-वांछित फल प्राप्त करोगे।

कौंण कौंण गया रांम कौंण कौंणन जासी,
पड़सी काया गढ़ माटी थासी ॥टक॥
इंद्र सरीखे गये नर कोड़ी, पांचों पांडौं सरिषी जोड़ी।
ध्रू अविचल नहीं रहसी तारा, चंद सूर की आइसी बारा॥
कहै कवीर जग देखि ससारा, पड़सी घट रहसी निरकारा॥२४७॥

शब्दार्थ—सरीखे=समान। सरिषी=समान।

हे मनुष्य ! इस संसार से कौन-कौन चले गये और अभी कौन-कौन जायेंगे, यह शरीर मृत्युपरान्त मिट्टी में ही मिल जायगा। इन्द्र जैसे अधिपति और पाँचो पांडव जैसे यशस्वी मनुष्य भी मृत्यु मुख मे चले गये। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र कुछ भी तो संसार में अचल नही है। कबीर कहते है कि ससार की क्षणभगुरता देखकर हृदयस्थित निराकार ब्रह्म की अर्चना करो।

ताथैं सेविये नारांइणां,
प्रभू मेरौ दीनदयाल दया करणा ॥टेक॥
जौ तुम्ह पंडित आगम जांणौं, बिद्या व्याकरणां।
तंत मंत सब ओषधि जांणौं, अंति तऊ मरणां॥
राज पाठ स्यंघासण आसण, बहु सुंदरि रमणां।
चंदन चीर कपूर बिराजत, अंति तऊ मरणां॥
जोगी जती तपी संन्यासी, बहु तीरथ भरमणां।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, अंति तऊ मरणां॥

सोचि बिचारि सबै जग देख्या, कहूँ न ऊबरणां।
कहै कबीर सरणाई आयो, मेटि जामन मरणां ॥२४८॥

शब्दार्थ—स्यंघासण=सिंहासन । मोनि=मौनधारी तपस्वी । जामन-मरणां=जन्म-मरण, आवागमन ।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं आपकी वन्दना करता हूं, अतः दीनदयाल आप मुझ पर अनुकम्पा करना। हे पंडित चाहे तुम आगम निगम, व्याकरण आदि शास्त्र ग्रथो मे निष्णात हो, किन्तु अन्त मे मरना तुम्हें भी होगा। तन्त्र, मन्त्र एवं औषधि आदि समस्त रखी रह जाती हैं। राज्य वैभव, सिंहासन, आसन बहुत सी सुन्दरियाँ जो चन्दन, कपूर के अगराग लगाकर सुन्दर वस्त्र पहनती हैं—जिनके पास ये सब साधन हैं अन्त मे उन्हे भी मरना होगा। योगी, यती, तपस्वी आदि जो बहुत से तीर्थो का भ्रमण करते है तथा जैन साधु, मौनधारी, जटाधारी जो भी हैं—उन्हे भी मरना होगा। कबीर कहते हैं कि मैंने भली भाँति विचार कर देख लिया है कि कोई भी ससार-परिपाटी से ऊपर नही है। मैं तो आपकी शरण मे आ गया हूं, अतः मेरा आवागमन छुडा, मुझे मुक्त कर दो।

पांडे न करसि बाद बिवादं,
या देही बिन सबद न स्वादं ॥टेक॥
अंड ब्रह्मंड खंड भी माटी, माटी नवनिधि काया।
माटी खोजत सतगुर भेट्या, तिन कछू अलख लखाया॥
जीवत माटी मूवा भी माटी, देखौ ग्यांन बिचारी।
अंति कालि माटी मैं बासा, लेटै पांव पसारी॥
माटी का चित्र पवन का थंभा, ब्यंद संजोगि उपाया।
भांनै घड़ै संवारै सोई, यहु गोब्यंद की माया॥
माटी का मंदिर ग्यान का दीपक, पवन बाति उजियारा।
तिहि उजियारै सब जग सूझै, कबीर ग्यांन बिचारा ॥२४९॥

शब्दार्थ—मूवा=मृत्यु। बाति=वर्तिका।

हे पडित ! व्यर्थ शास्त्रार्थ मत कर। इस शरीर के रहते हुए ही मन संगीत और स्वाद तथा अन्य विषयो मे लिप्त होता है। यह सृष्टि, सुन्दर शरीर और सृष्टि की प्रत्येक वस्तु मिट्टी ही है। इस मिट्टी के बनाने वाले को खोजने की चाह मे ही सदगुरु के दर्शन हुए, जिनकी कृपा से कुछ अलख-निरजन का ज्ञान प्राप्त हुआ। तनिक विचारपूर्वक देखो तो संसार मे समस्त मिट्टी ही मिट्टी है, मनुष्य जीवितावस्था मे भी पाँच तत्वो से निर्मित मिट्टी का पुतला मात्र है जो मर कर भी क्षार हो जाता है। अन्त मे कब्र मे पड़ लम्बे पाँव कर मिट्टी मे ही मिलना होता है। यह मनुष्य कुछ नही, मिट्टी की मूर्ति मात्र है जिसे पवन ने आधार दे रखा है। प्रभु की यही विलक्षण माया है कि एक ही मिट्टी से उसने भिन्न-भिन्न प्रकार के घड़ो के रूप मे हमारा

कर दिया है। इस मिट्टी से बने मन्दिर (शरीर) में ज्ञान के दीपक को वायु-वर्तिका द्वारा प्रज्ज्वलित कर आलोकित करने से समस्त संसार दृष्टिगत हो जाता है।

मेरी जिभ्या बिस्न नैंन नारांइन, हिरदै जपौं गोबिंदा।
जंम दुवार जब लेख मांग्या, तब का कहिसि मुकंदा ॥टेक॥
तूं ब्रांह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना।
तैं सब मांगे भूपति राजा, मोरे रांम धियाना॥
पूरब जनम हम बांह्मन होते, वोछैं करम तप हींनां।
रांमदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हां॥
नौंमी नेम दसमीं करि संजम, एकादसी जागरणां।
द्वादसी दांन पुनि की बेलां, सर्व पाप छ्यौ करणां॥
भौ बूड़त कछू उपाइ करीजे, ज्यूं तिरि लंघै तीरा।
रांम नांम लिखि भेरा बांधो, कहै उपदेस कबीरा ॥२५०॥

शब्दार्थ—मुकंदा=मुकंद कृष्ण। भौ=भवसागर। बूड़त=डूबना। भेरा=बेड़ा।

हे मेरी जिह्वा ! तू हृदय मे भगवान को रख, प्रभु के अनन्त गुणों, नामों, का गुणगान कर। हे प्रभु ! जब यमराज कर्मो का हिसाब मागेगा तो उसे मैं क्या प्रत्युत्तर दूगा। हे शास्त्रार्थी पडित ! तू ब्राह्मण है, किन्तु मैं भी पडितो की नगरी काशी का जुलाहा हूं—कोई ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा नही। तू राजाओं द्वारा आश्रित है, मेरे आश्रय तो भगवान ही है। पिछले जन्म मे मैं ब्राह्मण ही था किन्तु प्रभु-भक्ति न कर सका इसीलिए इस जुलाहा जाति मे जन्म ग्रहण करना पडा। नवमी, दशमी और एकादशी, द्वादशी के जो व्रत महात्म्य हैं सबको भलि भाँति करने से समस्त पापों का प्रक्षालन हो जायेगा ? हे अज्ञानी ! तू ससार-सागर मे डूब रहा है, अतः शीघ्र कोई उपाय कर ले जिससे तू उस पार पहुच सके। कबीर इसके लिए मार्ग बताते हैं कि राम-नाम के बेड़े से अपनी नौका बाध दो, नैया पार लग जायगी।

विशेष—इस पद से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि कबीरदास की जाति जुलाहा थी।

कहु पांड सुचि कवन ठांव,
जिहि घरि भोजन बैठि खाऊं ॥टेक॥
माता जूठी पिता पुनि जूठा, जूठे फल चित लागे।
जूठा आंवन जूठा जांनां, चेतहु क्यूं न अभागे॥
अंन जूठा पानी पुनि जूठा, जूठे बैठि पकाया।
जूठी कड़छी अंन परोस्या, जूठे जूठा खाया॥
चौका जूठा गोबर जूठा, जूठी का ढीकारा।
कहै कबीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तजहिं बिकारा ॥२५१॥

शब्दार्थ—सुचि=शुचि, शुद्ध। ठाव=स्थान। आंवन=आना, जन्म लेना। जाना=मृत्यु। अन=अन्न, भोजन। सूचे=सच्चे।

हे पण्डे! यदि तुम खान-पान में इतना छुआछात रखते हो तो फिर बताओ कि ऐसा कौन सा स्थान है जहा जूठन नही जिससे मैं वहां बैठकर भोजन ग्रहण कर सकू। माता पिता तथा अन्य स्नेही सब झूठे है, झूठे प्रलोभनो में फंसे हुए। जन्म-मरण सब नित्य है फिर हे अभागे जीव! तू सावधान क्यो नही होता? अन्न-पानी और इसको बनाने वाला सभी तो मिथ्या है। यह भोजन परोसा भी झूठे चमचे से जाता है और जिससे वह लिया है—सब ही तो झूठा हैं। कबीर कहते हैं कि केवल वही सच्चे है जो विषय-वासना विकारो का परित्याग कर प्रभु भजन करते हैं।

हरि बिन झूठे सब ब्योहार, केते कोऊ करौ गँवार ॥टेक॥
झूठा जप तप झूठो ग्यांन, रांम रांम बिन झूठा ध्यांन।
विधि न खेद पूजा आचार, सब दरिया मैं वार न पार॥
इंद्री स्वारथ मन के स्वाद, जहां साच तहां मांडै वाद।
दास कबीर रह्या ल्यौ लाइ, भर्म कर्म सब दिये बहाइ ॥२५२॥

शब्दार्थ—माडेवाद=वाद नष्ट हो जाते हैं। भर्म=भ्रम। बहाई=छोड़ देना।

कबीर कहते है कि ईश्वर के बिना जगत का समस्त कार्य-व्यापार निस्सार है, चाहे कोई मूर्ख कितने ही कर्म करे किन्तु बिना प्रभु-आश्रय के उनका कोई महत्व नही। वेद-विधान, पूजा आचार, सब कुछ प्रभु बिना नदी मे बोरने योग्य हैं। इन्द्रिय-जन्य स्वाद एवं मन के स्वार्थ जहा सत्य स्वरूप ब्रह्म है नष्ट हो जाते हैं। कबीर ने तो प्रभु से अपनी लौ लगा ली है इसलिए ससार सशय और समस्त कर्म छोड दिये हैं।

चेतनि देखै रे जग धंधा।
रांम नांम का मरम न जांनै, माया कै रसि अंधा ॥टेक॥
जनमत हीरू कहा ले आयो, मरत कहा ले जासी।
जैसे तरवर बसत पंखेरू, दिवस चारि के वासी॥
आपा थापि अवर कौ निंदै, जन्मत हीं जड़ काटी।
हरि की भगति बिना यहु देही, धव लोटै ही फाटी॥
कांम क्रोध मोह मद मछर, पर अपवाद न सुणियें।
कहै कबीर साध की संगति, रांम नांम गुन भणिये ॥२५३॥

शब्दार्थ—रसि=मोह बधन। मछर=मत्सार। अपवाद=निंदा। भणिये=कहिये।

कबीर कहते हैं कि सावधान होकर इस संसार-चक्र को देखो कि मानव ईश्वर-नाम की महिमा न जानता हुआ किस भाँति माया-मोह मे अन्धा हो रहा है। संसार में जन्म लेकर हीरे जैसे अमूल्य जीवन की क्या गति कर दी? मरने पर तो यह मिट्टी मे मिल ही जायगा। यहा इस ससार मे तो जीवन इतना ही क्षणिक है जितना पक्षी

का पेड पर बसेरा। जन्म से ही यह प्रवृत्ति बना ली है कि दूसरों की ओर स्वार्थ-पूर्ति में ही तेरा समय कटता है। प्रभु-भक्ति के बिना यह शरीर मिट्टी में मिल जायगा। दूसरो की निन्दा को न सुनते हुए काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह का परित्याग कर दीजिए। कबीर कहते है कि हे जीवात्मा! साधु-संगति करता हुआ प्रभु-भक्ति में लगा रह।

विशेष—साधुसंगति के महत्व पर उक्ति देखिए—

> रे जम नांहि नवै व्यौपारी, जे भरै जगाति तुम्हारी ॥टेक॥
> बसुधा छाड़ि बनिज हम कीन्हों, लाद्यो हरि को नांऊं।
> रांम नांम की गूंनि भराऊं, हरि कै ठांडै जांऊं ॥
> जिनकै तुम्ह अगिवानीं कहियत, सो पूंजी हंम पासा।
> अब तुम्हारौ कछु बल नांहीं, कहै कबीरा दासा ॥२५४॥

शब्दार्थ—बनिज=व्यापार। अगिवानी=पथ-प्रदर्शक।

हे यम (मृत्यु)! अब तुम्हारे सम्मुख प्रभु-भक्त झुकेगा नही जिससे तुम्हारा यश बढ़ता है, अब वह उधर नही जायेगा। इस ससार को त्याग कर हमने प्रभु-भक्ति का व्यापार प्रारम्भ कर दिया है और व्यापार के लिए प्रभु-नाम का कोष अपने पास सचित कर लिया है। राम-नाम की सामग्री लादकर मैं ईश्वर के लोक को जाऊँगा। तुम अपने को ईश्वर दूत उदघोषित करते थे किन्तु अब वही राम-नाम की सम्पति हमारे पास है। अब तुम्हारा कुछ भी बल हमारे ऊपर नही चल सकता।

> मींयां तुम्ह सौं बोल्यां बणि नहीं आवै।
> हम मसकीन खुदाई बंदे, तुम्हारा जस मनि भावै ॥टेक॥
> अलह अवलि दीन का साहिब, जोर नहीं फुरमाया।
> मुरिसद पीर तुम्हारै है को, कहौ कहां थै आया ॥
> रोजा करै निवाज गुजारै, कलमै भिसत न होई।
> सतरि कावे इक दिल भींतरि, जे करि जानै कोई ॥
> खसम पिछांनि तरस करि जिय मैं, माल मनीं करि फीकी।
> आपा जांनि सांई कूं जांनै, तब ह्वै भिस्त सरीकी ॥
> माटी एक भेष धरि नांनां, सब मैं ब्रह्म समानां।
> कहै कबीर भिस्त छिटकाई, दोजग ही मन मानां ॥२५५॥

शब्दार्थ—बणि नही आवै=व्यवहार करना नही आता। साहिब=रक्षक,। मुरिसद=गुरु। स्वरूप=स्वामी, प्रभु। दोजक=नरक।

हे मियां! तुमसे बोलने, परस्पर व्यवहार करने का ढग भी नही आता। हम सब एक ही खुदा के बन्दे है, यह जानकर भी तुम दूसरो से मनमाना व्यवहार करते हो। वह अल्लाह, प्रभु, दीनबन्धु है, उसने तुम्हे शक्ति प्रयोग की आज्ञा नही दी। तुम्हारा कोई गुरु अथवा शिष्य भी है? तुम्हारा आगमन कहा से हुआ है? भाव यह

है कि तुम तो दूसरो से निकृष्ट हो। काबा आदि तीर्थ स्थान यदि तुम खोजकर देखो तो मन के अन्दर ही है, व्यर्थ इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नही। स्वामी को हृदय मे पहचान कर मन मे उसका अनवरत भजन करो। आत्म तत्व-का परिज्ञान कर जब प्रभु को जान जाओगे तो श्रेष्ठ साधुओ की पंक्ति मे गिने जाओगे। हम सब जीव एक ही मृत्तिका से निर्मित पात्र हैं, सब मे ब्रह्म की समान स्थिति है, अतः सबको समान समझो। कबीर कहते हैं कि इस भांति संसार मे निस्तार सम्भव है, वैकुण्ठ (बहिश्त) प्राप्त हो जायेगा।

अलह ल्यौ लांयें काहे न रहिये,
अह निसि केवल राम नांम कहिये ॥टेक॥
गुरमुखि कलमा ग्यांन मुखि छुरी, हुई हलाल पंचूं पुरी।
मन मसीति मैं किनहूं न जांनां, पंच पीर मालिम भगवांनां॥
कहै कबीर मैं हरि गुंन गांऊं, हिंदू तुरक दोऊ समझाऊं ॥२५६॥

शब्दार्थ—ल्यौ=प्रेम। पचू पुरी=पाँचो इन्द्रियाँ।

ईश्वर से अपनी लगन लगाये रहो और अहर्निशि प्रभु-नाम का जाप करो। गुरु उपदेश से प्राप्त ज्ञान-कटारी मे पाच इन्द्रियो के विषय की समाप्ति हो गई। मन रूपी मस्जिद मे प्रभु की स्थिति को किसी ने नही पहचाना। पाचो इन्द्रियो की वृत्ति अब प्रभु मे ही केन्द्रित हो गई है। कबीर कहते है कि मैं प्रभु-गुणगान करता हुआ हिन्दू-मुसलिम दोनो को ही समझाकर एकता लाने मे प्रयत्नरत हू।

रे दिल खोजि दिलहर खोजि, नां परि परेसांनी मांहि।
महल माल अजीज औरति, कोई दस्त गीरी क्यूं नांहि ॥टेक॥
पीरां मुरीदां काजियां, मुलां अरु दरवेस।
कहां थें तुम्ह किनि कीये, अकलि है सब नेस॥
कुरांना कतेबां अस पढ़ि पढ़ि, फिकरि या नहीं जाइ।
टुक दम करारी जे करैं, हाजिरां सूर खुदाइ॥
दरोगां बकि बकि हूंहि खुसियां, बे-अकलि बकहि पुमांहि।
हक साच खालिकखालक ग्यानें सो कछू सच सुरति मांहि॥
अलह पाक तूं नापाक क्यूं अब दूसर नांहीं कोइ
कबीर करन करीम का, करनीं करै जांनै सोइ ॥२५७॥

शब्दार्थ—दिलहर=हृदय—स्वामी। नापाक=अपवित्र, पापी करम=दया। करीम=ईश्वर।

हे मन! तू उस हृदय-स्वामी परमात्मा को खोज और व्यर्थ के सांसारिक कर्मों मे मत उलझ। ये महल, सम्पत्ति, धन-वैभव, पत्नी तथा अन्य प्रियजन कोई तेरे साथ नही जाएगा। पीर, पैगम्बर, काजी, मुल्ला और दरवेश—तुम्हारा सृजन उस परमात्मा के द्वारा ही तो हुआ है, अब तुम अपने को जगत् का नियामक समझ रहे

हो—तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। कुरान आदि धर्म ग्रंथों का पारायण कर तुम्हे प्रभु की चिन्ता नही। किन्तु जो एकदम प्रभु, खुदा के लिए व्याकुल हो जाते है और उसे पाने का प्रयत्न करते हैं, वे ही वास्तव मे शूरवीर कहलाने के अधिकारी हैं। दरोगा आदि राज्य कर्मचारी राजमद मे अन्धे हो गालियां वक-वक कर प्रसन्न होते हैं वे कैसे अज्ञानी हैं? उन्हे उस सर्वशक्तिमान् की शक्ति का ज्ञान नही जो इस सृष्टि में सर्वत्र रमा हुआ है। हे प्रभु-भक्त! जब ईश्वर पवित्र है तो तू भी तो उसी का अंश है, जव तुझे संसार के किसी विषयाकर्षण से प्रयोजन नही रह गया तो तू भी पवित्र ही है। भक्त के जो भी कर्म होते है वे प्रभु को ध्यान मे रखते हुए उसी के लिए होते है।

खालिक हरि कहीं दर हाल।
पजर जसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल ॥टेक॥
भिस्त हुसकां दोजगां, दुंदर दराज दिवाल।
पहनांम परदा ईत आतस, जहर जंगम जाल॥
हम रफत रहबरहु समां, मैं खुर्दा सुमां विसियार।
हम जिमीं असमांन खालिक, गुंद मुसिकल कार॥
असमांन म्यांनै लहंग दरिया, तहां गुसल करदा वूद।
करि फिकर रह सालक जसम, जहां स तहां मौजूद॥
हंम चु बूंदनि बूंद खालिक, गरक हम तुम पेस।
कवीर पनह खुदाइ को, रह दिगर दावानेस॥२५८॥

शब्दार्थ—भिस्त=स्वर्ग। दोजगा=नरक। दुन्दर=दादुर। आतस=अग्नि। गुसल=स्नान।

ईश्वर प्रत्येक स्थल पर वर्तमान है। वह शत्रु का सर्वनाश ही कर देता है और अपने दास को समृद्धता प्रदान करता है। उस भक्त के लिए दादुर रूप विकार—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को नष्ट कर, नरक को भी स्वर्ग बना देता है। वह ससार विषवन के सदृश है जिसमे अज्ञानान्धकार तथा विषय-वासना की इति और अग्नि है। मैं तो इस भयकर वन से गुरु के साथ चल वच लिया। हे प्रभु मै दीन हूं और आप महान्। मैं पृथ्वी पर हूं और ईश्वर आकाश, शून्य, पर—दोनो का मिलन कठिन है, आकाश के बीच, शून्य के मध्य एक अमृत सरिता है। जहा मुक्तात्माए स्नान करती है। (ब्रह्मरन्ध्र से अमृत स्रवण का वर्णन है)। हे मन! तू ईश्वर का चिन्तन करता हुआ ससार-भय से निश्चित रह, जहाँ तू चाहेगा वह प्रभु वहीं उपस्थित हो जायेगा क्योंकि वह सर्वत्र-व्यापक है। हम—जीवात्माए तो उस प्रभु रूप जल से उत्पन्न ही वू द हैं जो मिलकर एकमेक हो जाती है। कबीर कहते है कि हे मनुष्य तू सर्वदा उस ईश्वर की शरण ग्रहण करता हुआ प्रभु का ध्यान कर।

विशेष—१. "हम चु बूंदनि······पेख" से तुलना कीजिए—

'जल में कुम्भ, कुम्भ मे जल है, वाहर भीतर पानी।
फूटा, कुम्भ जल जलहि समाना, इहि तथ कथ्यो ग्यानी॥"

२ इस पद पर कबीर की भाषा पर फारसी और पजाबी का अत्यधिक प्रभाव देखा जा सकता है।

अलह रांम जिऊं तेरे नांईं,
बंदे ऊपरि मिहर करैं मेरे सांईं॥टेक॥
क्या ले माटी भुंइ सूं मारैं, क्या जल देह न्हवायें।
जार करैं मसकीन सतावैं, गूंन हीं रहै छिपायें॥
क्या तू जू जप मंजन कीयें, क्या मसीति सिर नांयें।
रोजा करैं निमाज गुजारैं, क्या हज कावै जांयें॥
ब्राह्मण ग्यारसि करैं चौबीसौं, काजी मरहम जांन।
ग्यारह मास जुदे क्यूं कीये, एकहि मांहि समांन॥
जौर खुदाइ मसीति वसत हैं, और मुलिक किस केरा।
तीरथ मूरति रांम निवासा, दुहु मैं किनहूं न हेरा॥
पूरिव दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकांमो।
दिल ही खोजि दिलै दिल, भींतरि, इहां रांम रहिमांनां॥
जेती औरति मरवां कहिये, सव मै रूप तुम्हारा।
कबीर पंगुड़ा अलह रांम का, हरि गुर पीर हमारा॥२५६॥

शब्दार्थ—अलह=अल्लाह। वन्दे=वन्दा, मनुष्य, भक्त। मिहर=कृपा। भुंई=भूमि। मसकीन=निर्मल। मसीति=मस्जिद। हज कावै=मुस्लिम समाज के तीर्थ स्थल। ग्यारसी=एकादशीव्रत। महरम=मुहर्रम। मुलिक=देश, स्थान। पगुड़ा=दास, भक्त।

हे प्रभु! मैं तो आप ही के समाश्रय से जीवन-धारण किय हुए हूं, अतः तुम कब मेरे ऊपर कृपा करोगे? जल मे स्नान करने और शरीर से भस्म लपेटने से क्या लाभ? इस सब ढोग को करते हुए तुम लोग निर्वल को सताते हो और अपने अवगुणो पर इन वाह्याडम्बरो का पर्दा डाले रहते हो। इस जप, तप, स्नान, ध्यान का क्या लाभ है और मस्जिद मे मत्था टेकने का क्या प्रयोजन है। रोजा रखे, नमाज पढे और हज कावा की धार्मिक यात्रा का, ब्राह्मण के वर्ष मे चौवीस एकादशी व्रत रखने का एवं काजी के मुहरम मनाने का कोई लाभ नही, यदि ये प्रत्येक जीव को, प्रत्येक मनुष्य को समान नही समझते। इतने दीर्घ समय तक दोनो भेद-भाव क्यो रखे रहे? हिन्दू-मुस्लिम दोनो समान है। जो ईश्वर केवल मस्जिद मे ही रहता है तो फिर अन्य संसार की अवस्थिति कैसे है? तीर्थ और पत्थर प्रतिमा दोनो मे ही भगवान वताते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनो मे से कही भी उसके दर्शन प्राप्त न हुए। मुस्लिम मानते है कि पश्चिम दिशा मे अल्लाह का निवास है, इसलिए वह उधर

ही मुंह करके नमाज पढ़ते है दूसरी ओर हिन्दू मानते है कि वह पूर्व में है, इसलिए पूर्व को मुख करके ही सन्ध्योपासना आदि कर्म करते है। अरे अज्ञानी जीव! अपने मन को खोज कर देख लो, ईश्वर वही स्थित है। हे प्रभु! ससार मे जितने भी स्त्री पुरुष है सबमें आपका स्वरूप विद्यमान है। कबीर तो परमेश्वर का दास हो गया है, वही उसका पीर, पैगम्बर, गुरु सर्वस्व है।

मैं बड़ मै बड़ मै बड़ मांटी,
मण दसना जट का दस गांठी ॥टेक॥
मै बाबा का जोध कहाऊं, अपणीं मारी गींद चलांऊं ॥
इनि अहंकार घणें घर घाले, नाचत कूदत जमपुरि चाले।
कहै कबीर करता की बाजी, एक पलक मै राज बिराजी ॥२६०॥

शब्दार्थ—सरल है।

मनुष्य अहं दर्प मे किसी को कुछ नही समझता, इसीलिए मदमस्त फूला-फूला फिरता है। मैं उस ईश्वर का अंश कहाकर भी अपने अह से परिचालित हो संसार मे भटकता फिरता हूँ। इस अहंकार ने बहुतों का सर्वनाश कर दिया और वे सांसारिक आकर्षणो में बधे हुए ही मृत्यु के गाल में चले गए। कबीर कहते है कि उस ईश्वर की माया बड़ी विचित्र है, वह एक क्षण मे ही कुछ से कुछ कर देते है।

काहे बीहो मेरे साथी, हूँ हाथी हरि केरा।
चौरासी लख जाके मुख मैं, सो च्यंत करैगा मेरा ॥टेक॥
कहौ कौंन षिवै कहौं कौंन गाजै, कहां थे पांणीं निंसरै।
ऐसी कला अनंत हैं जाकै, सो हंम कौं क्यूं बिसरै ॥
जिनि ब्रह्मंड रच्यौ बहु रचना, बाव बरन ससि सूरा।
पाइक पच पुहमि जाकै प्रकटै, सो क्यूं कहिए दूरा ॥
नैंन नासिका जिनि हरि सिरजे, दसन बसन बिधि काया।
साधू जन कौं सो क्यूं बिसरै, ऐसा है रांम राया ॥
को काहु का मरम न जांनै, मै सरनांगति तेरी।
कहै कबीर बाप रांम राया, दुरमति राखहु मेरी ॥२६१॥

शब्दार्थ—च्यत=चिन्ता। मुहपि=पृथ्वी। सिरजे=रचना की। दसन=दाँत। बसन=वस्त्र।

कवीर कहते है कि मेरा साथी कौन बनेगा? मैं प्रभु-भक्ति रस का मदमस्त हाथी हूं। जो सन्त चौरासी लाख योनियों की व्यथा को समझ प्रभु भक्ति मे लग गया है, वही मेरा साथी हो सकता है। यह बताओ कि कौन खाने और पीने की व्यवस्था करता है, जो वैठा ही बैठा अपनी अनन्त कलाओ से संसार की व्यवस्था करता है वह हमे कैसे भुला सकता है? जिस प्रभु ने सृष्टि की रचना कर वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, पचाग्नि, पृथ्वी का सृजन किया है वह दूर नही सर्वत्र परिव्याप्त

है। राजा राम बड़े दयालु हैं उन्होंने कितने सुन्दर नेत्र, नासिका आदि अंग-प्रत्यग की रचना की है वे भला दयालु राजा राम अपने भक्त को किस प्रकार विस्मृत कर सकते हैं।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आपका रहस्य कोई नही जानता मैं आपकी शरण चाहता हूँ। हे पिता परमेश्वर! आप मुझे सद्‌बुद्धि प्रदान कर मेरी रक्षा कर।

राग सोरठि

हरि को नांव न लेह गंवारा, क्या सोचै बारंबारा ॥टेक॥
पंच चोर गढ मंझा, गढ लूटैं दिवस र संझा ॥
जौ गढपति मुहकम होई, तौ लूटि सकै न कोई।
अंधियारे दीपक चहिए, तब बस्त अगोचर लहिये।
जब बस्त अगोचर पाई, तब दीपक रह्या समाई ॥
जौ दरसन देख्या चहिये, तौ दरपन मंजत रहिये।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई ॥
का पढ़िये का गुनियें, का वेद पुराना सुंनियें।
पढ़े गुनें मति होई, मै सहजै पाया सोई ॥
कहै कबीर मैं जांनां, मैं जांनां मन पतियानां।
पतियानां जौ न पतीजैं, तौ अंधे कूं का कीजै ॥२६२॥

शब्दार्थ—पंच चोर=पाँच विकार अथवा इन्द्रिय रूपी चोर। गढ=शरीर संध्या=शाम। काई=मैल, पाप। पतीजै=विश्वास करना।

हे अज्ञानी जीव! तू न जाने किस चिन्ता मे व्यस्त है जो प्रभु नाम का स्मरण नही करता। पाँच विकारों अथवा पच विषयो के चोर इस शरीर रूपी किले को अहर्निश लूट रहे हैं। यदि इस किले मे उसके स्वामी—प्रभु की ही अराधना हो तो कोई इसे लूट नही सकता। जब इस शरीर रूपी वस्ती मे ज्ञानदीप बुझकर अज्ञानाधकार हो जाता है तभी इसे चोर लूटते हैं। जब यह वस्ती—बुद्धि—अज्ञान तिमिर से परिपूर्ण होती है तो ज्ञान-दीप कही भी नही सूझता। जो तुम प्रभु का दर्शन प्राप्त करना चाहते हो तो इस हृदय रूपी दर्पण का परिष्कार करते हुए इसे उज्ज्वल रखो। जब दर्पण पर विषयो की काई जम जाती है तो प्रभु दर्शन नही होता। शास्त्र ग्रन्थो के पठन पाठन, श्रवण का कोई लाभ नही है, मैंने उस प्रभु को सहज साधना द्वारा प्राप्त कर लिया है। कबीर कहते है कि मैं उस परमेश्वर के रहस्य से परिचित हो गया हूँ और विश्वास सहित उन्हे अपने मन मे वसा लिया है। यदि कोई मेरा विश्वास नही करता तो उस अज्ञानान्ध मनुष्य का क्या वनाया जा सकता है।

अंधे हरि बिन को तेरा, कवन सूं कहत मेरो मेरा ॥टेक॥
तजि कुलाक्रम अभिमानां, झूठे तन की कहा भुलानां।
झूठे तन की कहा बडाई, जे निमष मांहि जरि जाई ॥

जब मन निरमल करि जानां, तब निरमल मांहि समानां ॥
ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई, अब हरि बिन और न कोई।
जब पाप पुंनि भ्रंम जारी, तब भयौ प्रकास मुरारी ॥
कहै कबीर हरि ऐसा, जहां जैसा तहां तैसा।
भूलै भरमि परै जिनि कोई, राजा रांम करै सो होई ॥२६३॥

शब्दार्थ—निमष=अत्यन्त अल्प काल। जिनि=मत।

हे अज्ञानांध नर! ईश्वर के विना तेरा कौन हितैषी है? तू किससे स्नेह सम्बन्ध जोड़ता है। कुलाभिमान एवं झूठे भ्रम का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। मिथ्या, मृण्मय शरीर का अभिमान क्या इसे नष्ट होते पल भी नही लगता। जब तक मन विषय-वासना मे पड़ा हुआ है, तब तक इस ससार से मुक्ति सम्भव नही। जब यह मन निर्मल हो जायेगा तभी उस शुद्ध स्वरूप ब्रह्म से भेंट सम्भव है। ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही सब कुछ है। प्रभु के विना अब मेरा और कोई अवलम्ब नही। जब पाप पुण्य और भ्रम की द्वैत भावना समाप्त हो गई तभी ज्योतिस्वरूप परमात्मा का प्रकाश विकीर्ण हुआ। कबीर कहते है कि वह प्रभु ऐसा अदभुत है कि कही कैसा है तो कही किसी और स्वरूप का। भूल कर भी किसी को ससार सशय में संलिप्त नही होना चाहिए। इस संसार में वही होता है जो प्रभु को स्वीकार है।

मन रे सर्यौ न एकौ काजा,
ताथैं भज्यौ न जगपति राजा ॥टेक॥

बेद पुरांन सुमृत गुन पढि पढि, पढि गुनि परम न पावा।
संध्या गाइत्री अरु षट करमा, तिन थैं दूरि बतावा ॥
बनखंडि जाई बहुत तप कीन्हां, कंद मूल खनि खावा।
ब्रह्म गियांनीं अधिक धियांनीं, जम कै पटै लिखावा ॥
रोजा किया निमाज गुजरी, बंग दे लोग सुनावा।
हिरदै कपट मिलै क्यूं सांईं, क्या हज काबै जावा ॥
पहर्‌यौ काल सकल जग ऊपरि, मांहि लिखे सब ग्यांनीं।
कहै कबीर ते भये षालसै, रांम भगति जिनि जांनी ॥२६४॥

शब्दार्थ—पटै=सूची दें।

हे मन! तुझसे प्रभु-भक्ति की साधना न हो सकी, तूने ससार में आकर और कुछ तो किया ही नही ईश्वर को भी नही भेजा। वेद, पुराण, स्मृति आदि धर्म-ग्रन्थ पढ़कर उस ईश्वर का रहस्य नही जाना जा सकता। संध्या, गायत्री-जप और वैधी भक्ति के अन्य कर्मों से वह प्रभु दूर ही दूर रहा। वन प्रदेश मे जाकर तपस्या करने, कन्द, मूल-फल खाने, ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का उपक्रम रचने अर्थात ध्यान धारण करने से मृत्यु को ही आमन्त्रित किया क्योंकि मन मे तो कपट भरा हुआ था। रोजा रखने, नमाज की उच्च ध्वनि लोगो को सुनाने और हज्ज करने का कोई लाभ

नही हुआ क्योकि हृदय मे तो कपट भरा हुआ था। कबीर कहते हैं कि मृत्यु ने अपनी सूची मे समस्त ससार को सम्मिलित कर लिया, केवल वही बच रहे जो प्रभु-भक्ति के रहस्य को जान कर उसमे प्रवृत्त हो गये थे।

मन रे जब तै रांम कह्यौ,
पीछै कहिबे कौं कछू न रह्यौ ॥टेक॥

का जोग जगि तप दांनां, जौ तै रांम नहीं जांनां ॥
कांम क्रोध दोऊ भारे, तार्थं गुरु प्रसादि सब जारे।
कहै कबीर भ्रम नासी, राजा रांम मिले अविनासी ॥२६५॥

शब्दार्थ—सरल हैं।

हे मन! जब से मैने राम-नाम जपा है तब से और कुछ वाणी का विषय संसार मे रह ही नही गया। योग साधना और जप-तप का क्या लाभ यदि राम नाम का रहस्य न समझ सके। काम और क्रोध दोनो जीवन को भारस्वरूप बना देते हैं किन्तु गुरुप्रसाद से वे समाप्त हो गये। कबीर कहते है कि माया-भ्रम के नाश होने पर अविनाशी प्रभु के दर्शन हो जाते है।

रांम राइ सो गति भई हमारी, मो पै छूटत नहीं संसारी ॥टेक॥

ज्यूं पंखी उड़ि जाइ अकासां, आस रही मन मांहीं।
छूटी न आस टूटयौ नहीं फंधा, उडिबौ लागौ कांहीं ॥
जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछू बनि आवै।
कुंजर ज्यूं कसतूरी का मृग, आपै आप बँधावै ॥
कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनियै देव मुरारी।
इत भभीत डरौं जम दूतनि, आये सरनि तुम्हारी ॥२६६॥

शब्दार्थ—पखी=पक्षी। फंधा=बंधन। कुंजर=हाथी। भभीत=भयभीत।

राम-नाम को न जपने से हमारी जो दुर्गति हो रही है वह अवर्णनीय है फिर भी मुझसे यह संसार छोड़ते नही बनता। जिस प्रकार पक्षी मन में प्राप्ति की इच्छा रखते हुए आकाश मे ऊंचा ही ऊचा उडता है उसी भाँति साँसारिक इच्छाएं और आशाएं तृप्त नहीं होती और मन ससार के माया-मोह मे भटकता रहता है। मैं जितने भी सुख के उपक्रम करता हू उनसे अन्तत: दुख ही मिलता है। जिस प्रकार कस्तूरी-मृग सुगन्धि को नाभि मे रखे हुए भी मस्त हाथी के समान उसकी खोज मे भटकता है उसी प्रकार मैं प्रभु के हृदयस्थ होते हुए भी आनन्द की खोज मे स्थान-स्थान पर भटक रहा हू। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ? ऐसी दयनीय स्थिति मे मेरा कुछ बस नही चलता और मैं मृत्यु, काल—गाल से भयभीत हुआ आपकी शरण मे आया हू, मेरी रक्षा करो।

विशेष—उदाहरण अलकार।

रांम राइ तूं ऐसा अनभूत अनुपम, तेरी अनभै थै निस्तरियै।
जे तुम्ह कृपा करौ जग जीवन, तौ कतहूं भूलि न परियै ॥टेक॥

हरि पद दुरलभ अगम अगोचर, कथिया गुर गमि बिचारा।
जा कारंनि हम ढूंढत फिरते, आथि भर्यो संसारा॥
प्रगटी जोति कपाट खोलि दिये, दगधे जंम दुख द्वारा।
प्रगटे बिस्वनाथ जगजीवन, मैं पाये करत बिचारा॥
देख्यत एक अनेक भाव है, लेखत जात अजाती।
बिह कौ देव तजि ढूंढत फिरते, मंडप पूजा पाती॥
कहै कबीर करुणांमय किया, देरी गलियां बहु बिस्तारा।
रांम कै नांव परंम पद पाया, छूटै बिघन बिकारा॥२६७॥

शब्दार्थ—निस्तरिये=पार होना। दगधे=नष्ट कर दिये। बिघन=बिघ्न। विकारा=दोष।

हे प्रभु! आप ऐसे अद्भुत, अनुपम है कि वर्णन नही किया जा सकता। आपकी कृपा से यह भवसागर नि.शंक पार किया जा सकता है। हे जगनाथ! यदि आप किसी पर कृपा करो तो वह कभी भी पथ-विचलित नही हो सकता। सद्गुरु ने अत्यन्त कठिनता से प्राप्त प्रभु-पद का मार्ग-दर्शन करा दिया जिससे मैने साधना द्वारा उसे खोजने का प्रयास किया और ससार को त्याग दिया। वह अनन्तप्रकाशवान् ज्योतिस्वरूप परमात्मा प्रकट हुआ और मेरे अज्ञान-कपाट खुल गये; जिससे मृत्यु एवं अन्य साँसारिक दुख नष्ट हो गये। निखिल सृष्टि के जीवनदाता विश्वम्भर को मैंने सतत साधना द्वारा प्राप्त किया है। उस प्रभु को देखकर हृदय में अनेक भावनाएं प्रकट हुईं, उनका वर्णन नही किया जा सकता ये साँसारिक लोग विश्वदेव को मण्डप-मन्दिर आदि में पूजा-पत्र आदि के माध्यम से खोजने का व्यर्थ उपक्रम करते है। कबीर कहते हैं कि उस करुणानिधान प्रभु का प्रसार सृष्टि के अणु-प्रति-अणु मे है। प्रभु-नाम से साँसारिक बाधाओ, व्यथाओ का अन्त हो कर परम-पद की प्राप्ति होती है।

रांम राइ को ऐसा बैरागी,
हरि भजि मगन रहै बिष त्यागी ॥टेक॥
ब्रह्मा एक जिनि सिष्टि उपाई, नांव कुलाल धराया।
बहु बिधि भांडै उनहीं घड़िया, प्रभू का अंत न पाया॥
तरवर एक नांनां बिधि फलिया, ताकै मूल न साखा।
भौजलि भूलि रह्या रे प्रांणीं, सौ फल कदे न चाखा॥
कहै कबीर गुर बचन हेत करि, और न दुनियां आथी।
माटी का तंन मांटीं मिलिहै, सबद गुरू का साथी॥२६८॥

शब्दार्थ—कुलाल=कुम्भकार। भांडै=बरतन, मनुष्य चटाई मूल=जड। भौजलि=संसार रूपी सागर का जल। हेत=प्रेम।

इस संसार मे प्रभु का ऐसा कौन सा प्रेमी है जो संसार से विरक्त रहे, विषय

वासनाओं का परित्याग कर ईश्वर-भक्ति मे तल्लीन रहे। परमेश्वर की लीला का रहस्य ज्ञानातीत है, उसने एक ब्रह्मा के द्वारा एक ही प्रकार के समान तत्वों से कुम्भकार के समान विविध घटरूपी जीव-सृष्टि का निर्माण कर दिया। प्रभु-भक्ति का मूल और शाखा विहीन वृक्ष अनेक प्रकार से सर्वत्र फूल रहा है किन्तु प्राणी ससार-जल, माया-मोह मे पडे हुए है और उस फल का आस्वादन नही करते। कबीर कहते है कि गुरु-वचनो से प्रेम कर शेष ससार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लो क्योकि यह मिट्टी निर्मित कलेवर मृत्युपरान्त मिट्टी मे ही मिल जायगा और केवल गुरु-उपदेश, ज्ञान ही उसका मार्ग प्रशस्त करेगा।

नैक निहारि हो माया वीनती करै,
दीन वचन बोलै कर जोरे, फुनि फुनि पाइ परै ॥टेक॥
कनक लेहु जेता मनि भावै, कांमनि लेहु मन-हरनीं।
पुत्र लेहु विद्या अधिकारी, राज लेहु सब धरनीं॥
अठि सिधि लेहु तुम्ह हरि के जनां नवै निधि है तुम्ह आगै।
सुर नर सकल भवन के भूपति, तेऊ लहै न मांगै॥
तै पापणीं सबै संघारे, काकौ काज सवार्‌यौ।
जिनि जिनि संग कियौ है तेरौ, को वेसासि न मार्‌यौ॥
दास कबीर रांम कै सरनै, छाड़ी झूठी माया।
गुर प्रसाद साध की संगति, तहां परम पद पाया॥२६९॥

शब्दार्थ—कनक=सोना, सम्पत्ति। कामनि=नारी। सघारे=मार डालते है। वेसासि=विश्वासी।

यहा कबीर प्रभु-भक्त की महिमा का वर्णन करके कहते हैं कि माया उसके सम्मुख दासी के समान वारम्बार दीन-वचन कहती हुई पैर पड़ती है। वह चाहे जितना स्वर्ण, धन, एव सुन्दरतम सुन्दरी को प्राप्त कर सकता है। विद्या-अधिकारी सुखदाता पुत्र, समस्त पृथ्वी का चक्रवर्ती राज्य एव आठ सिद्धि तथा नवों निधि का सुख उन्हे सहज प्राप्त है।

यह माया देव, मनुष्य, राजे-महाराजे सबको विमोहित करती है, किन्तु इस पापमयी से लाभान्वित कोई नही होता, सब उसके द्वारा विनष्ट हो जाते हैं। जिस व्यक्ति ने भी माया का साथ किया वह इसके विश्वासघात से मारा गया। भक्त कबीर ने प्रभु-शरण पाकर इस मिथ्या मोह-जाल को विदूरित कर दिया। गुरु उपदेश और साधु-सगति से उसे तो परम-पद की प्राप्ति हो गयी।

तुम्ह घरि जाहु हंमारी बहनां, विष लागै तुम्हारे नैनां ॥टेक॥
अंजन छाड़ि निरंजन राते, नां किसहीं का दैनां।
बलि जांउ ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक माइ एक बहनां॥
राती खांडी देखि कबीरा, देखि हमारा सिंगारौ।
सारग लोक थै हम चलि आई, करन कबीर भरतारौ॥

सर्ग लोक मै क्या दुख पड़िया, तुम्ह आईं कलि मांहीं।
जाति जुलाहा 'नाम कबीरा,' अजहूँ पतीजौ नांहीं॥
तहां जाहु जहाँ पाट पटंबर, अगर चंदन घसि लीनां।
आइ हमारे कहा करौगी, हम तौ जाति कमींनां॥
जिनि हंम साजे साज्य निवाजे, बांधे काचै धागै।
जे तुम्ह जतन करौ वहुतेरा, पांणीं आगि न लागै॥
साहिब मेरा लेखा मांगै, लेखा क्यूं करि दीजै।
जे तुम्ह जतन करौ वहुतेरा, तौ पांहण नीर न भीजै॥
जाकी मै मछी सो मेरा मछा, सो मेरा रखवालू।
टुक एक तुम्हारै हाथ लगाऊं, तौ राजा रांम रिसालू॥
जाति जुलाहा नांम कवीरा, वनि वनि फिरौं उदासी।
आसि पासि तुम्ह फिरि फिरि बै-ो, एक माउ एक मासी॥२७०॥

शब्दार्थ—पतीजै=विश्वास करना। पाहण=पत्थर। मछी=मछली। टुक=तनिके भी। रिसालू=क्रोधित होना।

कवीर दूसरी आत्माओ या माया-प्रलोभनों को सम्वोधित कर कहते है कि हे संसार-वासना मे लिप्त आत्माओ! तुम अपनी राह गहो, तुम्हारे नेत्र विषयों के विषय से आरक्त है।

मैं तो इस संसार को छोड़ प्रभु को भजता हू, मुझे किसी अन्य से कोई प्रयोजन नही है। मै उसकी वलिहारी जाता हू जिसने तुम्हें मेरी परीक्षार्थ प्रेषित किया है। मै तुम्हारे साथ विषय-लिप्त नही हो सकता तुम मेरे लिए माता और वहन तुल्य पूज्य हो। इस पर वे सुन्दरी आत्माए प्रत्युत्तर देती है कि हमारे शृंगार और सौन्दर्य को देखकर रात्रि की नीरवता मादक हो उठी है और हम स्वर्ग से कवीर—आपको—वरण करने आई हैं। कवीर उत्तर देते हैं कि स्वर्ग मे ऐसी कौन सी विपत्ति आ गई जो तुम इस कलियुगी ससार मे निकृष्ट जाति, जुलाहे कवीर को जो आज तक पथ-विचलित नही हुआ, वरण करने आई हो? तुम तो वहीं जाओ जहा वस्त्र की चमक दमक एव कस्तूरी चन्दन की सुगन्वित वायु हो हम जैसे निम्न-जाति जुलाहे के यहाँ आकर क्या करोगी? जिस स्वामी से हमने अपने दृढ, अचल प्रेम का कोमल तन्तु जोडा है, उसे चाहे तुम कितना भी प्रयत्न करो कभी भी विच्छिन्न नही कर सकती; भला पानी मे आग लगायी जा सकती है? तुम कहती हो कि ईश्वर ने मेरे कर्मो का लेखा मागा है किन्तु उससे क्या लाभ? जिस प्रकार अगणित प्रयत्न करने पर भी पत्थर पानी से गल नही सकता उसी भाति हमारे हिसाब मे पाप-कर्म नही मिल सकता। मेरी पवित्र आत्मा जिस मछेरे—प्रभु—की मछली है वही मेरा रक्षक है, यदि मैं तुम्हारा स्पर्श तक भी कर लूं तो मेरे स्वामी राम रुष्ट हो जायेगे। मेरी तो जुलाहे की निम्न जाति है और कवीर मेरा नाम है,

प्रभु की खोज में संसार से असम्पृक्त रहता हुआ वन-वन फिरता हूं। हे माया सुन्दरी! तुम कितना ही मेरे इर्द-गिर्द लगो, तुम मेरे लिए मातृ-तुल्य हो—तुम्हारा स्पर्श तक पाप-मय है।

विशेष—१ निदर्शना, दृष्टान्त, अनुप्रास, रूपकातिशयोक्ति आदि अलकार है।

२ कबीर जैसा उज्ज्वलमना व्यक्ति ही अपने चरित्र की शुद्धता को इतनी दृढता से कह सकता है। हमे उसे आत्मश्लाघा के रूप मे नही देखना चाहिए।

ताकूं रे कहा कीजै भाई, तजि अंमृत बिषै सूं ल्यौ लाई ।।टेक।।
बिष संग्रह कहा सुख पाया, रंचक सुख कौ जनम गंवाया।
मन बरजै चित कह्यौ न करई, सकति सनेह दीपक मैं परई ।।
कहत कबीर मोहि भगति उमाहा, कृत करणीं जाति भया जुलाहा ।।२७१।।

शब्दार्थ—ल्यौ=प्रेम। रचक=थोडा-सा। उमाहा=उत्साह।

कबीर कहते है कि उस व्यक्ति की क्या सहायता की जाय जो स्वय ही प्रभु-भक्ति के अमृत को छोड विषय-वासना मे पड़ा रहता है। इन विषयो के सुख से कोई स्थायी आनन्द लाभ नही होता, क्षणिक सुख के लिए जन्म यूं ही नष्ट कर दिया। बुद्धि (यहाँ मन का अर्थ बुद्धि एव चित्त का अर्थ हृदय, मन, होगा) मन को विषयो मे भटकने से वर्जित करती है किन्तु शलभ की भाँति दीपक में बारम्बार उड-उड कर पडता है। कबीर कहते है कि मैं तो भगवान् की भक्ति मे लग गया हूं, निम्न जुलाहा जाति का भी होकर श्रेष्ठ हो गया।

रे सुख इब मोहि बिष भरि लागा,
इनि सुख डहके मोटे मोटे छत्रपति राजा ।।टेक।।
उपजै बिनसै जाइ बिलाई, संपति काहू कै संगि न जाई।
धन जोबन गरब्यौ ससारा, यहु तन जरि बरि ह्वै है छारा ।।
चरन कवल मन राखि ले धीरा, रांम रमत सुख कहै कबीरा ।।२७२।।

शब्दार्थ—डहके=नष्ट कर दिये। छारा=क्षार, धूल।

कबीर कहते हैं कि यह सासारिक सुख अब मुझे विष तुल्य लगने लगा है, बड़े-बडे छत्रपति राजा इस आनन्द प्राप्ति की इच्छा मे नष्ट हो गये। यह साँसारिक सम्पत्ति उत्पन्न होती है और फिर क्षणिक स्थिति के पश्चात् समाप्त हो जाती है, किन्तु किसी के साथ नही जाती। धन और यौवन के सौन्दर्य का घमण्ड ससार व्यर्थ ही करता है, क्योकि यह तन भस्म होकर क्षण भर में क्षार मे परिवर्तित हो जायगा। हे मनुष्य! प्रभु के चरण-कमलो को अपने हृदय मे बसा ले, क्योकि राम-भक्ति मे अपरिमित स्थायी आनन्द है।

इब न रहूँ माटी के घर मै, इब मै जाइ रहूँ मिलि हरि मै ।।टेक।।
छिनहर घर अरु झिरहर टाटी, घन गरजत कंपै मेरी छाती।
दसवैं द्वारि लागि गई तारी, दूरि गवन आवन भयौ भारी ।।

चहुँ दिसि बैठे चारि पहरिया, जागत मुसि गये मोर नगरिया।
कहै कबीर सुनहु रे लोई, भांनड़ घड़ण संवारण सोई ॥२७३॥

शब्दार्थ—माटी के घर मैं=नश्वर संसार मे। छिनहर=नश्वर। झिरहर=जर्जर। मुसि गये=चुराकर ले गये। भांनड=नष्ट करना। घड़ण=रचना करना।

कबीर कहते है कि अब मै इस मिट्टी के अर्थात् मृण्मय संसार में नही रहूंगा, अब मै प्रभु के समीप जाकर रहूंगा। यह घर टूटा-फूटा है और इसमे जर्जर टट्टी लगी हुई है, जब कालरूपी घन गर्जन करता है, तब मुझे बहुत भय लगता है। दशम द्वार, ब्रह्मरन्ध्र, पर मेरी कुण्डलिनी पहुच गई है, अब मेरा आवागमन छूट गया। इस संसार में स्थिति तो ऐसी है कि चारों ओर मन बुद्धि, चित्त, अहंकार चार पहरेदार बैठे हुए होते हैं फिर भी काल रूपी चोर प्राण, जीवन को लूट कर ले जाता है। कबीर कहते है कि हे मनुष्यो ! अथवा कबीर अपनी शिष्या लोई को सम्बोधन कर कहते है कि वह ईश्वर ही सृजन, पोषण, सहार करने वाला है। इसमें मनुष्य का कोई वश नही।

विशेष—रूपक अलकार।

कबीरा बिगर्‌या रांम दुहाइ,
तुम्ह जिनि बिगरौ मेरे भाई ॥टेक॥
चंदन कै ढिग बिरष जु भैला, बिगरि बिगरि सो चंदन ह्वैला।
पारस कौं जे लोह छिवैगा, बिगरि बिगरि सो कंचन ह्वैला ॥
गंगा मै जे नीर मिलैगा, बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला।
कहै कबीर जे रांम कहेला, बिगरि बिगरि सो रांमहि ह्वैला ॥२७४॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर रामाश्रय से परिवर्तित हो गया है, हे भाइयो ! तुम क्यो नही परिवर्तित हो जाते। चन्दन के पास जो दूसरी जाति का वृक्ष होता है, धीरे-धीरे वह भी चन्दन की सुगन्ध से सुवासित हो चन्दन जैसा ही हो जाता है। जिस लोहे का स्पर्श पारस पत्थर से हो जाता है वह भी परिवर्तित हो स्वर्ण बन जाता है। गगा में गन्दे नाले का पानी मिलकर भी शुद्ध और पवित्र गगा-जल हो जाता है। कबीर कहते है कि जो राम कहेगा, राम को भजेगा वह भी राम तुल्य या तद्रूप हो जायेगा। ध्वनि यह भी है कि मै ससार मुक्त हू, मेरे सम्पर्क मे रहकर तुम भी मुक्त हो जाओ।

विशेष—तद्‌गुण अलकार।

रांम राइ भई बिकल मति मेरी,
कै यहु दुनीं दिवानीं तेरी ॥टेक॥
जे पूजा हरि नाही भावै, सो पूजनहार चढ़ावै।
जिहि पूजा हरि भल मानं, सो पूजनहार न जांनं ॥
भाव प्रेम की पूजा, ताथैं भयौ देव थैं दूजा।
का कीजै बहुत पसारा, पूजी जै पूजनहारा ॥

कहै कबीर मै गावा, मैं गावा आप लखावा।
जे इहि पद मांहि समांनां, सो पूजनहार सयांनां ॥२७५॥

शब्दार्थ—सरल है।

हे प्रभु राम ! आपके प्रेमी माने जाने वाले जग को देखकर मेरी चेतना विशृंखलित हो रही है। जो पुजापा प्रभु को रुचिकर नहीं ये आराधक उसे ही आपकी भेंट चढाते है एवं वे जिस पूजा से प्रसन्न होते है पूजक उससे परिचित नहीं। प्रेम-भावसहित प्रभु की पूजा करने से साधक, भक्त, प्रभुरूप ही हो जाता है। इन व्यर्थ के पूजाडम्बर से क्या लाभ ? पूजा तो वही श्रेष्ठ है जिससे इष्ट प्रसन्न हो। कबीर कहते है कि मैंने प्रभु-भक्ति का रहस्य गा दिया। जो भक्त इस पद द्वारा निर्देशित भक्ति भाव से आराधन करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं।

राम राइ भई बिगूचनि भारी,
भले इन ग्यांनियन थें संसारी ॥टेक॥
इक तप तीरथ औगांहैं, इक मांनि महातम चाहैं।
इक मैं मेरी मैं बीझैं, इक अहंमेव मैं रीझैं॥
इक कथि कथि भरम लगांवैं, संमिता सी वस्त न पांवैं।
कहै कबीर का कीजै, हरि सूझै सो अजन दीजै ॥२७६॥

शब्दार्थ—बिगूचनि=विडम्बना। अहमेव=अहंकार। रीझै=प्रसन्न होना। अजन=काजल, सद्बुद्धि से तात्पर्य है।

हे प्रभु ! कैसी विडम्बना है कि इन ज्ञानियो से संसारी गृहस्थ ही श्रेष्ठ है। गृहस्थ तो तपस्या और तीर्थादि के ही विश्वासी होते है किन्तु ज्ञानी तो आत्म-पूजा के भूखे है। गृहस्थ ममत्व-परत्व की भावना से मुक्त नही हो पाता तो ये सर्वथा अहं दभ मे चूर रहते है। ससारी इधर उधर प्रेम की बातें सुनता है, ये ज्ञानी अपनी व्यर्थ की चकित करने वाली बातो से ही दूसरो को रिझाते है। कबीर कहते है कि ज्ञानियो का क्या उपकार किया जा सकता है। जिससे इन्हे सद्बुद्धि प्राप्त हो हे प्रभु ! आप इन्हे वही भक्ति का अजन दीजिए।

काया मंजसि कौन गुनां, घट भीतरि है मलनां ॥टेक॥
जौ तूं हिरदै सुध मन ग्यांनीं, तौ कहा बिरोलै पांनीं।
तूंबी अठसठि तीरत न्हाई, कड़वापण तऊ न जाई॥
कहै कबीर बिचारी, भवसागर तारि मुरारी ॥२७७॥

शब्दार्थ—मजसि=शुद्ध करना। विरोलै=बिखेरना।

कबीर कहते है कि शरीर-शुद्धि के साथ-साथ हृदय की शुद्धि वांछनीय है। इसलिए शरीर को मलने से क्या लाभ ? भीतर मन—हृदय—भी तो स्वच्छ करना चाहिए। हे ज्ञानी ! यदि तुम्हारा हृदय शुद्ध है तो यह पानी बखेरने से कोई लाभ नही। इस शरीर रूपी तू बी को अढ़सठ तीर्थों का स्नान कराने से, जब तक मन की

शुद्धता नही कोई लाभ नही। कबीर विचार कर कहते है कि हे प्रभु! आप अब इस ससार सिन्धु से पार उतार दो, आपके अतिरिक्त कोई आश्रय नही।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

कैसै तूं हरि कौ दास कहायौ,
करि बहु भेषर जनम गंवायौ ॥टेक॥

सुध बुध होइ भज्यौ नहि सांई, काछ्यौ ड्यंभ उदर कै तांई।
हिरदै कपट हरि सूं नही साचौ, कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ॥
झूठे फोकट कलू मंझारा, रांम कहै ते दास नियारा।
भगति नारदी मगन सरीरा, इह बिधि भव तिरि कहै कबीरा ॥२७८॥

शब्दार्थ—सांई=स्वामी, प्रभु।

हे मनुष्य! तू क्यो व्यर्थ प्रभु का भक्त कहाता है, अन्य प्रलोभनों मे पडे हुए तूने अपना जीवन व्यर्थ व्यतीत कर दिया। बुद्धि होते हुए भी तूने प्रभु का भजन नही किया और उदरपूर्ति तथा कामना पूर्ति मे लगा रहा। यदि हृदय शुद्ध नही तो व्यर्थ मे मुंह से 'अलख निरजन' का नारा लगाने से क्या लाभ? मिथ्या-सासारिक प्रपचो में प्रभु-भक्त का मन नही उलझता। भक्ति तो नारद के समान तल्लीन होकर करनी चाहिए। इस ससार से तरने का एकमात्र उपाय यही है।

विशेष—भगति नारदी—से यहाँ तात्पर्य नारद-भक्ति सूत्र मे वर्णित भक्ति के प्रकार से नही है, किन्तु यदि हम उस अर्थ को भी ग्रहण करना चाहे तो कोई आपत्ति नही होगी क्योकि 'नारद भक्तिसूत्र' मे भक्ति-वर्णन कबीर-विचारधारा के अनुकल ही है, यथा—

"सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।"
"अमृतस्वरूपा च।"
"तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे हरमव्याकुलतेति।"

रांम राइ इहि सेवा भल मांनै,
जै कोई रांम नांम तम जांनै ॥टेक॥

रे नर कहा पषालै काया, सो तन चीन्हि जहां थैं आया।
कहा बिभूति जटा पट बांधें, का जल पैसि हुतासन साधें॥
र रांम मां दोई अखिर सारा, कहै कबीर तिहुँ लोक पियारा ॥२७९॥

शब्दार्थ—पषालै=शुद्ध करना। चीन्हि=पहचानना। पैसि=प्रवेश करना। हुतासन=जग।

प्रभु भक्ति-भाव से ही प्रसन्न रहते है अतः जो भी राम नाम का रहस्य जान प्रेमपूर्वक प्रभु-सेवा करता है उसे प्रभु प्रेम करते है। हे मानव! इस शरीर को वारम्वार धोने से क्या? इस शरीर की आसक्ति को त्याग अपने वास्तविक लोक—प्रभु मे चित्तवृत्तियाँ लगा। जटा धारण कर, कन्था पहन, विभूति लगा कर, अग्नि मे

तपने से कोई लाभ नही। 'राम' नाम के दो अक्षरों में ही समस्त संसार का ज्ञान समाहित है, यह राम नाम समस्त संसार को प्रिय है।

इहि विधि राम सूं ल्यौ लाइ।
चरन पावें निरति करि, जिभ्या बिना गुंण गाइ ॥टेक॥

जहां स्वांति बूंद न सीप साइर, सहजि मोती होइ।
उन मोतियन मैं नीर पोयौ, पवन अंबर धोइ ॥
जहां धरनि बरषै गगन भीजै, चंद सूरज मेल।
दोइ मिलि तहां जुड़न लागे, करत हंसा केलि ॥
एक विरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बनराइ ॥
जहां विछट्यौ तहां लाग्यौ, गगन बैठो जाई।
जन कबीर बटाऊवा, जिनि मारग लियौ चाइ ॥२८०॥

शब्दार्थ—साइर=सागर। पोयौ=पिरोना। हंसा=मन रूपी हंस। पंच सुवटा=पाँचो इन्द्रियाँ। चाइ=खोजना।

हे साधक! सहज-समाधि द्वारा प्रभु में इस प्रकार अनुरक्त हो कि तू वहाँ—प्रभु के पास बिना चरणों की गति के ही पहुँच जाए और जिह्वा के उच्चारण बिना ही अनहद ध्वनि द्वारा प्रभु गुण-गान करता रहे। जहां स्वाति नक्षत्र के जल और सीप के सयोग के बिना ही शून्य तट पर मोती बिखरे हुए हों। उन मोतियो को शून्यलोक मे प्राणायाम साधना द्वारा आत्मा को पहुँचा दिया जाए। वहाँ इडा-पिंगला के संयोग से ब्रह्मरन्ध्र पर कुण्डलिनी के विस्फोट करने से अमृत-वर्षा होती है। जहां सुरति निरति का समन्वय हो जाता है वहां मुक्तात्मा आनन्द-लाभ करने लगती है। इस साधना तरु पर अमृत-वर्षा से एक नदी बह चली जिसमें समस्त स्वर्ण, धन आदि के सासारिक प्रलोभन डूब गये। पाँचो ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति वहीं केन्द्रित हो गई जिससे अमित आनन्द का जन्म हुआ। वहाँ सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है और जिधर मन की रुचि हो, वही शून्य स्थल पर आत्मा मुक्त-विहार करती है। कबीर जैसे भक्त ने प्रभु दर्शन का यह मार्ग खोज निकाला है।

विशेष—विभावना, विरोधाभास, अनुप्रास, रूपकातिशयोक्ति, रूपक आदि अलकार स्वाभाविक रूप से आ गये है।

तायैं मोहि नाचिबौ न आवै, मेरौ मन मंदलान बजावै ॥टेक॥

ऊभर था ते सूभर भरिया, त्रिष्णा गागरि फूटी।
हरि चिंतन मेरौ मंदला भीनौं, भरम भोयन गयौ छूटी ॥
ब्रह्म अगनि मैं जरी जु ममिता, पाषंड अरू अभिमानां।
काम चोलनां भया पुराना मोपै होइ न आना ॥
जे बहु रूप किये ते कीये, अब बहु रूप न होई।
थाकी सौंज संग के बिछुरे, रांम नांम मसि धोई ॥

जे थे सचल अचल ह्वै थाके, करते बाद बिवादं।
कहै कबीर मै पूरा पाया, भया रांम परसादं ॥२८१॥

शब्दार्थ—मदलान्=ढपरी। भरम भोयन=ससार से प्राप्त भ्रम। मसि=स्याही, कलंक। हरसाद=प्रसन्नता कृपा।

कबीर कहते है कि मेरा मन प्रभु भक्ति की ढपली पर ही अपना राग अलापता है, इसीलिए मुझसे ससार के प्रपचो मे नही पडा जाता। मैं प्रभु-भक्ति करने से पूर्व पतित था, किन्तु अब शुद्ध हो गया हू और मेरी ससार-तृष्णा की गगरी फूट गई है। प्रभु का स्मरण करते हुए मेरी ढपली भी भक्ति के सुन्दर स्वर निसृत करने लगी है जिससे मेरा ससार-सशय विदूरित हो गया। ज्योतिस्वरूप परमात्मा के दर्शन से ममता, पाखण्ड और अभिमान जलकर विनष्ट हो गये। अब यह शरीर विषय-वासना जर्जर हो गया है, अत. अब मैं पुन. जन्म धारण करने की व्यथा सहन नही कर सकता। जो कुछ जन्म ग्रहण करने थे कर चुका। अब तो तत्व-विश्लेषण द्वारा जो चंचल-बुद्धि थे वे भी स्थिर मति हो गये, सगी साथी विछुड चुके है और समस्त साज भी थक गये है, राम नाम ने कलँक कालिमा को धो डाला है। कबीर कहते है कि मैं पूर्ण परमात्मा को पाकर राम भक्त वन गया हू।

अब क्या कीजै ग्यांन बिचारा, निज निरखत गत ब्यौहारा ॥टेक॥
जाचिग दाता इक पाया, धन दिया जाइ न खाया।
कोई ले भरि सकै न मूका, औरनि पैं जानां चूका॥
तिस बाझ न जीव्या जाई, वो मिलै त घालै खाई।
वो जीवन भला कहाई, बिन मूंवां जीवन नांहीं॥
घसि चंदन बनखंडि बारा, बिन नैननि रूप निहारा।
तिहि पूत बाप इक जाया, बिन ठाहर नगर बसाया॥
को जीवत ही मरि जांनै, तौ पंच सयल सुख मांनै।
कहै कबीर सो पाया, प्रभु भेटत आप गंवाया ॥२८२॥

शब्दार्थ—जाचिग=याचक। बाध=वन्ध्या। बारा=जला देना।

कबीर कहते है कि आत्म चरित्र को विचार कर देख लो, ज्ञान प्राप्ति की बात करने से अब क्या प्रयोजन? मुझ जैसे याचक ने प्रभु रूप दाता को प्राप्त कर लिया है जिसने भक्ति का ऐसा भरपूर धन दिया है जो किसी से समाप्त नही हो सकता। अन्य कोई इस सामान्य धन की नाई चुराना चाहे तो वह भी सम्भव नही है। इसे माया रूपी वन्ध्या भी समाप्त नही कर सकती। उल्टे यदि वह सामने पड गई तो भक्ति माया को समाप्त कर देगी। प्रभु-भक्ति का जीवन श्रेष्ठ है, जब तक जीते जी मरा नही जाता अर्थात् जीवन्मुक्त नही हुआ जाता तब तक जीवन की सार्थकता कहां? भक्ति के शीतल चन्दन को घिस कर विषय-वासना वन को समाप्त कर दिया एव बिना नेत्रो की सहायता के समाधि मे प्रभु-दर्शन प्राप्त कर लिए। ईश्वर

ने अपने अनुरूप भक्त का सृजन कर इस ससार मे वसा दिया है। कवीर कहते हैं कि उस ब्रह्म की प्राप्ति पर आत्म-विस्मृति हो जाती है।

विशेष—विरोधाभास, विभावना, अनुप्रास आदि अलकार इस पद मे प्रयुक्त हुए है।

अब मैं पायौ राजा रांम सनेही, जा बिन दुख पावै मेरी देही ॥टेक॥
बेद पुरान कहत जाकी साखी, तीरथि ब्रति न छूटै जंम की पासी ॥
जाथैं जनम लहत नर आगैं, पाप पुनि दोऊ भ्रम लागैं।
कहै कबीर सोई तत जागा, मन भया मगन प्रेम सर लागा ॥२८३॥

शब्दार्थ—साखी=साथी।

अब मैने परम प्रेमी परमात्मा को प्राप्त कर लिया है जिनके विना मन व्यथा-पूर्ण था। वेद-पुराण आदि शास्त्र ग्रन्थ जिस परम पुरुष की साक्षी देते है वह प्राप्त हो गया है। उसकी भक्ति से ही सब कुछ सम्भव है। तीर्थ, व्रत आदि वाह्याडम्बरो से तो मृत्यु वधन से मुक्त नही हुआ जा सकता। जिस पाप-पुण्य के पचड़े में पड़ा मनुष्य आवागमन मे पडता है ईश्वर-दर्शन से वह समाप्त हो गया। कवीर कहते हैं कि वही अनुपम ब्रह्म मुझे प्राप्त हो गया हैं। प्रभु प्रेम का वाण लगते ही मन ईश्वर भक्ति में रम गया।

विरहिनी फिरै है नाथ अधीरा।
उपजि बिनां कछू समझि न परई, बांझ न जांनै पीरा ॥टेक॥
या बड़ बिथा सोई भल जांनै, रांम बिरह सर मारी।
कैसो जांनै जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी ॥
संग की बिछरी मिलन न पावै, सोच करै अरु काहै।
जतन करै अरू जुगति बिचारैं, रटै रांम कूं चाहै ॥
दीन भई बूझै सखियन कौं, कोई मोहि राम मिलावै।
दास कबीर मीन ज्यूं तलपै, मिलै भलै सचुपावै ॥२८४॥

शब्दार्थ—उपजि बिना—विरह-व्यथा के बिना।

विशेष—उपमा अलकार।

प्रभु-प्रेम-व्यथा का अनुभव जिसे न हो वह भला उनके प्रेम का रहस्य कैसे जान सकता है? विरहिणी आत्मा तो उस प्रिय के विरह मे व्याकुल घूम रही है किन्तु जिसके यह वेदना उत्पन्न नही होती वह इस तत्व को नही समझता, भला वन्ध्या को प्रसव वेदना का क्या भान होगा? राम प्रेम वाण से आहत की पीड़ा को कोई सम-दुखभोगी ही जान सकता है। आत्मा परमात्मा मे नही मिल पा रही है इस वेदना का ज्ञान तो प्रभु-विरही को ही हो सकता है। ये विरही जन अपनी व्यथा-शमन का कुछ ध्यान न करते हुए केवल प्रभु नाम का स्मरण करते है एवं साथियो से अत्यन्त दीन भावयुक्त वचनो से राम से मिलने की प्रार्थना करते है। कबीरदास जी कहते हैं

कि ऐसे भक्त जन अहर्निशि प्रभु-वियोग मे मछली के समान् तडपते है और ईश्वर के पाने पर ही शान्ति लाभ कर सकते है ।

जातनि बेद न जांनैगा जन सोई,
सारा भरम न जांनें रांम कोई ।।टेक।।
चषि बिन दिवस जिसी है संझा, ब्यावन पीर न जांनै बंझा ।
सूझै करक न लागै कारी, बैद बिधाता करि मोहि सारी ।।
कहै कबीर यहु दुख कासनि कहिये,
अपनें तन की आप ही सहिये ।।२८५।।

शब्दार्थ—चषि=नेत्र । संझा=सध्या, अन्धकारपूर्ण ।

कबीर कहते है कि प्रभु-विरोधी की वेदना को समझने वाला तो कोई सम-दुखभोगी ही हो सकता है । इस ससार-भ्रम मे और किसी की सामर्थ्य नही कि उसकी वेदना का अनुमान कर सके । बिना नेत्रो के तो रात्रि भी दिवस के समान प्रकाशपूर्ण है, उसी प्रकार बाँझ को प्रसव वेदना का अनुभव नही होता । क्योकि उसे कोई पीडा नही होती इसलिए वह दूसरो की पीडा से अनभिज्ञ है । राम वियोगी का उपचार तो वैद्य सांवलिया द्वारा ही हो सकता है । कबीर कहते है कि मैं अपनी व्यथा का किससे कथन करूँ, स्वय ही इस वेदना को सहन करना होगा ।

विशेष—निदर्शना अलकार ।

जन की पीर हो राजा रांम भल जांनै,
कहूँ काहि को मांनै ।।टेक।।
नैन का दुख बैन जांनै, बैन का दुख श्रवनां ।
प्यंड का दुख प्रांन जांनै, प्यास का दुख मरनां ।।
आस का दुख प्यासा जांनै, प्यास का दुख नीर ।
भगति का दुख रांम जांनै, कहै दास कबीर ।।२८६।।

शब्दार्थ—सरल है ।

कबीरदास जी यह प्रतिपादित करते है कि भगवान् भक्त की वेदना से भली भाँति परिचित होते है, वे उसका किसी से अन्यथा वर्णन सुनकर कैसे विश्वास करेंगे । जिस भांति नेत्रो के दुख का आत्मा को, मृत्यु-दुख का प्राणो, आशान्वित के दुख को तृषित और तृषित के दुख को जल जानता है, उसी भानि भक्त के दुख का केवल स्वामी को ही अनुभव होता है—ऐसा कबीरदास का मत है ।

विशेष—असगति अलकार ।

तुम्ह बिन रांम कवन सौं कहिये,
लागी चोट बहुत दुख सहिये ।।टेक।।
बेध्यौ जीव बिरह कै भालै, राति दिवस मेरे उर सालै ।
को जांनै मेरे तन की पीरा, सतगुर सबद बहि गयौ सरीरा ।।

तुम्ह से बैद न हमसे रोगी, उपजी बिथा कैसै जीवै वियोगी।
निस वासुरि मोहि चितवत जाई, अजहूँ न आइ मिले रांम राई॥
कहत कबीर हमकौं दुख भारी, बिन दरसन क्यूं जीवहि मुरारी॥२८७॥

शब्दार्थ—निस वासुरि=रात दिन।

हे राम! आपके अतिरिक्त अपनी व्यथा कथा किससे कहे, हृदय मे आपके प्रेम का घाव हो रहा है—इस वेदना को किस भाति सहन करे? मेरी आत्मा को आपके विरह के भाले ने वेध रखा है जो अहर्निशि मुझे पीडा देती है। मेरे रोम प्रति रोम मे गुरु-उपदेश वह रहा है, मेरी पीडा का अनुमान कौन कर सकता है? हे प्रभु! कोई आप सरीखा चिकित्सक और हम जैसा इस रोग का रोगी भी नही मिलेगा, अत मेरी वेदना का निदान करो। मैं रात-दिन व्याकुलतापूर्वक प्रभु का मार्ग तकता हू किन्तु अब तक स्वामी की प्राप्ति नही हुई। कबीर कहते है कि दीनदयाल! मुझे बडी वेदना हो रही है, आपके दर्शन के अभाव मे जीवन भार हो गया है।

तेरा हरि नांमै जुलाहा, मेरै रांम रमण का लाहा॥टेक॥
दस सै सूत्र की पुरिया पूरी, चंद सूर दोइ साखी।
अनत नांव गिनि लई मंजूरी, हिरदा कवल मै राखी॥
सुरति सुमृति दोइ खूंटी कीन्ही, आरंभ कीया बनेकी।
ग्यांन तत की नली भराई, बुनित आतमां पेषी॥
अविनासी धंन लई मंजूरी, पूरी थापनि पाई।
रन बन सोधि सोधि सब आये, निकटै दिया बताई॥
मन सूधा कौ कूच कियौ है, ग्यांन बिथरनी पाई।
जीव की गांठि गुढी सब भागी, जहां की तहां ल्यो लाई॥
बैठि बेगारि बुराई थाकी, अनभै पद परकासा।
दास कबीर बुनत सचु पाया, दुख संसार सब नासा॥२८८॥

शब्दार्थ—चन्द सूर=इडा पिंगला से तात्पर्य है। बिथरनी=वैतरणी। अनभै=निर्भीक होना। सचु=सुख। नासा=नष्ट हो गया।

कबीर कहते है कि प्रभु! मैं जुलाहा हू, आपके नाम के सूत का वस्त्र बुनता हू। मैंने आपका भक्ति वस्त्र बुनने के लिए दस सहस्र 'पुरिया' को पूर कर इड़ा-पिंगला नामक सखी को सहायक रूप से साथ लिया है। आपके अनन्त नामो का उच्चारण कर मैने अपनी मजदूरी प्राप्त कर ली जिसे मैंने हृदय मे सजोकर रख रखा है। सुरति, निरति की खूटी बनाकर आपके नाम का जप प्रारम्भ कर दिया एव ज्ञान तत्व से कली भरकर आत्मा ने बुनने का कार्य सम्पूर्ण किया। थान को पूरा कर मैंने अविनाशी प्रभु को ही अपनी बनाई के रूप मे प्राप्त कर लिया। सब लोग उस परमात्मा को दूर-दूर वन-प्रान्तर मे खोज चुके थे, किन्तु हमने तो उसे अत्यन्त निकट—हृदय मे ही—प्राप्त कर लिया। ज्ञान वैतरणी प्राप्त कर मन ने

सीधा उस लक्ष्य प्रभु की ओर ही प्रस्थान कर दिया है। जीव की विषय-वासना, समाप्त हो गई और उसकी वृत्तियां प्रभु मे केन्द्रीभूत हो गई। समाधि मे बैठकर उस परमपद के दर्शन प्राप्त किये। कबीर कहते है कि इस भक्ति वस्त्र को बुनने में हमे अमित आनन्द प्राप्त होता है और संसार का समस्त दुख समाप्त हो जाता है।

विशेष—सागरूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलकार।

भाई रे सकहु त तनि बुनि लेहु रे,
पीछै रांमहि दोस न देहु रे ॥टेक॥
करगहि एक बिनांनी, ता भींतरि पंच परांनीं।
तामै एक उदासी, तिहि तणि बुणि सबै बिनासी ॥
जे तूं चौसठि बरियां धावा, नहीं होइ पंच सूं मिलावा।
जे तै पांसै छसै तांणीं, तौ तूं सुख सूं रहै परांणीं ॥
पहली तणियां तांणां, पीछै बुणियां बांणां।
तणि बुणि मुरतब कीन्हां, तब रांम राइ पूरा दीन्हां ॥
राछ भरत भइ संझा, तारुणीं त्रिया मन बंधा।
कहै कबीर बिचारी, अब छोछी नली हंमारी ॥२८९॥

शब्दार्थ—करगहि=करघे मे। पच परानी=काम, क्रोध आदि पाँच विकार मुरतव=भक्ति से तात्पर्य है।

कबीर कहते है कि यदि सत्कर्मो अथवा भक्ति का थान अब बुनना चाहते हो तो बुन लो, फिर प्रभु को दोष मत देना कि हमे यह अवसर प्रदान न किया। एक शरीर रूपी करघे के भीतर क्रोध, मद, लोभ, मोह रूपी पाच प्राणियो का निवास है। उसमे आत्मा भी स्थित है जो ससार से असम्पृक्त है। उस आत्मा, मन मे यदि तुम चौसठ वार प्राणायाम द्वारा अपनी वृत्ति रमा दो तो फिर पाचों से मिलन नहीं होगा, आत्मा शुद्ध पवित्र रहेगी। यदि तु अपनी वृत्तियो पर अकुश रखेगा तो सुख का अनुभव करेगा। पहले इन्द्रियो को वश मे कर उनका ताना वनाकर ही प्रभु भक्ति रूपी थान का निर्माण हो सकता है। जव साधक तन मन पर नियन्त्रण कर भक्ति मे लग जाता है तो राजा राम—प्रभु—उसे दर्शन देते है। कबीर कहते हैं कि यदि मन सुन्दरी—काम वासना—मे पड़ जाय तो अज्ञानांधकार छा जाता है। इसीलिए अव मेरी गति तो सुषुम्णा (छोटी नली) मे ही केन्द्रीभूत हो गई है।

विशेष—रूपक अलंकार।

वै क्यूं कासी तजे मुरारी, तेरी सेवा चोर भये वनवारी ॥टेक॥
जोगी जती तपी संन्यासी, मठ देवल बसि परसै कासी।
तीन बार जे नित प्रति न्हांवै, काया भीतरि खवरि न पावै ॥
देवल देवल फेरी देहीं, नांव निरंजन कबहूँ न लेहीं।
चरन बिरद कासी कौं न देहूं, कहै कबीर भल नरकहि जैहूं ॥२९०॥

शब्दार्थ—देवल = मन्दिर । बिरद = यश ।

हे प्रभु जो भक्त काशी मे साधना के लिये आते है वे उनका परित्याग क्यो करे, क्योकि आपकी भक्ति से चोर भी भक्त हो तद्रूप हो गये हैं । योगी, यति, तपस्वी एव सन्यासी मन्दिर और मठो मे ही आपको देखने का प्रयास करते है वे भला जो साधक तीन-तीन बार स्नान कर केवल बाह्य-शुद्धि मे ही लगे रहते हैं । वे हृदयस्थित ब्रह्म से कैसे परिचित हो सकते हैं । हे मूर्ख साधक ! तुमने व्यर्थ शरीर को मन्दिर प्रति मन्दिर के द्वार पर घुमाया और ज्योतिरूप अलख निरञ्जन ब्रह्म को कभी नही भजा ।

कबीर कहते है कि केवल प्रभु-मूर्ति के चरणों से वरदान पाने की आशा मे काशी मे रहने की अपेक्षा नरक मे जाना अधिक श्रेयस्कर है ।

विशेष—वीप्सा अलकार ।

> तब काहे भूलौ बनजारे, अब आयौ चाहै संगि हमारे ।।टेक।।
> जब हम बनजी लौंग सुपारी, तब तुम्ह काहे बनजी खारी ।
> जब हम बनजी परमल कसतूरी, तब तुम्ह काहे बनजी कूरी ।।
> अमृत छाड़ि हलाहल खाया, लाभ लाभ करि मूल गँवाया ।
> कहै कबीर हंम बनज्या सोई, जाथै आवागमन न होई ।।२६१।।

शब्दार्थ—परमल = सुगध । हलाहल—विप । जाथै = जिससे ।

कबीर कहते हैं कि हे साधक ! यदि तुम भक्ति मार्ग मे हमारे साथी बनना चाहते हो तो क्यो इस ससार की विपय-वासना मे पडे हुए हो ? जब हम प्रभु-भक्ति द्वारा लौंग सुपारी तुल्य मीठे बन गये है तो तुम माया-मोह मे पडे खारे क्यो बने रहे ? जब हम प्रभु-भक्ति द्वारा कस्तूरी सुगन्ध की भाँति सुवासित हो गये तो तुम कूडे सदृश अपने पाप कर्मो से बने रहे । तुमने विपय-वासना सेवन से भक्ति-अमृत को छोड वासना विप का सेवन किया और इस प्रकार लाभाशा से मूलधन—पूर्व सचित सत्कर्म—को भी गवा दिया । कबीर कहते है कि यदि तुम मुझ जैसे ईश्वर-भक्त और संसार से असम्पृक्त हो जाओ तो जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाओगे ।

> परम गुर देखौ रिदै बिचारी, कछू करौ सहाइ हंमारी ।।टेक।।
> लवानालि तति एक संमि करि, जंत्र एक भल साजा ।
> सति असति कछू नहीं जानूं, जैसै बजावा तैसै बाजा ।।
> चोर तुम्हारा तुम्हारी आग्या, मुसियत नगर तुम्हारा ।
> इनके गुनह हमह का पकरौ, का अपराध हमारा ।।
> सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहीं जांनां ।
> ज्यूं जल मै जल पैसि न निकसै, कहै कबीर मन मानां ।।२६२।।

शब्दार्थ—रिदै = हृदय मे । मुसियत = चोरी करता है ।

कबीर यहाँ सद्गुरु को सम्बोधित कर कहते है कि हे गुरुवर ! तनिक हमारी दीन-दशा को चित्त में विचार कर तो देखो और कुछ तो हमारी सहायता कीजिए। लावा और ततु की सहायता से भक्ति रूपी एक यन्त्र का निर्माण किया है, किन्तु मैं इसके बजाने की विधि पाप-पुण्य (सद्सद्) से अवगत नही हूं जैसे मन मे आता है वैसे ही इसे वजा लेता हूं।

भाव यह है कि गुरुवर आप साधना मे मेरा पथ-निर्देश कीजिए। वास्तव मे यह अज्ञान रूपी चोर आपसे वचकर आपके भक्त की भक्ति-विषयक भावनाओ को नष्ट कर रहा हैं। मैं भला आपके बिना अज्ञान से कैसे मुक्ति पा सकूगा, अत हे प्रभु ! मेरा कौन-सा अपराध है जो आप मुझे इससे मुक्त नही करते ? कबीर कहते है कि हे प्रभु ! अब तो मन मे यह विश्वास हो गया है कि हम और आप एक है, द्वैत भ्रम है। वस्तुतः प्रभु ! आपके रहस्य मे पडकर कोई उसी प्रकार नहीं निकल पाता जिस भाँति जल मे डूबा हुआ नही निकल पाता।

विशेष—१. रूपक एवं उपमा अलकार।

२. अद्वैतवाद का सुन्दर एव प्रभावोत्पादक प्रतिपादन है।

> **मन रे आइर कहां गयौ, तार्थे मोहि बैराग भयौ ॥टेक॥**
> **पंच तत ले काया कीन्ही, तत कहा ले कीन्हां।**
> **करमौं के बसि जीव कहत है, जीव करम किनि दीन्हां ॥**
> **आकास गगन पाताल गगन, दसौं दिसा गगन रहाई ले।**
> **आंनंद मूल सदा परसोतम, घट बिनसै गगन न जाई ले ॥**
> **हरि मै तन है तन मै हरि है, है पुंनि नांहीं सोई।**
> **कहै कबीर हरि नांम न छांड़ू, सहजै होइ सु होई ॥२६३॥**

शब्दार्थ—परसोतम=पुरुषोत्तम।

हे मन ! अव तू इस ससार को छोड़ अन्यत्र कहाँ रम गया (प्रभु-लोक-शून्य मे) जो मुझे इस ससार से विरक्तता हो गई है। उस ईश्वर ने पाँच तत्वो से इसका निर्माण किया है, किन्तु मृत्यु के पश्चात् न जाने पॉच तत्वो को वह कहाँ ले जाता है ? यदि जीवात्मा कर्मफल को भोगने के लिये ही इस ससार मे आता है तो आप जीवन को कुकर्मो मे लिप्त ही क्यो करते हो ? आकाश, पाताल एव दसो दिशाओ मे वह ब्रह्म समान रूप से उसी प्रकार रमा हुआ है जिस भाँति शून्य—ब्रह्मरन्ध्र मे स्थित है। वस्तुत शून्य कमल मे ही आनन्दरूप पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म का निवास है। शरीर के नष्ट होने पर चाहे हृदय—मन—की सन्तान रहे, किन्तु प्रभु फिर भी शून्य मे उसी भाव से वसे रहते है। वह ब्रह्म वस्तुत इस शरीर मे भी वर्तमान है और शरीर भी ब्रह्म मे है, यह शरीर शून्य मात्र नही, प्रभु-परिपूर्ण है। कबीर कहते है कि मैं ईश्वर नाम का सम्वल नही छोड़ सकता, उसे सहज-साधना से प्राप्त किया जा सकता है।

हमारै कौंर सहै सिरि भारा,
सिर की सोभा सिरजनहारा ॥टेक॥
टेढी पाग वड जूरा, जरि भए भसम कौ कूरा।
अनहद कीं गुरी वाजी, तब काल द्रिष्टि भै भागी ॥
कहै कबीर रांम राया, हरि कै रंग मूंड मुड़ाया ॥२६४॥

शब्दार्थ—सिरि भारा=पाप बोझ। सिरजनहारा=स्रष्टा, ब्रह्म। टेढी पाग =तिरछा साफा बाँधने से तात्पर्य। वड जूरा=बडा जूडा, केश-विन्यास की पद्धति विशेष। गुरी=तन्त्री। कालद्रिष्टि=मृत्यु। भै=भय। मूड मुडाया=विरक्त होना।

कबीर कहते है कि इस सासारिक विषय-वासना बोझ को सहना हमारे लिए सम्भव नही, हमने पाप-मोट व्यर्थ सिर पर रख रखी है, वस्तुत शीश की वास्तविक शोभा स्रष्टा की भक्ति है। अदा से रखे गये साफे, बडे-बडे जूडे अर्थात् समस्त शृङ्गार-प्रसाधन जलकर क्षार रूप मे परिणत हो जाते हैं, मिट्टी मे मिल जाते हैं। अनहद नाद होने पर ही साधक का मृत्यु भय विदूरित होता है। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मैंने आपके भक्ति-रग मे रगकर ही ससार से विरक्तता ली है।

कारनि कौंन संवारै देहा, यहु तनि जरि वरि ह्वै है षेहा ॥टेक॥
चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरत काठ कै संगा।
बहुत जतन करि देह मुट्याई, अगनि दहै कै जंबुक खाई ॥
जा सिरि रचि रचि बांधत पागा, ता सिरि चंच संवारत कागा।
कहि कबीर तब झूठा भाई, केवल रांम रह्यौ ल्यौ लाई ॥२६५॥

शब्दार्थ—षेहा=धूल। देह मुट्याई=शरीर बनाया। जंबुक=लोमड़ी। रचि रचि=बना बनाकर। चच=चचु, चोच।

हे मनुष्य ! तू क्यो व्यर्थ इस शरीर के सौन्दर्य-प्रसाधन मे लगा हुआ है, यह तो जल कर भस्म होने पर धूलि मे मिल जायगा। जिस शरीर को आज चोवा और चन्दन निर्मित अगरागो से सजा रहे हो वह मृत्युपरान्त चिता पर लकड़ी के साथ जलता है। अनेक भाँति के प्रयत्न करने पर जिस शरीर को परिपुष्ट किया है वह या तो अग्नि से जलता है अथवा लोमडी (आदि जगली जानवर) ही खाती है। जिस शीश पर बडे गौरव से साफे की पाग बनाकर धारण करते हो उसे कौए अपनी चोच से कुरेदते है। अत इस शरीर का शृगार-प्रसाधन वृथा और इस जीवन की आयु-पर्यन्त ही सीमित है। अत यह कृत्य मिथ्या है, केवल ब्रह्म मे अपनी वृत्तियाँ लगानी चाहिए—ऐसा कबीर का विचार है।

विशेष—अनुप्रास अलकार।

धंन धंधा व्यौहार सब, माया मिथ्यावाद।
पाणी नीर हलूर ज्यूं, हरि नांव बिना अपवाद ॥टेक॥
इक रांम नांम निज साचा, चित चेति चतुर घट काचा।
इस भरमि न भूलसि भोली, बिधनां की गति है औली ॥

जीवते कूं मारन धावै, मरते कौं बेगि जिलावै।
जाकै हुँहि जम से बैरी, सो क्यूं सोवै नींद घनेरी॥
जिहि जागत नींद उपावै, तिहिं सोवत क्यूं न जगावै।
जलजंत न देखिसि प्रांनी, सब दीसै झूठ निदांनी॥
तन देवल ज्यूं धज आछै, पड़ियां पछितावै पाछै।
जीवत ही कछू कीजै, हरि रांम रसांइन पीजै॥
रांम नांम निज सार है, माया लागि न खोई।
अंति कालि सिरि पोटली, ले जात न देख्या कोई॥
कोई ले जात न देख्या, बलि बिक्रम भोज ग्रस्टा।
काहू कै संगि न राखी, दीसै बीसल की साखी॥
जब हंस पवन ल्यौ खेलै, पसरयौ हाटिक जब मेलै।
मानिख जनम अवतारा, नां ह्वै है बारंबारा॥
कबहूँ है किसा बिहांना, तर पंखी जेम उडांनां।
सब आप आप कूं जांई, को काहू मिलै न भाई॥
मूरिख मनिखा जनम गंवाया, वर कोडी ज्यूं डहकाया।
जिहि तन धन जगत भुलाया, जग राख्यौ परहरि माया॥
जल अंजुरी जीवन जैसा, ताका है किसा भरोसा।
कहै कबीर जग धंधा, काहे न चेतहु अंधा॥२९६॥

शब्दार्थ— ब्यौहार सब=समस्त क्रिया कलाप। मिथ्यावाद=मृण्मय, अनित्य, नाशवान्। घट = इसका अर्थ यहाँ मन। औली=विचित्र, अनुपम। घनेरी=गहरी, अचेत। जलजन्त=जलजन्तु, जल के जीव। देवल=मन्दिर। धज=ध्वज। हाटिक=स्वर्ण। मानिख=मनुष्य। बिहाना=वहाना। डहकाया=खो दिया। अजुरी=अजलि।

कवीर कहते है कि इस जगत का समस्त कार्य-कलाप और प्रत्येक गतिविधि मिथ्या है। इनकी सत्ता पानी के समान हल्की है। प्रभु-नाम के विना यह ससार व्यर्थ है अथवा प्रभु-नाम, अर्थात् भक्ति का ही कर्म इस ससार मे मिथ्या नही है, अन्यथा सब कुछ नाशवान् है।

हे मनुष्य! तू हृदय मे सावधान हो जा क्योकि मन बड़ा अस्थिर है। ससार में प्रभु नाम ही एकमात्र सत्य है। तुम इस ससार के माया-मोह—भ्रम—मे मत पड़ना। ईश्वर की गति वड़ी विचित्र है। यह उसी की सामर्थ्य है कि वह जीवित का अस्तित्व क्षण भर मे समाप्त कर दे और मृतक को पुनः जीवन-दान दे दे। जिस जीव की—मनुष्य की मृत्यु शत्रु है, उसे गहरी नीद मे अचेत ही नही सोना चाहिए, अज्ञान में नही पड़ना चाहिए। हे प्रभु! यदि आप जीवात्मा को ऐसी कुमति प्रदान करते हो कि वह अज्ञानग्रस्त ही ससार मे पड़ जाता है तो आप उसे ऐसी चेतना क्यो

नही देते कि वह ज्ञान से अज्ञान की ओर, ससार से भक्ति की ओर प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर चले। मनुष्य जल मे पड़े हुए कीटाणुओ को नही देख सकता, इसी भाँति विषयानन्द स्थित नाश की वह कल्पना नही करता है। ये क्षणिक आनन्द प्रत्यक्ष मे ही आनन्द दृष्टिगत होते है, वैसे ये विनाशसाधन है। इस शरीर मे ही ब्रह्म का निवास—मन्दिर—है जो अपनी ध्वजा सहित गौरव से स्थित है। इसलिए अपनी वृत्तियो को अन्तर्मुखी कर लो, कभी जीवन-संध्या निकट होने पर व्यर्थ पछताओ। प्रभु नाम ही इस ससार मे सत्य है, माया के फेर मे पडकर तुम इसे विनष्ट मत करो। धन का मोह वृथा है क्योकि मृत्यु के समय इसे कोई यहाँ से नही ले जाता। वलि, विक्रम और भोज जैसे भी अपना समस्त धन-वैभव यही छोड गये, फिर तुम्हारी तो वात ही क्या? यह सम्पत्ति कभी किसी के साथ नही गई, इसकी साक्षी वीसलदेव ने भी दी है। जव आत्मा प्राणायाम साधना द्वारा शून्य मे लय होती है, तभी उसे शून्य-सागर मे मोती—स्वर्ण—(आनन्द की अतुलित राशि) प्राप्त होते है। यह मनुष्य जन्म वारम्वार प्राप्त नही होता, अत. इसे व्यर्थ मत खोओ। तव तुम किसे दोष दोगे जव प्राण किसी तरुवरवासी पक्षी के समान उड जायेंगे? सव मनुष्य अपनी स्वार्थ-साधना मे अनुरक्त है, प्रभु-मिलन की चिंता किसी को भी नही। हे मूर्ख, अज्ञानी! तुमने यह अमूल्य मनुष्य-जन्म कौड़ी तुल्य मूल्य पर दे दिया, खो दिया। शरीर और सम्पत्ति मोह मे पड़ ससार अपने वास्तविक कर्तव्य—प्रभु-भक्ति—को विस्मृत कर रहा है। ससार मे माया का परित्याग कर ही रहना चाहिए। जीवन अंजुलि मे भरे जल, जो जव चाहे तव समाप्त हो सकता है और प्रतिक्षण कम होता रहता है, की भाँति है। कबीर कहते है कि यह ससार केवल पाप-मय ही है अतः हे अज्ञानी जीवात्मा तू सावधान हो प्रभु-भक्ति क्यो नही करता?

विशेष—१ रूपक, उपमा आदि अलकार।

२ पजावी भाषा के अनुसार शब्दरूपो का प्रयोग यथा—"भूलसि"।

३ टेक की दूसरी पक्ति मे 'पाणी नीर' मे पुनरुक्ति।

४. "जल अजुरी जीवन जैसा" उपमा वड़ी सार्थक एवं सौन्दर्यमयी है। इस उपमा को रख कबीर ने जीवन की क्षणिकता और प्रतिपल होते नाश को वडी कुशलता से व्यक्त कर दिया है।

५ ऐतिहासिक व पौराणिक नाम—

वलि—एक प्रसिद्ध प्रतापी, दानी राजा जिसे विष्णु ने वामन रूप धर उनकी दानशीलता को वट्टा लगाने के लिए छला था। ये विरोचन के पुत्र और प्रह्लाद के पौत्र कहे जाते है।

विक्रम—यह भी एक वडे प्रतापी और प्रसिद्ध राजा हुए है, विक्रम सवत् के प्रस्थापक भी आप ही हैं। आपके विषय मे सिंहासन वत्तीसी और अनेक दन्तकथाये जुड़ी हुई हैं।

भोज—'कवीरवीजक' मे निम्न विवरण दिया हुआ है—

"यह उज्जैन के राजा थे जिन्होने अपनी राजधानी धारा नगरी बनाई थी। इनके पिता इन्हे छोड़कर वाल्यकाल में ही स्वर्ग सिधार गये थे। अतः इनका चाचा मुज राजा हुआ। पहले मुज इन्हें बड़े प्रेम से देखता था, परन्तु एक दिन यह उस पाठशाला को जिसमें भोज पढता था देखने गया, वहाँ भोज की विद्या-चातुरी को देखकर दग रह गया। पण्डितों ने भी भोज की बड़ी प्रशंसा की। मुज सोचने लगा कि कुछ दिनो के वाद तो लोग भोज को ही राजा बनायेंगे, अतः मन्त्री को बुलाकर सारा ब्यौरा बतलाया और आज्ञा दी कि उसे वन में ले जाकर मार डालो और सिर काट कर मेरे पास लाओ। इस निमित्त मन्त्री ने भोज को वन मे ले जाकर ज्योंही हाल बतलाया, भोज ने एक श्लोक अपने चाचा को लिखकर मन्त्री को दिया जिसका भावार्थ यह था कि सत्ययुग का राजा मान्धाता, त्रेता के समुद्र पर पुल बाधने वाले और रावण-हन्ता, राम, द्वापर के युधिष्ठिर आदि अनेक राजा स्वर्गगामी हुए, परन्तु यह पृथ्वी किसी के साथ नही गई, स्यात् अब वह कलियुग मे आपके साथ अवश्य जायेगी। मन्त्री ने इससे प्रभावित हो भोज को न मार कर एक बनावटी सिर लाकर मुज के आगे रखा और वह श्लोक भी दिया जिसे पढ़कर मुज बहुत पछताया और मरने पर उद्यत हो गया। तब मन्त्री ने सारा रहस्य बतलाया और भोज को राजा मुज के सामने उपस्थित किया। मुज ने भोज से अपने अपराध की क्षमा माँगी और उसे गद्दी पर बिठलाकर आप वन को तपस्या करने चले गये। भोज का राज्य प्रबन्ध बहुत ही अच्छा था। धारा नगरी में सुन्दर मकानों और सड़को को देखकर इन्द्रपुरी का भ्रम हो जाता था। प्रत्येक विद्या की अलग-अलग पाठशालाएँ, चिकित्सा के लिए अस्पताल और प्रत्येक प्रबन्ध के लिए अलग-अलग समितियाँ तथा भवन थे। सारा प्रजावर्ग सन्तुष्ट दिखाई देता था। भोज की राजसभा के पण्डितों की बहुत-सी कथाएँ भी प्रचलित है जिनसे उस समय की सस्कृत विद्या का अन्दाजा लगाया जा सकता है।"

रे चित चेति च्यंति लै ताही,
जा च्यंतत आपा पर नाहीं ॥टेक॥

हरि हिरदै एक ग्यांन उपाया, ताथैं छूटि गई सब माया।
जहां नाद न व्यंद दिवस नहीं राती, नहीं नरनारी नहीं कुल जाती ॥
कहै कबीर सरब सुख दाता, अविगत अलख अभेद विधाता ॥२९७॥

शब्दार्थ—च्यंति=चिन्तन कर ले। अविगत=जिसकी गति को न जाना जा सके।

हे मन! तू सावधान होकर उस ईश्वर का ध्यान कर जिसके चिन्तन से अहं-परं का भेद विदूरित हो जाता है। प्रभु का हृदय मे ध्यान आते ही समस्त माया-बन्धन छूट जाता है। प्रभु का ध्यान करने से जिस अनहद नाद की प्राप्ति होती है, जिस शून्य-जगत् की उपलब्धि होती है, वहाँ न तो रात्रि है और न दिन, न कोई नर है न नारी, न जाति कुल का भेद है।

कहने का तात्पर्य यह है कि वहाँ सम अवस्था है। कबीर कहते हैं कि वह अलख निरंजन ज्योतिस्वरूप परमात्मा समस्त सुख-प्रदाता है।

सरवर तटि हंसणीं तिसाई,
जुगति बिनां हरि जल पिया न जाई ॥टेक॥
पीया चाहै तौ लै खग सारी, उड़ि न सकै दोऊ पर भारी।
कुंभ लीयैं ठाढी पनिहारी, गुंण बिन नीर भरै कैसै नारी ॥
कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिले रांम राई ॥२६८॥

शब्दार्थ—हसणी=आत्मा। तिसाई=प्यासी, तृषित। जुगति=युक्ति, साधना, भक्ति। पीया=पीना। कुंभ=घड़ा। गुण=प्रभु-गुण, नामस्मरण से तात्पर्य।

प्रभु के हृदयस्थित होते हुए भी आत्मा उसके दर्शन के लिए व्याकुल है, यह उसी भाति है जैसे सरोवर के तट पर भी हसनी प्यासी रहती हो। वस्तुतः साधना के अभाव में प्रभु-भक्ति का जल नही पिया जा सकता। हे जीवात्मा! यदि तू इस जल का पान करना चाहती है तो अपने पैरो मे पडी माया-शृंखला को तोड़ दे। मनरूपी सागर मे प्रभु का वास है उसे पनिहारिन—शरीर—धारण किये हुए है, किन्तु आत्मा प्रभु-नाम-स्मरण बिना उसका पान नहीं कर सकती। कबीरदास जी कहते हैं कि सद्गुरु ने ब्रह्म प्राप्ति का जल उत्तम उपाय बता दिया है, वह है सहज साधना।

विशेष—रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

भरथरी भूप भया बैरागी।
बिरह बियोगि बनि बनि ढूंढै, वाकी सुरति साहिब सौं लागी ॥टेक॥
हसती घोड़ा गांव गढ गूडर, कनड़ा पा इक आगी।
जोगी हूवा जांणि जग जाता, सहर उजीणी त्यागी ॥
छत्र सिघासण चवर ढुलंता, राग रंग बहु आगी।
सेज रमैंणी रंभा होती, तासौं प्रीति न लागी ॥
सूर बीर गाढा पग रोप्या, इह बिधि माया त्यागी।
सब सुख छाडि भज्या इक साहिब, गुरु गोरख ल्यौ लागी।
मनसा बाचा हरि हरि भाखै, गंध्रप सुत बड भागी।
कहै कबीर कुदर भजि करता, अमर भऐ अणरागी ॥२६६॥

शब्दार्थ—भूप=राजा, नृप। सुरति=लय, लगन। साहिब=स्वामी, ब्रह्म। हसती=हाथी। गूडर=गढी, किले का छोटा रूप। उजीणी=उजाड। गाढ़ा=दृढ़। रोप्या=लगाया।

कबीर कहते हैं कि राजा भर्तृहरि के प्रभु-भक्ति मार्ग अपनाने पर वह वन-वन प्रभुकी खोज मे भटकते रहे वास्तव मे जो योगी हो जाता है उसे समस्त संसार जान जाता है। उस विरक्त के लिए हाथी, घोड़ा, ग्राम, किला, गढ़ी, स्वर्ण,

अग्नि आदि ऐश्वर्य उपकरणो मे कोई आकर्षण शेष नही रह जाता। उस माया-त्यागी के लिए तो नगर भी उजाड ही होता है। उस साधक को छत्र, सिहासन, चवर धारण करने अथवा अन्य ऐश्वर्य साधनो मे तथा कामोपभोग के साधन—सुन्दरी, शय्या एव मधुर संगीत मे उसके लिए कोई रस नही रह जाता है। साधक-शूर माया त्याग के लिए बडा साहसपूर्ण पग उठता है। वह समस्त गुणो का परित्याग कर सद्गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग का ही अवलम्बन करता है। जिन लोगो ने मन, वाणी और कर्म से प्रभु का भजन किया है वे बडे भाग्यशाली हैं। कबीर कहते है कि उस ब्रह्म का ध्यान करने से साधक अमर हो जाता है।

विशेष—१ टेक के पश्चात् प्रथम पक्ति मे पुनरुक्ति दोष है, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कबीर इस दोष मे दोषी नही, 'मसि कागद छुआ नही कलम गह्यौ नही हाथ' वाले सत की ढपली की लय मे जो शब्द ठीक बैठा वह उसने कह दिया।

२. भरथरी—"यह उज्जैन के राजा थे जिन्हे अपनी रानी पिगला का चरित्र देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया था, अत ये अपना सारा राज-पाट अपने भाई विक्रमादित्य को देकर योगी होकर वन मे चले गये थे"—कबीर बीजक।

३. गोरखनाथ—ये नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक एव नौ नाथो मे सर्वप्रमुख माने जाते हैं। कबीर ने अनेक स्थलों पर सदगुरु के प्रतीक रूप मे इस नाम का उल्लेख किया है।

४. अनुप्रास अलकार।

राग केदारौ

सार सुख पाईये रे, रंगि रमहु आत्मांरांम ॥टेक॥
वनह बसे का कीजिये, जे मन नहीं तजै विकार।
घर बन तत समि जिनि किया, ते विरला संसार ॥
का जटा भसम लेपन कियें, कहा गुफा मै वास।
मन जीत्यां जग जीतिये, जौ विषया रहै उदास ॥
सहज भाइ जे ऊपजै, ताका किसा मांन अभिमांन।
आपा पर समि चीनियें, तव मिलै आतमांरांम ॥
कहै कबीर कृपा भई, गुर ग्यांन कह्या समझाइ।
हिरदै श्री हरि भेटियै, जे मन अनतै नहीं जाइ ॥३००॥

शब्दार्थ—सार=समस्त। रगी=प्रभु-भक्ति का रग। वनह=वन में। विकार=पाप, पंच विकार—काम, क्रोध, मद, लोभ मोह। उदास=विरक्त। भाइ =भाव। आतमाराम=ब्रह्म। अनतै=अन्यत्र।

कबीर कहते है कि हे मन ! प्रभु-भक्ति मे अपनी वृत्तियाँ केन्द्रित कर देने से समस्त सुखो की प्राप्ति होती है। वन मे तपस्या करने से तब तक क्या लाभ जब तक

मन विषय-विकारों का परित्याग नहीं करना। जो साधक घर और वन, सुख-दुख को समान समझते है वे ससार मे विरले ही है। विरत होकर जटा धारण करने और भस्म लपेटने से कोई लाभ नहीं—जो साधक मन की वृत्तियों को नियन्त्रित कर विषय-वासना से दूर रहता है वही सच्चा साधक है। सहज साधना मे जिस ब्रह्म की प्राप्ति होती है वह मानापमान से परे है। अह पर की भावना का परित्याग करने से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। कबीर कहते है कि मुझ पर सद्गुरु की कृपा हो गई है अत उन्होने परम ज्ञान का उपदेश मुझे प्रदान किया जिससे हृदयस्थित ब्रह्म का दर्शन प्राप्त हो गया और अब मन अन्यत्र न भटक कर प्रभु मे ही लीन रहता है।

है हरि भजन कौ प्रवांन।
नींच पावैं ऊँच पदवी, बाजते नींसान ॥टेक॥
भजन कौ प्रताप ऐसौ, तिरे जल पाषान।
अधम भील अजाति गनिका, चढे जात बिवांन ॥
नव लख तारा चलैं मंडल, चलैं ससिहर भांन।
दास धूकौं अटल पदवी, रांम को दीवांन ॥
निगम जाकी साखि बोलैं, कहैं संत सुजांन।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ, राखि लेहु भगवांन ॥२०१॥

शब्दार्थ—प्रवान=प्रमाण। नीसान=नगाड़े। पाषान=पत्थर। चढ़े जात विवान=स्वर्ग को चले गये। ससिहर=चन्द्रमा।

प्रभु भजन महिमा का प्रमाण ऐसा है कि नीच व्यक्ति भी उच्चतम पद प्राप्त कर लेता है और उसके यहा ऐश्वर्यसूचक नगाड़े बजने लगते हैं। ईश्वर भजन का प्रताप है कि जल पर पत्थर भी तैरने लगते है। नीच भिलनी शबरी एव वेश्या तक को प्रभु-भक्ति के द्वारा स्वर्गारोहण के लिए विमान प्राप्त हुए। राम-भक्त के सम्मानार्थ नौ लाख नक्षत्रगण एव चन्द्र और सूर्य चले। ब्रह्म वास्तव में ऐसा ही अनुपम है। साधुगण कहते है कि वेदादि धर्मग्रन्थ भी उसकी अनुपमता की साक्षी देते हैं। हे प्रभु! दास कबीर आपकी शरण मे आया है उसे आप शरण देकर रख ले।

विशेष—१. इस पद मे कबीर का ध्यान बहुत से पौराणिक आख्यानो की ओर गया है—'तिरे जल पाषाण' मे राम के सागर पर पुल बाधने, 'अधम भील' में शबरी की कथा की ओर सकेत है।

२ सूरदास के निम्न पद से तुलना कीजिए—
"अवगति गति कछु कहत न आवे।"

चलौ सखी जाइये तहां, जहां गयें पाइये परमांनंद ॥टेक॥
यहु मन आमन धूमनां, मेरौ तन छीजत नित जाइ।
च्यतामणि चित चोरियो, तार्थं कछू न सुहाइ ॥
सुंनि सखी सुपिनै की गति ऐसी, हरि आये हम पास।
सोवत ही जगाइया, जागत भये उदास ॥

चलु सखी बिलम न कीजिए, जब लग सांस सरीर।
मिलि रहिये जगनाथ सूं, यूं कहै दास कबीर ॥३०२॥

शब्दार्थ - बिलम=विलम्ब, देर। जगनाथ=ब्रह्म।

कबीर आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे सखी उस शून्य स्थल को चल जहाँ पूर्णानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस मन की गति धूएँ के समान चंचल और अस्थिर है, शरीर वासनारत रहने के कारण दिन प्रति-दिन क्षीण होता जा रहा है। सर्वकामना पूर्ण करने वाली चिन्तामणि के तुल्य प्रभु मे वृत्तियाँ लगने से मुझे ससार में और कुछ अच्छा नही लग रहा है। अब कवि अपने प्रिय के साक्षात्कार महामिलन का वर्णन करता कहता है कि हे सखी! स्वप्न मे मुझे प्रभु के दर्शन प्राप्त हुए किन्तु शीघ्र ही मेरी निद्रा खुल गई और पुन वही वियोग-वेदना शेष रह गयी। अत हे सखी! अब तू उस प्रियतम की खोज के लिए देर मत कर। जब तक शरीर मे प्राण है, जीवन है, तब तक उस प्रभु से मिलने का प्रयत्न कर—भक्त कबीर का यही उपदेश है।

विशेष—निद्रा मे प्रिय-मिलन वर्णन करने की परिपाटी कवियो को अत्यन्त रही है, विद्यापति, देव आदि ने भी इसका वर्णन किया है यथा—

"सोय गये भाग मेरे जागि वा जगन मे।"—देव

मेरे तन मन लागी चोट सठौरी।
बिसरे ग्यांन बुधि सब नाठी, भई बिकल मति बौरी ॥टेक॥
देह वदेह गलित गुन तीनूं, चलत अचल भई ठौरी।
इत उत जित कित द्वादस चितवत, यहु भई गुपत ठगौरी ॥
सोई पै जांनै पीर हमारी, जिहि सरीर यहु ब्यौरी।
जन कबीर ठग ठग्यौ है बापुरौ, सुनि संमानी त्यौरी ॥३०३॥

शब्दार्थ—नाठी=नष्ट हो गई है। बौरी=पागल होना। द्वादस=द्वादश आदित्यो के प्रकाश से परिपूर्ण।

मेरा अन्तर-बाह्य सब प्रभु की प्रेम-तीर से बिधा हुआ है जिससे समस्त ज्ञान-विज्ञान एव विवेक नष्ट हो गया है और मै प्रभु के लिए आकुल-व्याकुल हू। मुझे अब अपने शरीर की भी सुधि नही रही है तथा मेरे लिए सत, रज, तम,—त्रिगुणात्मक ससार की समाप्ति हो चुकी है। मै जिधर भी देखता हू उधर द्वादश आदित्यो के प्रकाश मे परिपूर्ण ईश्वर का दशन होता है—यह एक प्रकार से गुप्त रूप से जादू सा हो गया। मेरी व्यथा का अनुमान वही कर सकता है जो स्वय इस प्रेम-पीर से विद्ध हो। प्रभु-प्रेम पीर से पागल भक्त कबीर की लगन, समस्त चित्त-वृत्तियाँ अब शून्य मे ही केन्द्रित हो गई, जहा प्रभु का वास है।

विशेष—१. टेक की पक्तियो से तुलना कीजिए—

"इश्क नाजुक मिजाज है अक्ल का बोझ उठा नही सकता।"

२. ब्रह्म का द्वादश आदित्यो के प्रकाश से परिपूर्ण होना गीता आदि अनेक ग्रथो में वताया गया है।

मेरी अंखियां जान सुजांन भई।
देवर भरम सुसर संगि तजि करि, हरि पीव तहां गई ॥टेक॥
वालपनैं के करम हमारे, काटे जांनि दई।
वाह पकरि करि कृपा कीन्हीं, आप समीप लई॥
पानी की बूंद थें जिनि प्यंड साज्या, ता संगि अधिक करई।
दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन दिन प्रीति नई ॥३०४॥

शब्दार्थ—सरल है।

मेरे नेत्र प्रभु दर्शन द्वारा एक नवीन प्रकाश से परिपूर्ण हो गये है। सासारिक सम्वन्धो का परित्याग कर अव वे वही चले गये है जहा परमात्मा का निवास है। भाव यह है कि अव मैने प्रभु-भक्ति मार्ग को ग्रहण कर लिया है। अज्ञानावस्था मे जो पाप कर्म मैने किये थे प्रभु ने उन्हे विस्मृत कर मुझे अपना लिया। जिस प्रभु ने वीर्य की एक वूद से इस सुन्दर शरीर का निर्माण किया उससे प्रेम करना, उसका भजन करना हमारा परम कर्त्तव्य है। कबीर कहते है कि उस प्रभु मे मेरा प्रेम दिन-प्रति-दिन वढता ही है घटता नही है।

हो वलियां कव देखोगो तोहि।
अह निस आतुर दरसन कारनि, ऐसी व्यापै मोहि ॥टेक॥
नैंन हमारे तुम्ह कूं चाहैं, रती न मानैं हारि।
विरह अगिन तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु विचारि॥
सुनहुं हमारी दादि गुसांई, अव जिन करहु वधीर।
तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामी, काचै भांडै नीर॥
वहुत दिनन के विछुरे माधौ, मन नहीं बांधै धीर।
देह छता तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर ॥३०५॥

शब्दार्थ—वलियां=स्वामी। रती=रत्ती, तनिक भी। दादि=पुकार। वधीर=देरी। आरतिवत=आर्त, दुखी, विपत्तिग्रस्त।

कबीर कहते है कि हे प्रभु! मुझे कव आपका दर्शन प्राप्त होगा? आप के दर्शनाभाव मे मैं नित्य-प्रति प्रति प्रहर व्याकुल रहता हू। मेरे नेत्र व्याकुलता-पूर्वक आपकी प्रतीक्षा कर रहे है, वे तनिक भी अपने प्रतीक्षा पथ से नही हटे है। आप मन मे हमारी दयनीय अवस्था को विचार कर देखिये कि किस प्रकार विरहाग्नि मे अहर्निश दग्ध होता हू। हे करुणा-निधान! आप मेरी पुकार सुनकर दया कीजिए, अब कृपा करने मे तनिक भी विलम्ब मत कीजिए। हे प्रभु! आप धैर्य के साक्षात् स्वरूप है और मैं आतुरता का पुतला। वस्तुत मेरा अस्तित्व तो कच्चे पात्र मे भरे हुए जल के समान है जो

चाहे तव विनष्ट हो सकता है। हे माधव प्रभु ! मेरा और आपका वियोग बहुत समय से है, अत. मन आपके मिलनार्थ अधीर हो रहा है। अव शरीर क्षीण होता जा रहा है अत. दु खी कवीर को आप शीघ्र दर्शन दीजिए।

विशेष—१. रूपक, दृष्टान्त आदि अलकार।

२. यहाँ कवीर मे सगुण भक्त के समान आतुरता दृष्टिगत होती है।

३ वहुत दिनन……धीर" मे 'अशाशी' की पुष्टि हुई है।

वै दिन कव आवैगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिवौ अंगि लगाइ ॥टेक॥
हौं जांनूं जे हिल मिलि खेलूं, तन मन प्रांन समाइ।
या कांमनां करौ परपूरन, समरथ हौ रांम राइ ॥
मांहि उदासी माधौ चाहै, चितवत रैनि विहाइ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जव सोऊं तव खाइ ॥
यहु अरदास दास की सुंनिये, तन की तपनि बुझाइ।
कहै कवीर मिलै जे सांई, मिलि करि मंगल गाइ ॥३०६॥

शब्दार्थ—स्यघ=सिंह के समान भयकर। अरदास=प्रार्थना। तपनि=दुख।

कवीर यहा अपने प्रियतम से मिलन की व्याकुलता को प्रदर्शित करते कहते है कि हे सखि ! वह दिवस कव आयेगा जव इस जन्म का प्रयोजन सफलीभूत हो प्रिय से साक्षात्कार होगा ? मैं तव अपने प्रियतम से एकमेक हो अनेक प्रेम-क्रीडाएं करूगी। हे स्वामी ! आप मेरी इस कामना को शीघ्र ही पूर्ण कर दो क्योकि आप तो सव भाँति समर्थ हो। मैं इस संसार से विरक्त हो नित्य-प्रति अहर्निश आपको ही देखना चाहता हूं। आपके वियोग मे मुझे शय्या सिंह के समान भयानक लगती है और जव उस पर सोने का उपक्रम करता हूं तो वह काटने को दौडती है। हे प्रभु ! आप भक्त कवीर की यह विनती सुन लीजिए कि मेरे शरीर का विरह ताप समाप्त कर दो। कवीर कहते है कि सव मनुष्य मिलकर मनुष्य का गुणगान करो जिससे शीघ्र उनका दर्शन लाभ हो।

विशेष—१. नामस्मरण का महत्व अन्तिम चरण में अभिव्यक्त हुआ है।

२. इस पद मे कवीर की विरहिणी आत्मा 'वासकसज्जा' नायिका के समान प्रियतम की प्रतीक्षा करती है।

३. रूपक अलकार।

बाल्हा आव हमारे ग्रह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे ॥टेक॥
सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अंदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे ॥

आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह वन धरै न धीर रे।
ज्यूं कांमीं कौं कांम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे॥
है कोई ऐसा पर-उपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कवीर भये हैं, विन देखे जीव जाइ रे॥२०७॥

शब्दार्थ—अदेह=दुख। पर-उपकारी=परोपकारी।

हे प्रभु! आप आकर शीघ्र दर्शन दीजिए। आपके विना यह शरीर विरह-विदग्ध हो रहा है। सव मुझे आपकी पत्नी कहते है—यही तो मेरे लिए असह्य है कि आपकी अर्धांगिनी होते हुए भी आपसे अलग हूँ। जव तक पूर्ण तादात्म्य न हो, तन-मन दोनो एक होकर हम शय्या-लाभ न करे तव तक प्रेम कैसा? वियोगी आत्मा को तो प्रिय के अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नही लगता। मेरी निद्रा भी भाग गई है। तथा घर वन कही भी मेरी वृत्ति नही रमती। मुझे आप उतने ही प्रिय हैं जितना कामी पुरुष को काम-पूर्ति के साधन—स्त्री और सगीत आदि एव प्यासे को जल। कोई ऐसा परोपकारी व्यक्ति भी है जो प्रभु से मेरी व्यथा का कथन कर सके। कवीर कहते है कि मेरी स्थिति अव ऐसी हो गई है कि आपके दर्शनो के विना मैं जीवित नही रह सकता।

विशेष—१. वियोग की दशम अवस्था की सूचना इस पद मे प्राप्त होती है।

२. तुलसी से तुलना कीजिए—

३. उपमा अलकार।

माधौ कव करिहौ दया।
कांम क्रोध अहंकार व्यापै, नां छूटै माया॥टेक॥
उतपति व्यंद भयो जा दिन थैं कवहूँ सच नहीं पायौ।
पंच चोर संगि लाइ दिए हैं, इन संगि जनम गंवायौ॥
तन मन डस्यौ भुजंग भामिनीं, लहरी वार न पारा।
सो गारडू मिल्यौ नहीं कवहूँ पसर्यौ विष विकराला॥
कहै कवीर यहु कासूं कहिये, यह दुख कोइ न जानै।
देहु दीदार विकार दूरि करि, तव मेरा मन मांनै॥२०८॥

शब्दार्थ—सच=शाति, सुख। पंच चोर=काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह। गरडू=गरुड़। दीदार=दर्शन।

हे प्रभु! अव आप दयाकर दर्शन दीजिए क्योकि मुझे काम, क्रोध एव अहंकार त्रस्त कर रहे है तथा माया-वन्धन नही छूटता। जव से मैंने जीवन धारण किया है तभी से कभी सुख और शान्ति नही मिली। मैंने समस्त जीवन काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह पच चोरो के साथ रहकर व्यर्थ नष्ट कर दिया। स्त्री रूपी सर्पिणी ने तन मन को अपने विषय-वासना-विष से डस लिया है। उसके विष की कोई सीमा नही

क्योकि मेरा अंग-प्रत्यग जल रहा है। वह गरुड—सदगुरु—मुझे अब तक प्राप्त नही सका जो इस विष को उतार देता। कबीर कहते है कि मै अपनी व्यथा का वर्णन किससे करूँ मेरी वेदना से कोई भी परिचित नही। हे प्रभु! इन विपय-विकारों को विदूरित कर आप दर्शन दीजिए तभी मेरा मन शान्ति लाभ करेगा।

विशेष—रूपक अलंकार।

मै जन भूला तूं समझाइ।
चित चंचल रहै न अटक्यौ, विषै बन कूं जाइ ॥टेक॥
संसार सागर मांहि भूल्यौ, थक्यौ करत उपाइ।
मोहनी माया बाघनीं थैं, राखि लै रांम राइ ॥
गोपाल सुनि एक वीनती, सुमति तन ठहराइ।
कहै कबीर यहु कांम रिप है, मारै सबकूं ढाइ ॥३०९॥

शब्दार्थ—रिप=रिपु, शत्रु।

कबीर कहते हैं कि प्रभु! मैं ससार-भ्रम मे पडा हुआ हूँ, इससे आप ही मुक्त कर सकते है। मेरा चचल मन स्थिर नही रहता, रोके रहने पर भी विपय-वासना-वन मे भटकने के लिये पहुच जाता है। मुझे भवसागर मे पथ-विभ्रम हो गया है और इससे पार पाने के उपक्रम करते-करते मैं परिश्रान्त हो गया हूँ। हे राम! मुझे आप इस मोहिनी जैसी सुन्दर बाघिनी माया से बचा लो। हे नाथ! मेरा निवेदन सुन इस शरीर—मन—को स्थिर कर दीजिए। भाव यह है कि ऐसी सद्बुद्धि प्रदान कीजिए कि मेरा मन विपय-वासना के आकर्पणो मे न भटके। कबीर कहते है कि काम सबका शत्रु है जो सबको नष्ट कर रहा है।

विशेष—१. रूपक, अनुपास आदि अलकार।

२ कबीर ने यहाँ अपने निर्गुण ब्रह्म के लिए अवतारी नामो का प्रयोग किया है।

भगति बिन भौजलि डूबत है रे।
बोहिथ छाँड़ि बैसि करि डूंडै,
बहुतक दुख सहै रे ॥टेक॥
बार बार जम पै डहकावै, हरि को ह्वै न रहै रे।
चेरी के बालक की नांईं, कासूं बात कहै रे ॥
नलिनीं के सुवटा की नांईं, जग सूं राचि रहै रे।
वंसा अगनि बंस कुल निकसै, आपहि आप दहै रे ॥
यहु संसार धार मै डूबै, अधफर थाकि रहै रे।
खेवट बिनां कवन भौ तारै, कैसैं पार गहै रे ॥
दास कबीर कहै समझावै, हरि की कथा जीवै रे।
रांम कौ नांव अधिक रस मीठौ, बारंबार पीवै रे ॥३१०॥

शब्दार्थ—भौजलि=भव-जल। वोहिथ=वोहित, पुराने समय का पालो से चलने वाला जहाज। चेरि=दासी। राचि=अनुरक्त। वसा=वाँस। भौ=भव, भवसागर।

भक्ति के सम्वल बिना जीवात्मा इस ससार सागर मे डूव जायेगी जिस प्रकार जहाज का पक्षी जहाज का आश्रय छोडकर अनेक दुख सहता है और अन्त मे पुन. जहाज पर ही आता है, वही अवस्था मेरी है कि मैं आपमे वियुक्त हूँ मसार तापो से झुलस रहा हूँ। यम वारम्वार आवागमन के चक्र मे डाल व्यथित करता है। प्रभु विना इस दुख से त्राण नही। जिस भाति दासी पुत्र अपनी व्यथा को (माँ के अतिरिक्त) किसी से नहीं कह सकता क्योकि कोई भी उसकी व्यथा-कथा को सुनने वाला नही है उसी भाति मै अपना दुख आपके अतिरिक्त और किससे कहूँ? जिस प्रकार नलिनी का तोता यह जानते हुए भी कि इस लकडी को पकडने से मुझे दुख होगा, मेरा अस्तित्व इससे गिरने से समाप्त हो सकता है, उसे पकडे रहता है उसी भाति यह जानते हुए कि विषय वासना मेरे नष्ट होने का कारण है, मै उन्ही मे अनुरक्त रहता हूँ एव इस प्रकार मैं वैसे ही नष्ट हो जाता हूँ जैसे वास समूह अपनी ही अग्नि से विनष्ट हो जाता है। इस ससार-सागर की धारा के मध्य मे डूव कर मैं विल्कुल थक गया हूँ अव किधर को भी नही जा सकता। अव विना खिवैया के मेरी नौका ससार-सागर के पार नही उतर सकती। कवीरदास जी ससार को समझा रहे है कि इस ससार मे प्रभु-भक्ति ही एक मात्र जीवनाधार है। राम-नाम के मीठे रस को वारम्वार पीना ही श्रेयस्कर है।

विशेष—१ टेक के भाव की तुलना कीजिए—

२ 'नलिनी के सुवटा' का उपमान सव ही भक्त कवियो का वडा प्रिय हार रहा है, सूर, तुलसी एव कवीर आदि ने अनेक स्थलो पर इसका प्रयोग किया है।

चलत कत टेढौ टेढौ रे।
नऊं दुवार नरक धरि मूंदे, तू दुरगंधि कौ बेढौ रे ॥टेक॥
जे जारै तौ होइ भसम तन, रहित किरम जल खाई।
सूकर स्वांन काग कौ भखिन, तामैं कहा भलाई॥
फूटे नैन हिरदै नाहीं सूझै, मति एकै नहीं जांनी।
माया मोह ममिता सूं बाध्यौ, बूडि मूवौ बिन पानीं॥
वारू के घरवा मै बैठो, चेतत नहीं अयांनां।
कहै कबीर एक रांम भगती बिन, बूडे बहुत सयांनां ॥३११॥

शब्दार्थ—वारू के घरवा मै=वालू के घर मे, नश्वर स्थान पर।

कबीर मन को प्रताडना देते हुए कहते है कि तू कुचाल क्यो चलता है? नौ इन्द्रियाँ रूपी द्वार तुझे नरक मे ढकेल रहे है और तू अपने पाप कर्मो से केवल मात्र दुर्गन्ध की, घृणा की ढेरी वन गया है। यदि मैं अपने इस शरीर को जलाता हूँ तो

जीवन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है और यदि इसे धारण करता हूँ तो कर्म-विपाक से यह प्रतिदिन नष्ट हो रहा है। सुअर, कुत्ते एव काग के समान ही यदि मनुष्य भी अभक्ष्य को ग्रहण करने लगे तो मानव-जीवन की श्रेष्ठता और सार्थकता भी क्या ? अत मनुष्य को सुअर, स्वान एवं काग जैसे निकृष्ट व्यवहार नही करने चाहिए। अब मैं ऐसा अज्ञानाध हो गया हूँ कि मुझे कुछ नही सूझता तथा मति, विवेक जैसी किसी भी चीज से मेरा परिचय नही रह गया है, अब मैं माया, मोह, ममता आदि मे बधकर अध' पतन के गर्त मे डूब रहा हूँ—इस प्रकार बिना पानी के ही मैं डूब रहा हूँ। मैं आज भी सावधान हो प्रभु-भजन नही करता क्योकि इस संसार मे अस्तित्व बालू के घर के समान क्षणिक है। कबीर कहते है कि राम-भक्ति के आश्रय बिना इस ससार मे बहुत से चतुर व्यक्ति भी डूब गये।

विशेष—विभावना अलकार।

अरे परदेसी पींव पिछांनि।
कहा भयौ तोकौं समझि न परई, लागी कैसी बांनि ।।टेक।।
भोमि बिडाणी मै कहा रातौ, कहा कियो कहि मोहि।
लाहै कारनि मूल गमावै, समझावत हूँ तोहि ।।
निस दिन तौहि क्यूं नींद परत है, चितवत नांही ताहि।
जंम से बैरी सिर परि ठाढे, पर हाथ कहा बिकाइ ।।
झूठे परपच मैं कहा लागौ, ऊठै नांही चालि।
कहै कबीर कछू बिलम न कीजै, कौनै देखी कालि ।।३१२।।

शब्दार्थ—परदेसी=विदेशी आत्मा। बानि=आदत। भोमि=भूमि। बिडानी= इधर उधर करना, तितर-बितर करना, नष्ट करना। लाहे=लाभ।

कबीर अपनी आत्मा को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे परदेशी ! तू अपने प्रियतम (ब्रह्म) को पहचान। तुझे कैसी कुटेव पड गई है कि सर्वदा विषय-वासना रत रहती है। नष्ट-भ्रष्ट भूमि पर कुछ नही उगाया जा सकता, उसी प्रकार तूने अपने पाप-कर्मो से अपना ससार नष्ट कर लिया है। तू इस मिथ्या लाभ के कारण, जो वास्तव मे विषय-वासना के अतिरिक्त कुछ नही है, अपने पूर्व सचित पुण्यो को भी नष्ट कर रहा है। इस विषय-वासना मे तुझे रात-दिन चैन नही पडता और प्रभु की ओर देखता तक नही। मृत्यु जैसे भयकर शत्रु तेरे ऊपर तने खड़े हैं, किन्तु तू दूसरो के साथ बिक कर असावधान हो रहा है। इस मिथ्या सांसारिक प्रपच मे मत पड, बल्कि प्रभु-भक्ति मे लग। कबीर कहते है कि ईश्वर भक्ति के इस पुण्य कार्य के प्रारम्भ मे विलम्ब मत कर, पता नही कल, अगले क्षण, हमारा अस्तित्व शेष रहेगा या नही।

विशेष—अन्तिम चरण से तुलना कीजिए—

"करना है सो आज कर, आज करे सो अब।
पल मे प्रलय होयगी, बहुरि करैगा कब ।।"—'कबीर'

भयौ रे मन पांहुनडौ दिन चारि ।
आजिक काल्हिक मांहि चलैंगी, ले किन हाथ संवारि ॥टेक॥
सौंज पराई जिनि अपणावै, ऐसी सुणि किन लेह ।
यहु संसार इसौ रे प्राणी, जैसी धूंवरि मेह ॥
तन धन जोवन अंजुरी को पांनी, जात न लागै वार ।
सैंवल के फूलन परि फूल्यौ, गरब्यौ कहा गँवार ॥
खोटी खाटै खरा न लीया, कछू न जांनी साटि ।
कहै कबीर कछू वनिज न कीयो, आयौ थौ इहि हाटि ॥३१३॥

शब्दार्थ—पाहुनडी=अतिथि । धवर मेहर=धुएँ के बादल । वार=देर । हाटि=ससार रूपी बाजार ।

हे मन ! ससार मे तू चार दिन का अतिथि है । क्योकि इस शरीर का अस्तित्व क्षणिक है, शीघ्र ही यह दूसरो के हाथो पर चलकर श्मशान पहुंचेगा । तू दूसरो की सम्पत्ति को रख क्यो पाप-बोझ बढाता है । यह ससार तो धुएँ के बादल और मेघ के समान क्षणिक है । जिस शरीर, धन एव यौवन का मनुष्य गर्व करता है वह तो अजलि के जल सदृश क्षणिक अस्तित्व के है जिसके नष्ट होने मे पल भर भी नही लगता । यह ससार सेवल के सुमन सदृश निस्सार, थोथा है—इसके ऊपर गर्व करना मूर्खता है । मनुष्य इस ससार मे पाप-कर्मो मे ही फँसा रहता है, प्रभु-भक्ति नही करता । कबीर कहते है कि मैंने इस ससार रूपी बाजार मे आकर सत्कर्मो का व्यापार नही किया, और जीवन व्यर्थ ही चला गया ।

विशेष—१. तुलसी ने भी ससार की उपमा कबीर के समान "धुआँ के से धौरहर, देखत ही ढहि जाय" कहकर दी है ।

२ उपमा, अनुप्रास अलकार ।

मन रे रांम नांमहि जांनि ।
थरहरी थूंनी पर्‌यौ मंदिर, सूतौ खूंटी तांनि ॥टेक॥
सैंन तेरी कोई न समझै, जीभ पकरी आंनि ।
पांच गज दोवटी मांगी, चूंन लीयौ सांनि ॥
बैसंदर पोषरी हांडी, चल्यौ लादि पलांनि ।
भाई बध बोलाइ बहु रे, काज कीनौं आंनि ॥
कहै कबीर या मै झूठ नांही, छाँड़ि जीय की बांनि ।
रांम नांम निसक भजि रे, न करि कुल की कांनि ॥३१४॥

शब्दार्थ—सैन=इंगित । जीय को बानि=मन की आदत । कानि=मर्यादा ।

हे मन ! तू सर्वदा राम-नाम का स्मरण कर । धैर्य की थूनी एव सत की खूटियो के आधार पर राम-नाम का एक मन्दिर बना लो । हे प्रभु ! जिह्वा तो अन्य रसो के आस्वादन मे लगी हुई है और भक्ति के लिए तेरे इगित को कोई ग्रहण

नही कर पाता। पच-विषयो के प्रसार मे इन्द्रिया लगी रहती है और इस भाँति प्रेम-वस्त्र को कलकित कर लेती है। यह शरीर रूपी हाडी थोथी है इसके लिए इतने उपक्रम करना व्यर्थ है। सासारिक पाप-कर्म करने मे अन्य सम्बन्धियो का भी सहयोग तूने लेकर उन्हे भी पाप-कर्मो मे लिप्त कर लिया। कवीर कहते हैं कि यह असत्य का मार्ग जीवात्मा को छोड़ देना चाहिए एव निस्संकोच भाव से राम-नाम स्मरण करना चाहिए, इस पुण्य कर्म मे वाधक कुलकानि का भी भक्त को परित्याग कर देना चाहिए।

विशेष—जिस भाति आगे चलकर वल्लभाचार्य ने भक्ति मार्ग मे 'कुल कानि' परित्याग की वात की, उसे हम कवीर मे भी पाते है। प्रस्तुत पद के अन्त मे इसी भाव की पुष्टि होती है।

प्राणीं लाल औसर चल्यौ रे बजाइ।
मुठी एक मठिया मुठि एक कठिया, संगि काहू कै न जाइ ॥टेक॥
देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लग सगी माइ।
मड़हट लूं सब लोग कुटंबी, हंस अकेलौ जाइ ॥
कहां वै लोग कहां पुर पटण, बहुरि न मिलबौ आइ।
कहै कबीर जगनाथ भजहु रे, जन्म अकारथ जाइ ॥२१५॥

शब्दार्थ—लाल=अमूल्य। देहली=घर के वाहर का द्वार, देहरी। मिहरी=पत्नी। मरहट=मरघट, श्मशान। अकारथ=व्यर्थ।

हे मनुष्य! अमूल्य अवसर हाथ से निकला जा रहा है, अत प्रभु-भक्ति करो। इस शरीर के पोषण-कर्मो मे लगे रहने से ही जीवन के कर्तव्यो की इतिश्री नही हो जाती, यह मुट्ठी भर शरीर तो अति अल्प पदार्थो से निर्मित है। हे मनुष्य! सर्वदा तेरे साथ रहने वाली पत्नी, अमित प्यार करने वाली मा और अन्य प्रियजन कोई भी मृत्यु के पश्चात् साथ नही जाता, आत्मा अकेले ही चली जाती है। यह ससार के वैभव से पूर्ण नगर-नगरी और ऐश्वर्यशाली लोग पुनः नही मिलते, अत. इनमे प्रेम करना वृथा है। कवीर कहते है कि हे मानव! तुम प्रभु का भजन करो—अन्यथा यह अमूल्य मानव जीवन व्यर्थ नष्ट हुआ जा रहा है।

विशेष—संसार के झूठे सम्वन्धो का प्रभावोत्पादक वर्णन है।

रांम गति पार न पावै कोई।
च्यंतामणि प्रभु निकट छाडि करि,
भ्रंमि भ्रंमि मति बुध खोई ॥टेक॥
तीरथ वरत जपै तप करि करि, बहुत भांति हरि सोधै।
सकति सुहाग कहौ क्यूं पावै, अछता कंत बिरोधै ॥
नारी पुरिष वसै इक संगा, दिन दिन जाइ अबोधै।
तजि अभिमान मिलै नहीं पीव कूं, ढूंढत बन बन डोलै ॥

कहै कबीर हरि अकथ कथा है, बिरला कोई जांनै।
प्रेम प्रीति वेधी अंतर गति, कहूँ काहि को मांनै ॥३१६॥

शब्दार्थ—गति=महिमा, रहस्य। सकति=शक्ति। सुहाग=स्वामी। अछता=विद्यमान, अह। कत=स्वामी, ब्रह्म। नारी=आत्मा। पुरिष=परमात्मा। वेधी=विद्ध कर दिया।

कबीर कहते है कि ईश्वर की महिमा का पार कोई नही पा सकता। तू ने व्यर्थ सासारिको के माया-भ्रम मे पड अपना विवेक खो दिया और इस प्रकार सर्वकामना पूर्ण करने वाले चिंतामणिस्वरूप हृदयस्थित ब्रह्म को विस्मृत कर दिया। तीर्थ, व्रत, जप-तप आदि विधि-विधानो से प्रभु को खोजने का बहुत प्रयत्न किया समस्त उपक्रम व्यर्थ गये। भला शाक्त ब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त कर सकते है, क्योंकि वे मूर्तिपूजक हैं और ब्रह्म का इस विधि-विधान से विरोध है। आत्मा और परमात्मा एक ही स्थान पर स्थित है, किन्तु दोनो के मिलन विना समय व्यर्थ निकला जा रहा है। हे मूर्ख जीव! तू अह का परित्याग कर मन मे तो प्रभु को खोजता नही और व्यर्थ वन-वन भटकता फिरता है—

"कस्तूरि कुण्डल बसै, मृग ढूंढें वन माहि।
ऐसे घट घट राम है, दुनिया देखै नाँहि॥"

कबीर कहते है कि उस प्रभु की कथा अवर्णनीय है, कोई विरला ही उसके रहस्य को हृदयंगम कर सकता है। मेरे तो अन्तर बाह्य को प्रभु के प्रेम की प्रेम पीर ने विद्ध कर दिया है किन्तु मेरी इस विचित्र बात का विश्वास कौन करेगा?

रांम बिनां संसार धंधा कुहेरा,
सिरि प्रगट्या जम का पेरा ॥टेक॥
देव पूजि पूजि हिंदू मूये, तुरक मूये हज जाई।
जटा बांधि बांधि योगी मूये, इनमें किनहूँ न पाई॥
कवि कवीनै कविता मूये, कापड़ी के दारौं जाई।
केस लूंचि लूंचि मूये, बरतिया, इनमे किनहूं न पाई॥
धन संचते राजा मूये, अरू ले कंचन भारी।
बेद पढ़ें पढि पंडित मूये, रूप भूले मूई नारी॥
जे नर जोग जुगति करि जांनै, खोजै आप सरीरा।
तिनकूं मुकति का ससा नाहीं, कहत जुलाह कबीरा॥३१७॥

शब्दार्थ—धध=धुधला। कुहेरा=कुहरा। ससा=सशय।

मनुष्य के शीश पर मृत्यु पग जमाये खडी हुई है, अतः राम-नाम के बिना, प्रभु-भक्ति के बिना यह ससार धुए के कोट के समान नष्ट होने वाला है। हिन्दू तो देवताओ की पूजा करते-करते मर गये और मुस्लिम हज करते-करते मर गये एवं योगी लोग जटा बाध-बाध कर मर गये, किन्तु इन कर्मो से किसी ने भी ईश्वर को

प्राप्त नही किया । कविगण कविता करते-करते, ढोगी सन्यासी रगे वस्त्र पहनते हुए, तथा जैन साधु लुञ्चन सस्कार करते-करते मर गये । किन्तु इन विधि-विधानो से कोई भी परमात्मा को प्राप्त नही कर सका । राजा लोगो ने अपना जीवन स्वर्ण-सचय मे व्यर्थ कर डाला । पडित लोग वेदादि धर्म ग्रन्थो को पढ़ते-पढते मर गये और सुन्दरी अपने रूपाभिमान मे नष्ट हो गई, किन्तु कोई उस परमात्मा को प्राप्त न कर सका । जो व्यक्ति योगसाधना द्वारा उसे अपने शरीर मे खोजने का प्रयत्न करते है, यह कबीर का मत है कि उसकी मुक्ति मे कोई शका नही ।

विशेष—कबीर ने यहाँ हिन्दू-मुस्लिम समाज के वाह्याचारो पर करारी चोट की है ।

कहुँ रे जे कहिबे की होइ ।
नां को जांनै नां को मांनै, तार्थं अचिरज मोहि ॥टेक॥
अपने अपने रंग के राजा, मानत नांही कोइ ।
अति अभिमांन, लोभ के घाले, चले अपन पौ खाइ ॥
मै मेरी करि यहु तन खोयौ, समझत नही गवार ।
भौजलि अधफर थाकि रहे हैं, बूड़े बहुत अपार ॥
मोहि आग्यां दई दयाल दया करि, काहू कूं समझाई ।
कहै कबीर मै कहि कहि हार्यौ, अब मोहि दोस न लाई ॥३१८॥

शब्दार्थ—मैं पेरी कर=परिवार मे पखर । अधफर= बीच मे ।

कबीर यहाँ उन लोगों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं जो प्रभु के स्वरूप को जाने विना उसके विषय में व्यर्थ की बातें कहते है वे कहते हैं कि जो व्यक्ति विना जाने-बूझे ईश्वर के स्वरूप के विषय मे अपने विचार प्रस्तुत करते है उन पर मुझे आश्चर्य होता है । सब अपनी-अपनी हाकते हैं, किसी की सत्य वात को कोई मानने के लिए प्रस्तुत नही । सब लोग अभिमान मे पडे हुए लाभ के वशीभूत हैं और इस प्रकार स्वय ही अपना पतन कर रहे है । ये मूर्ख अह के अथवा ममत्व-परत्व के फेर मे पड जीवन को व्यर्थ नष्ट कर रहे है । इस ससार सागर के जल में बहुत से जीव थक कर डूब गये है । ईश्वर ने मुझे दया कर परम तत्व का रहस्य वताने का आदेश दिया है किन्तु यहाँ तो कोई किसी की सुनता ही नही । अतः कबीर कहते है कि मैं सत्य तत्व को कहते-कहते हार गया, कोई मेरी बात नही मान रहा है, अब फिर मुझे दोष मत देना ।

एक कोस बन मिलांन न मेला ।
बहुतक भांति करै फुरमाइस, है असवार अकेला ॥टेक॥
जोरत कटक जु घेरत सब गढ, करतब झेली झेला ।
जोरि कटक गढ तोरि पातिसाह, खेलि चल्यौ एक खेला ॥
कूंच मुकाम जोग के घर मैं, कछू एक दिवस खटांनां ।
आसन राखि बिभूति साखि दे, फुनि ले मटी उडांनां ॥

या जोगी की जुगति जु जांनें, सो सतगुर का चेला।
कहै कबीर उन गुर की कृपा थें, तिनि सब भरम पछेला ॥३१९॥

शब्दार्थ—फुरमाइस=फरमाइश, कामनाएँ। कटक=सेना। गढ़=किला। मछेला=दूर कर दिया।

मन विषय-वासना जजाल में उलझा हुआ है और यह बहुत सी कामनाए पल्लवित करता रहता है। मन ही समस्त कर्मो का एकमात्र सचालक है। यही मन ससार मे समस्त सम्बन्ध स्थापित कर सम्बन्धियो की एक सेना वना विविध पाप कर्म करता है। इस सेना से वह अनेक शत्रुओ को पद-दलित करता हुआ संसार से चल देता है—यह कैसा क्षणिक खेल है? योग-साधना करने वाले साधक को चचलता शोभा नही देती और चचलता से वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। आसन विछाकर चुटकी भर भस्म रमा लेने से कोई योगी नही हो जाता। कवीर कहते हैं कि जो योग का उचित विधान जानता है, वही वास्तव मे अपने गुरु का शिप्य है। गुरु की कृपा ने समस्त भ्रम दूर कर दिया।

राग मारु

मन रे रांम सुमिरि, रांम सुमिरि भाई।
राम नांम सुमिरन बिनां बूड़त है अधिकाई ॥टेक॥

दारा सुत ग्रेह नेह, संपति अधिकाई।
यामै कछु नांहि तेरौ, काल अवधि आई ॥
अजामेल गज गनिका, पतित करम कीन्हां।
तेऊ उतरि पारि गये रांम नांम लीन्हां ॥
स्वांग सूकर काग कीन्हौं, तऊ लाज न आई।
रांम नांम अमृत छाँड़ि, काहे विष खाई ॥
तजि भरम करम विधि नखेद रांम नांम लेही।
जन कबीर गुर प्रसादि, रांम करि सनेही ॥३२०॥

शब्दार्थ—ग्रेह=गृह, घर। स्वान=कुत्ता। सूकर=वराह। प्रसादि=कृपा।

कबीर कहते है कि हे मन! तू राम नाम का स्मरण कर, राम-नाम स्मरण से ही कल्याण होगा। बिना प्रभु-नाम के मनुष्य भव-जल मे डूब जाता है। स्त्री, पुत्र, गृह सासारिक प्रेम तथा अतुलित धन—इन सब मे तेरा कुछ भी भाग नही है क्योकि तेरा अन्तिम समय, मृत्यु खड़ी हुई है अजामिल, गजेन्द्र, गणिका जिन्होने न जाने कितने पाप कर्म किये थे वे भी राम नाम के द्वारा ससार-सागर के पार उतर गये। श्वान, सूअर एव काग जैसे व्यवहार करके भी मनुष्य तुझे लज्जा नही आई, राम नाम के अमृत को छोड़ तूने विषय-वासना विष को अपनाया? माया भ्रम का परित्याग कर जीव तू ईश्वर नाम भज। कबीर ने तो गुरु-उपदेश के द्वारा राम से प्रेम सम्वन्ध स्थापित कर लिया।

राम नाम हिरदै धरि, निरमोलिक हीरा।
सोभा तिहूँ लोक, तिमर जाय त्रिवधि पीरा ॥टेक॥
त्रिसनां नै लाभ लहरि, काम क्रोध नीरा।
मद मछर कछ मछ, हरिष सोक तीरा॥
कांमनी अरू कनक भवर, बोये बहु बीरा।
जन कबीर नवका हरि, खेवट गुर कीरा ॥३२१॥

शब्दार्थ—निरमोलिक=अमूल्य। तिमर=तिमिर, अज्ञानांधकार। त्रिवधि पीरा=दैहिक, दैविक, भौतिक ताप।

हे साधक! तू राम नाम के अमूल्य हीरे को हृदय मे धारण कर। वह प्रभु नाम ही समस्त शसार की शोभा है जिससे मानव के दैहिक, दैविक, भौतिक ताप विनष्ट हो जाते हैं। इस संसार समुद्र मे तृष्णा और लाभकाँक्षा की लहरें उठती है तथा काम एवं क्रोध रूपी जल से यह समुद्र परिपूर्ण है। मद अभिमान इस सागर मे रहने वाले मच्छ और घातक जीव हैं। यह सागर सुख-दुःख के पुलिनों की सीमाओ मे वंधा हुआ है। इस सागर मे सुन्दरी और स्वर्ण (धन) भंवर है जिनमें पड़कर वहुत से व्यक्ति नष्ट हो गये। इस सागर से पार पाने के लिये भक्त कवीर के पास प्रभु नाम की नौका है जिसे गुरु रूपी खेवट के सहारे चलाकर मैं पार उतर जाऊंगा।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

चलि मेरी सखी हो, वो लगन रांम राया।
जव तव काल बिनासै काया ॥टेक॥
जब लग लोभ मोह की दासी,
तीरथ व्रत न छूटै जंम की पासी॥
आवैंगे जम के घालेंगे बाँटी,
यहु तन जरि बरि होइगा माटी॥
कहै कबीर जे जन हरि रंगि राता,
पायौ राजा रांम परम पद दाता ॥३२२॥

शब्दार्थ—सरल है।

कवीर अपनी आत्मा को सम्वोधित कर कहते है कि हे सखी! राजा राम मे तू अपनी चितवृत्तियों को केन्द्रित कर, अन्यथा शीघ्र ही मृत्यु इस कलेवर को विनष्ट कर देगी। जव तक आत्मा लोभ एव माया, मोह की दासी है तथा वह तीर्थ, व्रत आदि विधि-विधानो का परित्याग नही करती तव तक मृत्यु से मुक्त नही हो सकती। जब यमदूत आकर मृत्यु का फन्दा डाल देगे तो यह शरीर जलकर क्षार हो जायेगा। कबीर कहते है कि जो भक्त प्रभु के प्रेम रग मे रग जाता है वह प्रभु के परम पद की प्राप्ति कर लेता है।

राग टोडी

तूं पाक परमांनंदे ।
पीर पैकंबर पनह तुम्हारी, मै गरीब क्या गंदे ॥टेक॥
तुम्ह दरिया सबही दिल भींतरि, परमानंद पियारे ।
नैंक नजरि हम ऊपरि नांहीं, क्या कमिबखत हंमारे ॥
हिकमति करै हलाल बिचारै, आप कहांवै मोटे ।
चाकरि चोर निवालै हाजिर, सांई सेती खोटे ॥
दांइम दूवा करद बजावै, मै क्या करूं भिखारी ।
कहै कबीर मै बंदा तेरा, खालिक पनह तुम्हारी ॥३२३॥

शब्दार्थ—पैंकबर=पैगम्बर । पनह=शरण । नैंक=तनिक । दाइम=कुमार्गी । करद बजावै=आनन्द मनाते हैं ।

हे परमात्मा ! आप परमानन्द स्वरूप हैं, पैगम्बर सब आपकी शरण मे हैं, मुझ गरीब का ही क्या दोष है जो आप शरण मे नही लेते । हे प्रियतम ! आप सबके हृदय मे सरिता रूप मे प्रवाहित है, किन्तु फिर भी मेरे ऊपर तनिक भी अनुकम्पा नही करते—ऐसा मेरा अभाग्य क्यो है ? ये बड़े कहलाने वाले लोग चिकित्सा करते है (चिकित्सा दूसरो की जान बचाने का उपक्रम हैं), किन्तु स्वय ही जीव हत्या भी करते है (हलाल) । चोरी आदि करने वाले जितने भी कुचरित्री है, प्रभु की दृष्टि मे वे सब पापी है । यह दूसरी बात है कि कुमार्गी यहा आनन्द मनाते है और आप का भक्त मैं भिखारी तुल्य कगाली का जीवन व्यतीत कर रहा हू । कबीर कहते है कि हे प्रभु ! मै आपका दास हूं, मुझे अपनी शरण मे लीजिए ।

विशेष—अनुप्रास अलकार ।

अब हम जगत गौंहन तैं भागे,
जग की देखि जुगति रांमहि ढूंरि लागे ॥टेक॥
अयांन पनै थै बहु बौरांनें, संमझि परी तब फिरि पछिनांनें ॥
लोग कहौ जाकै जो मनि भावै, लहै भुवंगम कौन डसावै ॥
कबीर बिचारि इहै डर डरिये, कहै का हो इहा नै मरिये ॥३२४॥

शब्दार्थ—जुगति=क्षणभगुरता से तात्पर्य है । अयानपनै थै=अज्ञानावस्था के कारण । भुवगम=साप ।

कबीर ससार की निस्सारता, क्षणभगुरता देखकर कहते है कि अब हम जग के माया-बन्धन से भयभीत हुए । इस विश्व की ऐसी अनित्यता देखकर प्रभु की खोज में जाने का निश्चय किया । अज्ञानावस्था मे बहुत से व्यक्ति ससार-बन्धन, विषय-वासना चक्र मे पड़ जाते है, किन्तु विवेक होने पर वे पश्चात्ताप करते हैं । इस ससार-चक्र मे पडने पर माया-सर्पिणी डसता है जिससे अपरिमित व्यथा होती है, साँसारिक लोग इस पर विभिन्न प्रकार के अनुमानाश्रित वक्तव्य देते है । कबीर विचारपूर्वक

यह निश्चय करते है कि संसार मे माया नाश का कारण है किसी को भी इस माया-बन्धन मे नहीं वंधना चाहिए।

विशेष—रूपक अलंकार।

राग भैरू

ऐसा ध्यान धरौ नरहरी, सवद अनाहद च्यंतन करी ॥टेक॥
पहली खोजौ पंचे बाइ, वाइ व्यंद ले लगन समाइ ॥
गगन जोति तहां त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवनां मेलौ बंधि ॥
मन थिर होइत कवल प्रकासै, कवला माँहि निरंजन बास ॥
सतगुर संपट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तौ कहाँ बतावै ॥
सहज लछिन ले तजो उपाधि, आसण दिढ निद्रा पुनि साधि ॥
पुहप पत्र जहां हीरा मणीं, कहै कबीर तहाँ त्रिभवन धणीं ॥३२१॥

शब्दार्थ—नरहरी=नर-हरी : मनुष्य प्रभु पर (ऐसा ध्यान धरो)। अनहद =अनहद नाद। च्यंतन=चिंतन, विचार। पचे वाइ=पाच सखी, पाच ज्ञानेन्द्रियाँ। गगन=शून्य, ब्रह्मरन्ध्र। त्रिकुटी=आख, नाक एव मस्तक का सन्धि स्थल, दोनो भौहो के बीच चा स्थान। रविससि=इड़ापिंगला। पवना=पवन से, प्राणायाम से। कवल=सहस्रदल कमल। निरंजन=अलख निरजन ज्योतिस्वरूप परमात्मा। संपट =सम्पुट। निगुरा=गुरु विहीन। सहज लछिन=सहज-समाधि। दढि=दृढ। साधि=समाधि साधकर। पुहप=पुष्प। त्रिभवन धणी=त्रिलोकीनाथ परमात्मा।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! अनहद नाद स्थिति की प्राप्ति के लिये प्रभु का ध्यान करो। इसके लिए सर्वप्रथम पाचो इन्द्रियो को अपने वश मे कर कुण्डलिनी द्वारा शून्य शिखर प्राप्ति का उपक्रम करो। त्रिकुटी परम ज्योति का वास है, इडा-पिंगल को प्राणायाम द्वारा एकमेक कर वहाँ पहुंचना चाहिए। जब उपरोक्त विधि से मन पूर्ण स्थिर हो जाता है तो सहस्रदल कमल का दर्शन होता है, इसी कमल मे ब्रह्म का वास है। सद्गुरु ज्ञान—ज्योति द्वारा कमल के बन्द सपुटो को खोलकर ब्रह्म दर्शन कराते हैं। जो गुरुविहीन है उन्हे कौन ब्रह्म को बतायेगा? सहज समाधि में अह का परित्याग कर दृढमना हो समाधिस्थ होने पर आत्मा वहाँ पहुच जाती है जहाँ शून्य सरोवर के तट पर हीरा मणियो का ढेर एव त्रिलोकीनाथ का वास है—ऐसा कबीर का मत है।

विशेष—नाथ-सम्प्रदायानुकूल हठयोगी साधन का वर्णन कबीर ने उपरोक्त पद मे किया है।

इहि विधि सेविये स्री नरहरी, मन की दुबिध्या मन परहरी ॥टेक॥
जहां नहीं जहां नहीं तहां कछू जांणि, जहां नही तहां लेहु पछांणि।
नांही देखि न जइये भागि, जहां नहीं तहां रहिये लागि ॥

मन मंजन करि दसवैं द्वारि, गंगा जमुनां संधि बिचारि।
नादहि ब्यंद कि ब्यंदहि नाद, नादहि ब्यंद मिलै गोव्यंद ॥
देवी न देवा पूजा नहीं जाप, भाइ न बंध माइ नहीं बाप।
गुणातीत जस निरगुण आप, भ्रम जेवड़ी जग कीयो साप ॥
तन नांहीं कब जब मन नांहि, मन परतीति ब्रह्म मन मांहि।
परहरि बकुला ग्रहि गुन डार, निरखि देखि निधि वार न पार ॥
कहै कबीर गुर परम गियांन, सुंनि मंडल मैं धरौ धियांन।
प्यंड परें जीव जैहै जहां, जीवन ही ले राखौ तहां ॥३२६॥

शब्दार्थ—दुविध्या=द्विविधा। मजन करि=शुद्धि करके। गगा=इडा। जमुना=पिंगला। नाद=अनहदनाद। जेवड़ी=रस्सी। परतीति=प्रतीति, विश्वास।

कबीर कहते है कि मन के संशय का परित्याग कर प्रभु की सेवा भक्ति इस प्रकार करनी चाहिए—

जहां-जहा यह माना जाता है कि वहां ज्ञान की कुछ भी प्राप्ति नही हो सकती वहाँ भी ज्ञान-प्राप्ति का न्यूनाधिक प्रयत्न होना चाहिए और जहा प्रभु का अस्तित्व नही माना जाता, वही इस सर्वत्र व्यापक ब्रह्म को खोजना चाहिए। उसको प्राप्त न कर सकने के कारण भक्ति तक का मार्ग परित्याग नही कर देना चाहिए, अपितु प्रभु दर्शन तक उस मार्ग पर दृढ रहना चाहिए। इड़ा-पिंगला सम्मिलन कर मन को ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित अमृत लाभ के लिए पहुचा देना चाहिए। तभी अनहद नाद की उत्पत्ति होती है और अनहद से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस साधना विधान मे देवी देवता, पूजा—अर्चना किसी का भी विधान नही है और न ही भाई, बन्धु माँ, बाप आदि सम्बन्धी इसमे कुछ सहायक हो सकते है। यह ससार माया भ्रम और सर्परज्जु भ्रम है, वह ब्रह्म स्वयँ तो गुणातीत और निर्गुण है। मन को अन्तर्मुखी कर ब्रह्म प्राप्ति मे शरीर की सुधि विस्मृति हो जाती है। माया-भ्रम को विदूरित कर प्रभु-ध्यान से परम सुख की उपलब्धि होती है। कबीर कहते है कि सद्गुरु ने साधक को वह परम ज्ञान प्रदान किया कि शून्य मण्डल मे ही उसकी वृत्तियाँ रम गई हैं। यह शरीर ही अब यहाँ पड़ा रह गया है, आत्मा तो उस शून्य लोक—प्रभु निवास—मे रम गई है।

विशेष—"गुणातीत···साप" के वेदान्तियो के समान जगत् को 'सर्परज्जु भ्रम' द्वारा मिथ्या बताकर "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या" की पुष्टि की गई है।

अलह अलख निरंजन देव, किहि बिधि करौ तुम्हारी सेव ॥टेक॥
बिस्न सोई जाकौ बिस्तार, सोई क्रुस्न जिनि कीयौ संसार।
गोब्यंद ते ब्रह्मंडहि गहै, सोई रांम जे जुगि जुगि रहै ॥
अलह सोई जिनि उमति उपाई, दस दर खोलै सोई खुदाई।
लख चौरासी रब परवरै, सोई करीम जे एती करैं ॥

गोरख सोई ग्यांन गमि गहै, महादेव सोई मन की लहै ॥
सिध सोई जो साधै इती, नाथ सोई जो त्रिभुवन जती ।
सिध साधू पैकंबर हुवा, जपै सु एक भेषो है जूवा ।
अपरंपार का नांउ अनंत, कहै कबीर सोई भगवंत ॥३२७॥

शब्दार्थ—अलह=अलम्ब । करीम=दयालु भगवान । सिध=सिद्ध । पैकंवर =पैगम्वर ।

कवीर यहाँ ब्रह्म की एकता प्रतिपादित कर नामो की विभिन्नता वताते कहते है कि हे अलख निरजन ज्योतिरूप परमात्मा ! मै किस भाँति आपकी भक्ति करू ? विष्णु वही है जिसका सम्पूर्ण सँसार मे विस्तार है, कृष्ण वही है जिसने सृष्टि का सृजन किया है । गोविन्द वही है जो समस्त ब्रह्माण्ड मे परिपूर्ण है, राम वही है जो युग-युग तक रहता है । अल्लाह वही है जिसने समस्त ससार मे कर्म-विधान रचा हैं, चौरासी लाख योनियो मे जीव का जन्म मरण रचने वाला करीम है । गोरखनाथ वही है जिसने समस्त ज्ञान-विज्ञान जान लिया हे । महादेव वही है जो दूसरे के मन की वात जान ले । इन सवको एक मांनकर भजने वाला ही सिद्ध साधु और पैगम्वर हो जाता है । कवीर कहते है कि उस रहस्यमय परम परमात्मा के नाम भी उसी के समान अनन्त है । भाव यह है कि जिस प्रकार ब्रह्म का पार नही पाया जा सकता उसी प्रकार उसके नामो का ।

विशेष—इस पद मे कवीर ने भगवान् के विविध नामो का उल्लेख करते हुए वताया है कि वस्तुत. भगवान् एक ही के हे विविध नाम धारी है ।

तहां जौ रांम नांम ल्यौ लागै, तौ जुरा मरण छूटै भ्रम भागै ॥टेक॥
अगम निगम गढ़ रचि ले अवास, तहुवां जोति करै परकास ।
चमकै बिजुरी तार अनंत, तहां प्रभू बैठे कवलाकत ॥
अखंड मंडिल मंडित मंड, त्रि-स्नांन करै त्रीखंड ।
अगम अगोचर अभि-अंतरा, ताकौ पार न पावै धरणींधरा ॥
अरध उरध बिचि लाइ ले अकास, तहुवां जोति करै परकास ।
टार्‌यौ टरै न आवै जाइ, सहज सुंनि मै रह्यौ समाइ ॥
अवरन वरन स्यांम नहीं पीत, हाहू जाइ न गावै गीत ।
अनहद सवद उठै झणकार, तहां प्रभू बैठे समरथ सार ॥
कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज मै लिया निवास ॥
द्वादस दल अभि-अंतरि म्यंत, तहां प्रभू पाइसि करलि च्यंत ॥
असिलन मलिन घांम नही छांहां, दिवस न राति नही है तहां ।
तहां न ऊगै सूर न चद, आदि निरंजन करै अनंद ॥
ब्रह्मंडे सो प्यंडे जांनि, मांनसरोवर करि असनांन ।
सोहं हंसा ताकौ जाप, ताहि न लिप पुन्य न पाव ॥

काया मांहे जांनै सोई, जो बोलै सो आपै होई।
जोति मांहि जे मन थिर करै, कहै कबीर सो प्रांणी तिरै ॥३२८॥

शब्दार्थ—जुरा=जरावस्था, बुढापा। कवलाँकत=कमलापति। धरणीधरा=शेषनाग। अवरन=वर्ण-रहित। च्यत=चिंतन करना। लिप=लगना।

यदि शून्य शिखर पर राम नाद मे व्यक्ति की वृत्तियाँ केन्द्रित हो जायें तो जन्म और मृत्यु का बंधन छूट मुक्ति हो जाती है। जो स्थान समस्त धर्म ग्रन्थो की पहुंच से परे है, उसी शून्य पर परम ज्योति का अद्वितीय प्रकाश प्रकाशित हो रहा है। वहा विद्युत-सदृश अनन्त प्रकाश हो रहा है और ब्रह्म का वास वही है। वह ईश्वर अन्तरबाह्य से अगम्य एव अदृश्य है, शेषनाग भी उसका पार नही पा सकते। त्रिकुटी पर उस परमात्मा का निवास है। वह वहाँ दृढ रूप से स्थित है और शून्य मे रमा रहता है। वह रूप रेखा विहीन और सर्वथा अवर्णनीय है। न उसे सुख है और न कोई दुख। जहाँ निरन्तर अनहद नाद की सगीत लहरी गुजित होती है वही सर्व प्रकार के समर्थ प्रभु का वास है। जिस शून्य शिखर पर कदली, सुमन और अनन्त दीपमालिका का प्रकाश है उसी 'अनाहत चक्र' मे प्रभु का वास है। वहाँ सुख-दुख, धूप-छाह, दिवस रात्रि आदि की स्थिति नही है। वहाँ न सूर्य और चन्द्र उदित होते है— सम अवस्था है और आनन्द स्वरूप ब्रह्म का निवास है। जो समस्त संसार मे है, वही इस शरीर मे स्थित है ऐसा मान कर मन को अन्तर्मुखी कर शून्य स्थित मान-सरोवर मे स्नान करना चाहिए। वही मुक्तात्मा है जो पाप-पुण्य से निर्लेप इस ब्रह्म का सर्वदा ध्यान करते है। शरीर के मध्य मे बोलने वाला हस ही उस ब्रह्म का रूप है। कबीर कहते है कि जो ज्योति रूप परमात्मा मे अपनी वृत्तियाँ केन्द्रित कर लेता है वह मुक्त हो जाता है।

विशेष—इस पद मे कबीर ने ब्रह्मलोक का निर्गुण साधना के अनुसार वर्णन किया है।

एक अचंभा ऐसा भया, करणी थैं कारण मिटि गया ॥टेक॥
करणी किया करम का नास, पावक मांहि पुहुप प्रकास।
पुहुप मांहि पावक प्रजरै, पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै॥
प्रगटी वास बासना धोइ, कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ।
उपजी च्यंत च्यंत मिटि गई, भौ भ्रम भागा ऐसी भई॥
उलटी गंग मेर कूं चली, धरती उलटि अकासहि मिली।
दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राह कौं गहै ॥३२९॥

शब्दार्थ—पावक=अग्नि। पुहुप=पुष्प। गग=गगा, इड़ा मेर=पर्वत सुषुम्ना ससिहर=चन्द्रमा।

कबीर कहते है कि ऐसी विचित्र घटना हो गई कि साधना द्वारा जिसकी प्राप्ति की इच्छा थीवह प्राप्त हो गया। साधना ने कर्म-जाल नष्ट कर डाला और परमज्योति पर सहस्रदल कमल का विकास दृष्टिगोचर हुआ। इस कमल मे ही अनन्त प्रकाश-

वान् परमात्मा है जिसके दर्शन से पाप पुण्य का भ्रम मिट जाता है। उस कमल की सुगन्ध से वासना विदूरित हो गई एव कुल-परिवार का मोह त्याग देने से पूर्ण ब्रह्म के दर्शन हुए। चिंतामणि स्वरूप ब्रह्म के दर्शन से सासारिक चिंता का नाश हो गया एव ससार-सशय समाप्त हो गया। उल्टी गंगा सुमेरू पर्वत (हिमालय से तात्पर्य) को चली अर्थात कुण्डलिनी ऊर्ध्वगामी हो गई। जिससे उसने शून्य में विस्फोट किया। कबीरदास जी उस परमात्मा का वर्णन करते कहते है कि परम-ज्ञान ने माया को नष्ट कर डाला।

विशेष—१. यमक, रूपक, विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार।
२. उलटवासी शैली की प्रतिकात्मकता दर्शनीय है।

है हजूरि क्या दूरि बतावै, दुंदर बांधे सुंदर पावै ॥टेक॥
सो मुलनां जो मन सूं लरै, अह निसि काल चक्र सूं भिरै॥
काल चक्र का मरदै मांन, तो मुलनां कूं सदा सलांम॥
काजी सो जो काया विचारै, अहं नसि ब्रह्म अगनि प्रजारै।
सुप्पनै विद न देई झरनां, ता काजी कूं जुरा न मरणां॥
सो सुलितांन जुद्धै सुर तांनै, वाहरि जाता भीतरि आनै।
गगन मंडल मै लसकर करै, सो सुलितांन छत्र सिरि धरै॥
जोगी गोरख गोरख करै, हिंदू रांम नाम उच्चरै।
मुसलमांन कहै एक खुदाइ,
कबीरा कौ स्वांमीं घटि घटि रह्यौ समाइ ॥३३०॥

शब्दार्थ— दुदर=दादुर। मुलना=मौलाना। अह नसि=अहकार का नाश करके।

कबीर कहते है कि ब्रह्म तो सर्वत्र परिव्याप्त है, फिर उसे दूर क्या बताना, विषय-विकारों के दादुर को वश मे कर उस सुन्दर परमात्मा के दर्शन होते है। मौलाना तो वही है जो रात-दिन कालचक्र से लडता हुआ मन को नियन्त्रित रखे। जो मृत्यु-चक्र—आवागमन—को जीत ले उस मौलाना को सर्वदा मेरा नमस्कार है। काजी वही है जो अहकार का नाश करके ब्रह्म की प्रेम-वेदना से विदग्ध होता हुआ शरीर शुद्धि का प्रयत्न करे। जो स्वप्न में भी माया-मोह मे ग्रसित नही होता उस काजी को जरा मरण का भय नही रहता वह जीव-मुक्त हो जाता है। राजा तो वही है जो अन्तर वाह्य की शुद्धि कर विषय-वासना से युद्ध करता है। वास्तव मे जो शून्य मण्डल मे अपनी समस्त वृत्तियो को केन्द्रित कर देता है वही छत्रधारी राजा है प्रत्येक योग का साधक गोरखनाथ वन सकता है। हिन्दू उसी ब्रह्म को राम के नाम से जानते है और मुसलमान खुदा नाम से—किन्तु वास्तव मे वह घट-घट वासी ब्रह्म एक ही है, केवल उसके नाम बहुत से है।

विशेष—ब्रह्म के एकरूपत्व का वर्णन है।

आऊंगा न जाऊंगा, मरूंगा न जीऊंगा।
गुरु के सबद मै रमि रमि रहूंगा ॥टेक॥
आप कटोरा, आपैं थारी, आपैं पुरिखा आपैं नारी।
आप सदाफल आपैं नींबू, आपैं मुसलमांन आपैं हिंदू ॥
आपैं मछ कछ आपैं जाल, आपैं झींवर आपैं काल।
कहै कबीर हम नांहीं रे नांहीं, नां हंम जीवत न मुवले मांहीं ॥३३१॥

शब्दार्थ—पुरिखा=पुरुष। मछ=मछली। कछ=कछुवा। झीवर=मछली पकड़ने वाला, मछेरा।

कबीर कहते है कि मैं गुरु के उपदेश के द्वारा राम-नाम मे रम जाऊँगा और फिर आवागमन के चक्र मे पड़ जन्म मृत्यु की वेदना नही भोगूँगा। वह ब्रह्म आप ही थाली है आप ही कटोरी, आप ही पुरुष और आप ही नारी है। आप ही सदा फल है और आप ही नीबू। आप ही मुसलमान और हिन्दू दोनो है। प्रभु आप स्वयं ही मछली कछुआ है और स्वयं ही उनको पकडने वाला और फिर स्वयं ही उनको मारने वाला। कबीर कहते हैं कि हम कुछ नही हैं, ब्रह्म ही सब कुछ है। जीवित रहते हुए भी हमारा अस्तित्व मिथ्या है।

विशेष—ब्रह्म की सर्वशक्तिमता का वर्णन है।

हंम सब मांहि सकल हम मांहीं, हम थैं और दूसरा नांहीं ॥टेक॥
तीनि लोक मै हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा।
खट दरसन कहियत हम भेखा, हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा॥
हमहीं आप कबीर कहावा, हमहीं अपनां आप लखावा ॥३३२॥

शब्दार्थ—पसारा=प्रसार। खट=षट, छः। कबीर=परमात्मा से तात्पर्य है।

यहाँ कबीर उस अवस्था में प्रभु कथन कर रहे हैं जहा अंश-अंशी भक्त भगवान आत्मा परमात्मा मे कोई अन्तर शेष नही रह जाता—'साधक अहं ब्रह्मास्मि' का घोष कर उठता है। वे कहते है कि मेरा प्रसार समस्त जगत मे है और समस्त संसार मेरे कलेवर में ही समाया हुआ है। तीनो लोको मे हमारा ही प्रसार है और भगवान द्वारा सृष्टि क्रम जो चल रहा है, उसका नियन्ता भी मैं ही हूँ। षटदर्शन मेरे स्वरूप की व्याख्या का प्रयत्न करते है, किन्तु मैं निर्गुण उनकी पहुंच से परे हूं। मुझमे और कबीर मे कोई अन्तर नही रह गया। मुझे (परमात्मा को) किसी के पथ प्रदर्शन की आवश्यकता नही।

विशेष—१. तीन लोक—आकाश, पृथ्वी, पाताल।
२. षटदर्शन—साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमासा, वेदान्त।

सों धन मेरे हरि का नांउ, गांठि न बांधौं बेचि न खांउ ॥टेक॥
नांउ मेरे खेती नांउ मेरे बारी, भगति करौं मै सरनि तुम्हारी।
नांउ मेरे सेवा नांउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जांनौं दूजा ॥

नांउ मेरे बंधव नांव मेरे भाई, अंत की बिरियां नांव सहाई।
नांउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कबीर जैसे रंक मिठाई ॥३३३॥

शब्दार्थ—वंधव=वाधव। विरियाँ=समय में। रक=गरीव।

कबीर प्रभु-नाम महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहते है कि मुझे ईश्वर नाम का वह अनुपम अमूल्य धन प्राप्त हो गया है कि न तो इसे गाठ मे वाधकर रखने की आवश्यकता है और न इसका अपव्यय कर समाप्त करने की। हे परमात्मा! मै आपकी शरण मे पडा हुआ हूं, मेरी खेती-वारी जीविका का साधन एकमात्र राम-नाम ही है। नाम स्मरण को ही मैं आपकी भक्ति पूजा-अर्चना, सव कुछ समझता हू एवं आपके अतिरिक्त मुझे कोई आश्रय नही है। आपका नाम ही मेरा वन्धु-वान्धव और अन्य सम्वन्धी हैं, मृत्यु के समय भी नाम-स्मरण से ही मोक्ष होगा। कवीर कहते हैं कि नाम मेरे लिए ऐसा ही है जैसे निर्धन को अमूल्य सम्पत्ति प्राप्त हो गई हो, जैसे भिखारी को भिक्षा मे मिठाई मिल गई हो।

विशेष—उपमा अलंकार।

अब हरि हूँ अपनौं करि लीनौं,
प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं ॥टेक॥
जरै सरीर अंग नहीं मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं।
च्यंतामणि क्यूं पाइए ठोली, मन दे रांम लियौ निरमोली॥
ब्रह्म खोजत जनम गवायौ, सोई रांम घट भीतरि पायौ।
कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यो विसवासा ॥३३४॥

शब्दार्थ—भीनो=भीगा हुआ। ठोली=यू ही, विना परिश्रम के।

अब प्रभु ने मुझे अपना लिया, इसीलिए उनके प्रेम रग से मै स्नात हू। मै भक्ति मार्ग को शरीर के जल जाने तथा प्राणो के निकल जाने पर भी नही छोड सकता। चिंतामणि स्वरूप अमूल्य ब्रह्म को यूं ही प्राप्त नही किया जा सकता उसके लिए साधना द्वारा मन का पूर्ण समर्पण करना होगा। जिस ईश्वर को खोजते-खोजते जन्म व्यर्थ कर डाला उसी को हृदय मे ही पा लिया। कबीर कहते हैं कि प्रभु के मिलने पर समस्त सासारिक कामनाए विनष्ट हो गई और ईश्वर मे और भी अधिक विश्वास वढ गया है।

विशेष—रूपक अलंकार।

लोग कहै गोबरधनधारी, ताको मोहिं अचंभौ भारी ॥टेक॥
अष्ट कुली परवत जाके पग की रैनां, सातौं सायर अंजन मैनां।
ऐ उपमां हरि किती एक ओपैं, अनेक मेर नख ऊपरि रोपैं॥
धरनि अकास अधर जिनि राखी, ताकी मुगधा कहैं न साखी।
सिव बिरंचि नारद जस गावै, कहै कबीर वाको पार न पावै ॥३३५॥

शब्दार्थ—रैना=रेणु, धूलि। सायर=सागर। ग्रोपं=शोभित। मेर=सुमेरु। रोपै=गाडना, यहाँ उठाने के अर्थ मे प्रयुक्त। अधर=विना किसी आधार के मुगधा=महिमा।

कबीर कहते है कि इस ब्रह्म को लोग 'गोवर्द्धनधारी' कहकर केवल एक पर्वत को उठाने वाला कहते हैं इसका मुझे बडा आश्चर्य है। वह तो इतना समर्थ है कि ईश्वर मे आठो परिवारो के जो पर्वत है वे सब उसकी चरण-धूलि के तुल्य हैं एवं सात सागर उसके नेत्रो के अंजन के ही बराबर है। एक यह उपमा तो कुछ ठीक लगती है कि वह अनेक सुमेरु जैसे पर्वतो को अपने नाखून पर उठा सकता है। जिस ईश्वर ने पृथ्वी और आकाश को विना किसी आधार पर स्थिर कर रखा है उसकी महिमा का वर्णन साखी (कविता) द्वारा नही किया जा सकता। कबीर कहते है कि शिव, ब्रह्मा तथा नारद जैसे महर्षि जिसके यश का गुणगान करते नही अघाते, उसका रहस्य नही पाया जा सकता।

विशेष—परिकराकुर अलकार।

रांम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे ॥टेक॥
अंजन उतपति वो ऊंकार, अंजन मांड्या सब बिस्तार।
अंजन ब्रह्मा संकर इंद, अंजन गोपि संगि गोव्यंद॥
अंजन बांणीं अंजन बेद, अंजन कीया नांनां भेद।
अंजन विद्या पाठ पुरांन, अंजन फोकट कथहि गियांन॥
अंजन पाती अंजन देव, अंजन की करै अंजन सेव।
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनंत दिखावै॥
अंजन कहौं कहां लग केता, दांन पुंनि तप तीरथ जेता।
कहै कबीर कोई बिरला जागै, अंजन छाड़ि निरंजन लागै ॥३३६॥

शब्दार्थ—इद=इन्द्र। केता=कितने। जेता=जितने।

वह ज्योतिस्वरूप परमात्मा अत्यन्त अद्भुत है, उसी का समस्त ब्रह्माण्ड मे प्रसार है। वह निरंजन ही जगत् की उत्पत्ति का कारण 'ओकार' है—वह सर्वत्र व्यापक है। वही ब्रह्मा, शकर तथा इन्द्र और गोपियो के प्रेमी श्रीकृष्ण है। यह परमात्मा ही सरस्वती एवं वेद है—उसके ये अनेक भेद है। सकल विद्या एव धर्म-शास्त्र भी वही है और वह स्वय ही शास्त्रग्रथो मे वर्णित ज्ञान का व्याख्याता है। वही स्वय पत्र-पूजा—नैवेद्य है, स्वय प्रतिमा है और स्वय ही पुजारी। वही प्रभ-प्रतिमा के सम्मुख नाचने और गाने वाला है—इस प्रकार वह नाना रूपो मे स्वयं सृष्टि का संचालन करता है। दान-पुण्य, जप-तप, तीर्थ व्रतादि मे भी वही है, उसका वर्णन कहाँ तक किया जाय। कबीर कहते हैं कि कोई विरला व्यक्ति ही उस परम प्रभु के लिए साधना करता है और उसे प्राप्त कर पाता है।

अंजन अलप निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहु बिचार ।।टेक।।
अंजन उतपति बरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई ।
अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ ।।
जोग ध्यांन तप सबै विकार, कहै कबीर मेरे रांम अधार ।।३३७।।

शब्दार्थ—अलप=अनित्य । घटि=हृदय मे ।

कवीर कहते है कि जो ससार दिखाई देता है वह अनित्य है, मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही सत्य है ऐसा विचार कर मनुष्यो उस ब्रह्म को पहचानने का प्रयत्न करो। दृश्य ससार की उत्पत्ति, व्यवहार कर्म, बिना ज्योतिस्वरूप परमात्मा के नही हो सकता। दृश्यमान ससार तो उत्पत्ति और नाश के चक्र मे वधा हुआ है। परमात्मा सव के हृदय मे रम रहा है। योग, ध्यान, जप, तप आदि समस्त विधि-विधान विकार मात्र है कवीर को तो केवल राम नाम का ही आश्रय है।

एक निरंजन अलह मेरा, हिंदू तुरक दहूँ नहीं मेरा ।।टेक।।
राखूं व्रत न महरम जांनां, तिसही सुमिरूं जो रहे निदांनां ।
पूजा करूं न निमाज गुजारूं, एक निराकार हिरदै नमसकारूं ।।
नां हज जांऊं न तीरथ पूजा, एक पिछांण्यां तौ क्या दूजा ।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूं मन लागा ।।३३८।।

शब्दार्थ—महरम=मर्म, रहस्य । नमसकारू=नमस्कार करता हूं ।

कथीर कहते है कि मेरा तो एकमात्र सम्वन्ध राम से ही है, हिन्दू-मुसलमान इन दोनो मे से कोई भी मेरा नही है। मैं न तो व्रत धारण करता हू और न मौहर्रम मे तत्सम्वन्धी आचरण करता हूं, मैं तो ईश्वर का स्मरण कर पूर्ण निश्चिन्त हो जाता हू। चाहे पूजा और नमाज न करूं, किन्तु उस एक पूर्ण परमेश्वर को हृदय मे नमस्कार कर लेता हू, मैं हज और तीर्थ यात्रा का विश्वासी हू. भला जव ब्रह्म को पहचान लिया तो इन व्यर्थ के कृत्यो से क्या प्रयोजन ? कवीर कहते है कि उस परमात्मा से मन की लगन लग जाने से संसार-भ्रम दूर हो गया।

विशेष—कवीर की एक ब्रह्म की भावना का वर्णन है।

तहां मुझ गरीब की को गुदरावै,
मजलसि दूरि महल को पावै ।।टेक।।
सतरि सहस सलार हैं जाकै, असी लाख पैकंबर ताकै ।
सेखु जु कहिय सहस अठ्यासी, छपन कोडि खेलिबे खासी ।।
कोड़ि तेतीसूं अरू खिलखांनां, चौरासी लख फिरै दिवांनां ।
बाबा आदम पैं नजरि दिलाई, नबी भिस्त घनेरी पाई ।।
तुम्ह साहिब हम कहा भिखारी, देत जबाब होत बजगारी ।
जन कबीर तेरी पनह समांनां, भिस्त नजीक राखि रहिमांनां ।।३३९।।

शब्दार्थ—गुदरावै=पहुच होना। सलार=सैनिक। कोडि=करोड बज-गारि=धृष्टता। पनह=शरण।

कबीर कहते है कि प्रभु का महत्व वहुत दूर और अगम्य है, मन्जिल दूर है, मैं गरीव किस भाँति वहा तक पहुच सकता हूं। उस ब्रह्म की महिमा अपरम्पार है। सत्तर सहस्र तो उसके सैनिक और अस्सी लाख पैगम्वर है। अट्ठासी हजार शेख और छप्पन करोड खेलने वाले (सयाने) है। तैंतीस करोड व्यक्ति चौरासी लाख योनियो मे उसी के कारण भटक रहे है। भ्रम मे पड़े हुए लोग वावा, नवी, फकीर आदि से झाड, फूक करवा नजर उतरवाते है—यह सब व्यर्थ है। हे प्रभु! आप स्वामी है और मैं भिखारी; आपके सम्मुख अधिक कहना भी धृष्टता होगी। दास कबीर तो अव आपकी शरण मे आ गया है उसे वहिश्त अथवा अन्य किसी सुख की कामना नही, केवल आपकी कृपा ही सब कुछ है।

जौ जाचौं तो केवल रांम, आंन देव सूं नांही काम ॥टेक॥
जाकै सूरिज कोटि करैं परकास, कोटि महादेव गिरि कविलास।
ब्रह्मा कोटि बेद ऊचरैं, दुर्गा कोटि जाकै मरदन करैं॥
कोटि चंद्रमां गहैं चिराक, सुर तेतीसूं जीमैं पाक।
नौग्रह कोटि ठाढे दरवार, धरमराइ पौली प्रतिहार॥
कोटि कुबेर जाकै भरे भंडार, लछमीं कोटि करे सिंगार।
कोटि पाप पुनि व्यौहरैं, इंद्र कोटि जाकी सेवा करैं॥
जगि कोटि जाकै दरवार, ग्रध्रप कोटि करैं जैकार।
बिद्या कोटि सबै गुंण कहैं, पारब्रह्म कौं पार न लहैं॥
बासिग कोटि सेज बिसतरैं, पवन कोटि चौबारैं फिरैं।
कोटि समुद्र जाकै पणिहारा, रोमावली अठारह भारा॥
असंखि कोटि जाकै जमावली, रांवण सेन्यां जाथैं चली।
सहसबांह के हरे परांण, जरजोधन घाल्यौ खै मांन॥
बावन कोटि जाकै कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल।
लट छूटी खेलै बिकराल, अनत कला नटधर गोपाल॥
कद्रप कोटि जाकै लांवन करे, घट घट भींतरि मनसा हरैं।
दास कबीर भजि सारंगपान, देहु अभै पद मांगौं दांन ॥३४०॥

शब्दार्थ—जाचौ=याचना करना, भक्ति करना। चिराक=प्रकाश करना। पाक=भोजन। प्रतिहार=द्वारपाल। ग्रधय=गधर्व। वासिग=शेष नाग। परिणहारा=पानी भरने वाला। जरजोधन=दुर्योधन। कद्रप=कदर्प, कामदेव।

कबीर कहते है कि यदि भक्ति करनी है तो केवल एक राम की ही करनी चाहिए, अन्य विविध देवी-देवताओ से कोई प्रयोजन नही। वह प्रभु ऐसा है कि जिसका प्रकाश कोटि-कोटि सूर्य-समूह के समान है और वहाँ करोडो महादेव कैलाश

सहित विराजमान है। करोड़ो ब्रह्मा वेद-ऋचाओ का उच्चारण करते है और करोडों दुर्गा वहाँ असुरो का नाश करती है। करोडो नवग्रह प्रभु के दरबार मे अनुचर नाईं उपस्थित है और स्वयं धर्मराज चौकीदार और प्रतिहारी का कार्य करते है। असख्य कुबेर उस ब्रह्म के भण्डार को पूर्ण करने मे सलग्न है और करोडो लक्ष्मियाँ उसका शृ गार करती है। अगणित इन्द्र उसकी सेवा मे उपस्थित रहते हैं तथा करोड़ों पाप-पुण्य वहा खडे रहते है। जिसके दरबार मे करोडो सृष्टियो के मनुष्य और सुन्दर स्वर वाले गन्धर्व जय-जयकार करते है, उस परमेश्वर के गुणो का असख्य विद्याए भी वर्णन नही कर पाती। कोटि-कोटि वासुकि उसकी शय्या प्रस्तुत करते हैं और असख्य पवन उसके प्रागण को सुरक्षित करते है। कोटि कोटि समुद्र उसकी पनिहारिने है, अट्ठारह सहस्र रोमावली भार उठाने के लिए वहाँ सन्नद्ध है। असख्य कोटि उसके यमदूत है जिनके द्वारा सृष्टि मे प्रलय होती है। रावण की सेना का सहार उन्होने ही किया था। सहस्रबाहु का वध और दुर्योधन का मान खण्डित कर नाश उन्होने ही किया है। बावन करोड उसके गुप्तचर और प्रत्येक मे क्षेत्रपाल नियुक्त हैं। जब वे नटवर नागर नृत्य-रत होते है तो उनकी केशराशि भयंकर बनकर छितराती है। करोडो कदर्प जिसकी स्तुति करते है, ऐसा महिमावान् ब्रह्म घट घट वासी है। कबीर कहते है कि कमल के समान हाथो वाले प्रभु की भक्ति कर अभय-पद, परमपद का वरदान माँगना चाहिए।

विशेष—कबीर के निर्गुण ब्रह्म मे यहा पर्याप्त मात्रा मे सगुण के तत्व विद्यमान है।

मन न डिगै ताथैं तन न डराई,
केवल राम रहे ल्यौ लाई ॥टेक॥

अति अथाह जल गहर गंभीर, बांधि जंजीर जलि बोरे हैं कबीर।
जल की तरग उठि कटिहैं जंजीर, हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर॥
कहै कबीर मेरे संग न साथ, जल थल मै राखै जगनाथ॥३४१॥

शब्दार्थ—बोरे=डूबना। जगन्नाथ=प्रभु।

कबीर कहते है कि मेरा मन चचल नही है इसलिए शरीर को कोई भय नही, मैंने अपनी समस्त चित्तवृत्तियाँ राम मे केन्द्रित कर दी है। ससार सागर का जल अत्यन्त गम्भीर है, उसमे माया बन्धन मे बाधकर कबीर को डाल दिया है। प्रभु-प्रेम की तरग उठने से माया की शृखला टूट गई और ईश्वर का नाम जपने से कबीर ससार के पार हो गया अथवा शसार से तटस्थ हो गया। कबीर कहते है कि मेरे साथ कोई सहायक नही है, किन्तु जल-थल मे सर्वत्र त्रिलोकीनाथ मेरी रक्षा करते है।

भलै नींदौ भलै नींदौ भलै नींदौ लोग,
तन मन रांम पियारे जोग ॥टेक॥

मै बौरी मेरे रांम भरतार, ता कारंनि रचि करौं स्यंगार।
जैसे धुबिया रज मल धोवै, हर-तप-रत सब निंदक खोवै॥

न्यंदक मेरे माई बाप, जन्म जन्म के काटे पाप।
न्यंदक मेरे प्रांन अधार, बिन बेगारि चलावै भार॥
कहै कबीर न्यंदक बलिहारी, आप रहै जन पार उतारी॥३४२॥

शब्दार्थ—नीदो=निंदा करने वाले। बौरी=पागल होना। न्यंदक=निंदक बेगारि=लेना, मजदूरी आदि।

निन्दा करने वाले मनुष्य बहुत श्रेष्ठ है, उनसे घृणा नही करनी चाहिए—वे तन-मन से प्रिय प्रभु के भजन मे प्रवृत्त कराते है। मैं राम-प्रेम में दीवानी हू, वही मेरे प्रियतम है, मैं उन्ही के लिए रूप सज्जा करती हू। जैसे धोबी मल मल कर वस्त्र की कलुषता दूर करता है उसी भाँति प्रभु की भक्ति मे लगे हुए भक्त के समस्त विकार निंदक द्वारा दूर हो जाते है—वह बुराई करता है और अपने दोषो का इंगित पा भक्त उन्हे दूर कर लेता है। कबीर कहते हैं कि निन्दक मेरे माता पिता तुल्य है जो जन्म जन्मातर के पाप दूर करने मे सहायता देता है। वस्तुत निन्दक ही मेरे जीवन का आधार है जो बिना कुछ लिए हमारा कलुष दूर करवाता है। कबीर कहते है मै निन्दक की बलिहारी जाता हू जो दूसरो का उपकार कर स्वय गर्त में गिरता है।

विशेष—१. उपमा अलंकार।
२. "निंदक नियरै राखियै, आगन कुटी छवाय।"

जौ मै बौरा तौ रांम तोरा, लोग मरम का जांन मोरा॥टेक॥
माला तिलक पहरि मनमानां, लोगनि रांम खिलौनां जांनां।
थोरी भगति बहुत अहंकारा, ऐसे भगतां मिलै अपारा॥
लोग कहैं कबीर बौराना, कबीरा कौ मरम रांम भल जांना॥३४३॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु-प्रेम मे दीवाना हू और लोग मुझे पागल समझते है किन्तु ये पागल कहने वाले मेरा रहस्य नही समझ पाते है। लोग माला तिलक धारण कर अपने को भक्त मानते है, उन्होने राम को खिलौना मात्र समझ लिया है। इस ससार मे ऐसे अनेक भक्त मिल जायेगे जो थोडी भक्ति करने पर दम्भ मे मरे जाते है। ससार कहता है कि कबीर पागल हो गया है, किन्तु कबीर की मन. स्थिति को केवल राम ही जानते है।

हरिजन हंस दसा लीये डोलै,
निर्मल नाव चवै जस बोलै॥टेक॥
मानसरोवर तट के बासी, राम चरन चित आंन उदासी।
मुकताहल बिन चंच न लावै, मौंनि गहैं कै हरि गुन गावै॥
कऊवा कुबधि निकटि नहीं आवै, सो हंसा निज दरसन पावै।
कहै कबीर सोई जन तेरा, खीर नीर का करै नबेरा॥३४४॥

शब्दार्थ—चवै=स्रवित होना। मुकताहल=मोती। चंच=चोंच। कऊवा=कौवा। खीर—क्षीर। करै नवेरा=विवेक रखता है।

प्रभु भक्त की दशा हस के समान है, वह केवल ईश्वर के निर्मल नाम को ही ग्रहण करता है। वह भक्त शून्य स्थित मान सरोवर के तट का वासी हो जाता है, राम चरणो के अतिरिक्त अन्य किसी ओर उसकी वृत्ति नही रमती। जिस प्रकार हस मोती के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को ग्रहण नही करता, उसी भाँति हरि भक्त या तो प्रभु गुणगान अरता है अन्यथा अपनी वाणी को मौन का आवरण दे देता है। भक्त के निकट कुबुद्धिरूप कौए नही आते और वह हंसात्मा प्रभु का दर्शन पा जाते है। कवीर कहते हैं कि वह ईश्वर भक्त है जो क्षीर नीर विवेक रखता है।

विशेष—१. हस के विषय मे यह कवि-प्रसिद्धि है कि वह मिले हुए दूध और जल मे से दूध दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को छोड़ देता है। इस सम्बन्ध मे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'हस का नीर क्षीर विवेक' निबंध दर्शनीय है।

२. रूपक अनुप्रास अलकार।

सति रांम सतगुर की सेवा, पूजहु रांम निरंजन देवा ॥टेक॥
जल कै मंजन्य जो गति होई, मींनां नित ही न्हावै।
जैसा मींनां तैसा नरा, फिरि फिरि जोनीं आवैं ॥
मन मैं मैला तीर्थ न्हांवै, तिनि वैकुंठ न जांनां।
पाखंड करि करि जगत भुलांनां, नांहिन रांम अयांनां ॥
हिरदै कठोर मरै वानारसि, नरक न वच्या जाई।
हरि कौ दास मरै जे मगहरि, सेन्यां सकल तिराई ॥
पाठ पुरांन वेद नही सुमृत, वसै निरंकारा।
कहै कबीर एक ही ध्यावो, वावलिया संसारा ॥३४५॥

शब्दार्थ—मजन्य=स्नान करने से। वानारसि=तनारस, काशी। सुमृत=स्मृति। वावलिया=पागल।

कबीर कहते है कि ससार मे राम सेवा और गुरु सेवा ही सत्य है, अन्य सव मिथ्या, इसलिए निराकार परमात्मा की आराधना ही श्रेयस्कार है। भला यदि जल मे स्नान मात्र से मुक्ति की प्राप्ति हो जाय तो मछली नित्य ही पानी मे स्नान के कारण मुक्त हो गई होती किन्तु मीन और जीव दोनो ही स्नान से मुक्त नही हुए है इसलिए वारम्वार आवागमन चक्र मे पड विभिन्न योनियो के भ्रमित होते है। जो मन मे कलुष रहते हुए तीर्थ स्नान करता है, वह स्वर्ग लाभ नही करता। समस्त ससार पाखण्ड और ढोग कर भ्रमित हो रहा है किन्तु प्रभु अज्ञानी नही है, वह सब कुछ देखता है। जो हृदय को कठोर कर काशी करवट लेते है, वे नरक से नही वच पाते। प्रभु भक्त तो मगहर मे जाकर ही मरता है, वहाँ मर कर सव के सब मुक्ति लाभ कर गये है। जहा पुराण, वेद, स्मृति आदि धर्मग्रन्थो का तर्क जाल

समाप्त हो जाता है, वहा निराकर ब्रह्म का निवास स्थान है। कबीर कहते हैं कि हे मूर्ख संसार! एक परमेश्वर का ही ध्यान कर, अन्य समस्त क्रिया कलाप मिथ्या है।

विशेष—१."मरै बानारसि"—मे 'काशी करवट' की ओर सकेत है, अंध-विश्वासी धार्मिक जनता काशी के एक कुए मे जिसमे आरा लगा हुआ था गिरकर शरीर को कटवा देती थी। उन लोगो को विश्वास था कि इस कुएं मे गिरकर प्राण-त्यागने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वस्तुतः यह कुछ पुजारियो का ढोग था। धनिक लोग खूब शृंगार-सज्जा कर, स्त्रियाँ आभूषणो से लद, जब इसमे कूदती थी तो वे पुजारी आरा चला कर उनका काम तमाम कर देते थे और जो निर्धन पुरुष तथा स्त्रियाँ कुए मे गिरती थी उनके लिए आरा नही चलाया जाता था और कह देते थे कि तुम स्वर्ग के योग्य नही हो, वे कुएं से वापस निकल आते थे। आरा चलाने का कार्य नीचे ही नीचे गुप्त रूप से इस प्रकार होता था कि वह स्वचालित सा लगता था। इसका रहस्य एक अग्रेज अधिकारी ने पकड कर इसे बन्द करा दिया।

२ 'मरै मगहरि'—सामान्य जनता मे यह विश्वास था कि जो कोई मगहर मे मृत्यु को प्राप्त होता है, वह नरक का भोग करता है। कबीर जीवन भर इस अंध-विश्वास को मिटाने का प्रयत्न करते रहे और अन्त समय मे स्वय भी वही जाकर मरे। प्रस्तुत पद मे भी वे मगहर मे शरीर-त्याग से स्वर्ग-लाभ की बात कहते है।

क्या ह्वै तेरे न्हांई धोईं, आतम-रांम न चीन्हां सोई ॥टेक॥
क्या घट ऊपरि मंजन कीयें, भीतरि मैल अपारा।
रांम नांम बिन नरक न छूटै, जे धोवै सौ बारा॥
का नट भेष भगवां वस्तर, भसम लगावै लोई।
ज्यूं दादुर सुरसुरी जल भीतरि, हरि बिन मुकति न होई॥
परहरि कांम रांम कहि बौरे, सुनि सिख बंधू मोरी।
हरि कौ नांव अभै-पद-दाता, कहै कबीरा कोरी॥३४६॥

शब्दार्थ—न्हांई धोई=नहाने धोने से। सुरसुरी=गगा। परहरि=त्यागना।

कबीर कहते हैं कि इस नहाने-धोने से क्या लाभ, यदि हृदयस्थित परमात्मा को न पहचाना। बाहर के स्नान से क्या लाभ, मन मे तो अपार कलुष भरा हुआ है। राम नामके आश्रय विना नरक से मुक्त नही हुआ जा सकता, जो व्यक्ति इसे जपता है वह मुक्त हो जाता है नट के समान भगवा वस्त्र से विभिन्न भेप धारण करने और शरीर से भस्म लगाने का कोई प्रयोजन नही। जिस भाँति मेढक की गगा जल के सेवन विना मुक्ति नही होती, उसी प्रकार प्रभु नाम के विना मनुष्य की मुक्ति सम्भव नही। हे बन्धु! तू अज्ञानता और कामना अथवा विपय-वासना का परित्याग कर राम-नाम भज, क्योकि ईश्वर का नाम अभय पद, परम पद, मोक्ष, प्रदाता है—यह कबीर जुलाहे की शिक्षा है।

विशेष—उपमा अलकार।

पांणीं थैं प्रगट भई चतुराइ, गुर प्रसादि परम निधि पाई ॥टेक॥
इक पांणीं पांणीं कूं धोवै, इक पांणीं पांणीं कूं मोहै।
पांणी ऊँचा पांणीं नींचा, ता पांणीं का लीजै सींचा ॥
इक पांणीं थैं प्यंड उपाया, दास कबीरा रांम गुण गाया ॥३४७॥

शब्दार्थ—प्रसादि=कृपा से।

कबीर कहते है कि प्रभु रूप जल से ससार का समस्त ज्ञान उत्पन्न हुआ। गुरु-कृपा से मैंने आज उसी परम-तत्व को जान लिया है। ज्ञान-जन्य माया रूपी जल को नष्ट कर रहा है, दूसरा माया स्वरूप जल प्राणी को विमोहित कर रहा है। यह ज्ञान-जल ही व्यक्ति को उच्च स्थान प्रदान करता है एव यही निम्न। इस ज्ञान-जल से अन्तर-वाह्य अभिसिंचित करना श्रेयस्कर है। वीर्य भी पानी का ही रूप है जिससे मनुष्य शरीर की रचना हुई। जल—ब्रह्म—ही जगत् का कारण है, इस प्रकार कबीर प्रभु-महिमा वर्णन करते है।

विशेष—यमक अलकार।

भंजि गोब्यंद भूलि जिनि जाहु,
मनिसा जनम कौ एही लाहु ॥टेक॥
गुर सेवा करि भगति कमाई, जौ तैं मनिषा देही पाई।
या देही कूं लोचैं देवा, सो देही करि हरि की सेवा ॥
जब लग जुरा रोग नहीं आया, तब लग काल ग्रसै नांहि काया।
जब लग हींण पड़ै नहीं बांणीं, तब लग भजि मन सारंगपांणीं ॥
अब नहीं भजसि भजसि कब भाई, आवैगा अंत भज्यौ नहीं जाई।
जे कछू करौ सोई तत सार, फिरि पछितावोगे वार न पार ॥
सेवग सो जो लागै सेवा, तिनहीं पाया निरंजन देवा।
गुर मिलि जिनि के खुले कपाट, बहुरि न आवै जोनीं बाट ॥
यहु तेरा औसर यहु तेरी वार, घंट भींतरि सोचि विचारि।
कहै कबीर जीति भावैं हारि, बहु बिधि कह्यौ पुकारि पुकारि ॥३४८॥

शब्दार्थ—मनिसा=मनुष्य, मानव। लोचे=ललकते हैं। जुरा=जरा, वृद्धावस्था। हीण=हीन। सारगपाणि=कमल जैसे हाथ वाले। सेवक=सेवक, भक्त। जोनी=योनि।

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! प्रभु का नाम भज, यह भूलने योग्य नही। मानव जन्म की सार्थकता ईश्वर-नाम-स्मरण मे ही है। यदि तूने मानव—देह पाई है तो गुरु सेवा कर भक्ति लाभ कर। इस मनुष्य-शरीर के लिये देवगण भी ललकते हैं, इसलिये इसकी अमूल्यता को सोचते हुए परमेश्वर की भक्ति कर। जब तक वाक्शक्ति क्षीण नही होती। हे मन! तब तक परमात्मा का भजन कर। जब तक

वृद्धावस्था और उसके रोग शरीर को नही व्यापते तब तक मृत्यु नही आती। अतः यदि तूने अब परमात्मा का भजन न किया तो फिर तो अन्तिम समय निकट आ जायगा। जो कुछ भी प्रभु-भक्ति के लिए अब कर लोगे वही रह जायगा, अन्यथा काल के निकट आने पर तो घोर पश्चात्ताप ही शेष रह जायगा। भक्त वही है जो प्रभु की सेवा करे और वही ज्योतिस्वरूप निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। गुरु-उपदेश से जिनके ज्ञान-कपाट खुल गये वे पुन इस ससार मे जन्म लेने नही आते। हे मनुष्य ! यह तेरे लिये स्वर्ण अवसर है कि मन को अन्तर्मुखी कर प्रभु-प्राप्ति का प्रयत्न कर। कबीर बारम्बार पुकार-पुकार कर कहते है कि प्रभु-नाम-सम्बल से ही संसार मे कल्याण सम्भव है।

ऐसा ग्यांन विचारि रे मना,
हरि किन सुमिरै दुख भजनां ॥टेक॥
जब लग मै मै मेरी करै, तब लग काज एक नही सरै।
जब यहु मै मेरी मिटि जाइ, तब हरि काज संवारै आइ॥
जब लग स्यंघ रहै बन मांहि, तब लग यहु बन फूलै नांहि॥
उलटि स्याल स्यंघ कूं खाइ, तब यहु फूलै सब बनराइ॥
जीत्या डूबै हार्या तिरै, गुर प्रसाद जीवत ही मरै।
दास कबीर कहै समझाइ, केवल रांम रहौ ल्यौ लाइ ॥३४९॥

शब्दार्थ—मै=अहकार। स्यघ=सिंह। स्याल=शृगाल, गीदड।

हे मन ! तू दुःख-विनाशक प्रभु का स्मरण नही करता है ? जब तक तू अह-पर की सीमा को समाप्त नही कर देता, तब तक तेरा कोई भी कार्य सफल नही हो सकता। जब ममत्व-परत्व की भावना समाप्त हो जाती है तब प्रभु स्वयं आकर कार्य सफल करते है। जब तक इस ससार रूपी वन मे माया का सिंह रहता है तब तक यह फलता फूलता नही। जीव रूपी शृगाल माया-सिंह को नष्ट कर देता है तब यह ससार पल्लवित होता है, भक्ति के फल देता है। जो माया से जीता हुआ होता है वह संसार-समुद्र मे डूब जाता है और जो उसे हरा देता है वह भवसागर से तर जाता है। गुरु कृपा से ही साधक जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ स्थिति को प्राप्त कर सकता है। भक्त कबीर समझाकर कहते है कि केवल परमात्मा मे ही लगन लगानी चाहिए।

विशेष—विरोधाभास अलकार।

जागि रे जीव जागि रे।
चोरन कौ डर बहुत कहत हैं, उठि उठि पहरै लागि रे ॥टेक॥
ररा करि टोप ममां करि बखतर, ग्यांन रतन करि षाग रे।
ऐसे जौ अजराइल मारै, मस्तकि आवै भाग रे॥
ऐसी जागणीं जे को जागै, ता हरि देइ सुहाग रे।
कहै कबीर जाग्या ही चहिये, क्या गृह क्या बैराग रे ॥३५०॥

शब्दार्थ—षाग=तलवार। अजराइल=अजगर।

हे अज्ञानी जीव! सावधान हो जा! इस ससार मे वहुत से विकारो के चोर है, जागृत हो सावधानी से अपनी पवित्रता की रक्षा कर। अब कवीर रूपक देते हुए कहते है कि 'रा' कार का टोप धारण कर 'म' कार का वक्षस्त्राण पहन एव ज्ञान-रत्न का विजय-चिन्ह लगा यदि तू माया के अजगर को मारेगा तो इस सर्प के मरण से तुझे भक्ति-की सुन्दर मणि प्राप्त होगी। यदि कोई उपरोक्त विधि से जागृत होता है तो स्वय ईश्वर उस भक्त को अभय-पद प्रदान करते है। कवीर कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह गृहस्थ अथवा विरक्त हो, सर्वदा सचेत रहना चाहिए।

विशेष—सागरूपक अलकार।

> **जागहु रे नर सोवहु कहा, जम बटपारैं रूंधैं पहा ॥टेक॥**
> **जागि चेति कछू करौ उपाइ, मोटा वैरी है जंमराइ।**
> **सेत काग आये बन मांहि, अजहूँ रे नर चेतैं नांहि॥**
> **कहै कबीर तबैं नर जागैं, जंम का डंड मूंड मै लागैं ॥३५१॥**

शब्दार्थ—वटपारैं=वटमार। पहा=पथ। मोटा=वहुत वडा। सेत=श्वेत। डड=डंडा।

हे मनुष्य! सावधान हो जा, अज्ञाननिद्रा मे पडे रहना ठीक नही, क्योंकि यम—मृत्यु-रूपी वटमार, लुटेरा तेरा पथ बन्द कर रहा है। सावधान होकर काल-मुक्त होने का कुछ उपाय कर, क्योकि मृत्यु जैसा भयकर शत्रु तेरे सम्मुख अड़ा हुआ है। ससार रूपी वन मे विनाशकारी श्वेत कौए आ गये है किन्तु तू फिर भी सावधान नही होता। कवीर कहते हैं कि मनुष्य! तभी ज्ञान प्राप्त कर सावधान होगा जब उसकी मृत्यु आ धमकती है।

> **जाग्या रे नर नीद नसाई, चित चेत्यौ च्यंतामणि पाई ॥टेक॥**
> **सोवत सोवत वहुत दिन बीते, जन जाग्यां तसकर गये रीते॥**
> **जन जागे का ऐसहि नांण, बिष से लागैं बेद पुरांण।**
> **कहै कबीर अब सोवौं नांहि, रांम रतन पाया घट मांहि ॥३५२॥**

शब्दार्थ—तसकर=चोर। घट माहि=हृदय मे।

अज्ञान निद्रा नष्ट हो जीवात्मा के जाग जाने पर मन सावधान हो गया और चिंतामणि स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति हो गई। अब मुझे सोते सोते, अज्ञान मे पडे हुए बहुत समय चला गया था किन्तु जाग जाने पर ज्ञान लाभ करने से समस्त चोर—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह—खाली हाथ, कुछ बिगाडे बिना, लौट गये। अब ज्ञान-चक्षु प्राप्त होजाने पर वेद-पुराण आदि शास्त्रग्रथो का ज्ञान तो मुझे वृथा दिखाई देता है। कवीर कहते है कि अब मै अज्ञान मे नही पडूगा क्योकि मैंने हृदय के भीतर ब्रह्म की प्राप्ति कर ली है।

विशेष—रूपक अलकार।

संतनि एक अहेरा लाधा,
मिर्गनि खेत सबनि का खाधा ।।टेक।।
या जगल मैं पांचौं मृगा, एई खेत सबनि का चरिगा ।।
पारधीपनौं जे साधै कोई, अध खाधा सा राखै सोई ।
कहै कबीर जो पचौं मारैं, आप तिरै और कूं तारै ।।३५३।।

शब्दार्थ—लाधा=लादना, स्वीकार करना । पाँचो मृगा=पाँच मृग रूपी इंद्रियाँ । पारधीपनो=शिकारीपना ।

साधुगण एक ब्रह्म अथवा भक्ति के आखेटक को रखते हैं, माया ने समस्त मनुष्यो की सम्पत्ति समाप्त कर दी । इस संसार रूपी वन मे पाच विकारों के मृग रहते हैं जो सब की खेती को चर गये । किन्तु जो लोग भक्ति-साधना करते हैं उनकी सुकृत्य सम्पत्ति चाहे आधी समाप्त भी हो गई हो फिर भी रक्षित हो जाती है क्योंकि भक्ति का आखेटक इन विकारो—मृगो—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह=को समाप्त कर देता है । कबीर कहते हैं कि जो इन पच विकारो के मृग को समाप्त कर देता है वह स्वयं तो मुक्त हो ही जाता है, दूसरो को भी मुक्ति की प्रेरणा देता है ।

विशेष—'पाँचो मृगा' से पाँचो ज्ञानेन्द्रियो के विषयो का भी अर्थ लगाया जा सकता है ।

हरि कौ बिलोवनौं बिलोइ मेरी माई,
ऐसैं बिलोइ जैसैं तत न जाई ।।टेक।।
तन करि मटकी मनहिं बिलोइ, ता मटकी मैं पवन समोइ ।।
इला प्यंगुला सुषमन नारी, बेगि बिलोइ ठाढी छछिहारी ।
कहै कबीर गुजरी बौरांनीं, मटकी फूटीं जोति समांनीं ।।३५४।।

शब्दार्थ—तत=सार । नारी=नाडी ।

कबीर अपनी आत्मा को सम्बोधित कर कहते है कि हे सखि ! प्रभु-भक्ति के दूध को ऐसा बिलो जिससे विश्व का नवनीत—सारतत्व-प्राप्त हो जायं । शरीर की मटकी बनाकर मन को बिलो और इस शरीर की मटकी मे प्राणायाम साधना कर । इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा का सम्मिलन कर शीघ्र मन साधना कर । कुण्डलिनी इस अवसर की प्रतीक्षा मे है कि वह शीघ्र विस्फोट कर अमृत का पान करे । कबीर कहते हैं कि आत्मारूपी 'गूजरी' प्रभु-भक्ति मे मदमस्त हो रही है और शरीर की मटकी फूट जाने पर अंश अशी मे विलीन हो गया । आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य हो गया ।

विशेष— १. सांगरूपक अलकार ।

२ कबीर ने यहाँ आत्मा को 'गूजरी' इसलिये कहा कि अहीर और गूजर जाति का मुख्य व्यवसाय गौ-भैंस पालकर दूध का व्यापार करना था ।

आसण पवन कियें दिढ रहु रे, मन का मैल छाडि दे बौरे ।।टेक।।
क्या सींगी मुद्रा चमकांयें, क्या बिभूति सब अगि लगायें ।।

सो हिंदू सो मुसलमांन, जिसका दुरस रहै ईमांन ॥
सो ब्रह्मा जो कथै ब्रह्म गियांन, काजी सो जांनै रहिमांन ।
कहै कबीर कछू आंन न कीजै, रांम नांम जपि लाहा लीजै ॥३५५॥

शब्दार्थ—आसरण=आसन, समाधि से तात्पर्य, योग के अष्टाग साधनो मे से एक। पवन=प्राणायाम। दिढ=दृढ। बौरे=बावले, पागल। सीगी=शृंगी, योगियो के धारण करने का उपकरण विशेष। मुद्रा=मुद्रा, योगियो का एक आभूषण। बिभूति=भस्म। दुरस=दुरुस्त, ठीक, दृढ। लाहा=लाभ।

हे जीवात्मा! तू समाधिस्थ होकर प्राणायाम की दृढ साधना द्वारा मन का कलुष दूर कर ले। योग केवल मात्र शृंगी, मुद्रा धारण करने से ही नही बन सकता और न भस्म रमाने से कोई साधु ही हो सकता है। चाहे कोई हिन्दू है अथवा मुसलमान, श्रेष्ठ वही है जिसका धर्म पक्का रहे, मन चंचल न रहे। ब्राह्मण अथवा ब्रह्म वही है जो ब्रह्म ज्ञान का कथन करता है एव काजी वही है जो खुदा को जानता है। कबीर प्रभु-प्राप्ति का सरलतम उपाय बताते कहने हैं कि राम-नाम-स्मरण द्वारा परम-प्रभु की प्राप्ति कर लो, अन्य कुछ विधि-विधान अथवा आडम्बर करने की किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नही है।

तातैं कहियै लोकाचार, बेद कतेब कथैं ब्यौहार ॥टेक॥
जारि बारि करि आवैं देहा, मूंवां पीछै प्रीति सनेहा ॥
जीवत पित्रहि मारहि डंगा, मूंवां पित्र ले घालैं गगा।
जीवत पित्र कूं अन न ख्वांमैं, मूंवां पाछै प्यंड भरांवैं।
जीवत पित्र कूं बोलैं अपराध, मूंवां पीछैं देहि सराध ॥
कहि कबीर मोहि अचिरज आवै, कऊवा खाइ पित्र क्यू पावै ॥३५६॥

शब्दार्थ—मारहि डगा=दुत्कारते है। ख्वामैं=खिलाना - सराध=श्राद्ध। क्यू=किस प्रकार।

कबीर यहाँ वाह्याचारो का खण्डन करते हुए कहते है कि लोकाचार के विषय मे उस को क्या समझाया जाय जो धर्मग्रन्थो पर आश्रित रहता है। मृतक की देह को जलाकर उसका चिह्न तक समाप्त कर सम्बन्धी बाद मे रो पीट कर मिथ्या प्रेम-प्रदर्शन करते है। जीवितावस्था मे तो पिता को लोग दुत्कारते है, अन्य प्रकार से अपमान करते हैं और मृत्यु को प्राप्त हो जाने पर उसे गगा मे ले जाकर विविध विधि-विधान रचते हैं। जीते जी तो लोग पिता को भोजन तक नही देते और मर जाने पर उसका पिंडदान करते हैं। जीते जी तो पिता को कुवचन कहते है और मर जाने पर उसका श्राद्ध करते हैं—कैसी विडम्बना है। कबीर कहते है कि मुझे तो यह आश्चर्य है कि श्राद्ध मे कौए जिमाने से वह भोजन पितृगण कैसे प्राप्त कर लेते हैं?

बाप राम सुनि बीनती मोरी,
तुम्ह सूं प्रगट लोगनि सूं चोरी ॥टेक॥

पहलैं काम मुगध मति कीया, ता भैं कंपै मेरा जीया ॥
रांम राइ मेरा कह्या सुनीजै, पहलै बकसि अब लेखा लीजै ।
कहै कबीर बाप रांम राया, अबहूँ सरनि तुम्हारी आया ॥३५७॥

शब्दार्थ—बकसि=क्षमा करना।

हे पिता परमेश्वर ! आप मेरा निवेदन कृपा कर सुन लीजिए। [illegible] मैं संसार के सम्मुख तो अपनी वास्तविक दशा बताने [illegible] हूँ और आपसे सब कुछ [illegible] कर देता हूँ। पहले तो मुझे विषय-वासना ने अपने [illegible] में लिप्त कर लिया किन्तु अब उसका परिणाम [illegible] मेरा मन भयभीत हो रहा है। हे राजा राम ! आप मेरा निवेदन कृपा कर सुन लीजिए, फिर चाहे आप [illegible] कोई भी अभिमत दें। कबीर कहते हैं कि हे परमपिता परमेश्वर, अब तो मैं तुम्हारी शरण में आ गया हूँ अब आप मेरी रक्षा कीजिए।

अजहूँ बीच कैसे दरसन तोरा,
बिन दरसन मन मानैं क्यूं मोरा ॥टेक॥
हमहि कुसेवग क्या तुम्हहि अजांनां, दुहु मैं दोस कहौ किन रांमां।
तुम्ह कहियत त्रिभवन पति राजा, मन बंछित सब पुरवन काजा ॥
कहै कबीर हरि दरस दिखावौ,
हमहि बुलावौ कै तुम्ह चलि आवौ ॥३५८॥

शब्दार्थ——कुसेवग=कुसेवक। पुरवन=पूर्ण करना।

हे प्रभु ! मैं आज [illegible] आपका दर्शन पाऊँ और बिना आपके दर्शन के मेरे मन को शान्ति नहीं। मैं तो आपका कुसेवक ही सिद्ध हुआ किन्तु आपने मुझे क्यों बिसरा दिया, आप मे ऐसी अज्ञानता कैसे आ गई ? क्या मैं और आप दोनों ही दोषी हैं ? आप तो त्रिलोकीनाथ और समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले कहलाते हो, मेरी भी कामना पूर्ण कीजिए। कबीर कहते हैं कि हे ईश्वर ! अब आप मुझे अपना सुदर्शन प्रदान कीजिए, या तो आप मुझे अपने पास बुला लो अथवा फिर स्वयं ही यहाँ आ जाओ।

विशेष—यहाँ कबीर मे सूर के समान भावों की सहज, स्वतन्त्र, अभिव्यक्ति प्राप्त होती है जिसमे इष्ट और उपासक का सामीप्य प्रत्यक्ष हो जाता है। वस्तुतः यह भक्ति की ऐसी अवस्था है जहाँ भक्त के पावन हृदय की प्रेमधारा मर्यादा के कगार तोड अपने प्रियतम से मिलने के लिए उमड़ चलती है।

क्यूं लीजै गढ़ बंका भाई, दोवर कोट अरु तेवड़ खाई ॥टेक॥
कांम किवाड़ दुख सुख दरवांनीं, पाप पुंनि दरवाजा।
क्रोध प्रधांन लोभ बड़ दूंदर, मन मैं रासौ राजा ॥
स्वाद सनाह टोप ममिता का, कुबधि कमांण चढाई।
त्रिसना तीर रहै तन भींतरि, सुबधि हाथि नहीं आई ॥

प्रेम पलीता सुरति नालि करि, गोला ग्यांन चलाया।
ब्रह्म अग्नि ले दिया पलीता, एकै चोट ढहाया॥
सत सतोष ले लरनैं लागे, तोरे दस दरवाजा।
साध सगति अरु गुर की कृपा थै पकर्यौ गढ़ कौ राजा॥
भगवंत भीर सकति सुमिरण की, काटि काल की पासी।
दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपरि, राज दियौ अबिनासी॥३५९॥

शब्दार्थ—बका=दुर्लभ, अगम्य। तेकड=तीन। सकति=शक्ति। पासी=फाँसी, बधन। अविनासी=प्रभु।

कबीर यहाँ हठयोगी साधना का वर्णन कर कहते है कि उस दुर्लभ शून्यगढ पर किस भाँति पहुचा जाय ? क्योकि मार्ग मे उसकी तीन खाई (त्रिगुण) तथा दुहरी (द्वैत) सुरक्षा हो रही है। वहाँ पर काम के फाटक लगे हुए हैं तथा सुख और दुःख प्रहरी है जो पाप और पुण्य के दरवाजो पर बैठे हुए है। क्रोध वहाँ प्रधान है और लोभ को ही उच्च स्थान प्राप्त है। फिर मन में उस राजा की स्थिति है। रसना के विविध स्वाद एव प्रेम तथा ममता का टोप मनुष्य ने लगाकर कुमति का धनुष, जिस पर तृष्णा के वाण जो शरीर को वीध रहे है—लगे हुए है और ज्ञान, विवेक, तो इसे प्राप्त हो ही नही रहा है। किन्तु साधक को उस राजा तथा उसके किले की प्राप्ति तभी हुई जव प्रभु-प्रेम का पलीता सुरति के गोले मे लगाकर उसका चालक ज्ञान को बनाया एव ब्रह्माग्नि से इसका विस्फोट कर मायाडम्बर को नष्ट कर दिया। सत्य और सन्तोष कुविचारो को समाप्त करने लगे, इस पर ब्रह्मरन्ध्र खुल गया। साधु-संगति और गुरु कृपा के द्वारा ही इस शून्य गढ मे स्थित ब्रह्म रूपी राजा को प्राप्त कर लिया। ईश्वर-भक्ति और नाम-स्मरण के द्वारा मृत्यु और आवागमन के चक्र को नष्ट कर दिया। भक्त कबीर इस प्रकार उस शून्य गढ के ऊपर चढ गये और ब्रह्म ने उन्हे वहाँ परमपद का राज्य प्रदान किया।

विशेष—सागरूपक अलकार।

रैनि गई मति दिन भी जाइ, भवर उडे बग बैठे आई॥टेक॥
कांचै करवै रहै न पांनीं, हस उड़या काया कुमिलांनीं।
थरहर थरहर कंपै जीव, नां जांनू का करिहै पीव॥
कऊवा उडावत मेरी बहियां पिरांनीं,
कहै कबीर मेरी कथा सिरांनीं॥३६०॥

शब्दार्थ—सरल है।

रहस्यवादी कवि कबीर ने यहाँ प्रिय-मिलन से पूर्व की मनःस्थिति को नवोढा के समान अभिव्यक्त किया है जो प्रथम समागम-भय से प्रिय-मिलन में संकोच करती है। वे कहते हैं कि रात बीत गई थी और अब दिवस भी व्यतीत हुआ जा रहा है, रात्रि-आगम सूचक चिह्न प्रकट होने लगे है, भ्रमर पुष्प-पराग से उठ २ कर उड चले

और बगुले पंक्ति बद्ध हो होकर अपने २ स्थान को लौट चले। मिट्टी के कच्चे घट में जिस प्रकार जल नही रुक सकता उसी भाँति आत्मा के उड जाने पर पार्थिव शरीर की भी समाप्ति कच्चे मिट्टी के भाजन के समान हो जाती है। अब मेरी आत्मा थर-थर काँप रही है क्योकि पता नही प्रियतम—ब्रह्म—प्रथम मिलन में किस भांति व्यवहार करेगा ? प्रियागम सूचक शुभ-शकुन कौए को उड़ाते हुए मेरी भुजा शिथिल हो गई, कबीर कहते है कि यह मेरी मिलन-पूर्व अवस्था है।

काहे कूं भीति बनांऊं टाटी, का जांनूं कहां परिहै माटी ॥टेक॥
काहे कूं मंदिर महल चिणांऊं, मूंवां पीछैं घड़ी एक रहण न पाऊं ॥
काहे कूं छांऊं ऊंच उंचेरा, साढ़े तीनि हाथ घर मेरा।
कहै कबीर नर गरब न कीजै, जेता तन तेती भुंइ लीजै ॥३६१॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि हे मनुष्य ! तुझे पता नही कि मृत्यु के पश्चात् किस स्थान पर तेरे शरीर की मिट्टी जाकर पड़ेगी, फिर भला क्यो ऊँचे-ऊँचे मकान आदि बनाने की बात सोचता है ? मृत्यु के पश्चात् तू इस ससार मे एक क्षण के लिए भी नही रुक पायेगा फिर भला क्यो महल आदि बनाता है ? ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओ का क्या लाभ, तेरा वास्तविक घर तो साढे तीन हाथ का शरीर ही हैं। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य व्यर्थ घमड करने की आवश्यकता नही, जितना भर शरीर की गुजर के लिए स्थान पर्याप्त हो उतना ही लेना चाहिए।

राग बिलावल

बार बार हरि का गुण गावै, गुर गमि भेद सहर का पावै ॥टेक॥
आदित करै भगति आरंभ, काया मंदिर मनसा थंभ।
अखंड अहनिसि सुरष्या जाइ, अनहद बेन सहज मै पाइ ॥
सोमवार ससि अमृत झरै, चाखत बेगि तपै निसतरै।
बाणी रोक्या रहै दुवार, मन मतिवाला पीवनहार ॥
मगलवार ल्यौ मांहींत, पंच लोक की छाड़ौ रीत।
घर छाड़ै जिनि बाहिर जाइ, नही तर खरौ रिसावै राइ ॥
बुधवार करै बुधि प्रकास, हिरदा कवल मै हरि का बास।
गुर गमि दोऊ एक समि करै, ऊरध पंकज थै सूधा धरै ॥
ब्रिसपति बिषिया देइ बहाइ, तीनि देव एकै संगि लाइ।
तीनि नदी तहां त्रिकुटी मांहि, कुसमल धोवै अहनिसि न्हांहि ॥
सुक्र सुधा ले इहि ब्रत चढ़ै, अह निसि आप आप सूं लड़ै।
सुरषी पच राखिये सबै, तौ दूजी द्रिष्टि न पैसे कबै ॥
थावर थिर करि घट मै सोइ, जोति दीवटी मेल्है जोइ।

बाहरि भीतरि भया प्रकास, तहां भया सफल करम का नास ।।
जब लग घट मै दूजी आंण, तब लग महलि न पावै जांण ।
रमिता रांम सूं लागै रंग, कहै कबीर ते निर्मल अंग ।।३६२।।

शब्दार्थ—सरल है ।

सद्गुरु ही इस अगम्य शरीर रूपी गढ का भेद पा सकते है क्योंकि वह प्रतिक्षण प्रभु-भक्ति मे दत्तचित्त रहते है । अब आगे कबीर भक्ति —योगसाधना— विधि का वर्णन करते हुए कहते है कि साधक भक्ति का प्रारम्भ करता है, उसके लिए शरीर ही मन्दिर है एव मन ही वह स्तम्भ है जिस पर भक्ति—शरीर के मन्दिर का भार है । इस मनःसाधना से भक्त रात-दिन प्रभु मे चित्त लगाता हुआ अनहद नाद की अवस्था को प्राप्त कर लेता है । अब सप्ताह के प्रत्येक दिवस का महत्व बताते हुए कबीर कहते है कि सोमवार को ब्रह्मरन्ध्र से अमृत स्रवित होता है, जिसके पान से समस्त ताप विदूरित हो जाते है । इस महारस का पान करने वाला मन है और जिह्वा इसके सम्मुख अन्य सासारिक वस्तुओ के रस को बन्द रखती है । मंगलवार को साधक पंचविषयो की परिधि का परित्याग कर प्रभु मे लय लगाता है । वह संसार को, जिसे घर समझता है, छोडकर ईश्वर लोक मे प्रवेश करता है, इसके विपरीत करने पर प्रभु अप्रसन्न होते है । बुधवार को बुद्धि अपना निर्मल प्रकाश करती हुई गुरु अनुकम्पा से द्वैत का भ्रम, ऊर्ध्व समाधि द्वारा कमल भेदन कर मिटा देती है, इस भाँति हृदयस्थ ब्रह्म-दर्शन होता है । साधक बृहस्पति को त्रिदेव का ध्यान कर समस्त विषय-वासना नष्ट कर देता है । जहाँ तीनो—आँख, नाक एव मस्तिष्क का सन्धि बिन्दु है, वही त्रिकुटी है । इसी मे अहर्निश अपनी वृत्ति केन्द्रित रखते हुए योगी को अपना समस्त पाप कलुष धो देना चाहिए । शुक्रवार को महारस का पान कर भक्ति साधना करते हुए स्वय अपने दोषो पर दृष्टिपात करे और पच-ज्ञानेन्द्रियो को अपने वश मे रखे तो कभी भी द्वैत-भावना, अकुरित न हो शनिवार को उस समय ब्रह्म को चित्त मे पूर्ण स्थिर कर लिया जाय तो वह अलख निरजन ज्योति निश्चय ही प्राप्त हो जाती है । उसकी प्राप्ति से समस्त अन्तर-बाह्य प्रकाशमान हो कर्म-जजाल कट जाता है । यदि साधक के हृदय मे द्वैत भावना है तो इस शरीर स्थित मन्दिर, जिसमे प्रभु का वास है, का रहस्य प्राप्त नही किया जा सकता । कबीर कहते है कि जो अपनी वृत्तियो को राम मे रमा देता है उसका अग-प्रत्यग निर्मल हो जाता है ।

विशेष—ये समस्त मान्यताएँ योगियो की है जो अद्यतन किसी न किसी रूप मे कबीर पन्थियो मे भी विद्यमान है ।

रांम भजै सो जांनिये, जाकै आतुर नांही,
सत सतोष लीयैं रहै, धीरज मन मांही ।।टेक।।
जन कौं कांम क्रोध व्यापै नही, त्रिष्णा न जरावै ।
प्रफुलित आनंद मैं, गोब्यंद गुंण गावै ।।

जन कौं पर निंद्या भावै नहीं, अरु असति न भाषै।
काल कलपनां मेटि करि, चरनूं चित राखै॥
जन सम द्रिष्टी सीतल सदा, दुविधा नहीं आनै।
कहै कबीर ता दास सूं, मेरा मन मांनै॥३६३॥

शब्दार्थ—निंद्या=निंदा। असति=असत्य।

कबीर कहते हे कि प्रभु-भक्त उसी को समझना चाहिए जिसमे लेशमात्र भी आतुरता न हो। वह सत्य, सन्तोष एव धैर्य के आश्रय पर रहता हे। भक्त को विषय-वासना, क्रोध जैसे विकार कभी नही व्यापते और न उसे तृष्णा व्यथित करती है। उस भक्त को न तो दूसरो की निंदा रुचिकर लगती है और न वह असत्य-भाषण करता है। वह मृत्यु-भय से दूर रह निश्चितमना प्रभु-चरणो मे हृदय लगाये रखता है। वास्तव मे वह समत्व स्थिति को प्राप्त कर लेता है और ससार भ्रम मे नही पडता। कबीर वर्णन करते है कि ऐसे ही भक्त से मुझे प्रेम है।

माधौ ़ो न मिलै जासौं मिलि रहिये,
ता कारन वरनि वहु दुख सहिये॥टेक॥
छत्रधार देखत ढहि जाइ, अधिक गरव थैं खाक मिलाइ।
अगम अगोचर लखी न जाइ, जहां का सहज फिरि तहां समाइ॥
कहै कबीर झूठे अभिमान, सो हम सो तुम्ह एक समान॥३६४॥

शब्दार्थ—सरल है।

हे परम प्रभु! आपके दर्शन नही होते, यदि आपसे मिलन हो जाय तो मै सर्वदा आपके ही साथ रहू। ापके न मिलने के ही कारण मैं वहुत से सासारिक तापो से जल रहा हू। जो छत्रधारी राजा है वे तथा उनका समस्त वैभव पल भर में नष्ट हो जाता है, अत सम्पत्ति का गर्व उचित नही। वह अगम्य, अदृश्य परमात्मा देखा नही जाता वह सर्वत्र होते हुए भी अगोचर है। कबीर कहते है कि अभिमान करना मिथ्या है। प्रभु और हम, आत्मा तथा परमात्मा, अश-अगी है।

अहो मेरे गोब्यद तुम्हारा जोर, काजी वकिवा हस्ती तोर॥ टेक॥
बांधि भुजा भलै करि डार्यौ, हस्ती कोपि मूंड मै मार्यौ।
भाग्यौ हस्ती चीसाँ मारी, वा मूरति की मै वलिहारी॥
महावत तोकूं मारौं साटी, इसहि मराऊं घालौं काटी।
हस्ती न तौरे धरै धियांन, वाके हिरदै वसै भगवांन॥
कहा अपराध संत हौं कीन्हां, बांधि पोट कुंजर कूं दीन्हां।
कुंजर पोट वहु वदन करै, अजहूं न सूझै काजी अधरै।
तीनि वेर पतियारा लीन्हां, मन कठोर अजहू न पतीनां॥
कहै कबीर हमारे गोव्यंद, चौथे पद मे जन का ज्यंद॥३६५॥

शब्दार्थ – मूरति=पुरुष । साटी=डंडा । कुजर=हाथी ।

कबीर कहते है कि हे प्रभु ! आपकी महिमा अपरम्पार है। काजी आपके अस्तित्व का बखान करते अघाता नही। जिसके हाथ पैर बधे हुए है चाहे जो भी उसके सिर मे मार सकता है, किन्तु जो भागते हुए हाथी को मारे उसी पुरुष की कबीर बलिहारी जाता है। भाव यह है कि जो व्यक्ति विषय-आकर्षणो को युवाकाल मे ही त्याग देता है वह वृद्धावस्था आने पर उनसे मुक्त होने वाले से कही श्रेष्ठ है। हे मन रूपी महावत ! मैं तुझे डण्डी से मारूँगा जिससे समस्त पाप समाप्त हो जाय। जो मायारूपी हाथी के पैर मे न पड प्रभु का निरन्तर ध्यान करते हैं उनके हृदय मे ब्रह्म का वास है। हे साधुगण ! मैंने ऐसा कौन सा अपराध किया है जिसके दण्ड-स्वरूप पाप गठरी बधवा कर मुझे माया हाथी के साथ कर दिया है ? यह हाथी बहुत दुद मचाता है, किन्तु विषयासक्त अज्ञानांध काजी को अब भी वास्तविकता का ज्ञान नही हुआ। मैंने मन को नियन्त्रण मे रखने का उपक्रम कई बार किया, किन्तु यह अब भी नियन्त्रण मे नही है। कबीर कहते है कि दयालु प्रभु निश्चय ही अन्त मे भक्त का कल्याण करते है।

कुसल खेम अरु सही सलांमति, ए दोइ काकौं दीन्हां रे।
आवत जांत दुहूँघां लूटे, सर्ब तत हरि लीन्हां रे ॥ टेक ॥
माया मोह मद मै पीया, मुगध कहैं यहु मेरी रे।
दिवस चारि भलै मन रंजै, यहु नांहीं किस केरि रे ॥
सुर नर मुनि जन पीर अवलिया, मीरां पैदा कीन्हां रे।
कोटिक भये कहां लू बरनूं, सबनि पयांना दीन्हा रे ॥
धरती पवन अकास जाइगा, चंद जाइगा सूरा रे।
हम नांही तुम्ह नाहीं रे भाई, रहे राम भरपूरा रे ॥
कुसलहि कुसल करत जग खींना, पड़े काल भौ पासी।
कहै कबीर सबै जग बिनस्या, रहे राम अबिनासी रे ॥३६६॥

शब्दार्थ—खेम=क्षेम। दुहूधा=दोनो ओर से। मुगध=मूर्ख। सूरा=सूर्य। खीना=क्षीण होना, नष्ट होना।

कबीर कहते हैं कि कुशल-क्षेम और पूर्ण सुख-सुविधा किसी को प्राप्त नही होती। आवागमन मे पडे जीव को लुटना पडता है और उसका समस्त विवेक नष्ट हो जाता है। माया-मोह से मदग्रस्त हो जीव अह अथवा ममत्व के फेर मे पडता है। वास्तव मे यह माया जन्य आकर्षण किसी के भी नही, दो चार दिन भले ही यह मनरञ्जन कर दें, किन्तु अन्तत ये दुख मे ही परिवर्तित हो जाते है। देव, मनुज, ऋषि, पीर-पैगम्बर, औलिया, मीर आदि करोडो प्रकार को जीवात्माएँ ईश्वर ने उत्पन्न की किन्तु अन्तत सबको यहाँ से जाना पडा। पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्र, वायु, हम और तुम सब काल-क्रम मे नष्ट हो जायेगे, यदि शेष रहेगा तो केवल वह

ब्रह्म ही शेष रहेगा। कुशलता और सुख के उपक्रम करता ही करता यह ससार नष्ट हो मृत्युबन्धन मे पड गया। कबीर कहते हैं कि समस्त ससार विनष्ट हो जाता है, केवल अविनाशी प्रभु ही शेष रहता है।

मन बनजारा जागि न सोई, लाहे कारनि मूल न खोई ॥ टेक ॥
लाहा देखि कहा गरबांना, गरब न कीज मूरिखि अयांनां ॥
जिनि धन सच्या सो पछितांना, साथा चलि गये हम भी जांनां।
निस अंधियारी जागहु बंदे, छिटकन लागे सबही संधे ॥
किसका बंधू किसकी जोई, चल्या अकेला संगि न कोई।
ढरि गये मंदिर टूटे बंसा, सूके सरवर उड़ि गये हंसा ॥
पंच पदारथ भरि है खेहा, जरि बरि जायगी कंचन देहा।
कहत कबीर सुनहु रे लोई, राम नांम बिन और न कोई ॥३६७॥

शब्दार्थ—लाहे कारनि=लाभ के लिए। सच्या=इकट्ठा करना। खेहा=धूल।

हे मन रूपी बनजारे ! तू सावधान हो, सचेत हो जा, अज्ञान-निद्रा मे मत पड, मिथ्या सासारिक लाभ के कारण अपने पूर्वसचित पुण्य के मूलधन को भी मत खो देना। लाभ की सम्पत्ति को देखकर व्यर्थ क्यो गर्व करता है, हे अज्ञानी गर्व नही करना चाहिए। जिन्होने धन का सचय किया है वे अन्त समय मे पछताते ही हैं। हमारे अन्य साथी तो इस ससार से चले गये और हमे भी शीघ्र ही जाना है, हे मूर्ख ऐसा सोचकर कार्य कर। इस ससार मे अज्ञान की अध-रात्रि व्याप्त है जिसमे विकारो के चोर भी सेंध लगाने की ताक मे लगे हुए है। यहाँ कोई किसी का बन्धु-बान्धव अथवा सम्बन्धी नही है, अन्त मे मनुष्य अकेले ही जाता है। इस शरीर के जीर्ण हो नष्ट हो जाने पर प्राणवायु निकलने पर आत्मा चली जाती है। शरीर के नष्ट होने पर पच तत्व निर्मित यह सोने सी सुन्दर काया अग्नि मे जल कर धूलि मे मिल जाती है। कबीरदास जी कहते हैं कि हे लोई ! (शिष्या का नाम) ध्यानपूर्वक सुनो, राम-नाम के अतिरिक्त यहाँ और कुछ भी सत्य नही है।

मन पतग चेते नही, जल अंजुरि समान।
विषिया लागि विगूचिये, दाझिये निदान ॥टेक॥
काहे नैन अनंदियें, सूझत नहि आगि।
जनम अमोलिक खोइयें, सांपनि सगि लागि ॥
कहै कबीर चित चचला, गुर ग्यांन कह्यो समझाइ।
भगति हीन न जरई जरै, भावै तहां जाइ ॥३६८॥

शब्दार्थ—अनदियें=नीदसे भरे रहना।

कबीर कहते हैं कि मन माया-दीप पर शलभ के समान मरता है, किन्तु वह नही देखता कि जीवन अजलि-वद्ध जल के तुल्य क्षणिक अस्तित्व वाला है। विषया-

सक्त हो वह व्यर्थ ही इसे नष्ट कर शरीर को सासारिक तापो से तप्त कर रहा है। तेरे नेत्र क्यों निद्रालु रहते है, उन्हे वासनाग्नि दृष्टिगत क्यो नही होती ? माया-साँपिन के साथ बन्धन मे पड अमूल्य मानव-जीवन को जीवात्मा खो देती है। कबीर कहते हैं कि मन तो चचल है, गुरु ने इसे ज्ञानामृत समझा कर कहा है। भक्तिहीन तो निश्चय ही संसार की विषयाग्नि मे जलता है, क्योंकि वह गम्य-अगम्य प्रत्येक स्थल पर जाता है।

विशेष—रूपक, उपमा अलकार।

स्वादि पतंग जरै जरि जाइ,
अनहद सौं मेरी चित न रहाइ ॥टेक॥
माया कै मदि चेति न देख्या, दुबिध्या मांहि एक नहीं पेख्या।
भेष अनेक किया बहु कीन्हां, अकल पुरषि एक नहीं चीन्हां ॥
केते एक मूये मरहिंगे केते, केतेक मुगध अजहु नहीं चेते।
तंत मंत सब ओषद माया, केवल रांम कबीर दिढाया ॥३६६॥

शब्दार्थ—सरल है।

जिस प्रकार शलभ अपने हित अनहित का विचार किये बिना नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मैं विनाशक सासारिक आकर्षणो मे तो लगा हुआ हूं किन्तु 'अनहद' में मेरी वृत्ति नही रमती। मायामद मे मैंने सावधान हो अपना हित-अनहित नहीं देखा और ससार भ्रम मे ही पडा रहा। विविध वेश-धारण कर मैंने बहुत से आडम्बर ठाठ खडे किये किन्तु उस परम-परमात्मा को मैंने नही पहचाना। इसी संसार-चक्र मे पडे हुए न जाने कितने मर गये। किन्तु आज भी अधिकाश मायासिप्त व्यक्ति सावधान नही हुए हैं। तन्त्र, मन्त्र, औषधि आदि के उपकरण मायामात्र हैं। कबीर को तो केवल प्रभु का दर्शन चाहिए।

एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जंत की नारी ॥टेक॥
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै।
रखवाले का होइ बिनास, उतहि नरक इत भोग विलास ॥
सुहागनि गलि सोहै हार, संतनि बिख बिलसै संसार ॥
पीछै लागि फिरै पचिहारी, संत की ठठकी फिरै बिचारी ॥
सत भजै वा पाछी पड़ै, गुर के सबदूं मार्‌यौ डरै।
साषत कै यहु प्यंड परांइनि, हमारी द्रिष्टि परै जैसै डांइनि ॥
अब हम इसका पाया भेद, होइ कृपाल मिले गुरदेव।
कहै कबीर इब बाहरि परी, संसारा कै अचल टिरी ॥३७०॥

शब्दार्थ—जीव जत=प्राणी मात्र। खसम=पति। साषत=शाक्त। फंड परांइनि=प्राण प्यारी।

माया रूपी ... ी समस्त ससार को प्रिय है। वह समस्त प्राणिमात्र

को प्रिय लगती है। इस माया सुन्दरी का पति मनुष्य नष्ट होता है किन्तु इसे फिर भी दु ख नही होता। उसका स्वामी तो कोई और ही होता है, वह प्रभु की दासी है। इस माया के रक्षक, पति, मानव का तो दोनों ओर विनाश है, यहाँ ससार में तो वह भोग विलास मे अपनी शक्ति का अपव्यय करता है और मृत्युपरान्त उसे नरक भोगना पडता है। इस माया नारी के कण्ठ मे आकर्षक हार है किन्तु साधुगण तो इसे और इसके ससार को विष तुल्य मानते हैं। अब यह दासी के समान भक्त के पीछे-पीछे दीनता मे लगी फिरती है। जो भक्त प्रभु का भजन करता है उनके तो यह पीछे ही दासी के समान लगी रहती है एव गुरु के उपदेश से तो इसकी रूह कांपती है। दुराचारी शाक्त को यह प्राणतुल्य प्रिय है तो हमें तो साक्षात् डायन, राक्षसी सी लगती है। कबीर कहते है कि अब मै इसका रहस्य समझ गया हू, यह रहस्य गुरु के ज्ञान-दान देने से ही समझ मे आ सका है। अब तो यह माया मेरे सम्मुख तक नही आती और ससारी व्यक्ति के पास से टाले नही टलती।

विशेष—समासोक्ति अलकार।

पारोसनि मांगै कंत हमारा,
पीव क्यूं बौरि मिलहि उधारा ॥टेक॥
मासा मांगै रती न देऊं, घटै मेरा प्रेम तौ कासनि लेऊं।
राखि परोसनि लरिका मोरा, जे कछु पाऊं सु आधा तोरा॥
बन बन ढूंढौं नैन भरि जोऊं, पीव न मिलै तौ बिलखि करि रोऊं।
कहै कबीर यहु सहज हमारा, बिरली सुहागनि कंत पियारा ॥३७१॥

शब्दार्थ—पारोसनि = पडौसिन, अन्य ससारिक आत्मा। बौरी = पागल।

अन्य आत्मा हमारे पति—परमेश्वर—को मुझसे मागती है, किन्तु उन मूर्खाओ को यह ज्ञात नही कि प्रियतम उधार नही मिलते, उसकी प्राप्ति के लिए तो अपना सर्वस्व बलिदान करने की आवश्यकता है। यदि वह माशे भर भी उन्हे मागने के लिए आती है तो मैं रत्ती भर भी देने के लिए प्रस्तुत नही हूं। हे सखि आत्मा! तू मुझ मे व्याप्त माया को रख ले तो मैं तुझे अपनी भक्ति मे आधा भाग दूगी। मैं प्रिय को वन-वन—सर्वत्र—खोज रही हू और उनके लिए आकुल-व्याकुल हूं। यदि वे मिल जाये तो प्रेमातिरेक से मेरे अश्रु निकल पड़ेंगे। कबीर कहते हैं कि यह हमारा सामान्य विश्वास है कि एकाध आत्मा मे ही प्रिय-दर्शन की उत्कट लगन होती है।

विशेष—यहा कबीर भक्ति-क्षेत्र से प्रेम-क्षेत्र मे जिसे दूसरे शब्दो मे हम रहस्यवाद कह सकते है, चले जाते है। भक्त की यह इच्छा होती है कि जिसे मैं प्रेम करूं, जो मेरा आराध्य है वह सबका पूज्य हो, किन्तु प्रेमी प्रिय पर एकाधिकार चाहता है। कबीर की मनःस्थिति भी यहाँ प्रिय पर पूर्ण स्वत्व स्थापित करने की है।

राम चरन जाकै रिद बसत है, ता जन कौ मन क्यूं डोलै।
मानौं अठ सिध्य नव निधि ताकै हरषि जस बोलै ॥टेक॥

जहाँ जहाँ जाइ तहां सच पावै, माया ताहि न झोलै ।
बार बार बरजि बिषिया तै लै नर जौ मन तौलै ॥
ऐसी जे उपजै या जीय कै, कुटिल गांठि सब खोलै ।
कहै कबीर जन मन परचौ भयो, रहै रांम कै बोलै ॥३७२॥

शब्दार्थ--रिदै=हृदय । डोले=चचल हो । जस=यश । बरजि=निषेध । परचौ=परिचय ।

कबीर कहते है कि जिसकी प्रभु के चरणो मे वृत्ति रमी हुई होगी, उसका मन चचल नही होता । उसे तो मानो अष्ट-सिद्धि एव नवनिधि की सहज प्राप्ति हो जाती है एव वह हर्षित हो-हो कर प्रभु गुणगान करता है । वह जहा कही भी जाता है अमित शान्ति-लाभ करता है एव माया उसे नही सताती । हे साँसारिक व्यक्ति ! यदि तेरा मन विषय-वासना मे भटकता है तो बारम्बार उसे वर्जित कर सुपथ—भक्ति—पर चलाओ । यदि मन इस प्रकार आचरण करे तो हृदय की समस्त कलुषता और पाप नष्ट हो जाये । कबीर कहते है कि जब मन का परम-तत्व से साक्षात्कार हो जाता है तो वह प्रभु का दास बना रहता है ।

विशेष—अष्ठ सिद्धि एव नवनिधि का उल्लेख पीछे किया जा चुका है ।

जगल मै का सोवनां, औघट है घाटा ।
स्यंघ बाघ गज प्रजलै, अरु लंबो बाटा ॥टेक॥
निस बासुरि पेडा पडै, जमदांनी लूटै ।
सूर धीर साचै मतै, सोई जन छूटै ॥
चालि चालि मन माहरा, पर पटण गहिये ।
मिलिये त्रिभुवननाथ सूं, निरभै होइ रहिये ॥
अमर नहीं संसार मै, बिनसै नर-देही ।
कहै कबीर वेसास सूं, भजि रांम सनेही ॥३७३॥

शब्दार्थ—औघट=अत्यत कठिन । निस बासुरि=रात-दिन । पटण=नगर । वेसास सू=विश्वास के साथ ।

कबीर कहते है कि साधना-वन मे सोना अत्यन्त कठिन कार्य है । मार्ग तो लम्बा है ही, साथ मे सिंह, बाघ, हाथी आदि के रूप मे साधक को विषय-विकार सताते है । रात दिन विपत्ति मे ही पडे रहना पडता है, साथ ही काल भी सर्वदा नष्ट करने के लिए तत्पर रहता है । धैर्यवान् शूरवीर ही इस मार्ग का अवलम्बन करता है, और वही ससार से मुक्त होता है । हे मेरे मन ! तू उस मार्ग पर चल और शून्य लोक के सुन्दर नगर को प्राप्त कर । वहाँ तुझे त्रिभुवनपति के दर्शन होंगे और उनके दर्शन से परमपद—अभय पद की प्राप्ति हो जायेगी । संसार में अमर कुछ भी नही है, यह मानव देह निश्चय ही नष्ट हो जायेगी । इसलिए विश्वासपूर्वक प्रियतम राम का भजन करो ।

राग ललित

राम ऐसो ही जांनि जपौ नरहरी,
माधव मदसूदन वनवारी ॥टेक॥
अनदिन ग्यांन कथै घरियार, धूंवां धौलह रहै संसार ।
जैसै नदी नाव करि संग, ऐसै हीं मात पिता सुत अंग ॥
सवहि नल दुल मलफ लकीर, जल वुदवुदा ऐसी आहि सरीर ॥
जिभ्या रांम नांम अभ्यास, कहै कवीर तजि गरभ वास ॥३७४॥

शब्दार्थ—अनदिन=प्रतिदिन । धू वा धौलह=धूए के समान क्षणिक रहने वाले महल ।

हे मनुष्यो ! प्रभु को अत्यन्त प्रतापवान् जानकर स्मरण करो, उसके माधव, मधुसूदन एव वनवारी अनेक नाम हैं । सासारिक लोग प्रतिदिन घर वैठे ज्ञान तो वघारते हैं, किन्तु वे रहते धुएँ के महल सदृश क्षणिक स्थिति वाले इस ससार में ही हैं । जैसे नदी-नाव का सयोग क्षणिक होता है, उसी भाँति माता-पिता, पुत्र आदि के सम्वन्ध अल्पकालिक हैं । समस्त प्राणी पाप-पुज से वने हुए हैं । जल के वुलवुले के समान इस शरीर का अस्तित्व क्षणिक है । कवीर कहते हैं कि गर्व को त्याग कर, इस जिह्वा से राम-नाम स्मरण का अभ्यास करो ।

रसनां रांम गुन रमि रस पीजै,
गुन अतीत निरमोलिक लीजै ॥टेक॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई, जा सुमिरत सुधि वुधि मति पाई ॥
विष तजि रांम न जपसि अभागे, का वूड़े वालक के लागे ।
ते सव तिरे राम रस स्वादी, कहै कवीर वूड़े वकवादी ॥३७५॥

शब्दार्थ— निरमोलिक=अमूल्य । वूडे=डूवना । वकवादी=व्यर्थ मे वकवास करने वाले, ज्ञानाडम्वरी ।

कवीर कहते हैं कि जिह्वा ! तू केवल राम-नाम के अमर रस का पान कर, क्योकि उसमे अमूल्य गुण विद्यमान हैं । हे भाइयो ! निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करो जिसके स्मरण द्वारा ज्ञान, वुद्धि और विवेक की प्राप्ति होती है । विपय का परित्याग कर हे अभाग्यवान् ! राम का जप कर, क्यो व्यर्थ लाभ के वशीभूत हो पतनोन्मुख वनता है । कवीर कहते है कि जो भी मुक्त हुए है वे राम रस का पान करने वाले थे और व्यर्थ ज्ञान वघारने वाले तो इस भवसिन्धु मे डूवे ही है ।

निवरक सुत ल्यौ कोरा, रांम मोहि मारि कलि विष वोरा ॥टेक॥
उन देश जाइवो रे वावू, देखिवो रे लोग किन किन खैवू लो ।
उड़ि कागा रे उन देस जाइवा, जासूं मेरा मन चित लागा लो ॥
हाट ढूंढ़ि ले, पटनपुर ढूंढि ले, नहीं गांव कै गोरा लो ।

जल बिन हंस निसह बिन रबू,

कबीरा कौं स्वामी पाइ परिकै मनैवू लो ॥३७६॥

शब्दार्थ—कलि=कलियुग । बोरा=डूबा हुआ । खैवू=मुक्तात्मा । निसह=रात्रि । रबू=रवि सूर्य ।

कबीर प्रभु से प्रार्थना करते है कि आप या तो अपने अश, पुत्र को (मुझको) पूर्ण निर्मल ही कर दे और या मुझे तो मार डाले क्योकि मै तो कलियुग की विषय-वासना रस मे सना हुआ हू । हे मित्र ! तुम प्रभु के उस लोक मे जाकर तनिक देखना तो सही कि वहाँ मुक्तात्माए किस भाँति रहती है । हे कौए ! तू उड करके उस प्रिय के देश जा, मै जिसके प्रेम मे अनुरक्त हू । उस प्रभु के पास जाने वाले बाजार, नगर आदि समस्त परिवेशो से परिचित हो लो, किन्तु इस मोहिनी माया से नही । जल के अभाव मे हस और सूर्य के अभाव मे रात्रि जिस भाँति विकल रहती हैं उसी प्रकार मैं भी प्रभु-प्रेम मे विकल हूं । कबीर कहते है कि प्रियतम को मन का उत्सर्ग करके ही प्राप्त किया जा सकता है ।

राग बसंत

सो जोगी जाकै सहज भाइ, अकल प्रीति की भीख खाइ ॥टेक॥

सबद अनाहद सींगी नाद, काम क्रोध विषिया न बाद ॥

मन मुद्रा जाकै गुर कौ ग्यांन, त्रिकुट कोट मै धरत ध्यान ॥

मनहीं करन कौं करै सनांन, गुर कौ सबद ले ले धरै धियांन ।

काया कासी खोजै बास, तहां जोति सरूप भयौ परकास ॥

ग्यांन मेषली सहज भाइ, बंक नालि कौ रस खाइ ।

जोग मूल कौ देइ बंद, कहि कबीर थिर होइ कंद ॥३७७॥

शब्दार्थ—सीगी=शृंगी । वाद=व्यर्थ ज्ञान का आडम्बर । त्रिकुट कोट=त्रिकुटी रूपी दुर्ग । धियान=ध्यान । वक नालि=सुषुम्ना नाडी । थिर=स्थिर ।

वही योगी है जो सहज साधना करता है एव ज्ञान तथा प्रेम का आधार लेकर जीवन धारण करता है । वह शृंगी धारण कर अनहद नाद मे तल्लीन रहता है तथा काम-क्रोध आदि विकारो के पास भी नही फटकता । मन को जो योग की मुद्रा नामक स्थिति मे लगाये हुए गुरु का उपदेश चित्त मे रखता है और त्रिकुटी स्थल मे वृत्तियो को केन्द्रित रखता है, गुरु उपदेश के द्वारा वह ध्यानावस्थित होकर मन को शून्य तट पर स्नान कराता है । इस शरीर मे ही जो काशी के समान पवित्र तीर्थ को खोज लेता है उसे वहाँ ज्योतिस्वरूप परम-तत्व के प्रकाश का दर्शन होता है । ज्ञान-मेखला को सहज समाधि मे धारण करने से सुषुम्णा ब्रह्मरन्ध्र मे विस्फोट कर अमृत का पान करती है । मूलाधार चक्र से-कुण्डलिनी को उठा देने पर कबीर कहते है कि प्रियतम ब्रह्म का दर्शन होता है ।

मेरौ हार हिरांनौं मैं लजाऊं सास दुरासनि पीव डराऊं ॥टेक॥
हार गुह्यौ मेरो रांम ताग, बिचि बिचि मान्यक एक लाग।
रतन प्रवालै परम जोति, ता अंतरि अंतरि लागे मोति॥
पंच सखी मिलिहैं सुजांन, चलहु तजई ये त्रिवेणी न्हान।
न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह, मेरो आहि परोसनि हार लीन्ह॥
तीनि लोक की जांनै पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर॥३७८॥

शब्दार्थ—दुरासनि=छिपना। मान्यक=माणिक्य। प्रवालै=मूंगे। अतरि अंतरि=बीच-बीच मे।

मेरा भक्ति-रूपी हार खो गया है जिससे मैं लज्जित हू, सास से भयभीत होकर छिपती हूं। प्रियतम से भी डरती हूं। मेरा हार राम रूपी तागे से गुंथा हुआ था जिसमे बीच-बीच मे गाणिक्य लगे हुए थे। मूंगे की ज्योति का परम सुन्दर हार था जिसमे अन्य मोती भी थोडी थोड़ी दूर पर टँके हुए थे। पाच ज्ञानेन्द्रियां रूपी सखी मिली और वे मुझे स्नानार्थ ले गईं। नहा-धोकर तिलकविन्दु आदि लगाने के, पश्चात् देखा तो पता नही हार किसने ले लिया था। वह सुन्दर हार खो गया, मेरी उसी सखी (इन्द्रियो से तात्पर्य) ने ही हार चुरा लिया। कबीर कहते हैं कि हे प्रभु! आप तो सर्वोच्च शक्ति है, तीनो लोकों के दुःखो से परिचित है, मेरा यह दुख दूर कीजिए।

विशेष—१. सागरूपक अलकार।

२. कबीर ने यहा यह वर्णन सामान्य भारतीय वधू की मन.स्थिति मे होकर किया है। एक वधू का आभूषण खो जाने पर उसे जो सास का त्रा. और पति का भय होता है उसका बडा स्वाभाविक एव मार्मिक वर्णन कबीर के इस पद मे प्राप्त होता है।

नही छाड़ौं बाबा रांम नांम,
मोहि और पढ़न सूं कौन काम॥टेक॥
प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीयें बहुत बाल।
मोहि कहा पढ़ावै आल जाल, मेरी पाटी मै लिखि दे श्रीगोपाल॥
तब सनां मुरकां कह्यौ जाइ, प्रहिलाद बंधायौ बेगि आइ।
तूं राम कहन की छाड़ि बांनि, बेगि छुड़ाऊं मेरौ कह्यो मांनि॥
मोहि कहा डरावै बार बार, जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार।
बांधि मारि भावै देह जारि जे हूँ रांम छाडौं तौ मेरे गुरहि गारि॥
तब कोढ़ि खड़ग कोप्यौ रिसाइ, तोहि राखनहारौ मोहि बताइ।
खंभा मै प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकस मार्‍यौ नख बिदारि॥
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रकट कियौ भगति भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद ऊबारयौ अनेक बार॥३७९॥

शब्दार्थ—आल जाल=व्यर्थ की बाते। रिसाइ=क्रोध करके। नरस्यंघ=नृसिंह का अवतार। भेद=रहस्य, भेद।

हे गुरुवर! अब मैं राम नाम का आश्रय नही छोड सकता, मुझे राम नाम पठन के अतिरिक्त अन्य किसी साहित्य के पढने की क्या आवश्यकता है? प्रह्लाद बहुत से सखाओं को लेकर पाठशाला में पढने गये और उन्होने अपने शिक्षक से कहा कि तुम मुझे संसार की अन्य बातें क्यों पढ़ा रहे हो, मेरी तख्ती पर तो केवल श्री गोपाल—प्रभु नाम—ही अकित कर दो। तब गुरु ने उसके विष्णु विरोधी पिता से आकर कहा और उसने शीघ्र आकर प्रह्लाद को बाध दिया और कहने लगे कि तू राम-नाम उच्चारण छोड़ दे तो मै तुझे शीघ्र बधन-मुक्त कर दूगा। प्रह्लाद ने पिता को उत्तर दिया, तू मुझे क्यो बारम्बार डराता है। जिस प्रभु ने जल, थल एव पर्वत को कुछ न गिना मैं उसका नाम स्मरण नही छोड सकता। तुम्हारी इच्छा हो तो चाहे मुझे बाध कर अथवा जला कर मार दो, किन्तु मैं रामाश्रय नही छोड सकता। तब उसने तलवार निकाल ली और क्रोधित होकर कहा, बता तेरा रक्षक प्रभु कहाँ है? तब प्रभु स्तम्भ से नृसिंह रूप मे प्रकट हुए और हिरण्यकश्यप को नाखूनो से चीर डाला। उस महान् ब्रह्म ने नरसिंह रूप मे प्रकट होकर भक्तो के भाव की रक्षा की। कबीर कहते हैं कि कोई उस प्रभु के रहस्य का पार नही पा सकता, उसने अनेक बार प्रह्लाद जैसे भक्तो की रक्षा की है।

विशेष—'क्या कबीर का ब्रह्म सगुण और अवतारवादी था?—यह विचार ऐसे स्थलो पर कबीर की ब्रह्म विषयक निर्गुण धारणा के सम्मुख प्रश्न सूचक चिह्न के साथ प्रस्तुत हो जाता है।

हरि कौ नांउ तत त्रिलोक सार, लै लीन भये जे उतरे पार ॥टेक॥
इक जंगम इक जटाधार, इक अंगि बिभूति करै अपार।
इक मुनिपर इक मनहूं लीन, ऐसै होत होत जग जात खीन ॥
इक आराधै सकति सीव, इक पड़दा दे दे बधै जीव।
इक कुलदेव्यां कौ जपहि जाप, त्रिभवनपति भूले त्रिविध ताप ॥
अंनहि छाड़ि इक पीवहि दूध, हरि न मिलै बिन हिरदै सूध।
कहै कबीर ऐसै बिचार, राम बिना को उतरे पार ॥३८०॥

शब्दार्थ—सकति=शक्ति। सीव=शिव। वधै=वध करना, मारना। ताप=दुख। अनहि=अन्त को।

एक मात्र प्रभु-नाम ही सत्य और तीनो लोको का सार है, इसमे वृत्ति रमाने से मनुष्य भवसागर से तर जाता है। कोई तो यति और जटाधारी साधु बन जाता है और कोई अपने अग-प्रत्यग मे विभूति रमा कर अपने को बहुत बडा तपस्वी मानता है। कोई शिव अथवा शक्ति की आराधना करता है और एक पशु को ही बलि के लिए बाधे रहता है। कोई त्रिलोकीनाथ ब्रह्म को विस्मृत कर कुलदेवता को ही पूजने

मे अपने कर्त्तव्य की इति श्री कर लेता है। एक वह भी अपने को साधक मानता है जो अन्न का परित्याग कर दुग्धाहारी बन जाता है, किन्तु उन्हे ज्ञात नही कि हृदय मे विचार कर देखो, राम-भक्ति के आश्रय विना कोई भी ससार-सागर को नही तर सकता।

हरि बोलि सूवा बार बार, तेरी ढिग मीनां कछू करि पुकार ॥टेक॥
अंजन मंजन तजि बिकार, सतगुरु समझायौ तत-सार।
साध संगति मिलि करि बसत, भौ बंद न छूटै जुग जुगत ॥
कहै कबीर मन भया अनंद, अनंत कला भेटे गोब्यंद ॥३८१॥

शब्दार्थ—सरल है।

कबीर कहते है कि हे मन रूपी शुक ! तू बारम्बार प्रभु नाम का उच्चारण कर, वह प्रभु तेरे पास ही अवस्थित है, तनिक उसे पुकार कर तो देख—अंजन-मंजन आदि बाह्य शुद्धि उपकरणो को अब छोड दे, क्योकि सद्गुरु ने तुझे परमतत्व का सार बता दिया है। साधु-संगति करता हुआ ही आयु व्यतीत कर, क्योकि संसार का माया बन्धन युग-युग तक नही छूटता। कबीर कहते हैं कि मन मे तब अपरिमित आनन्द हुआ जब अनन्त कलावान् प्रभु से भेंट हुई।

बनमाली जांनै बन की आदि, रांम नांम बिन जनम बादि ॥टेक॥
फूल जु फूले रुति बसंत, जामैं मोहि रहे सब जीव जंत।
फूलनि मैं जैसे रहै तबास, यूं घटि घटि गोबिंद है निवास ॥
कहै कबीर मनि भया अनंद जगजीवन मिलियौ परमानंद ॥३८२॥

शब्दार्थ—आदि=गति। बादि=व्यर्थ, निस्सार। रुति=ऋतु। तबास=सौन्दर्य।

कबीर कहते हैं कि वह वनमाली प्रभु ही ससार की गति (आदि) को जानते हैं। वस्तुत राम-नाम के अभाव मे तो जीवन वृथा है। ऋतु वसन्त मे फूलने वाले कुसुमों के क्षणिक सौन्दर्य मे समस्त ससार के जीव-जन्तु पडे हुए है। जिस भाँति पुष्पो के मध्य सुगन्ध का निवास है उसी प्रकार प्रत्येक के हृदय मे ईश्वर का निवास है। कबीर कहते है कि ससार मे ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर अतुलित आनन्द की प्राप्ति हुई।

विशेष—उपमा अलकार।

मेरे जैसे बनिज सौं कवन काज, मूल घटै सिरि बधै ब्याज ॥टेक॥
नाइक एक बनिजारे पांच, बैल पचीस कौ संग साथ।
नव बहियां दस गौंनि आहि, कसनि बहतरि लागे ताहि ॥
सात सूत मिलि बनिज कीन्ह, कर्म पयादौ सग लीन्ह।
तीन जगाती करत रारि, चल्यौ है बनिज वा बनज झारि ॥
बनिज खुटानौं पूंजि टूटि, षाडू दह दिसि गयौ फूटि।
कहै कबीर यहु जन्म बाद, सहजि समांनूं रही लादि ॥३८३॥

शब्दार्थ—वनिज=वणिक। वधै=बढ़ना। वनजारे=इन्द्रियो से तात्पर्य है। बैल=प्रकृतियो से तात्पर्य है। बहिया=हाथ। सात सूत=सात धातुओ से तात्पर्य है। तीन जगाती=त्रिगुणात्मक प्रकृति।

कबीर कहते है कि मेरे जैसे वणिक् से प्रभु का क्या कार्य हो सकता है क्योकि मेरे से तो सुकृत्यो का मूलधन दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है और व्याज बढता जा रहा है। नायक आत्मा तो एक ही है, किन्तु पाच इन्द्रियो के वनजारे ५ प्रकृतियो के बैल का साथ है। नौ बाहु तो वस्त्र है, और दस स्त्रियाँ उसके साथ है तो भला किस भाँति उसका कल्याण सम्भव है। शरीर की सप्त धातुओ ने कर्म सैनिक को साथ लेकर यह व्यापार किया है। त्रिगुणात्मक प्रकृति झंझट खड़े कर रही है और व्यापार उसी वन के मध्य घुसता जा रहा है। मनुष्य रूपी या आत्मा रूपी वणिक का अस्तित्व (मृत्यु से) समाप्त हो जाने पर सम्पत्ति नष्ट होकर तत्व समस्त वातावरण मे लीन हो जाते हैं। कबीर कहते है कि यह जन्म व्यर्थ जा रहा है, अतः सहज समाधि मे अपनी लय लगा लो।

विशेष—१ साँगरूपक अलकार।

२. वनजारे पांच—पाँच इन्द्रिया।

३. बैल पचीस—पच्चीस प्रकृतियाँ।

आकाश की—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय।

वायु की—चलन, बलन, धावन, प्रसारण, सकोच।

अग्नि की—क्षुधा, तृषा, आलस, निद्रा, मैथुन।

जल की—लार, रक्त, पसीना, मूत्र, वीर्य।

पृथ्वी की—हाड, मास, त्वचा, नाडी, रोम।

४. नव बहिया—नौ हाथ (जिससे नापते हैं)

चार अन्त करण—मन, बुद्धि, चित्त, अहकार।

पच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान।

५. सातसूत—सप्त धातु—रस, रक्त, माँस, वसा, मज्जा, अस्थि, शुक्र।

६. तीन जगाती—त्रिगुणात्मक प्रकृति—सत, रज, तम।

माधौ दारन दुख सह्यौ न जाइ,
मेरी चपल बुधि तातै कहा बसाइ ॥टेक॥

तन मन भींतरि बसै मदन चोर, जिनि ग्यांन रतन हरि लीन्ह मोर।
मै अनाथ प्रभू कहूँ काहि, अनेक बिगूचे मैं को आहि ॥
सनक सनंदन सिव सुकादि, आपण कवलापति भये ब्रह्मादि।
जोगी जंगम जती जटाधार, अपनै औसर सब गये है हारि ॥
कहै कबीर रहु संग साथ, अभिअंतरि हरि सू कहौ बात।
मन ग्यांन जांनि कैं करि बिचार, रांम रमत भौ तिरिबौ पार ॥२८४॥

शब्दार्थ—दारन=दारुण। मदन=कामदेव। औसर=अवसर, समय।

हे प्रभु! मेरी अल्प-मति की सामर्थ्य भी क्या है, मुझसे विषय-वासना द्वारा दत्त दारुण दुख सहा नही जाता। अन्तर-वाह्य मे कामरूपी चोर का आवास है जिसने मेरा ज्ञान का अमूल्य मणि चुरा लिया। हे ईश्वर! मैं अनाथ हू, अनेक व्यक्तियो ने मुझे त्रास दिया, मैं आपके अतिरिक्त और किससे अपनी व्यथा-कथा कहूं सनक सनन्दन, शिव एव शुकदेव और ब्रह्मा आदि परमतत्व का साक्षात्कार कर गये हैं। योगी, साधु, तपस्वी, जटाधारी आदि सब कोई उसे पाने का प्रयत्न कर झकमार कर बैठ गये हैं। कबीर कहते है कि हृदयस्थ ब्रह्म से भेंट करानी चाहिए। वे आगे मन मे विचारपूर्वक कहते है कि राम मे वृत्तियाँ रमाने से ही ससार सागर से पार उतरा जा सकता है।

विशेष—रूपक अलंकार।

तू करी डर क्यूं न करै गुहारि,
तूं बिन पंचाननि श्री मुरारि ॥टेक॥
तन भींतरि बसै मदन चोर, तिनि सरवस लीनौं छोरि मोर।
मांगै देइ न बिनै मांन, तकि मारै रिदा मैं कांम बांन॥
मैं किहि गुहरांऊं आप लागि, तू करी डर बड़े बड़े गये हैं भागि।
ब्रह्मा विष्णु अरु सुर मयंक, किहि किहि नहीं लावा कलंक॥
जप तप संजम सुंचि ध्यांन, बंदि परे सब सहित ग्यांन।
कहि कबीर उबरे द्वै तीनि, जा परि गोबिंद कृपा कीन्ह ॥३८५॥

शब्दार्थ—गुहारि=पुकारना, प्रार्थना करना। रिदा=हृदय। मयंक=चन्द्रमा।

कबीर मनुष्य को सम्बोधित कर कहते हैं कि तू ससार तापो से भयभीत होकर प्रभु को क्यो नही पुकारता, भजता। इस शरीर के भीतर कामदेव रूपी चोर का वास है जिसने मेरा सर्वस्व अपहृत कर लिया है। वह मेरे चुराये हुए धन को माँगने से भी लौटता और हृदय मे काम-वाण मार देता है। मैं किस भाँति प्रभु का स्मरण करू, इस काम से डर कर बडे-बडे लोग भाग गये हैं। ब्रह्मा, विष्णु एव देवता तथा चन्द्रमा सब काम ग्रस्त होने के कारण कलकित हैं। जब ज्ञान सहित जप तप, संयम, पवित्रता एव ध्यान का आचरण किया जायगा, तभी यह काम रूपी चोर बन्दी हो सकता है। कबीर कहते है कि वे कुछ लोग ही काम-विमुक्त हैं जिन पर प्रभु कृपा करते हैं।

ऐसौ देखि चरित मन मोह्यौ मोर,
तार्थं निस बासुरि गुन रमौं तोर ॥टेक॥
इक पढ़हि पाठ इक भ्रमैं उदास, इक नगन निरंतर रहैं निवास।
इक जोग जुगति तन हूँहि खीन, ऐसैं रांम नांम संगि रहैं न लीन॥

इक हूँहि दीन एक देहि दांन, इक करैं कलापी सुरा पांन।
इक तत मंत ग्रोषध बांन, इक सकल सिध राखै अपांन॥
इक तीरथ ब्रत करि काया जीति, ऐसैं रांम नाम सूं करै न प्रीति।
इक धोम घोटि तन हूँहि स्यांम, यूं मुकति नहीं बिन रांम नाम॥
सत गुर तत कह्यौ बिचार, मूल गह्यौ अनभै बिसतार।
जुरा मरण थैं भये धीर, रांम कृपा भई कहि कबीर॥३८६॥

शब्दार्थ—मोर=मेरा। नगन=नग्न, दिगम्बर। खीन=क्षीण, दुर्बल। धोय=धुँआँ।

संसार की दुर्दशा देखकर ही प्रभु! मेरा मन अहर्निश आपकी भक्ति में संलग्न हुआ है। संसार के लोग विविध प्रकार से आपकी प्राप्ति का उपक्रम करते है, उनमें से कुछ तो शास्त्रो का पठन करते हैं, कोई विरक्त होकर इधद-उधर घूमता है और एक दिगम्वर हो जीवन-यापन करता है, एक व्यक्ति योग-साधना से अपने शरीर को क्षीण बनाता है किन्तु इनमें से कोई भी प्रभु नाम का आश्रय ग्रहण नहीं करता। एक भिखारी बना भिक्षा मांगता है तो दूसरा अपरमित दान देता है और एक वह भी अपने को साधक मानता है जो वाममार्गी बन मदिरापान करता है। एक वह भी साधक है जो तन्त्र-मन्त्र एवं औषध का सेवन करता है, तो कोई समस्त नीति वाक्यो को कण्ठ में रखे रहता है। एक वही साधक है जो तीर्थ-व्रतादि से शरीर की वृत्तियो पर अकुश रखता है, किन्तु इनमे से कोई भी राम-नाम स्मरण नहीं करता। चाहे कोई कितना ही पंचाग्नि से तप करके धुएं से काला हो जाय, किन्तु राम के किना उसे मोक्ष-प्राप्त नही हो सकती। सद्‌गुरु ने विचारपूर्वक कहा है कि राम-नाम स्मरण के मूल साधना मंत्र को ग्रहण करने से निर्भय पद की प्राप्ति होती है। कबीर कहते हैं कि राम कृपा से व्यक्ति जरा मरण के भय से विमुक्त हो जाता है।

सब मदिमाते कोई न जाग,
ताथैं संग ही चोर घर मुसन लाग॥टेक॥
पडित माते पढि पुरांन, जोगी माते धरि धियांन।
संन्यासी माते अहमेव तपा जु माते तप कै भेव॥
जागे सुक उधव अक्रूर, हणवंत जागे लै लंगूर।
संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नांमां जंदेव॥
ए अभिमांन सब मन के कांम, ए अभिमांन नहीं रहौ ठांम।
आतमां राम कौ मन बिश्रांम, कहि कबीर भजि रांम नाम॥३८७॥

शब्दार्थ—मुसन लाग=चुराने लगे, नष्ट करने लगे।

समस्त सागर मदान्ध हो अज्ञानवस्था मे पड़ा है, कोई भी ज्ञान लाभ कर सचेत नही होता, इसलिए काम, क्रोध आदि विकार इस जगत् मे प्राप्त दुर्लभ मनुष्य जीवन को नष्ट कर रहे [illegible] पंडित मदमस्त हुआ धर्मग्रन्थों के पढ़ने मे संलग्न है तो

योगी ध्यानावस्थित होने मे ही मस्त हो रहा है। सन्यासी अपने अहं दर्प में चूर है तो तपस्वी तपस्या के कारण अपने को अद्वितीय मानता है। जो लोग ज्ञान प्राप्त कर सचेत हो गये वे थे शुकदेव, उद्धव एव अक्रूर तथा हनुमान् और अन्य और थे। शिव भी सावधान हो प्रभु-चरणो की सेवा करने लगे एव कलियुग मे नामदेव और जयदेव नामक सत जागे थे। अह आदि विकार सब मन के ही कारण है, इस अह-दर्प से सुरक्षित नही रहा जा सकता। जिसकी आत्मा मे राम रमे हुए होतें है उसका मन निश्चित और शान्त रहता है। इसलिए कबीर कहते है कि राम नाम का स्मरण करो।

चलि चलि रे भवरा कवल पास, भवरी बोलै अति उदास ॥टेक॥
तैं अनेक पुहप कौ लियौ भोग, सुख न भयौ तब वढ्यौ है रोग।
हौं ज कहत तोसूं बार बार, मै सब बन सोध्यौ डार डार॥
दिनां चारि के सुरंग फूल, तिनहिं देखि कहा रह्यो है भूल।
या बनासपती मै लागैगी आगि, तब तू जैहौ कहां भागि॥
पहुप पुरांने भये सूक, तब भवरहि लागी अधिक भूख।
उड्यौ न जाइ बल गयौ है छूटि, तब भवरी रूंनी सीस कूटि॥
दह दिसि जोवै मधुप राइ, तब भवरी ले चली सिर चढ़ाइ।
कहै कबीर मन कौ सुभाव, रांम भगति बिन जम कौ डाव ॥३८८॥

शब्दार्थ—सूक=सूखना। रूनी=पश्चात्ताप करना। डाव=भय।

हे मन रूपी भ्रमर! तू प्रभु रूप कमल के पास चल, तेरे इस चाञ्चल्य से आत्मा बड़ी उदास हो गई है। तूने अनेक सुमनो का रसपान किया है किन्तु जब उन से तुझे आनन्द प्राप्ति न हुई तो तुझे अपना भ्रम ज्ञात हुआ और दु.ख की अनुभूति हुई। मै (कबीर) तुझसे बारम्बार कहता हूं कि मैंने समस्त वन प्रान्तर खोज खोज कर देख लिया कि यहा के सुमनो का सौन्दर्य क्षणिक है, इस अस्थिर सौन्दर्य मे ग्रसित मत हो। जब इस ससार वन की माया, विषय वासनापूर्ण सम्पत्ति मे आग लगेगी तो मन तू कहा भाग कर शरण लेगा? समय वात से सूख कर जब आकर्षण रूपी पुष्प सूख गये है, तब मन रूपी भ्रमर की भूख और भी अधिक बढ गई, किन्तु अब तो उसका शरीर इतना क्षीण और जराक्रान्त हो गया है कि उससे उडा तक नही जाता ऐसी विषमावस्था में आत्मारूपी भ्रमरी पश्चात्ताप ही करके रह जाती है। वह समस्त दिशाओं में प्रभु को खोजती है और मन रूपी भ्रमर को भी उस परमतत्व के समीप ले जाती है। कबीर अपनी मनोदशा का वर्णन करते कहते है कि राम भक्ति के अभाव मे काल का भय बना हुआ है।

विशेष—साग रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलकार।

आवध रांम सबै करम करिहूं,
सहज-समाधि न जम थैं डरिहूं ॥टेक॥

कुभरा ह्वै करि बासन घरिहूँ, धोबी ह्वै मल धोऊं।
चमरा ह्वै करि रंगौ अघौरी, जाति पांति कुल खोऊं॥
तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौ, पाप पुंनि दोऊ पीरौं।
पंच बैल जब सूध चलाऊं, राम जेवरिया जोरूं॥
छत्री ह्वै करि खड़ग संभालूं, जोग जुगति दोउ साधूं।
नऊवा ह्वै करि मन कूं मूंदूं, बाढी ह्वै कर्म बाढ़ूं॥
अवधू ह्वै करि यहु तन धूंतौ, बधिक ह्वै मन मारूं।
बनिजारा ह्वै तत कूं बनिजूं, जुवारी ह्वै जम हारूं॥
तन करि नवका मन करि खेवट, रसना करऊ बाडारूं।
कहि कबीर भौसागर तिरिहूँ, आप तिरूं बप तारूं॥३८१॥

शब्दार्थ—कुभरा=कुम्हार। पच बैल=पाँचो इन्द्रियाँ। बप तारूं=और लोगो को भी पार कर दूंगा।

हे प्रभु! मै कर्म करता हुआ सहज समाधि लगाऊंगा और काल से भी भयभीत नही होऊंगा। मै कुम्हार बन कर कर्म रूपी भाजनो मे सुदरता लाऊंगा एवं धोबी बनकर धोबी के समान पाप-मल धोऊंगा। जाति-पांति का विचार किये बिना मैं चमार बनकर कर्म के चमडे को रग सुन्दर रूप दूगा। तेली बनकर कोल्हू मे पाप-पुण्य को पेल दूगा और समभाव उत्पन्न करूगा। भक्ति की रज्जु का आश्रय लेकर मे इन्द्रियो के पाच बैलो को नियत्रण मे रख सन्मार्ग पर चलाऊगा। राजपूत हो कर मै तलवार पकडूंगा और योग-युक्ति की साधना करूंगा। नाई बनकर कर्मो की काट-छाट करूंगा। अवधूत बनकर योग साधना द्वारा इस शरीर को कष्ट-साधन क्षम बना दूंगा और बधिक बनकर मन को मार दूगा। बनजारा बनकर मै परम तत्त्व का व्यापार करूंगा और जुवारी बनकर यम के भय को दाव पर हार जाऊंगा। कबीर कहते है कि इस भाति मैं ससार समुद्र से पार उतर कर स्वय भी मुक्त होऊंगा और अन्यो को भी मोक्ष प्राप्त करा दूंगा।

विशेष—१ यहाँ कबीर की विचारधारा से प्रकट होता है कि उनकी मान्यता थी कि चाहे कोई किसी भी सामाजिक स्थिति में हो उसे ईश्वर-साधना एवं भक्ति का पूर्ण अवसर और अधिकार है। इसीलिए उन्होने यहा सामाजिक दृष्टि से निम्न से निम्नतम व्यक्तियो के कार्यो का सम्बन्ध भक्ति से जोडा है।

२. इस दृष्टि से हम कबीर को 'श्रम का समर्थक' प्रथम कवि भी कह सकते है।

राग माली गौड़ी

पडिता मन रंजिता, भगति हेत ल्यौ लाइ रे।
प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे॥टेक॥

दांम छै पणि कांम नांहीं, ग्यांन छै पणि धंध रे।
श्रवण छै पणि सुरति नांहीं, नैन छै पणि अंध रे॥
जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे।
कहै कबीर हरि भगति बांछूं, जगत गुर गोब्यंद रे॥३६०॥

शब्दार्थ—रजिता=अनुरक्त। दाम=धन, सासारिक सम्पत्ति।

पण्डित जनो का मन प्रभु-प्रेम मे अनुरक्त है, इसलिए हे मनुष्य! तुम भी अन्य कार्य-कलापो को त्याग कर ईश्वर भक्ति करो। धन के होते हुए कोई काम नहीं रुकता और ज्ञान के होते हुए कोई संसार प्रपच मे आवद्ध नही रहता। ज्ञान के श्रवण मात्र से किसी को ईश्वर अनुरक्ति नही हो जाती। इसलिए नेत्रो के होते हुए अन्धे नही बनना चाहिए। इसलिए उसका ध्यान करना श्रेयस्कर है जिसकी नाभि से कमल पर ब्रह्म की उत्पत्ति और चरण नख से गगा की उत्पत्ति हुई है। कबीर कहते हैं कि प्रभु भक्ति ही श्रेयस्कर है, गोविन्द संसार के गुरु है।

बिष्णु ध्यांन सनान करि रे, बाहरि अंग न धोइ रे।
सांच बिन सीझसि नहीं, कांई ग्यांन दृष्टैं जोइ रे॥टेक॥
जंजाल मांहैं जीव राखै, सुधि नहीं सरीर रे।
अभिअंतरि भेदै नहीं, कांई बाहरि न्हावै नीर रे॥
निहकर्म नदी ग्यांन जल, सुंनि मंडल मांहि रे।
औधूत जोगी आतमां, कांईं पेडै संजमि न्हाहि रे॥
इला प्यंगुला सुषमनां, पछिम गंगा बालि रे।
कहै कबीर कुसमल झड़ै, कांईं मांहि लो अंग पषालि रे॥३०१॥

शब्दार्थ—सीझसि=दिखाई देना। निहकर्म=निष्काम। कुसुमल=अमृत। पषालि=धोना, शुद्ध करना।

कवीर कहते है कि विष्णु—ब्रह्म का ध्यान करने वाले केवल अगो के बाह्य को ही धोने वाला स्नान नही करते अपितु वे तो अन्तर बाह्य की शुद्धि करने वाला [illegible] के बिना दृष्टिगत नही हो सकता उसके दर्शनार्थ तो ज्ञान दृष्टि वाछित है। इस जीवात्मा को संसार के प्रपंच मे डाले रखा जिससे यह अपने तन की सुधि भी विस्मृत कर बैठा। अन्तरतम के कलुष को तो दूर नही करते और व्यर्थ बाहर शरीर पर पानी गिरा कर स्नान का नाम कर रहे हैं। निष्काम ज्ञान-सरिता तो शून्य-प्रदेश मे ही प्रवाहित होती है, कोई साधक, संन्यासी, तपस्वी उसमे सयम द्वारा स्नान कर सकता है। इडा. पिंगला और सुषुम्णा के समन्वय से कुण्डलिनी के विस्फोट द्वारा अमृत का स्रवण होता है, कोई चाहे तो उसमें अपने अगो को धोकर निष्कलुष बना सकता है।

भजि नारदादि सुकादि बंदित, चरन पकज भांमिनीं।
भजि भजिसि भूषन पिया मनोहर, देव देव सिरोवनीं॥टेक॥

बुधि नाभि चन्दन चरचिता, तन रिदा मंदिर भीतरा।
रांम राजसि नैन बांनीं, सुजान सुंदर सुंदरा॥
बहु पाप परबत छेदनां, भौ ताप दुरिति निवारणां।
कहै कबीर गोब्यंद भजि, परमांनद बंदित कारणां॥३९२॥

शब्दार्थ—सिरोवनी=शिरोमणि। चरचिता=चर्चिता। रिदा=हृदय। दुरिति=शीघ्र।

कबीर कहते हैं कि प्रभु के उन चरण कमलों की वन्दना नारद, शुकदेव जैसे ऋषिगण करते हैं। उन देवाधिदेव के चरणो की जो समस्त सृष्टि के आभूषण हैं वन्दना करो। हृदय मन्दिर के भीतर चन्दन-चर्चित बुद्धि कमल पर अत्यन्त सुन्दर नेत्र एवं वाणी वाले प्रभु राम उपस्थित है। वे उनके पाप-पर्वतो के विदारण करने वाले तथा सासारिक-तापों का शीघ्र परिशमन करने वाले हैं। कबीर कहते है कि उस परम ब्रह्म की वन्दना करो।

विशेष—अनुप्रास रूपक अलंकार।

राग कल्याण

ऐसैं मन लाइ लै रांम रसनां,
कपट भगति कीजै कौंन गुणां॥टेक॥
ज्यूं मृग नादैं बेध्यौ जाइ, प्यंड परै वाकौ ध्यांन न जाइ॥
ज्यूं जल मींन हेत करि जांनि, प्रान तजै बिसरै नहीं बांनि।
भ्रिंगी कीट रहै ल्यौ लाइ, ह्वै लै लीन भ्रिंग ह्वै जाइ॥
रांम नांम निज अमृत सार, सुमरि सुमरि जन उतरे पार॥
कहै कबीर दासनि कौ दास,
अब नहीं छाडौं हरि के चरन निवास॥३९३॥

शब्दार्थ—नौंद=सगीत के कारण। हेत=प्रेम। भ्रिंगी=भृंगी, एक प्रकार का कीडा।

हे मन! राम रस मे अपनी वृत्ति रमा, कपट-व्यवहार करने से क्या लाभ? जिस भाँति मृग स्वर लहरी पर अनुरक्त हुआ ही मारा जाता है और शरीर पर उसका ध्यान नही रहता तथा जिस प्रकार जल से प्रेम करती हुई मछली सरोवर का जल सूख जाने पर भी प्राणों का मोह त्याग कर जल का साथ नही छोड़ती, इसी प्रकार मनुष्य विषय-वासना में लगा हुआ है। यदि वह भृंगी कीट के समान ईश्वर से अनन्य प्रेम सम्बन्ध स्थापित कर ले तो वह तदरूप हो जाएगा। राम-नाम तो साक्षात अमृतस्वरूप है जिसका स्मरण करने से भक्त-जन ससार से मुक्त हो गये। प्रभु-दासानुदास कबीर कहते हैं कि अब मैं ईश्वर के चरणों से अपना मन नही हटाऊंगा।

विशेष—उपमा

राग सारंग

यहु ठग ठगत सकल जग डोलै,
गवन करै तब मुषह न बोलै ॥टेक॥

तूं मेरौ पुरिखा हौं तेरी नारी, तुम्ह चलतैं पाथर थैं भारी ॥
बालपनां के मींत हमारे, हमहि लाडि कत चले हो निनारे ।
हम सूं प्रीति न करि री बौरी, तुम्हसे केते लागे ढौरी ॥
हम काहू संगि गये न आये, तुम्ह से गढ हम बहुत बसाये ।
माटी की देही पवन सरीरा, ता ठग सूं जन डरै कबीरा ॥३६४॥

शब्दार्थ—मुषह=मुख से । पुरिषा=पुरुष, पति । निवारे=पृथक, अकेला ।

यह माया रुपी ठग समस्त ससार को ठगता फिर रहा है, इसकी गति सर्वत्र है किन्तु यह मुख मे कोई भी शब्द नही बोलता अर्थात चुपचाप ही व्यक्ति के नाश में संलग्न रहता है । किन्तु हे प्रभु ! मैं आपकी प्रियतमा और आप मेरे प्रिय हैं, आपकी चाल पत्थर से भी अधिक भारी है, गम्भीर है । आप हमारे बाल्यावस्था से ही मित्र हो (आत्मा और परमात्मा प्रारम्भ में एक थे) अब हमें अकेला छोड़कर कहां जा रहे हो ? हे पागल माया ! तू मुझसे प्रेम करने का प्रयास मत करना, क्योकि मैंने न जाने तुम जैसो (अनेक आकर्षणों) कितनो को दुत्कार दिया है । न तो किसी के साथ गये हैं और न किसी के साथ आये हैं, तुम जैसे कितनो को ही हमने उनके घर पहुंचा दिया है । मेरा शरीर मिट्टी का (पचतत्व का) है जिसमे प्राणवायु, आत्मा का निवास है, इसीलिए मायारूपी ठग से मैं भयभीत हूँ ।

धनि सो घरी महूरत्य दिनां,
जब ग्रिह आयें हरि के जनां ॥टेक॥

दरसन देखत यहु फल भया, नैंनां पटल दूरि ह्वै गया ।
सब्द सुनत संसा सब छूटा, श्रवन कपाट बजर था तूटा ॥
परसत घाट फेरि करि घड़्या, काया कर्म सकल झड़ि पड़्या ।
कहै कबीर संत भल भाया, सकल सिरोमनि घट मैं पाया ॥ ३६५॥

शब्दार्थ—महूरत्य=मुहुर्त । संसा=संशय । बजर=वज्र, दृढ़ ।

वह मुहुर्त, घडी तथा दिवस धन्य है जिस दिन मेरे द्वार पर, हरि भक्त आये थे । उनके दर्शन का यह परिणाम, पुण्य-फल है कि मेरा अज्ञान दूर हो गया । उनके उपदेश-वचन सुनते ही समस्त सशय विदूरित हो गये एव श्रवणो का सद्वचनों के न सुनने का नियम भी टूट गया । उनके चरणो का स्पर्श कर शरीर पाप-कर्मों से मुक्त हो भक्ति मे लग गया । कबीर कहते हैं कि मुझे सज्जनो, साधुओ, के दर्शन का पुण्य लाभ यह हुआ कि जो समस्त सृष्टि का शिरोभूषण ब्रह्म था उसे मैंने हृदय मे ही पा लिया ।

राग मलार

जतन बिन मृगनि खेत उजारे ।
टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे ॥टेक॥
अपनें अपनें रस के लोभी, करतब न्यारे न्यारे ।
अति अभिमांन वदत नहीं काहू, बहुत लोग पचि हारे ॥
बुधि मेरी किरषी, गुर मेरौ बिझुका, अखिर दोइ रखवारे ।
कहै कबीर अब खान न दैहूँ, बरियां भली संभारे ॥३९६॥

शब्दार्थ- बिडरत=भगाने पर । वदत=मानना । पचि=कोशिश करके । बिझुका=डराने वाली वस्तु ।

साधना के विना विकारो के मृग इस जीवन रूपी खेत को उजाड रहे है । अहर्निश प्रयत्न करने से भी वे टाले नही टलते, भगाने का प्रयत्न करने पर भी नहीं भागते । वे अपनी-अपनी रुचि के रसों मे सलिप्त हैं और उसी के लिए विविध भांति के कर्मों का तानाबाना बुनते हैं । वे मनुष्य को अत्यभिमानी बना देते हैं, वहुत से लोग समझाकर हार गये. किन्तु फिर भी ये इस कुपन्थ का परित्याग नही करते । इस जीवन अथवा भक्त रूपी क्षेत्र के दो ही रखवाले हैं मेरी बुद्धि जो खेत में खड़े किये गये पुतलों का काम करती है और मेरा कष्ट जिससे निकलते वाले 'राम' नाम के दो अक्षर ही मेरे सम्बल हैं । कबीर कहते हैं कि विकारो के मृग को अब इस खेती को नही दूंगा, अब की बार मैंने इसकी रक्षा का पूर्ण सम्भार कर लिया है ।

विशेष—सांगरूपक अलकार ।

हरि गुन सुमरि रे नर प्रांणी ।
जतन करत पतन ह्वै जैहै, भावै जांणम जांणीं ॥टेक॥
छीलर नीर रहै धूं कैसें, को सुपिनें सच पावै ।
सूकित पांन परत तरवर थैं, उलटि न तरवरि आवै ॥
जल थल जीव डहके इन माया, कोई जन उबर न पावै ।
रांम अधार कहत हैं जुगि जुगि, दास कबीरा गावै ॥३९७॥

शब्दार्थ—जाणम जाणी=आवागमन । सच=सुख । डहके=वहकाना ।

हे मनुष्य ! प्रभु का गुणो का स्मरण कर, क्योकि प्रयत्न करते हुए भी मनुष्य का विनाश हो जाता है और वह आवागमन से विमुक्त नही होता । जल के बिना वृक्ष कैसे हरा भरा रह सकता है और स्वप्न मे प्राप्त ऐश्वर्य के द्वारा कोई सुख लाभ कैसे कर सकता है ? पानी के सूखते ही पेड के पत्र गिरने प्रारम्भ हो जाते है, वह सूख जाता है, पुन पल्लवित हो हरीतिमा का सुख लाभ नही कर पाता । जल थल—प्रत्येक स्थान पर माया ने जीवो को वहकाया है, इससे कोई भी बच नही पाया है । कवीर कहते है कि इससे वचने का एकमात्र आधार राम-नाम ही है जो युग-युग तक को इससे मुक्ति दिला देता है ।

राग धनाश्री

जपि जपि रे जीयरा गोव्यंदो, हित चित परमानंदो रे।
बिरही जन को बाल हौं, सब सुख आंनदकंदो रे ॥टेक॥
धन धन झीखत धन गयौं, सो धन मिल्यौं न आये रे।
ज्यूं वन फूली मालती, जन्म अबिरथा जाये रे।
प्रांणीं प्रीति न कीजिए, इहि झूठं संसारो रे।
धूंवा केरा धौलहर, जात न लागं बारो रे॥
माटी केरा पूतला, काहे गरब कराये रे।
दिवस चारि कौ पेखनौं, फिरि माटी मिलि जाये रे॥
कांमी रांम न भावई, भावे विषं विकारो रे।
लोह नाव पाहन भरी, बूडत नाहीं बारो रे॥
नां मन मूवा न मरि सक्या, नां हरि भजि उतर्‌या पारो रे।
कबीरा कंचन गहि रह्यौ, काच गहै संसारो रे ॥३६८॥

शब्दार्थ—अबिरथा=व्यर्थ, वृथा। धौलहर=महल। बारो=देरी। दिवस चारि कौ=थोडे समय का। पाहन=पत्थर। कचन=सोना। कांच=शीशा, तुच्छ पदार्थ।

हे मन! तू हृदय को अमित आनन्द प्रपान करने वाले प्रभु नाम का स्मरण कर। समस्त सुखो की खान वे प्रभु अपने भक्तो के एकमात्र आधार हैं। सासारिक धन के सचय मे ही परमात्मा रूपी अमूल्य धन खो दिया जो पुनः कभी भी नही मिल सकता। जिस भाँति वन मे फूली मालती का जन्म वृथा ही बीत जाता है, वहां कोई रसपान करने वाला भौरा नही होता, उसी भाँति ससार से प्रीति-सम्बन्ध बनाना अच्छा नही, क्योकि जगत् मिथ्या है। यह ससार तो धुए के महल सदृश है जिसके नष्ट होते देर नही लगती। इस मिट्टी के पुतले शरीर के लिए गर्व करना व्यर्थ है। कामी पुरुष को प्रभु नाम प्रिय न होकर विषयानन्द प्रिय होते है। एक तो गर्व दूसरे काम-पिपासा रूपी लोहे की पत्थर भरी नाव को डुबने मे समय भी नही लगता। न तो मन की चचलता समाप्त हो सकी और न मृत्यु ही आई और न प्रभु-भजन कर ससार से मुक्ति का कार्य किया। कबीर कहते है कि हे मनुष्य! तुम प्रभु स्वरूप कचन को पकडे रहो ससार तो विषयानन्दो के काच को पकडने मे ही मस्त है।

विशेष—१ यमक, उपमा आदि अलकार।

२ "धूवाँ केरा धौलहर" की तुलना तुलसी से कीजिए—
"धुआँ कैसे धौलहर, देख न भूलि रे।"
'विनयपत्रिका'

न कछु रे न कछू रांम बिनां।
सरीर धरे की रहै परंमगति, साध संगति रहनां ॥टेक॥

मंदिर रचत मास दस लागे बिनसत एक छिना।
झूठे सुख के कारनि प्रांनीं, परपंच करत घनां ॥
तात मात सुत लोग कुटंब मैं, फूल्यो फिरत मनां।
कहै कबीर रांम भजि बौरे, छाड़ि सकल भ्रमनां ॥३९९॥

शब्दार्थ—मदिर=शरीर। बिनसत=नष्ट होना।

कबीर कहते हैं कि हे मन! प्रभु-स्मरण के बिना इस ससार मे कुछ भी नही है। यह शरीर यहाँ रखे का रखा ही रह जाता है, इसलिए साधु सगति का लाभ करना चाहिए। इसे शरीर रूपी मन्दिर को बनाने मे जो मातृगर्भ मे पड़े हुए दस मास लगे किन्तु नष्ट होते तो एक क्षण भी नही लगेगी। मिथ्या साँसारिक सुख के लिए व्यक्ति अनेक पाप कार्य करता है। एव इसी कारण माता पिता, पुत्र परिवार आदियो मे प्रसन्न हुआ फिरता है। कबीर कहते है कि समस्त भ्रमो का परित्याग कर मन! तू प्रभु का स्मरण कर।

कहा नर गरबसि थोरी बात।
मन दस नाज, टका दस गठिया, टेढौ टेढौ जात ॥टेक॥
कहा लै आयौ यहु धन कोऊ, कहा कोऊ लै जात।
दिवस चारि की है पतिसाही ज्यूं बनि हरियल पांत ॥
राजा भयौ गांव सौ पाये, टका लाख दस व्रात।
रावन हात लंक कौ छत्रपति, पल मै गई बिहात ॥
माता पिता लोक सत बनिता, अंति न चले सगात।
कहै कबीर रांम भजि बौरे, जनम अकारथ जात ॥४००॥

शब्दार्थ—गरबसि=गर्व करता है। पतिसाही=बादशाहत। हरियल=हरी। बिसात=छुटना, नष्ट होना। संगात=साथ। अकारथ=वृथा।

कबीर का कथन है कि हे मनुष्य! तू व्यर्थ क्यो गर्व करता है? दस छिद्रो से परिपूर्ण टके भर की इस मिट्टी की गठिया के शरीर पर दम्भ भर तुम इतरा कर चलते हो। कौन इस धन को लेकर आया है और कौन इसे अपने साथ ले जायगा? यह तो क्षणिक, अत्यन्त अल्प समय की साहूकारी है, जिस प्रकार हरियाली कुछ ही दिन रहती है। यदि कोई राजा हो गया और अतुल धन तथा विशाल भूमि भी प्राप्त हो गई तो उसका क्या लाभ? क्योकि लकाधीश छत्रपति रावण क्षण भर में मारा गया। माता-पिता, पत्नी, पुत्र अंत समय आने पर कोई भी साथ नही जाता। इसीलिये कबीर कहते है कि हे पागल तू राम-नाम का स्मरण कर।

विशेष—उपमा, दृष्टान्त आदि अलकार।

नर पछिताहुगे अंधा।
चेति देखि नर जमपुरि जैहै, क्यूं बिसरौ गोदाब्यं। ।टेक।

गरभ कुंडिनल जब तू बसता, उरध ध्यान ल्यौं लाया।
उरध ध्यान मृत मंडलि आया, नरहरि नांव भुलाया।।
बाल बिनाद छहूँ रस भीनां, छिन छिन मोह बियापै।
बिष अंमत पहिचांनन लागो, पंच भांति रस चाखै।।
तरन तेज पर त्रिय मुख जोवै, सर अपसर नहीं जांनै।
अति उदमादि महामद मातौ, पाप पुंनि न पिछांनै।।
प्यंडर केस कुसुम भये धौला, सेत पलटि गई बानीं।
गया क्रोध मन भया जु पावस, कांम पियास मंदांनीं।
तूटी गांठि दया धरम उपज्या, काया कवल कुमिलांनां।
मरती बेर बिसूरन लागौ, फिरि पीछै पछितांनां।।
कहै कबीर सुन रे संतौ, धन माया कछू संगि न गया।
आई तलब गोपाल राइ की, धरती सैन भया।।४०१।।

शब्दार्थ—बियापै=व्याप्त होना। अंमत=अमृत। त्रिय=स्त्री। अपसर=कुअवसर। उदमादि=उत्पाद। प्यडर=सफ़ेद। पावस=वर्षाऋतु। तलब=उत्कृष्ट प्रेम।

हे अज्ञानाध मनुष्य ! सावधान हो जा,अन्यथा यमपुर जाते समय पछतायेगा, इसीलिए प्रभु को विस्मृत मत कर। जब तू गर्भवास मे उलटा लटका हुआ दारुण दुख भोगता था, तब प्रभु का भजन करता था, किन्तु अब बाहर आने पर तू ईश्वर को विस्मृत कर बैठा। अब तो छहो रस से पूर्ण बाल-क्रीडाओ मे आनन्दित हो कर प्रतिपल मोह बधन मे पडता जाता है। स्वाद की दृष्टि से अब कटु और मधुर को पहचानने लगा है, पाँच प्रकार के भोजनो का रस प्राप्त करता है। सुखशय्या पर अवसर-कुअवसर प्रत्येक समय पत्नी के साथ रति-क्रीडा मे सलग्न रहता है। इस प्रकार मद में अन्धा पाप-पुण्य का विभेद भी भुला बैठा है, किन्तु अब वृद्धावस्था आने पर वे सुन्दर केश श्वेत हो गये और वाणी भी लडखडाने लगी। अब क्रोध भी चला गया है और मन वर्षा के समान आर्द्र हो उठा है। काम-पिपासा अब मिट चुकी है। गर्व गांठ के टूट जाने पर अब दया-धर्म जैसे गुण की उद्भावना हुई है, क्योकि शरीर रूपी कोमल मुरझा गया है। मृत्यु समय के दुखो को स्मरण कर ले क्योकि फिर तो पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ ही नही लगेगा। कबीर कहते हैं कि हे सतगण ! मनुष्य के साथ मृत्युपरान्त धन-सम्पत्ति, माया आदि कुछ भी नहीं जाता। जब प्रभु की इच्छा होती है तो वह धरणी को ही शय्या मे परिवर्तित कर देता है, मृत्यु बुला देता है।

विशेष 'गरभा······भुलाय" से तुलना कीजिए—

"दुख मे सुमरन सब करें, सुख मे करे न कोय।
जो सुख मे सुमरन करै तो दुख काहे को होय।।"

लोका मति के भोरा रे।

जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रांमहि कहा निहोरा रे ।।टेक।।

तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।

ज्यूं जल मै जल पैसि न निकसै, यूं ढुरि मिल्या जुलाहा ।।

रांम भगति परि जाकौ हित चित, ताकौ अचिरज काहा।

गुर प्रसाद साध की संगति, जग जीतें जाइ जुलाहा ।।

कहै कबीर सुनहुँ रे संतौ, भ्रंमि परै जिनि कोई।

जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै रांम सति होई ।।४०२।।

शब्दार्थ—निहोरा=दया। लाहा=लाभ। ऊसर=व्यर्थ।

हे साधु ! हम तो साधारण बुद्धिधारी है, यह जानने है कि यदि यहाँ काशी-करवट लेकर प्राण गवा वैठे तो फिर प्रभु राम को किस भाँति मुँह दिखा सकते है ? तब काशी-करवट से तो हम वैसे ही पाप भागी वन जायेंगे ? यदि अव पापी है तो इस जन्म का लाभ प्राप्त कर प्रभु-भक्ति द्वारा पाप-प्रक्षालन का प्रयत्न तो कर लेगे। जिस प्रकार जल मे जल मिल जाने पर उसी जल को पुनः अलग नही किया जा सकता, उसी प्रकार मुझ कवीर जुलाहे के धूलि मे मिल जाने पर पुन. शरीर रचना नही हो सकती। जिस व्यक्ति को ईश्वर भक्ति मे कुशलता दृष्टिगत होती हो भला उसका अहित कैसे हो सकता है ? गुरु-उपदेश पर एव साधु-सगति से कवीर जुलाहा समस्त ससार पर आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर लेगा। कवीर कहते है कि हे सन्तो ! माया भ्रम का परित्याग कोई विरला ही कर पाता है। यदि हृदय मे राम-नाम का दृढ सम्वल हो तो काशी और मगहर मे शरीर-त्याग समान है।

विशेष—१ "गुरु प्रसाद······जुलाहा" मे कवीर की आत्मश्लाघा अथवा आत्माभिमान नही अपितु दृढ आत्मविश्वास ही प्रकट होता है।

२ अन्तिम चरण के द्वारा 'मगहर' के प्रति फैले साधारण विश्वास कि 'मगहर' में मृत्यु से दुर्गति होती है, का खण्डन किया गया है।

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै, तेज पुंज तहां प्रांन उतारै ।।टेक।।

पाता पंच पहुप करि पूजा, देव निरंजन और न दूजा ।।

तनमन सीस समरपन कीन्हां, प्रगट जोति तहां आतम लीनां।

दीपक ग्यांन सबद धुनि घंटा, परंम पुरिख तहां देव अनंता ।।

परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मै दास तुम्हारा ।।४०३।।

शब्दार्थ—पहुप=पुष्प। पुरिख=पुरुष, प्रभु।

कवीर कहते है कि निम्नस्थ प्रकार से कथित आरती यदि समस्त ससार उतारे तो ज्योतिस्वरूप परमात्मा अवश्य दर्शन दे। पाँचो इन्द्रियो रूपी पत्तियो पर मन सुमन

को रख देवाधिदेव ज्योतिस्वरूप अलख निरञ्जन ब्रह्म की पूजा हो। उस परम ज्योति पर तन-मन, शीश अर्पण कर आत्मा को पूर्ण लय कर दे। ज्ञानदीप एवं अनहद की घटा ध्वनि से उस परम पुरुष सर्वोच्च देव परब्रह्म के दर्शन हो। कबीर कहते हैं कि वह ब्रह्म, परमात्मा, समस्त सृष्टि का प्रकाशक हैऔर मैं उसका दास हूँ।

विशेष—सांगरूपक अलकार।

रमैंणी भाग

रमैंणी-परिचय

"'रमैंणी' कबीर के ईश्वर सम्बन्धी विचारों, शरीर-रचना सम्बन्धी विचारों तथा मानवीय आत्मा का उद्धार सम्बन्धी विचारों का संकलन है।

'रमैंणी' भाग के प्रारम्भ मे ही कबीर ने उस सर्वव्यापक परमात्मा के रूप को जानने का आभास दिया है। 'रमैंणी' मे लिखा है कि परमात्मा की त्रिगुणात्मक सृष्टि के भेद को देवगण, गन्धर्व, ब्रह्मा और शिव भी नही जान सके। संन्यासीजन ऊँच-नीच का तो ध्यान करते है, किन्तु अविनाशी प्रभु का नही। 'रमैंणी' के एक पद मे लिखा है कि संन्यासी तो वही है जो उन्मनावस्था की साधना करता हुआ ईश्वर का ध्यान करता है। कबीर ने 'रमैंणी' प्रसंग मे यह बताने की चेष्टा की है कि जिस ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है और पृथ्वी को नौ खण्डों मे विभाजित किया उस परम पुरुष की माया का पार नही पाया जा सकता। किन्तु यहाँ उसी अलख ब्रह्म पर चितवृतियों को केन्द्रित किया गया है।

इसके अतिरिक्त 'रमैंणी' मे तत्कालीन समाजगत रूढ़ियो एवं धार्मिक-प्रपंचों का भी अच्छा चित्रण किया गया है। इसमें काजी, मुल्ला, संन्यासी आदि की चर्चा करते हुए लिखा है कि उस समय ढोगी साधु, काजी, पीर आदि अधिक संख्या में मिलते थे। इसलिए कबीर को आवश्यकता पड़ी कि वे इनके वास्तविक स्वरूप का स्पष्टीकरण करे।

'रमैंणी' मे समाज के तथा धर्म के ऐसी भ्रष्टाचारी पुजारियो से बचने का बडा ही सुन्दर मार्ग प्रदर्शित किया गया है। उसमें कबीर ने बताया है कि अपनी चितवृत्तियो को प्रभु मे केन्द्रित कर इस मिथ्या संसार में भ्रम में नही रहना चाहिए। अत. 'रमैणी' के इस भाव से यह ध्वनित होता है कि मनुष्य को 'ब्रह्मरूपी राम' मे अपनी श्रद्धा रखकर जो अन्य किसी से प्रयोजन नही रखते, वे ही भक्त ईश्वर के स्वरूप को जान सकते हैं।

'रमैंणी' मे जीव को कर्मजाल में फंसा रहने के कारण दोषी भी ठहराया गया है। मानव अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के कारण कर्मजाल मे फसकर ईश्वर को भूल जाता है और आवागमन के चक्र मे पड जाता है। इसलिए इन प्रसंगो में मानव को सकेत दिया है कि सब जंजालो को छोड़कर ईश्वर की ही शरण मे जाना चाहिए, तभी उसका कल्याण हो सकता है।

इसके अतिरिक्त 'रमैणी' मे साधनात्मक बातों पर भी गम्भीर रूप से विचार किया गया है। षट्-दर्शन, विषयरस, चारों वेद, तप-तीर्थ, व्रत-पूजा, स्नानादि, यम-नियम आदि जितने भी उपक्रम हैं, उन सबको अपनाकर भी परमात्मा को खोजा नही जा सकता। अत उस परमात्मा को जानने के लिए हठयोग सम्बन्धी बातो का सहारा नही अपितु उसी परमात्मा के चरण-कमलो का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। 'रमैणी' की परमात्मा और जीवात्मा सम्बन्धी यह व्याख्या बड़ी ही उच्चकोटि की है।

इसके अतिरिक्त 'रमैणी' मे सुख-निरत, अजपा, धोती-नेति, उन्मनी आदि पारिभाषिक शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। इन पारिभाषिक शब्दों को बहुत ही सुष्ठु रूप मे स्पष्ट किया गया है।

परमात्मा के रहस्यपूर्ण रूप को भी 'रमैणी' के विभिन्न उपांगो मे निहित पक्तियो मे अभिव्यक्त किया है। यहाँ अद्वैतवादियो की भाँति ब्रह्मस्वरूप को 'काष्ठ वह्नि-न्याय' द्वारा स्पष्ट किया गया है। जब जीवात्मा रूपी सखी अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने चल देती है तो उनकी आत्मा आनन्द से नाचने लगती है। 'रमैणी' मे लिखा है कि भक्तजन आनन्दमग्न हो, उसी भाँति प्रभु का गुणगान करते हैं, जिस प्रकार कोकिल आम्र वृक्ष की शाखा पर बैठी मधुर गायन करती है।

इसके अतिरिक्त इस 'रमैणी' प्रसगों मे विभिन्न धर्मो के लोगो को भी अन्ध-विश्वासो तथा भ्रष्टाचार की बातो से दूर रहने की भी चेतावनी दी गई है मुसलमान, क्षत्रिय, भक्त हिन्दू लोग आदि सभी को उसी अव्यक्त सत्ता का प्रकाश बताया गया है। वह परमात्मा कुम्भकार के सदृश है और उसने ही इस नाना रूपात्मक जगत की सृष्टि की है। ससार मे जीवात्मा दो रूप अवतरित होती है—एक तो शिव (पुरुष) और दूसरे शक्ति (माया रूपी नारी)। ये ही दोनो रूप परमात्मा के दो चक्षु हैं। पुरुष माया रूपी नारी की घाटी को ही पार करके उस दिव्य पुरुष (परमात्मा) से मिल सकता है, अन्यथा नही। 'रमैणी' का यह विवेचन बडा ही सारगर्भित है।

'रमैणी' मे राग सूहै, सतपदी, बड़ी अष्टपदी, दुपदी, अष्टपदी, चौपदी आदि 'रमैणी' का प्रयोग हुआ है। छंदशास्त्र के आधार पर हम कह सकते है कि 'रमैणी' छंद का प्रयोग बहुत ही सुनियोजित तथा सुष्ठु रूप मे हुआ है।

इसके अतिरिक्त 'रमैणी' मे अर्थालंकारो के प्रयोग मे भी एक प्रकार का वैचित्र्य निहित है। उसमे रूपक, साँगरूपक, रूपकातिशयोक्ति, निदर्शना, उपमा आदि अलंकारो का बड़ा ही मनोहारी प्रयोग हुआ है। रूपक का तो ऐसा सुन्दर प्रयोग हुआ है कि वह बरबस ही पाठक की चित्तवृत्ति को आर्कषित कर लेता है। अतः हम कह सकते हैं कि कबीर की 'रमैणी' मे भी काव्यत्व की गहराई तक पहुचने की चेष्टा की गई है। 'रमैणी' छंद तथा अर्थालकार का ऐसा प्रयोग अन्यत्र दुर्लभ है।

'रमैणी' मे प्रयुक्त भाषा क्लिष्ट होते हुए भी मधुर तथा प्रवाहपूर्ण है। इसी से उसकी साहित्यिकता प्रमाणित होती है। इसीलिए कबीर को साहित्य के क्षेत्र में युग-सृष्टा कहा गया है।

राग सूहौ

तूं सकल गहगरा, सफ सफा दिलदार दीदार।
तेरी कुदरति किनहूँ न जानीं, पीर मुरीद काजी मुसलमांनीं॥
देवी देव सुर नर गण गंध्रप, ब्रह्मा देव महेसर ॥१॥

शब्दार्थ—गहगरा=शक्तिमान। गंध्रप=गंधर्व। महेसर=महादेव।

कबीर कहते है कि हे प्रभु! आप सर्वशक्तिमान् एवं सर्वत्र परिव्याप्त हैं। तेरी इस त्रिगुणात्मक सृष्टि का भेद, तथाकथित ज्ञानियों—पीर, शिष्य, काजी और मुल्ला आदि—देवगण, गन्धर्वगण तथा अन्य जाति के मनुष्यो तथा ब्रह्मा एवं शिव को भी प्राप्त न हो सका।

विशेष—अन्तिम चरण मे पुनरुक्ति दोष है।

तेरी कुदरति तिनहूँ न जांनीं ॥टेक॥
काजी सो जो काया बिचारै, तेल दीप मै बाती जारै।
तेल दीप मै बाती रहै, जोति चीन्हि जे काजी कहै॥
मुलनां बंग देइ सुर जांनीं, आप मुसला बैठा तांनीं।
आपुन मै जे करै नियाजा, सौ मुलनां सरबत्तरि गाजा॥
सेष सहज मै महल उठावा, चंद सूर बिचि तारी लावा।
अर्ध उर्ध बिचि आंनी उतारा, सोई सेष तिहूं लोक पियारा॥
जंगम जोग बिचारै जहूँवां, जीव सीव करि एकै ठऊंवा।
चित चेतनि करि पूजा लावा, तेतौ जंगम नांउं कहावा॥
जोगी भसम करै भौ मारी, सहज गहै बिचार बिचारी।
अनभै घट परचा सूं बोलै, सो जोगी निहचल कदे न डोलै॥
जैन जीव का करहु उबारा, कौंण जीव का करहु उधारा।
कहां बसै चौरासी का देव, लहौ मुकति जे जांनौं भेव॥
भगता तिरण मतै संसारी, तिरण तत ते लेहु बिचारी।
प्रीति जांनि रांम जे कहै, दास नांउ सो भगता लहै॥
पंडित चारि बेग गुंण गावा, आदि अंति करि पूत कहावा।
उतपति परलै कहौ बिचारी, संसा घालौ सबै निवारी॥
अरधक उरधक ये संन्यासी, ते सब लागि रहैं अबिनासी।
अजरावर कौं डिढ करि गहै, सो संन्यासी उन्मन रहै॥
जिहि घर चाल रची ब्रह्मंडा, पृथमी मारि करी नव खंडा।
अबिगत पुरिस की गति लखी न जाइ, दास कबीर अगह रहे ल्यो लाई॥२॥

शब्दार्थ—चीन्हि=पहचानना। बग=बाग। तारी=द्रष्टि। भौ=सासारिक आकर्षण। कदे=कभी भी। अगह=अगम्य प्रभु।

हे प्रभु ! पीर, काली देवी, देव नर आदि लोग तेरा रहस्य न जान सके। वस्तुतः ये काजी, पीर, मुल्ला आदि झूठे हैं, वास्तव मे काजी तो वही है जो योग साधनानुसार शरीर रूपी दीपक मे ईश्वर की स्नेह-वर्तिका रख अलख ज्योति को पहचानने में ज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मौलाना ईश्वर को (बहरा जानकर) बाँग देता है और स्वय कुरान शरीफ खोलकर बैठ जाता है, चाहे उसका तत्व हृदयगम करे अथवा नही और वह इसमे ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। किन्तु वास्तव मे मौलाना कहलाने का अधिकारी वही है जो स्वयं मे अनहद नाद उत्पन्न कर ले जिससे उसका रोम-प्रति रोम प्रभु नाम से स्पन्दित हो उठे। शेख वही है जो इडा-पिंगला मे सुषुम्णा का समन्वय कर शून्य महल के इस स्थल को प्राप्त करता है जहा ज्योतिर्विंदु है, ऐसा ही शेख समस्त ससार को प्रिय लगता है। जगम उसी को कहा जा सकता है जो लोग साधना करते हुए आत्मा और परमात्मा को एक मिलन विन्दु पर मन साधना कर मन से अज्ञान को दूर कर उसे नियन्त्रित करते हुए, मिला देता है।

अटल और दृढ योगी वही है जो भव-भय को नष्ट कर निर्भय हुआ समत्व स्थिति को प्राप्त करता है तथा हृदय-स्थित प्रियतम से साक्षात्कार करता है। जैन साधु हम उसी को कह सकते है जो जीवो का उद्धार करते है, आज के जैन साधु किस जीव का उपकार कर रहे है ? उन्हे चाहिए कि यह जानने का प्रयत्न करें कि चौरासी लाख योनियो का निर्माता ब्रह्म कहा रहता है, उसे जान कर ये मुक्त हो जायेंगे। 'भक्त' उसी को कहा जायेगा जो ससार के मोक्ष की चिन्ता करता हुआ मुक्ति-उपाय को वतायेगा। जो भी प्रेम-पूर्वक प्रभु का भजन करेगा उसी को सब भक्त कहेगे। पण्डित, ज्ञानी, उसी को कह सकते है जो चारो वेदो मे निष्णात विद्वान् हो। आधुनिक पण्डित तो उत्पत्ति और प्रलय, हानि-लाभ का ही हिसाब लगाते रहते हैं, उन्हे चाहिए कि वे माया-भ्रम का नाश कर समस्त पापो, विकार से दूर रहे।

ये सन्यासी लोग ऊच नीच का तो विचार करते है किन्तु अविनाशी प्रभु का ध्यान नही करते। सन्यासी तो वही है जो उन्मनावस्था की साधना करता हुआ ईश्वर का दृढमना हो ध्यान करता है।

जिस ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना की और पृथ्वी को नौ-खण्डो मे विभाजित किया उस परम-पुरुष की गति का पार नही पाया जा सकता, किन्तु कबीर ने उसी अलख ब्रह्म मे अपनी सम्पूर्ण चितवृत्तियाँ केन्द्रित कर दी है।

विशेष—१. कबीर यहाँ योगसाधना पर वल देते है

२. कबीर ने यहाँ काजी, मुल्ला, पीर, पैगम्बर, सन्यासी, पडित आदि का स्वरूप बताते हुए परिभाषा सी दी है जिससे स्पष्ट है कि उनके समय मे ढोगी साधु, पीर काजी आदि वहुत हो गये थे, तभी उन्हे आवश्यकता पडी कि वे इनके वास्तविक स्वरूप का कथन करें।

★

सतपदी रमैंणी

कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा, जग भुलांन सौ किनहूँ न चीन्हां ।
सत रज तम थैं कीन्हीं माया, आपण मांझै आप छिपाया ।।
ते तौ आहि अनंद सरूपा, गुन पल्लव बिस्तार अनूपा ।
साखा तत थैं कुसम गियांनां, फल सौ आछा रांम का नांमां ।।
सदा अचेत चेत जीव पंखी, हरि तरवर करि वास ।
झूठे जगि जिनि भूलसि जियरे, कहन सुनन की आस ।।३।।

शब्दार्थ—सरल है ।

जिसने नाना रूपात्मक चित्र-विचित्र इस ससार की सृष्टि की, ससार के लोग उसे न पहचानते हुए माया-भ्रम मे पडे हुए है । उस ब्रह्म ने सत, रज, तम—त्रिगुणात्मक रूप प्रकृति से सृष्टि रचना की है और स्वय को अपनी ही सृष्टि मे इस भाँति छिपा लिया कि कोई भेद नही पा सकता । जिस भाति वृक्ष मे अगणित-पत्र होते है उसी प्रकार उस ब्रह्म के अनन्त गुण हैं और वह आनन्दस्वरूप हैं । उसका पूर्ण ज्ञान ही वृक्ष पर विकसित सुमन है और राम-नाम स्मरण का फल अनुपम वरदान है, ब्रह्म की प्राप्ति का सरलतम उपाय है ।

कबीर कहते हैं कि हे सर्वदा अज्ञानाधकार मे पडे रहने वाले जीवात्मा प्रभु रूप अनुपम वृक्ष पर वास कर । भाव यह है कि प्रभु मे अपनी चित्तवृत्तियाँ केन्द्रित कर तथा इस मिथ्या ससार मे भ्रमरत मत रह ।

विशेष—१. सागरूपक अलकार ।

२. ससार को 'कहन सुनन की आस' कहकर जहाँ उसके क्षणभगुर स्वरूप का कथन किया गया है, इस प्रयोग मे बडी लाक्षणिकता आ गई है ।

सूक बिरख यहु जगत उपाया, समझि न परै विषम तेरी माया ।
साखा तीनि पत्र जुग चारी, फल दोइ पाप पुंनि अधिकारी ।।
स्वाद अनेक कथ्या नही जांहीं, किया चरित सौ इन मैं नाही ।
तेतौ आहि निनार निरंजनां, आदि अनादि न आंन ।
कहन सुनन कौं कीन्ह जग, आपै आप भुलांन ।।४।।

शब्दार्थ—साखा तीनि=सत, रज और तप से मुक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति ।

हे ईश्वर ! तेरी अनुपम माया का भेद नही पाया जाता, वृक्षरूप मे आपने इस ससार की सृष्टि की है । सत, रज, तम त्रिगुणात्मक प्रकृति ही इस ससार-वृक्ष की तीन शाखाए है जिस पर द्विधा के पत्र पल्लवित है तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ही इसके चार फल है जिसका उपयोग करने वाले पाप और पुण्य स्वरूप दो अधिकारी है । इन फलो के स्वाद अवर्णनीय है और ईश्वर ने जो लीला रची है वह सब इन स्वादो मे नही समा सकती । इसीलिए उस अनुपम ईश्वर को खोजने का

प्रयत्न करो, क्योंकि यह संसार तो भ्रम है जिसमें पड़कर जीवात्मा स्वयं विभ्रमित है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

जिनि नटवै नटसारी साजी, जो खेलै सो दीसै बाजी।
सो बपुरा थैं जोगति डाठी, सिव बिरंचि नारद नहीं दीठी।।
आदि अंति जो लीन भये हैं, सहजैं जांनि संतोषि रहे हैं।
सहजैं राम नांम ल्यौ लाई, रांम नाम कहि भगति दिढाई।।
राम-नाम जाका मन मांना, तिन तौ निज सरूप पहिचांनां।।५।।

शब्दार्थ—नटवै=नट, सृजक, ब्रह्म। नटसारी=खेल का सम्भार, सृष्टि से तात्पर्य। दीसै=दृष्टिगत होता है। बाजी=किसी किसी को ही। दिढाई=दृढ करना।

जिस सृजक ब्रह्म ने इस सृष्टि की रचना की है वह किसी ही किसी को दृष्टिगत होता है। मैं बिचारा तो किसमें हूँ, मेरी गणना कहाँ, जब शंकर और नारद जैसे ही उसका भेद न पा सके। कबीर कहते हैं कि जो सहज साधना द्वारा परमात्मा में ही रम गये है, जो आद्यन्त उस प्रभु का ध्यान करते रहते है और इस प्रकार राम मे वे अपनी दृढ भक्ति रखते है जिनका राम के अतिरिक्त अन्य किसी से प्रयोजन ही नही रह जाता वे ही भक्त उस ब्रह्म के स्वरूप को पहचानते है।

विशेष—१ रूपकातिशयोक्ति अलंकार।
२. प्रेमाभक्ति की पुष्टि।

निज सरूप निरंजना, निराकार अपरंपार अपार।
रांम नाम ल्यौ लाइस जियरे, जिनि भूलै बिस्तार।।

करि बिसतार जग धंधै लाया, अंध काया थैं पुरिष उपाया।
जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा, ताकूं तैसा कीन्ह उपावा।।
तेतौ माया मोह भुलांना, खसम राम सो किनहूं न जांनां।
जिनि जान्यां ते निरमल अंगा, नहीं जान्या ते भये भुजंगा।।
ता मुखि विष आवै विष जाई, ते विष ही विष मैं रहे समाई।
माता जगत भूत सुधि नाहीं, भ्रंमि भूले नर आवे जाहीं।।
जानि बूझि चेतै नही अंधा, करम जठर करम के फंधा।।६।।

शब्दार्थ—खसम=स्वामी, प्रभु। भुजंग सर्प। जठर=विकट।

उस ईश्वर का स्वरूप निराकार, अलख एव अगम्य है, वह इन्द्रियातीत है। हे मन! तू राम-नाम मे ही रमा रह, क्यो व्यर्थ माया-प्रपंच मे फसता है। अपने पापो का बोझ बढा कर तू इस ससार मे आ फसा और अब इस अज्ञानमय शरीर से ब्रह्म प्राप्ति करना चाहता है, जो पूर्णरूपेण असम्भव है। जिसकी जैसी मनोभावना होती है, उसे उसी रूप मे ईश्वर की परिकल्पना रुचिकर लगती है और वह अपने

मनोनुकल प्रभु प्राप्ति का उपाय करता है। किन्तु वे सव मनुष्य माया मोह में पड़े हुए है और प्रियतम राम को कोई भी नही जान सका। जिन्होने व्रह्म के स्वरूप को जान लिया वे तद्रूप हो गये और शेष व्यक्ति तो विषय वासना विष से परिपूर्ण सर्प ही रहे। इन विषावत मनुष्यो के तो आचार व्यवहार, कथन आदि प्रत्येक क्रिया कलाप मे विष ही विष होता है। यह ससार विषय वासना के आनन्दो मे मदमस्त है और इसी लिए आवागमन के चक्र में पडा हुआ है। हे अज्ञानाध मनुष्य! सावधान क्यो नही होता? इस कर्म जजाल मे क्यो फसा हुआ है?

विशेष—रूपक अलकार।

करंम का बाध्या जीयरा, अह निसि आवै जाइ।
मनसा देही पाइ करि, हरि बिसरै तौ फिर पीछै पछिताइ॥

तौ करि त्राहि चेति जा अंधा, तजि परकीरति भजि चरन गोब्यंदा।
उदर कूप तजौ ग्रभ वासा, रे जीव रांम नांम अभ्यासा॥
जगि जीवन जैसै लहरि तरंगा, खिन सुख कूं भूलसि वहु संगा।
भगति कौ हींन जीवन कछू नांहीं, उतपति परलै वहुरि समांहीं॥७॥

शब्दार्थ—मनसा=मनुष्य की। ग्रभ=गर्भ।

कवीर कहते हैं कि कर्म जजाल मे फंसा वह जीव अहर्निश ऐसे कुकर्मो में संलग्न रहता है कि आवागमन चक्र मे ही वधा रहता है। यदि मानव योनि पाकर भी जीवात्मा तूने प्रभु का स्मरण न किया तो फिर पछताना पडेगा। तू प्रभु की वन्दना करता हुआ उनकी शरण मे चला जा और ईश्वर के चरणो का भजन कर। तू मातृ गर्भ मे पडा (उल्टा लटका हुआ) वहाँ से छूटने की प्रार्थना करता था, राम नाम के ही प्रभाव से तू उस नरक से मुक्त हो सका है। यह साँसारिक जीवन जल-वीचि तुल्य क्षणिक है। क्षणिक विषयजनित आनन्द के लिये तूने साधु आत्माओ का साथ छोड दिया। ईश्वर भक्त का जीवन किसी भी प्रकार से हेय नही है। वह ब्रह्म से वियुक्त हुआ पुन उन्ही के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

भगति हीन अस जीवनां, जन्म मरन बहु काल।
आश्रम अनेक करसि रे जियरा, रांम बिना कोई न करै प्रतिपाल॥
सोई उपाव करि यहु देख जाई, ए सब परहरि बिसै सगाई।
माया मोह जरै जग आगी, ता संगि जरसि कवन रस लागी॥
त्राहि त्राहि करि हरी पुकारा, साध संगति मिलि करहु बिचारा।
रे रे जीवन नहीं विश्रांमां, सब दुख खंडन रांम को नांमां।
रांम नांम संसार मै सारा, रांम नांम भौ तारनहारा॥८॥

शब्दार्थ—भौ तारनहारा=सासारिक बधनो से छुडाने वाला।

कवीर कहते हैं कि भक्ति विहीन हमारा जीवन जन्म मरण के आवागमन चक्र मे वधा रहता है। चाहे तू कितने ही आश्रमो का पालन कर ले किन्तु ईश्वर

के विना, प्रभु पर दृढ विश्वास के विना तेरा कोई सहायक नही हो सकता। हे प्रभु! आप ऐसी अनुकम्पा कीजिए मेरे समस्त सासारिक तापो का शमन हो आपसे प्रेम हो जाय। माया मोह का नाश होकर सासारिक तृष्णा जल जाये, इस विषय वासना के साथ लगे रहने से क्या लाभ? तू साधु संगति कर प्रभु के गुणो का गान कर उनकी शरण मे जा। इस जीवन मे विश्राम कहाँ, समस्त दुखो के दूर करने वाले श्री राम ही हैं। प्रभु नाम ही ससार मे एकमात्र सत्य है और वही भव समुद्र से पार उतारने वाला है।

सुम्रित वेद सबै सुनै, नहीं आवै कृत काज।
नहीं जैसै कुंडिल वनित मुख, मुख सोभित विन राज॥
अब गहि रांम नांम अविनासी, हरि तजि जिनि कतहूँ कै जासी।
जहां जाइ तहां तहां पतंगा, अब जिनि जरसि समझि विष संगा॥
चोखा रांम नांम मनि लीन्हां, भ्रिगी कीट भ्यंन नहीं कीन्हां।
भौसागर अति वार न पारा, ता तिरवे का करहु विचारा॥
मनि भावै अति लहरि विकारा, नहीं गमि सूझै वार न पारा।
भौसागर अथाह जल, तामैं वोहिथ रांम अधार।
कहै कबीर हम हरि सरन, तब गोपद खुर विस्तार॥६॥

शब्दार्थ—सुम्रित=स्मृति। वनित=वनिता, स्त्री। वोहिथ=नौका।

स्मृति, वेद, पुराण आदि धर्म ग्रन्थो को पढ सुनकर भी जो उन पर आचरण नही करता वह उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी स्त्री का मुख कुण्डल पहने हुए भी शोभा नही पाता और किसी स्त्री का मुख विना कुण्डल के भी शोभित होता है। हे मन! अविनाशी प्रभु, राम नाम का, आश्रय ले क्योकि उनकी शरण छोड फिर कहाँ शरण प्राप्त करेगा? जहाँ जहाँ भी तू जाता है वही माया रूपी पतग तेरा पीछा नही छोडता, अव तो विषय वासनाओ की भयकरता का अनुमान कर इस मायाजन्य आकर्षण का साथ छोड दे। यदि तू राम नाम मार्ग को अपना ले तो उसका आश्रय भृंगी नामक कीट के सदृश प्रभुरूप ही हो जायगा।

इस ससार-समुद्र का ओर-छोर नही है, अतः इसको पार करने की चिन्ता करो। मन को विषय-वासनाजनित आनन्द ही रुचिकर है, इसीलिए ससार-तापो से मुझे कुछ दृष्टिगत नही होता। इस भवसागर के अगम्य जल मे पार उतरने के लिए राम-नाम ही एक नौका है। कवीर कहते है कि मैं तो ईश्वर की शरण मे आ गया हूं और मुझे तो ससार-सागर गौ-चरण के समान छोटा लगने लगा है।

विशेष—१. रूपक, उपमा, सागरूपक अलकार।

२. "भ्रिगी कीट भ्यन नही कीन्हाँ" मे वेदान्तियो के 'भृंगी कीट न्याय' की झलक है। इस भृंगी-कीट के विषय मे प्रसिद्ध है कि यह जिस सामान्य कीट को अपना शिष्य वनाता है, उसकी परिक्रमा करता हुआ, एक समय ऐसा आता है कि उसे भी तद्रूप कर देता है, भृंगी ही वना देता है।

बड़ो अष्टपदी रमैंणी

एक बिनांनीं रच्या बिनांन, सब अयांन जो आपै जांन।
सत रज तम थैं कीन्हीं माया, चारि खांनि बिस्तार उपाया॥
पंच तत ले कीन्ह बंधानं, पाप पुंनि मांन अभिमानं।
अहंकार कीन्हें माया मोहू, संपति विपति दीन्हीं सब काहू॥
भले रे पोच अकुल कुलवंतां, गुणी निरगुणी धनं नीधनवंतां।
भूख पियास अनहित हित कीन्हां, हेत मोर तोर करि लीन्हां॥
पंच स्वाद ले कीन्हां बंधू, बंधे करम जो आहि अबंधू।
अवर जीव जत जे आहीं, संकुट सोच बियापैं ताहीं॥१०॥

शब्दार्थ—अयान=अज्ञान। खानि=दिशाओ मे। नीधनवता=निर्धन।

स्रष्टा परमात्मा ने इस सृष्टि का निर्माण किया जिसके भेद के विषय में सब अज्ञानी हैं, केवल वह स्वय ही इसका रहस्य जानता है। सत, रज, तम त्रिगुणात्मक माया की रचना कर चारो दिशाओ अर्थात् सर्वत्र, उसका प्रसार कर दिया। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा, इन पॉच तत्वो से ही पाप-पुण्य एवं मानाभिमानयुक्त शरीर की रचना की है। साथ ही अहकार, माया, मोह आदि दुर्गुणो की सृष्टि की और प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुख प्रदान किये। धनियों से तो निर्धन ही अच्छे जो सद्व्यवहार रखते है, सच्चरित्र है। धनिक तो भूखे प्यासे के साथ भी पैसे का लाभ प्राप्त करने की सोचता है, अतः वह स्वार्थ के लिये अपने पराये किसी का भेद नही रखता। पाच ज्ञानेन्द्रियो के स्वाद से जीवात्मा को ससार बंधन में वधना पडा और जो भी जीव-जन्तु है उनको भी अपने निस्तार की चिंता समान रूप से व्यथित करती है।

निंद्या अस्तुति मांन अभिमांनां, इनि झूठै जीव हत्या गियांनां।
वहु बिधि करि संसार भुलावा, झूठै तोजगी साच लुकावा॥

शब्दार्थ—लुकावा=छिपाना।

व्यर्थ की निन्दा, मिथ्या, प्रशसा, मानाभिमान वृथा ही जीवात्मा के ज्ञान का नष्ट करते है। इनके प्रपच मे फस जगत् भ्रम मे पड़ नरकगामी होता है एवं सत्य तत्व को खो देता है।

माया मोह धन जोबनां, इनि बंधे सब लोइ।
झूठै झूठ बियापिया कबीर, अलख न लखई कोइ॥

झूठनि झूठ साच करि जांनां, झूठनि मै सब साच लुकांनां।
धंध बंध कीन्ह बहुतेरा, क्रम बिबर्जित रहै न नेरा॥
षट दरसंन आश्रम षट कीन्हा, षट रस खाटि कांम रस लीन्हां।
चारि बेद छह सास्त्र बखानैं, विद्या अनंत कथै को जांनै॥

तप तीरथ कीन्ह व्रत पूजा, धरम नेम आंन पुन्य दूजा।
और अगम कीन्हें व्योहारा, नहीं गमि सूझै वार न पारा॥
लीला करि करि भेख फिरावा, ओट बहुत कछू कहत न आवा।
गहन व्यंद कछू नहीं सूझै, आपन गोप भयो आगम बूझै॥
भूलि पर्यो जीव अधिक डराई, रजनी अंध कूप ह्वै आई।
माया मोह उनवै भरपूरी, दादुर दामिनि पवनां पूरी॥
तरिपै बरिषै अखंड धारा, रैनि भांमनीं भया अँधियारा।
तिहि बिवोग तजि भये अनाथा, परे निकुंज न पावै पंथा॥
वेद न आहि कहूँ को मानैं, जानि बूझि मैं भया अयानैं।
नट बहु रूप खेलै सब जांनैं, कला केर गुन ठाकुर मांनैं॥
ओ खेलै सब ही घट मांही, दूसर कै लेखै कछू नाहीं।
जाके गुन सोई पै जानैं, और को जानैं पार अमानैं॥
भले रे पोच औसर जब आवा, करि सनमान पूरि जम पावा।
दान पुन्य हम दिहूं निरासा, कब तक रहूं नटरंभ काछा॥
फिरत फिरत सब चरन तुरानैं, हरि चरित अगम कथै को जांनैं।
गण गध्रप मुनि अंत न पावा, रह्यो अलख जग धंधै लावा॥
इहि बाजी सिव बिरंचि भुलाना, और बपुरा को क्यचित जांना।
त्राहि त्राहि हम कीन्ह पुकारा, राखि राखि साई इहि बारा।
कोटि ब्रह्मंड गहि दीन्ह फिराई, फल कर कीट जनम बहुताई॥
इस्वर जोग खरा जब लीन्हां, टर्‌यो ध्यांन तप खंड न कीन्हा।
सिध साधिक उनथैं कहु कोई, मन चित अस्थिर कहु कैसे होई॥
लीला अगम कथै को पारा, बसहु समींप कि रहो निनारा।

खग खोज पीछै नहीं, तूं तत अपरंपार।
बिन परचै का जांनियै, सब झूठै अहंकार॥११॥

शब्दार्थ—लोइ=लोग। बियापिया=व्याप्त होना। क्रम=कार्म। नेरा=समीप। बिवोग=वियोग। तुरावै=तुडाना, पूरी तरह थक जाना। बिरहि=ब्रह्मा।

माया, मोह, धन, यौवनादि के दर्प मे समस्त जगत पडा हुआ है। ये नश्वर, क्षणिक शरीरधारी मिथ्या सुखो मे पड गये है किन्तु अलख-निरंजन परमात्मा को कोई नही पहचानता। चाहे कितने ही उपक्रम कर उस ईश्वर को प्राप्त करने का उपाय किया जाय, किन्तु वह तो कर्म-गति से परे है। पट दर्शन, छः आश्रम (जब कि आश्रम चार होते है), पट रस, विपय रस, चारो वेद, छहों शास्त्र तथा अनन्त विद्याओं, जिनका कथन असम्भव है, तप-तीर्थ, व्रत, पूजा, स्नानादि तथा अन्य धार्मिक नियम, पूजा, दानादि के जितने भी उपक्रम हैं ये सब उस अगम्य परमात्मा को खोजने

मे असमर्थ है इनके द्वारा उसका कुछ भी रहस्य प्राप्त नही किया जा सकता। वह ईश्वर छिपकर अनेक लीलाएँ कर मनुष्य को नाना-योनियों में भ्रमित रखता है। उस अगम्य ईश्वर की गति का पार पाना असम्भव है, स्वयं अदृश्य वन धर्म-ग्रन्थों से अपना स्वरूप स्पष्ट कराते है। जीवात्मा इस ससार रूप अज्ञान रात्रि मे पडा हुआ भयभीत रहता है—संसार वास की रात्रि भी बडी भयानक है, माया-मोह के जन्तुओं तथा विकारों के दादुर-शेर एव आकर्षणों की चपला सम-चमक और बीहड़ वायु के झझावातो ने इसे और अधिक भयानक बना दिया है। तापो और विपत्तियो की अगणित और मूसलाधार वर्षा हो रही है जिससे रात्रि की भयानकता बढ रही है हम —जीवात्मा—उस परम परमात्मा के वियोग मे अनाथ है, खोज के लिए चलने पर वर्षामय अन्य बाधाओ को लिए हुए अन्धियारी रात्रि मे वीहड वन के मार्ग पर भटक गये है। वेद वर्णित ज्ञानानुसार आचरण कोई नही करता इसलिए जानते हुए भी अज्ञानी ही रहते हैं। वह ब्रह्म इस सृष्टि मे नट के समान नाना लीलाएँ, क्रीड़ाएं करता रहता है किन्तु वह इन खेलो अथवा लीलाओ को करता दृष्टिगत नहीं होता अपितु वह हृदयस्थ रहता हुआ ही यह सब कर लेता है। वस्तुतः जिसका कार्य होता है, वही तो उसके सम्पूर्ण भेदो से अवगत रहता है अतः ईश्वर की महिमा भी ईश्वर स्वय ही जान सकता है। अब तो हम उस अवसर की प्रतीक्षा मे है जब यमराज पच-भूत की इस रचना, शरीर को लेने आयेगा। दान-पुण्य आदि मे भी हमे निराशा ही निराशा दृष्टिगत होती है। इन झूठे विधि विधानो मे घूमने से, पैर तुडाने से क्या लाभ प्रभु की अनन्त लीलाओ का कथन शास्त्र ग्रन्थ भी नही कर पाये। गण, गन्धर्व, ऋषि आदि कोई भी उस ईश्वर का भेद नही पा सका। जब उस ब्रह्म का स्वरूप चिंतन करते हुए स्वय ब्रह्मा भ्रम मे पड गया तो फिर भला मुझ मूर्ख की तो गणना ही क्या ? अब मै 'त्राहि माम् त्राहि माम्' कर रक्षा की दुहाई दे रहा हूं। हे प्रभु अब की बार मुझे शरण मे रख लो। करोडो ब्रह्माण्ड मे मैं चौरासी लक्ष योनियो मे भटक घूम आया हू, अतः अब मेरी रक्षा करो। प्रभु जब जिस भक्त को श्रेष्ठ समझ अंगीकार करते है तब उसके लिए समाधि, तपस्या आदि की आवश्यकता नही होती। ससार ग्रस्त जीवों से यह कौन कहे कि चित्त की स्थिरता से भी उनकी प्राप्ति होती है। उस ईश्वर की अगम्य, अपार लीलाओ का कथन कहा तक किया जा सकता है, उसके बिल्कुल सन्निकट ही रहना चाहिए दूर रहने से क्या लाभ ?

कबीर कहते है कि हे मन ! प्रभु की खोज मे तू पीछे मत रह, बिना उससे साक्षात्कार के कुछ भी नही जाना जाता और तथाकथित ज्ञान तो अह दर्प मात्र होता है।

अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई।
सुंनि असथूल रूप नहीं रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा॥
बरन अबरन कथ्यौ नहीं जाई, सकल अतीत घट रह्यौ समाई।
आदि अंत ताहि नहीं मधे, कथ्यौ न जाई आहि अकथे।
अपरंपार उपज नहीं बिनसै, जुगति न जांनियै कथिये कैसै॥

जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख उपजै, अरु परमारथ होइ ॥१२॥

शब्दार्थ—अस्थूल=सूक्ष्म, निराकार। पेखा=देखा। अतीत=अगम्य से तात्पर्य है। मधे=मध्य।

वह ब्रह्म निराकार, निर्भय एव इन्द्रियातीत है। वह शून्य स्वरूप, सूक्ष्म, रूप रेखा विहीन है, तथा उसका रूप नेत्र गोचर नही हो सकता। उसके वर्ण एवं स्वरूप का वर्णन नही किया जा सकता। किन्तु फिर भी प्रत्येक के हृदय घट मे उसका वास है। उस अवर्णनीय ब्रह्म के आदि मध्य और अवसान किसी का भी कथन असम्भव है। उसकी महिमा वर्णनातीत है, जब उसकी प्राप्ति का उपाय ही ज्ञात नही तो फिर भला उसका स्वरूप कैसे स्पष्ट किया जाय। कबीर ब्रह्म के स्वरूप वर्णन मे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते है कि मै जैसा वर्णन करता हू वह वैसा है ही नही, वह तो जिस रूप मे है वैसा ही रहेगा। किन्तु उसका स्वरूप अज्ञात होते हुए भी प्रभु चर्चा मे आनन्द प्राप्त होता है और दूसरो का भी लाभ होता है।

जांनसि नहीं कथसि अयांनां, हम निरगुन तुम्ह सरगुन जांनां।
मति करि हींन कवन गुन आंही, लालचि लागि आसिरै रहाई॥
गुंन अरु ग्यांन दोऊ हम हीना, जैसी कुछ बुधि विचार तस कीन्हां।
हम मसकीन कछू जुगति न आवै, जे तुम्ह दरवौ तौ पूरि जन पावै॥
तुम्हारे चरन कवल मन राता, गुन निरगुन के तुम्ह निज दाता।
जहुवां प्रगटि बजावहु जैसा, जस अनभै कथिया तिनि तैसा॥
बाजै तंत्र नाद धुनि होई, जे बजावै सो औरै कोई।
बाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किनहूं न पेखा॥
आप आप थैं जानिये है पर नाहीं सोइ।
कबीर सुपिनैं केर धन ज्यूं, जागत हाथि न होइ ॥१३॥

शब्दार्थ—मसकीन—अल्पज्ञ। राता=अनुरक्त। कौतिग=कौतुक।

उस ईश्वर को न जानते हुए भी अज्ञानी उसका स्वरूप विश्लेषण करते हैं एवं वह वस्तुतः है तो निर्गुण किन्तु उसे बताते सगुण ही हैं। हे प्रभु मैं तो बुद्धिहीन हू, मुझमे कोई भी गुण नही है। सासारिक लाभ-लालसा मे पडा हुआ परमुखापेक्षी बना रहता हूँ। गुणो और ज्ञान से तो मैं शून्य हूं। इस भाति जो कुछ भी मेरा ज्ञान है उसके आधार पर मैं आपका स्वरूप कथन करता हूँ। मेरा मन तुम्हारे चरण कमलो मे ही रम गया है एव सगुण तथा निर्गुण रूपधारी भी आप ही हैं। मुझ अल्पज्ञ को आपकी भक्ति का अन्य कुछ उपाय नही दृष्टिगत होता, यदि आप दयार्द्र हो तो मेरा कल्याण सम्भव है। आप जहा जिस रूप मे चाहते हो उसी रूप मे प्रकट हो जाते हो एव निस्सकोच भाव से सर्वत्र गमन करते हो। इस शरीर रूपी तन्त्री मे प्राण-वायु की स्वरलहरी बज रही है जिसका वादक कोई और ही है। उसी

अदृश्य से परिचालित हो यह शरीर नाना कर्मों मे निरत रहता है, किन्तु उस परिचालक के दर्शन किसी को नही होते ।

सब उस ब्रह्म को अपनी-अपनी विचारधारा के अनुकूल मानते है किन्तु वास्तव मे वह वैसा है नही । उसका स्वरूप कुछ-कुछ समझ मे आकर भी पुन. समझ से परे उसी प्रकार हो जाता है जिस भाति स्वप्न की वस्तु पाकर भी प्राप्त नही होती ।

विशेष – उपमा अलकार।

जिनि यहु सुपिनां फुर करि जांनां, और सबै दुखयादि न आंनां ।
ग्यांन हीन चेतै नहीं सूता, मै जाग्या विष हर भै भूता ॥
पारधी बांन रहै सर सांधें, विषम बान मारै विष बांधें ।
काल अहेड़ी संझ सकारा, सावज ससा सकल संसारा ॥
दावानल अति जरै विकारा, माया मोह रोकि ले जारा ।
पवन सहाइ लोभ अति भइया, जम चरचा चहुँदिसि फिरि गइया ॥
जम के चर चहुँ दिसि फिरि लागे, हंस पंखेरूवा अब कहां जाइबे ।
केस गहै कर निस दिन रहई, जब धरि ऐंचे तब धरि चहई ॥
कठिन पासि कछू चलै न उपाई, जंम दुवारि सीझे सब जाई ।
सोई त्रास सुनि रांम न गावै, मृगत्रिष्णां झूठी दिन धावै ॥
मृत काल किनहूँ नहीं देखा, दुख कौं सुख करि सबही लेखा ।
सुख करि मूल न चीन्हसि अभागी, चीन्है बिनां रहै दुख लागी ॥
नीब काट रस नींब पियारा, यूं बिष कूं अंमृत कहै संसारा ।
विष अंमृत एकै करि सांनां, जिनि चीन्ह्यां तिनहीं सुख मांनां ॥
अछित राज दिन दिनहि सिराई, अंमृत परिहरि करि विष खाई ॥
जांनि अजांनि जिन्है बिष खावा, परे लहरि पुकारै धावा ।
विष के खांयें का गुंन होई, जा बेद न जांनै परि सोई ॥
मुरछि मुरछि जीव जरि है आसा, कांजी अलप बहु खीर विनासा ।
तिल सुख कारनि दुख अस मेरू, चौरासी लख लीया फेरू ॥
अलप सुख दुख आहि अनंता, मन मैगल भूल्यौ मैमंता ।
दीपक जोति रहै इक संगा, नैन नेह मांनूं परै पतंगा ॥
सुख बिश्रांम किनहूँ नहीं पावा, परहरि साँच जूठ दिन धावा ।
लालच लागे जनम सिरावा, अति काल दिन आइ तुरावा ॥
जब लग है यहु निज तन सोई, तब लग चेति न देखै कोई ।
जब निज चलि करि किया पयांनां, भयौ अकाज तब फिरि पछितांनां ॥

मृगत्रिष्णां दिन दिन ऐसी, अब मोहि कछू न सुहाइ ।
अनेक जतन करि टारिये, करम पासि नही जाइ ॥१४॥

शब्दार्थ—सूता=सोता हुआ, अज्ञान अवस्था में पड़ा हुआ। अहेडी=शिकारी। चीन्हसि=पहचानता है। परिहरि=घोटकर। मैयता=मन्त। मिगका=नष्ट करना। पयांना=प्रयाग।

किन्तु जो प्रभु की इस क्षणिक प्राप्ति को ही सत्य और अपना अवलम्बन वना लेते है उन्हे सासारिक ताप क्लान्त नही करते। ज्ञानविहीन मनुष्य सावधान नही होता वह तो अज्ञान अचेत पडा रहता है किन्तु ज्ञान लाभ कर जागने पर विपय-वासना विदूरित हो सासारिक भय नष्ट हो गया। माया-मोह का व्यास सर्वदा विषय-वासना के वाण मारता है। मृत्युरूपी आखेटक प्रति-पल (साँझ-सकारे) मनुष्य-रूपी खरगोशो का वध कर रहा है। विपय-विकारो की अग्नि अहर्निश विदग्ध करती है। एव मनुष्य के माया-मोह इस विपयाग्नि को और भी प्रज्ज्वलित अग्नि को वायु और भी धधका देती है उसी प्रकार लोभ की वायु इस विपयाग्नि को प्रदीप्त कर रही है। इस विषमावस्था मे जीवात्मा पडी हुई थी तभी उसे समस्त दिशाओ से यम-त्रास का भान हुआ। जव चारो ओर यमदूत इस विपयाग्नि मे पड जीवात्मा को घेर रहे है तो फिर भला वह किधर से विमुक्त होकर चले। वस्तुत इस काल ने तो हमारे केश पकड रखे हैं, पता नहीं वह कव, कहाँ, हमे उठाकर पटक दे—

"कवीरा गर्व न कीजिए, काल गहे कर केस।
ना जानै कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस॥"

यह भववन्धन अत्यन्त विपम है, जहा किसी भी प्रयत्न से विमुक्त होना असम्भव है, क्योकि सव एक न एक दिन अवश्य ही काल गाल मे चले जाते हैं। भव-भयो से भयभीत हो प्रभु का स्मरण भी नही किया और सासारिक सुख मृग-मरीचिमा सदृश मिथ्या, भ्रम है। हे अभागे मनुष्य। तूने सुखस्वरूप ईश्वर को जानने का प्रयत्न नही किया, उसके दर्शनाभाव मे ही ये सासारिक-ताप सहन करने पड रहे हैं। जिम प्रकार नीम के कटु स्वाद को जानते हुए भी कोई नीम का सेवन करें, उसी प्रकार विपय-वासना जन्य आनन्द को मिथ्या, पापगर्त मे ले जाने वाला जानकर भी सव उसी मे सलिप्त रहते है, इस प्रकार विप को विप जानते हुए भी अमृत कहते है।

वस्तुतः संसार मे विप और अमृत मिले हुए हैं, किन्तु जो उसमें से अमृत को ही ग्रहण करता है वही शान्ति-लाभ करता है। किन्तु कुछ लोग समय होते हुए भी दिवस-प्रति-दिवस व्यर्थ व्यतीत करते हैं, प्रभु भक्ति नही करते। इस प्रकार वे अमृत को त्याग विप को ही ग्रहण करते हैं। जो जानवूझकर विषय-वासना-विप को अपनाते हैं वे भवसागर मे डूवते है और सहायता के लिए याचना करते हैं। चाहे विपय-वासना विष का थोड़ा ही सेवन किया जाय किन्तु वह घातक ही है, वैद्य भी उसका उपचार नही कर सकता, क्योकि वह तो ससार-चक्र मे ही पड़ा मृत्यु मुख मे चला जाता है और उसके पुण्यो को अल्प पामाप उसी भाँति नष्ट कर देता है जिस

भांति खटाई का अल्पाश बहुत से दूध को फाड़ने के लिए पर्याप्त है। क्षणिक विषय वासना के आनन्द के लिए मनुष्य दुख के पर्वत का भार ढोता है क्योकि इसी पाप में उसे आवागमन चक्र मे पड चौरासी लक्ष योनियो की यातनाएं भोगनी पडती हैं। इस अल्प सुख के कारण यह मदमस्त हाथी सा मन अगणित दुख उठाता है। दीप के साथ ज्योति प्रज्ज्वलित होने पर जिस भांति शलभ प्रेमके कारण उस पर मर जाता है उसी भाँति ईश्वर-भक्ति करनी चाहिए अथवा उसी प्रकार मनुष्य विषय-वासना पर मिट जाते हैं। इस भाँति कोई भी सुख-शान्ति प्राप्त नही करता और सत्य-तत्व परमात्मा को छोड़ सब विपय-वासना मे लगे रहते हैं। लोभ-लालच के ही कारण अमूल्य मानव जीवन समाप्त हो जाता है और अन्त समय शीघ्र आ पहुंचता है। जब तक इस शरीर की कामना पूर्ति मे लगे रहोगे तव तक ज्ञान-लाभ कर साव-धान नही हुआ जा सकता। किन्तु जब शरीर छूटने लगा तव प्रभु-भक्ति के लिए पश्चात्ताप करने से क्या लाभ ? कोई कितना ही प्रयत्न क्यो न करे, किन्तु कर्मों का जंगल समाप्त नही होता और मनुष्य मिथ्या मृगमरीचिका में भटकता है।

विशेष—उदाहरण, उपमा अलंकार।

रे रे मन बुधिवंत भंडारा, आप आप ही करहु बिचारा।
कवन सयांन कौंन बौराई, किहि दुख पइये किहि दुख जाई॥
कवन हरिख कौ विष मैं जांनां, को अनहित को हित करि मांनां।
कवन सार को आहि असारा, को अनहित को आहि पियारा॥
कवन साच कवन है झूठा, कवन करू को लागै मीठा।
किहि जरियें किहि करिये अनंदा, कवन मुकति को गल के फंदा॥
रे रे मन मोहि ब्यौरि कहि, हौं तत पूछौं तोहि।
संसै सूल सबै भई, समझाई कहि मोहि॥१५॥

शब्दार्थ—बौराई=पागल, मूर्ख। करू=कड़ुवा। ब्यौरि=पागल।

हे बुद्धिमान मनुष्य ! तुम स्वय ही आत्मस्थित आत्मतत्व, परम तत्व का विचार करो। तभी तुम विचार कर सकते हो कि कौन ज्ञानी है और कौन मूर्ख, किसे सुख प्राप्त है और कौन दुखी है। किसने प्रभु को ग्रहणीय माना और किसने इस प्रकार स्वय अपने पैर मे कुल्हाड़ी मारी है इस सब का ज्ञान परम तत्व का साक्षा-त्कार करने पर ही हो सकता है। कौन सा तत्व सत्य और कौन सा भ्रम मात्र, मिथ्या है यह तभी ज्ञात हो सकता है। कौन सच्चा, कौन झूठा, कौन कडुवा और कौन मीठा, क्या घातक है एव क्या आनन्दायक है ? कौन इस भवबन्धन से मुक्ति दिला सकता है—यह समस्त विवेक परमात्मा-प्राप्ति पर ही आ सकता है। हे मन ! तू मुझे व्यर्थ पागल मत बना। मैं समस्त साँसारिक भ्रमादि का परित्याग कर तुझसे परम-तत्व की चर्चा करता हू, तू मुझे समझाकर यह सब बता।

सुंनि हंसा मै कहूँ विचारी, त्रिजुग जोनि सबै अंधियारी।
मनिषा जन्म उत्तिम जौ पावा, जांनूं रांम तौ सयांन कहावा॥

नहीं चेतै तौ जनम गंमावा, परयौं विहांन तब फिरि पछतावा।
सुख करि मूल भगति जौ जांनै, और सबै दुख या दिन आंनै॥
अमृत केवल रांम पियारा, और सबै विष के भंडारा।
हरिख आहि जौ रमियै रांमां, और सबै बिषमा के कांमां॥
सार आहि संगति निरबांना, और सबै असार करि जांनां।
अनहित आहि सकल संसारा, नित करि जांनियै रांम पियारा॥
साच सोई जे थिरह रहाई, उपजै बिनसै झूठ ह्वै जाई।
मींठा सो जो सहजै पावा, अति कलेस थै करू कहावा॥
नां जरियै नां कीजै मैं मेरा, तहां अनंद जहां राम निहोरा।
मुकति सोज आपा पर जांनैं, सो पद कहा जु भरमि भुलांनैं॥
प्रांननाथ जग जीवनां, दुरलभ रांम पियार।
सुत सरीर धन अग्रह कबीर, जीये रे तरवर पंख बसियार॥१६॥

शब्दार्थ—त्रिगुण तिनो काल। समान—विद्वान्। मैं मेरा—अहकार।

हे मुक्तात्मा। सुन इस संसार मे सर्वत्र अधकार ही अंधकार है। उत्तम मानव जीवन प्राप्त कर। यदि राम-नाम स्मरण किया तो ही चतुरता है। यदि इस जन्म मे भी सावधान न हुआ गया तो फिर जीवन की सध्या मे पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नही लगता। जो प्रभु-भक्ति को समस्त सुखो की प्रदाता मानते हैं उन्हे कोई भी दुख: नही व्यापते। केवल राम-नाम ही अमृत तुल्य है अन्य सब तो विष ही विष है। जो प्रफुल्लित हो राम-नाम जपते हैं उन्हे अन्य समस्त कार्य-कलाप वृथा ज्ञात होता है। साधु-संगति ही मोक्ष प्रप्ति का साधन है—अन्य समस्त विधि विधान तो व्यर्थ हैं। संसार के अन्य सब कामों मे तो अहित हैं, केवल प्रभु भक्ति मे ही कल्याण है। सत्य वस्तु तो वही है जो स्थिर रहे अन्यथा अन्य सब पदार्थ तो उत्पत्ति और प्रलय के अवान्तर चक्र मे पड़े हुए हैं। वही भक्ति साधना मधुर है जिसमे सुगम और स्वाभाविक गति से प्रभु-प्राप्ति हो जाय, शेष उपाय—साधनाएं तो अग्राह्य हैं जहाँ राम नाम का ही एक मात्र आश्रय है। वहाँ न तो साँसारिक ताप है, न अहं पर निज की द्वैत भावना। आत्म तत्व को पहचानने पर मुक्ति सरल हो जाती है किन्तु वह परमपद किसी को ही प्राप्त होता है जहा समस्त भ्रम भाग जाते हैं।

कबीर कहते हैं कि इस संसार मे पुत्र, शरीर, धन आदि का मोह त्याग करके अगम्य प्रभु की, जो सबका जीवनाधार है, भक्ति करनी चाहिए। जिससे इस ससार वृक्ष पर मुक्तात्मा पक्षी अपने पंख फैलाकर सुखपूर्वक रह सके।

विशेष—'तरवर पख बसियार' यह उपमा वेदो मे भी पाई जाती है।

रे रे जीय अपनां दुख न संभारा, जिहि दुख व्याप्या सब संसारा।
माया मोह भूले सब लोई, क्यंचित लाभ मांनिक दीयौ खोई॥

मैं मेरी करि बहुत बिगूता, जननीं उदर जन्म का सूता।
बहुतें रूप भेष बहु कीन्हां, जुरा मरन क्रोध तन खीनां॥
उपजैं बिनसैं जोनि फिराई, सुख कर मूल न पावैं चाही।
दुख संताप कलेस बहु पावैं, सोन मिलैं जे जरत बुझावैं॥
जिहि हित जीव राखिहै भाई, सो अनहित ह्वै जाइ बिलाई।
मोर तोर करि जरे अपारा, मृग त्रिष्णां झूठी संसारा॥
माया मोह झूठ रह्यौ लागी, का भयौ इहां का ह्वै है आगी।
कछु कछु चेति देखि जीव अबही, मनिषा जनम न पावैं कबही॥
सार आहि जे संग पियारा, जब चेतैं तब ही उजियारा।
त्रिजुग जानि जे आहि अचेता, मनिषा जनम भयौ चित चेता॥
आतमां मुरछि मुरछि जरि जाई, पिछले दुख कहतां न सिराई।
सोई त्रास जे जांनैं हंसा, तौ अजहूँ न जीव करै संतोसा॥
भौसार अति वार न पारा, ता तिरबे का करहु विचारा।
जा जल की आदि अंति नही जांनियें, ताकौ डर काहे न मानियें॥
को बोहिथ को खेवट आही, जिहि तिरिये सो लीजैं चाही।
समझि विचारि जीव जब देखा, यहु संसार सुपन करि लेखा॥
भई बुधि कछू ग्यांन निहारा, आप आप ही किया बिचारा।
आपण मैं जे रह्यौ समाई, नेडै दूरि कथ्यौ नहीं जाई॥
ताके चीन्हैं परचौ पावा, भई समझि तासूं मन लावा।

भाव भगति हित बोहिथा, सतगुर खेवनहार।
अलप उदिक तब जांणिये, जब गोपदखुर बिस्तार॥१७॥

शब्दार्थ—लोई=लोग। जोनि=योनि। त्रास=दुख। हसा=मन वार=वारि, जल। बोहिथ=नौका। खेवर=मल्लाह। नेडे=समीप।

हे जीव! तू अपने दुख का शमन नही करता, तुझे ज्ञात नही कि इस वेदना से समस्त ससार व्यथित है। सब साँसारिक माया मोह मे भूले हुए है और उन्होने विषय वासना के अल्प, मिथ्या लाभार्थ प्रभु रूप अमूल्य माणिक्य को खो दिया। 'अह' और 'अय पर, निज वा' की भावना ने सगे भाइयो तक मे बहुत दरार डाल दी है। अनेक योनियो मे बहुत से जन्म धारण किये और फिर क्रोधादि से यह शरीर क्षीण हो गया—इस प्रकार यही जरा-मरण का चक्र चलता रहा। जन्म-मरण के इस चक्र मे पडकर भी सुख-दुख परम-पिता परमात्मा को पहचानने का प्रयत्न नही किया। उसकी प्राप्ति के अभाव मे जीव नाना दुख-व्यथाओ से उत्पीडित होता रहता है। जिस उद्देश्य—मोक्ष—के लिये अनेक जन्म धारण करने पड़ते है वही समाप्त हो जाता है। 'मै-तू' के इस द्वैत से मिथ्या मृगमरीचिका मे ससार भटक रहा है। मोह ममता के माया-जाल मे संसार पड़ा हुआ और तापो की अग्नि में विदग्ध होता रहता

है। हे जीव! कुछ तो सावधान होकर ससार और अपनी दारुण दशा का विचार कर क्योकि इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय मानव-जीवन ही है जो पुनः प्राप्त नहीं होता है। इस बात को मानकर जो सावधान हो जाते है उन्हे ज्ञान का दिव्य प्रकाश उपलब्ध होता है। जो संसार मे मानव जीवन पाकर भी अचेत रहते है उनकी आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार नही करती और न उनके विगत तथा आगत दुःखो की समाप्ति होती है। उस दुःख का ही ध्यान करके मुक्तात्मा प्रभु-भक्ति मे दत्तचित्त रहते हैं और वे चाहे कितनी ही प्रभु-भक्ति करें, उनका प्रभु से प्रेम बढ़ता ही जाता है, उनकी भक्ति दृढ से दृढतर होती जाती है। इस ससार सागर के अथाह जल का कोई पार नही पाया जा सकता, अत इस अगम्य सागर को पार करने का उपाय, प्रभु-भक्ति-साधना करो। जिस जल का कोई वारपार नही उससे निस्तार का प्रयत्न आवश्यक है। इस सागर से पार जाने के लिये न कोई जलयान है, न कोई नौका-हार। जो इससे तरना चाहता है उसे स्वय ही प्रयत्न करना होगा।

जब जीवात्मा ने विचार कर विवेक बुद्धि से सोचा तो उसे यह संसार स्वप्नवत् मिथ्या दृष्टिगत हुआ एव इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर उसने अन्तर्मुखी हो आत्म-तत्व का विचार किया। वह प्रभु हृदय मे ही स्थित था, उसके लिए कही अन्यत्र भटकना नही पड़ा। उसके साक्षात्कार से मन उसी मे रम गया।

कवीर कहते है कि ससार सागर से पार जाने के लिए प्रम-भक्ति ही जल-यान है तथा सद्गुरु उस पोत के खिवैया है। इसके द्वारा यह विशाल भवसागर थोडे से जल का हो जाता है, वह इतना छोटा हो जाता है, जितना गौ के पद के चिन्ह जिसे वडी सुगमता से (वच्चा भी) पार कर सकता है।

विशेष—१. रूपक, उपमा, साँगरूपक आदि अलकार।

२. वेदान्तियो के समान ससार की 'स्वप्न' आदि से उपमा तो 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की पुष्टि करती है।

दुपदी रमैणी

भया दयाल बिषहर जरि जागा, गहगहान प्रेम बहु लागा।
भया अनंद जीव भये उल्हासा, मिले रांम मनि पूगी आसा॥
मास असाढ़ रवि धरनि जरावै, जरत जरत जल आइ बुझावै।
रुति सुभाइ जिमीं सब जागी, अंमृत धार होइ झर लागी॥
जिमीं मांहि उठी हरियाई, बिरहनि पीव मिले जन जाई।
मनिकां मनि कै भये उछाहा, कारनि कौंन बिसारी नाहा॥
खेल तुम्हारा मरन भया मोरा, चौरासी लख कीन्हां फेरा।
सेवग सुत जे होइ अनिआई, गुन औगुन सब तुम्हि समाई॥
अपने औगुन कहूँ न पारा, इहै अभाग जे तुम्ह न संभारा।
दरबो नहीं कांइ तुम्ह नाहा, तुम्ह बिछुरै मै बहु दुख चाहा॥

मेघ न वरिखैं जांहि धदासा, तऊ न सारंग सागर आसा।
जलहर भर्यो ताहि नहीं भावै, कै मरि जाइ कै उहै पियावै ॥
मिलहु रांम मनि पुरवहु आसा, तुम्ह बिछुर्यां मै सकल निरासा।
मै रनिरासो जब निध्य पाई, रांम नांम जीव जाग्या जाई ॥
नलनी कै ज्यूं नीर अधारा, खिन बिछुर्यां थै रवि प्रजारा।
राम विनां जीव वहुत दुख पावै, मन पतंग जगि अधिक जरावै ॥
माघ मास रुति कवलि तुसारा, भयौ वसंत तब वाग संभारा।
अपनै रंगि सव कोई राता, मधुकर बास लेहि मैंमंता ॥
बन कोकिला नाद गहगहानां, रुति बसंत सब कै मनि मांनां।
बिरहन्य रजनीं जुग प्रति भइया, बिन पीव मिलें कलप टलि गइया ॥
आतमां चेति समझि जीव जाई, बाजी झूठ रांम निधि पाई।
भया दयाल निति बाजहिं बाजा, सहजैं रांम नांम मन राजा ॥
जरत जरत जल पाइया, सुख सागर कर मूल।
गुर प्रसादि कबीर कहि, भागी संसै सूल ॥१८॥

शब्दार्थ—पूरी=पूर्ण हुई। नाहा=नाथ, स्वामी। सारग=चातक। जल-हर=सागर। पुरवहु=पूर्ण करो। तुषारा=तुषार, हिमपात सागर।

राम के दर्शन हो जाने पर मन' तुष्टि हो जीवात्मा आनन्दित हुई, ईश्वर के दयालु हो जाने पर मन मे उनके प्रति गम्भीर प्रेम उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार आषाढ की दग्ध धरा को प्रथम मेघ आकर शीतलता प्रदान कर चतुर्दिक अमृत वर्षा द्वारा सर्वत्र हरियाली फैला शोभा प्रदान करता है, उसी भाति युग-युग से प्रतीक्षारत विरहिणी आत्मा को प्रिय—परमात्मा—के दर्शन हो गये। अव आत्मा हृदय मे अमित उल्लास लिये प्रियतम से कहने लगी, नाथ ! आपने मुझे क्यो विस्मृत कर दिया था। मैं आपको खोजती-खोजती चौरासी लक्ष योनियो मे भटकती रही—यह आपके लिये तो एक लीला-कौतुक मात्र था किन्तु वह मेरे लिए तो प्राण लेवा हो गया। सेवक और पुत्र से जो भी अनुचित कृत्य हो जाता है, उसके सब गुण-अवगुण, पाप-पुण्य, सब की आप ही देख-रेख करते है। पर अपने अवगुणो का कहाँ तक वर्णन करू, वे अपार हैं। मेरा दुर्भाग्य होगा यदि आपने मेरी रक्षा न की। हे नाथ ! आप मुझ पर दयार्द्र क्यो नही हो रहे हैं ? क्योकि आपसे वियुक्त होकर मैं बहुत यातना भोग रही हू। जिस भाँति चातक स्वाति बादल के जल न बरसाने पर भी अपना प्रेम सम्बन्ध सागर से स्थापित नही करता, चाहे मर जाये किन्तु अन्य किसी का जल ग्रहण नही करता, वही दशा हमारी है। चाहे आप दया करे अथवा नही किन्तु आपके अतिरिक्त और किसी से प्रेम नही हो सकता। हे प्रभु ! आप मुझे दर्शन देकर मेरी कामना पूर्ण कीजिए क्योकि आपसे वियुक्त हो निराशा के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नही होता। मै रंक तभी अमित सम्पत्ति की प्राप्ति समझूंगा जब आप में मेरा मन पूर्णरूपेण रम जायेगा—

"तुम अपनायौ जानिहो जब मन फिरि परिहैं ।"—तुलसी

जिस भाति नलिनी का एकमात्र अवलम्ब जल होता है, उससे पल भर भी वियुक्त होने पर असह्य सूर्यताप उसे भस्म कर देता है, वही स्थिति मेरी है। प्रभु के विना मेरा चित अत्यन्त व्यथित रहता है और मन रूपी शलभ माया-दीपक पर जलता रहता है। माघ मास मे जब हिमपात द्वारा कमलावलि नस्ट हो जाती है तब उसके वाद वसन्तागम पर सौन्दर्य सृप्टि का क्या लाभ ? इसी भाँति मैं विरह मे तो अब व्यथित हूँ यदि वाद मे आपने भी दे दिया तो उससे क्या लाभ ?

"का वर्षा जब कृपि सुखाने"

और कमलो आदि की वह व्यथा वसन्तागम पर जब कोकिल अपनी सुरीली स्वर-लहरी से दिग्दिगन्त को गुञ्जित कर देती है तब तो समाप्त हो ही जाती है, किन्तु मेरी व्यथा का अन्त नही। प्रभु-विरह की रात्रि युग के समान व्यतीत होती है, प्रिय दर्शन को भी मानो एक कल्प ही वीत गया। जीवात्मा के सावधान होने से ससार के मिथ्या आकर्षण हट जाते है और राम रत्न की प्राप्ति होती है। ईश्वर के कृपालु होने पर नित्य आनन्द और उल्लास का रग रहता है। इस प्रकार सहज-साधना से राम को प्राप्ति हो गई है।

कवीर कहते है कि ससार-तापो मे जलते ही जलते जीवात्मा ने सुखसिन्धु परमात्मा को प्राप्त कर लिया। इस प्रकार सद्गुरु कृपा से समस्त भ्रम विदूरित हो गये।

विशेष—सागरूपक, रूपक, निदर्शना अलंकार आदि।

रांम नांम निज पाया सारा, अविरथा, झूठ सकल संसारा।
हरि उतंग मैं जाति पतंगा, जंबकु केहरि कै ज्यूं संगा॥
क्यंचिति ह्वै सुपिनैं निधि पाई, नही सोभा कौं धरौं लुकाई।
हिरदै न समाइ जांनिये नही पारा, लागै लोभ न और हकारा॥
सुमिरत हूँ अपने उपमानां, क्यंचित जोग रांम मैं जांनां।
मुखां साच का जांनियैं असाधा, क्यंचित जोग रांम मै लाधा॥
कुविज होइ अंमृत फल बंछ्या, पहुँचा तव मनि पूगी इंछ्यां।
नियर थैं दूरि दूरि थैं नियरा, रांम चरित न जांनियैं जियरा॥
सीत थैं अगनि फुनि होई, रबि थैं ससि ससि थैं रबि सोई।
सीत थैं अगनि परजरई, जल थैं निधि निधि थैं थल करई॥
बज्र थैं तिण खिण भीतरि होई, तिण थैं कुलिस करै फुनि सोई।
गिरवर छार छार गिरि होई, अविगति गति जानै नही कोई॥१६॥

शब्दार्थ—जंबुक=गीदड़। हकारा=अहंकार। कुविज=कुब्ज, अंग-भंग। परजरई=जलाना।

इस ससार मे केवल राम-नाम ही सत्य है शेष तो वृथा जजाल है। मेरा उनका साथ वैसा ही है जैसे शेर और गीदड़ का। मैंने उनके स्वरूप का साक्षात्कार

अल्प समय के लिए वैसे ही किया है जैसे कोई स्वप्न में अमूल्य सम्पत्ति पा जाये। मैं उनकी वर्णनातीत शोभा को छिपाकर नही रख सकता। वह अपरम्पार शोभा मेरे हृदय में भी नही समा सकती। मैंने प्रभु के निरन्तर स्मरण से ही उन्हे थोड़ा बहुत जाना है। साधुओ के अमृत वचनो से ही मैंने राम को प्राप्त किया है। मैंने इस भांति जब अमृत स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लिया तभी मनोकामना पूर्ण हुई। राम के चरित्र को पहचानना बड़ा दुष्कर है—जब मैं विषय-वासना के समीप था तब वह प्रभु मुझ से दूर था किन्तु जब मैं वासना-जन्य आनन्दो से दूर रहने लगा तो वह मेरे बिल्कुल निकट हो गया। उस प्रभु की महिमा विचित्र है, वह शीतलतम वस्तु को अग्नि के समान दाहक बना दे, चन्द्र जैसे शीतल को भी दग्धकारी सूर्य और सूर्य को चन्द्र बना दे। वह शीतल वस्तु मे अग्नि उत्पन्न करने के साथ ही जल को स्थल एव स्थल को जल मे परिवर्तित कर दे। वह वज्र को भी क्षणभर मे तृण रूप मे कर दे और तृण को शीघ्र ही पर्वताकार दे दे। पर्वतराज को भी धूलिकणो मे और धूलि को भी पर्वत मे परिवर्तित करना उसकी सामर्थ्य मे है उस अगम्य प्रभु की महिमा का पार कोई नही पा सकता।

विशेष—उपमा विरोधाभास आदि अलकार।

जिहि दुरमति डोल्यौ संसारा, परे असूझि वार नहीं पारा।
बिख अमृत एकै करि लीन्हा, जिनि चीन्हां सुख तिहकूं हरि दीन्हां॥
सुख दुख जिनि चीन्हां नही जांनां, ग्रासे काल सोग रति मांनां।
होइ पतंग दीपक मैं परई, झूठै स्वादि लागि जीव जरई॥
कर गहि दीपक परहि जु कूपा, यहु अचिरज हम देखि अनूपा।
ग्यांनहीन ओछी मति बाधा, मुखा साध करतूति असाधा॥
दरसन समि कछू साध न होई, गुर समांन पूजिये सिध सोई।
भेप कहा जे बुधि विसूधा, बिन परचै जग बूड़नि बूड़ा॥
जदपि रवि कहिये सुर आही, झूठैं रवि लीन्हां सुर चाही।
कबहूं हुतासन होइ जरावै, कबहूं अखंड धार बरिषावै॥
कबहूं सीत काल करि राखा, तिहूं प्रकार बहुत दुख देखा।
ताकूं सेवि मूढ़ सुख पावै, दौरे लाभ कू मूल गवावै॥
अछित राज दिने दिन होई, दिवस सिराइ जनम गये खोई।
मृत काल किनहूं नहीं देखा, माया मोह धन अगम अलेखा॥
झूठै झूठ रह्यौ उरझाई, साचा अलख जग लख्या न जाई।
साचैं नियरैं झूठैं दूरी, बिष कूं कहै संजीवनि मूरी॥
कथ्यौ न जाइ नियरैं अरु दूरी, सकल अतीत रह्या घट पूरी॥
जहां देखौं तहां रांम समांनां, तुम्ह बिन ठौर और नही आंनां।
जदपि रह्या सकल घट पूरी, भाव बिनां अभि-अतरि दूरी॥

लोभ पाप दोऊ जरैं निरासा, झूठै झूठि लागि रही आसा।
जहवा ह्वै निज प्रगट बजावा, सुख संतोष तहा हम पावा॥
नित उठि जस कीन्ह परकासा, पावक रहै जैसें काष्ठ निवासा।
बिना जुगति कैसें मथिया जाई, काष्टै पावक रह्या समाई॥
कष्टै कष्ट अग्नि पर जरई, जारै दार अग्नि समि करई।
ज्यूं रांम कहे ते रामै होई, दुख कलेस घालै सब खोई॥
जन्म के कलि विष जांहि बिलाई, भरम करम का कछु न बसाई।
भरम करम दोऊ बरतै लोई, इनका चरित न जानै कोई॥
इन दोऊ संसार भुलावा, इनके लागें ग्यांन गंवावा।
इनको मरम पैं सोई बिचारी, सदा आनंद लैं लीन मुरारी॥
ग्यांन द्रिष्टि निज पेखैं जोई, इनका चरित जांनैं पैं सोई॥२०॥

शब्दार्थ—करतूति=कार्य। हूतासन=आग। नियरै=समीप। दार=लकडी, काष्ठ।

जो कुबुद्धिमान् इस ससार मे माया-जंजाल मे भटकते फिरते हैं उनके लिये भवसागर का वार-पार नही किन्तु जिन्होंने समत्व दृष्टि प्राप्त कर सुख-सिन्धु परमात्मा को पहचान लिया उनका जीवन धन्य हो गया। जो सुख-दुख, सदसद्, मे भेद नही कर पाये वे तो जीवन पर्यन्त दुखी रहते हुए काल-कवलित हो गए। साँसारिक व्यक्ति मिथ्या विषयानन्द के लिए मायाकर्षण मे उसी भाँति सलिप्त होता है जैसे शलभ दीपक पर मर मिटता है। जो स्वय यह जानते हुए कि विषयानन्द मिथ्या एव पाप-मूल है उनमे पडता है उसमे वैसी ही विचित्रता है जो जान-बूझकर कुए मे अपने आप गिर कर प्राण गवाता है। ज्ञानहीन मनुष्य अपनी अल्प-बुद्धि से साधुजनो के कार्य मे बाधा उपस्थित करते रहते हैं। साधु के दर्शनो के बराबर अन्य किसी मे पुण्य नही और गुरु पूजा के सदृश अन्य कोई महत् कार्य नही। व्यर्थ साधु का वेष धारण करने से कुछ नही होता क्योकि उससे तो अन्य वितण्डा खडी होती है, भक्ति साधना नही। ईश्वर के विना जाने ही ससार के लोग उसके विषय मे अपनी विचारधारा दूसरो को बता पाप-भागी बनते हैं क्योकि वह सत्य पर आधृत नही है। वह ईश्वर इतना महान्, विचित्र, अगम्य है कि कभी तो वह सूर्य रूप मे अपनी प्रचण्ड धूप से सबको दग्ध करता है तो कभी मूसलाधार वृष्टि के रूप मे समस्त धरित्री को जलमग्न कर देता है एव कभी वह शीत की प्रचण्डता दिखाता है किन्तु तीनो ऋतुओ—ग्रीष्म, वर्षा, शीत—मे विविध भाँति के कष्ट है। भाव यह है कि इतना विचित्र सुन्दर ऋतुए बनाकर भी प्रभु ने उनमे कुछ न कुछ अभाव छोड दिये हैं यही तो सृष्टि की पूर्णता मे भी अपूर्णता है। प्रत्येक दृष्टि मे तो केवल वह प्रभु ही पूर्ण है। ससार की उलझनो मे पड़े हुए ही मूर्ख लोग सुख-लाभ करते है और वे भूल जाते है कि उनके जीवन का वास्तविक

प्रयोजन क्या है। इस प्रकार वे जीवन में लाभ प्राप्त करने के स्थान पर अपना पूर्व संचित पुण्यो का मूलधन भी गंवा बैठते हैं। दिन-प्रति-दिन वे सांसारिक मोह-जाल मे ही पड़े रहते हैं। एव इसी प्रकार जीवन का अन्त आ पहुचता है। काल को कोई भी नही सोचता वह तो माया-मोह-ममता आदि मे सलिप्त रहता है। नश्वर शरीरधारी मनुष्य मिथ्या संसार मे उलझे हुए हैं एव इस जगत् मे जो सत्य तत्व परमात्मा है उसको खोजने का प्रयास कोई नही करता। वे लोग सत्यरूप ईश्वर से तो दूर रहते हैं और विषय वासनाजन्य मिथ्या आकर्षणो मे लिप्त रहते है एव इस भाँति विष को ही अमृत समझने का भ्रम करते है। वस्तुत उस ईश्वर को न तो अपने से पास कहा जा सकता है और न दूर ही, क्योकि वह प्रत्येक अन्तस्तल मे विराजमान है। जहां देखो वही वह सर्वत्र व्यापी प्रभु है, उसके अस्तित्व से शून्य कोई भी स्थान नही है। यद्यपि वह परमात्मा समस्त मानव मात्र, प्राणीमात्र के हृदय मे वर्तमान है किन्तु फिर भी वह बिना भक्ति भाव के बहुत दूर है। उसके दर्शन से लोभ, पाप आदि की मिथ्या सांसारिक कामनाए, इच्छाए नष्ट हो जाती है। जहा प्रकट रूप से उस परमात्मा का भजन-कीर्तन होता है नही हमारी वृत्ति रमती तथा परितुष्ट होती है। नित्यप्रति उठकर उसके गुणो का गान वाछनीय है, वह सर्वत्र उसी प्रकार छिपा हुआ है, जिस भाँति काष्ठ मे अग्नि का वास है। किन्तु चाहे वह काष्ठाग्नि-न्याय से सर्वत्र रम ही रहा हो किन्तु बिना भक्ति साधना के उसे प्राप्त नही किया जा सकता। साधना की काष्ठाग्नि मे जल जाने पर मनुष्य अग्नि के समान ही तपकर शुद्ध हो जाता है राम-नाम कहने पर भक्त तद्रूप हो जाता है और उसके समस्त दुखों का नाश हो जाता है, किन्तु मनुष्य जन्म से ही भ्रम एव व्यर्थ के कर्म जजाल मे आसक्त हैं। सर्वत्र भ्रम और कर्म का व्यापार है— वस्तुत. इनके प्रयोग करने वाले का चरित्र जानना कठिन है, अर्थात् वह कपटी, अविश्वसनीय, निदनीय होता है। इन्ही दो मे पड़कर संसार पथ-विभ्रान्त हो रहा है एव अपने ज्ञान को भी नष्ट कर रहा है। इन दोनो से वही मुक्त हो सकता है जो सर्वदा आनन्दस्वरूप परमात्मा मे अपनी चित्तवृत्ति केन्द्रित रखे। जो व्यक्ति ज्ञान लाभ कर आत्मतत्त्व को पहचानता है, वह ही इनके रहस्य से परिचित होता है।

विशेष—अद्वैतवादियो की भाँति ब्रह्म-स्वरूप 'काष्ठवह्नि-न्याय' द्वारा स्पष्ट किया गया है।

ज्यूं रजनी रज देखत अंधियारी, डसै भुवंगम बिन उजियारी।
तारे अगिनन गुनहि अपारा, तऊ कछू नहीं होत अधारा॥
झूठ देखि जीव अधिक डराई, बिना भुवंगम डसी दुनियाई।
झूठै झूठै लागि रही आसा, जेठ मास जसै कुरंग पियासा॥
इक त्रिषावंत दह दिसि फिर आवै, झूठ लागा नीर न पावै।
इक त्रिषावंत अरु जाइ जराई, झूठी आस लागि मरि जाई॥

नीभर नीर जांनि परहरिया, करम के बांधे लालच करिया ।
कहै मोर कछू आहि न वाही, भरम करम दोऊ मति गवाई ।।
भरम करम दोऊ मति परहरिया, झूठें नांऊ साच ले धरिया ।
रजनीं गत भई रवि परकासा, भरम करम धूं केर बिनासा ।।
रवि प्रकास तारे गुन खींनां, आचार व्यौहार सब भये मलींनां ।
विष के दाधे विष नहीं भावै, जरत जरत सुखसागर पावै ।।२१।।

शब्दार्थ—भुवगम=साँप । कुरग=हिरन । नीभर=निर्भर, भरना । रवि=ज्ञान सूर्य ।

जिस भाँति अधकारमय रात्रि मे प्रकाश के अभाव मे भयरूपी भुजगम डस लेता है और उस भयग्रस्त व्यक्ति की किंचित् भी सहायता अगणित नक्षत्र भी नही कर पाते उसी प्रकार मिथ्या ससार मे व्यक्ति व्यर्थ भ्रम के भुजग से डसा जा रहा है। मानव की दशा ज्येष्ठ मास की भीषण गर्मी मे तृपावन्त व्याकुल मृग जैसी होती है। वह मृग समस्त दिशाओ मे चौकड़ी भर-भर कर घूम आता है किन्तु उसे जल नही मिलता । एक तो वह तृषाकुल होता है, दूसरे ऊपर से भीषण गर्मी और फिर झूठी आशा से कि जल अब मिलेगा, अब मिलेगा, व्यथित होता है । पास में बहते हुए झरने के शीतल जल को वह मृग मरीचिका के सम्मुख त्याग देता है और इस भाति कर्मबंधन मे पडा रहता है । यही गति मनुष्य की है वह आनन्द की खोज मे व्याकुल रहता है, इसी के लिये वह सर्वत्र भटकता है । इस भटकने मे ही वह आत्मस्थित आनन्द-स्वरूप परमात्मा को छोड़ देता है और विषय-जन्य आकर्पणो की मृग-मारीचिका मे पडा रहता है । कबीर कहते है कि भ्रम और कर्म जजाल ने मनुष्य का विवेक अपहृत कर लिया है । मनुष्य की अज्ञान-रात्रि समाप्ति हो जाने पर ज्ञान सूर्य का उदय हो जाता है और तब भ्रम एव मिथ्या-व्यर्थ कर्म जजाल नष्ट हो जाता है । ज्ञान सूर्य के उदय से सासारिक आकर्षणो के नक्षत्र विलुप्त हो जाते है और समस्त आचार व्यवहार परिवर्तित हो जाता है । विष विदग्ध मानव को फिर विषय वासना विष अच्छा नही लगता, अब तो वह सुखसिन्धु शम्भु को प्राप्त कर लेता है ।

विशेष—उपमा, रूपक, विभावना एव रूपकातिशयोक्ति आदि अलकार ।

अनिल झूठ दिन धावै आसा, अंध दुरगध सहै दुख त्रासा ।
इक त्रिपावत दुसरैं रवि तपई, दह दिसि ज्वाला चहुँ दिसि जरई ।।
करि सनमुखि जब ग्यांन विचारी, सनमुखि परिया अगनि मझारी ।
गछत गछत जब आगै आवा, बित उनमांन ढिबुवा इक पावा ।।
सीतल सरीर तन रह्या समाई, तहां छाडि कत दाझै जाई ।
यूं मन बारूनि भया हमारा, दाधा दुख कलेस संसारा ।।
जरत फिरे चौरासी लेखा, सुख कर मूल किनहूँ नही देखा ।
जाकें छाड़ें भये अनाथा, भूलि परै नहीं पावै पाथा ।।

अछै अभि-अंतरि नियरै दूरी, बिन चीन्ह्यां क्यूं पाइये मूरी।
जा बिन हंस बहुत दुख पावा, जरत जरत गुरि रांम मिलावा ॥
मिल्या रांम रह्या सहजि समाई, खिन बिछुर्‌यां जीव उरझै जाई।
जा मिलियां तैं कीजैं बधाई, परमांनंद रैंनि दिन गाई ॥
सखी सहेली लीन्ह बुलाई, रुति परमानंद भेटियै जाई।
सखी सहेली करहि अनंदू, हित करि भेटे परमानंदू ॥
चली सखी जहुँवां निज रामां, भये उछाह छाड़े सब कांमां।
जानूं कि मोरैं सरस बसंता, मैं बलि जांऊ तोरि भगवंता ॥२२॥

शब्दार्थ—अनिल=वायु । गछत गछत=चलने चलते। दाझै=जलाना। हंस=जीव । उछार=उत्साह ।

वायु भी मिथ्या आशा के वश हो दुर्गन्ध आदि दुखो को सहन करता हुआ भटकता है । एक तो वह अपनी कामना के लिये व्याकुल, दूसरे ऊपर से सूर्य की तपन—इस भाति सर्वत्र जलन ही जलन पाता है किन्तु इसी भाँति भटकते-भटकते जब उसे एक गढे की प्राप्ति होती,तब वहा जाकर वायु भी शीतलता का अनुभव करता है और वह सोचता है कि इस शीतल स्थान को छोडकर अन्यत्र दग्ध होने के लिये क्यो जाऊं किन्तु फिर भी वह जाता है । इसी भाँति मनुष्य जानते हुए भी विषयाग्नि मे पड़ता है । कबीर कहते हैं कि हमारा मन प्रभु प्रेम भक्ति का पान कर इस प्रकार मदमस्त हो गया है कि उसके समस्त सासारिक दुःख समाप्त हो गये हैं । अन्य मनुष्य व्यर्थ चौरासी लाख योनियो मे भटक व्यथा भोगते फिरे, उन्होने सुख स्वरूप परमात्मा को जानने का प्रयत्न नही किया । उन्होने उसी परमात्मा को छोड़ दिया जिसको छोड़ कर सब अनाथ बन जाते है एवं कभी भी उचित पथ नही पाते । वह हृदयस्थ होते हुए भी दूर और पास हो जाता है, बिना उसे जाने हुए भला मूलधन को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ।

जिस ईश्वर के वियोग मे आत्मा आकुल-व्याकुल थी उसी से सद्‌गुरु ने साधक को मिला दिया । राम-दर्शन होते ही क्षण भर मे जीवात्मा उसी मे रम गया, तद्‌रूप हो गया । उसके मिलन पर सबको आनन्दित होना चाहिए । उस मुक्तात्मा ने इस पथ पर अन्य सखी आत्माओ को भी प्रेरित किया जिससे प्रभु-प्रेम उनमे भी जागृत हुआ । वे सखी आत्माए समस्त सासारिक कार्यो को छोड़ कर प्रभु-प्रेम मिलन के लिये चल दी । यह जानकर भक्त कबीर का चित्त आनन्दमग्न हो रहा है, और वे कहते है प्रभु मैं आप पर बलिहारी जाता हू ।

भगति हेत गावै लैलीनां, ज्यूं बन नाद कोकिला कीन्हां।
बाजे संख सबद धुनि बेनां, तन मन चित्त हरि गोविंद लीनां ॥
चल अचल पांइन पंगुरनी, मधुकरि ज्यूं लेहि अघरनीं।
सावज सीह रहे सब मांची, चंद अरु सूर रहे रथ खांची ॥

गण गंध्रप मुनि जोवैं देवा, आरति करि करि विनवैं सेवा।
वालि गयंद ब्रह्मा करै आसा, हंम क्यूं चित दुर्लभ रांम दासा॥
भगति हेत राम गुन गांवे, सुर नर मुनि दुरलभ पद पांवे।
पुनिम विमल ससि मास वसंता, दरसन जोति मिले भगवंता॥
चंदन विलनी विरहनि धारा, यूं पूजिये प्रांनपति रांम पियारा।
भाव भगति पूजा अरु पाती, आतमरांम मिले वहु भांती॥
रांम रांम रांम रुचि मांनै, सदा अनंद रांम ल्यौ जानै।
पाया सुख सागर कर मूला, सो सुख नहीं कहू सम तूला॥
सुख समाधि सुख भया हमारा, मिल्या न वेगर होइ।
जिहि लाधा सो जांनि है, रांम कवीरा और न जांनें कोई॥२३॥

शब्दार्थ—लैलीना=आनन्दमग्न होकर। ल्यौं=प्रेम। पाया=प्राप्त किया।

कबीर कहते हैं कि भक्त जन आनन्दमग्न हो कर उसी भाँति प्रभु का गुणगान करते है जिस प्रकार कोकिल वन मे अपनी मधुर काकली छेडती है। इस नाम-स्मरण मे सद्गुरु शब्दो की मगलसूचक शखध्वनि हो रही है जो मनसा-वाचा-कर्मणा प्रभु-भक्ति के लिये प्रेरित करती है। जिस भाँति वन में भ्रमर गु जायमान होते हैं उसी भाँति सब मनुष्य भक्ति से झूम गये। उस भक्तात्मा के लिये चन्द्र और सूर्य स्वय रथ में जुते हुए होते हैं तथा मुनिगण और गधर्वादि विनय सहित उसकी आरती करते हैं। ब्रह्मा आदि बडे-बडे सुरराज यह पश्चात्ताप करते हैं कि काश! हम भी राम के दास होते जो हम को भी यह वैभव और गौरव प्राप्त हो सकता। भक्त राम के गुणो का गान कर उस दुष्प्राप्य परमपद को प्राप्त कर सकते हैं जिसके लिये देव और ऋषिगण तरसते हैं। पूर्णिमा की निर्मल चन्द्रिका मे माधवी रजनी में प्रभु के दर्शन प्राप्त हुए अर्थात् ज्ञानदृष्टि प्राप्त कर सौम्य, शान्त, निर्मल वातावरण मे प्रभु-प्राप्ति हुई। विरहिणी आत्मा को चन्दन की शीतलता प्राप्त हो गई, यही प्रभु-भक्ति का प्रताप है। प्रेम-भक्ति का प्रताप है। प्रेमा भक्ति से उस आत्मस्थित परमात्मा को पाना सहज सम्भव है। सर्वदा समस्त चित्तवृत्तियो को राम-नाम मे केन्द्रित कर देने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस भाँति हमने उस सुख सिन्धु को प्राप्त कर लिया जिसके समान अन्य कोई सुख नही है।

कबीर कहते हैं कि उस परमात्मा की प्राप्ति के सुख को वही जान सकता है जो उसे प्राप्त कर लेता है। इस सुख-विन्दु परमात्मा को पाकर तो हमने उससे तदाकारत्व ही प्राप्त कर लिया।

विशेष—उपमा अलंकार।

अष्टपदी रमैणी

केऊ केऊ तीरथ व्रत लपटाना, केऊ केऊ केवल रांम निज जांनां।
अजरा अमर एक अस्थांनां, जाका मरम काहू बिरल जांनां॥
अवरन जोति सकल उजियारा, दिष्टि समांन दास निस्तारा।
जे नहीं उपज्या धरनि सरीरा, ताकै पथिन सींच्या नीरा॥
जा नही लागे सुरजि के बांनां, सो मोहि आंनि देहु को दांनां।
जब नहीं होते पवन नही पानी, जब नहीं होती सिष्टि उपांनीं॥
जब नहीं होते प्यंड न वासा, तब नही होते धरनि अकासा।
जब नहीं होते गरभ न मूला, तब नही होते कली न फूला॥
जब नहीं होते सबद न स्वादं, तब नहीं होते विद्या न बादं।
जब नहीं होते गुरू न चेला, गम अगमैं पंथ अकेला॥
अवगति की गति क्या कहूँ, जस कर गाव न नांव।
गुन विहूंन का पेखिये, काकर धरिये नांव॥२४॥

शब्दार्थ—मरम=रहस्य। उपानीं=उत्पन्न होना। वाद=वाद-विवाद। विहून=रहित। काकर=किसका।

कोई साधक तीर्थ-व्रतादि के वाह्याडम्बर मे ही भक्ति-साधना मानता है तो कोई केवल राम-नाम के आश्रय से तर जाता है। वस्तुत. उस अजर, अमर ईश्वर की वास्तविकता को कोई-कोई ही जान पाता है। उस अपरूप ज्योतिस्वरूप परमात्मा से समस्त सृष्टि प्रकाशित है, भक्त जन भी उसी की अनुकम्पा से भवसागर पार करते है। जो इस पृथ्वी पर पचतत्व निर्मित नही हुआ उसी का मार्ग जल से शीतल किया जा सकता है, भाव यह है कि मनुष्य चाहे कोई भी क्यो न हो, साधना का मार्ग उसके लिए विपम ही है। उस प्रभु की गति वडी विचित्र है और तब भी था जब इस सृष्टि वायु तथा जल किसी का भी अस्तित्व नही था। जब शरीर और गृह आदि तथा पृथ्वी और आकाश, गर्भावस्था, किसी वृक्ष की जड और कली तथा फूल, शब्द विद्या, उपदेश आदि कुछ भी नही था तब वह भी ब्रह्म था। जब गुरु शिष्य कोई नही था तब भी वही एकाकी परम-पुरुप था। कबीर कहते हैं कि उस इन्द्रियातीत प्रभु का, जिसका न कोई गुण है न लक्षण, न अन्य कोई रूपरेखा अथवा वर्ण, वर्णन क्या करूं। उस निर्गुण अनाम परमात्मा की गति अपार है।

आदम आदि सुधि नही पाई, मां मां हवा कहां थैं आई।
जब नहीं होते रांम खुदाई, साखा मूल आदि नहीं भाई॥
जब नही होते तुरक न हिंदू, माका उदर पिता का व्यंदू।
जब नहीं होते गाई कसाई, तब बिसमला किनि फुरमाई॥
भूले फिरैं दीन ह्वै धांवैं, ता साहिब का पंथ न पावैं।

संजोगें करि गुंण धरया, विजोगें गुंण जाइ।
जिभ्या स्वारथि श्रापणें, कीजै बहुत उपाइ ॥२५॥

शब्दार्थ—व्यदू=बिन्दु, वीर्य। विजोगे=वियोग में।

आदम और हौवा का अस्तित्व कहाँ से आया, अरे भाई! यदि प्रभु न हुआ होता तो आदम-हौवा की तो बात ही क्या, ससार में पत्ता तक नहीं होता। न तब हिन्दू होते और न मुसलमान, न मातृ उदर होता और न पितृ श्रम—यह सब ईश्वर की ही लीला है। न जब गौ होती और न उनके संहारक वधिक, कसाई, सब उसी ब्रह्म की रचना है। सब लोग व्यर्थ भटकते फिरते हैं और उस परमात्मा को नहीं खोजते। यदि परमात्मा से सयोग, मिलन, भक्ति सम्बन्ध रखा जाय तब तो उचित है अन्यथा वियुक्त होने पर तो सब कुछ समाप्त ही है। विषयानन्द में न पड़ प्रभु-प्राप्ति का उपाय करना चाहिए।

विशेष—ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन है।

जिनि कलमां कलि मांहि पठावा, कुदरति खोजि तिन्हू नहीं पावा।
कर्म करींम भये कर्तूता, वेद कुरान भये दोऊ रीता॥
कृतम सो जु गरभ अवतरिया, कृतम सो जु नाव जस धरिया।
कृतम सुनित्य और जनेऊ, हिंदू तुरक न जांनै भेऊ॥
मन मुसले की जुगति न जांनै, मति भूलै द्वै दीन बखांनै।

पांणीं पवन संजोग करि, कीया है उतपाति।
सुंनि मै सबद समाइगा, तब कासनि कहिये जाति ॥२६॥

शब्दार्थ—कलि=कलियुग। कर्तूता=कार्य करने वाले।

जो मुल्ला लोग इस कलिकाल मे कुरान आदि के कलमो को ही पढ़ मुक्त होना चाहते है वे सृष्टि का भेद नही पा सकते। वस्तुतः कर्म-व्यापार, सदाचरण हीं मुक्तिदायक हैं, कर्म से ही ईश्वर जगत्पालक है। वेद-कुरान आदि धर्म ग्रन्थो मे भी यही बात वर्णित है। जिस मनुष्य ने जन्म-धारण किया है उसे तो कार्य करना ही होगा। कर्म से ही पुण्य और अन्य विधानो के फल की प्राप्ति होती है। कर्म फल की प्राप्ति होती है। कर्म-फल सबके लिए समान है, उसमे हिन्दू-मुस्लिम का भेद वृथा है। हे मनुष्य! तू अपने चंचल मन की गति को नही जानता, यह तो द्वैत भावना का सृजन कर दुःख का कारण बनता है।

कबीर कहते है कि ससार मे जितने भी वितण्डा है वे माया और विषयाकर्षण के द्वारा ही हैं। जब साधक शून्य मे समाधिस्थ हो जायेगा तब इन विषय-वासनाओ का उससे कोई सम्पर्क नही रहेगा।

तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करैं ए बोधा।
गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई॥
जाको दूध धाइ करि पीजै, ता माता कौं बध क्यूं कीजै।
लहुरै थकै दुहि पीया खीरो, ताका अहमक भकै सरीरो॥

बेअकली अकलि न जांनहीं, भूले फिरे ए लोइ।
दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहां थै होइ ॥२७॥

शब्दार्थ—वजगार=कार्य। गाफिल=मूर्ख। भकै=भक्षण करना, खाना। दीदार=दर्शन।

मुसलमान लोग बहुत धर्म की दुहाई देते है और उसी के लिए नाना कर्म करते है। वह व्यर्थ का अत्यधिक मिथ्या गर्व करते है और अपने स्वार्थ के लिये गौ तक की हत्या कर देते है जिसके मधुर दुग्ध का पान दौड कर करते है, उसे गौ माता की हत्या का साहस ये किस प्रकार से करते हैं ? गौ को समाप्त कर बकरी का खारा दूध पीने वालो को मूर्ख की ही सज्ञा दी जा सकती है। ये लोग व्यर्थ स्वर्ग की खोज मे भटकते फिरते है किन्तु इन मूर्खों, बुद्धिहीनो को ज्ञात नही कि हृदय की विशालता, दयालुता एवं प्रभु-दर्शन के विना स्वर्ग प्राप्ति नही होती।

पंडित भूले पढ़ि गुन्य वेदा, आप न पांवै नांनां भेदा।
संध्या तरपन अरु षट करमां, लागि रहे इनकै आशरमां ॥
गायत्री जुग चारि पढ़ाई, पूछौ जाइ कुमति किनि पाई।
सब मैं रांम रहे ल्यौ सींचा, इन थैं और कहौं को नीचा ॥
अति गुन गरब करें अधिकाई, अधिकै गरबि न होइ भलाई।
जाकौ ठाकुर गरब प्रहारी, सो क्यूं सकई गरब सहारी ॥
कुल अभिमांन विचार तजि, खोजौ पद निरबांन।
अंकुर बीज नसाइगा, तब मिलै विदेही थांन ॥२८॥

शब्दार्थ—आशरमां=आश्रम में। निरवान=निर्वाण, मुक्ति। विदेही=निर्गुण।

संसार के माया-मोह मे भटकता हुआ भी व्यर्थ शास्त्रग्रथो का पारायण करता है। इनकी आश्रम व्यवस्था मे सध्या, तर्पण और षट्कर्मों के लिये विधि-विधान अतिरिक्त और कुछ नही। चाहे वे चार युगो तक गायत्री-जप करे किन्तु इन्हे वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि नही हो सकती। इन नीचो को यह कौन समझाये कि प्रत्येक स्थान पर प्रभु वर्तमान है। इनमें व्यर्थ का मिथ्या दम्भ अत्यधिक है जबकि वह हानिकारक है। जिस साधक, भक्त के आराध्य गर्वमर्दनकारी है वह भला क्यों गर्व करेगा।

कबीर कहते हैं कि कुल-जाति के मिथ्या दम्भों का परित्याग कर परम प्रभु की खोज करो। जब तुम पूर्ण विनय सहित सर्वात्म—समर्पण कर दोगे तभी उसे निर्गुण की प्राप्ति सम्भव है।

खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकूं होय सवाया करमो।
जीवहि मारि जीव प्रतिपारैं, देखत जनम आपनौं हारैं ॥

पंच सुभाव जु मेटै काया, सब तजि करम भजै रांम राया।
खत्री सों जु कुटुंब सूं सूझै, पंचूं मेटि एक सूं बूझै॥
जो आवध गुर ग्यांन लखावा, गहि करवाल धूप धरि धावा।
हेला करै निसांनै घाऊ, जूझ परै तहां मनमथ राऊ॥
मनमथ मरै न जीवई, जीवण मरण न होई।
सुनि सनेही रांम बिन, गये अपनपौ खोइ॥२६॥

शब्दार्थ—प्रतिपारै=पालन करना। करवाल=तलवार। मनमथ=कामदेव। अपनपौ=निजत्व।

यदि क्षत्रिय अपने क्षत्रिय-धर्म का पालन करे तो उसे सवा गुना अर्थात् अत्यधिक पुण्य-फल प्राप्त हो। जो भयंकर जीवो से मानवमात्र की सहायता के लिए अपना सर्वस्व तक बलिदान कर दे वही क्षत्रिय है। वही राम का सच्चा भक्त है जो पचेन्द्रियो के स्वादो को समाप्त कर दे। क्षत्रिय वही है जो माया कुटुम्ब जिसे माया-कटक कहा गया है) से युद्ध करे और पच ज्ञानेन्द्रियो के विषयो का परित्याग कर केवल मन.साधना में प्रवृत्त हो। जो यावज्जीवन गुरु वचनो पर चल सांसारिक बाधाओ को सहते हैं, वे क्षत्रिय हैं। जो कामदेव रूपी राजा से युद्ध कर उसे परास्त कर दे वही वास्तविक रूप मे क्षत्रिय है।

कबीर कहते हैं कि आत्मा का न तो मरण होता है और न जन्म, किन्तु जो लोग राम की भक्ति बिना इस ससार से चले गये वे तो अपना सर्वस्व नष्ट कर ही गये।

विशेष—आत्मा के स्वरूप-वर्णन मे गीता का प्रभाव स्पष्ट है—

'न जायते म्रियते वा कदाचित्।'

अरु भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेस रहे लपटाई।
जैन बोध अरु साकत सैंनां, चारवाक चतुरंग बिहूंनां॥
जैन जीव की सुधि न जानैं, पाती तोरि देहुरै आनैं।
दोनां मवरा चंपक फूला, तामैं जीव बसै कर तूला॥
अरु प्रिथमीं का रोम उपारै, देखत जीव कोटि संघारै।
मनमथ करम करै असरारा, कलपत बिंद धसैं तिहि द्वारा॥
ताकी हत्या होइ अदभूता, षट दरसन मैं जैन बिगूता॥
ग्यान अमर पद बाहिरा, नेड़ा ही तैं दूरि।
जिनि जान्यां तिनि निकट है, रांम रहा सकल भरपूरि॥३०॥

शब्दार्थ—सरल है।

संसार के समस्त लोग षट्दर्शनो के मिथ्या वितण्डावाद मे पड़े हुए विविध वेश धारण किये घूम रहे हैं। जैन, बौद्ध, शाक्त आदि विविध विचारधाराओ के पचड़े मे सब पड़े हुए हैं। जैन वैसे तो अहिंसा की दुहाई देते हैं, किन्तु कभी-कभी वे ऐसे दुष्कृत्य करते है कि जीव-हत्या का तनिक भी ध्यान नही रहता। वे दोने मे भरकर

जो चपक आदि के सुमन चढाते है, उसमे तो करोडों जीव होते है, और जब मन्दिर आदि के लिए पृथ्वी को खोदते है तब न जाने कितने जीवों की हत्या होती है। कामदेव संसार में विविध प्रपंच रचकर उनगे लोगो को फसा लेता है। इन विषय-वासना कर्मों मे भी जीव-हत्या होती है—इस भांति जैन आदि विविध मतावलम्वी इन्ही टंटो मे उलझे रहते हे। वह परम मधु ज्ञानहीनो के लिए पास रह कर भी दूर है। जो उसे जानते हैं उनके लिए वह पास हो जाता है, वे उसका साक्षात्कार कर लेते है। वस्तुतः वह ब्रह्म तो सर्वत्र रम रहा है।

आपन करता भये कुलाला, बहु विधि सिष्टि रची दर हाला।
विधनां कुंभ किये द्वै थांना, प्रतिबिंबता मांहि समांनां॥
बहुत जतन करि बांनक बांनां, सौंज मिलाय जीव तहां ठांनां।
जठर अगनि दी कीं परजाली, ता मै आप करै प्रतिपाली॥
भींतर थै जब बाहरि आवा, सिव सकती द्वै नांव धरावा।
भूलै भरमि परै जिनि कोई, हिंदू तुरक झूठ कुल दोई॥
घर का सुत जे होइ अयानां, ताकै सगि क्यूं जाइ सयांनां।
सांची बात कहै जे वासूं, सो फिरि कहै दिवांनां तासूं॥
गोप भिन है एकै दूधा, कासूं कहिए बांम्हन सूधा।
जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहै कबीर ते जन जले, जे चित्रवत लेहि विचार॥२१॥

शब्दार्थ—कुलाला=कुम्भकार। प्रतिपाली=पालन-पोपण करना। सुतधार=सूत्रधार।

वह प्रभु स्वय ही इस सृष्टि का निर्माता कुम्भकार है जिसने इस नाना रूपात्मक जगत् का सृजन किया। ब्रह्म इस सृष्टि मे उसी प्रकार विद्यमान है जिस भाँति भिन्न स्थानो पर रखे हुए घटो मे सूर्य प्रतिविम्बित होता है। बहुत भाँति के आयोजनों द्वारा इस सृष्टि का निर्माण हुआ है और तब उसमे जीव की अवस्थिति हुई है। मातृ-उदर में गर्भस्थ शिशुको जठराग्नि जलाये डालती है किंतु वहाँ भी वह दयालु जीव की रक्षा करता है। जब जीवात्मा वहाँ से बाहर आता है तो उसे लिंग-भेद अनुसार ज्ञान प्राप्त होता है जो शिव (पुरुष) अथवा शक्ति (माया-नारी) का प्रतीक है। चाहे कोई हिन्दू हो अथवा मुसलमान किन्तु उसे भूलकर भी संसार भ्रम में नही पड़ना चाहिए। यदि घर का बेटा ही खोटा, कुचरित्र निकल जाये तो फिर उसके साथ चतुर व्यक्ति भी ठीक नही रह सकता। अतः दुर्जनो से दूर ही रहना चाहिए। यदि कोई सत्य बात कह दे तो फिर उससे तो ज्ञान लाभ होता ही है, जिससे श्रोता संसार को त्याग देता है। समस्त मानव मात्र एक ही तत्व से निर्मित है केवल जाति भेद नाम मात्र का है।

कबीर कहते हैं कि जिस ईश्वर ने इस चित्र-विचित्र सृष्टि की रचना की है वही इसका वास्तविक नियन्ता है। जो उसे हृदय मे अमिट स्थान देता है वही उत्तम श्रेणी का भक्त, मनुष्य है।

☆

बारहपदी रमैंणी

पहली मन मैं सुमिरौं सोई, ता सम तुलि अवर नहीं कोई।
कोई न पूजै वांसूं प्रानां, आदि अंति वो किनहूं न जांनां॥
रूप सरूप न आवै बोला, हरु गरु कछू जाइ न तोला।
भूख न त्रिषा धूप नहीं छांहीं, सुख दुख रहित रहै सब मांहीं॥
अविगत अपरम्पार ब्रह्म, ग्यांन रूप सब ठांम।
बहु विचार करि देखिया, कोई न सारिज रांम॥३२॥

शब्दार्थ—अवर=और, दूसरा। हरु=हलका। गरू=भारी। त्रिपा=प्यास। सारिख=समान।

सर्व प्रथम मैं उस परमातमा का मन में स्मरण करता हूं क्योंकि उसकी महिमा अद्वितीय एव अनुपम है। कोई भी उसके अन्तर का भेद नही जान सकता और न उसके आदि, मध्य, अवसान का कुछ पता है। न तो हम उसकी रूप रेखा, वर्ण आदि का विचार कर सकते हैं और न उसके भार-प्रभार का अनुमान कर सकते हैं। न उसे भूख लगती है और न प्यास, धूप-छाँह कुछ भी उसे नही सताती। वह समस्त सुख-दु.खो से निर्लेप है। वह अगम्य महामहिम प्रभु सर्वत्र व्यापक है। बहुत विचार कर देख लिया, किन्तु कोई भी उसकी क्षमता नही कर सकता।

विशेष—उल्लेख अलकार।

जो त्रिभवन पति औहै ऐसा, ताका रूप कहौ धौं कैसा।
सेवग जन सेवा कै तांई, बहुत भांति करि सेवि गुसांई।
तैसी सेवा चाहौ लाई, जा सेवा बिन रह्या न जाई।
सेव करंतां जो दुख भाई, सो दुख सुख बरि गिनहु सवाई॥
सेव करंतां सो सुख पावा, तिन्य सुख दुख दोऊ बिसरावा।
सेवग सेव भुलांनियां, पंथ कुपंथ न जांन।
सेवक सो सेवा करै, जिहि सेवा भल मांन॥३३॥

शब्दार्थ—सरल है।

जो त्रिलोकीनाथ ऐसा महामहिम है उसका स्वरूप-कथन कैसे किया जा सकता है? हम भक्त-गण तो हे प्रभु! केवल आपकी स्वामी के रूप मे विविध भाँति से सेवा कर सकते हैं। हमको वही सेवा-भक्ति करनी चाहिए जिसके विना हम रह न सकें। यदि प्रभु-सेवा मे कुछ दुःख उठाना पड़े तो उसे भी दुःख से सवा गुना अधिक

सुख मानकर ग्रहण करना चाहिए। जो ईश्वर-सेवा मे आनन्द प्राप्त करने लगता है फिर उसके लिए सासारिक सुख-दुख का कोई महत्व नही रह जाता, किन्तु आज ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि सेवक सेवा-भक्ति के वास्तविक महत्व, प्रयोजन भुला बैठे है। भक्त तो वही है जो प्रभु-भक्ति मे गौरव एवं सुख अनुभव करता है।

जिहि जग की तस की तस के ही, आपे आप आथिहै एही।
कोई न लखई वाका भेऊ, भेऊ होइ तौ पावै भेऊ॥
बावें न दांहिनै आगें न पीछू, अरध न उरध रूप नहीं कीछू।
मांय न बाप आव नहीं जावा, नां यहु जण्यां न को वहि जावा॥
वो है तसा वोही जानें, ओही आहि आहि नहीं आनें।
नैंनां बैन अगोचरी, श्रवना करनी सार।
बोलन कै सुख कारनें, कहिये सिरजनहार॥३४॥

शब्दार्थ—सरल है।

ईश्वर ने संसार की रचना स्वयं किसी अन्य की सहायता के बिना की। कोई भी उस परमात्मा के रहस्य का पार नही पा सकता और वास्तव में वह भेदभाव, द्वैत भाव से दूर है इसीलिए कोई उसका पार नही पा सकता। उसके वाम, दक्षिण, ऊपर-नीचे किसी भी पक्ष के चिह्न नही बताये जा सकते, क्योकि उसका कुछ रूपाकार है ही नहीं। न उसका कोई माता पिता है और न उसका जन्म-मरण होता है। वह जैसा है वही जानता है; अर्थात् वह स्वयं ही अपने स्वरूप, रहस्य का ज्ञाता है।

वह ब्रह्म नेत्र, वाणी, श्रवण आदि की परिधि से दूर है। उस सृजनहार परमात्मा के गुणगान में ही सुख लाभ होता है।

सिरजहार नांउ धूं तेरा, भौसागर तिरिवे कूं भेरा।
जे यहु भेरा रांम न करता, तौ आपें आप आवटि जग मरता॥
रांम गुसांई मिमर जु कीन्हां, भेरा साजि संत कौ दीन्हां।
दुख खंडण मही मंडणां भगति मुकति बिश्रांम।
विधि करि भेरा साजिया, धर्‍या रांम का नांम॥३५॥

शब्दार्थ—भेरा=बेड़ा, पोत। मिहर=कृपा।

हे प्रभु! आपका नाम ही इस ससार समुद्र से पार उतरने के लिए जलयान के समान है। यदि आपके नाम का आश्रय न होता तो संसार स्वय परस्पर सघर्ष द्वारा समाप्त हो जाता ईश्वर ने दयार्द्र हो यह राम नाम का पोत साधु पुरुष को प्रदान कर दिया। दु.ख के स्थान मे भक्ति ही मुक्ति का साधन रूप है। इस ससार सागर से पार जाने के लिए राम नाम की साधना का पोत सजाकर साधक को भगवान ने दे दिया।

विशेष—साँगरूपक।

जिनि यहू भेरा दिढ़ करि गहिया, गये पार तिन्हौं सुख लहिया।
दुमनां ह्वै जिनि चित्त डुलावा, कर छिटके थे थाह न पावा॥
इक डूबे अरु रहे उरवारा, ते जगि जरे न राखणहारा।
राखन की कछु जुगति न कीन्हीं, राखणहार न पाया चीन्हीं॥
जिनि चीन्हां ते निरमल अंगा, जे अचीन्ह ते भये पतंगा।
राम नांम ल्यौ लाइ करि, चित चेतनि ह्वै जागि।
कहै कबीर ते ऊबरे, जे रहे रांम ल्यौ लागि॥२६॥

शब्दार्थ—दिढ=दृढ। दुमनां=द्विविधा। ल्यौ=प्रेम।

जिन्होने राम नाम का यह पोत दृढ रूप में पकड इसे अपना सम्बल बना लिया है वे ससार सागर से तर गये और उन्होंने सुख लाभ किया। जो द्वैत भावना मे मन को भटकाते रहते हैं और राम-नाम का सम्वल नही पकड़ते वे संसार सागर मे डूव जाते है उन्हे थाह भी नहीं मिलती। जो ससार-समुद्र मे ही डूबे रहते हैं वे तो नष्ट ही हो जाते हैं उनका रक्षक तो प्रभु भी नहीं है। जो प्रभु को जान जाते है उनके चित्त, अन्तर-वाह्य, शुद्ध हो जाता है, अन्यथा शेष मनुष्य तो माया-दीप पर मरने वाले शलभ वने रहते हैं। राम-नाम मे अपनी वृत्ति रमा हृदय को सावधान कर जो भक्ति करते है कबीर का विचार है कि वही मुक्तात्मा होते हैं।

विशेष—रूपक अलकार।

अरचित अबिगत है निरधारा, जांण्यां जाइ न वार न पारा।
लोक वेद थें अछै नियारा, छाड़ि रह्यौ सबही संसारा॥
जसकर गांउ न ठाउ न खेरा, कैसें गुन बरनूं मैं तेरा।
नहीं तहा रूप रेख गुन बांनां, ऐसा साहिब है अकुलांनां॥
नहीं सो ज्वांन न बिरध नहीं बारा, आपै आप आपनपौं तारा।
कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को लावै भंग।
सेवौ तन मन लाइ करि, रांम रह्या सरबंग॥२७॥

शब्दार्थ—खेरा=निवास-स्थान। विरध=वृद्ध। वारा=वालक।

वह निर्गुण परमात्मा अगम्य एवं अजन्मा है, उसका रहस्य नही जाना जा सकता। ईश्वर के विषय मे वेदादि धर्मग्रथो एवं लोक मे जो विश्वास है वह उनसे सर्वथा भिन्न है। उसका वर्णन कैसे किया जाय? रूपरेखाविहीन निर्गुण स्वामी की विचित्र गति है। न वह युवा है और न वृद्ध है। स्वय ही अपना भाग्य-निर्माता है। कवीर विचारपूर्वक कहते है कि राम सर्वत्रव्यापी है अतः मनसा-वाचा-कर्मणा उसकी आराधना करो।

नहीं सो दूरि नहीं सो नियरा, नहीं सो तात नहीं सो सियरा।
पुरिष न नारि करै नहीं कीरा, घांम नां धांम न व्यापै पीरा।
नदी न नाव धरनि नहीं धीरा, नहीं सो कांच नहीं सो हीरा॥

कहै कबीर विचारि करि, तासूं लावो हेत।
बरन बिवरजत ह्वै रह्या, नां सो स्यांम न सेत ॥३८॥

शब्दार्थ—तात=गर्भ। सियरा=शीतरा। क्रीरा=क्रीडा। हेत=प्रेम। बरन=वर्ण, रग। बिवरजत—विवर्जित। सेत=सफेद।

वह ईश्वर न तो दूर है, क्योंकि हृदयस्थ है और न पास ही है क्योंकि साधना द्वारा भी दुष्प्राप्य है। न वह मित्र है और न शत्रु। न वह पुरुष रूप मे है और न स्त्री; न उसे धूप-दुःख आदि व्यापते है। न वह नदी है और न नाव और न पृथ्वीरूप ही है। कबीर विचार पूर्वक कहते है कि उसी ईश्वर से प्रेम करो न वह श्याम है और न श्वेत, वह तो वर्ण रंग सीमातीत है।

विशेष—विरोधाभास अलंकार।

नां वो बारा व्याह बराता, पीत पितंबर स्यांम न राता।
तीरथ व्रत न आवै जाता, मन नहीं मोनि बचन नहीं बाता॥
नाद न बिंद गरथ नहीं गाथा, पवन न पांणीं संग न साथा।
कहै कबीर विचारि करि, ताकै हाथि न नाहि।
सो साहिब किनि सेदिये, जाकै धूप न छांह ॥३९॥

शब्दार्थ—राता=लाल।

न वह विवाहित है और न क्वारा। न वह पीताम्बरधारी है और न श्याम अथवा लाल रग का वस्त्र धारण करने वाला। न वह नाद है और न विन्दु, न किसी धर्मशास्त्र का विषय है और न किसी कथा आदि का। उसके साथ वायु-पानी कुछ भी नही है। कबीर कहते है कि उसके हाथ-पैर कुछ भी नही है, भला उस ईश्वर की सेवा कैसे की जाये जिसे धूप छांह, सुख-दुःख भी नही व्यापते।

विशेष—उल्लेख अलंकार।

ता साहिब कै लागौ साथा, दुख सुख मेटि रह्यो अनाथा।
नां जसरथ घरि औतरि आवा, नां लका का राव सतावा॥
देवै कूख न औतरि आवा, नां जसवै ले गोद खिलावा।
ना वो ग्वालन कै संग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया॥
बांवन होय नहीं बलि छलिया, धरनी वेद लेन उधरिया।
गंडक सालिगरांम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला॥
बद्री बैस्य ध्यांन नहीं लावा, परसरांम ह्वै खत्री न संतावा।
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा॥
कहै कबीर विचारि करि, ये ऊले व्योहार।
याही थैं जे अगम है, सौ बरति रह्या संसारि ॥४०॥

शब्दार्थ—जसरथ = दशरथ। जसवै=यशोदा। मछ = मत्स्यावतार। कछ=कच्छपावतार।

इसलिए हे प्राणीजन ! तुम उसी ईश्वर के आधिन होकर रहो क्योंकि वह समस्त दुख-सुख का मिटाने वाला है। वह प्रभु दशरथनन्दन के रूप मे अवतरित हो लका के राजा को नही सताता। न वह मातृ-उदर मे स्थित रहकर जन्म धारण कर यशोदा की गोदी मे खेलता है। कृष्ण रूप मे वह गोपिकाओं के साथ प्रेमक्रीड़ाओ मे मस्त नही रहा और न उसने गोवर्धन पर्वत उँगली पर उठाया था। प्रभु ने वामन रूप धरकर राजा वलि को भी नही छला था और न मत्स्य अवतार मे पृथ्वी पर उसने वेदो की रक्षा की थी। वह सालिगराम की पिंडी, अथवा मछली और कछुए के रूप मे भी नही रहा। वद्रीनाथ सेठ वनकर कभी भी उसने भजन नही किया और न परशुराम वन क्षत्रिय संहार की प्रतिज्ञा कभी उसने की। द्वारकापुरी मे न उन्होने शरीर-मोह त्यागा और न किसी ने उस शरीर को पृथ्वी मे गाड़ा है। कबीर कहते हैं कि ससार के अन्य सब कार्य तो व्यर्थ है। केवल उसी अगम्य प्रभु का ध्यान करो जो ससार का नियमन कर रहा है।

विशेष—उल्लेख अलकार।

नां तिस सबद न स्वाद न सोहा, नां तिहि मात पिता नहीं मोहा।
नां तिहि सास ससुर नहीं सारा, नां तिहि रोज न रोवनहारा॥
नां तिहि सूतिग पातिग जातिग, नां तिहि माइ न देव कथा पिक।
नां तिहि व्रिध वधावा वाजे, नां तिहि गीत नाद नहीं साजे॥
नां तिहि जाति पांत्य कुल लीका, नां तिहि छोति पवित्र नहीं सींचा।
कहै कबीर विचारि करि, वो पद है निरवांन।
सति ले मन मैं राखिये, जहां न दूजी आंन॥४१॥

शब्दार्थ—सरल है।

उस ईश्वर को न तो गुरु उपदेश के शब्दों की आवश्यकता है, न वह इन्द्रियो के स्वादो से सलिप्त है। वह माता-पिता आदि के मोह मे भी पड़ा हुआ नही है न उसके सास, श्वसुर अथवा साला है और न उसे कोई दु.ख है जिससे व्यथित हो वह अश्रु वहाये। न उसे सूतक, पातक, जातक आदि व्यापते हैं। न वह कोई सुन्दर कण्ठ वाली देवी है। न उसे वृद्धावस्था आती है और न ही उसका जन्म होता है। उसे गान आदि रस-गान भी रुचिकर नही। न उसके यहाँ उच्च और निम्न वर्ग का भेदभाव है और न वह जाति-पाति, कुल की संकुचित सीमाओ मे वधता है। कबीर विचार-पूर्वक कहते है कि वह ईश्वर परमपद है, वह केवल सत्याचरण—भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है।

नां सो आवै ना सो जाई, ताकै बंध पिता नही माई।
चार विचार कछू नहीं वाकै, उनमनि लगि रहौ ज ताकै॥
को है आदि कवनि का कहिये, कवन रहनि वाका ह्वै रहिये।